

श्रीमद्भगवद्गीता



व्याख्याकार

स्वामी चिन्मयानन्द



अनुक्रमणिका

प्राक्कथन

भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दिया हुआ ज्ञान का उपदेश श्रीमद्भगवद्-गीता के नाम से सुविख्यात है। ग्रन्थ रूप में इसकी रचना महान् युगद्रष्टा महर्षि वेदव्यास जी ने की। यह ग्रन्थ हिन्दू धर्म के वास्तविक स्वरूप का परिचायक सिद्ध हुआ है। वैदिक धर्म के पतन काल में उसके पुनरोद्धारक श्री शंकराचार्य जी ने गीता पर भाष्य लिख कर उसमें निहित तत्त्वज्ञान को सुस्पष्ट किया। आधुनिक काल में पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित हुये भारतीय जनों के द्वारा इस महान् ग्रन्थ की उपेक्षा हो रही थी, जिसके दुष्परिणाम भी दृष्टिगोचर होने लगे थे। समाज की [illegible] स्थिति में गीतोपदेश की नितान्त आवश्यकता को पहिचान कर परम पूज्य स्वा[illegible]न्मयानन्द जी ने गीताज्ञानयज्ञों के माध्यम से इस ज्ञान का प्रचारकार्य प्र[illegible] और गीता पर अंग्रेजी में एक विस्तृत व्याख्या भी लिखी जो The H[illegible] से प्रसिद्ध है। स्वामी जी की यह व्याख्या अत्यन्त लोकप्रिय [illegible] निर्माण में भी परम सहायक सिद्ध हुई है, किन्तु [illegible] के कारण उस भाषा से अनभिज्ञ हिन्दी भाषी [illegible] उठा पा रहे थे। इसलिये पूज्य स्वामी जी के द्वारा [illegible] के हिन्दी प्रकाशन विभाग की स्थापना कानपुर में [illegible] विभाग स्वामी जी की पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद, उनके प्रकाशन [illegible] कार्य करता है।

[illegible] जी के आदेशानुसार The Holy Geeta के हिन्दी अ[illegible] [illegible]म्भ तो किया किन्तु अत्यन्त झिझक के साथ। इतने [illegible] करना सरल कार्य नहीं था, क्योंकि न तो मुझे लेखन क[illegible] [illegible]ही अनुवाद के कार्य का। इसलिए मेरे द्वारा यह [illegible] हो सका है उसका सम्पूर्ण श्रेय मैं परम पूज्य स्वामी जी की [illegible]

[illegible] हो जाने पर यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि इस ग्रन्थ को जब [illegible] उपलब्ध कराया जाय? [illegible] दिशा में हमें [illegible] प्राप्त [illegible]। इस ग्रन्थ के [illegible] उन्होंने [illegible] श्री बनवारी[illegible] [illegible]ी पावन स[illegible] [illegible] प्रति विशेष

अभिरुचि थी। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से धर्म प्रसार विषयक उनके जीवन की अभिलाषा भी पूर्ण होती है।

इस प्रकार अनेक जनों के सहयोग से प्रकाशित हुआ यह ग्रन्थ आप के हाथों में देते हुए हमें प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। आशा है यह ग्रन्थ आप को अपनी आध्यात्मिक साधना एवं व्यावहारिक जीवन में श्रेष्ठ मार्गदर्शक सिद्ध होगा।

ईश्वर की सेवा में,

विवेक चैतन्य

गीता पर अन्य विद्वानों की सम्मतियाँ

गीता जगत् जननी है। वह किसी को निराश वापस नहीं करती। उसका द्वार उन सब के लिए खुला पड़ा है जो उसमें प्रवेश करना चाहते हैं। गीता का सच्चा भक्त और अनुयायी कभी निराश नहीं होता है। उसका तात्पर्य समझने वाला शाश्वत सुख और शांति में वास करता है। किन्तु वह सुख-शान्ति संशयालु या अपनी बुद्धि और ज्ञान के अभिमानी को नहीं मिलती है। वह तो केवल उन्ही निरभिमानियों को उपलब्ध है जिनके हृदय में उस के प्रति पूरी श्रद्धा है और बुद्धि एक निश्चय पर आरूढ़ है। आज तक कोई व्यक्ति इस भाव से उसकी पूजा कर निराश नहीं लौटा है। ३९

१४-३ [illegible] शांति और सन्तोष मिला है जो पर्वत पर
दि २०-[illegible] (आन दि माउण्ट) में भी उपलब्ध नहीं
है। २६-२७ [illegible] रती है और कहीं से कोई प्रकाश
उप [illegible] १४ [illegible] अवलम्ब भगवद्गीता के पास जाता
[illegible] प्रजंत [illegible] श्लोकों को टटोलते ही घोर निराशा के अंध-
१-३ [illegible] प्रसन्नता की एक किरण चमक उठती है। मेरा जीवन
४ [illegible] हयों और दुःखों से भरा पड़ा है। यदि मेरे ऊपर
[illegible] प्रभाव नहीं पड़ सका है तो उसका श्रेय मुझे
[illegible] की शिक्षा को ही जाता है।

--महात्मा गांधी

[illegible] की रचना हुए बहुत काल बीत चुका है और तब
[illegible] भावों में बड़ा परिवर्तन हो चुका है।
[illegible] है [illegible] व्यावहारिक उप-
[illegible] उन्हों [illegible] उप-
[illegible] पावन [illegible]

योग क्या है ? मनुष्य की बुद्धि सदा आगे बढ़ती रहती है, उसका दृष्टिकोण बदलता रहता है और विचार क्षेत्र व्यापाक होता जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि पुरानी विचार पद्धति काल-बाधित हो जाती है। अथवा उन्हें बनाये रखा जाता है तो उसमें विकास और परिवर्तन करना होता है और उसके मूल्य अन्तर या बाह्य रूप से बदल जाते हैं। प्राचीन सिद्धान्तों की उपयोगिता तभी तक है जब तक वे इस परीक्षा पर खड़े रहते हैं। सिद्धान्त कितने ही पुराने हो गये हों किन्तु उनमें निहित सत्य यदि अब भी अपरिवर्तनीय है तो उसका महत्व स्वीकार करना पड़ेगा।

गीता अद्वितीय ग्रन्थ है, वह अब भी नया जैसा है और इसका प्रतिपाद्य विषय बिल्कुल नवीनता लिए हुए है। महाभारत के बीच लिखते समय वह जितना ताजा था वैसा ही आज भी [illegible]ुभव में आता है। आज भी उसे उन सिद्धान्तों का संग्रह [illegible]ता है जिनसे धार्मिक विचारधारा नियंत्रित होती है। [illegible]रों के लोग भले ही उसे स्वीकार न करें [illegible] को सर्वत्र सर्वोत्कृष्ट माना गया है। [illegible] और शैक्षिक मूल्य नहीं है। व्यावहारिक जी[illegible]यो-गिता है। उसका प्रभाव विचार और क्रम [illegible] विचार राष्ट्र और संस्कृति के नव-निर्माण और उ[illegible] सहायक हो रहे हैं। अभी हाल में इस प्रकार की [illegible] उठी है कि आध्यात्मिक जीवन जीने के [illegible]त्मिक सत्य की आवश्यकता है वह गीता में पूर्ण [illegible] हैं। इसे शब्दशः सत्य मान लेने से पुस्तक के [illegible] बढ़ता है। आत्मा का सत्य अनन्त है। उसे [illegible] नहीं बनाया जा सकता है। फिर भी यह कहा ज[illegible] मुख्य सूत्र उसमें उपलब्ध हैं। आध्यात्मिक अ[illegible]भव [illegible] और सब खोज कर लेने के बाद भी उसमें प्रेरणा [illegible] प्राप्त हो सकता है। भा[illegible] बाहर भी स[illegible]ा [illegible] संसार के महान धर्मग्रंथों में एक माना जाता है। [illegible]

पुस्तक को आध्यात्मिक साधना के रहस्य जानने की अपेक्षा उसके विचारों को प्रेरणादायी अधिक समझा जाता है।

—अरविंद घोष

गीता की शिक्षा उन लोगों के लिए नहीं है जो स्वार्थपूर्ण सांसारिक जीवन बिताने के बाद अवकाश के समय खाली बैठ कर पुस्तकें पढ़ने लगते हैं और न वह सांसारी लोगों के लिए कोई प्रारम्भिक शिक्षा है। इसमें यह दार्शनिक शिक्षा दी गयी है कि हमें मुक्ति की ओर दृष्टि रखते हुए सांसारिक कर्त्तव्य कैसे करने चाहिए। इसमें मनुष्य का संसार में वास्तविक कर्त्तव्य भी बताया गया है। इसलिये मेरी अन्तिम प्रार्थना यही है कि हर व्यक्ति ‑इ‑ किसी अपवाद के अपने जीवन के प्रारम्भिक क्षणों में गीत ‑ १४‑ गृहस्थ धर्म की शिक्षा भली भांति सीख ले।

४ २०‑ [illegible]

—लोकमान्य तिलक

२६‑२७

१४ [illegible] महाकाव्य में जो अमूल्य उपदेश

उप प्रस्तावना [illegible]द्गीता से अधिक मूल्यवान कोई नहीं

१‑३ [illegible] भगवान श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से निसृत हुआ है

४ [illegible] शिष्य तथा मित्र अर्जुन का मानसिक उद्वेग शान्त किया

[illegible]हत से व्यथित हृदयों को शांति और सान्त्वना

[illegible] बहुत से [illegible] जीवों को परमात्मा की ओर

[illegible]का उपदेश सुनकर साधक पहले निम्न स्तर

[illegible]हां वस्तुओं का त्याग कर दिया जाता है,

[illegible] का त्याग कर अपनी कामनायें ही छोड़ दी जाती

[illegible] अपने जीवन के कर्त्तव्य कर्मों को करते हुए भी

[illegible] रहता है और अनुचिन्तन में निमग्न रहता है।

[illegible] को कहीं एकान्त में भागने की आवश्यकता नहीं

[illegible] कार्यों के बीच [illegible] परमात्मा से मिलन

[illegible] आती हैं वे बाहरी नहीं हैं, आन्तरिक ही हैं।

भगवद्गीता की यही प्रमुख शिक्षा है।

गीता योगशास्त्र है। योग का शाब्दिक अर्थ है, मिलन, अर्थात् परमात्मा से एकात्मभाव प्राप्त करना, बाहर की ओर प्रवाहित होने वाली समस्त शक्तियों को परमात्मा से जोड़ना। इसके लिए आन्तरिक सन्तुलन की आवश्यकता होती है, तभी जीव का परमात्मा से मिलन होता है और फिर वह सुख–दुःख, राग–द्वेष अथवा उन द्वन्द्वों से प्रभावित नहीं होता जो उसे पहले आगे-पीछे दोलायमान करते रहते थे। अतः गीता का मुख्य विषय सन्तुलन और मनुष्य के सभी घटकों के बीच समन्वय स्थापित करना है। अन्त में उसे परमात्मा के साथ एकात्मभाव प्राप्त कर लेना है। शिष्य को अपनी दृष्टि के सामने यही लक्ष्य रखना चाहिए। उसे अनुकूल से राग और प्रतिकूल से द्वेष नहीं करना चा[illegible]। वह दोनों को परमात्मा की सृष्टि समझे जिससे वह जीव[illegible] तु न बनकर प्रगति के मार्गदर्शक ही बनें। घोर अशां[illegible] भी वह प्रभु की शरण में रहे और पूर्णरूपेण अ[illegible] को करता रहे। वह कर्मफल की अभिलाषा[illegible] उन्हें अपना कर्त्तव्य समझ कर करता रहे। उ[illegible] दी है और प्रभु का प्रेम ही उस पर जलती दीपशि[illegible] शारीरिक और मानसिक सभी कर्म उस वेदी पर चढ़ाये[illegible] के पुष्प हैं। एक बार समर्पित की गयी वस्तु से[illegible] सम्बन्ध नहीं रह जाता है।

उपदेश को अधिक प्रभावशाली बनाने के लि[illegible] में प्रस्तुत किया गया है। योद्धा अर्जुन अपने अग्र[illegible] कार पुनः प्राप्त करना और देश की जनता को[illegible] वाले कौरवों का विनाश करना चाहता था। एक [illegible] योद्धा होने के नाते वह अपना कर्त्तव्य समझता [illegible] राष्ट्र की रक्षा करे और उसमें शांति तथा व्यव[illegible] इस संघर्ष को अधिक कटु बनाने के लिए प्रिय [illegible] दूसरे के सामने खड़े दिखाए गए हैं। उनके हृदयों[illegible]

ज्वाला धधक रही थी। उनमें कर्त्तव्य का विरोध ही नहीं वरन् आपसी विद्वेष भी था। अर्जुन के सामने प्रश्न था कि क्या वह उन लोगों के ऊपर अस्त्र उठाये जिनसे वह स्नेह और आदरभाव रखता है ! एक ओर वंश नाश करना पाप था और दूसरी ओर आततायियों को क्षमा कर देना भी पाप था; फिर भला धर्म क्या माना जाय ? न्याय करना आवश्यक था अन्यथा न्याय की हत्या होती थी। ऐसा क्या उपाय था कि उन्हें मार कर भी पाप से बचा जा सके। इस प्रश्न का उत्तर ही इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है। कर्म फल में अपनी आसक्ति रखे बिना अपने कर्त्तव्य कर्म को करते रहो और इस बात का ध्यान रखो कि ईश्वर नियामक और स्वामी होकर सब करा रहा है। वह जगत को विकसित कर पूर्णता की ओर लिये जा रहा है। ... ँ परमानन्द और शांति का साम्राज्य है। भक्तिपूर्वक उसके स... तादात्म्य रखो और अपना कर्त्तव्य कर्म करते रहो। विगतज्वर ...होकर तथा क्रोध और घृणा में न पड़कर संघर्ष ... प्रकार कर्म का बंधन न होगा, योग सिद्ध होगा ... ...ंगे।

अ... स्पष्ट उपदेश है, किन्तु जैसे अवतार के सभी ...त्मक होते है, हम बाहर से अन्दर की ओर प्रस्थान ...कते हैं और वहाँ अपने अन्दर कुरुक्षेत्र का युद्ध देख सकते हैं। ...त्मा और असत् वृत्तियों के बीच चल रहा है। अर्जुन ...वाला जीवात्मा है और श्रीकृष्ण उसके मार्गदर्शक परमात्मा ...तीन काल का युद्ध आगे आने वाली पीढ़ियों के लिये ...या। कांटे और कठिनाइयों से भरे शांति के पथ ...ने वाले साधकों को उससे मार्ग-दर्शन मिलता है। ...श्चिम के सभी साधकों को यह दिव्य संदेश सुनना पड़ता ... मार्ग एक ही है, उसके नाम भले ही अनेक हों सभी ...क ही लक्ष्य पर पहुंचना होता है, भले ही उन्हें अपने ...ोध न हो।

—डॉ० एनी बेसेंट

गीता उपनिषदों के उपवन से चुने हुए आध्यात्मिक सत्यों के सुन्दर पुष्पों का एक गुच्छा है ।

—स्वामी विवेकानन्द

मेरा विश्वास है कि संसार की सभी जीवित भाषाओं में ज्ञान से परिपूर्ण उतनी छोटी पुस्तक कोई नहीं है जितनी भगवद्‌गीता है । इसमें मनुष्य को सर्वोच्च ज्ञान, पवित्रतम प्रेम और सर्वोत्कृष्ट कर्म की शिक्षा मिलती है । गीता आत्म-संयम, त्रिविध तप, अहिंसा, सत्य, करुणा, कर्त्तव्य के लिये कर्त्तव्य का पालन करने और अधर्मी के विरुद्ध संघर्ष करने की शिक्षा देती है । मेरी दृष्टि से विश्व साहित्य में भगवद्‌गीता जैसी महान रचना कोई नहीं है । वह हिन्दुओं का ही नहीं वरन् मनुष्य मात्र के धर्म का भण्डार है ।

—मदन मोहन मा[illegible]

गीता सनातन दर्शन का स्पष्टतम और सर्वग्रा[illegible] यह भारतीयों के लिए ही नहीं वरन् मनुष्य मा[illegible] मूल्य का ग्रन्थ है । यह सम्भवतः सनातन द[illegible] सुव्यवस्थित अध्यात्म चिन्तन है ।

—एल्डुअस [illegible]

गीता में विवेचित विषयों की विस्तृत सूची

अध्याय ३

कर्मयोग

अध्याय ४

ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

अध्याय ३

कर्मयोग

अध्याय ४

ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

अध्याय ७

ज्ञानविज्ञानयोग

अध्याय ८

अक्षरब्रह्मयोग

अध्याय ९

राजविद्याराजगुह्ययोग

कर्म से

श्रीमद्भगवद्गीता

सामान्य प्रस्तावना

जहाँ उपनिषद् जीव, जगत् और ईश्वर के तात्विक स्वरूप की विवेचना करने वाले मूल ग्रन्थ हैं, वहीं श्रीमद्भगवद्गीता उन्हें सूक्ष्म दार्शनिक सिद्धान्तों की निर्देशिका है, जिनका उपयोग मनुष्य अपने दिन-प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन में सफलतापूर्वक कर सकता है।

गीता, स्वयं भगवान् द्वारा विरचित एक अलौकिक काव्य है, जो महाभारत के भीष्मपर्व । पच्चीस से बयालिस तक के अठारह अध्यायों में उल्लिखित है। आध्यात्मिक मूल्यों को व्यावहारिक जीवन में जीने की कला सिखाने वाले इस महान् ग्रन्थ द्वारा हिन्दू धर्म में एक रचनात्मक क्रांति का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने पौराणिक काल के पश्चात् हिन्दू जाति के पुनरुत्थान का पथ प्रशस्त किया।

सिद्ध कवि महर्षि व्यास इस ईश्वरीय काव्य गीता के द्वारा हिमालय की एकान्त और शान्त कन्दराओं में उपदिष्ट ज्ञान को राजनैतिक जीवन के कर्मण्य क्षेत्र में तथा निकट भविष्य में होने जा रहे भ्रातृ-हन्ता महायुद्ध के मानसिक तनावयुक्त और भ्रमपूर्ण वातावरण में उतार लाये। किसी प्रकार के मानसिक दुष्प्रभाव के दबाव के कारण अर्जुन का मनःसंयम टूट कर बिखर गया और वह विवेकानुसार कार्य करने की क्षमता भी खो बैठा। ऐसी विषम परिस्थितियों में भगवान् श्रीकृष्ण ने वैदिक ज्ञान का उपदेश देकर भय विह्वल और निराश अर्जुन का उपचार किया।

तत्वज्ञान का व्यवहार में उपयोग ही धर्म कहलाता है। समयानुसार परिवर्तित परिस्थितियों के संदर्भ में प्राचीन तत्वज्ञान की पुनर्व्याख्या की आवश्यकता होती है। धार्मिक प्रवक्ता, ज्ञानी तथा सिद्ध पुरुष सामान्य जनों का मार्गदर्शन करते हुए बताते हैं कि प्राचीन ज्ञान का उपयोग वर्तमान व्यावहारिक जीवन में किस प्रकार प्रभावशाली ढंग से किया जा सकता है।

वैदिक ज्ञान के प्रकाश में यदि हम गीता के अर्थ को समझने का प्रयत्न करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि निरहंकार और निःस्वार्थ भाव से किए गये कर्म मन

को वासनाओं से मुक्त कर देते हैं। इस प्रकार वह मन सूक्ष्म और शुद्ध होकर अनन्त स्वरूप की प्राप्ति के योग्य बन जाता है। इसे और अधिक स्पष्टरूप से समझने के लिए मन पर तथा दैनिक जीवन में उसकी कार्य प्रणाली पर विचार करना होगा।

मन ही मनुष्य है। जैसा मन वैसा व्यक्ति। मन के क्षुब्ध या शान्त होने पर व्यक्ति क्षुब्ध या शान्त कहलाता है। मन के अध्ययन की दृष्टि से हम उसे दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। एक भाग वह है, जो बाह्य जगत् की ओर है जहाँ से वह विषय ग्रहण करता है। दूसरा भाग वह है, जो इन ग्रहण किए गये विषयों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। वेदान्त में इनको क्रमशः मन और बुद्धि कहते हैं।

जिस व्यक्ति में मन और बुद्धि दोनों मिलकर सुचारू रूप से कार्य करते हैं वह व्यक्ति पूर्णतया स्वस्थ कहा जाता है। सन्देह के क्षणों में उसका मन बुद्धि के अनुशासन में तत्काल आ जाता है। परन्तु दुर्भाग्य की बात है कि केवल कुछ व्यक्तियों को छोड़कर अधिकतर लोगों में मन और बुद्धि की युक्तता नहीं रहती है। इन दोनों के मध्य की दूरी के मुख्य कारण हैं, मनुष्य का अहंकार और स्वार्थ। मन और बुद्धि के मध्य यह दूरी जितनी अधिक होगी उतनी ही अधिक भ्रांति उस हृदय में उत्पन्न होती है। उसका अहंकार भी बढ़ता जाता है और उसकी इच्छायें निम्न कोटि की होती हैं, जिनका प्रदर्शन उस व्यक्ति के जीवन में हुआ करता है।

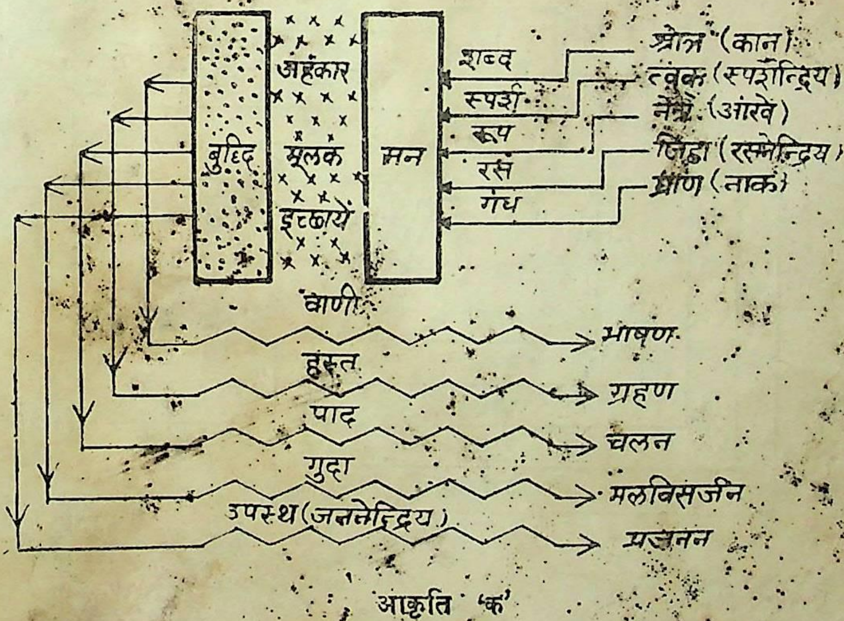
जाग्रत-अवस्था में हम प्रतिक्षण बाह्य जगत् का अनुभव पांच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा करते हैं। इन इन्द्रियों के द्वारा विविध विषयों की असंख्य संवेदनायें मन तक जाती हैं, जो व्यक्ति की अहं–केन्द्रित कामनाओं की परतों से छनती हुई बुद्धि की गहराई तक पहुँच जाती हैं। ये सम्वेदनायें मनुष्य की बुद्धि में पहुँचकर वहाँ पहले से सावधानी पूर्वक संग्रहीत वासनाओं के साथ प्रतिक्रिया करती हैं और उस प्रतिक्रिया को हम पांच कर्म इंद्रियों के द्वारा बाह्य संसार में व्यक्त करते हैं।

आकृति 'क' में वे सब क्रियायें चित्र द्वारा प्रदर्शित की गई हैं जिन्हें मनुष्य संवेदनाओं के साथ सचेत रहकर प्रतिक्रिया करने पर बाह्य संसार में व्यक्त करता है।

हर क्षण मनुष्य विभिन्न प्रकार के उत्प्रेरकों से मिलता है और बुद्धि में नई वासनायें संग्रहीत करता रहता है। संवेदनायें बुद्धि में पहुँचकर वहाँ पहले से संग्रहीत वासनाओं को केवल बढ़ाती ही नहीं हैं वरन् वे स्वयं भी उन संग्रहीत वासनाओं का प्रभाव ग्रहण कर लेती हैं। कर्मरूप में परिणत होकर जब वे संवेदनायें पुनः बाहर आती हैं तो उन पर बुद्धि में संचित वासनाओं का रंग चढ़ा रहता है।

कर्म और

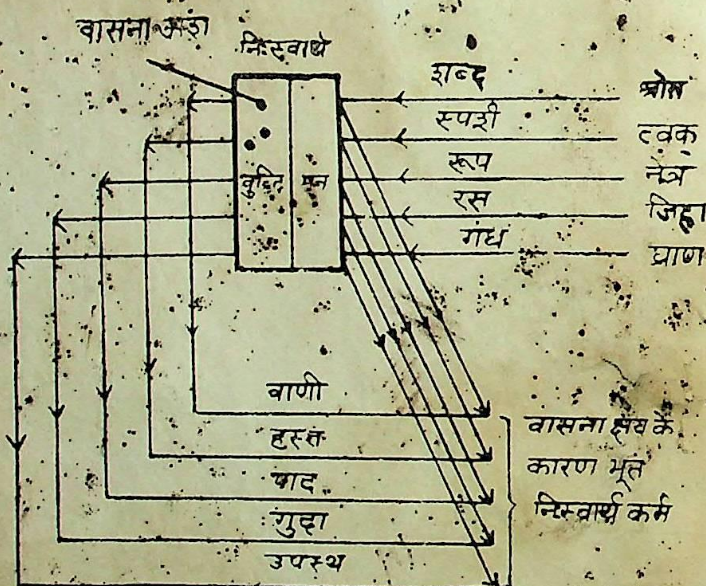
हम सब निरन्तर विभिन्न प्रकार के अनुभव अर्जित करते हैं और प्रत्येक बार हम देखते हैं, दृश्य वस्तु से प्रतिक्रिया करते हैं और बाह्य जगत में कार्य करते हैं। इस प्रक्रिया में जाने-अनजाने ही हम नयी वासनाओं की अशुद्धियाँ भी एकत्र करते रहते हैं। इनसे ही हमारी बुद्धि उत्तरोत्तर वासनासंकुल होती जाती है। ये वासनायें हमारी बुद्धि को मन्द और अपारदर्शी बना देती हैं, जिसके कारण अपने हृदय में ही स्थित चैतन्यस्वरूप का ज्ञान हमें नहीं हो पाता।



आकृति 'क'

वेदान्त के सिद्धान्तानुसार वासनाक्षय ही मनोनाश का साधन है। दर्पण में देखने पर यदि मुझे अपनी मुखाकृति नहीं दिखाई पड़ती तो उसका कारण यह नहीं है कि दर्पण में मुख को प्रतिबिम्बित करने की सामर्थ्य नहीं है, वरन् उसका कारण दर्पण के तल पर जमी धूलि की घनी पर्त है। एक कपड़े से दर्पण को स्वच्छ करने की क्रिया उसमें प्रतिबिम्ब को उत्पन्न नहीं करती। वह केवल धूलि के आवरण को दूर कर देती है, जिससे मुख का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ने लगता है, जो पहले से वहाँ विद्यमान था। इसी प्रकार अहंकार और स्वार्थ पूर्वक किए गये कर्मों से उत्पन्न वासनाओं के घने आवरण के कारण ही हमें अपने शुद्ध दिव्य स्वरूप का साक्षात् अनुभव नहीं होता है।

गीता में उस योग का उपदेश दिया गया है जिसके अभ्यास से मन और बुद्धि के बीच एक सुखद तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है। तत्पश्चात् अनुशासित मन सदैव बुद्धि के निर्देशानुसार कार्य करता है। इन दोनों में दूरी उत्पन्न करने वाली अहंकार मूलक इच्छाओं के क्षय से यह कार्य सम्पादित किया जा सकता है। इसे गीता में 'बुद्धियोग' कहा गया है।



आकृति 'ख'

जैसा आकृति 'ख' में दिखाया गया है मन और बुद्धि में योग हो जाने पर समत्व योगी कर्म में कुशल हो जाता है।[1] वह अपने मन के द्वारा बाह्य उत्प्रेरकों के साथ समझदारी से प्रतिक्रिया करता है और उसके कर्म बुद्धि में पहले से विद्यमान वासनाओं का क्षय करते हैं। इस प्रकार कुशलता से कर्म करते हुए मनुष्य अपनी वासनाओं को नष्ट कर अपनी बुद्धि को स्वच्छ बना सकता है। उसकी बुद्धि क्रमशः अधिक निर्मल और प्रकाशवान हो जाती है।

भगवान शंकराचार्य जैसे भाष्यकारों ने इस बात पर बहुत बल दिया है। वे अहंकार रहित भाव और ईश्वरार्पण बुद्धि से निष्काम कर्म करने के लिए बार-बार कहते हैं। अंततः इससे आन्तरिक शुद्धि होती है। शंकराचार्य के मतानुसार अपने

१ "योगः कर्मसु कौशलम्"—कर्म की कुशलता ही योग है। गीता अध्याय २.५०

भीतर आत्म-तत्व का अनुसंधान करने के पूर्व अपनी बुद्धि को परिमार्जित करना बहुत आवश्यक है।

आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य के पास बुद्धि ही वह रहस्यमय अस्त्र है जिसके द्वारा वह अपने अंदर संग्रहीत वासनाओं के भंडार को बाहर निकाल सकता है। किन्तु दुर्भाग्य यह है कि सामान्य मनुष्य अज्ञान के कारण अपने भयंकर अस्त्र का दुरुपयोग करता है और स्वयं अपना विनाश कर लेता है। वह स्वार्थ पूर्ण कर्म करते हुए इसी बुद्धि के द्वारा अपनी वासनाओं का भण्डार बढ़ाता जाता है।

इन वासनाओं को क्षीण करने हेतु प्रकृति जीव को अनेक उपाधियाँ (शरीर) प्रदान करती है, जिन्हें यह जीव जन्मजन्मान्तर में धारण करता है। गीता का स्पष्ट उपदेश है कि हमें न तो कर्म त्यागने चाहिए और न ही इस जगत् को। बुद्धिमत्ता-पूर्वक इस जीवन का उपयोग हम ऐसा करें कि कर्मपालन के द्वारा ही हम अपने चित्त की अशुद्धियों को दूर कर लें।

अयुक्त मन अनेक मानसिक रोगों एवं विकारों का शिकार बन जाता है। अर्जुन सामान्य रूप से शिक्षित पुरुष था और महाभारत से हमें ज्ञात होता है कि वह किन परिस्थितियों में बड़ा हुआ था। सम्पूर्ण महाभारत के बिना हम न तो अर्जुन की मनःस्थिति को ही और न भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेश को ही ठीक से समझ पाते। गीता सम्पूर्ण महाभारत का ही एक आवश्यक अंग है, जिसके बिना यह ग्रंथ एक महत्वहीन और गरिमारहित सामान्य कथानक मात्र होता और महाभारत की पृष्ठभूमि के बिना गीता किसी दार्शनिक की एक कविता मात्र बनकर रह जाती। कथा और काव्य के सुन्दर संयोग से ही इसमें पूर्णता है। एक के अभाव में दूसरा अपूर्ण एवं प्रभावहीन है।

आधुनिक मनोविज्ञान में, मन की भावनाओं का दमन करने पर उत्पन्न होने वाले भयानक परिणामों का विस्तृत वर्णन करने वाली अनेक पुस्तकें लिखी मिलती हैं। हमारे जीवन में ऐसे अनेक क्षण आते हैं जब हम जानते हुए भी अपने मनोवेगों का दमन करते रहते हैं; परन्तु प्रायः यह गलती हम अनजाने ही करते हैं, इस प्रकार दमन किए गए मनोवेगों में भयंकर शक्ति होती है, जो व्यक्त होने के लिए अवसर खोजती रहती है। यदि उस शक्ति का उचित प्रकार से उपयोग नहीं किया गया, तो वह उस व्यक्ति को ही नष्ट कर देती है। यद्यपि अर्जुन में इस प्रकार के दमन का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता तथापि महाभारत के सजग अध्येताओं को उसकी इस मनःस्थिति का कारण अज्ञात नहीं रह सकता। युद्धभूमि में वीर योद्धा अर्जुन अपनी दमित भावनाओं की चपेट में इस प्रकार आ जाता है, मानो वह भयजनित उन्माद के मानसिक रोग का शिकार हो गया हो।

अर्जुन के मनोवेगों के दमन के कारणों को कहीं दूर खोजने की आवश्यकता नहीं है। अपनी शक्ति पर पूर्ण विश्वास रखने वाले एक श्रेष्ठ योद्धा को अपने ही दुष्ट चचेरे भाइयों द्वारा निर्मित अन्याय पूर्ण स्थिति में रहना पड़ा। परन्तु अपने ज्येष्ठ बन्धु युधिष्ठिर की "किसी भी मूल्य पर शान्ति रखने" की नीति के कारण धनुर्धारी अर्जुन अपनी भावनाओं को इस अन्याय के प्रतिकार के रूप में व्यक्त नहीं कर सका। कुछ अंशों में इन भावनाओं को व्यक्त करने का सुअवसर उसे तब मिला, जब जंगलों में रहकर उसने कठिन तप किया था।

वनवास के अन्तिम वर्ष के अज्ञातवास में पाण्डवों को विराट राजा के प्रासाद में दास के वेष में सेवा करनी पड़ी। जघन्य अन्यायपूर्ण एवं गरिमाहीन अपमानित जीवन जीने के कारण निःसंदेह, अर्जुन को अपने मनोवेगों का दमन करना पड़ा था। परन्तु जब दुर्योधन की सेनाओं ने राजा विराट पर आक्रमण किया, तब अर्जुन को अपने मन का क्षोभ निकालने का एक अवसर प्राप्त हुआ था।

दीर्घकाल तक श्रमसाध्य कष्ट और पीड़ा भोगने के बाद जब पाण्डव राज्य प्राप्ति के लिए अपने देश पहुँचे, तो उनके दुष्ट भाइयों ने अकारण ही उन्हें उनका अर्ध राज्य नहीं दिया। इतना ही नहीं, वरन् उनसे किसी भी प्रकार का समझौता करने से भी इन्कार कर दिया।

कौरवों के पिता चतुर अन्ध धृतराष्ट्र ने सम्भवतः अर्जुन की मनःस्थिति को पहचान लिया था और इसलिए युद्ध के एक दिन पूर्व उसने संजय को कुछ गुप्त संदेश देकर अपने दूत के रूप में अर्जुन के पास भेजा था। इस दुष्टतापूर्ण संदेश से अर्जुन के मन में संदेह उत्पन्न हुआ। उसकी दमित भावनाओं को विपरीत दिशा मिली और युद्ध जैसे अवसर पर वह एक असहाय मानसिक रोगी की स्थिति को प्राप्त हो गया। प्रथम अध्याय में हम देखेंगे कि अर्जुन उन्हीं विचारों को दोहराता है, जिन्हें उसने अपने चाचा से एक दिन पूर्व सुना था।

निर्णायक दिन जब दोनों पक्षों की सेनायें व्यूह रच रहीं थीं, तब अर्जुन ने अपने रथ सारथि भगवान् श्रीकृष्ण से अनुरोध किया कि वे उसका रथ दोनों सेनाओं के मध्य ले चलें, जिससे वह शत्रुपक्ष को ठीक से देख सके। कौरव पक्ष की सेना संख्या में अधिक, श्रेष्ठतर शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित और सुप्रसिद्ध सेनापतियों के नेतृत्व में एक चील के रूप में फैली हुई थी, जो पाण्डवों की छोटी सेना पर टूट पड़ने के लिए तैयार खड़ी थीं। वीर अर्जुन के भी मन को हिला देने वाला कठिन चुनौती भरा यह दृश्य उसके सम्मुख था। इस दृश्य का प्रभाव उसके मन पर कुछ ऐसा पड़ा कि बुद्धि से किसी निर्णय पर वह नहीं पहुँच सका, क्योंकि उसके मन और बुद्धि एक दूसरे से पूर्णरूप से वियुक्त हो चुके थे। इसका मुख्य कारण था, अहंकारमूलक

व्याकुलता। दमित मनोवेगों की शक्ति को वह सही दिशा नहीं दे सका और धृतराष्ट्र के संदेश से मोहित, अपने समय का श्रेष्ठ वीर पुरुष अर्जुन अकस्मात् विषाद से भरकर भ्रमित अवस्था में वहीं बैठ गया।

ऐसे मनोरोगी के लिए 'श्रीकृष्णोपचार' एक विशिष्ट प्रकार का निदान था। अन्तिम अध्याय में अर्जुन स्वयं कहता है, "मेरा मोह नष्ट हो गया है।" महाभारत के विद्यार्थियों को शेष कथा ज्ञात ही है कि किस प्रकार पराक्रमी योद्धा अर्जुन स्वस्थ होकर और नई शक्ति से सम्पन्न होकर युद्ध करता है।

किसी-न-किसी मात्रा में प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में कभी-न-कभी इस 'अर्जुनरोग' का शिकार बनता है और तब गीतादर्शन के रूप में 'श्रीकृष्णोपचार' उसके रोग के निवारण के लिए सदा उपलब्ध रहता है।

दूसरा अध्याय लगभग समस्त गीता का सार संक्षेप है। इसमें भगवान श्रीकृष्ण उपचार के दो उपाय बताते हैं। एक सांख्ययोग की विधि है। इसमें अर्जुन को अपने मन, अहं और बुद्धि से अधिक ऊँचे सत् की ओर अभिमुख किया गया है। इस उपाय से कुछ मात्रा में मन और बुद्धि के बीच का व्यवधान दूर हो जाता है। इसी अध्याय के उत्तरार्ध में हम देखेंगे कि निष्काम कर्म मनुष्य की वासनाओं को कैसे नष्ट कर देता है। क्षत्रिय होने के कारण अर्जुन की बुद्धि रजोगुण की वासनाओं से रंजित थी। अतः उनका क्षय करने के लिए अर्जुन को युद्ध-क्षेत्र की आवश्यकता थी।

यही कारण है कि भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को बार-बार 'उठो और युद्ध करो' की प्रेरणा देते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि गीता युद्ध-पिपासु शासक-वर्ग का शास्त्र है। गीता का आदेश है कि हम सब अपनी वासनाओं (स्वधर्म) के अनुसार अपने क्षेत्र में संघर्ष करें जिससे हमारी वासनायें नष्ट हों और हमें आन्तरिक शुद्धता प्राप्त हो। समस्त गीता का गहन अध्ययन करने के लिए जब हम एक-एक श्लोक पढ़ेंगे तो हमारी समझ में आ जायेगा कि भगवान् श्रीकृष्ण इसी सत्य को किस प्रकार विभिन्न दृष्टिकोणों से और विभिन्न शब्दों में बताते हैं।

प्रथम अध्याय

अर्जुनविषादयोग

दार्शनिक सिद्धान्तों की सजीव व्याख्या के लिए साहित्य में नाटक की उज्ज्वल सम्भावनाओं का उपयोग प्राचीन हिन्दुओं ने जिस सफलता से किया, वैसा प्रयोग विश्व की किसी अन्य जाति ने नहीं किया है। उपनिषदों की रचना हिमालय की घाटियों के शान्त और एकान्त वातावरण में गुरु-शिष्य के संवाद के रूप में हुई। परन्तु हिन्दू दर्शन के उस सर्वोच्च ज्ञान की पुनरावृत्ति गीता के रूप में युद्धभूमि जैसी अत्यन्त विशद् एवं नाटकीय पार्श्वभूमि में घोर युद्ध के भयानक कोलाहल के मध्य की गयी। समरांगण के उत्तेजना एवं संघर्षपूर्ण वातावरण में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को पौरुष भरा कर्म का उपदेश देते हैं।

एक सौ कौरव मनुष्य के हृदय में स्थित असंख्य आसुरी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जबकि पांडव उसकी दैवी प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं। हममें से प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में महाभारत का युद्ध निरन्तर चलता रहता है। हमारे भीतर सदैव आसुरी प्रवृत्तियाँ संख्या में अधिक तथा प्रायः अधिक शक्तिशाली सिद्ध होती हैं। हृदय में सद्गुणों की सैन्य संख्या अल्प और उनका प्रभाव भी अन्य की तुलना में कुछ कम ही प्रतीत होता है। इसलिये, स्वाभाविक है कि आत्मनिरीक्षण के क्षणों में प्रत्येक मनुष्य को अर्जुन के समान विषाद और निराशा का अनुभव होता है।

महाभारत की कथा मानव मात्र के लिये आशा का यह सन्देश देती है कि दैवी गुणों की संख्या कम होने पर भी यदि उन्हें सुसंगठित कर आत्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण के मार्गदर्शन में लाया जाय, तो उनके द्वारा काम और लोभ की विशाल सेना पर पूर्ण व स्थायी विजय प्राप्त की जा सकती है।

मनुष्य की पापपूर्ण प्रवृत्तियों के प्रतीक एक सौ कौरव जन्मान्ध राजा धृतराष्ट्र के पुत्र थे। धृतराष्ट्र का विवाह गान्धारी के साथ हुआ था, जिसने स्वेच्छा से अपनी आँखों पर पट्टी बांध ली थी! इस कथा में कुछ टीकाकारों ने बड़े ही उपयुक्त प्रतीक खोज निकाले हैं। उत्पत्ति के साथ ही हमारा मन परमार्थ सत्य के विषय में अज्ञानी होता है। यदि यह मन ऐसी बुद्धि का वरण करे, जो स्वयं भी विवेक शून्य

हो, तो फिर उस मनुष्य के हृदय में निम्नकोटि की सैकड़ों पाप प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होंगी ही !

जब आत्मविकास के आध्यात्मिक क्षेत्र (धर्मक्षेत्र) में निम्नस्तरीय प्रवृत्तियाँ और उच्च आदर्श व सद्‌गुण परस्पर युद्ध के लिये तैयार हो जाते हैं, तब एक सच्चा साधक अपनी दैवी विवेकवती बुद्धि के मार्गदर्शन में स्वयं को दोनों के मध्य ले जाता है। उस समय किसी भी भले या बुरे पक्ष के साथ उसका तादात्म्य नहीं होता। ऐसे आत्म–निरीक्षण के क्षण में जीव संघर्ष से विचलित हो उठता है और स्वयं को बल-हीन अनुभव करते हुये वह आध्यात्मिक मार्ग पर चलने का साहस नहीं जुटा पाता है। कारण यह होता है कि उसे विजय की कोई आशा नहीं दिखाई देती है।

गीता के प्रथम अध्याय में ही अर्जुन के विषाद द्वारा एक साधक की इस विशिष्ट मनःस्थिति का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया गया है।

संस्कृत साहित्य की यह परम्परागत शैली है कि प्रारम्भिक श्लोकों में संपूर्ण ग्रन्थ के विषयवस्तु की ओर संकेत कर दिया जाता है। तदुपरान्त विभिन्न मतों एवं समस्त सम्भावित तर्कों द्वारा मुख्य विषय का विवेचन किया जाता है। ग्रन्थ के अन्तिम भाग में प्रारम्भिक संकेतानुसार विषय का उपसंहार होता है। इस दृष्टि से यदि हम गीता पर विचार करते हैं तो यह ईश्वरीय काव्य "धर्म" शब्द से प्रारम्भ और 'मम' शब्द से समाप्त होता है। अतः हम कह सकते हैं कि गीता का प्रतिपाद्य विषय है 'मम धर्म' अर्थात् "मेरा धर्म'।

हिन्दू दर्शन में 'धर्म' शब्द का अत्यन्त व्यापक अर्थ है, जिसका तुल्य शब्द किसी अन्य भाषा में दुर्लभ है। इस शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के 'धृ' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है–'धारण करना'। अतः धर्म शब्द का अर्थ यह हुआ – "जिसके द्वारा कोई वस्तु पूर्णरूप में धारण की हुई रहती है।"[1] साधारणतः धर्म शब्द का उपयोग धार्मिक विधि, नैतिक नियम, कर्त्तव्य, दान आदि अर्थों में किया जाता है। परन्तु संस्कृत का मूल शब्द एक विशेष अर्थ रखता है, जिसका तात्पर्य उपरोक्त किसी एक अर्थ के द्वारा स्पष्ट नहीं होता है। सबसे अच्छी परिभाषा, जो अब तक मुझे देखने को मिली है, उसके अनुसार, "धर्म वह है जिसके कारण वस्तु का वस्तुत्व सिद्ध होता है।" उदाहरणार्थ, अग्नि का धर्म उष्णता है और सूर्य का धर्म प्रकाश है। उष्णता के बिना अग्नि का अग्नित्व और प्रकाश के बिना सूर्य का सूर्यत्व ही सिद्ध नहीं होता है।

अतः यह स्पष्ट है कि 'धर्म' शब्द से केवल साधुता या नैतिकता ही अभिप्रेत

---

१. धारणाद् धर्मामित्याहुः। धर्मेण विधृताः प्रजाः।

नहीं है। यह शब्द वस्तु के मूल स्वरूप का संकेतक है, जिसके बिना उस वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व ही संभव नहीं है। इसलिये यदि हम जगत् में सच्चे अर्थों में जीवन्त रूप में जीना चाहते हैं, तो ऐसा हम अपने मूल स्वभाव को पहचान कर और तदनुसार रहकर ही कर सकते हैं। गीता मुझे 'मेरे धर्म' की ही व्याख्या करती है।

'मेरा धर्म' इस प्रकार उत्तम पुरुष का प्रयोग करके सम्भवतः गीता यह इंगित करना चाहती है कि इन अठारह अध्यायों में वर्णित विषय को प्रत्येक व्यक्ति को समझकर अपने जीवन में उतारना और अनुभव करना चाहिये।

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—

हे संजय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में एकत्र हुए युद्ध के इच्छुक (युयुत्सवः) मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया ? ॥१॥

सम्पूर्ण गीता में यही एक मात्र श्लोक अन्ध, वृद्ध, राजा धृतराष्ट्र ने कहा है। शेष सभी श्लोक संजय के कहे हुए हैं, जो धृतराष्ट्र को युद्ध के पूर्व की घटनाओं का वृत्तान्त सुना रहा था।

निश्चय ही, अन्ध, वृद्ध राजा धृतराष्ट्र को अपने भतीजे पाण्डवों के साथ किये गये घोर अन्याय का पूर्ण भान था। वह दोनों सेनाओं की तुलनात्मक शक्तियों से भी परिचित था। उसे अपने पुत्र की विशाल सेना की सामर्थ्य पर पूर्ण विश्वास था। यह सब कुछ होते हुये भी, मन-ही-मन उसे अपने ही दुष्कर्मों के अपराध बोध से हृदय पर भार अनुभव हो रहा था और युद्ध के अन्तिम परिणाम के सम्बन्ध में भी उसे सन्देह था। कुरुक्षेत्र में क्या हुआ इसके विषय में वह संजय से प्रश्न पूछता है। महर्षि वेद व्यासजी नें संजय को ऐसी दिव्य दृष्टि प्रदान की थी, जिसके द्वारा वह सम्पूर्ण युद्धभूमि में हो रही घटनाओं को देख और सुन सकता था।

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

संजय ने कहा—

पाण्डव-सैन्य की व्यूह रचना देखकर राजा दुर्योधन ने आचार्य द्रोण के पास जाकर ये वचन कहे ॥२॥

इस श्लोक से आगे, संजय ने कुरुक्षेत्र में जो कुछ देखा और सुना उसका वर्णन है। अपनी सेना की अपेक्षा पाण्डवों की सेना संख्या में अत्यन्त न्यून होनें पर भी जब दुर्योधन ने उसे देखा, तब उस अत्याचारी का आत्मविश्वास कुछ टूटनें लगा। जैसे कोई छोटा बालक भयभीत होकर अपनें माता-पिता के पास दौड़ता है, ठीक उसी प्रकार विचलित दुर्योधन अपनें गुरु द्रोणाचार्य के पास पहुँचता है। कोई कर्म करते समय यदि हमारा उद्देश्य पाप और अन्याय से पूर्ण होता है, तो अनेक साधनों से सुसम्पन्न होनें पर भी हमारे मन में, निश्चय ही, चिन्ता अशान्ति और विक्षेप उत्पन्न होते हैं। सभी अत्याचारी और तानाशाही प्रवृत्ति के लोगों की यही मन:स्थिति होती है।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

हे आचार्य! आपके बुद्धिमान शिष्य द्रुपदपुत्र (धृष्टद्युम्न) द्वारा व्यूहाकार खड़ी की गयी पाण्डु पुत्रों की इस महती सेना को देखिए ॥३॥

वास्तव में दुर्योधन की यह मूर्खता है कि वह द्रोणाचार्य को पाण्डवों की सैन्य रचना के विषय में विस्तार से बताये। आगे हम देखेंगे कि वह आवश्यकता से अधिक बातें करता है, जो युद्ध के परिणाम के विषय में उसके सन्देह का स्पष्ट लक्षण है।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

इस सेना में महान् धनुर्धारी शूर योद्धा हैं, जो युद्ध में भीम और अर्जुन के समान हैं, जैसे—युयुधान, विराट तथा महारथी राजा द्रुपद ॥४॥

धृष्टकेतु, चेकितान, बलवान काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य ॥५॥

पराक्रमी युधामन्यु, बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र (अभिमन्यु) और द्रौपदी के पुत्र–ये सब महारथी हैं ॥६॥

इन तीन श्लोकों में पाण्डव-सैन्य के प्रमुख एवं प्रसिद्ध योद्धाओं की नामावली है। पाण्डवों की सेना का निरीक्षण करते समय दुर्योधन उनमें अनेक महारथियों को पहचानता है। प्राचीन हिन्दू सेनाओं में ११,००० धनुर्धारी सैनिकों के समूह के नायक को महारथी कहा जाता था।

अर्जुन और भीम अपने समय के, धनुर्विद्या और शक्ति के लिये प्रसिद्ध योद्धा थे। दुर्योधन कहता है कि सभी महारथी अर्जुन और भीम के समान हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि पाण्डवों की सेना संख्या में कम थी, परन्तु सामर्थ्य में वह कौरवों की सुसज्जित और विशाल सेना से अधिक थी।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

हे द्विजोत्तम! हमारे पक्ष में भी जो विशिष्ठ योद्धागण हैं, उनको आप जान लीजिये; आपकी जानकारी के लिए अपनी सेना के नायकों के नाम मैं आपको बताता हूँ ॥७॥

द्रोणाचार्य को 'द्विजोत्तम' कहकर सम्बोधित करते हुए दुर्योधन अपनी सेना के प्रमुख वीर योद्धाओं के नाम सुनाता है। एक कायर मनुष्य अंधेरे में अनुभव होने वाले भय को दूर करने के लिए सीटी बजाता है अथवा कुछ गुनगुनाने लगता है। दुर्योधन की स्थिति भी कुछ इसी प्रकार की थी। अपराध-बोध से पीड़ित अत्याचारी दुर्योधन की मनःशक्ति बिखर रही थी। यद्यपि उसकी सेना सक्षम शूर–वीरों से सुसज्जित थी तथापि शत्रुपक्ष की सेना के वीरों को देखकर उसे भय लग रहा था। अतः द्रोणाचार्य के मुख से स्वयं को प्रोत्साहित करने वाले शब्दों को वह सुनना चाहता था। परन्तु जब वह आचार्य के पास पहुँचा, तब वे शान्त और मौन रहे। इसलिये टूटते उत्साह को फिर से जुटाने के लिये वह अपनी सेना के प्रमुख योद्धाओं के नाम गिनाने लगा।

यह स्वाभाविक है कि अपराध–बोध के भार से दबा हुआ व्यक्ति नैतिक बल के अभाव में सम्भाषणादि की मर्यादा को भूल कर अत्यधिक बोलने लगता है। ऐसे

मानसिक तनाव के समय व्यक्ति के वास्तविक संस्कार उजागर होते हैं। यहाँ दुर्योधन अपने गुरु को 'द्विजोत्तम' कहकर सम्बोधित करता है। आन्तरिक ज्ञान के विकास के कारण ब्राह्मण को 'द्विज' (दो बार जन्मा हुआ) कहा जाता है। माता के गर्भ से जन्म लेने पर मनुष्य संस्कारहीन होने के कारण पशुतुल्य ही होता है। संस्कार एवं अध्ययन के द्वारा वह एक शिक्षित व सुसंस्कृत पुरुष बनता है। यह उसका दूसरा जन्म माना जाता है। यह 'द्विज' शब्द का अर्थ है। द्रोणाचार्य ब्राह्मण कुल में जन्मे थे और इसलिए स्वभावतः उनमें हृदय की कोमलता आदि श्रेष्ठ गुण थे। पाण्डव-सैन्य में उनके प्रिय शिष्य ही उपस्थित थे। यह सब जानकर चतुर किन्तु निर्लज्ज दुर्योधन को अपने गुरु की निष्पक्षता पर भी सन्देह होने लगा था। जब हमारे उद्देश्य पापपूर्ण और कर्म कुटिलता से भरे होते हैं, तब हम अपने समीपस्थ और अधीनस्थ लोगों में भी उन्हीं अवगुणों की कल्पना करने लगते हैं।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

एक तो स्वयं आप, भीष्म, कर्ण और युद्ध विजयी कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र हैं ॥८॥

यद्यपि कुछ क्षणों के लिए अपराध की भावना एवं मानसिक उत्तेजना के कारण दुर्योधन का विवेक लुप्त हो गया था, किन्तु एक तानाशाह की भाँति उसने शीघ्र ही स्वयं को संयमित कर लिया। सम्भवतः द्रोणाचार्य के उत्साहरहित मौन से वह समझ गया कि उन्हें 'द्विज' कहकर सम्बोधित करके वह शील की मर्यादा का उल्लंघन कर रहा था।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

मेरे लिए प्राणत्याग करने के लिए तैयार, अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित तथा युद्ध में कुशल और भी अनेक शूरवीर हैं ॥९॥

एक अत्याचारी तानाशाह का गर्व और दम्भ देखो कितना है कि वह कहता है कि इतनी विशाल सेना और उसके प्रमुख वीर 'मेरे लिए' प्राणोत्सर्ग करने के लिए तैयार हैं! महाभारत के सजग अध्येता जानते हैं कि यदि भीष्म पितामह कौरवों

की ओर से युद्ध न करते, तो कितने लोग वास्तव में दुर्योधन के लिए प्राणदान के लिए तैयार होते?

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ।। १० ।।

भीष्म के द्वारा रक्षित हमारी सेना अपर्याप्त है; किन्तु भीम द्वारा रक्षित उनकी सेना पर्याप्त है ।।१०।। अथवा,

भीष्म के द्वारा रक्षित हमारी सेना अपरिमित है किन्तु भीम के द्वारा रक्षित उनकी सेना परिमित ही है ।।१०।।

हिन्दुओं की प्राचीन युद्ध पद्धति में किसी सेना के सेनापति के साथ-साथ कोई योद्धा सेना का 'रक्षक' भी होता था, जिसमें शौर्य, साहस और बुद्धिमत्ता जैसे गुण आवश्यक होते थे। कौरव और पाण्डव पक्षों में क्रमशः भीष्म और भीम रक्षक थे ।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ।। ११ ।।

विभिन्न मोर्चों पर अपने-अपने स्थान पर स्थित रहते हुए आप सब लोग भीष्म पितामह की ही सब ओर से रक्षा करें ।।११।।

इतनें समय निरन्तर अकेले ही बोलनें और उभय पक्ष की सामर्थ्य को तौलने के पश्चात् युद्धतत्पर दुर्योधन में स्थित राजा, अपनें मन की सघन निराशा के मेघ-खण्डों को भेदकर सेना को आदेश देना प्रारम्भ करता है । उसका आदेश है कि सभी योद्धा एवं नायक स्वस्थान पर रहकर अनुशासनपूर्वक युद्ध करें और साथ ही भीष्म पितामह को सुरक्षित रखने का पूर्ण प्रयत्न करें । उसें इस बात की आशंका है कि सुदूर राज्यों से आये हुये राजा एवं जनजातियों के नायक यदि इधर-उधर बिखर गये, तो विजय मिलना कठिन है । संगठित रूप सें सभी मोर्चों पर एक ही समय आक्रमण करना किसी भी सेना की सफलता का मेरुदण्ड है। इसलिए एक सही प्रकार की रणनीति अपनाते हुए वह सबको आदेश देता है कि विभिन्न स्थानों पर रहते हुए भी सब भीष्माचार्य का रक्षण करें ।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ।। १२ ।।

उस समय कौरवों में वृद्ध, प्रतापी पितामह भीष्म ने उस (दुर्योधन) के हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वर से गरज कर शंखध्वनि की ॥१२॥

दुर्योधन की मूर्खतापूर्ण वाचालता के कारण उसकी सेना के योद्धाओं की स्थिति बड़ी विचित्र हो रही थी । उन पर भी उदासी का भाव प्रकट होनें लगा, जिसे भीष्म वहीं निकट खड़े देख रहे थे । भीष्म पितामह ने कर्मशील द्रोणाचार्य के मौन में छिपे क्रोध को समझ लिया । उन्होंनें यह जाना कि इन सबको इस मनःस्थिति से बाहर निकालने की आवश्यकता है, अन्यथा स्थिति को इसी प्रकार छोड़ देनें पर आसन्न युद्ध के समय सभी योद्धागण प्रभावहीन हो जायेंगे । योद्धाओं के इस मनोभाव को समझते हुये सेनापति भीष्म पितामह ने दुर्योधन के साथ सभी सैनिकों के मन में हर्ष और विश्वास की तरंगें उत्पन्न करनें के लिए पूरी शक्ति से शंखनाद किया ।

यद्यपि भीष्माचार्य का यह शंखनाद दुर्योधन के प्रति करुणा से प्रेरित था, तथापि उसका अर्थ युद्धारम्भ की घोषणा करने वाला सिद्ध हुआ, जैसे कि आधुनिक युद्धों में पहली गोली चलाकर प्रारम्भ होता है। शंख के इस सिंहनाद के साथ महाभारत के युद्ध का प्रारम्भ हुआ और इतिहास की दृष्टि से कौरव ही आक्रमणकारी सिद्ध होते हैं ।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् शंख, नगाड़े, ढोल व श्रृंगी आदि वाद्य एक साथ ही बज उठे, जिनका बड़ा भयंकर शब्द हुआ ॥१३॥

निःसन्देह, सभी योद्धागण अत्यधिक मानसिक तनाव में थे, परन्तु जैसे ही उन्होंनें शंखनाद सुना, सबनें अपना अपना शंख उठाकर शंखध्वनि की । उसके बाद युद्ध के वाद्य शंख, भेरी, नगाड़े आदि युद्ध की घोषणा के रूप में बजने लगे । संजय इस कोलाहल का वर्णन 'तुमुल-ध्वनि हुई' इस प्रकार करता है । परन्तु आगे प्रत्युत्तर में हुई पाण्डवों की शंखध्वनि का वर्णन करते हुए कहता है कि वह शब्द इतना भयंकर था कि आकाश और पृथ्वी उससे गूँजनें लगे और कौरवों के हृदय विदीर्ण होने लगे । इस वर्णन से स्पष्ट होता है कि संजय दुर्योधन के इस कार्य का विरोधी था । अतः हम पूर्ण विश्वास के साथ उसके द्वारा वर्णित युद्धभूमि में दिए गये भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेश को स्वीकार कर सकते हैं ।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ।। १४ ।।

इसके उपरान्त श्वेत अश्वों से युक्त भव्य रथ में बैठे हुये माधव (श्रीकृष्ण) और पाण्डुपुत्र अर्जुन ने भी अपने दिव्य शंख बजाये ।।१४।।

तथ्य अत्यन्त साधारण है कि कौरवों की शंखध्वनि का उत्तर भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन ने शंखनाद करके दिया; परन्तु संजय ने जिस सुन्दरता एवं उदारता के साथ इसका वर्णन किया है, वह इस बात का स्पष्ट सूचक है कि उसकी सहानुभूति किस पक्ष के साथ थी। वह कहता है, "श्वेत अश्वों से युक्त भव्य रथ में बैठे माधव और अर्जुन ने अपने दिव्य शंख बजाये।" इस वर्णन से ज्ञात होता है कि संजय के मन में कहीं कोई आशा अटकी है कि सम्भवतः दोनों पक्षों के शंखनाद के वर्णनों में विरोध देखकर इस समय भी धृतराष्ट्र अपने पुत्रों को युद्ध से विरत कर ले।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ।। १५ ।।

भगवान् हृषीकेश ने पांचजन्य, धनंजय (अर्जुन) ने देवदत्त तथा भयंकर कर्म करने वाले भीम ने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया ।।१५।।

पाण्डव-सैन्य का वर्णन करते हुए संजय विशेष रूप से प्रत्येक योद्धा के शंख का नाम भी बताता है। भगवान् श्रीकृष्ण के शंख का नाम पांचजन्य था। हृषीकेश यह भगवान् का एक नाम है, जिसका अर्थ है-'इन्द्रियों का स्वामी'। हृषीक (इन्द्रिय)+ ईश=हृषीकेश।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ।। १६ ।।
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ।। १७ ।।
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ।। १८ ।।

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्त विजय नामक शंख और नकुल व सहदेव

ने क्रमशः सुघोष और मणिपुष्पक नामक शंख बजाये ॥१६॥

श्रेष्ठ धनुषवाल काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, राजा विराट और अजेय सात्यकि ॥१७॥

हे राजन् ! राजा द्रुपद, द्रौपदी के पुत्र और महाबाहु सौभद्र (अभिमन्यु) इन सबने अलग-अलग शंख बजाये ॥१८॥

इन श्लोकों में उन महारथियों के नाम हैं, जिन्होंने अत्यन्त उत्साह के साथ बारम्बार प्रचण्ड ध्वनि में शंखनाद किया। भीष्म पितामह के धराशायी होने में शिखण्डी कारण था। सात्यकि भी पाण्डव सेना में एक महारथी था। यहाँ 'पृथिवी-पते' यह संशोधन धृतराष्ट्र के लिए प्रयुक्त है।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

वह भयंकर घोष आकाश और पृथ्वी पर गूँजने लगा और उसने धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदय विदीर्ण कर दिये ॥१९॥

१४वें श्लोक से संजय पाण्डवों की सेना का विस्तृत वर्णन करता है। उसका यह विशेष प्रयास है कि किसी प्रकार धृतराष्ट्र पाण्डव सेना की श्रेष्ठता समझ सके और युद्ध के विनाशकारी परिणामों को समझ कर इस भ्रातृ-हन्ता युद्ध को रोकने का आदेश भेजे।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

हे महीपते ! इस प्रकार जब युद्ध प्रारम्भ होने वाला ही था कि कपिध्वज अर्जुन ने धृतराष्ट्र के पुत्रों को स्थित देखकर धनुष उठाकर भगवान् हृषीकेश से ये शब्द कहे ॥२०॥

इन डेढ़ श्लोकों में महाभारत युद्ध के नायक अर्जुन का युद्धक्षेत्र में प्रवेश-वर्णन मिलता है। उसके प्रवेश का ठीक समय और ढंग भी इसमें अंकित किया गया है। अभी बाणयुद्ध आरम्भ नहीं हुआ था, किन्तु वह क्षण दूर भी नहीं था। युद्ध का वह सर्वाधिक तनावपूर्ण क्षण था। संकट अपने चरम बिन्दु पर पहुँच गया

था। ऐसे समय कपिध्वज[1] अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से अपने रथ को उभयपक्ष के मध्य ले चलने का अनुरोध किया।

प्राचीनकाल में युद्धभूमि पर प्रत्येक श्रेष्ठ योद्धा का अपना एक विशेष सुप्रसिद्ध चिह्नांकित ध्वज होता था। पताका को फहराते देखकर रथ में बैठे उस रथी की शत्रु को पहचान होती थी। उस समय के नियमानुसार एक साधारण सैनिक सेना-नायक पर वाण नहीं चला सकता था। प्रत्येक योद्धा अपने समकक्ष योद्धा के साथ ही युद्ध करता था। विशिष्ट चिह्न द्वारा किसी व्यक्ति विशेष को पहचानने की प्रथा आज भी युद्ध क्षेत्र में प्रचलित है। किसी उच्च अधिकारी के वाहन और गणवेश पर उसके परिचायक विशेष चिह्न अंकित होते हैं। अर्जुन के ध्वज का प्रतीक चिह्न कपि था।

संजय द्वारा किये गये वर्णन से प्रतीत होता है कि अर्जुन इस धर्मयुद्ध को प्रारम्भ करने के लिये अधीर हो रहा था। उसनें अपना धनुष उठा लिया था, जिससे उसकी युद्धतत्परता का संकेत मिलता है।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रण समुद्यमे ॥२२॥

अर्जुन ने कहा—

हे अच्युत ! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ा कीजिए ॥२१॥

जिससे मैं युद्ध की इच्छा से खड़े इन लोगों का निरीक्षण कर सकूँ कि इस युद्ध में मुझे किनके साथ युद्ध करना है ॥२२॥

यहाँ हम अर्जुन को एक सेनापति के समान अपनें रथ-सारथि को आदेश देते हुए देखते हैं कि उसका रथ दोनों सेनाओं के मध्य खड़ा किया जाय, जिससे वह उन विभिन्न योद्धाओं को देख और पहचान सके जिनके साथ उसे इस महायुद्ध में लड़ना होगा। इस प्रकार शत्रु सैन्य के निरीक्षण की इच्छा व्यक्त करते हुए वीर अर्जुन अपनें साहस, शौर्य, तत्परता, दृढ़ निश्चय और अदम्य शक्ति का प्रदर्शन कर रहा है। कथा के इस बिन्दु तक महाभारत का अजेय योद्धा अर्जुन अपनें मूल स्वभाव के अनुसार व्यवहार कर रहा था। उसमें किसी प्रकार की मानसिक उद्विग्नता के कोई लक्षण नहीं दिखाई दे रहे थे।

१. जिसके ध्वज पर हनुमान जी अंकित थे।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

दुर्बुद्धि धार्तराष्ट्र (दुर्योधन) का युद्ध में प्रिय चाहने वाले जो ये राजा लोग यहाँ एकत्र हुये हैं, उन युद्ध करने वालों को मैं देखूँगा ॥२३॥

पूर्व श्लोक में कही गयी बात को ही अर्जुन इस श्लोक में विशेष बल देकर कह रहा है। शत्रु सैन्य के निरीक्षण के कारण को भी वह यहाँ स्पष्ट करता है। एक कर्मशील व्यक्ति होने के कारण वह कोई अनावश्यक संकट मोल नहीं लेना चाहता। इसलिए वह देखना चाहता है कि वे कौन से दुर्मति, सत्तामदोन्मत्त और प्रलोभन से प्रताड़ित लोग हैं, जो कौरव सेनाओं में सम्मिलित होकर सर्वथा अन्यायी तानाशाह दुर्योधन का समर्थन कर रहे हैं।

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोण प्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥

संजय ने कहा—

हे भारत (धृतराष्ट्र)! अर्जुन के इस प्रकार कहने पर भगवान् हृषीकेश ने दोनों सेनाओं के मध्य उत्तम रथ को खड़ा करके ॥२४॥

भीष्म, द्रोण तथा पृथ्वी के समस्त शासकों के समक्ष उन्होंने कहा, "हे पार्थ, यहाँ एकत्र हुए इन कौरवों को देखो ॥२५॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने उस भव्य रथ को भीष्म और द्रोण के सम्मुख एक स्थान पर लाकर खड़ा कर दिया। एक कर्तव्यनिष्ठ सारथि के समान वे अर्जुन से कहते हैं, "हे पार्थ; यहाँ एकत्र हुए इन कौरवों को देखो।" सम्पूर्ण प्रथम अध्याय में केवल ये ही वे शब्द हैं जिन्हें भगवान् ने कहा है। इन शब्दों ने उस चिनगारी का काम किया जिसने अर्जुन के अहंकार पर आधारित झूठे मूल्यों एवं विपरीत धारणाओं के महल को जलाकर राख कर दिया। इसके पश्चात् हम देखेंगे कि इन शब्दों की अर्जुन पर क्या प्रतिक्रिया हुई और किस प्रकार उसका मन टूटकर बिखर गया।

पार्थ का अर्थ है 'पृथापुत्र' अर्जुन। पृथा कुन्ती का दूसरा नाम है। इस संस्कृत शब्द 'पार्थ' में पार्थिव शब्द की गंध मिलती है, जिसका अर्थ है—मृत्तिका निर्मित। यह संबोधन अत्यन्त अर्थ पूर्ण है। इसका तात्पर्य यह है कि गीता सत्य का संदेश है, जिसे अमृतस्वरूप भगवान् ने मनुष्य के सार्वकालिक प्रतिनिधि मर्त्य पुरुष अर्जुन को सुनाया है।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन् पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।।२६।।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ।।२७।।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

वहाँ अर्जुन ने उन दोनों ही सेनाओं में खड़े पिता के भाइयों, पितामहों, आचार्यों, मामों, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, मित्रों, श्वशुरों और सुहृदों को भी देखा ।।२६।।
इस प्रकार उन सब बन्धु-बान्धवों को खड़े देखकर कुन्तीपुत्र अर्जुन का मन करुणा से भर गया और विषाद युक्त होकर उसने यह कहा ।।२७।।

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा सेना को दिखाये जाने पर अर्जुन ने शत्रुपक्ष में खड़े अपने सगे-संबंधियों को देखा, परिवार के ही प्रिय सदस्यों को पहचाना, जिनमें भाई-भतीजे, गुरुजन, पितामह और अन्य सभी परिचित एवं सुहृद जन थे। शत्रुपक्ष में ही नहीं, वरन् उसने अपनी सेना में भी इसी प्रकार सुपरिचित और घनिष्ठ संबंधियों को देखा। संभवतः इस दृश्य को देखकर पहली बार एक पारिवारिक कलह के भयंकर दुखदायी परिणाम का अनुमान वह कर सका, जिससे उसका अन्तरतम तक हिल गया। एक कर्मशील योद्धा होने के कारण संभवतः अबतक उसने यह सोचा भी नहीं था कि अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूरी करने और दुर्योधन के अन्यायों का बदला लेने में सम्पूर्ण समाज को किस सीमा तक अपना बलिदान देना होगा।

कारण जो कुछ भी रहा हो, लेकिन यह स्पष्ट है कि इस दृश्य को देखकर उसका हृदय करुणा और विषाद से भर गया। परन्तु इस समय की उसकी करुणा स्वाभाविक नहीं थी। यदि उसमें करुणा और विषाद की भावनायें गौतम बुद्ध के समान वास्तविक और स्वाभाविक होतीं, तो युद्ध के बहुत पूर्व ही वह भिन्न प्रकार से व्यवहार करता। संजय का अर्जुन की इस भावना को 'करुणा' नाम देना उपयुक्त नहीं है। साधारणतः मनुष्य का स्वभाव होता है कि वह अपनी दुर्बलताओं

को कोई दैवी गुण बताकर महानता प्राप्त करना चाहता है। जैसे, कोई धनी व्यक्ति स्वयं के नाम पर मन्दिर निर्माण करता है, तो भी उसको दानी कहते हैं जब कि उसके मन में अपना नाम अमर करने की प्रच्छन्न इच्छा होती है। इसी प्रकार यहाँ भी अर्जुन के मन में विषाद की भावना का उदय उसके मनःसंयम के पूर्णतया बिखर जाने के कारण हुआ, जिसका गलती से 'करुणा' नाम दिया गया।

अर्जुन के मन में असंख्य दमित भावनाओं का एक लम्बा सिससिला था, जो सक्रियरूप से शक्तिशाली बनकर व्यक्त होने के लिए अवसर की खोज कर रहा था। इस समय अर्जुन के मन तथा बुद्धि परस्पर वियुक्त हो चुके थे, क्योंकि स्वयं को सर्व श्रेष्ठ वीर ससझने के कारण उसके मन में युद्ध में विजयी होने की प्रबल आतुरता थी। पूर्व की दमित भावनायें और वर्तमान की विजय की व्याकुलता के कारण उसकी विवेक बुद्धि विचलित हो गयी।

इस अध्याय में आगे वर्णन है कि अर्जुन एक असन्तुलित मानसिक रोगी के समान व्यवहार करने लगता है। गीता के प्रथम अध्याय में 'अर्जुन–रोग' से पीड़ित व्यक्ति के 'रोग का इतिहास' बताने का प्रयत्न किया गया है। जैसा कि मैंने पहले कहा है, इस आत्मघातक 'अर्जुन-रोग' का रामबाण उपाय 'श्रीकृष्णोपचार' है।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

अर्जुन ने कहा—

हे कृष्ण! युद्ध की इच्छा रखकर उपस्थित हुए इन स्वजनों को देखकर मेरे अंग शिथिल हुए जाते हैं, मुख भी सूख रहा है और मेरे शरीर में कम्प तथा रोमांच हो रहा है ॥२८, २९॥

मनःसंभ्रम के कारण मानसिक रोगी के शरीर में उत्पन्न होने वाले लक्षणों को यहाँ विस्तार से बताया गया है। जिसे संजय ने 'करुणा' कहा था, उसकी वास्तविकता स्वयं अर्जुन के शब्दों से स्पष्ट ज्ञात होती है। वह कहता है, "इन स्वजनों को देखकर·········मेरे अंग कांपते हैं····" इत्यादि।

आधुनिक मनोविज्ञान में एक व्याकुल, असन्तुलित रोगी व्यक्ति के उपर्युक्त लक्षणों वाले रोग का नाम 'चिन्ताजनित रोश की स्थिति' दिया गया है।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

मेरे हाथ से गाण्डीव (धनुष) गिर रहा है और त्वचा जल रही है। मेरा मन भ्रमित सा हो रहा है, और मैं खड़े रहने में असमर्थ हूँ ॥३०॥

यहाँ अर्जुन अपने रोग के कुछ और लक्षण बताता है। इसके पहले उसने अपने स्थूल शरीर में व्यक्त होने वाले लक्षण बताये थे और अब वह अपनी मन की असन्तुलित स्थिति का भी वर्णन करता है।

उसका मन अस्थिर, क्षुब्ध और भ्रमित होने के साथ-साथ समस्त धैर्य भी खो बैठा है। वह इस सीमा तक नीचे गिर गया है कि सब विवेक खोकर वह अंध-विश्वास जनित उन अनेक अपशकुनों को देखने लग जाता है जो युद्ध में पराजय और नाश के सूचक समझे जाते हैं।

अगले श्लोक न केवल उसके मनःसंभ्रम को बताते हैं, अपितु यह भी स्पष्ट करते हैं कि किस सीमा तक उसका विवेक और नैतिक साहस विनष्ट हो चुका था।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

हे केशव! मैं शकुनों को भी विपरीत ही देख रहा हूँ और युद्ध में (आहवे) अपने स्वजनों को मारकर कोई कल्याण भी नहीं देखता हूँ ॥३१॥

हे कृष्ण! मैं न विजय चाहता हूँ, न राज्य और न सुखों को ही चाहता हूँ। हे गोविन्द! हमें राज्य से अथवा भोगों से और जीने से भी क्या प्रयोजन है? ॥३२॥

बुद्धि से पूर्णतया विलग होकर उसका भ्रमित मन एक पागल के समान इधर उधर दौड़ता है और मूर्खतापूर्ण निष्कर्षों पर पहुँचता है। वह कहता है, "मैं न विजय चाहता हुँ, न राज्य और न सुख।" यह सुविदित तथ्य है कि यदि उन्माद (हिस्टीरिया) के रोगी को बोलने दिया जाय, तो वह निषेध भाषा में ही रोग का

कारण बताने लगता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी स्त्री पर उन्माद का दौरा पड़ने पर वह प्रलाप में कहती है वह अपने पति से अभी भी प्रेम करती है, पति का वह आदर करती है और उनमें कोई आपसी मतभेद नहीं है इत्यादि, तो इन वाक्यों द्वारा वह स्वयं ही अपने रोग का वास्तविक कारण बता रही होती है।

इसी प्रकार, अर्जुन, यह जो सब वस्तुओं की अनिच्छा प्रकट कर रहा है, उसी से हम उसकी मनःस्थिति का स्पष्ट कारण जान सकते हैं। वह विजय चाहता था। वह शीघ्र ही अपने एवं स्वजनों के लिए राज्य व सुख प्राप्त करने के लिए आतुर था। परन्तु कौरवों की विशाल सेना और उसमें जाने-माने शूर वीर योद्धाओं को देखकर उसकी आशा भंग हो गयी, महत्वाकांक्षा ध्वस्त हो गयी और वह आत्म-विश्वास भी खोने लगा। इस प्रकार वह धीरे-धीरे 'अर्जुनरोग' रूपी विषाद की स्थिति में पहुँच गया, जिसके निवारण का उपाय ही गीता का प्रतिपाद्य विषय है।

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबंधिनस्तथा ॥३४॥

हमें जिनके लिए राज्य, भोग और सुखादि की इच्छा है, वे ही लोग धन और जीवन की आशा को त्यागकर युद्ध में खड़े हैं ॥३३॥

वे लोग गुरुजन, ताऊ, चाचा, पुत्र, पितामह, मामा, श्वसुर, पोते, श्यालक तथा अन्य सम्बन्धी हैं॥३४॥

एक ही क्षत्रिय परिवार के लोगों के बीच होने जा रहे इस गृहयुद्ध के विरुद्ध अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण को अन्य तर्क भी देता है। भावाविष्ट अर्जुन अपने कायरतापूर्ण पलायन के लिए अनेक तर्क देकर अपने विचार को उचित सिद्ध करना चाहता है, जबकि भाग्य से प्राप्त कर्तव्य करने से वह वास्तव में दूर भाग रहा है।

उसने जो कुछ पहले कहा था उसी को वह दोहराता रहता है, क्योंकि श्रीकृष्ण अपने गूढ़ मौन द्वारा उसके तर्क स्वीकार नहीं कर रहे थे। भगवान् के अधरों की तीक्ष्ण मुस्कान अर्जुन को लज्जित कर रही थी। वह अपने मित्र एवं सारथि श्रीकृष्ण की अपने विचारों के प्रति स्वीकृति और सहमति चाहता था। परन्तु न तो उनकी दृष्टि के भाव से और नहीं उनके शब्दों से उसे इच्छित सहमति मिल रही थी।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

हे मधुसूदन ! इनके मुझे मारने पर अथवा त्रैलोक्य के राज्य के लिए भी मैं इनको मारना नहीं चाहता, फिर पृथ्वी के लिए कहना ही क्या है ॥३५॥

यह विचार कर कि संभवतः उसने अपने पक्ष को श्रीकृष्ण के समक्ष अच्छी प्रकार दृढ़ता से प्रस्तुत नहीं किया है जिससे कि भगवान् उसके मत की पुष्टि करें, अर्जुन व्यर्थ में त्याग की बातें करता है। वह यह दर्शाना चाहता है कि वह इतना उदार हृदय है कि उसके चचेरे-भाई उसको मार भी डालें, तो भी वह उन्हें मारने को तैयार नहीं होगा। अतिशयोक्ति की चरम सीमा पर वह तब पहुँचता है, जब वह घोषणा करता है कि त्रैलोक्य का राज्य मिलता हो तब भी वह युद्ध नहीं करेगा, फिर केवल हस्तिनापुर के राज्य की बात ही क्या है।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

हे जनार्दन! धृतराष्ट्र के पुत्रों की हत्या करके हमें क्या प्रसन्नता होगी? इन आततायियों को मारकर तो हमें केवल पाप ही लगेगा ॥३६॥

अर्जुन के इतना कुछ कहने पर भी भगवान् श्रीकृष्ण मूर्तिवत् मौन ही रहते हैं। इसलिए वह पहले की भाषा छोड़कर मृदुभाव से किसी मन्दबुद्धि मित्र को कोई बात समझाने की शैली में भावुक तर्क देने लगता है। भगवान् के निरन्तर मौन धारण किए रहने से अर्जुन की यह परिवर्तित नीति अत्यन्त हास्यास्पद प्रतीत होती है।

इस श्लोक में प्रथम वह कहता है कि दुर्योधनादि को मारने से किसी प्रकार का कल्याण होने वाला नहीं है। इस पर भी काष्ठवत् मौन खड़े श्रीकृष्ण को देखकर उसको इस मौनभाव का कारण समझ में नहीं आता। शीघ्र ही उसे स्मरण हो आता है कि कौरव परिवार आततायी है और धर्मशास्त्र के नियमानुसार आततायी को तत्काल मार डालना चाहिए, चाहे वह शिक्षक, वृद्ध पुरुष, या वेदज्ञ ब्राह्मण ही क्यों न हो। आततायी को मारने में किसी प्रकार का पाप नहीं है। अन्यायपूर्वक किसी पर आक्रमण करने वाला पुरुष आततायी कहलाता है।

अपने शुद्ध दिव्य स्वरूप के विपरीत हम जो गलत काम करते हैं, वे पाप कहलाते हैं। शरीर, मन और बुद्धि को ही अपना स्वरूप समझ कर कोई कर्म करना श्रेष्ठ मनुष्य का लक्षण नहीं है। अहंकारपूर्वक स्वार्थ के लिए किये गये कर्म हममें और शुद्धचैतन्य स्वरूप आत्मा के बीच वासना की सुदृढ़ दीवार खड़ी कर देते हैं। इन्हें ही पाप कहा जाता है।

शत्रुओं की हत्या करने में अर्जुन का अविवेकपूर्ण विरोध शास्त्र को न समझने का परिणाम है। और फिर अपनी समझ के अनुसार कर्म करना अपनी संस्कृति को ही नष्ट करना है।

इसलिए, भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के तर्कों की न स्तुति करते हैं और न आलोचना। वे जानते हैं कि अर्जुन को अपने मन की बात कह लेनी देनी चाहिए। किसी मानसिक रोगी के लिए यह उत्तम निदान है। इस प्रकार उसका चित्त शांत हो जाता है।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुम् धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ।।३७।।

हे माधव! इसलिए अपने बान्धव धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारना हमारे लिए योग्य नहीं है, क्योंकि स्वजनों को मारकर हम कैसे सुखी होंगे।

ऐसा प्रतीत होता है कि अर्जुन के तर्क, शास्त्रसम्मत हैं। जाने या अनजाने शास्त्रों का विपरीत अर्थ करने वाले लोगों के कारण दर्शनशास्त्र की अत्यधिक हानि होती है। अर्जुन अपने दिए हुए तर्कों को ही सही समझ कर उनसे सन्तुष्ट है और इस खतरनाक निर्णय पर पहुँचता है कि उसको इन आक्रमणकारियों को नहीं मारना चाहिए। भगवान् फिर भी शान्त रहते हैं।

श्रीकृष्ण के मौन से वह और भी अधिक विचलित होकर उनसे दयनीय भाव से प्रार्थना करते हुए अपने मूर्खतापूर्ण निर्णय की पुष्टि चाहता है। दीर्घकाल तक साथ में रहने से दोनों में स्नेहभाव बढ़ गया था और इसी कारण अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण को माधव नाम से संबोधित करके पूछता है कि स्वबान्धवों की ही हत्या करके कोई व्यक्ति कैसे सुखी रह सकता है। भगवान् फिर भी मौन रहते हैं।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ।।३८।।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हुये ये लोग कुलनाशकृत दोष और मित्र द्रोह में पाप नहीं देखते हैं ॥३८॥

परन्तु, हे जनार्दन ! कुलक्षय से होने वाले दोष को जानने वाले हम लोगों को इस पाप से विरत होने के लिए क्यों नहीं सोचना चाहिए ? ॥३९॥

निःसंदेह, सत्ता और धन के लालच से अन्धे हुए कौरव यह देखने में असमर्थ थे कि इस युद्ध के कारण सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचे का कितना विनाश होने वाला है। उनकी महत्वाकांक्षा ने उनके विवेक और भावना को इस प्रकार आच्छादित कर दिया था कि युद्ध में अपने ही बान्धवों की हत्याओं की क्रूरता को भी वे नहीं समझ पा रहे थे।

अर्जुन के कथन से लगता है कि उसने अपना विवेक खोया नहीं था और इस भ्रातृहन्ता युद्ध के द्वारा होने वाले भावी सामाजिक विनाश को वह स्पष्ट देख रहा था। उसका प्रस्तुत तर्क कुछ इस प्रकार का है। यदि हमारा कोई मित्र मद्यपान के कारण स्वयं को भूलकर अभद्र व्यवहार करता है, तो उस समय उसका प्रतिकार करना और भी अधिक विचित्र बात होगी। हमको समझना चाहिये कि उस मित्र ने अपना विवेक खो दिया है और वह स्वयं नहीं जानता कि वह क्या कर रहा है। ऐसे समय हमारे लिए उचित है कि उसकी अशिष्टता पर ध्यान न देकर हम उसे क्षमा कर दें।

इसी प्रकार अर्जुन का तर्क है कि यदि दुर्योधन और उसके मित्र अन्धे होकर अन्यायपूर्वक आक्रमण करते हैं, तो क्या पाण्डवों को शान्ति की वेदी पर स्वयं का बलिदान करते हुये युद्ध से विरत हो जाना उचित नहीं है ? यह धारणा स्वयं में कितनी खतरनाक है, इसको हम तब समझेंगे जब गीता के आगामी परिच्छेदों में तत्वज्ञान के महत्वपूर्ण अंश को देखेंगे जो भारतीय जीवन का सारतत्व है। "अधर्म का सक्रिय प्रतिकार" ही एक मुख्य सिद्धान्त है, जिसका भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में प्रतिपादन किया है।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

कुल के नष्ट होने से सनातनधर्म नष्ट हो जाते हैं। धर्म नष्ट होने पर सम्पूर्ण कुल को अधर्म (पाप) दबा लेता है ॥४ ॥

जिस प्रकार कोई कथावाचक हर बार पुरानी कथा सुनाते हुए कुछ नई बातें उसमें जोड़ता जाता है, उसी प्रकार अर्जुन की सर्जक बुद्धि अपनी गलत धारणा को पुष्ट करने के लिए नए-नए तर्क खोज कर निकाल रही है। वह जैसे ही एक तर्क समाप्त करता है, वैसे ही उसे एक और नया तर्क सूझता है, जिसकी आड़ में वह अपनी दुर्बलता को छिपाना चाहता है। अब उसका तर्क यह है कि युद्ध में अनेक परिवारों के नष्ट हो जाने पर सब प्रकार की सामाजिक एवं धार्मिक परम्परायें समाप्त हो जाएँगी और शीघ्र ही सब ओर अधर्म फैल जायेगा।

सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में नए-नए प्रयोग करने में हमारे पूर्वजों की सदैव विशेष रुचि रही है। वे जानते थे कि राष्ट्र की संस्कृति की इकाई कुल की संस्कृति होती है। इसलिए यहाँ अर्जुन विशेष रूप से कुल धर्म के नाश का उल्लेख करता है, क्योंकि उसके नाश के गम्भीर परिणाम हो सकते हैं।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ॥४१॥

हे कृष्ण ! पाप के अधिक बढ़ जाने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं, और हे वार्ष्णेय ! स्त्रियों के दूषित होने पर वर्णसंकर उत्पन्न होता है ॥४१॥

अर्जुन अपने पूर्व कथित तर्क को आगे बढ़ाते हुए कहता है कि अधर्म के बढ़ने पर समाज में धीरे-धीरे नैतिकता का पतन हो जायेगा और वर्णसंकर जातियाँ उत्पन्न होंगी।

वर्ण एक ऐसा शब्द है जिसका अर्थ अब विकृत हो जाने से वह आज के शिक्षित लोगों की तीखी आलोचना का विषय बन गया है। उनकी आलोचना उचित है, यदि उसका विकृत अर्थ स्वीकृत हो। परन्तु आज वर्ण के नाम पर देश में जो कुछ होते हुए हम देख रहे हैं वह हिन्दू जीवन पद्धति का पतित रूप है। प्राचीन काल में वर्ण विभाग का आधार समाज के व्यक्तियों की मानसिक व बौद्धिक क्षमता और पक्वता होती थी।

बुद्धिमान तथा अध्ययन, अध्यापन एवं अनुसंधान में रुचि रखने वाले लोग ब्राह्मण कहलाते थे; क्षत्रिय वे थे, जिनमें राजनीति के द्वारा राष्ट्र का नेतृत्व करने की सामर्थ्य थी और जो अपने ऊपर इस कार्य का उत्तरदायित्व लेते थे कि राष्ट्र को आन्तरिक और बाह्य आक्रमण से बचाकर राष्ट्र में शान्ति और समृद्धि लायें। कृषि और वाणिज्य के द्वारा समाज सेवा करने वालों को वैश्य कहते थे। वे लोग जो उपर्युक्त कर्मों में से कोई भी कर्म नहीं कर सकते थे, शूद्र कहे जाते थे। उनका

कर्तव्य सेवा और श्रम करना था। हमारे आज के समाज-सेवक और अधिकारी वर्ग, कृषक और औद्योगिक कार्यकर्त्ता आदि सभी उपर्युक्त वर्ण व्यवस्था में आ जाते हैं।

वर्णव्यवस्था को जब हम उसके व्यापक अर्थ में समझते हैं तब वह आज भी हमें अनेक संगठनों के रूप में दिखाई देती है। अतः वर्णसंकर के विरोध का अर्थ इतना ही है कि एक विद्युत अभियन्ता शल्यकक्ष में चिकित्सक का काम करता हुआ समाज को खतरा सिद्ध होगा, तो किसी चिकित्सक को जलविद्युत योजना का प्रशासनिक एवं योजना अधिकारी नियुक्त करने पर समाज की हानि होगी !

समाज में नैतिक पतन होने पर अनियन्त्रित वासनाओं में डूबे युवक और युवतियाँ स्वच्छन्दता से परस्पर मिलते हैं। कामना के वश में वे सामाजिक और सांस्कृतिक विकास का किंचित् भी विचार नहीं करते। इसलिए अर्जुन को भय है कि वर्णसंकर के कारण समाज और संस्कृति का पतन होगा।

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

वह वर्णसंकर कुलघातियों को और कुल को नरक में ले जाने का कारण बनता है। पिण्ड और जलदान की क्रिया से वंचित इनके पितर भी नरक में गिर जाते हैं ॥४२॥

अब अर्जुन वर्णसंकर के दुष्परिणामों को बताता है। जातियों के वर्णसंकर होने से अन्तर्बाह्य जीवन में नैतिक मूल्यों का ह्रास होता है और फलतः पारिवारिक व धार्मिक परम्परायें नष्ट हो जाती हैं।

हिन्दू धर्म के अनुसार मृत पितरों को पिण्ड और जल अर्पित किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि पितर यह देखना चाहते हैं कि उनके द्वारा अत्यन्त परिश्रम से विकसित की गई और अपने पुत्रों आदि को सौंपी गयी सांस्कृतिक शुद्धता को वे किस सीमा तक बनाये रखते हैं और उसकी सुरक्षा किस प्रकार करते हैं। हमारे पूर्वजों द्वारा अथक परिश्रम से निर्मित उच्च संस्कृति को यदि हम नष्ट कर देते हैं, तो वास्तव में हम उनका घोर अपमान करते हैं। यह कितनी आकर्षक और काव्यात्मक कल्पना है कि पितरगण अपने स्वर्ग के वातायन से देखते हैं कि उनके पुत्रादि अपनी संस्कृति की रक्षा करते हुए किस प्रकार का जीवन जीते हैं ! यदि वे यह देखेंगे कि उनके द्वारा अत्यन्त श्रम से लगाये हुए उद्यानों को उनके स्वजनों ने उजाड़कर जंगल बना दिया है, तो निश्चय ही उन्हें भूख प्यास के कष्ट के समान पीड़ा होगी। इस

दृष्टि से अध्ययन करने पर यह श्लोक अत्यन्त उपयुक्त प्रतीत होता है। प्रत्येक पीढ़ी अपनी संस्कृति की आलोकित ज्योति भावी पीढ़ी के हाथों में सौंप देती है। नई पीढ़ी का यह कर्तव्य है कि वह इसे सावधानी पूर्वक आलोकित अवस्था में ही अपने आगे आने वाली पीढ़ी को भी सौंपे। संस्कृति की रक्षा एवं विकास करना हमारा पुनीत कर्तव्य है।

ऋषिमुनियों द्वारा निर्मित भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक है, जिसकी सुरक्षा धार्मिक विधियों पर आश्रित होती है। इसलिए हिन्दुओं के लिए संस्कृति और धर्म एक ही वस्तु है। हमारे प्राचीन साहित्य में संस्कृति शब्द का स्वतन्त्र उल्लेख कम ही मिलता है। उसमें अधिकतर धार्मिक विधियों के अनुष्ठान पर ही बल दिया गया है।

वास्तव में हिन्दू धर्म सामाजिक जीवन में आध्यात्मिक संस्कृति संरक्षण की एक विशेष विधि है। धर्म का अर्थ है उन दिव्य गुणों को अपने जीवन में अपनाना, जिनके द्वारा हमारा शुद्ध आतमस्वरूप स्पष्ट प्रकट हो। अतः कुलधर्म का अर्थ परिवार के सदस्यों द्वारा मिलजुल कर अनुशासन और ज्ञान के साथ रहने के नियमों से है। परिवार में नियमपूर्वक रहने से देश के एक योग्य नागरिक के रूप में भी हम आर्य संस्कृति को जी सकते हैं।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

इन वर्णसंकर कारक दोषों से कुलघातियों के सनातन कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं।॥४३॥

पूर्व श्लोक की टीका का अर्थ अर्जुन के इस वाक्य से और अधिक स्पष्ट हो जाता है। जैसा कि हमने देखा, धर्म का अर्थ ह 'भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति', जिसका प्रशिक्षण प्रत्येक घर में ही प्रारम्भ से मिलता था। अर्जुन का यह भय कि इस गृहयुद्ध से जातिधर्म व कुलधर्म नष्ट हो जायेंगे, सामान्य ज्ञान की बात है। यह सुविदित है कि प्रत्येक युद्ध के बाद समाज में नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों का सहसा कितना पतन होने लगता है। अनैतिकता और छल कपट की प्रवृत्तियों के नीचे दबा हाँफ रहा आज का युग उपरोक्त तथ्य का ज्वलंत उदाहरण है। युद्ध के बाद न केवल लंगड़े लूलों की संख्या बढ़ती है, वरन् उससे भी भयंकर परिणाम मन की गंभीर विकृतियों के रूप में सामने आते हैं।

इन श्लोकों में हम अर्जुन को संसार के सर्वप्रथम युद्धविरोधी व्यक्ति के रूप

में पाते हैं। इन अनुच्छेदों में वह शान्ति प्रिय लोगों के लिये सार्वकालिक तर्कों की एक सुन्दर श्रृंखला भेंट करता है।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

हे जनार्दन ! हमने सुना है कि जिनके यहाँ कुलधर्म नष्ट हो जाता है, उन मनुष्यों का अनियत काल तक नरक में वास होता है।

इसके उपरान्त भी भगवान् कुछ नहीं बोले। अब अर्जुन की स्थिति ऐसी हो गयी थी कि वह न तो चुप रह सकता था और न उसको नये तर्क ही सूझ रहे थे। परन्तु भगवान के मौन का प्रभाव भी अनूठा ही था। इस श्लोक में अर्जुन पारम्परिक कथन ही उदधृत करता है।

हिन्दुओं के लिये धर्म ही संस्कृति है। इसलिये कुलधर्म के महत्व पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। इसी कारण अर्जुन यहाँ एक बार फिर कुलधर्म नाश के दुष्परिणामों की ओर ध्यान आकर्षित करता है।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

अहो ! शोक है कि हमलोग बड़ा भारी पाप करने का निश्चय कर बैठे हैं, जो कि इस राज्य-सुख के लोभ से अपने कुटुम्ब का नाश करने के लिये तैयार हो गये हैं॥ ४५ ॥

इस श्लोक में अर्जुन की बौद्धिक निराशा और मन की थकान स्पष्ट दिखाई पड़ती है, जो वास्तव में बड़ी दयनीय है। आत्मविश्वास को खोकर वह कहता है, "अहो ! हम पाप करने को प्रवृत्त हो रहे हैं......" इत्यादि। इस वाक्य से स्पष्ट ज्ञात होता है कि परिस्थिति पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के स्थान पर अर्जुन स्वयं उसका शिकार बन गया है। आत्मविश्वास के अभाव में एक कायर के समान वह स्वयं को असहाय अनुभव कर रहा है।

मन की यह दुर्बलता उसके शौर्य को क्षीण कर देती है और वह उसे छिपाने के लिये महान् प्रतीत होने वाली युक्तियों का आश्रय लेता है। युद्ध के लक्ष्य को ही उसने गलत समझा है। और फिर धर्म के पक्ष पर स्वार्थ का झूठा आरोप वह केवल अपनी कायरता के कारण करता है। शान्तिप्रियता का उसका यह तर्क अपनी सामर्थ्य को पहचान कर नहीं, वरन् मन की दुर्बलता के कारण है।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

यदि मुझ शस्त्ररहित और प्रतिकार न करने वाले को ये शस्त्रधारी कौरव रण में मारें, तो भी वह मेरे लिये कल्याणकारक होगा ॥४६॥

यहाँ अर्जुन अपने अन्तिम निर्णय की घोषणा करता है । सब प्रकार से परिस्थिति पर विचार करने पर उसे यही उचित जान पड़ता है कि रणभूमि में वह किसी प्रकार का प्रतिकार न करे, चाहे कौरव उसे शस्त्ररहित जानकर सैकड़ों बाणों से उसके सुन्दर शरीर को हरिण की तरह विद्ध कर दें ।

यहाँ अर्जुन द्वारा प्रयुक्त 'क्षेम' शब्द विचारणीय है, क्योंकि वह शब्द ही उसकी वास्तविक मनःस्थिति का परिचायक है । क्षेम और मोक्ष शब्द के अर्थ क्रमशः भौतिक उन्नति और आध्यात्मिक उन्नति हैं । यद्यपि अर्जुन ने अब तक जो भी तर्क प्रस्तुत किये, उनमें आध्यात्मिक संस्कृति के पतन के भय को बड़े परिश्रम से सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया था, परन्तु 'क्षेम' शब्द से स्पष्ट हो जाता है कि वह वास्तव में शारीरिक सुरक्षा चाहता था, जो युद्ध पलायन से संभव थी ।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि युद्ध में विजयरूपी फल में अत्यन्त आसक्ति और उसकी चिन्ता के कारण अर्जुन आत्मविश्वास खोकर एक उन्माद के मानसिक रोगी के समान विचित्र व्यवहार करने लगता है ।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

संजय नेकहा–

रणभूमि (संख्ये) में शोक से उद्विग्न मन वाला अर्जुन इस प्रकार कहकर बाणसहित धनुष को त्यागकर रथ के पिछले भाग में बैठ गया ॥४७॥

रणभूमि में संजय ने जो कुछ देखा उसका वह वर्णन करता है । अपने ही तर्कों से थका और शोक में डूबा हुआ अर्जुन अपने शस्त्रास्त्रों को फेंककर रथ में बैठ जाता है ।

गीता के प्रथम अध्याय में अर्जुन को हम इसी स्थिति में छोड़ देते हैं ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥

इस प्रकार श्रीकृष्णार्जुनसंवाद के रूप में ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रस्वरूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् का अर्जुनविषादयोग नामक प्रथम अध्याय समाप्त होता है।

प्राचीन काल में शास्त्रीय ग्रन्थों की समाप्ति किसी चिह्न अथवा विशिष्ट संकेत द्वारा सूचित की जाती थी। आधुनिक काल की मुद्रित पुस्तकों में इसकी आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि हम पुस्तक में एक अध्याय की समाप्ति और नये अध्याय को प्रारम्भ किया हुआ देख सकते हैं। मुद्रित पुस्तकों में भी इसे अध्यायों के विभिन्न शीर्षकों के द्वारा अंकित किया जाता है।

प्राचीन काल में पुस्तकों के अभाव में विद्यार्थियों को मौखिक उपदेश दिया जाता था। इस प्रकार ग्रन्थों के नवीन संस्करण उनके मस्तिष्क के स्मृति-पटल पर ही मुद्रित होते थे। उस समय मौखिक उपदेश होने के कारण विद्यार्थी उसे कण्ठस्थ कर लेते थे। इसलिये यह आवश्यक था कि एक अध्याय की समाप्ति और दूसरे का प्रारम्भ बताने वाला कोई सूचक चिह्न हो। उपनिषदों में इसे सूचित करने के लिये अध्याय के अन्तिम मन्त्र अथवा मन्त्र के अन्तिम अंश को दो बार दोहराया जाता है। परन्तु गीता में प्रत्येक अध्याय के अन्त में एक 'संकल्प वाक्य' पाया जाता है। प्रत्येक अध्याय के संकल्प वाक्य में अन्तर केवल अध्याय की संख्या और उसके विशेष नाम का ही है।

गीता का संकल्प वाक्य अत्यन्त सुन्दर एवं सारगर्भित शब्दों से पूर्ण है। यह स्वयं ही इस ग्रन्थ की विषय वस्तु के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी देता है। यहाँ सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता को ही नहीं, अपितु उसके प्रत्येक अध्याय को भी उपनिषद् की संज्ञा दी गयी है। अठ्ठारह अध्यायी गीतोपनिषद् के प्रथम अध्याय का नाम 'अर्जुनविषादयोग' है। इन अध्यायों को उपनिषद् कहने का कारण यह है कि इन में उपनिषद् के विषय का ही प्रतिपादन किया गया है। इनके लक्ष्यार्थ को ऐसे पाठकगण नहीं समझ सकेंगे, जो बिना किसी पूर्व तैयारी के इनका अध्ययन करेंगे। सरल प्रतीत होने वाले श्लोकों में छिपे गूढ़ार्थ को समझने के लिये मनन की अत्यन्त आवश्यकता होती है। उपनिषद् विद्या के समान यहाँ भी गीता के श्लोकों में निहित परमार्थ निधि को पाने के लिये एक कृपालु एवं योग्य गुरु की आवश्यकता है।

उपनिषद् शब्द का अर्थ है, वह विद्या जिसका अध्ययन गुरु के समीप (उप) पहुँचकर, उसके चरणों के पास अत्यन्त नम्र भाव से और निश्चयपूर्वक (नि) बैठकर (षद्) किया जाता है। विश्व के सभी धार्मिक शास्त्र ग्रन्थों का विषय एक ही है। वे सभी हमको यह शिक्षा देते हैं कि इस नित्य परिवर्तनशील दृश्य जगत् के

पीछे एक अविनाशी पारमार्थिक सत्य है, जो इस जगत् का मूल स्वरूप है। इस अद्वैत स्वरूप सत्य को हिन्दू धर्म ग्रन्थों में 'ब्रह्म' कहा गया है। इसलिये ब्रह्म का ज्ञान तथा उसके अनुभव के लिये साधनों का उपदेश देने वाली विद्या 'ब्रह्मविद्या' कहलाती है।

पाश्चात्य दर्शन के विपरीत, आर्य लोगों को कोई भी दर्शन तभी स्वीकार होता था जब कोई दार्शनिक ऐसे साधनों का भी निरूपण करता था, जिनके द्वारा प्रत्येक साधक उस दर्शन के लक्ष्य तक पहुँच सकता है। इस प्रकार हिन्दू दर्शन-शास्त्र के दो भाग हैं तत्वज्ञान और योगशास्त्र। इस दूसरे भाग में अभ्यसनीय साधनों का वर्णन किया गया है।

योग शब्द 'युज्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'जोड़ना'। स्वयं को वर्तमान की स्थिति से ऊँचा उठाकर किसी श्रेष्ठ एवं पूर्ण आदर्श को प्राप्त करने के लिये साधक जो प्रयत्न करता है, उसे योग कहते हैं और इस विज्ञान को योगशास्त्र। संकल्प वाक्य में गीता को योगशास्त्र कहा गया है। इसलिये इससे हम उन साधनों के ज्ञान की अपेक्षा रखते हैं, जिनके अभ्यास द्वारा परमार्थ सत्य का साक्षात् अनुभव प्राप्त किया जा सकता है।

अत्यन्त सूक्ष्म एवं शास्त्रीय विषय होने के कारण तत्त्वज्ञान और योगशास्त्र में संसार के सामान्य जनों का विशेष आकर्षण और रुचि नहीं होती हैं। इसमें प्रतिपादित ज्ञान किसी दृश्य पदार्थ का नहीं है। एक गणितज्ञ के अतिरिक्त अन्य सामान्य जनों को गणित विषय शुष्क और नीरस प्रतीत होता है। गणित के ज्ञान की व्यावहारिक जीवन में अत्यधिक आवश्यकता भी नहीं होती। परन्तु धर्म का प्रयोजन संसार दुःख की निवृत्ति होने के कारण सभी लोगों को इसकी आवश्यकता है। अतः तत्त्वज्ञान के कठिन विषय को सरल और आकर्षक ढंग से सामान्य जनों के सम्मुख प्रस्तुत करने का प्रयत्न सभी आचार्यों ने किया है। गुरु के मुख से उपदेश प्रदान करने की विधि का उन्होंने सफल उपयोग किया। एक सुपरिचित गुरु के शब्द भी हमें सुपरिचित मालूम पड़ने लगते हैं।

तत्त्वज्ञान का प्राथमिक शिक्षण देने वाले ग्रन्थ स्मृति ग्रन्थ हैं, जैसे मनुस्मृति, गौतम स्मृति आदि। ये ग्रन्थ सरलता से समझ में आ सकते हैं। उपनिषदों में हमें गुरु और शिष्य का वर्णन मिलता है, किन्तु वह अधिक विस्तार में नहीं है। गीता में हमें इसका सम्पूर्ण चित्र मिलता है। गीता की पार्श्वभूमि में युद्ध की उत्तेजक स्थिति के बीच औपनिषदीय पुरातन सत्य की एक बार पुनः उद्घोषणा की गयी है।

यहाँ इस ज्ञान का उपदेश स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अपने परम मित्र अर्जुन को ऐसी संघर्षपूर्ण स्थिति के संदर्भ में दे रहे हैं, जहाँ वह पूर्णतया मानसिक सन्तुलन को खोकर विषाद अवस्था को प्राप्त होता है। इसलिये गीता से हम ऐसे उपदेश और मार्गदर्शन की अपेक्षा रख सकते हैं जो अत्यन्त सहानुभूति पूर्वक किया गया हो। उपनिषद् के ऋषियों का सम्बन्ध सामान्य जनों से इतना अधिक नहीं था कि वे उनकी दुर्बलताओं को पूर्णतया समझ सकें। गीता की यह विशेषता संकल्पवाक्य में यह कहकर बतायी गयी है कि यह स्वयं भगवान् द्वारा एक मर्त्य पुरुष को दिया गया उपदेश है--'श्रीकृष्णार्जुनसंवादे'।

इस अध्याय का शीर्षक 'अर्जुनविषादयोग' है, जो कि वास्तव में परस्पर विरोधी शब्दों से बना है। यदि विषाद ही योग हो, तो हम सब बिना किसी इच्छा या प्रयत्न के योगी ही हैं। इस अध्याय की व्याख्या में मैंने पहले ही सूचित किया है कि अर्जुन की विषाद की यह स्थिति इष्ट है, क्योंकि इसमें गीतोपदेश के बीज बोकर श्रीकृष्ण के पूर्णत्व के पुष्प प्राप्त किये जा सकते हैं। किसी एक व्यक्ति, समाज या राष्ट्र में धर्म और तत्व ज्ञान की माँग तभी होगी, जब उनके हृदय में अर्जुन के विषाद का अनुभव होगा।

आज का जगत् जितनी अधिक मात्रा में यह अनुभव करेगा कि वह जीवन संग्राम का सामना करने में असहाय है, और उसमें यह साहस नहीं कि स्वयं के द्वारा ही निर्मित अपने प्रिय आर्थिक मूल्यों एवं औद्योगिक लोभ का वह संहार कर सके, उतनी ही अधिक मात्रा में वह गीतोपदेश का पात्र है। केवल पाकशास्त्र की कला स्वयं में पूर्णता नहीं रखती। उसकी पूर्णता भोजन करने में है। उसी प्रकार जीवन में उच्च आराम और अनेक सुखसुविधाओं के साधन जुटा लेने पर भी पूर्णता अथवा कृतकृत्यता का अनुभव नहीं होता है। ऐसे समय ही मनुष्य को पूर्णत्व प्राप्त करने की तीव्र अभिलाषा होती है। विषाद की स्थिति प्राप्त किये बिना अकेले शास्त्र हमारी सहायता नहीं कर सकते। आत्मयोग के पूर्व विषाद की स्थिति अनिवार्य होने के कारण उसे ही यहाँ योग कहा गया है। गीता में वर्णित योग को सीखने एवं जीने के लिये 'अर्जुनविषाद' की स्थिति प्राथमिक साधना है।

●

द्वितीय अध्याय

सांख्ययोग

"सांख्ययोग" नामक इस अध्याय में हमें गीता के सम्पूर्ण तत्वज्ञान का सार मिलता है। इसके प्रथम दस श्लोकों में उन परिस्थितियों का वर्णन है, जिनमें अर्जुन पूर्णरूप से भगवान की शरण में आत्म समर्पण करता है।

इसके बाद ११वें श्लोक से लेकर ४६वें श्लोक तक सांख्ययोग का निरूपण है। कपिल मुनि जी के सांख्य दर्शन की पुनरावृत्ति नहीं है, परन्तु जैसा कि सांख्य शब्द का भाव है यह "दर्शन शास्त्र के तात्विक सिद्धांत का युक्तिपूर्ण विवेचन" है। ४७ से ६०वें श्लोक तक 'कर्मयोग' की विस्तृत रूपरेखा है, जिसकी छाया सम्पूर्ण गीता में दर्शनीय है। इसके आगे ६१ से लेकर ७०वें श्लोक तक 'भक्तियोग' का निर्देश है और अन्तिम दो श्लोकों में संक्षेप में संन्यास योग का लक्षण बताया गया है। इस प्रकार द्वितीय अध्याय को सम्पूर्ण गीता का सार माना जा सकता है।

वेदों में उपदिष्ट पूर्णत्व प्राप्ति के तीनों मार्गों—ज्ञान भक्ति और कर्म का निरूपण गीता में मिलता है। कर्मकाण्ड एवं उपासना के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त कर उपनिषदों में प्रतिपादित परमार्थ सत्य का साक्षात् अनुभव किया जा सकता है। अनेक लोगों की यह धारणा थी कि ये मार्ग एक दूसरे से भिन्न और विपरीत हैं, जिसके कारण अनेक मतों का प्रारम्भ हुआ और लोग आपसी मतभेदों में उलझ गए। पौराणिक युग में व्यास जी ने हिन्दू धर्म को ऐसी ही शोचनीय स्थिति में पाया। गीता में उन्होंने आर्यपुत्रों का मार्ग दर्शन करने का प्रयत्न किया जिसके अनुसार इन तीनों मार्गों में सामञ्जस्य स्थापित करके उस परम लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है।

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

संजय ने कहा—

इस प्रकार करुणा और विषाद के अभिभूत, अश्रुपूरित नेत्रों वाले आकुल अर्जुन से मधुसूदन ने यह वाक्य कहा ॥१॥

द्वितीय अध्याय का प्रारम्भ संजय के कथन से होता है जिसमें वह चुने हुए शब्दों में अर्जुन की विषादमयी मानसिक स्थिति का स्पष्ट चित्रण करता है। अर्जुन का मन करुणा और विषाद से भर गया है। इस उक्ति से स्पष्ट होता है कि अर्जुन परिस्थितियों का स्वामी न होकर स्वयं उनका शिकार हो गया था। इस प्रकार एक दुर्बल व्यक्ति ही परिस्थितियों का शिकार बनकर जीवन संघर्ष के प्रत्येक अवसर पर असफल होता है। अर्जुन अपनी नैराश्य पूर्ण अवस्था में इस समय ऐसी ही बाह्य परिस्थितियों का शिकार हो गया था। अर्जुन की विषादावस्था का वर्णन करने के साथ ही संजय हमें यह भी संकेत करता है कि उसका आंतरिक व्यक्तित्व भग्न हो गया था और उसके चरित्र में एक गहरी दरार पड़ गयी थी। अपने समय का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी होकर भी वह किसी सामान्य युवती के समान रुदन कर रहा था !

इस प्रकार करुणा और शोक से अभिभूत एवं अश्रुरहित रोदन करते हुए अर्जुन से मधुसूदन (मधु नामक असुर का वध करने वाले) भगवान् श्रीकृष्ण ने निम्नलिखित वाक्य कहा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अश्रुरहित रोदन को आधुनिक मनोविज्ञान मानसिक उद्विग्नता की चरम स्थिति मानता है।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

श्री भगवान् ने कहा—

हे अर्जुन ! तुमको इस विषमस्थल में यह मोह कहाँ से उत्पन्न हुआ ? यह आर्य आचरण के विपरीत न तो स्वर्ग प्राप्ति का साधन ही है और न कीर्ति कराने वाला ही है ॥२॥

अपने आपको आर्य कहलाने वाले एक राजा को युद्धभूमि में इस प्रकार हत-बुद्धि देखकर भगवान् को आश्चर्य हो रहा था। एक सच्चे आर्य अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष का स्वभाव तो यह होता है कि जीवन में आने वाली किसी भी परिस्थिति में अपने मनः संयम से विचलित न होकर उन परिस्थितियों का कुशलता से सामना करता है और उनको अपने अनुकूल बना लेता है। समुचित शैली में जीवन यापन करके अत्यन्त प्रतिकूल और विषम परिस्थितियों को भी आनन्ददायक सफलता में परिवर्तित किया जा सकता है। यह सब मनुष्य की बुद्धिमत्ता पर निर्भर है कि वह अपने आप को जीवन के उत्थान-पतन में सही दिशा में किस प्रकार ले जाता है। यहाँ भगवान्

अर्जुन के आचरण को 'अनार्य' कहते हैं। आर्य पुरुष जीवन के उच्च आदर्शों पवित्रता और गरिमा के आह्वान के प्रति सदैव जागरूक और प्रयत्नशील रहते हैं।

अर्जुन की इस शोकाकुल अवस्था को देखकर श्रीकृष्ण को आश्चर्य इसलिए हो रहा था कि वे उसे दीर्घकाल से अच्छी प्रकार जानते थे और इस प्रकार का शोक-मोह अर्जुन के स्वभाव के सर्वथा विपरीत था। इसीलिये वे यहाँ कहते हैं, "तुमको इस विषमस्थल में····आदि"।

हिन्दुओं का यह विश्वास है कि क्षत्रिय कुल में जन्मे हुए व्यक्ति का कर्तव्य है धर्म के लिए युद्ध करना। और इस प्रकार यदि उसे रणभूमि में प्राण त्यागना पड़े तो उस वीर को स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥३॥

हे पार्थ क्लीव (कायर) मत बनो। यह तुम्हारे लिए अशोभनीय है, हे परंतप! हृदय की क्षुद्र दुर्बलता को त्यागकर खड़े हो जाओ ॥३॥

भगवान् श्रीकृष्ण, जो अब तक मौन खड़े थे अब प्रभावशाली शब्दों द्वारा शोकाकुल अर्जुन की कटु भर्त्सना करते हैं। उनके प्रत्येक शब्द का आघात कृपाण के समान तीक्ष्ण है, जो किसी भी व्यक्ति को परास्त करने के लिए पर्याप्त है।

क्लैब्य का अर्थ है नपुंसकता। यहाँ इस शब्द से तात्पर्य मन की उस स्थिति से है जिसमें व्यक्ति न तो एक पुरुष के समान परिस्थिति का सामना करने का साहस अपने में कर पाता है और न ही एक कोमल भावों वाली लज्जालु स्त्री के समान निराश होकर बैठा रह सकता है। आजकल की भाषा में किसी व्यक्ति के इस प्रकार के व्यवहार पर उसके मित्र आश्चर्य व्यक्त करते हुये कहते हैं कि "यह आदमी स्त्री है या पुरुष?" अर्जुन की भी स्थिति राजदरबार के उन नपुंसक व्यक्तियों के समान हो रही थी, जो देखने में पुरुष जैसे होकर स्त्री वेष धारण करते थे। पुरुष के समान बोलते, लेकिन मन में स्त्री जैसे भावुक होते, शरीर से समर्थ किन्तु मन से दुर्बल रहते थे!

अब तक श्रीकृष्ण मौन थे। उनका गंभीर मौन अर्थपूर्ण था। अर्जुन मोहावस्था में युद्ध न करने का निर्णय लेकर अपने पक्ष में अनेक तर्क भी प्रस्तुत कर रहा था। श्रीकृष्ण जानते थे कि पहले ऐसी स्थिति में अर्जुन का विरोध करना व्यर्थ था। परन्तु अब उसके नेत्रों में अश्रु देखकर वे समझ गये कि उसका संभ्रम अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है।

भक्ति परम्परा में यह सही ही विश्वास किया जाता है कि जब तब हम अपने को बुद्धिमान समझकर तर्क करते रहते हैं तब तक भगवान् पूर्णतया मौन धारण किए अनसुना करते रहते हैं। किन्तु ज्ञान के अहंकार को त्यागकर और भक्ति भाव से विह्वल होकर अश्रुपूरित नेत्रों से उनकी शरण में चले जाने पर करुणासागर भगवान् अपने भक्त को अज्ञान के अंधकार से निकालकर ज्ञान के प्रकाश की ओर मार्ग दर्शन करने के लिए उसके पास बिना बुलाये तुरन्त पहुँचते हैं। इस भावनापूर्ण स्थिति में जीव को ईश्वर के मार्गदर्शन और सहायता की आवश्यकता होती है।

ईश्वर की कृपा को प्राप्त कर भक्त का अन्तःकरण निर्मल होकर आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है जो स्वप्रकाश स्वरूप चैतन्य के साक्षात् अनुभव के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस स्वीकृत तथ्य के अनुसार तथा जो भक्तों का भी अनुभव है, गीता में हम देखते हैं कि जैसे ही भगवान् ने बोलना प्रारम्भ किया, वैसे ही विद्युत के समान उनके प्रज्ज्वलित शब्द अर्जुन के मन पर पड़े जिससे वह अपनी गलत धारणाओं के कारण अत्यन्त लज्जित हुआ।

सहानुभूति के कोमल शब्द अर्जुन के निराश मन को उत्साहित नहीं कर सकते थे। अतः व्यंग के अम्ल में डुबोये हुए तीक्ष्ण वाण के समान वचनों से अर्जुन को उत्तेजित करते हुए अंत में भगवान् कहते हैं "उठो और कर्म करो"।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

अर्जुन ने कहा–

हे मधुसूदन! मैं रणभूमि में किस प्रकार भीष्म और द्रोण के साथ बाणों से युद्ध करूँगा। हे अरिसूदन, वे दोनों ही पूजनीय हैं ॥४॥

अर्जुन का लक्ष्य भ्रष्ट करने वाला कायरतापूर्ण तर्क किसी अविवेकी को ही उचित प्रतीत हो सकता है। अर्जुन के ये तर्क उस व्यक्ति के लिए अर्थशून्य हैं, जो मन के संयम को न खोकर परिस्थिति को ठीक प्रकार से समझता है। उसके लिये ऐसी परिस्थितियाँ कोई समस्या नहीं उत्पन्न करतीं। वास्तव में देखा जाये, तो यह युद्ध दो व्यक्तियों के मध्य वैयक्तिक वैमनस्य के कारण नहीं है। इस समय पाण्डव सैन्य से पृथक् अर्जुन का कोई अस्तित्व नहीं है और न ही भीष्म और द्रोण पृथक् अस्तित्व रखते हैं। वे कौरवों की सेना के ही अंग हैं किन्हीं सिद्धांतों के कारण ही ये दोनों सेनायें परस्पर युद्ध के लिए खड़ी हुई हैं। कौरव अधर्म

की नीति को अपनाकर युद्ध के लिए तत्पर हैं तो दूसरी ओर पाण्डव हिन्दूशास्त्रों में प्रतिपादित धर्म-नीति के लिए युद्धेक्षु हैं।

धर्म के श्रेष्ठ पक्ष होने तथा दोनों सेनाओं द्वारा लोकमत की अभिव्यक्ति के कारण अर्जुन को व्यक्तिगत आदर या अनादर अनुभव करने का कोई अधिकार नहीं था और न ही उसे यह अधिकार था कि अधर्म के पक्षधरों में से किसी व्यक्ति विशेष को सम्मान या असम्मान देने के लिये वह आग्रह करे। इस दृष्टिकोण से सम्पूर्ण परिस्थिति को न देखकर अर्जुन स्वयं को एक पृथक् व्यक्ति समझता है और उसी अहंकारपूर्ण दृष्टिकोण से संपूर्ण परिस्थिति को देखता है। अर्जुन अपने आप को द्रोण के शिष्य और भीष्म के पौत्र के रूप में देखता है; जबकि गुरु द्रोण और पितामह भीष्म भी अर्जुन को देख रहे थे, परन्तु उनके मन में इस प्रकार का कोई भाव नहीं आता है, क्योंकि उन्होंने अपने व्यक्तित्व को भूलकर अपना सम्पूर्ण तादात्म्य कौरव पक्ष के साथ स्थापित कर लिया था। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अर्जुन का अहंकार उसकी मिथ्या धारणाओं और संभ्रम का कारण था।

गीता के इस भाग पर मैंने कई बार देश के प्रसिद्ध व्यक्तियों के साथ विचार-विमर्श किया और यह पाया कि वे अर्जुन के तर्क को उचित और न्यायपूर्ण मानते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यह अत्यन्त सूक्ष्म विषय है, जिसका निर्णय होना परमावश्यक है। संभवतः व्यासजी ने यह विचार किया हो कि भावी पीढ़ियों के दिशा निर्देश के लिए इस गुत्थी को हिन्दू तत्वज्ञान के आधार पर सुलझाया जाये। जितना ही अधिक हमारा तादात्म्य छोटे-से 'मैं'—परिच्छिन्न 'अहंकार' के साथ होगा, उतनी ही अधिक समस्यायें और संभ्रम हमारे जीवन में आयेंगे। जब यह 'अहं' व्यापक होकर किसी सेना, आदर्श, राष्ट्र अथवा युग के साथ तादात्म्य स्थापित करता है, तो नैतिक दुर्बलता आदि का क्षय होने लगता है। पूर्ण नैतिक जीवन केवल वही व्यक्ति जी सकता है, जिसने अपने उस शुद्ध आत्म-स्वरूप को पहचान लिया है, जो एकमेव अद्वितीय, सर्वव्यापी, एवं समस्त नामरूपों में व्याप्त है। आगे हम देखेंगे कि भगवान् श्रीकृष्ण इस सत्य का उपदेश अर्जुन के मानसिक रोग के निवारणार्थ उपचार के रूप में करते हैं।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्,
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरुनिहैव,
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

इन महानुभाव गुरुजनों को मारने से इस लोक में भिक्षा का अन्न भी ग्रहण

करना अधिक कल्याणकारक है, क्योंकि गुरुजनों को मारकर मैं इस लोक में रक्तरंजित अर्थ और कामरूप भोगों को ही भोगूँगा ॥५॥

अत्यन्त उच्च प्रतीत होने वाले परन्तु वास्तव में अर्थशून्य तर्क अर्जुन पुनः प्रस्तुत करता है, क्योंकि स्वयं को न समझने के कारण वह अपनी समस्या को भी नहीं समझ पाया है।

यहाँ अपने गुरुओं अर्थात् भीष्म और द्रोण को महानुभाव कहा है, जिसका अर्थ है अपने युग के आदर्श पुरुष। अपनी संस्कृति में जो कुछ उच्च और श्रेष्ठ है, उसके वे प्रतीकस्वरूप हैं, जिन्होंने विशाल और उदार अन्तःकरण से सनातन धर्म के लिए अनेक प्रकार के त्याग किये। अपनी संस्कृति के ऐसे श्रेष्ठ आदर्श युगपुरुषों का नाश केवल व्यक्तिगत शक्ति एवं पदलिप्सा के लिये करना किसी प्रकार उचित नहीं प्रतीत होता है। केवल वह युग विशेष ही नहीं बल्कि इन महापुरुषों के अमूल्य जीवनोच्छेद होने से भावी पीढ़ियाँ भी दरिद्र हो जायेंगी।

अर्जुन कहता है कि संस्कृति के उपवन के सुन्दरतम सुमनों को विनष्ट करने का विचार त्याग कर पाण्डवों के लिये भिक्षान्न पर जीवन यापन करना अधिक उचित होगा। इन गुरुजनों को मार कर प्राप्त किये राज्य का उपभोग भी वह नहीं कर सकेगा, क्योंकि वे सब उनकी कटु स्मृतियों और मूल्यवान् रक्त से सने होंगे, जिनको विस्मृत कर पाना कठिन होगा।

एक बार यदि हम परिस्थिति का त्रुटिपूर्ण आकलन कर लेते हैं, तो भावनाओं के कारण हमारी बुद्धि पर आवरण पड़ जाता है और तब हम भी जीवन में अर्जुन के समान व्यवहार करने लगते हैं। इसका स्पष्ट संकेत व्यासजी द्वारा इस घटना के किये गए विस्तृत वर्णन में देखने को मिलता है।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामः
तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

हम नहीं जानते कि हमें क्या करना उचित है। हम यह भी नहीं जानते कि हम जीतेंगे या वे हमको जीतेंगे, जिनको मारकर हम जीवित नहीं रहना चाहते वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने युद्ध के लिये खड़े हैं ॥६॥

इसके पूर्व के दो श्लोक निःसन्देह अर्जुन के मन की व्याकुलता और भ्रमित

स्थिति का संकेत करते हैं। इस श्लोक में बताया जा रहा है कि अर्जुन के मन के सम्भ्रम का प्रभाव उसकी विवेक बुद्धि पर भी पड़ा है। शत्रुओं की सेना को देखकर उसके मन में एक समस्या उत्पन्न हुई, जिसके समाधान के लिये उसको बौद्धिक विवेक शक्ति के मार्गदर्शन की आवश्यकता थी। परन्तु अहंकार और युद्ध के परिणाम के सम्बन्ध में अत्यधिक चिन्तातुर होने के कारण उसका मन बुद्धि से वियुक्त हो चुका था। इस कारण ही अर्जुन के मन और बुद्धि के बीच एक गहरी खाई उत्पन्न हो गयी थी।

किसी कार्यालय के कुशल लिपिक की भाँति हमारा मन ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा भिन्न-भिन्न विषयों को ग्रहण कर उनको एक व्यवस्थित रूप में बुद्धि के समक्ष निर्णय के लिए प्रस्तुत करता है। बुद्धि अपने पूर्व अनुभवों के आधार पर निर्णय देती है, जिसे मन कर्मेन्द्रियों के द्वारा बाह्य जगत में व्यक्त करता है। हमारी जागृत अवस्था के प्रत्येक क्षण पर यह समस्त कार्य-कलाप होता रहता है।

जहाँ पर इन उपाधियों का कार्य सुचारु रूप से एक संगठित दल अथवा व्यक्तियों की भाँति नहीं होता, वहाँ वह व्यक्ति अन्दर से अस्त व्यस्त हो जाता है और जीवन में आने वाली परिस्थितियों का सफलतापूर्वक सामना करने में सक्षम नहीं हो पाता है। जब ज्ञान के द्वारा पुनः मन और बुद्धि में युक्तता आ जाती है, तब वही व्यक्ति कुशलतापूर्वक अपना कार्य करने में समर्थ हो जाता है।

अर्जुन की निर्णयात्मिका शक्ति पर बाह्य परिस्थितियों का प्रभाव नहीं था बल्कि अपनी मानसिक विह्वलता के कारण वह अपने आप को कोई निर्णय लेने में असमर्थ पा रहा था। वह यह नहीं निश्चय कर पा रहा था कि युद्ध में उसे विजयी होना चाहिये अथवा कौरवों को जिताना चाहिये। व्यासजी यहाँ दर्शाते हैं कि इस मोह का प्रभाव न केवल अर्जुन के मन पर बल्कि उसकी बुद्धि पर भी पड़ा था।

कार्पण्यदोषोपहत स्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे,
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

करुणा के कलुष से अभिभूत और कर्त्तव्य पथ पर संभ्रमित हुआ मैं आपसे पूछता हूँ, कि मेरे लिये जो श्रेयष्कर हो, उसे आप निश्चय करके कहिये, क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ; शरण में आये मुझको आप उपदेश कीजिये ॥७॥

अपने आप को असहाय अवस्था तथा कोई निर्णय लेने में सर्वथा असमर्थ पाकर अर्जुन सम्पूर्ण रूप से स्वयं को भगवान् की शरण में समर्पित कर देता है। वह स्वीकार कर रहा है कि उसकी मानसिक स्थिति नष्ट - भ्रष्ट हो गयी है। वह स्वयं बताता है कि उसका मुख्य कारण करुणा की अत्यधिकता है। अज्ञान के कारण वह नहीं समझ पा रहा है कि उसकी वह करुणा निराधार है। वह स्वीकार करता है कि युद्ध करने या न करने के विषय में उसकी बुद्धि भ्रमाच्छादित होने के कारण वह धर्म-अधर्म का निर्णय नहीं कर पा रहा है।

हम पहले ही धर्म शब्द का अर्थ देख चुके हैं। "किसी वस्तु का वह गुण जिसके कारण उस वस्तु का अस्तित्व सिद्ध होता है, उस वस्तु का धर्म कहलाता है।" हिन्दू दर्शन मानव धर्म पर बल देता है, जिसका अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति को अपने शुद्ध दैवी स्वरूप के अनुरूप रहना चाहिये और उसका यह प्रयत्न होना चाहिये कि वह स्वस्वरूप की महत्ता बनाये रखे और पशुवत जीवन व्यतीत न करे।

यहाँ अर्जुन शिष्यभाव से भगवान् की शरण में जाता है जो यह संकेत करता है कि अब वह उपदेश ग्रहण करने योग्य हो गया है और वह भगवान् के उपदेश का पालन करेगा। एक और बातका भी संकेत मिलता है कि यदि अज्ञानवश अर्जुन अनेक बार अपनी शंका या प्रश्न पूछ सकता है, तो उसका समाधान भगवान को सहानुभूति और धैर्यपूर्वक करना होगा। सम्पूर्ण गीता में हम अनेक स्थानों पर अर्जुन को कृष्णोपदेश के मध्य शंकायें प्रकट करते हुए देखते हैं परन्तु कहीं पर भी श्रीकृष्ण को धैर्य खोते नहीं देखते। इतना ही, नहीं अर्जुन द्वारा प्रत्येक प्रश्न के पूछे जाने पर वे और अधिक उत्साहित होकर युद्धभूमि में उसका उत्तर देते हैं।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥८॥

पृथ्वी पर निष्कण्टक समृद्ध राज्य को और देवताओं के स्वामित्व को प्राप्त होकर भी मैं उस उपाय को नहीं देखता हूँ, जो कि मेरी इन्द्रियों के सुखाने वाले शोक को दूर कर सके॥८॥

यहाँ अर्जुन संकेत करता है कि उसे तत्काल ही मार्गदर्शन की आवश्यकता है, जिसके अभाव में उसे आन्तरिक पीड़ा को सहन करते रहना पड़ रहा है। वह

पीड़ा के कारण को व्यक्त करने में असमर्थ अनुभव कर रहा है। यह शोक उसकी ज्ञानेन्द्रियों पर भी प्रभाव डाल रहा है। वह न ठीक से देख सकता है और न सुन सकता है।

किसी भी विचारशील पुरुष के लिये यह स्वाभाविक है कि किसी समस्या के आने पर उसको हल करने के लिये अधीर हो उठे। वह समस्या को शीघ्र हल करके शांति प्राप्त करना चाहता है। बेचारे अर्जुन ने अपनी बुद्धि द्वारा समस्या को हल करने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु वह सफल नहीं हो सका। जैसा कि उसके शब्दों से स्पष्ट है कि अब उसका दु:ख भौतिक वस्तुओं को प्राप्त करने के लिये नहीं है; क्योंकि वह स्वयं कहता है कि समस्त पृथ्वी अथवा स्वर्ग का राज्य प्राप्त करने से भी उसका दु:ख निवृत्त नहीं हो सकता है।

अब अर्जुन की स्थिति एक तीव्र मुमुक्ष के समान है जो मर्त्य जीव की समस्त सीमा और बन्धनों से मुक्त हो जाने के लिये अधीर हो उठा है। अब आवश्यकता है केवल एक प्रामाणिक विचार की, जो स्वयं भगवान् हृषीकेश उसे गीता के दिव्य काव्य में देते हैं।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

संजय ने कहा–

इस प्रकार गुडाकेश परंतप अर्जुन भगवान् हृषीकेश से यह कहकर कि हे गोविन्द "मैं युद्ध नहीं करूँगा" चुप हो गया ॥९॥

संजय आगे वर्णन करते हुये कहता है कि, भगवान् की शरण में जाकर गुडाकेश—निद्राजित एवं शत्रु प्रपीडक-अर्जुन ने यह कहा कि वह युद्ध नहीं करेगा और फिर वह मौन हो गया।

केवल एक अंध धृतराष्ट्र को छोड़कर किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार या सामर्थ्य नहीं था कि वह युद्ध को इन क्षणों में भी रोक सके। अवश्यंभावी और अपरिहार्य युद्ध को धृतराष्ट्र द्वारा रोकने की क्षीण आशा संजय के हृदय में थी। शत्रुपीड़क अर्जुन अब तीनों जगत को जीतने वाले (गोविन्द) भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में पहुँच गया था। इसलिए अब उसकी विजय निश्चित थी। परन्तु, जन्मान्ध धृतराष्ट्र ने किसी की भी श्रेष्ठ सलाह को अत्यधिक पुत्रप्रेम के कारण नहीं सुना।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

हे भारत (धृतराष्ट्र) ! दोनों सेनाओं के बीच में उस शोकमग्न अर्जुन को भगवान् हृषीकेश ने हँसते हुएं से यह वचन कहे ॥१०॥

इस प्रकार धर्म और अधर्म शुभ और अशुभ, इन दो सेनाओं के संव्यूहन के मध्यं अर्जुन (जीव) पूर्णरूप से अपने सारथी भगवान् श्रीकृष्ण (सूक्ष्म विवेकवती बुद्धि) की शरण में आत्मसमपर्ण करता है; जो पाँच अश्वों (पंच ज्ञानेंन्द्रियों) द्वारा चालित रथ (देह) अपने पूर्ण नियन्त्रण में रखते हैं।

ऐसे दुखी और भ्रमित जीव – अर्जुन को श्रीकृष्ण सहास्य उसकी अन्तिम विजय का आश्वासन देने के साथ ही गीता के आत्म मुक्ति का आध्यात्मिक उपदेश भी करते हैं, जिसके ज्ञान से सदैव के लिये मनुष्य के शोक मोह की निवृत्त हो जाती है।

उपनिषद् के रूपक को ध्यान में रखकर यदि हम संजय द्वारा चित्रित दृश्य का अर्थ उपर्युक्त प्रकार से करें, तो इसमें हमें सनातन पारमार्थिक सत्य के दर्शन होंगे। जब जीव (अर्जुन) विषादयुक्त होकर शरीर में (देह) स्थित हो जाता है और सभी स्वार्थ पूर्ण कर्मो के साधनों (गाण्डीव) को त्यागकर, इन्द्रियों को (श्वेत अश्व) मन की लगाम के द्वारा संयमित करता है तब सारथि (शुद्ध बुद्धि) जीव को धर्म शक्ति की सहायता से वह दैवी सामर्थ्य और मार्गदर्शन प्रदान करता है कि अधर्म की बलवान् सेना को भी परास्त कर जीव सम्पूर्ण विजय को प्राप्त करता है।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

श्रीभगवान् ने कहा–

(अशोच्यान्) जिनके लिये शोक करना उचित नहीं है, उनके लिये तुम शोक करते हो और ज्ञानियों के से वचनों को कहते हो, परन्तु ज्ञानी पुरुष मृत (गतासून) और जीवित (अगतासून्) दोनों के लिये शोक नहीं करते हैं॥११॥

जब हम अर्जुन के विषाद को ठीक से समझने का प्रयत्न करते हैं, तब यह पहचानना कठिन नहीं होगा कि यद्यपि उसका तात्कालिक कारण युद्ध की चुनौती है, परन्तु वास्तव में मानसिक संताप के यह लक्षण किसी अन्य गंभीर कारण से हैं।

जैसा कि एक श्रेष्ठ चिकित्सक रोग के लक्षणों का ही उपचार न करके, उस रोग के मूल कारण को दूर करने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार यहाँ भी, भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के शोक मोह के मूल कारण (आत्म अज्ञान) को ही दूर करने का प्रयत्न करते हैं।

शुद्ध आत्मस्वरूप के अज्ञान के कारण अहंकार उत्पन्न होता है। यह अज्ञान न केवल दिव्य स्वरूप को आच्छादित करता है, वरन् उसके उस सत्य पर भ्रान्ति भी उत्पन्न कर देता है। अर्जुन की यह अहंकार बुद्धि, या 'जीव बुद्धि' कि वह शरीर, मन और बुद्धि उपाधियों से परिछिन्न या सीमित है, वास्तव में मोह का कारण है जिससे स्वजनों के साथ स्नेहासक्ति होने से उनके प्रति मन में यह विषाद और करुणा का भाव उत्पन्न हो रहा है। वह अपने को असमर्थ और असहाय अनुभव करता है। मोह ग्रस्त व्यक्ति को आसक्ति का मूल्य दुःख और शोक के रूप में चुकाना पड़ता है। इन शरीरादि उपाधियों के साथ मिथ्या तादात्म्य के कारण हमें दुःख प्राप्त होते रहते हैं, हमें अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का ज्ञान होने से उनका अन्त हो जाता है।

नित्य चैतन्यस्वरूप आत्मा स्थूल शरीर के साथ मिथ्या तादात्म्य के कारण अनेक वस्तुओं और व्यक्तियों के सम्बन्ध में अपने को बन्धन में अनुभव करती है। वही आत्मतत्व मन के साथ अनेक भावनाओं का अनुभव करता है, मानो वह भावना जगत उसी का हो। फिर यही चैतन्य बुद्धि-उपाधि से युक्त होकर आशा और इच्छा करता है, महत्वाकांक्षा और आदर्श रखता है, जिनके कारण उसे दुखी भी होना पड़ता है। इच्छा, महत्वाकांक्षा आदि बुद्धि के ही धर्म हैं।

इस प्रकार इन्द्रिय, मन और बुद्धि से युक्त शुद्ध आत्मा जीवभाव को प्राप्त करके बाह्य विषयों, भावनाओं और विचारों का दास और शिकार बन जाती है। जीवन के असंख्य दुःख और क्षणिक सुख इस जीव भाव के कारण ही हैं। अर्जुन इसी जीव भाव के कारण पीड़ा का अनुभव कर रहा था। श्रीकृष्ण जानते थे कि शोक रूपी भ्रांति या विक्षेप का मूल कारण आत्मस्वरूप का अज्ञान आवरण है और इसलिए अर्जुन के विषाद को जड़ से हटाने के लिए वे उसको उपनिषदों में प्रतिपादित आत्म-ज्ञान का उपदेश करते हैं।

मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक विधि के द्वारा मन को पुनः शिक्षित करने का ज्ञान भारत ने हजारों वर्ष पूर्व विश्व को दिया था। यहां श्रीकृष्ण का गीतोपदेश के द्वारा यही प्रयत्न है आत्मज्ञान की पारम्परिक उपदेश विधि के अनुसार जगद्गुरु भगवान श्रीकृष्ण सीधे ही आत्मतत्त्व का उपदेश करते हैं।

भीष्म और द्रोण के अन्तःकरण शुद्ध होने के कारण उनमें चैतन्य प्रकाश स्पष्ट दिखाई पड़ रहा था। वे दोनों ही महापुरुष अतुलनीय थे। इस युद्ध में मृत्यु हो जाने

पर उनको अधोगति प्राप्त होगी, यह विचार केवल एक अपरिपक्व बुद्धिवाला व्यक्ति ही कर सकता है। इस श्लोक के द्वारा भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन का ध्यान जीव के उच्च आत्मस्वरूप की ओर आकर्षित करते हैं।

हमारे व्यक्तित्व के अनेक पक्ष हैं और उनमें से प्रत्येक के साथ तादात्म्य कर उसी दृष्टिकोण से हम जीवन का अवलोकन करते हैं। शरीर के द्वारा बाह्य अथवा भौतिक जगत् को देखते हैं, जो मन के द्वारा अनुभव किए भावनात्मक जगत् से भिन्न होता है और उसी प्रकार बुद्धि के साथ विचारात्मक जगत् का अनुभव हमें होता है।

भौतिक दृष्टि से जिसे मैं केवल एक स्त्री समझता हूँ उसी को मन के द्वारा अपनी माँ के रूप में देखता हूँ। यदि बुद्धि से केवल वैज्ञानिक परीक्षण करें तो उसका शरीर जीव द्रव्य और केन्द्रक वाली अनेक कोषिकाओं आदि से बना हुआ एक पिण्ड विशेष ही है। भौतिक वस्तु के दोष अथवा अपूर्णता के कारण होनें वाले दुखों को दूर किया जा सकता है, यदि मेरी भावना उसके प्रति परिवर्तित हो जाये। इसी प्रकार भौतिक और भावनात्मक दृष्टि से जो वस्तु कुरूप या लज्जाजनक है, उसी को यदि बुद्धि द्वारा तात्विक दृष्टि से देखें, तो हमारे दृष्टिकोण में अन्तर आने से हमारा दुःख दूर हो सकता है।

इसी तथ्य को और आगे बढ़ानें पर यह ज्ञात होगा कि यदि मैं जीवन को आध्यात्मिक दृष्टि से देख सकूँ, तो शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक दृष्टिकोणों के कारण उत्पन्न विषाद को आनन्द और प्रेरणादायक स्फूर्ति में परिवर्तित किया जा सकता है। यहाँ भगवान् अर्जुन को यही शिक्षा देते हैं कि अपनी अज्ञान की दृष्टि का त्याग कर गुरुजन, स्वजन, युद्धभूमि इत्यादि को वह आध्यात्मिक दृष्टि से देखने और समझने का प्रयत्न करे।

इस महान् पारमार्थिक सत्य का उपदेश यहाँ इतने अनपेक्षित ढंग से अचानक किया गया है कि अजुन की बुद्धि को एक आघात सा लगा। आगे के श्लोक पढ़ने पर हम समझेंगे कि भगवान् ने जो यह आघात अर्जुन की बुद्धि को पहुँचाया उसका कितना लाभकारी प्रभाव अर्जुन के मन पर पड़ा।

"इनके लिए शोक करना उचित क्यों नहीं है ? क्योंकि वे नित्य हैं। कैसे ?"– भगवान् कहते हैं–

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

वास्तव में न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था अथवा तुम नहीं

थे अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे ॥१२॥

यहाँ भगवान् स्पष्ट घोषणा करते हैं कि देह को धारण करने वाली आत्मा एक महान तीर्थयात्रा के लिए निकल पड़ी है जो इस यात्रा के मध्य कुछ काल के लिए विभिन्न शरीरों को ग्रहण करते हुए उनके साथ तादात्म्य कर विशेष अनुभवों को प्राप्त करती हैं। श्रीकृष्ण, अर्जुन और अन्य राजाओं का उन विशेष शरीरों में होना कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। न वे शून्य से आये और न ही मृत्यु के बाद शून्यरूप हो जायेंगे। प्रामाणिक तात्विक विचार के द्वारा मनुष्य भूत, वर्तमान और भविष्य की घटनाओं की सतत शृङ्खला समझ सकता है। आत्मा वही रहती हुई अनेक शरीरों को ग्रहण करके प्राप्त परिस्थितियों का अनुभव करती प्रतीत होती है।

यही हिन्दू दर्शन का प्रसिद्ध पुनर्जन्म का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के सबसे बड़े विरोधियों ने अपने स्वयं के धर्म ग्रंथ का ही ठीक से अध्ययन नहीं किया प्रतीत होता है। स्वयं ईसा मसीह ने, यदि प्रत्यक्ष नहीं तो अप्रत्यक्षरूप से, इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है जब उन्होंने अपने शिष्यों से कहा था कि जॉन ही एलिजा था। ओरिजेन नामक विद्वान ईसाई पादरी ने स्पष्टरूप से कहा है, "प्रत्येक मनुष्य को अपने पूर्व जन्म के पुण्यों के फलस्वरूप यह शरीर प्राप्त हुआ है।"

कोई-भी ऐसा महान् विचारक नहीं है, जिसने पुनर्जन्म के इस सिद्धान्त को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार नहीं किया है। गौतम बुद्ध सदैव अपने पूर्व जन्मों का सन्दर्भ दिया करते थे। वर्जिल और ओविड दोनों ने इस सिद्धान्त को स्वतः प्रमाणित स्वीकार किया है। जोसेफस ने कहा है कि उसके समय यहूदियों में पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर पर्याप्त विश्वास था। सालोमन ने "बुक आफ विज्डम" में कहा है "एक स्वस्थ शरीर में स्वस्थ अंगों के साथ जन्म लेना, पूर्व जीवन में किए पुण्य कर्मों का फल है।"

और इस्लाम के पैगम्बर मोहम्मद के इस कथन को कौन नहीं जानता, जिसमें उन्होंने कहा कि, "मैं पत्थर से मरकर पौधा बना, पौधे से मरकर पशु बना, पशु से मर कर मैं मनुष्य बना, फिर मरने से मैं क्यों डरूँ? मरने से मुझसे कमी कब आयी मनुष्य से मरकर मैं देवदूत बनूँगा!!"

इसके बाद के काल में जर्मनी के विद्वान दार्शनिक गोथे, फिख्टे, शेलिंग और लेसिंग ने भी इस सिद्धांतको स्वीकार किया। बीसवीं शताब्दि के ही ह्यूम, स्पेन्सर और मेक्समूलर जैसे दार्शनिकों ने इसे विवाद रहित सिद्धान्त माना है। पश्चिम के प्रसिद्ध कवियों को भी कल्पना के स्वच्छाकाश में विचरण करते हुए अन्तःप्रेरणा से इसी सिद्धान्त का अनुभव हुआ, जिनमें ब्राउनिंग, रोसेटी, टेनिसन, वर्ड्सवर्थ आदि प्रमुख नाम हैं।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त तत्वचिन्तकों की कोई कोरी कल्पना नहीं है। वह दिन दूर नहीं जब मनोविज्ञान के क्षेत्र में तेजी से हो रहे विकास के कारण, जो तथ्य-संग्रहीत किये जा रहे हैं, उनके दबाव और प्रभाव से पश्चिमी राष्ट्रों को अपने धर्म ग्रन्थों का पुनर्लेखन करना पड़ेगा। बिना किसी दुराग्रह और दबाव के जीवन की यथार्थता को जो समझना चाहते हैं वे जगत् में दृष्टिगोचर विषमताओं' के कारण चिन्तित होते हैं। इन सब को केवल 'संयोग' कहकर टाला नहीं जा सकता। यदि हम तर्क को स्वीकार करते हैं तो देह से भिन्न जीव के अस्तित्व को मानना ही पड़ता है। मोझार्ट का एक दर्शनीय दृष्टान्त है। उसने ४ वर्ष की आयु में वाद्यवृन्द की रचना की और पांचवें वर्ष में लोगों के सामने कार्यक्रम प्रस्तुत किया और सात वर्ष की अवस्था में संगीत नाटक की रचना की। भारत के शंकराचार्य आदि का जीवन देखें तो ज्ञात होता हैं कि बाल्यावस्था में ही उनको कितना उच्च ज्ञान था। पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार न करने पर इन आश्चर्यजनक घटनाओं को 'संयोग' मात्र कहकर कूड़ेदानी में फेंक देना पड़ेगा!!

पुनर्जन्म को सिद्ध करने वाली अनेक घटनायें देखी जाती हैं, परन्तु उन्हें प्रमाण के रूप में संग्रहीत बहुत कम किया जाता है। जैसा कि मैंने कहा आधुनिक जगत् को इस महान् स्वतः प्रमाणित जीवन के नियम के सम्बन्ध में शोध करना अभी शेष है।

अपरिपक्व विचार वाले व्यक्ति को प्रारम्भ में इस सिद्धान्त को स्वीकार करने में सन्देह हो सकता है। जब भगवान् ने कहा कि उन सबका नाश होने वाला नहीं है तब उनके कथन को जगत् का एक सामान्य व्यक्ति होने के नाते अर्जुन ठीक से ग्रहण नहीं कर पाया। उसने प्रश्नार्थक मुद्रा में श्रीकृष्ण की ओर देखकर अधिक स्पष्टीकरण की माँग की।

"इनका शोक क्यों नहीं करना चाहिए? क्योंकि स्वरूप से ये सब नित्य हैं। कैसे?" .... भगवान् कहते हैं।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

जैसे इस देह में देही जीवात्मा की कुमार, युवा और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही उसको अन्य शरीर की प्राप्ति होती है; धीर पुरुष इसमें मोहित नहीं होता है ॥१३॥

स्मृति का यह नियम है कि अनुभवकर्त्ता तथा स्मरणकर्ता एक ही व्यक्ति होना चाहिए, तभी किसी वस्तु का स्मरण संभव है। मैं आपके अनुभवों का स्मरण नहीं

कर सकता और न आप मेरे अनुभवों का, परन्तु हम दोनों अपने-अपने अनुभवों का स्मरण कर सकते हैं।

वृद्धावस्था में हम अपने बाल्यकाल और यौवन काल के अनुभवों का स्मरण कर सकते हैं। कौमार्य अवस्था के समाप्त होने पर युवावस्था आती है और तत्पश्चात् वृद्धावस्था। अब यह तो स्पष्ट है कि वृद्धावस्था में व्यक्ति के साथ कौमार्य और युवा दोनों ही अवस्थायें नहीं हैं और फिर भी वह उन अवस्थाओं में प्राप्त अनुभवों को स्मरण कर सकता है। स्मृति के नियम से यह सिद्ध हो जाता है कि व्यक्ति में 'कुछ' है जो तीनों अवस्थाओं में अपरिवर्तनशील है, जो बालक और युवा शरीर द्वारा अनुभवों को प्राप्त करता है तथा उनका स्मरण भी करता है।

इस प्रकार देखने पर यह ज्ञात होता है कि कौमार्य अवस्था की मृत्यु युवा-वस्था का जन्म है और युवावस्था की मृत्यु ही वृद्धावस्था का जन्म है। और फिर भी निरन्तर होने वाले परिवर्तनों से हमें किसी प्रकार का भी शोक नहीं होता बल्कि इन अवस्थाओं से गुजरते हुए असंख्य अनुभवों को प्राप्त कर हम प्रसन्न ही होते हैं।

जगत् में प्रत्येक व्यक्ति के इस निजी अनुभव का दृष्टान्त के रूप में उपयोग करके श्रीकृष्ण अर्जुन को यह समझाना चाहते हैं कि बुद्धिमान पुरुष जीवात्मा के एक देह को छोड़कर अन्य शरीर में प्रवेश करने पर शोक नहीं करता है।

पुनर्जन्म के सिद्धान्त के पीछे छिपे सत्य को यह श्लोक और अधिक दृढ़ करता है। अतः बुद्धिमान पुरुष के लिए मृत्यु का कोई भय नहीं रह जाता। बाल्यावस्था आदि की मृत्यु पर हम शोक नहीं करते, क्योंकि हम जानते हैं कि हमारा अस्तित्व बना रहता है और पूर्व अवस्था से उच्च अवस्था को हम प्राप्त कर रहे हैं। उसी प्रकार एक देह विशेष को त्यागकर जीवात्मा अपनी पूर्व वासनाओं के अनुसार अन्य देह को धारण करता है। इस विषय में धीर पुरुष मोहित नहीं होता है।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

हे कुन्तीपुत्र ! शीत और उष्ण और सुख दुःख को देने वाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग का प्रारम्भ और अन्त होता है; वे अनित्य हैं, इसलिए, हे भारत! उनको तुम सहन करो ॥१४॥

विषय ग्रहण की वेदान्त की प्रक्रिया के अनुसार बाह्य वस्तुओं का ज्ञान इन्द्रियों के 'द्वारा' होता है। इन्द्रियाँ तो केवल उपकरण हैं, जिनके द्वारा जीव विषय

ग्रहण करता है, उनको जानता है। जीव के बिना केवल इंद्रियाँ विषयों का ज्ञान नहीं करा सकतीं।

यह तो सर्वविदित है कि एक ही वस्तु दो भिन्न व्यक्तियों को भिन्न प्रकार का अनुभव दे सकती है। एक ही वस्तु के द्वारा दो भिन्न अनुभव जो होते हैं, उसका कारण उन दो व्यक्तियों की मानसिक संरचना का अन्तर है।

यह भी देखा गया है कि व्यक्ति को एक समय, जो वस्तु अत्यन्त प्रिय थी, वही जीवन की दूसरी अवस्था में अप्रिय हो जाती है; क्योंकि जैसे समय व्यतीत होता जाता है, उसके मन में भी परिवर्तन होता जाता है। संक्षेप में, यह स्पष्ट है कि जब हमारा इन्द्रियों के द्वारा बाह्य विषयों के साथ सम्पर्क होता है, तभी किसी प्रकार का अनुभव भी संभव है।

जो पुरुष यह समझ लेता है कि जगत् की वस्तुएँ नित्य परिवर्तनशील हैं, उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं, वह पुरुष इन वस्तुओं के कारण स्वयं को कभी विचलित नहीं होने देगा। काल के प्रवाह में भविष्य की घटनायें वर्तमान का रूप लेती हैं और हमें विभिन्न अनुभवों को प्रदान करके निरन्तर भूतकाल में समाविष्ट होती जाती हैं। जगत् की कोई भी वस्तु एक क्षण के लिए भी विकृत हुये बिना नहीं रह सकती। यहाँ परिवर्तन ही एक अपरिवर्तनशील नियम है।

इस नियम को समझ कर आदि और अन्त से युक्त वस्तुओं के होने या नहीं होने से बुद्धिमान् पुरुष को शोक का कोई कारण नहीं रह जाता। शीत और उष्ण, सफलता और असफलता, सुख और दुःख—कोई भी नित्य नहीं है। जब वस्तुस्थिति ऐसी है, तो प्रत्येक परिवर्तित परिस्थिति के कारण क्षुब्ध या चिन्तित होना अज्ञान का ही लक्षण है। जीवन में आने वाले कष्टों को चिन्तित हुए बिना शान्तिपूर्वक सहन करना चाहिये। सभी प्रकार की अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में विवेकी पुरुष इस तथ्य को सदा ध्यान में रखता है कि "यह भी बीत जायेगा।"

जगत् की वस्तुएँ परिच्छिन्न हैं, क्योंकि उनका आदि है और अन्त है। भगवान् कहते हैं कि ये वस्तुएँ स्वभाव से ही अनित्य हैं। 'अनित्य' शब्द से तात्पर्य यह है कि एक ही वस्तु किसी एक व्यक्ति के लिए ही कभी सुखदायक तो कभी दुखदायक हो सकती है।

"शीत-उष्ण आदि को समान रूप से सहन करने वाले व्यक्ति को क्या लाभ मिलेगा?" सुनिये—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! दुःख और सुख में समान भाव से रहने वाले जिस धीर पुरुष को ये व्यथित नहीं कर सकते हैं वह अमृतत्व (मोक्ष) का अधिकारी होता है ॥१५॥

सुख और दुःख को शान्त भाव से सहन करने का नाम 'तितिक्षा' है, जो उपनिषदों के अनुसार, आत्म-साक्षात्कार के लिये एक आवश्यक गुण है। इसी को ध्यान में रखकर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस प्रकार की तितिक्षा से सम्पन्न व्यक्ति "मोक्ष का अधिकारी बन जाता है।"

यहाँ मोक्ष का तात्पर्य 'अमृतत्व' शब्द से किया है। इस शब्द से स्थूल शरीर का अमरत्व नहीं समझना चाहिये। यहाँ इस शब्द का उपयोग उसके व्यापक अर्थ में किया गया है। शरीर, मन और बुद्धि तथा इनके द्वारा प्राप्त सभी अनुभव मर्त्य और अनित्य ही हैं। इन उपाधियों के साथ हमारा तादात्य होने से इनके जन्म मरणादि धर्मों से हमें प्रभावित होकर दुखी होते हैं। अमृतत्व का अर्थ है, जो पुरुष अपने नित्य आत्मस्वरूप को पहचान लेता है, वह इन सब अनुभवों को प्राप्त कर, उनके मध्य रहता हुआ भी शोक–मोह को प्राप्त नहीं होता। उसे अपने अमृतस्वरूप का विस्मरण नहीं होता है।

गीता के द्वारा महान् कवि व्यासजी भगवान् श्रीकृष्ण के माध्यम से हमें हमारे जीवन का लक्ष्य बताते हैं 'पूर्णत्व की प्राप्ति'। अल्पकाल के लिए प्राप्त इस जीवन में हमको इस लक्ष्य प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। चिन्तित हुए बिना, प्रसन्नता पूर्वक जीवन में आने वाले सुखदुःखादि कष्टों को सहन करने की सर्वोच्च साधना करने का इन परिस्थितियों में हमें अवसर मिलता है।

तितिक्षा का अर्थ 'निराश – उदास भाव से जो हो रहा है, उसको सहन करना' – ऐसा नहीं है। यहां विशेष रूप से कहा है कि शीतोष्णादि द्वन्द्वों में जिसका मन समभाव में स्थित रहता है वह धीर पुरुष मोक्ष का अधिकारी होता है। यहाँ निराश व्यक्ति की सहन शक्ति से नहीं बल्कि जगत् के परिवर्तनशील स्वभाव को अच्छी प्रकार समझ लेने से है। विवेकी पुरुष में यह सामर्थ्य आ जाती है कि सुख में उसे हर्षातिरेक नहीं होता और न दुख में अत्यन्त विषाद।

जब तक देह के साथ हमारी अत्यन्त आसक्ति होती है, तब तक उसमें होने वाली पीड़ाओं से हम विलग नहीं हो सकते और हम व्यथित हो जाते हैं। हृदय में प्रेम अथवा घृणा के भाव के प्रादुर्भाव से यदि शारीरिक कष्ट सहन करने की आवश्यकता पड़ती है, तो वह क्षमता हममें आ जाती है। पुत्र के प्रति प्रेम के कारण उसको शिक्षा आदि देने के लिए आवश्यकता पड़ने पर हम बड़ी प्रसन्नता से अपने शारीरिक सुख सुविधाओं का त्याग करने के लिए तैयार हो जाते हैं। वह असुविधा हमें

कष्ट नहीं पहुँचाती। इसी प्रकार बुद्धिनिष्ठ आदर्शों की प्राप्ति के लिए शरीर और मन के आरामों को भी हम त्याग देते हैं। विश्व के अनेक देशभक्त क्रान्तिकारियों ने अपने देश की स्वतन्त्रता के आदर्श को प्राप्त करने के लिए अनेक कष्ट सहन करके अपने प्राणों की आहुति दी है।

निम्नलिखित कारण से भी तुम्हारे लिए उचित है कि शोक और मोह को छोड़कर तुम शान्तिपूर्वक शीतादि को सहन करो। क्योंकि :

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

असत् वस्तु का तो अस्तित्व नहीं है और सत् का कभी अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनों का ही तत्त्व तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुषों के द्वारा देखा गया है ॥१६॥

वेदान्त शास्त्र में सत्-असत् का विवेक अत्यन्त वैज्ञानिक पद्धति से किया गया है। हमारे दर्शनशास्त्र में इन दोनों की ही परिभाषाएँ दी हुई हैं। "असत् वस्तु वह है, जिसकी भूतकाल में सत्ता नहीं थी और भविष्य में भी वह नहीं होगी परन्तु वर्तमान में जिसका अस्तित्व प्रतीत सा होता है।" माण्डूक्य-कारिका[1] की भाषा में, "जिसका अस्तित्व प्रारम्भ और अन्त में नहीं है, वह वर्तमान में भी असत् ही है; हमें दिखाई देने वाली वस्तुएँ मिथ्या होने पर भी उन्हें सत् माना जाता है।"

स्वाभाविक ही, "सत्य वस्तु वह है जो भूत, वर्तमान, भविष्य, इन तीनों कालों में भी नित्य अविकारी रूप में रहती है।" सामान्य व्यवहार में यदि कोई व्यक्ति किसी स्तम्भ को भूत समझ लेता है, तो स्तम्भ की दृष्टि से भूत को असत् कहा जायेगा; क्योंकि भूत अनित्य है और स्तम्भ का ज्ञान होने पर वह वहाँ रहता नहीं। इसी प्रकार स्वप्न से जागने पर स्वप्न के बच्चों के लिए हमें कोई चिन्ता नहीं होती; क्योंकि जागने पर स्वप्न के मिथ्यात्व का हमें बोध होता है। प्रतीत होने पर भी स्वप्न मिथ्या है। अतः तीनों काल में अबाधित वस्तु ही सत्य कहलाती है।

शरीर, मन और बुद्धि इन जड़उपाधियों के साथ का हमारा जीवन परिच्छिन्न है, क्योंकि इनके द्वारा प्राप्त बाह्य विषय, भावना एवं विचारों के अनुभव क्षणिक होते हैं। इन तीनों में ही नित्य परिवर्तन हो रहा है। एक अवस्था का नाश दूसरी अवस्था की उत्पत्ति है। परिभाषा के अनुसार ये सब 'असत्' हैं।

---

१. देखिए स्वामीजी की पुस्तक 'माण्डूक्य और कारिका', २–६

क्या इनके पीछे कोई सत्य वस्तु है ? इसमें कोई सन्देह नहीं कि वस्तुओं में होनें वाले परिवर्तनों के लिए किसी एक अविकारी अधिष्ठान–आश्रय की आवश्यकता है। शरीर, मन और बुद्धि के स्तर पर होने वाले असंख्य अनुभवों को एक सूत्र में धारण कर एक पूर्ण जीवन का अनुभव कराने के लिए निश्चय ही एक नित्य, अपरिवर्तनशील सत् वस्तु का अधिष्ठान आवश्यक है।

मणियों को धारण करनें वाले एक सूत्र के समान हममें 'कुछ' है जो परिवर्तनों के मध्य रहते हुए विविध अनुभवों को एक साथ बाँध कर रखता है। सूक्ष्म विचार करने पर यह ज्ञान होगा कि वह 'कुछ' वस्तु अपनी स्वयं की चैतन्य स्वरूप आत्मा है। असंख्य अनुभव जो प्रकाशित हुए, उनमें से कोई भी अनुभव आत्मा नहीं है। जीवन जो कि अनुभवों की एक धारा है, योग है, इस चैतन्य के कारण ही सम्भव है। बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था में होने वाले अनुभवों को यह चैतन्य ही प्रकाशित करता है। अनुभव आते हैं और जाते हैं। जिस चैतन्य के कारण मैंने सबको जाना, जिसके बिना मेरा कोई अस्तित्व नहीं है – 'वह' चैतन्य आत्मा जन्म और नाश से रहित, नित्य, सत्य वस्तु है।

तत्त्वदर्शी पुरुष इन दोनों – सत् और असत्, आत्मा और अनात्मा के तत्त्व को पहचानते हैं। इन दोनों के रहस्यमय संयोग से यह विचित्र जगत् उत्पन्न होता है।

फिर वह नित्य सद्वस्तु क्या है ? सुनो :

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

उस वस्तु को तुम अविनाशी जानो, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। इस अव्यय का नाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है ॥१७॥

समस्त जगत् को जो व्याप्त किये हुए है और इस दृश्यमान अनुभव में आनें वाले जगत् का जो अधिष्ठान है, वह सत् है। मिट्टी के बने अनेक प्रकार के पात्र होते हैं, जिनके, विभिन्न उपयोगों के कारण अथवा उनमें रखी वस्तुओं के कारण विभिन्न नाम होते हैं; परन्तु विविध आकार होने के बाद भी वे सब एक मिट्टी के ही बनें होते हैं, जो सब आकारों में व्याप्त होती है और जिसके बिना किसी भी घट का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है। उन सबकी उत्पत्ति, स्थिति और लय मिट्टी में ही है। अतः उन में मिट्टी ही वास्तव में सत्य है।

इसी प्रकार, यह नित्य परिवर्तनशील जगत् नित्य अविनाशी तत्व से व्याप्त है और भगवान् कहते हैं कि इस तत्व का विनाश कदापि सम्भव नहीं है।

तब फिर असत् क्या है जिसका अस्तित्व नित्य नहीं है ? सुनो :

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ।।१८।।

इस नाशरहित अप्रमेय नित्य देही आत्मा के ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं। इसलिये हे भारत ! तुम युद्ध करो ।।१८।।

आत्मा द्वारा धारण किये हुए भौतिक शरीर नाशवान् हैं जब कि आत्मा नित्य, अविनाशी और अप्रमेय अर्थात् बुद्धि के द्वारा जानी नहीं जा सकती है। यहाँ आत्मा नित्य और अविनाशी है, ऐसा कहने का अभिप्राय यह है कि आत्मा का न पूर्णतः नाश होता है और न अंशतः।

नित्य आत्मतत्त्व को 'अज्ञेय' कहा है जिसका अर्थ यह नहीं कि वह 'अज्ञात' है। इसका तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार हम इन्द्रियों के द्वारा विषयों को जानते हैं, उसप्रकार इस आत्मा को नहीं जाना जा सकता। इसका कारण यह है कि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि आदि हमारे ज्ञान प्राप्ति के साधन हैं, वे स्वतः जड़ हैं और चैतन्य आत्मा की उपस्थिति में ही वे अन्य वस्तुओं को प्रकाशित कर सकते हैं। अब जिस चैतन्य के कारण इन्द्रियाँ आदि विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती है, तब उसी चैतन्य को वे प्रत्यक्ष विषय के रूप में किस प्रकार जान सकती हैं ? यह सर्वथा असम्भव है और इसी दृष्टि से यहाँ आत्मा को 'अज्ञेय' कहा गया है। आत्मा स्वतः सिद्ध है।

इसलिये, हे भारत ! तुम युद्ध करो — वास्तव में, इस वाक्य के द्वारा सब को युद्ध करने का आदेश नहीं दिया गया है। जिस धर्म की आधार शिला क्षमा और उदार सहिष्णुता है, उसी धर्म के शास्त्रीय ग्रन्थों में इस प्रकार युद्ध का नारा संभव नहीं हो सकता है। कोई टीकाकार यदि ऐसा अर्थ करता है, तो वह अनुचित है और वह गीता को महाभारत के सन्दर्भ में नहीं पढ़ रहा है।

"हे भारत ! तुम युद्ध करो" ये शब्द धर्म का आह्वान है प्रत्येक व्यक्ति के लिये कि वह पराजय की प्रवृत्ति को छोड़कर जीवन में आने वाली प्रत्येक परिस्थिति का निष्ठापूर्वक और साहस के साथ सामना करे। "अधर्म का सक्रिय प्रतिकार" यह गीता में श्रीकृष्ण का मुख्य संदेह है।

अब आगे, भगवान् उपनिषदों के दो मन्त्र यह सिद्ध करने के लिये उद्धृत करते हैं कि शास्त्र का मुख्य प्रयोजन संसार के मूल कारण मोह – अविद्या की निवृत्ति करना है। भगवान् कहते हैं, "यह तुम्हारी मिथ्या धारणा है कि 'भीष्म और द्रोण मेरे द्वारा मारे जायेंगे और मैं उनका हत्यारा बनूँगा'......" कैसे ?

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है और जो इसको मरा समझता है वे दोनों ही नहीं जानते हैं, क्योंकि यह आत्मा न मारता है और न मारा जाता है ॥१९॥

आत्मा नित्य अविकारी होने से न मारी जाती है और न वह किसी को मारती है। शरीर के नाश से जो आत्मा को मरा मानता है या जो उसको मारने वाली समझते हैं, वे दोनों ही आत्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते और व्यर्थ का विवाद करते हैं। जो मरता है वह शरीर है और "मैं मारने वाला हूँ" यह भाव अहंकारी जीव का है। शरीर और अहंकार को प्रकाशित करने वाली चैतन्य आत्मा दोनों से ही भिन्न है। संक्षेप में इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा न किसी क्रिया का कर्ता है और न किसी क्रिया का विषय अर्थात् उस पर किसी प्रकार की क्रिया नहीं की जा सकती है।

आत्मा किस प्रकार अविकारी है ? इसका उत्तर अगले श्लोक में दिया है।

न जायते म्रियते वा कदाचित्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

यह आत्मा किसी काल में भी न जन्मता है और न मरता है और न यह एक बार होकर फिर अभावरूप होने वाला है। यह आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता ॥२०॥

इस श्लोक में बताया गया है कि शरीर में होने वाले समस्त विकारों से आत्मा परे है। जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, विकार, क्षय और नाश ये छः प्रकार के परिवर्तन शरीर में होते हैं, जिनके कारण जीव को कष्ट भोगना पड़ता है। एक मर्त्य

शरीर के लिए इन समस्त दु:ख के कारणों का आत्मा के लिए निषेध किया गया है। अर्थात् आत्मा इन विकारों से सर्वथा मुक्त है।

शरीर के समान आत्मा का जन्म नहीं होता, क्योंकि वह तो सर्वदा ही विद्यमान है। तरंगों की उत्पत्ति होती है, और उनका नाश होता है। परन्तु उनके साथ समुद्र की न तो उत्पत्ति होती है और न ही नाश। जिसका आदि है उसी का अन्त भी होता है। उत्ताल तरंगें ही मृत्यु की अन्तिम श्वास लेती हैं। 'सर्वदा विद्यमान आत्मा के जन्म और नाश का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः यहाँ कहा है कि आत्मा अज और नित्य है।

आत्मा में क्रिया के कर्तृत्व और विषयत्व का निषेध तथा उसके बाद तर्क के द्वारा उसके अविकारत्व को सिद्ध करने के बाद भगवान् इस विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं :

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥२१॥

हे पार्थ! जो पुरुष इस आत्मा को अविनाशी, नित्य और अव्ययस्वरूप जानता है, वह कैसे किसको मरवायेगा और कैसे किसको मारेगा? ॥२१॥

आत्मा की वर्णनात्मक परिभाषा नहीं दी जा सकती परन्तु उसका संकेत नित्य अविनाशी आदि शब्दों के द्वारा किया जा सकता है। यहाँ इस श्लोक में प्रश्नार्थक वाक्य द्वारा पूर्व श्लोकों में प्रतिपादित सिद्धान्त की ही पुष्टि करते हैं कि जो पुरुष अविनाशी आत्मा को जानता है, वह कभी जीवन की वास्तविकताओं का सामना करने में शोकाकुल नहीं होता।

आत्मा के अव्यय, अविनाशी, अजन्मा और शाश्वत स्वरूप को जान लेनें पर कौन पुरुष स्वयं पर कर्तृत्व का आरोप कर लेगा? भगवान् कहते हैं कि ऐसा पुरुष न किसी को मारता है और न किसी के मरनें का कारण बनता है। यहाँ ध्यान देनें की बात यह है कि इस वाक्य का सम्बन्ध स्वयं भगवान तथा अर्जुन दोनों से ही है। यदि अर्जुन इस तथ्य को समझ लेता है, तो उसे स्वयं को अजन्मा आत्मा का हत्यारा मानने का कोई प्रश्न नहीं रह जाता है।

किस प्रकार आत्मा अविनाशी है? अगले श्लोक में एक दृष्टान्त के द्वारा इसे स्पष्ट करते हैं :

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि,
अन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

जैसे मनुष्य जीर्ण वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नए वस्त्रों को धारण करता है, वैसे ही देही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है ॥२२॥

गीता के प्रायः उद्धृत किये जानें वालें अनेक प्रसिद्ध श्लोकों में से यह एक श्लोक है, जिसमें एक अत्यन्त व्यावहारिक दृष्टांत के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार जीवात्मा एक देह को छोड़कर अन्य देह के साथ तादात्म्य करके नई परिस्थितियों में नए अनुभव प्राप्त करता है। व्यास जी द्वारा प्रयुक्त यह दृष्टांत अत्यन्त सुपरिचित है।

जैसे मनुष्य व्यावहारिक जीवन में भिन्न-भिन्न अवसरों पर समयोचित वस्त्रों को धारण करता है, वैसे ही जीवात्मा भी एक देह को त्यागकर अन्य प्रकार के अनुभव प्राप्त करने के लिये किसी अन्य देह को धारण करता है। कोई भी व्यक्ति रात्रि-परिधान (नाइट गाउन) पहने अपने कार्यालय नहीं जाता, और न ही कार्यालय के वस्त्र पहने टेनिस खेलता है। वह अवसर और कार्य के अनुकूल वस्त्र पहनता है। यही बात मृत्यु के विषय में भी है।

यह दृष्टांत इतना सरल और बुद्धिग्राह्य है कि इसके द्वारा न केवल अर्जुन वरन् दीर्घ कालावधि के पश्चात् भी गीता का कोई भी अध्येता या श्रोता देह त्याग के विषय को स्पष्ट रूप से समझ सकता है।

अनुपयोगी वस्त्रों को बदलना किसी के लिये भी पीड़ा की बात नहीं होती और विशेषकर जब पुरानें वस्त्र त्याग कर नयें धारण करने हों, तब तो कष्ट का कोई कारण ही नहीं होता। इसी प्रकार जब जीव यह पाता है कि उसका वर्तमान शरीर उसके लिये अब कोई प्रयोजन नहीं रखता है तब उस जीर्ण शरीर का वह त्याग कर देता है। शरीर के इस 'जीर्णत्व' का निश्चय इसको धारण करनें वाला ही कर सकता है, क्योंकि जीर्णत्व का सम्बन्ध न धारणकर्त्ता की आयु से है और न उसकी शारीरिक अवस्था से है।

'जीर्ण' शब्द के तात्पर्य को न समझ कर अनेक आलोचक इस श्लोक का

विरोध करते हैं। उनकी मुख्य युक्ति यह है कि जगत् में अनेक बालक और युवक मरते देखे जाते हैं, जिनका शरीर जीर्ण नहीं हुआ था। शारीरिक दृष्टि से यह कथन सही होने पर भी जीव के विकास की दृष्टि से देखें तो यदि जीव के लिये वह शरीर अनुपयोगी हुआ तो उस शरीर को जीर्ण ही माना जायेगा। कोई धनी व्यक्ति प्रति वर्ष अपना भवन या वाहन बदलना चाहता है और हर बार उसे कोई न कोई क्रय करने वाला भी मिल जाता है। उस धनी व्यक्ति की दृष्टि से वह भवन या वाहन 'पुराना' या अनुपयोगी हो चुका है, परन्तु ग्राहक की दृष्टि से वही घर 'नये के समान' उपयोगी है। इसी प्रकार शरीर जीर्ण हुआ या नहीं इसका निश्चय उसको धारण करने वाला जीव ही कर सकता है।

यह श्लोक पुनर्जन्म के सिद्धांत को दृढ़ करता है, जिसकी विवेचना हम १२वें श्लोक में पहले ही कर चुके हैं।

इस दृष्टांत के द्वारा अर्जुन को यह बात निश्चय ही समझ में आ गई होगी कि मृत्यु केवल उन्हीं को भयभीत करता है, जिन्हें उसका ज्ञान नहीं होता है। परन्तु मृत्यु के रहस्य एवं संकेतार्थ को समझने वाले व्यक्ति को कोई पीड़ा या शोक नहीं होता है। जैसे वस्त्र बदलने से शरीर को कोई कष्ट नहीं होता और न ही एक वस्त्र के त्याग के बाद हम सदैव विवस्त्र अवस्था में ही रहते हैं, इसी प्रकार विकास की दृष्टि से जीव का भी देह त्याग होता है और वह नयें अनुभवों की प्राप्ति के लिये उपयुक्त नवीन देह को धारण करता है। उसमें कोई कष्ट नहीं है। यह विकास और परिवर्तन जीव के लिये है न कि चैतन्य स्वरूप आत्मा के लिये। आत्मा सदा परिपूर्ण है, उसे विकास की आवश्यकता नहीं।

आत्मा अविकारी, अपरिवर्तनशील क्यों है? भगवान् कहते हैं :

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते और न अग्नि इसे जला सकती है; जल इसे गीला नहीं कर सकता और वायु इसे सुखा नहीं सकती है ॥२३॥

अदृष्ट वस्तु को सदैव दृष्ट वस्तुओं के द्वारा ही समझाया जा सकता है परिभाषा मात्र से वह वस्तु अज्ञात ही रहेगी। यहाँ भी भगवान् श्रीकृष्ण अविकारी, नित्य, आत्मतत्व का वर्णन अर्जुन को और हमको परिचित विकारी, नित्य परिवर्तनशील जगत् के द्वारा करते हैं। यह तो सर्वविदित है कि वस्तुओं का नाश शस्त्र आदि

अथवा प्रकृति के नाश के साधनों अग्नि, जल और वायु के द्वारा संभव है। इनमें से किसी भी साधन से आत्मा का नाश नहीं किया जा सकता।

शस्त्र इसे काट नहीं सकते – यह सर्व विदित है कि एक कुल्हाड़ी से वृक्ष आदि को काटा जा सकता है, परन्तु उसके द्वारा जल, अग्नि, वायु या आकाश को किसी प्रकार से चोट नहीं पहुँचायी जा सकती। सिद्धांत यह है कि स्थूल साधन अपने से सूक्ष्म वस्तु का नाश नहीं कर सकता है। इसलिए, स्वाभाविक ही है कि आत्मा, जो कि सूक्ष्मतम तत्व आकाश से भी सूक्ष्म है, का नाश शस्त्रों से नहीं हो सकता।

अग्नि जला नहीं सकती – अग्नि अपने से भिन्न वस्तुओं को जला सकती है, परन्तु वह स्वयं को ही कभी नहीं जला सकती। ज्वलन अग्नि का धर्म है और अपने धर्म का, अपने सत्य स्वरूप का वह नाश नहीं कर सकती। विचारणीय बात यह है कि आकाश में रहती हुई अग्नि आकाश में स्थित वस्तुओं को तो जला पाती है, परन्तु आकाश को कभी नहीं। फिर आकाश से सूक्ष्मतर आत्मा को जलाने में वह अपने आपको कितना निस्तेज पायेगी ?

जल गीला नहीं कर सकता – पूर्व वर्णित सिद्धांत के अनुसार ही हम यह भी समझ सकते हैं कि जल आत्मा को आर्द्र या गीला नहीं कर सकता और न उसे डुबा सकता है। ये दोनों ही किसी द्रव्य युक्त साकार वस्तु के लिए संभव हैं और न कि सर्वव्यापी निराकार आत्मतत्त्व के लिए।

वायु सुखा नहीं सकती – जो वस्तु गीली होती है, उसी का शोषण करके शुष्क बनाया जा सकता है। आजकल सब्जियाँ और खाद्य पदार्थों के जल सुखाकर सुरक्षित रखने के लिए अनेक साधन उपलब्ध हैं। परन्तु आत्मतत्त्व में जल का कोई अंश ही नहीं है, क्योंकि वह अद्वैत स्वरूप है; तब वायु के द्वारा शोषित होकर उसके नाश की कोई सम्भावना नहीं रह जाती।

इन शब्दों के सरल अर्थ के अलावा इस श्लोक का गम्भीर अर्थ भी है, जिसे भगवान् श्रीकृष्ण अगले श्लोक में और अधिक स्पष्ट करते हैं कि आत्मतत्व क्यों और कैसे शाश्वत है।

यह आत्मा सनातन किस प्रकार है ? इसे सनातन स्वरूप से क्यों और कैसे पहचाना जा सकता है ?

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य (काटी नहीं जा सकती), अदाह्य (जलाई नहीं जा

सकती), अक्लेद्य (गीली नहीं हो सकती) और अशोष्य (सुखाई नहीं जा सकती) है; यह नित्य, सर्वगत, स्थाणु (स्थिर), अचल और सनातन है ॥२४॥

यह तो स्पष्ट ही है कि जिस वस्तु का नाश प्रकृति की विनाशकारी शक्तियाँ अथवा मानव निर्मित साधनों एवं शस्त्रास्त्रों के द्वारा संभव नहीं है, उसे नित्य होना चाहिए।

इस श्लोक की दूसरी पंक्ति में आत्मा के अनेक विशेषण बताये गये हैं, जो शीघ्रतावश चाहे जहां से उठाकर निष्प्रयोजन ही उपयोग में नहीं लाये गये हैं। विचारों की एक श्रृङ्खला के रूप में प्रत्येक शब्द को चुन कर प्रयोग किया गया है। प्रथम पंक्ति में वर्णित जो अविनाशी तत्व है, उसको नित्य होना चाहिए। जो नित्य वस्तु है वह अवश्य ही सर्वगत भी होगी।

'सर्वगत' इस छोटे से शब्द का अर्थ व्यापक और तात्पर्य गम्भीर है। कोई भी वस्तु ऐसी शेष नहीं रह सकती, जो सर्वगत तत्व के द्वारा व्याप्त न हो। नित्य आत्मा सर्वगत है, तो उसका कोई आकार विशेष भी नहीं हो सकता; क्योंकि आकार केवल परिच्छिन्न वस्तु का होता है, जिसकी सीमा के बाहर उससे भिन्न अन्य कोई वस्तु रहती है। जैसे हाथ-पैर इत्यादि अवयवों का आकार होता है, क्योंकि इनके बाहर आसपास आकाश तत्व है। अत: अपरिच्छिन्न सर्वगत आत्मा का कोई आकार नहीं है, क्योंकि उसको परिच्छिन्न करने वाली कोई अन्य वस्तु है ही नहीं।

इस प्रकार नित्य, सर्वगत वस्तु का स्थिर और अचल होना स्वाभाविक है। उसमें चलनादि क्रिया संभव नहीं। गति केवल उस वस्तु के लिए है, जो किसी काल और देश विशेष में रहती हो, तब उसका स्थानान्तरण किया जा सकता है। आत्मा का किसी काल अथवा देश में अभाव नहीं है, तो उसमें गति होने का प्रश्न ही नहीं उठता। मैं अपने स्वयं में ही घूम फिर नहीं सकता।

यहाँ स्थिर और अचल दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग व्यर्थ प्रतीत हो सकता है, क्योंकि वे बहुत कुछ समानार्थी हैं। परन्तु स्थिर शब्द से अभिप्राय नीचे मूल की स्थिरता से है, जैसे पेड़ एक जगह स्थिर होते हैं, परन्तु उनकी वृद्धि ऊपर की ओर होती है। यहाँ अचल कहकर ऊर्ध्व गति का भी निषेध किया है। अनन्तस्वरूप आत्मा स्थिर और अचल है, अर्थात् उसमें किसी भी प्रकार की चलन क्रिया नहीं है।

प्राचीन पुरातन वस्तु को सनातन कहते हैं। इस सनातन शब्द के दो अर्थ हैं- एक वाच्यार्थ (शाब्दिक) और दूसरा है लक्ष्यार्थ। उसका सरल वाच्यार्थ यह है कि आत्मा कोई नई बनी वस्तु नहीं है, वह प्राचीन है। लक्ष्यार्थ के अनुसार इसका

तात्पर्य यह है कि आत्मा काल और देश से मर्यादित, परिच्छिन्न नहीं है। किसी भी देश में, किसी भी काल में, कोई भी व्यक्ति आत्मसाक्षात्कार से पूर्णत्व प्राप्त करता है, तो वह साक्षात्कार एक ही होगा, भिन्न-भिन्न नहीं।

आगे भगवान् कहते हैं :

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।।२५।।

यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकारी कहा जाता है; इसलिए इसको इस प्रकार जानकर तुमको शोक करना उचित नहीं है ।।२५।।

आत्मा के स्वरूप को भगवान् यहाँ और अधिक स्पष्ट करते हैं। यहाँ प्रयुक्त शब्दों के द्वारा सत्य का निर्देश युक्तिपूर्वक किया गया है।

अव्यक्त – पंचमहाभूतों में जो सबसे अधिक स्थूल है, जैसे पृथ्वी, उसका ज्ञान पांचों ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा होता है। परन्तु जैसे-जैसे सूक्ष्मतर तत्त्व तक हम पहुँचते हैं, वैसे यह ज्ञात होता है कि उसका ज्ञान पांचो प्रकार से नहीं होता। जल में गन्ध नहीं है और अग्नि में रस नहीं है, तो वायु में रूप भी नहीं है। इस प्रकार आकाश सूक्ष्मतम होने से दृष्टिगोचर नहीं होता। स्वभावतः, जो आकाश का भी कारण है, उसका ज्ञान किसी भी इन्द्रिय के द्वारा नहीं हो सकता। अतः हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि वह 'अव्यक्त' है।

इन्द्रियगोचर वस्तु व्यक्त कही जाती है। अतः जो इन्द्रियों के परे है, वह अव्यक्त है। यद्यपि किसी वृक्ष के बीज में वृक्ष को देख, सुन, नहीं सकता हूँ और न उसका स्वाद, स्पर्श या गन्ध ज्ञात कर सकता हूँ; तथापि मैं जानता हूँ कि यही बीज वृक्ष का कारण है। इस स्थिति में कहा जायेगा कि बीज में वृक्ष अव्यक्त अवस्था में है। इस प्रकार आत्मा को अव्यक्त कहने का तात्पर्य यह है, कि वह इन्द्रियों के द्वारा जानने योग्य विषय नहीं है। उपनिषदों में विस्तारपूर्वक बताया गया है कि आत्मा सबकी द्रष्टा होने से इन्द्रियों का दृश्य विषय नहीं बन सकती।

अचिन्त्य–आत्मा इन्द्रियों का विषय नहीं है; उसी प्रकार यहाँ 'वह अचिन्त्य है' कहकर यह दर्शाते हैं कि मन और बुद्धि के द्वारा हम आत्मा का मनन और चिन्तन नहीं कर सकते जैसे अन्य विषयों का विचार संभव है। इसका कारण यह है कि मन और बुद्धि दोनों स्वयं जड़ हैं। परन्तु इस चैतन्य आत्मा के प्रकाश से चेतन होकर वे

अन्य विषयों को ग्रहण करते हैं। अब अपने ही मूलस्वरूप द्रष्टा को वे किस प्रकार विषय रूप में जान सकेंगे ? दूरदर्शीय यन्त्र से देखने वाला व्यक्ति स्वयं को ही नहीं देख सकता; क्योंकि एक ही व्यक्ति द्रष्टा और दृश्य दोनों नहीं हो सकता। यह 'अचिन्त्य' शब्द का तात्पर्य है। अतः अव्यक्त और अचिन्त्य शब्द से आत्मा को अभाव रूप नहीं समझ लेना चाहिए।

अविकारी –– अवयवों से युक्त साकार पदार्थ परिच्छिन्न और विकारी होता है। निरवयव आत्मा में किसी प्रकार का विकार संभव नहीं है।

इस प्रकार श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश करते हैं कि आत्मा को उसके शुद्ध स्वरूप से पहचान कर शोक करना त्याग देना चाहिए। ज्ञानी पुरुष अपने को न मारने वाला समझता है और न ही मरने वाला मानता है।

भौतिकवादी विचारकों के मत को स्वीकार करके यदि यह मान भी लें कि आत्मा नित्य नहीं है, तब भी, भगवान कहते हैं :

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

और यदि तुम इस आत्मा को नित्य जन्मने और नित्य मरने वाला मानो तो भी, हे महाबाहो ! इस प्रकार शोक करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है ॥२६॥

२६ और २७ इन दो श्लोकों में श्रीकृष्ण ने भौतिकवादी विचारकों का दृष्टिकोण केवल तर्क के लिए प्रस्तुत किया है। इस मत के अनुसार केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही ज्ञान का साधन है अर्थात् इन्द्रियों को जो ज्ञात होता है, केवल वही सत्य है। इस प्रकार मानने पर उन्हें यह स्वीकार करना पड़ता है कि जीवन असंख्य जन्म और मृत्युओं की एक धारा या प्रवाह है। वस्तुएँ निरन्तर उत्पन्न और नष्ट होती हैं। और उनके मत के अनुसार यही जीवन है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि जन्म-मृत्यु का यह निरन्तर प्रवाह ही जीवन हो तब भी हे शक्तिशाली अर्जुन तुमको शोक नहीं करना चाहिये। क्योंकि :

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

जन्मने वाले की मृत्यु निश्चित है और मरने वाले का जन्म निश्चित है;

इसलिए जो अटल है – अपरिहार्य है उसके विषय में तुमको शोक नहीं करना चाहिये ॥२७॥

भौतिकवादी नास्तिक लोगों का मत है कि बिना किसी पूर्वापर कारण के वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं। आस्तिक लोग देह से भिन्न जीव का अस्तित्व स्वीकार करते हुए कहते हैं कि एक ही जीव विकास की दृष्टि से अनेक शरीरों को धारण करता है, जिससे वह इस दृश्य जगत् के पीछे जो परम सत्य है, उनको पहचान सकें। दोनों ही प्रकार के विचारों में एक सामान्य बात यह है कि दोनों ही यह मानते हैं कि जीवन जन्म-मृत्यु की एक शृंखला है।

इस प्रकार जीवन के स्वरूप को समझ लेने पर निरन्तर होने वाले जन्म और मृत्यु पर किसी विवेकी पुरुष को शोक नहीं करना चाहिए। गर्मियों के दिनों में सूर्य के प्रखर ताप में बाहर खड़े होकर यदि कोई सूर्य के ताप और चमक की शिकायत करे, तो वास्तव में यह मूढ़ता का लक्षण है। इसी प्रकार इस जीवन को प्राप्त कर उसके परिवर्तनशील स्वभाव की कोई शिकायत करता है, तो यह एक अक्षम्य मूढ़ता है।

उपर्युक्त कारण से शोक करना अपने अज्ञान का ही परिचायक है। श्रीकृष्ण का जीवन तो उत्साह और आनन्द का संदेश देता है। उनका जीवन-संदेश है, 'रुदन अज्ञान का लक्षण है और हंसना बुद्धिमत्ता का।' 'हँसते रहो' इन दो शब्दों में श्रीकृष्ण के उपदेश को बताया जा सकता है। इसी कारण जब वे अपने मित्र को शोकाकुल देखते हैं, तो उसकी शोक और मोह से रक्षा करने के लिए और इस प्रकार उसके जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कराने के लिये वे तत्पर हो जाते हैं।

अब आगे के दस श्लोक सामान्य मनुष्य का दृष्टिकोण बताते हैं। भगवान शंकराचार्य अपने भाष्य में कहते हैं, "कार्य कारण के सम्बन्ध से युक्त वस्तुओं के लिये शोक करना उचित नहीं, क्योंकि":

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

हे भारत! समस्त प्राणी जन्म से पूर्व और मृत्यु के बाद अव्यक्त अवस्था में रहते हैं और बीच में व्यक्त होते हैं। फिर उसमें चिन्ता या शोक की क्या बात है? ॥२८॥

इस श्लोक से लेकर आगे के कुछ श्लोकों में संसार के सामान्य मनुष्य के दृष्टिकोण से समस्या को अर्जुन के समक्ष बड़ी सुन्दरता से प्रस्तुत किया गया है। इन दस श्लोकों में श्रीकृष्ण समस्या का स्पष्टीकरण सामान्य व्यक्ति की दृष्टि एवं बुद्धि के अनुसार प्रस्तुत करते हैं।

इस भौतिक जगत् में कार्य-करण का नियम अबाध्यरूप से कार्य करते हुए अनुभव में आता है। कार्य की उत्पत्ति कारण से होती है। सामान्यतः, कार्य व्यक्त रूप में दिखाई देता है और कारण अव्यक्त रहता है। अतः सृष्टि का अर्थ है वस्तुओं का अव्यक्त स्थिति से व्यक्त अवस्था में आ जाना। यही क्रम निरन्तर नियमपूर्वक चलता रहता है।

इस प्रकार आज का व्यक्त इसके पूर्व कल अव्यक्त था; वर्तमान में वह व्यक्त रूप में उपलब्ध है, परन्तु भविष्य में फिर अव्यक्त अवस्था में विलीन हो जायेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि वर्तमान स्थिति 'अज्ञात' से आयी और पुनः 'अज्ञात' में लीन हो जायेगी। ऐसा समझने पर भी दुःख का कोई कारण नहीं रह जाता। क्योंकि एक चक्र के आरे निरन्तर घूमते हुए नीचे भी आते हैं, तो केवल बाद में ऊपर उठने के लिए ही।

उदाहरणार्थ, स्वप्न के पत्नी और शिशु पहले अव्यक्त थे और जागने पर फिर लुप्त हो जाते हैं, तो एक ब्रह्मचारी को उस पत्नी और शिशु के लिए शोक करने का क्या कारण है, जिसके साथ उसका विवाह कभी हुआ ही नहीं था और जिस शिशु का कभी जन्म ही नहीं हुआ था ?

यदि जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, इस जगत की उत्पत्ति और लय का चक्र निरन्तर एक पारमार्थिक नित्य अविकारी सत्य के रूप में ही चल रहा है, तो क्या कारण है कि उस सत्य को बारम्बार बताने पर भी हम समझ नहीं पाते ? श्री शंकराचार्य के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण यह विचार करते हैं कि इस सत्य को न समझने के लिये अर्जुन को दोष देना उचित नहीं है।

श्री शङ्कराचार्य कहते हैं, "इस आत्मा का साक्षात् अनुभव करके उसे यथार्थ में जानना कठिन है। तुम्हें ही मैं दोष क्यों दूँ जबकि इसका कारण अज्ञान सबके लिए समान है ?" कोई पूछ सकता है कि आत्मानुभव में इतनी कठिनाई क्या है ? भगवान् कहते हैं :

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्
आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

कोई इसे आश्चर्य के समान देखता है; कोई इसके विषय में आश्चर्य के समान कहता है; और कोई अन्य पुरुष इसे आश्चर्य के समान सुनता है; और फिर कोई सुनकर भी जानता नहीं ! ॥२९॥

परमार्थ तत्व का वर्णन करते हुए कहा जाता है कि वह अनन्त, सर्वज्ञ और आनन्दस्वरूप है जबकि हमारा अपने ही विषय में अनुभव यह है कि हम परिच्छिन्न, अज्ञानी और दुखी हैं। इस प्रकार हमारा जो वास्तविक आत्मस्वरूप है, उससे सर्वथा भिन्न हमारा प्रत्यक्ष अनुभव है। पारमार्थिक स्वरूप और प्रत्यक्ष अनुभव, इन दोनों का अन्तर शीत और उष्ण, प्रकाश और अन्धकार के अन्तर के समान प्रतीत हो रहा है। क्या कारण है कि हम अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का साक्षात् अनुभव नहीं कर पाते हैं ?

अज्ञान अवस्था में जब हम सत्य को जानना चाहते हैं तब हमारी यह धारणा होती है कि वह सत्य एक ऐसा लक्ष्य है, जो कहीं दूर स्थान में स्थित है, जिसकी प्राप्ति किसी काल विशेष में ही होगी। परन्तु यदि हम भगवान् के उपदेश पर विश्वास करें, तो यह ज्ञात होगा कि हम उस सत्य से कभी भी दूर नहीं है, क्योंकि वह तो हमारा स्वरूप ही है। एक मर्त्य जीव अमरत्व से उतना ही दूर है — एक पापी साधुत्व से उतना ही दूर है – अपूर्ण जीव पूर्णत्व से उतना ही दूर है, जितना कि स्वप्नद्रष्टा जाग्रत पुरुष से।

जो मनुष्य अपने आत्मस्वरूप के वैभव के प्रति जागरूक है, वही ईश्वर है; और स्वस्वरूप के वैभव से विस्मृत ईश्वर ही मोहित जीव है !

प्रथम तो इस जीव को शरीर, मन और बुद्धि के परे स्थित आत्मा के अस्तित्व के विचार को ही समझना कठिन होता है और जब वह आत्मविकास की साधना का अभ्यास करके अपने आनन्दस्वरूप को पहचानता है, तब वह उस इन्द्रियातीत, अनन्त, आनन्दस्वरूप का अनुभव कर आश्चर्यचकित रह जाता है।

आश्चर्य की भावना जब मन में उठती है, तब उसमें यह सामर्थ्य होती है कि क्षण भर के लिए आश्चर्यचकित व्यक्ति को और कुछ सूझता ही नहीं और वह उस क्षण उस भावना के साथ तदाकार हो जाता है। प्रयोग के तौर पर आप किसी

व्यक्ति को अचानक आश्चर्य चकित कर दें और फिर उसके मुख के भावों को देखें मुँह खुला हुआ, कुछ न देखती हुई बाहर निकली हुई आँखें, प्रत्येक शिरा तनाव से खिची हुई, वह व्यक्ति एक पुतले के समान क्षण भर के लिये अपने ही स्थान पर किंकर्त्तव्य विमूढ़ खड़ा रह जाता है।

इसी प्रकार आत्मानुभव का भी वह आनन्द है, जब आत्मा ही आत्मा के साथ आत्मा में ही रमण कर रही होती है। और, इसलिये, महान् ऋषियों ने इस अनुभव को 'आश्चर्य' शब्द से सूचित किया, जब अहंकार, जीव समाप्त होकर शुद्ध अनन्तस्वरूप मात्र रह जाता है।

अज्ञानी पुरुष समझता है कि "मैं शरीर हूँ, जिसमें आत्मा का वास है"; परन्तु ज्ञानी पुरुष जानता है कि "मैं आत्मा हूँ, जिसने शरीर धारण किया है।" जो साधक सम्यक् प्रकार से इस उपदेश का श्रवण करते हैं, उनको आगे उसी पर मनन करने को उत्साहित किया जाता है और तत्पश्चात् जब तक यथार्थ में आत्म साक्षात्कार नहीं हो जाता, तब तक उसके लिये ध्यान करने का उपदेश किया गया है। इस श्लोक से अज्ञानी पुरुष को भी श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा इस विरले प्रकार के श्रेष्ठ ज्ञान को प्राप्त करने की प्रेरणा मिल सकती है। आत्म-तत्व को विषय के रूप में नहीं जाना जा सकता। इसलिये यहाँ कहा गया है कि इसको सुनकर कोई भी व्यक्ति इसे नहीं जानता।

अगले श्लोक में इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं :

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

हे भारत ! यह देही आत्मा सबके शरीर में सदा ही अवध्य है, इसलिये समस्त प्राणियों के लिये तुमको शोक करना उचित नहीं है॥३०॥

सब के शरीर में स्थित सूक्ष्म आत्मतत्व अवध्य है अर्थात् इसका वध नहीं किया जा सकता। केवल देह का ही नाश होता है। इसलिये अर्जुन को उपदेश किया जाता है कि इस महा समर में युद्ध करने और शत्रु संहार करने में किसी भी प्राणी के लिये शोक करना सर्वथा अनुचित है। युद्ध में वह शत्रुओं का सामना करे। यह उपदेश देने के पूर्व भगवान् श्रीकृष्ण ने अत्यन्त युक्तियुक्त शैली में आत्मा की अनश्वरता और शरीरों के नश्वर स्वभाव को सिद्ध किया है। श्री शंकराचार्य सही कहते हैं कि ११वें श्लोक से प्रारम्भ किये गये प्रकरण का यहाँ उपसंहार किया गया है।

अब तक यह बताया गया कि पारमार्थिक सत्य की दृष्टि से शोक करने का कोई कारण नहीं है। न केवल पारमार्थिक दृष्टि से बल्कि :

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

और स्वधर्म को भी देखकर तुमको विचलित होना उचित नहीं है, क्योंकि धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारक कर्त्तव्य क्षत्रिय के लिये नहीं है ॥३१॥

क्षत्रिय का कार्य समाज का, राष्ट्र का नेतृत्व करना है और क्षत्रिय होने के नाते अर्जुन का यह कर्तव्य हो जाता है कि समाज पर आये अधर्म के संकट से उसकी रक्षा करे। उसका कर्तव्य है कि समाज के आह्वान पर युद्ध भूमि में विचलित न होकर शत्रुओं से युद्ध करके राष्ट्र की संस्कृति का रक्षण करे।

क्षत्रियों के लिये इससे बढ़कर और कोई श्रेयस्कर कार्य नहीं हो सकता कि उनको धर्मयुक्त युद्ध में अपना शौर्य दिखाने का स्वर्ण अवसर मिले। यहाँ अधर्मियों ने ही पहले आक्रमण किया है। अतः अर्जुन का युद्ध से विरत होना उचित नहीं- महाभारत के उद्योग पर्व में स्पष्ट कहा है कि, "निरपराध व्यक्ति की हत्याका पाप उतना ही बड़ा है, जितना कि नाश के योग्य व्यक्ति का नाश न करने का है।'

युद्ध का औचित्य सिद्ध करते हुए भगवान् अन्य कारण बताते हैं :

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

और हे पार्थ ! अपने आप प्राप्त हुए और स्वर्ग के लिये खुले हुए द्वाररूप इस प्रकार के युद्ध को भाग्यवान् क्षत्रिय लोग ही पाते हैं ॥३२॥

क्षत्रियशब्द का तात्पर्य यहाँ जन्म से निश्चित की हुई क्षत्रिय जाति से नहीं है। यह व्यक्ति के मन की कतिपय विशिष्ट वासनाओं की ओर संकेत करता है। क्षत्रिय प्रवृत्ति का व्यक्ति वह है, जिसमें सामर्थ्य और उत्साह का ऐसा उफान हो कि वह दुर्बल और दरिद्र लोगों की रक्षा के साथ संस्कृति के शत्रुओं से राष्ट्र का रक्षण कर सके। हिन्दू नीतिशास्त्र के अनुसार ऐसे नेतृत्व के गुणों से सम्पन्न व्यक्ति को स्वयं ही संस्कृति का विनाशक और आक्रमणकारी नहीं होना चाहिये। किन्तु अधर्म का प्रतिकार न करने की कायरतापूर्ण भावना भी हिन्दुओं की परम्परा नहीं है। जब

भी कभी ऐसा सुअवसर प्राप्त हो तो क्षत्रियों का कर्त्तव्य है कि वे इसे स्वर्ण अवसर समझ कर राष्ट्र का रक्षण करें। इस प्रकार के धर्मयुद्ध स्वर्ग प्राप्ति के लिए खुले हुए द्वार के समान होते हैं।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण अपने तर्क प्रस्तुत करते हुए वेदान्त के सर्वोच्च सिद्धान्त से उतर कर भौतिकवादियों के स्तर पर आये और उससे भी नीचे के स्तर पर आकर वे जगत् के एक सामान्य व्यक्ति के दृष्टिकोण से भी परिस्थिति का परीक्षण करते हैं। इन विभिन्न दृष्टिकोणों से वे अर्जुन को यह सिद्ध कर दिखाते हैं कि उसका युद्ध करना उचित है।

निश्चय ही युद्ध करना तुम्हारा कर्तव्य है, और अब यदि इसे छोड़कर तुम भागते हो, तब :

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

और यदि तुम इस धर्मयुक्त युद्ध को नहीं करोगे, तो स्वधर्म और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त करोगे ॥३३॥

यदि तुम इस समय युद्ध से विरत हो जाओगे, तो न केवल स्वधर्म और कीर्ति को ही खो दोगे, वरन् निश्चय रूप से पाप के भागीदार भी बनोगे। अधर्मियों का प्रतिकार न करना निरपराध व्यक्ति की हत्या करने के समान ही घोर पाप है।

धर्म शब्द का विवेचन पहले किया जा चुका है। प्रत्येक प्राणी पूर्वार्जित वासनाओं के साथ किसी देह विशेष में विशेष प्रयोजनार्थ इस जगत् में जन्म लेता है। वह विशेष प्रयोजन इन वासनाओं का क्षय करके स्वस्वरूप को पहचानना है। प्रत्येक व्यक्ति जिन वासनाओं के साथ जन्म लेता है, वे ही उसका स्वधर्म, स्वभाव कहलाता है। अर्जुन का स्वधर्म क्षत्रिय का है, जिसका विशेष गुण आदर और यशपूर्ण शौर्य है।

वासना क्षय के लिए जीवन में प्राप्त इन अवसरों को खो देना विकास के मार्ग में बाधा उत्पन्न करना है। यदि इनका क्षय न हुआ तो मनुष्य के मन पर वासनाओं का दबाव बढ़ता जाता है, क्योंकि पूर्वार्जित वासनाओं के साथ नए-नए संस्कार भी एकत्र होते जाते हैं। प्राप्त क्षण में भले ही अर्जुन युद्ध भूमि से भाग जाये, परन्तु बाद में इस अवसर को खो देने का पश्चाताप ही उसको होगा क्योंकि इस प्रकार का पलायन उसके उस क्षत्रिय स्वभाव के सर्वथा विपरीत है जिसे युद्ध में ही चिर शान्ति प्राप्त हो सकती है। जिस बालक में कला के प्रति स्वाभाविक रुचि और प्रवृत्ति है,

वह कभी सफल व्यापारी नहीं बन सकता। पुत्र प्रेम के कारण यदि माता-पिता अपनी इच्छाओं को अपने पुत्र पर थोप भी देते हैं, तो यह देखा जाता है कि ऐसे बालक का व्यक्तित्व बिखरा हुआ रहता है।

इस तरह के उदाहरण विश्व में प्रत्येक क्षेत्र में पाये जाते हैं और विशेषकर आध्यात्मिक क्षेत्र में। बहुत से व्यक्ति थोड़े से दुःख और कष्ट के आघात से क्षणिक वैराग्य के कारण "ईश्वर की खोज" में गृह त्यागकर जंगलों में चले जाते हैं किन्तु वहाँ जीवन भर वे अशान्ति और दुःख ही पाते हैं। मन में विषयोपयोग की वासनाएँ होती हैं; जो पारिवारिक जीवन में पूर्ण की जा सकती हैं। परन्तु गृह त्याग कर हिमालय की कन्दराओं में बैठने से न तो वे इन वासनाओं को पूर्ण कर पाते हैं और न ईश्वर का ध्यान उनके लिये सम्भव होता है। स्वाभाविक है कि उनके मन में विक्षेप बढ़ते जाते हैं, जिन्हें पाप कहते हैं।

हिन्दू धर्म के अनुसार "अपने आत्मस्वरूप को भूलकर मनुष्य जो गलतियाँ करता है, उन्हें पाप कहते हैं।" विषयोपभोग के लिए मनुष्य के द्वारा सुख प्राप्ति के प्रयत्नों के कारण मन में विक्षेप उत्पन्न होना स्वाभाविक है और यही पाप है क्योंकि इसमें आनन्दस्वरूप आत्मा का विस्मरण है।

इतना ही नहीं कि तुम कर्तव्य और कीर्ति को खो दोगे, बल्कि :

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

और सब लोग तुम्हारी बहुत काल तक रहने वाली अपकीर्ति को भी कहते रहेंगे ; और सम्मानित पुरुष के लिए अपकीर्ति मरण से भी अधिक होती है ॥३४॥

एक प्रसिद्ध सम्मानित वीर के लिए अपकीर्ति मरण से भी अधिक होती है। श्रीकृष्ण अर्जुन को दुविधा त्याग कर युद्ध में प्रवृत्त करने के लिए एक और तर्क प्रस्तुत करते हैं। अर्जुन का पक्ष धर्म और न्याय का होने पर भी उसका युद्ध से पलायन कायरता का ही लक्षण है। भगवान् के शब्दों में अर्जुन के प्रति सहानुभूति अन्तर्निहित है, क्योंकि वे जानते हैं कि भावावेग में शूर वीर अर्जुन भी मन से दुर्बल होकर हतोत्साहित हो सकता है। आगे :

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

और जिनके लिए तुम बहुत माननीय हो उनके लिए अब तुम तुच्छता को प्राप्त होओगे, वे महारथी लोग तुम्हें भय के कारण युद्ध से निवृत्त हुआ मानेंगे ॥३५॥

भावी इतिहास में तो तुम्हारी अपकीर्ति बनी रहेगी ही, परन्तु वर्तमान में भी शत्रु पक्ष के ये महारथी तुम्हारा उपहास करेंगे। इस भ्रातृहन्ता युद्ध से तुम्हें जो दुःख है, उसे न समझकर वे तो यही मानेंगे कि तुमने भय और कायरता के कारण युद्ध से पलायन किया है। इस प्रकार का अनादरपूर्ण कायरता का आरोप कोई भी वीर पुरुष सहन नहीं कर सकता; विशेष रूप से जब अपने ही तुल्य बल के शत्रुओं द्वारा वह किया गया हो। और :

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

तुम्हारे शत्रु तुम्हारे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए बहुत से अकथनीय वचनों को कहेंगे, फिर उससे अधिक दुःख क्या होगा ? ॥३६॥

यह देखकर कि अर्जुन के मन पर इन तर्कों का अनुकूल प्रभाव पड़ रहा है, श्रीकृष्ण उसको युद्ध से पलायन करने में जो दोष हैं, उन्हें और अधिक स्पष्ट करके दिखाते हैं। लोकनिन्दा, युद्ध से पलायन का आरोप, इतिहास में अपकीर्ति – इनसे बढ़कर एक सम्मानित व्यक्ति के लिए और अधिक दुःख क्या हो सकता है ?

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

युद्ध में मरकर तुम स्वर्ग प्राप्त करोगे या जीतकर पृथ्वी को भोगोगे ; इसलिये, हे कौन्तेय ! युद्ध का निश्चय कर तुम खड़े हो जाओ ॥३७॥

इस युद्ध में अर्जुन का पक्ष धर्म का होने से युद्ध करना उसके लिए सभी दृष्टियों से उचित था। युद्ध में मृत्यु होने पर उस वीर को स्वर्ग की प्राप्ति होगी। और विजयी होने पर वह पृथ्वी का राज्य वैभव भोगेगा। मृत्योपरान्त धर्म के लिए युद्ध करने वाले पराक्रमी शूरवीर की भाँति भी स्वर्ग का सुख भोगेगा। इसलिए अब तक जितने भी तर्क दिए गए हैं, उन सबका निष्कर्ष इस वाक्य में है, "युद्ध का निश्चय कर तुम खड़े हो जाओ।"

जिस परिस्थिति विशेष में गीता का उपदेश किया गया है, उसके सन्दर्भ में युद्ध करने की सलाह न्यायोचित है। परन्तु सामान्य परिस्थितियों में श्रीकृष्ण के इस

दिव्य आह्वान का अर्थ होगा कि सभी प्रकार की मानसिक दुर्बलताओं को त्याग कर मनुष्य को अपने जीवन-संघर्षों में आनेवाली चुनौतियों का सामना साहस तथा दृढ़ता के साथ विजय के लिए करना चाहिए। इस प्रकार गीता का उपदेश किसी व्यक्ति विशेष के लिये न होकर, सम्पूर्ण विश्व की मानव जाति के लिए उपयोगी और कल्याणकारी सिद्ध होगा।

जिस भाव को हृदयस्थ करके युद्ध करना चाहिये, उसे अब सुनो :

सुख दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

सुख–दुःख, लाभ–हानि और जय–पराजय को समान करके युद्ध के लिये तैयार हो जाओ ; इस प्रकार तुमको पाप नहीं होगा ॥३८॥

सम्पूर्ण गीता के साररूप इस द्वितीय अध्याय में सांख्ययोग के पश्चात इस श्लोक में कर्मयोग का दिशा निर्देश है। इसी अध्याय में आगे भक्तियोग का भी संक्षेप में संकेत किया गया है।

यह प्रथम अवसर है, जब श्रीकृष्ण इस श्लोक में आत्मोन्नति की साधना का स्पष्ट रूप से वर्णन करते हैं। इसलिए इसका सावधानीपूर्वक अध्ययन करने वाले गीता के समस्त साधकों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

शरीर, मन और बुद्धि इन तीन उपाधियों के माध्यम से ही हम जीवन में विभिन्न अनुभव प्राप्त करते हैं। इन तीन स्तरों पर प्राप्त होनें वाले सभी अनुभवों का समावेश इस श्लोक में कथित तीन प्रकार के द्वन्द्वों में किया गया है। अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों को सुख और दुःख के रूप में अनुभव करना बुद्धि की प्रतिक्रिया है; लाभ और हानि ये मन की कल्पना है, जिस कारण वस्तु की प्राप्ति पर हर्ष और वियोग पर शोक होना स्वाभाविक है; भौतिक जगत् की उपलब्धियों को यहाँ जय–पराजय शब्द से सूचित किया है। श्रीकृष्ण का उपदेश यह है कि मनुष्य को इस प्रकार की विषम परिस्थितियों में सदैव मन के सन्तुलन को बनाये रखना चाहिये। इसके लिए सतत जागरूकता की आवश्यकता है।

समुद्र स्नान के इच्छुक व्यक्ति को समुद्र स्नान करने की कला ज्ञात होनी चाहिए अन्यथा समुद्र की उत्तुंग तरंगे उस व्यक्ति को व्यथित कर देंगी और उसे जल समाधि में खींच ले जायेंगी। किन्तु बड़ी लहरों के नीचे झुकने और छोटी लहरों पर सवार होने की कला जो व्यक्ति जानता है, वही समुद्र स्नान का आनन्द उठा सकता

है। यह आशा करना कि समुद्र की लहरें शान्त हो जायें अथवा स्नान के समय कष्ट न पहुँचाये, अपनी सुविधा के लिए समुद्र को उसके स्वरूप का त्याग करने के आदेश देने के समान है ! किन्तु अज्ञानी पुरुष जीवन में यही चाहता है कि किसी प्रकार की समस्याएँ उसके सामने न आयें, जो सर्वथा असम्भव है। जीवन के समुद्र में सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय की लहरें उठना अनिवार्य है। अन्यथा पूर्ण गतिहीनता ही मृत्यु है।

यदि जीवन का स्वरूप ही एक उफनते तूफानी समुद्र के समान है, तो उसमें उठती उत्तुंग तरंगों के आघातों अथवा गहन गह्वरों से विचलित हुए बिना जीवन जीने की कला हमको सीखनी चाहिए। इन उठती तरंगों में किसी एक के साथ भी तादात्म्य स्थापित कर लेना मानो समुद्र की सतह पर उसके साथ इधर-उधर बहते जाना है और न कि उस प्रकाश स्तम्भ के समान स्थिर रहना है जो वहीं विक्षुब्ध लहरों के बीच निश्चल खड़ा रहता है, और जिसकी नींव समुद्र तल की चट्टान पर निर्मित होती है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को युद्ध करने के लिए प्रेरित करते हैं किन्तु साथ में इस समत्व भाव का उपदेश भी देते हैं। अन्यथा कर्म में प्रवृत्त हुआ व्यक्ति अनेक अवसरों पर अपनी ही नकारात्मक प्रवृत्तियों का शिकार बन जाता है। मन के इस समभाव होने पर ही मनुष्य वास्तविक स्फूर्ति और प्रेरणा का जीवन जी सकता है और ऐसे व्यक्ति की उपलब्धियाँ ही सच्ची सफलता की आभा से युक्त होती हैं।

यह सुविदित तथ्य है कि सभी कार्य क्षेत्रों में जो कर्म स्फूर्ति और प्रेरणा युक्त होते हैं, उनकी अपनी ही दैवी चमक होती है, जिनकी न प्रतिकृति हो सकती है और न ही उसे बारम्बार दोहराया ही जा सकता है। किसी भी कार्य क्षेत्र का व्यक्ति चाहे वह कवि हो या कलाकार, चिकित्सक हो या वक्ता, जब अपनी सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि या कृति प्रस्तुत करता है, तब वह सर्व सम्मति से 'प्रेरणा का कार्य' ही स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार जब हम दैवी प्रेरणा के आनन्द से अविभूत कोई कार्य कर रहे होते हैं, तब हमारी कल्पनाएँ, विचार और कर्म अपनी एक निराली ही सुन्दरता से ओत-प्रोत होते हैं, जिन्हें एक यन्त्र के समान पुनः दोहराया नहीं जा सकता।

प्रसिद्ध चित्रकार दा विन्सी अपनी श्रेष्ठ कृति मन्द स्मित वदना मोनालिसा का चित्र दोबारा चित्रित नहीं कर सका; महाकवि कीट्स की लेखनी उड़ते हुए बुल-बुल के गान को दूसरी बार नहीं लिख पायी; बीथोवेन पियानों पर फिर एक बार वही मधुर स्वर झंकृत नहीं कर सका; भगवान् श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन के प्रार्थना करने पर युद्ध के पश्चात् दोबारा गीता सुनाने में अपनी असमर्थता स्वीकार की !!

पाश्चात्य विचारकों के लिए 'प्रेरणा' संयोग की कोई रहस्यमय घटना है जिस

पर मानव का कोई नियन्त्रण नहीं रहता; जबकि भारतीय मनीषियों के अनुसार दैवी 'प्रेरणा का जीवन' मनुष्य का वास्तविक लक्ष्य है, जिसे वह अपने आत्मस्वरूप के साथ पूर्णतया तादात्म्य स्थापित करके जी सकता है। समत्व भाव का वह जीवन जहाँ हम जीवन में आने वाली परिस्थितियों से अप्रभावित, अपने मन और बुद्धि के साक्षी बन कर रहते हैं, अहंकार की विस्मृति के क्षण हैं; और तब हमारे कर्म उषःकाल की जगमगाती आभा से समृद्ध होते हैं। सामान्य मनुष्य की धारणा होती है कि अहंकार के अभाव में हम कार्य करने में अकुशल बन जायेंगे, परन्तु यह मिथ्या धारणा है। प्रेरणा की आभा ही सामान्य सफलता को भी महान् उपलब्धि की ऊँचाई तक पहुँचाती है।

प्राचीन हिन्दू योगियों ने एक साधना का आविष्कार किया, जिसके अभ्यास से मन और बुद्धि की युक्तता एवं समता सम्पादित की जा सकती है। इस साधना को 'योग' कहते हैं। वैदिक काल के लोगों को इसका ज्ञान था तथा इसका अभ्यास करके योगी का जीवन जीते थे। उन्होंने असाधारण उपलब्धियों को अर्जित करके राष्ट्र के लिए स्वर्णयुग का निर्माण किया।

भारत जैसे देश में वैदिक काल में निश्चय ही आस्तिक दर्शन प्रचलित होगा, परन्तु उसकी उपयोगिता जीवन के सभी क्षेत्रों में समानरूप से है। यदि उसकी सार्वक्षेत्रीय उपयोगिता न हो तो वह वास्तविक अर्थ में दर्शन ही नहीं है। अधिक से अधिक उसे किसी श्रेष्ठ पुरुष का जीवन विषयक मत माना जा सकता है, जिसका सीमित उपयोग हो, किन्तु तत्त्वज्ञान के रूप में वह कभी स्वीकार नहीं हो सकता।

अब तक के उपदेश में भगवान् ने वे सभी आवश्यक तर्क अर्जुन के समक्ष प्रस्तुत किए, जिनको समझकर प्राप्त परिस्थितियों में स्वबुद्धि से उचित निर्णय लेने में, वह समर्थ हो सके। सभी भौतिक परिस्थितियों के मूल्यांकन में केवल आध्यात्मिक दृष्टिकोण को ही अन्तिम प्रमाण नहीं माना जा सकता। जीवन की प्रत्येक परिस्थिति या चुनौती का मूल्याँकन आध्यात्मिक दृष्टि के साथ–साथ बुद्धि के स्तर पर तर्क, मन के स्तर पर नैतिकता और भौतिक स्तर पर परम्परा और सामाजिक रीति रिवाज की दृष्टि से भी करना आवश्यक है। इन सब के द्वारा बिना किसी विरोधाभास के यदि किसी एक सत्य का संकेत मिलता है, तो निश्चय ही वह दिव्य मार्ग है, जिस पर मनुष्य को प्रत्येक मूल्य पर चलने का प्रयत्न करना चाहिए।

केवल नैतिकता की भावना से युद्ध की ओर देखने से अर्जुन उस परिस्थिति को उचित रूप में समझ नहीं सका। शत्रुपक्ष में खड़े अपने ही बन्धु-बान्धवों को विनष्ट करना नैतिकता के विरुद्ध था। किन्तु भावावेशजनित मन की भ्रमित अवस्था में उसनें अन्य दृष्टिकोणों पर विचार ही नहीं किया, जिससे वह पुनः संयमित हो

सकता था ऐसे अवसर पर जो योग्य है, वही करता हुआ अर्जुन भगवान् कृष्ण की शरण में जाता है। श्रीकृष्ण उसके मार्गदर्शन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर जीवन के सभी दृष्टिकोणों को उसके सामने प्रस्तुत करते हैं। सम्पूर्ण गीता में श्रीकृष्ण मनुष्य को प्राप्त 'विवेकशील बुद्धि' की भूमिका निभाते हैं, जो कठोपनिषद् की भाषा में देहरूपी रथ का योग्य सारथि है।

इस प्रकार आध्यात्मिक, बौद्धिक, नैतिक और पारम्परिक दृष्टियों से विचार करने के पश्चात् पूर्व के श्लोक में भगवान् अर्जुन को युद्ध करने की सम्मति देते हैं। जिस भावना से कर्म करना चाहिए उसका विवेचन इस श्लोक में श्रीकृष्ण ने किया है। शरीरादि अनात्म उपाधियों के साथ तादात्म्य करने से जो चिन्ताएँ, विक्षेप, व्याकुलताएँ होती हैं, उनसे ऊपर उठकर सभी विषम परिस्थितियों में समभाव में स्थित होकर कर्म करना चाहिये।

मन के समत्व भाव में रहने से जीवन की वास्तविक सफलता निश्चित होती है। इसके पूर्व हम देख चुके हैं कि जीवन में किस प्रकार पूर्व संचित वासनाएँ क्षीण हो सकती हैं। जगत में सभी जीव अपनी-अपनी वासनाओं का क्षय करने के लिए ही विभिन्न शरीर धारण किए हुए हैं। इस प्रकार वृक्ष, पशु अथवा मनुष्य सभी वासनाओं के भण्डार हैं।

सब परिस्थितियों में समभाव में स्थित हुआ मन वासनाओं के निस्सारण का मार्ग बनता है। यह द्वार जब अहंकार और स्वार्थ से अवरुद्ध होता है, तब वासना-क्षय के स्थान पर असंख्य नयी वासनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। द्वन्द्वों के कारण हुआ विक्षेप अहंकार के जन्म और वृद्धि का कारण है। कर्मयोग की भावना से कर्म करते हुए जीवन जीने पर अन्तःकरण की शुद्धि प्राप्त होती है। इस कर्मयोग का विस्तृत विवेचन गीता के तृतीय अध्याय में है।

तत्वज्ञान और सामान्यजन की दृष्टि से विचार करने के पश्चात् भगवान् अर्जुन को कर्मयोग की भावना से युद्ध करने का उपदेश देते हैं। तत्वज्ञान को समझ कर उसे जीवन में जीना ही व्यावहारिक धर्म है।

इसके पश्चात् इस अध्याय में वेदान्त ज्ञान का व्यवहार में उपयोग करने के उपायों एवं साधनों का निरूपण किया है। भगवान् कहते हैं :

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु ।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

हे पार्थ ! तुम्हें सांख्य विषयक ज्ञान कहा गया और अब इस (कर्म) योग से सम्बन्धित ज्ञान को सुनो जिस ज्ञान से युक्त होकर तुम कर्मबन्ध का नाश कर सकोगे ॥३९॥

जिस प्रामाणिक "विचार एवं युक्ति के द्वारा पारमार्थिक सत्य का ज्ञान होता है," उसे सांख्य कहते हैं, जिसका उपदेश भगवान् प्रारम्भ में ही कर चुके हैं। इस ज्ञान को प्राप्त करने से शोक मोह रूप संसार की पूर्ण निवृत्ति हो जाती है। अब श्रीकृष्ण कर्मयोग अथवा बुद्धियोग के विवेचन का आश्वासन अर्जुन को देते हैं।

अनेक लोग "कर्म के नियम" को भूलवश 'भाग्यवाद' समझ लेते हैं; किन्तु "धर्म का नियम" हिन्दू धर्म का एक आधारभूत सिद्धान्त है और इसलिए हिन्दू जीवन-पद्धति का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के लिये इस नियम का यथार्थ ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। यदि एक वर्ष पूर्व मद्रास में श्री रमण राव के किए अपराध के लिए आज मुझे दिल्ली में न्यायिक दण्ड मिलता है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि उस अपराधी रमण राव और आज के सन्त चिन्मय में कुछ समानता होनी चाहिए ! कानून के लम्बे हाथ, यह पहचान कर कि अपराधी रमण राव ही चिन्मय है, दिल्ली पहुँचकर मुझे दण्ड देते हैं !!

इसी प्रकार प्रकृति का न्याय अकाट्य है–पूर्ण है। इसलिए हिन्दू मनीषियों ने यह स्वीकार किया कि वर्तमान में हम जो कष्ट भोगते हैं, उनका कारण भूतकाल में किसी देश विशेष और देह-विशेष में किये हुए हमारे अपराध ही हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि पूर्वकाल का पापी और वर्तमान का कष्ट भोगने वाला 'कोई' एक ही होना चाहिए। इसी को शास्त्र में जीव (मन और बुद्धि) कहा है।

इच्छापूर्वक किया गया प्रत्येक धर्म कर्त्ता के मन पर अपना संस्कार छोड़ता जाता है, जो कर्त्ता के उद्देश्य के अनुरूप ही होता है। इन संस्कारों को ही वासना कहते हैं, जिनकी निवृत्ति के लिए प्रत्येक जीव विशिष्ट देश, काल और परिस्थिति में जन्म लेता है। पूर्व संचित कर्मों के अनुसार सभी जीवों को दुःख कष्ट आदि भोगने पड़ते हैं। मन पर पापों के चिह्नांकन पश्चाताप पूरित क्षणों में अश्रुजल से ही प्रच्छालित किये जा सकते हैं। परिस्थितियाँ मनुष्य को रुलाती नहीं वरन् उसकी स्वयं की 'पापपूर्ण प्रवृत्तियाँ' ही शोक का कारण होती हैं। शुद्धान्तःकरण वाले व्यक्ति के लिए फिर दुःख का कोई निमित्त नहीं रह जाता।

हमारे पास किसी संगीत का ध्वनि-मुद्रित रेकार्ड होने मात्र से हम संगीत नहीं सुन सकते। जब रेकार्ड प्लेयर पर उसे रखकर सुई का स्पर्श होता है, तभी संगीत सुनाई पड़ता है। इसी प्रकार मन में केवल वासनाएँ होने से ही दुःख या सुख

का अनुभव नहीं होता; किन्तु अहंकार की सुई का स्पर्श पाकर बाह्य जगत् में जब वे कर्म के रूप में व्यक्त होती हैं, तभी विविध प्रकार के फलों की प्राप्ति का अनुभव होता है।

∴ पूर्व श्लोक में वर्णित समभाव में स्थित हुआ पुरुष सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय रूपी द्वन्द्वों से ऊपर उठकर निजानन्द में रमता है। जिस मात्रा में शरीर, मन और बुद्धि के साथ हमारा तादात्म्य निवृत्त होता जायेगा उसी मात्रा में यह कर्त्तव्य का अहंकार भी नष्ट होता जायेगा; और अन्त में अहंकार के अभाव में किसके लिए कर्मफल बाकी रहेंगे ? अर्थात् कर्म एवं कर्मफल सभी समाप्त हो जाते हैं।

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त कोई नया और मौलिक नहीं था। उन्होंने ईसा के जन्म के पाँच हजार वर्ष पूर्व के प्राचीन सिद्धान्त का केवल नवीनीकरण करके मृतप्राय धर्म को पुनर्जीवित किया, जो सहस्रों वर्षों बाद आज भी हमारे लिये आनन्द का संदेश लिए खड़ा है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

इसमें क्रमनाश और प्रत्यवाय दोष नहीं है। इस धर्म (योग) का अल्प अभ्यास भी महान् भय से रक्षण करता है ॥४०॥

क्रमनाश — जिस प्रकार कृषि क्षेत्र में फसल पाने के लिए भूमि जोतना, सींचना, बीज बोना, निराई सुरक्षा और कटाई आदि क्रम का पालन करना पड़ता है, अन्यथा हानि उठानी पड़ती है उसी प्रकार वेदों के कर्मकाण्ड में वर्णित यज्ञयागादि के अनुष्ठान में भी क्रमानुसार क्रिया विधि न करने पर यज्ञ का फल नहीं मिलता। इतना ही नहीं, यदि वेद प्रतिपादित कर्मों को न किया जाय तो वह प्रत्यवाय दोष कहलाता है, जिसका अनिष्ट फल कर्त्ता जीव को भोगना पड़ता है। लौकिक फल प्राप्ति में यही बातें देखी जाती हैं। भौतिक जगत में भी इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं जैसे गलत औषधियों के प्रयोग से रोगी को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता है।

कर्म क्षेत्र में इन दोषों के होने से हमें इष्टफल नहीं मिल पाता। भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ मानो इस ज्ञान का विज्ञापन करते हुए कर्मयोग का उपर्युक्त दोनों दोषों से सर्वथा मुक्त और सुरक्षित होने का आश्वासन देते हैं।

अब इस ज्ञान का स्वरूप बताते हैं :

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

हे कुरुनन्दन ! इस (विषय) में निश्चयात्मक बुद्धि एक ही है, अज्ञानी पुरुषों की बुद्धियाँ (संकल्प) बहुत भेदोवाली और अनन्त होती हैं ॥४१॥

कर्मयोग के साधन से आत्मसाक्षात्कार की सर्वोच्च उपलब्धि केवल इसलिये सम्भव है कि साधक दृढ़ निश्चय और एकाग्र चित्त से इसका अभ्यास करता है। जो लोग फल प्राप्ति की असंख्य इच्छाओं से प्रेरित हुए कर्म करते हैं, उनका व्यक्तित्व बिखरा हुआ रहता है और इस कारण एकाग्र चित्त होकर वे किसी भी क्षेत्र में सतत कार्य नहीं कर सकते, जिसका एक मात्र परिणाम उन्हें मिलता है–विनाशकारी असफलता।

इस श्लोक में संक्षेप में सफलता का रहस्य बताया गया है। निश्चयात्मक बुद्धि से कार्य करने पर किसी भी क्षेत्र में निश्चय ही सफलता मिलती है। परन्तु सामान्यतः, लोग असंख्य इच्छाएँ करते हैं, जो अनेक बार परस्पर विरोधी होती हैं और स्वाभाविक ही उन्हें पूर्ण करने के प्रयत्न में मन की शक्ति को खोकर थक जाते हैं। इसे ही 'संकल्प विकल्प' का खेल कहते हैं, जो मनुष्य की सफलता के समस्त अवसरों को लूट ले जाता है।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

हे पार्थ। अविवेकी पुरुष वेदवाद में रमते हुए जो यह पुष्पिता (दिखावटी शोभा की) वाणी बोलते हैं, "इससे (स्वर्ग से) बढ़कर और कुछ नहीं है।" ॥४२॥

कामनाओं से युक्त, स्वर्ग को ही श्रेष्ठ मानने वाले लोग भोग और ऐश्वर्य को प्राप्त कराने वाली अनेक क्रियाओं को बताते हैं जो (वास्तव में) जन्मरूप कर्मफल को देने वाली होती हैं ॥४३॥

उससे (वाणी से) जिनका चित्त हर लिया गया है, ऐसे भोग और ऐश्वर्य में आसक्ति रखने वाले पुरुषों के अन्तःकरण में निश्चयात्मक बुद्धि नहीं होती अर्थात् वे ध्यान का अभ्यास करने योग्य नहीं होते । ।।४४।।

महर्षि व्यास ऐसे पहले साहसी क्रान्तिकारी थे, जिन्होंने अपने काल में अत्यन्त शोचनीय पतन की स्थिति से हिन्दू संस्कृति का पुनरुत्थान किया । क्रान्ति का वह ग्रन्थ गीता है, जिसकी रचना उन्होंने की । अपने काल की स्थितियों की उनके द्वारा की गयी तीव्र आलोचना भगवान् के इन शब्दों में स्पष्ट होती है जहाँ श्रीकृष्ण वेदों के कर्मकाण्ड को 'पुष्पिता वाणी' कहते हैं । कर्मकाण्ड की तीव्र आलोचना करने में व्यासजी के साहस को समझने के लिये, हमें उस काल के पुरोगामी पारम्परिक वातावरण की कल्पना करनी होगी, हमें मानसिक रूप से उस काल में रहना होगा ।

वेदों का कर्मकाण्ड उन लोगो के लिये है, जो विषयोपभोग और ऐश्वर्य में अत्यन्त आसक्त हैं – कर्मफल पाने की इच्छा और चिन्ता के कारण जिनकी सदसद् विवेक की क्षमता खो गयी है । सर्वोच्च साध्य को भूलकर साधनभूत कर्मों में ही वे लिप्त रहते हैं ।

वेदोक्त कर्मों को अत्यन्त परिश्रम पूर्वक करना पड़ता है, तब मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग के रूप में उनका फल प्राप्त होता है; जहाँ अलौकिक विषयों का उपभोग किया जा सकता है । इन सब प्रयत्नों में कामनाओं और चिन्ताओं आदि के कारण व्यक्तित्व के विकास के लिये अवसर नहीं मिलता, इसलिये, व्यासजी का विचार है कि अध्यात्म की दृष्टि से ये सकाम कर्म निरर्थक हैं । कर्मकाण्ड में आसक्त पुरुष जीवन के परम साध्य को भूलकर साधन में ही फंसा रह जाता है ।

अनन्त स्वरूप परम सत्य के प्रतिपादक के रूप में श्रीकृष्ण उन लोगों की हँसी उड़ाते हैं, जो साधन को ही साध्य मानने की त्रुटि करते हैं । कर्मकाण्ड में ही उपदिष्ट केवल कर्त्तव्यकर्म के पालन से चित्त शुद्धि एवं एकाग्रता प्राप्त होती है और इस प्रकार, ध्यान का अभ्यास करने की योग्यता पाकर उपनिषदों में निरूपित निदिध्यासन के द्वारा आत्मा का अपरोक्ष अनुभव प्राप्त होता हैं, जो जीवन का वास्तविक साध्य है । कर्म में ही रत पुरुषों को जीवन में कभी शान्ति नहीं मिलती ।

अविवेकी कामी पुरुषों को क्या फल मिलता है ? भगवान् कहते हैं:

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्य सत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।।४५।।

हे अर्जुन ! वेदों का विषय तीन गुणों से सम्बन्धित (संसार से) है; तुम त्रिगुणातीत, निर्द्वन्द्व, नित्य सत्त्व (शुद्धता) में स्थित, योगक्षेम से रहित और आत्मवान् बनो ।।४५।।

विभिन्न अनुपातों में सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के संयोग से प्राणियों का निर्माण हुआ है। अन्तःकरण (मन और बुद्धि) इन गुणों का ही कार्य है। तीन गुणों के परे जाने का अर्थ है, मन के परे जाना । तांबा, जस्ता और टिन से निर्मित किसी मिश्र धातु का पात्र बना हो और यदि उसमें से इन तीनों धातुओं को विलग करने के लिए कहा जाय तो उसका अर्थ उस पात्र को ही नष्ट करना होगा। उपनिषद् साधक को मन के परे जाने का उपदेश देते हैं; जिससे साधक के आत्मस्वरूप से ईश्वर का परिचय होगा। उपनिषदों के इस स्पष्ट उपदेश को यथार्थ में नहीं समझनें के कारण अनेक हिन्दू लोग अपने धर्म से अलग हो गये, और इसलिये गीता में पुनर्जागरण का यह आह्वान किया गया । औपनिषदिक अर्थ को ही यहां दूसरें शब्दों में कहा : "अर्जुन, तुम त्रिगुणातीत बनो।"

यदि कोई चिकित्सक किसी रोगी के लिए ऐसी औषधि लिख देता है, जो विश्व में कहीं भी उपलब्ध न हो, तो उस चिकित्सक का लिखा उपचार व्यर्थ है। इसी प्रकार, आत्मसाक्षात्कार के लिएं त्रिगुणों के परे जानें का उपदेश भले ही श्रेष्ठ हो, परन्तु कौन सी साधना के अभ्यास सें उसे सम्पादन किया जायं, इसका स्पष्टीकरण यदि नहीं किया गया है, तो वह उपदेश निरर्थक है, ज्ञान, क्रिया और निष्क्रियता ये क्रमशः सत्त्व, रज और तमोगुण के लक्षण हैं।

इस श्लोक की दूसरी पंक्ति में त्रिगुणों के ऊपर उठकर असीम आनन्द में स्थित होने की साधना बतायी गयी है। पूर्व उपदिष्ट समत्व भाव का ही उपदेश यहाँ दूसरे शब्दों में किया गया है।

परस्पर भिन्न एवं विपरीत लक्षणों वाले सुख-दुःख, शीत-उष्ण, लाभ-हानि इत्यादि जीवन के द्वंद्वात्मक अनुभव हैं। इन सब में समभाव में रहने का अर्थ ही निर्द्वन्द्व होना है – इनसे मुक्त होना है। यही उपदेश श्रीकृष्ण अर्जुन को दे रहे हैं। नित्यसत्त्वस्थ – तीनों गुणों में सत्त्वगुण सूक्ष्मतम एवं स्वभाव से शुद्ध है; तथापि शोकात्मक रजोगुण और मोहात्मक तमोगुण के सम्बन्ध से उसमें अशुद्धि आ जाती है। मोह का अर्थ है–वस्तु को यथार्थ रूप में न पहचानना (आवरण) जिसके कारण वस्तु का अनुभव किसी अन्य रूप में ही होता है, जिसे विक्षेप कहते हैं और जिसका परिणाम है–शोक। अतः सत्वगुण में स्थित होने का अर्थ विवेकजनित शान्ति में स्थित होना है। सत्वस्थ बनने के लिए सतत सजग प्रयत्न की अपेक्षा है। नियोंगक्षेम–यहाँ योग का अर्थ "अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करना" और "प्राप्त वस्तु के रक्षण" का नाम है–क्षेम। मनुष्य के सभी प्रयत्न योग और क्षेम के लिए होते हैं। अतः इन दो शब्दों में विश्व के सभी प्राणियों कें कर्म समाविष्ट हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि अहंकार और स्वार्थ से प्रेरित कर्मो का निर्देश योग और क्षेम के द्वारा किया

गया है। मनुष्य की चिन्ताओं और विक्षेपों का कारण भी ये दो ही हैं। निर्योगक्षेम बनने का अर्थ है इन दोनों को त्याग देना जिससे चिन्ताओं से मुक्ति तत्काल ही मिलती हैं।[1]

निर्द्वन्द्व और निर्योगक्षेम बनने का उपदेश देना सरल है; किन्तु साधक के लिए तत्वज्ञान का उपयोग तभी है, जब इस ज्ञान को जीवन में उतारने की व्यावहारिक विधि का भी उपदेश दिया गया हो। इस श्लोक में ऐसी विधि का निर्देश–"आत्मवान् भव" इन शब्दों में किया गया है। द्वन्द्वों तथा योगक्षेम के कारण उत्पन्न दुःख और पीड़ा केवल तभी सताते हैं, जब हमारा तादात्म्य शरीर, मन और बुद्धि के साथ होकर अहंकार और स्वार्थ की अधिकता होती है।

इन अनात्म उपाधियों के साथ विद्यमान तादात्म्य को छोड़कर इनसे भिन्न अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप के प्रति सतत जागरूक रहने का अभ्यास ही "आत्मवान" अर्थात् आत्मस्वरूप में स्थित होने का उपाय है। इसकी सिद्धि होने पर अहंकार नष्ट हो जाता है और वह साधक त्रिगुणों के परे आत्मा में स्थित हो जाता है। ऐसे सिद्ध पुरुष को वेदों का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। वास्तव में, ज्ञानी पुरुष के होने के कारण वेदवाक्यों का प्रामाण्य सिद्ध होता है।

यदि वैदिक यज्ञों के फलों की कामना त्यागनी चाहिये, तो उनका अनुष्ठान किस लिये करें? इसका उत्तर है:

---

१. निर्योगक्षेम का त्रुटिपूर्ण अर्थ लगाकर कहीं हम यह न समझ लें कि हमें अपने रहन-सहन के स्तर को तथा सामाजिक आदि परिस्थितियों को सुधारने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। शास्त्रों के अज्ञान और विपरीत ज्ञान के कारण हिन्दू लोग अपने राष्ट्रीय और सामाजिक कर्तव्यों से विमुख हो गये और जिस अपराध का एकमात्र परिणाम हुआ–सम्पूर्ण पतन। इस शब्द के वाक्यार्थ से यह प्रतीत होगा कि 'हिन्दू धर्म कायर लोगों द्वारा कायरों के लिये दिया गया कायरता का धर्म है।' किन्तु भारत का इतिहास इस-धारणा को गलत सिद्ध करता है। निर्योगक्षेम का वास्तविक तात्पर्य योगक्षेम के कारण उत्पन्न होने वाली चिन्ताओं के त्याग से है न कि प्रयत्नों का त्याग।

जैसा कि मैंने पहले कहा है, गीता का अध्ययन महाभारत की पृष्ठिभूमि में करना चाहिये। कर्तव्य से विमुख, शोकाकुल अर्जुन को अपने कर्म में प्रवृत्त करने वाली गीता में अकर्मण्यता अथवा कर्तव्यविमुखता का उपदेश कैसे दिया जा सकता है?

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६ ॥

सब ओर से परिपूर्ण जलराशि के होने पर मनुष्य का छोटे जलाशय में जितना प्रयोजन रहता है, आत्मज्ञानी ब्राह्मण का सभी वेदों में उतना ही प्रयोजन रहता है ॥४६॥

जलराशि का जो सुन्दर दृष्टान्त यहाँ दिया गया है वह सन्दर्भ को देखते हुए अत्यन्त समीचीन है । भीषण गर्मियों के दिनों में सरिताओं के सूख जाने पर समीप के किसी कुएँ से ही जल लेने लोगों को जाना पड़ता है । यद्यपि पैरों के नीचे, पृथ्वी के गर्भ में जल स्रोत रहता है, परन्तु वह उपयोग के लिए उपलब्ध नहीं होता । वर्षा ऋतु में सर्वत्र नदियों में बाढ़ आने पर छोटे-छोटे जलाशय उसी में समा जाते हैं और तब उनका अलग से न अस्तित्व होता है और न प्रयोजन ।

उसी प्रकार, जब तक मनुष्य अपने आनन्दस्वरूप को पहचानता नहीं, तब तक मोहवश विषयों में ही वह सुख की खोजा करता है । उस समय वेद अर्थात् कर्मकाण्ड उसे अत्यन्त उपयोगी प्रतीत होते हैं, क्योंकि उसमें स्वर्गादि सुख पाने के अनेक साधन बताये हैं । परन्तु जब एक जिज्ञासु साधक उपनिषद् प्रतिपादित आनन्द-स्वरूप आत्मा का अपरोक्ष रूप से ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब उसे कर्मकाण्ड में कोई प्रयोजन नहीं रह जाता । उपभोगजन्य सभी छोटे-छोटे सुख उसके आनन्दस्वरूप में ही समाविष्ट होते हैं ।

इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि व्यास जी द्वारा यहाँ वेदों के कर्मकाण्ड की निन्दा की गई है । जो अविवेकी लोग साधन को ही साध्य समझ लेते हैं और अनन्त की प्राप्ति की आशा अनित्य कर्मों के द्वारा करते हैं, गोपाल कृष्ण उनको इस प्रकार प्रताड़ित कर रहे हैं ! फलासक्ति न रखकर किये गये कर्मों से मनुष्य का व्यक्तित्व विकसित होता है और ऐसे शुद्ध अन्तःकरण वाले मनुष्य को अनन्त, असीम आत्मतत्व का अनुभव सहज सुलभ हो जाता है । तत्पश्चात् उसे अनित्य सुखों का कोई आकर्षण नहीं रह जाता ।

वेद हमें अपने ही शुद्ध चैतन्य स्वरूप का बोध कराते हैं । जब तक अविद्या-युक्त अहंकार का अस्तित्व है, तब तक वेदाध्ययन की आवश्यकता अपरिहार्य है । आत्मबोध के होने पर उस ज्ञानी पुरुष के कारण वेदों का भी प्रामाण्य सिद्ध होता है । गणित की सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त कर लेने पर उस व्यक्ति को पहाड़े रटने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि उसके पूर्ण ज्ञान में इस प्रारम्भिक ज्ञान का समा-वेश रहता है ।

जहाँ तक तुम्हारा सम्बन्ध है :

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

कर्म करने मात्र में तुम्हारा अधिकार है, फल में कभी नहीं । तुम कर्मफल के हेतु वाले मत होना और अकर्म में भी तुम्हारी आसक्ति न हो ॥४७॥

वेद प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार ईश्वरार्पण बुद्धि और निष्काम भाव से किये गये कर्म अन्तःकरण को शुद्ध करते हैं । आत्मबोध के पूर्व चित्तशुद्धि होना अनिवार्य है । गीता में इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए विशद विवरण में वैयक्तिक और सामाजिक सभी कर्मों का समावेश कर लिया गया है, जबकि वेदों में कर्म से तात्पर्य यज्ञयागादि धार्मिक विधियों से ही था ।

अपरिपक्व बुद्धि से तत्त्वज्ञान जैसा गम्भीर विषय समझ में नहीं आ सकता । पर्याप्त विचार किए बिना उपर्युक्त श्लोक का अर्थ असंभव ही प्रतीत होगा । अधिक-से-अधिक, कोई यह मान लेगा कि उस काल में दरिद्र को दरिद्र ही रखने में और धनवान को उन पर अत्याचार करने की धार्मिक अनुमति इस श्लोक में दी गई है ! केवल बौद्धिक विचार करने वाले व्यक्ति को 'फलासक्ति न रखकर कर्म करने' का आदर्श अव्यावहारिक और असंभव प्रतीत होगा । परन्तु वही व्यक्ति, अध्ययन के पश्चात् अपने कर्मक्षेत्र में इसका पालन करके देखे, तो उसे यह ज्ञात होगा कि जीवन में वास्तविक सफलताओं को प्राप्त करने की यही एक मात्र कुंजी है ।

इसके पूर्व "प्रेरणा का जीवन" जीने की जो कला कर्मयोग के रूप में बतायी गयी थी, उसी की शिक्षा यहाँ श्रीकृष्ण पुनः अर्जुन को दे रहे हैं । अनुचित संकल्प-विकल्प जीवन के विष हैं । जीवन में सभी असफलताओं का मूल मन:स्थिरता के अभाव में निहित है, जो सामान्यतः भविष्य में संभाव्य हानि के भय की कल्पना मात्र का परिणाम होता है । हममें से अधिकांश लोग असफलता के भय से महान् कार्य को अपने हाथों में लेना ही स्वीकार नहीं करते और जो कोई थोड़े लोग ऐसा साहस करते भी हैं, तो अल्पकाल के बाद निरुत्साहित होकर उस कार्य को अपूर्ण ही छोड़ देते हैं । इसका कारण एक ही है—मन की शक्ति का अपव्यय । इस अपव्यय के परिहार का एक मात्र उपाय है—किसी श्रेष्ठ आदर्श के प्रति सब कर्मों का समर्पण । प्रेरणा युक्त इन कर्मों की परिसमाप्ति गौरवमयी सफलता में ही होती है । यह कर्म का सनातन नियम है ।

भविष्य का निर्माण सदैव वर्तमान में होता है । आगामी कल की फसल आज

के जोतनें और बीज बोने पर निर्भर है। किन्तु, भविष्य में सम्भावित फसल की हानि की कल्पना करके ही यदि कोई कृषक भूमि जोतने और बीजारोपण के अवसरों को वर्तमान समय में खो देता है, तो यह निश्चित है कि भविष्य में उसे कोई फसल मिलने वाली नहीं। उन्नत भविष्य के लिए वर्तमान समय का उपयोग बुद्धिमत्तापूर्वक करना चाहिये। भूतकाल तो मृत है और भविष्य अभी अनुत्पन्न। वर्तमान में अकुशलता से कार्य करने पर व्यक्ति को भविष्य में किसी बड़ी सफलता की आशा नहीं करनी चाहिये।

इस सुविदित और बोधगम्य मूलभूत सत्य को गीता की भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं कि, "यदि तुम सफलता चाहते हो, तो ऐसे मन से कभी प्रयत्न नहीं करो, जो फल प्राप्ति की चिन्ता एवं भय से बिखरा हुआ हो।" यहाँ, 'कर्मफल' से शास्त्र का क्या तात्पर्य है, इसे सूक्ष्म विचार से समझना आवश्यक और लाभप्रद होगा। सम्यक् विचार करने से यह ज्ञात होगा कि, वास्तव में, कर्मफल स्वयं कर्म से कोई भिन्न वस्तु नहीं है। वर्तमान में किया गया कर्म ही भविष्य में फल के रूप में प्रकट होता है। वास्तविकता यह है कि कर्म की समाप्ति अथवा पूर्णता उसके फल में ही है, जो उससे भिन्न नहीं है। अतः कर्मफल की चिन्ता करके उसी में डूबे रहने का अर्थ है, शक्तिशाली, गतिशील वर्तमान से पलायन करना और अनुत्पन्न भविष्य की कल्पना में बने रहना! संक्षेप में, भगवान् का आह्वान है कि मनुष्य को व्यर्थ की चिन्ताओं में, प्राप्त समय को नहीं खोना चाहिए वरन् बुद्धिमत्तापूर्वक उसका सदुपयोग करना चाहिए। भविष्य का निर्माण अपने आप होगा और कर्मयोगी को प्राप्त होगी श्रेष्ठ आध्यात्मिक उन्नति।

निष्कर्ष यह निकलता है कि अर्जुन को, युद्ध का कारण धर्म पालन जैसा श्रेष्ठ आदर्श है। यह समझ कर अपनी पूरी योग्यता से कर्म में प्रवृत्त होना चाहिये। प्रेरणा युक्त कर्मों का सुफल अवश्य मिलेगा और उसके साथ ही चित्त शुद्धि के रूप में आध्यात्मिक फल भी प्राप्त होगा।

एक सच्चा कर्मयोगी बनने के लिए इस श्लोक में चार नियम बताये गये हैं। जो यह समझता है कि : (क) कर्म करनेमात्र में मेरा अधिकार है ; (ख) कर्मफल की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है ; (ग) किसी कर्म विशेष के एक निश्चित फल का आग्रह या उद्देश्य मन में नहीं होना चाहिए ; और (घ) इन सबका निष्कर्ष यह नहीं कि अकर्म में प्रीति हो, वही व्यक्ति वास्तव में कर्मयोगी है। संक्षेप में, इस उपदेश का प्रयोजन मनुष्य को चिन्तामुक्त बनाकर कर्म करते हुये दैवी आनन्द में निमग्न रहकर जीना सिखाता है। कर्म करना ही उसके लिये सबसे बड़ा पुरस्कार और उपहार है ; श्रेष्ठ कर्म करने के सन्तोष और आनन्द में वह अपने आपको भूल

जाता है। कर्म है साधन और आत्मानुभूति है साध्य।

ईश्वर का स्मरण करते हुए, सभी बाह्य चुनौतियों का तत्परता से सामना करते हुये मनुष्य सरलतापूर्वक शान्ति और वासना क्षय द्वारा चित्त की शुद्धि प्राप्त कर सकता है। जितनी अधिक मात्रा में चित्त में शुद्धि होगी उतनी ही अधिक आत्मानुभूति उसे सुलभ होगी।

यदि कर्मफल की आसक्ति रखकर कर्म न करे तो, फिर उन्हें कैसे करना चाहिये? इसका उत्तर है:

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

हे धनंजय! आसक्ति को त्याग कर तथा सिद्धि और असिद्धि में समभाव होकर योग में स्थित हुए तुम कर्म करो। यह समभाव ही योग कहलाता है ॥४८॥

यहाँ कर्मयोग का ही विशद् विवेचन किया गया है। इस श्लोकार्थ पर विचार करने से ज्ञात होगा कि अहंकार की पूर्ण निवृत्ति के बिना इस मार्ग में सफलता नहीं मिल सकती और उसकी निवृत्ति का उपाय है, मन का समत्व भाव। इस श्लोक में प्रथम बार योग शब्द का प्रयोग किया गया है और यहीं पर उसकी परिभाषा भी दी है कि "समत्व" योग कहलाता है। इस योग में दृढ़ स्थित होने पर ही निष्काम कर्म किये जा सकते हैं।

कर्मयोगी के लिये केवल इतना पर्याप्त नहीं कि सम भाव में रहकर वह कर्म करे, परन्तु इस नित्य परिवर्तनशील जगत में रहते हुए इस समभाव को दृढ़ करने का सतत प्रयत्न करे। इसके लिये उपाय है कर्मों के तात्कालिक फलों के प्रति 'संग' (आसक्ति) का त्याग।

कर्मों को कुशलतापूर्वक करने के लिए जिस 'संग' को त्यागने के लिये यहाँ कहा गया है उस पर हम विचार करेंगे। इसके पूर्व के श्लोकों में श्रीकृष्ण ने जिन आसक्तियों का त्याग करने को कहा था, वे सब 'संग' शब्द से इंगित की गयी हैं अर्थात् विपरीत धारणायें, झूठी आशायें, दिवा स्वप्न, कर्म फल की चिन्तायें, और भविष्य में संभाव्य अनर्थों का भय, इन सबका त्याग करना चाहिये। त्याज्य गुणों की इस सूची को देखकर किसी भी साधनारत सच्चे साधक को यह सब करना असम्भव ही प्रतीत होगा। परन्तु उपनिषदों के सिद्धांतों को ध्यान में रखकर और अधिक विचार करने पर हम सरलता से इस गुत्थी को सुलझा सकेंगे।

उपर्युक्त सभी कष्टप्रद धारणायें एवं गुत्थियाँ भ्रांति जनित अहंकार की ही हैं। यह अहंकार क्या है ? "भूतकाल की स्मृतियों और भविष्य की आशाओं की गठरी।" अतः अहंकारमय जीवन का अर्थ है, मृत क्षणों की श्मशानभूमि अथवा काल के गर्भ में रहना जहाँ अनुत्पन्न भविष्य स्थित है। इनमें व्यस्त रहते हुए वर्तमान समय को हम खो देते हैं, जो हमें कर्म करने और लक्ष्य पाने के लिए उपलब्ध होता है। वर्तमान में प्राप्त सुअवसर रूपी धन का यह मूर्खतापूर्ण अपव्यय है, जिसका संकेत व्यासजी इन शब्दों में करते हैं, "संग त्याग कर, समत्व योग में स्थित हुए तुम कर्म करो।"

वर्तमान की अग्नि में भूत, भविष्य, चिन्ता, भय, आशा इन सबको जलाकर कर्म करना स्फूर्ति और प्रेरणा का लक्षण है। इस प्रकार अहंकार के विस्मरण और कर्म करने में ही पूर्ण आनन्द है। ऐसे कर्म का फल सदैव महान् होता है।

कलाकृति के निर्माण के क्षणों में अपने आप को कृति के आनन्द में निमग्न होकर कार्यरत कलाकार इस तथ्य का प्रमाण है। वैसे इसे समझने के लिये कोई महान् कलाकार होने की आवश्यकता नहीं है। जीवन में किसी कार्य को पूरी लगन और उत्साह से जब हम कर रहे होते हैं; उस समय यदि वहाँ कोई व्यक्ति आकर खड़ा हो जाये, तब भी हमें उसका भान नहीं रहता। आनन्द की उस अनुभूति से नीचे अहंकार के स्तर पर उतर कर आगन्तुक को उत्तर देने में भी हमें कुछ समय लग जाता है।

अहंकार को भूलकर जो कार्य किए जाते हैं, उनमें कर्त्ता को यश अथवा अपयश की कोई चिन्ता नहीं रहती ; क्योंकि फल ही चिन्ता का अर्थ है, भविष्य की चिन्ता, और भविष्य में रहने का अर्थ है, वर्तमान को खोना। स्फूर्त जीवन का आनन्द वर्तमान के प्रत्येक क्षण में निहित होता है। कहा जाता है कि प्रत्येक क्षण का आनन्द स्वयं में 'परिपूर्ण' है। अतः भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को जीवन की सभी परिस्थितियों में समान रहते हुए कर्म करने का उपदेश देते हैं।

योगस्थ होकर किये कर्मों की तुलना में अन्य कर्मों के विषय में भगवान कहते हैं :

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

इस बुद्धियोग की तुलना में (सकाम) कर्म अत्यन्त निकृष्ट हैं, इसलिए हे धनंजय ! तुम बुद्धि की शरण लो ; फल की ही इच्छा करने वाले कृपण (दीन) हैं ॥४९॥

कर्मफल की चिन्ताओं से मुक्त शान्त मन से किया हुआ कर्म निश्चित रूप से चिन्तित क्षुब्ध मन से किए गये कर्म से श्रेष्ठतर होता है। इस श्लोक में प्रयुक्त 'बुद्धि योग' शब्द से कुछ व्याख्याकारों को एक और नया योग गीता में उपदेश किया गया ज्ञात होता है। परन्तु मेरे अपने विचार के अनुसार ऐसा अर्थ खींचतान कर किया प्रतीत होता है। उपनिषदों में अन्तःकरण की निश्चयात्मक वृत्ति को बुद्धि तथा संकल्पात्मक वृत्ति को मन की संज्ञा दी गई है। सन्देह और विक्षेप की स्थिति में वृत्तियों को 'मन' कहते हैं; एकाग्रता, निश्चय एवं शान्ति की स्थिति में अन्तःकरण वृत्ति को 'बुद्धि कहा जाता है। अतः बुद्धियोग का अर्थ हुआ "बुद्धि के निश्चित किये अर्थ में (कार्य में) दृढ़ता से स्थिर होना।" निश्चय ही दृढ़ता, मन का बुद्धि के अनुशासन में रहना तथा अन्तर्बाह्य परिस्थितियों का स्वामी होना, बुद्धियोग के लक्षण हैं। जीवन के परम लक्ष्य को आँखों से ओझल किये बिना प्राप्त कर्तव्यों का पालन ही बुद्धियोग है।

गीता की सामान्य प्रस्तावना, जिसमें व्यक्तित्व का विघटन एवं वासनाक्षय[1] के द्वारा उसके संगठन का विवेचन किया गया है, के प्रकाश में बुद्धियोग का अर्थ यह हो सकता है "साधक का जीवन में बुद्धि के अनुसार रहने का सतत प्रयत्न।" "मन को बुद्धि के अनुशासन में लाकर उसके निर्देशानुसार काम करने के प्रयत्न" को बुद्धि योग कहते हैं। इस प्रकार पूर्वार्जित वासनाओं के क्षय द्वारा अहंकार का नाश होता है और उसके नाश का अर्थ है बुद्धियोग में स्थिति। अतः यहाँ अर्जुन को बुद्धि की शरण में जाने का उपदेश दिया गया है।

बुद्धियोग का आश्रय ग्रहण करने में एक प्रबल कारण है। यदि मन की प्रवृत्तियों के अनुसार ही कर्म करते रहें, तो चित्त में असंख्य विक्षेप तो उत्पन्न होते ही हैं, परन्तु साथ ही नयी-नयी वासनाओं का संचय भी होता है, जिनका सघन आवरण आत्मस्वरूप पर पड़ता है। भगवान् ऐसे लोगों को 'कृपण' कहते हैं। वास्तव में वे ही दीन हैं। इसके विपरीत बुद्धि योग में स्थित साधक निःस्वार्थ भाव से कर्म करता हुआ वासनाओं के आवरण को नष्ट कर निर्मल मन से आत्मस्वरूप का साक्षात् अनुभव करता है।

अब, समभाव में रहकर कर्त्तव्य पालन करने वाले को क्या फल मिलता है वह जानो :

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

---

१. देखिए प्रस्तावना, आकृति 'क' और 'ख'

समत्वबुद्धि युक्त पुरुष यहाँ (इस जीवन में) पुण्य और पाप इन दोनों कर्मो को त्याग देता है, इसलिये, तुम योग से युक्त हो जाओ। कर्मों में कुशलता योग है ।।५०।।

भावनाओं की दुर्बलताओं से ऊपर उठकर जो पुरुष समत्व बुद्धियुक्त हो जाता है, वह पाप और पुण्य दोनों के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। पाप और पुण्य मन की धारणाएँ हैं और उनकी प्रतिक्रियाएँ मन पर वासनाओं के रूप में अंकित होती हैं। मनरूपी विक्षुब्ध समुद्र के साथ जो व्यक्ति तादात्म्य नहीं करता, वह वासनाओं की ऊँची ऊँची तंरगों के द्वारा न तो ऊपर फेंका जायेगा और न नीचे ही डुबोया जायेगा। यहाँ वर्णित मन का बुद्धि के साथ युक्त होना ही 'बुद्धियुक्त' शब्द का अर्थ है,

इस सम्पूर्ण प्रकरण में गीता का मानव मात्र को आह्वान है कि वह केवल इन्द्रियों के विषय, स्थूल देह और मन के स्तर पर ही न रहे, जो उसके व्यक्तित्व का बाह्यतम पक्ष हैं। इनसे सूक्ष्मतर बुद्धि का उपयोग कर उसको अपने वास्तविक पुरुषत्व को व्यक्त करना चाहिये। प्राणियों की सृष्टि में केवल बौद्धिक क्षमताओं के कारण ही मनुष्य को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। जब तक मनुष्य प्रकृति के इस विशिष्ट उपहार का सम्यक् प्रकार से उपयोग नहीं करता तब तक वह अपने मनुष्यत्व के अधिकार से वंचित ही रह जाता हैं।

अर्जुन से मानसिक उन्माद त्यागकर वीर पुरुष के समान परिस्थितियों का स्वामी बनकर रहने क लिये भगवान् कहते हैं। उस समय अर्जुन इतना दुर्बल और भावुक हो गया था कि वह अपनी एवं अन्यों की शारीरिक सुरक्षा आदि की चिन्ता करने लगा था। विकास की सीढ़ी पर मनुष्यत्व को प्राप्त कर, जो अपनी विशेष क्षमताओं का पूर्ण उपयोग करता है, वही व्यक्ति जन्मजन्मान्तरों में अर्जित वासनाओं के बन्धन से मुक्त हो जाता है। "इसलिये, तुम योग से युक्त हो जाओ" – यह भगवान् श्रीकृष्ण का उपदेश है इसके पूर्व समत्व को योग कहा गया था। अब, इस सन्दर्भ में व्यास जी योग की और विशद परिभाषा देते है कि "कर्म में कुशलता योग है।"

किसी भी विषय के शास्त्रीय ग्रन्थ में यदि भिन्न-भिन्न अध्यायों में एक ही शब्द की विभिन्न परिभाषाएँ दी हों, तो समझने में कठिनाई और भ्रान्ति होगी। फिर, धर्म के इस शास्त्रीय ग्रन्थ में एक ही शब्द की विभिन्न परिभाषाएं कैसे बताई हुई हैं? उपर्युक्त परिभाषा को ठीक से समझने पर इस समस्या का स्वयं समाधान हो जायगा। योग की पूर्वोक्त परिभाषा यहाँ भी संग्रहीत है, अन्यथा "मन के समभाव" का अर्थ अकर्मण्यता एवं शिथिलता उत्पन्न करने वाली मन की समता को

हीं कोई समझ सकता है। इस श्लोक में ऐसी त्रुटिपूर्ण धारणा को दूर करते हुए कहा गया है कि समस्त प्रकार के द्वन्द्वों में मन के सन्तुलन को न खोकर कुशलता पूर्वक कर्म करना ही कर्मयोग है।

इस श्लोक के स्पष्टीकरण से श्रीकृष्ण का उद्देश्य ज्ञात होता है कि कर्मयोग की भावना से कर्म करने पर वासनाओं का क्षय होता है। वासनाओं के दबाव से ही मन में विक्षेप उठते हैं। किन्तु वासना क्षय के कारण मन स्थिर और शुद्ध होकर मनन, निदिध्यासन और आत्मानुभूति के योग्य बन जाता है।

योग शब्द का इस अर्थ में प्रयोग कर व्यासजी हमारे मन से उसके प्रति व्याप्त भ्रांति को दूर कर देते हैं।

समत्व भाव एवं कर्म में कुशलता की क्या आवश्यकता है ? उत्तर में कहते हैं:

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।।५१।।

बुद्धियोगयुक्त मनीषी लोग कर्मजन्य फलों को त्यागकर जन्मरूप बन्धन से मुक्त हुए अनामय अर्थात् निर्दोष पद को प्राप्त होते हैं ।।५१।।

योगयुक्त बनने के उपदेश को सुनकर अर्जुन के मन में प्रश्न उठा कि आखिर समभाव से उसको कर्म क्यों करने चाहिये। भगवान् इस प्रश्न का कुछ पूर्वानुमान कर इस श्लोक में उसका उत्तर देते हैं। बुद्धियुक्त मनीषी का अर्थ है, वह पुरुष जो जीने की कला को जानता हुआ, फल की चिन्ताओं से मुक्त होकर मन के पूर्ण सन्तुलन को बनाये हुए सभी कर्म करता है। दूसरे शब्दों में, अहंकार और स्वार्थ से रहित व्यक्ति ही मनीषी कहलाता है।

मन के साथ तादात्म्य से अहंकार उत्पन्न होता है और फलासक्ति के कारण बन्धनों में फँस जाता है। जीवन में उच्च लक्ष्य को रखने पर ही अहंकार और स्वार्थ का त्याग संभव है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।।५२।।

जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूप दलदल (कलिल) को तिर जायेगी तब तुम उन सब वस्तुओं से निर्वेद (वैराग्य) को प्राप्त हो जाओगे, जो सुनने योग्य और सुनी हुई हैं ।।५२।।

मोह निबृत्ति होने पर वैराग्य प्राप्ति का आश्वासन यहाँ अर्जुन को दिया गया है। श्रोतव्य शब्द से तात्पर्य उन सभी विषयोपभोगों से है, जिनका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया है तथा 'श्रुत' शब्द से सभी ज्ञात अनुभव सूचित किये गये हैं। यह स्वाभाविक है कि बुद्धि के शुद्ध होने पर विषयोपभोग में कोई राग नहीं रह जाता।

स्वरूप से दिव्य होते हुए भी चैतन्य आत्मा मोहावरण में फँसी हुई प्रतीत होती है। इस मोह का कारण है एक अनिर्वचनीय शक्ति–माया। अव्यक्त विद्युत के समान माया भी प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होती, परन्तु विभिन्न रूपों में उसकी अभिव्यक्ति से उसका अस्तित्व सिद्ध होता है।

सभी जीवों की संरचना में माया के कार्य के निरीक्षण एवं अध्ययन से वेदान्त के आचार्यों ने यह पाया कि मनुष्य के व्यक्तित्व के दो स्तरों पर माया की अभिव्यक्ति दो प्रकार से होती है। बुद्धि पर आत्मस्वरूप के अज्ञान के रूप में जिसे वेदान्त में माया की 'आवरण शक्ति' कहा गया है। बुद्धि पर पड़े इस अज्ञान आवरण के कारण मन अनात्म जगत् की कल्पना करता है और उस जगत् के विषय में उसकी दो धारणाएँ दृढ़ होती हैं कि (क) "यह सत्य है" और (ख) "यह अनात्मा (देह आदि) ही मैं हूँ।" मन के स्तर पर कार्य करने वाली माया की यह शक्ति "विक्षेप शक्ति" कहलाती है।

इस श्लोक में कहा है कि कर्मयोग की भावना से कर्म करते रहने पर बुद्धि की शुद्धि होती है और तब उसके लिये सम्भव होता है कि आवरण को हटाकर आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कर सके। इसप्रकार मोहनिवृत्ति का परिणाम है, विषयोपभोग से वैराग्य। परन्तु आत्म अज्ञान के होने पर मनुष्य विषयों से ही सुख पाने की आशा में दिन रात परिश्रम करता रहता है।

शीत ऋतु में बादलों से सूर्य के आच्छादित होने पर मनुष्य अग्नि जलाकर उसके समीप बैठता है, किन्तु धीरे-धीरे बादलों के हट जाने पर सूर्य की उष्णता का अनुभव कर वह अग्नि के पास से उठकर धूप का आनन्द लेता है। वैसे ही, आनन्दस्वरूप के अज्ञान के कारण विषयों को पाने के लिए चल रही मनुष्य की भाग-दौड़ स्वतः समाप्त हो जाती है, जब वह स्वस्वरूप को पहचान लेता है।

यहाँ सम्पूर्ण जगत् का निर्देश 'श्रुति' और 'श्रोतव्य' इन दो शब्दों से किया गया है। इसमें सभी इन्द्रियों द्वारा ज्ञात होने वाले विषय समाविष्ट हैं। कर्मयोगी की बुद्धि न तो पूर्वानुभूत विषय सुखों का स्मरण करती है और न ही भविष्य में प्राप्त होने वाले अनुभवों की आशा।

भाष्यकार भगवान् शंकराचार्य अगले श्लोक की संगति बताते हैं कि "यदि

तुम्हारा प्रश्न हो कि मोहावरण भेदकर और विवेक जनित आत्मज्ञान को प्राप्तकर कर्मयोग के फल–परमार्थयोग को तुम कब पाओगे, तो सुनो" :

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

जब अनेक प्रकार के विषयों को सुनने से विचलित हुई तुम्हारी बुद्धि आत्म–स्वरूप में अचल और स्थिर हो जायेगी तब तुम (परमार्थ) योग को प्राप्त करोगे ॥५३॥

जब पांचो ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण करने पर भी जिसकी बुद्धि अविचलित रहती है, तब उसे योग में स्थित समझा जाता है। सामान्यतः इन्द्रियों के विषय ग्रहण के कारण मन में अनेक विक्षेप उठते हैं। योगस्थ पुरुष का मन इन सब में निश्चल रहता है। उसके विषय में आगे स्थितप्रज्ञ के लक्षण और अधिक विस्तार से बताते हैं।

अनेक व्याख्याकार इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं कि, "जब विभिन्न दार्श–निकों के परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले सिद्धान्तों को सुनकर, जिसकी बुद्धि विच-लित नहीं होती, वह योग में स्थित हुआ समझा जाता है।"

अब तक के प्रस्तुत किये गये तर्कों से इस विषय में अर्जुन की रुचि बढ़ने लगती है और उन्माद का प्रभाव कम होने लगता है। अपने विषाद और दुःख को भूलकर श्रीकृष्ण के प्रवचन में स्वयं रुचि लेते हुए ज्ञानी पुरुष के लक्षणों को जानने की अपनी उत्सुकता को वह नहीं रोक सका। उसके प्रश्न से स्पष्ट दिखाई देता है कि वह भगवान के सिद्धान्त को ग्रहण कर रहा है, फिर भी उसके मन में 'कुछ' है, जिसके कारण वह इसे पूर्णतः स्वीकार नहीं कर पा रहा था।

"प्रश्न पूछने के लिये अवसर पाकर समत्व में स्थित बुद्धि वाले पुरुष के लक्षणों को जानने की उत्सुकता से अर्जुन प्रश्न करता है" :

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

अर्जुन ने कहा —

हे केशव ! समाधि में स्थित स्थिर बुद्धि वाले पुरुष का क्या लक्षण है ? स्थिर बुद्धि पुरुष कैसे बोलता है ? कैसे बैठता है ? कैसे चलता है ? ॥५४॥

इसके पूर्व के दो श्लोकों में, कर्मयोग पर विचार करते हुए, सहज रूप से कर्मयोगी के परम लक्ष्य की ओर भगवान् ने संकेत किया है। यह सिद्धान्त बुद्धि ग्राह्य एवं युक्तियुक्त था। भगवान् श्रीकृष्ण के मुख से सुनने पर उसके प्रामाण्य के विषय में भी कोई संदेह नहीं रह जाता। अर्जुन का स्वभाव हीं ऐसा था कि उसे कर्मयोग ही ग्राह्य हो सकता था।

प्रथम अध्याय का शोकाकुल अर्जुन अपने शोक को भूलकर संवाद में रुचि लेने लगा। कर्मशील स्वभाव के कारण उसे शंका थी कि बुद्धि योग के द्वारा जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर लेने पर इस जगत् में कर्ममय जीवन संभव होगा अथवा नहीं।

समाधि आदि शब्दों के प्रचलित अर्थ से तो कोई यही समझेगा कि योगी पुरुष आत्मानुभूति में अपने ही एकान्त में रमा रहता है। प्रचलित वर्णनों के अनुसार नये जिज्ञासु साधक की कल्पना होती है कि ज्ञानी पुरुष इस व्यावहारिक जगत् के योग्य नहीं रह जाता। ऐसी धारणाओं वाले घृणा और कूटनीति के युग में पला अर्जुन इस ज्ञान को स्वीकार करने के पूर्व ज्ञानी पुरुष के लक्षणों को जानना चाहता था।

स्थितप्रज्ञ के लक्षणों को पूर्णतः समझने की उसकी अत्यन्त उत्सुकता स्पष्ट झलकती है, जब वह कुछ अनावश्यक सा यह प्रश्न पूछता है कि, 'वह पुरुष कैसे बोलता है? कैसे बैठता है? आदि'। उन्माद की अवस्था से बाहर आये अर्जुन का ऐसा प्रश्न उचित ही है। श्लोक की पहली पंक्ति में स्थितप्रज्ञ के आन्तरिक स्वभाव के विषय में प्रश्न है, तो दूसरी पंक्ति में बाह्य जगत् में उसके व्यवहार को जानने की जिज्ञासा है।

इस प्रकरण में स्थितप्रज्ञ का अर्थ है–वह पुरुष जिसे आत्मा का अपरोक्ष अनुभव हुआ हो।

अब भगवान् ज्ञानी पुरुष के उन लक्षणों का वर्णन करते हैं जो उसके लिए स्वाभाविक हैं और एक साधक के लिए साधन रूप हैं:

श्री भगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

श्री भगवान् ने कहा—

हे पार्थ, जिस समय पुरुष मन में स्थित सब कामनाओं को त्याग देता है और आत्मा से ही आत्मा में सन्तुष्ट रहता है, उस समय वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है ॥५५॥

आत्मानुभवी पुरुष के आन्तरिक और बाह्य जीवन का वर्णन कर, भेड़ की खाल में छिपे भालुओं के समान पाखण्डी गुरुओं से भिन्न सच्चे गुरु को पहचानने में गीता हमारी सहायता करती है। इसके अतिरिक्त, यह प्रकरण साधकों के लिए विशेष महत्व का है क्योंकि इसमें आत्मानुभूति के लिए आवश्यक जीवन मूल्यों एवं विभिन्न परिस्थितियों में मन की स्थिति कैसी होनी चाहिए, इसका विस्तार से वर्णन है।

इस विषय के प्रारम्भिक श्लोक में ही ज्ञानी पुरुष की आन्तरिक मनःस्थिति के वे समस्त लक्षण वर्णित हैं जिन्हें हमको जानना चाहिए। उपनिषद्रूपी उद्यान में खिले शब्द रूपी सुमनों की इस विशिष्ट सुगन्ध से सुपरिचित होने पर ही हमें इस श्लोक में प्रयुक्त शब्दों का सम्यक् ज्ञान हो सकता है। जिसने मन में स्थित सभी कामनाओं को त्याग दिया वह पुरुष स्थितप्रज्ञ कहलाता है। श्रीकृष्ण ने अब तक जो कहा उसके सन्दर्भ में इस श्लोक का अध्ययन करने पर हम वास्तव में व्यास जी के प्रेरणाप्रद शब्दों के द्वारा औपनिषदीय सुरभि का अनुभव कर सकते हैं।

आत्मस्वरूप के अज्ञान से दूषित बुद्धि कामनाओं के पल्लवित होने के लिए योग्य क्षेत्र बन जाती है। परन्तु जिस पुरुष का अज्ञान आत्मानुभव के सम्यक् ज्ञान से निवृत्त हो जाता है, उसका 'निष्काम' हो जाना स्वाभाविक है। यहाँ कार्य के निषेध से कारण का निषेध किया जाता है। जहाँ कामनाएँ नहीं, वहाँ 'अज्ञान' नष्ट हो चुका है और 'ज्ञान' तो वहाँ प्रकाशित हो ही रहा है।

यदि सामान्यजनों से ज्ञानी को विशिष्टता प्रदान करने वाला यही एकमात्र लक्षण हो, तो आज का कोई भी शिक्षित व्यक्ति हिन्दू महात्मा को पागल ही समझेगा; क्योंकि, आत्मानुभव के बाद उस ज्ञानी में इतनी भी सामर्थ्य नहीं रहेगी कि वह इच्छा कर सके! इच्छा क्या है? इच्छा मन की वह क्षमता है, जो भविष्य में ऐसी वस्तु पाने की योजना बनाये जिससे कि मनुष्य पहले से अधिक सुखी बन सके। "ज्ञानी पुरुष इस सामर्थ्य को भी खो देगा"—यह है भौतिकवादियों द्वारा की जाने वाली आलोचना।

उपर्युक्त प्रकार से इस श्लोक की आलोचना नहीं की जा सकती, क्योंकि दूसरी पंक्ति में यह बताया गया है कि ज्ञानी पुरुष अपने आनन्दस्वरूप में सन्तुष्ट रहता है। केवल यह नहीं कहा कि वह सब कामनाओं को त्याग देता है, वरन् निश्चित रूप से वह आत्मानन्द का अनुभव करता है।

यह सर्वविदित तथ्य है कि बाल्यावस्था में जिन खिलौनों से साथ बालक रमता है, उनको युवावस्था में वह छोड़ देता है। आगे वृद्ध होनें पर उसकी इच्छाएँ परिवर्तित हो जाती हैं और युवावस्था में आकर्षक प्रतीत होनें वाली वस्तुओं के प्रति उसके मन में कुछ राग नहीं रह जाता।

अज्ञान दशा में मनुष्य स्वयं को परिच्छिन्न अहंकार के रूप में जानता है। इसलिए, विषयोपभोग की स्पृहा, अपनी भावनाओं एवं विचारों के साथ आसक्ति स्वाभाविक होती हैं। अज्ञान से नष्ट होने पर यह अहंकार अपने शुद्ध अनन्तस्वरूप में विलीन हो जाता है और स्थितप्रज्ञ पुरुष "आत्मा द्वारा आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है।" सब कामनाएं समाप्त हो जाती हैं, क्योंकि वह स्वयं आनन्दस्वरूप बनकर स्थित हो जाता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

दुःख में जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, सुख में जिसकी स्पृहा निवृत्त हो गयी है, जिसके मन से राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, वह मुनि स्थितप्रज्ञ कहलाता है ॥५६॥

स्थितप्रज्ञ का मुख्य लक्षण है आत्मानन्द की अनुभूति द्वारा सब कामनाओं का त्याग। श्रीकृष्ण ज्ञानी के पहचान का दूसरा लक्षण बताते हैं—सुख और दुःख में मन का समत्व रहना। शरीर धारणा के कारण उसको होने वाले अनुभवों के भोक्ता के रूप में उसके व्यवहार को यहां बताया गया है।

स्थितप्रज्ञ मुनि वह है जो राग, भय और क्रोध से मुक्त है। यदि हम पूर्णत्व प्राप्त पुरुषों की जीवनियों का अध्ययन करें, तो उनमें हमें सामान्य मनुष्य से सर्वथा विपरीत लक्षण देखने को मिलेंगे। सामान्य पुरुष की सैकड़ों प्रकार की भावनाएँ और गुण ज्ञानी पुरुष में नहीं होते, और इसलिए, यहाँ केवल तीन गुणों के अभाव को बताने से हमें आश्चर्य होगा। तब एक शंका मन में उठती है, क्या व्यास जी अन्य गुणों को भूल गये? क्या यह वाक्य पूर्ण लक्षण बताता है? परन्तु विचार करने पर ज्ञात होगा कि ये शंकाए निर्मूल हैं।

पूर्व के श्लोक में ज्ञानी के निष्कामत्व को बताया गया है और वहाँ उसके मन की स्थिरता को। जगत् में अनेक विषयों के अनुभव से हम जानते हैं कि उनके साथ राग या असक्ति की वृद्धि होने से मन में भय भी उत्पन्न होने लगता है। विषय को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा होने पर यह भय होता है कि वास्तव में वह वस्तु प्राप्त होगी अथवा नहीं। वस्तु के प्राप्त होने पर भी उसकी सुरक्षा के लिये चिन्ता और भय लगे ही रहते हैं।

राग और भय से अभिभूत व्यक्ति के और उसकी इष्ट वस्तु के मध्य कोई विघ्न आता है, तो उस विघ्न की ओर मन में जो भाव उठता है, उसे कहते हैं—

क्रोध। क्रोध के आवेग की तीव्रता, राग और भय की तीव्रता के समान अनुपात में में होती है। अर्थ यह हुआ कि राग ही निमित्तवशात् क्रोध के रूप में व्यक्त होता है।

श्री शंकराचार्य भाष्य में लिखते हैं कि ज्ञानी पुरुष त्रिविधतापों में स्थिरचित्त रहता है। वे त्रिविध दुःख हैं: (क) आध्यात्मिक – शरीर में रोग आदि; (ख) आधिभौतिक – बाह्य वस्तुओं आदि से प्राप्त जैसे व्याघ्र, चोर आदि; (ग) आधिदैविक – प्रकृति के प्रकोप जैसे भूकम्प, तूफान आदि। ईंधन के डालने पर अग्नि प्रज्वलित होती है। परन्तु ज्ञानी पुरुष में अनेक विषय रूप ईंधन को डालने पर भी 'इच्छा की अग्नि' उग्र रूप धारण नहीं करती। ऐसे पुरुष को कहते हैं स्थित-प्रज्ञ मुनि।

और आगे कहते हैं:

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

जो सर्वत्र अति स्नेह से रहित हुआ उन शुभ तथा अशुभ वस्तुओं को प्राप्त कर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित (स्थिर) है ॥५७॥

स्फूर्ति और प्रेरणा से भरा एक कुशल चित्रकार अपनी कल्पनाओं को विभिन्न रंगों के माध्यम से एक फलक व्यक्त करते समय बारम्बार अपने स्थान से पीछे हट कर चित्र को देखता है और प्रत्येक बार अत्यन्त प्रेम से अपनी तूलिका से चित्र का सौन्दर्य वर्धन करता है। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ज्ञानी पुरुष के चित्र को अर्जुन के हृदय पलट पर चित्रित करते हुए चुने हुए शब्दों में ज्ञानी के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों पर और अधिक प्रकाश डालते हैं।

यहाँ स्थितप्रज्ञ पुरुष की अनासक्ति का वर्णन है। इस श्लोक को भी प्रकरण के सन्दर्भ में उचित प्रकार से समझना चाहिए, अन्यथा कोई भी उसका विपरीत अर्थ कर सकता है। जीवन से अनासक्ति मात्र विवेक का लक्षण नहीं हो सकता। अनेक मूढ़ उत्साही लोग जीवन में अपने कर्तव्यों को त्यागकर जंगलों में इस आशा से पलायनकर जाते हैं कि इस प्रकार के वैराग्य से उन्हें 'लक्ष्य' की प्राप्ति हो जायेगी। अर्जुन भी पहले यही करना चाहता था। अर्जुन को इस अनर्थकारी निर्णय से विरत करने के लिए ही भगवान् ने उसे उपदेश देना प्रारम्भ किया।

विषयों के साथ के आत्मघातक संग और मूढ़ आसक्ति से स्वयं को इस प्रकार दूर कर लेने मात्र से ही उच्च दिव्य लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। बाह्य विषयों से

वैराग्य होनें के साथ-साथ सभी परिस्थितियों का सामना करने के लिए मन के आन्तरिक सन्तुलन की भी आवश्यकता होती है। शुभ प्राप्ति में हर्षातिरेक का और अशुभ प्राप्ति में द्वेष और विषाद का अभाव – ये आत्मज्ञानी के लक्षण हैं।

अनासक्ति अपने आप में श्रेष्ठ जीवन का मार्ग नहीं है, क्योंकि वह तो जीवन से निरन्तर पलायन ही समझा जायेगा। उसी प्रकार जगत् में आसक्त होना परवशता का लक्षण है। ज्ञानी पुरुष में ये दोनों ही बातें नहीं होती; वह तो जीवन में आने वाली सभी परिस्थितियों में समान भाव से रहता है। शीत ऋतु में घर के बाहर सूर्य की धूप सेंकना जहाँ आनन्द है वहीं उसकी चमक कष्ट का कारण भी है। सूर्य की चमक के प्रति असन्तोष प्रकट करना, धूप के आनन्द को नष्ट करना है। बुद्धिमान पुरुष या तो उस चमक की ओर ध्यान ही नहीं देता अथवा चमक से अपने को सुरक्षित रखते हुए धूप का आनन्द उठाता है।

हमारा जीवन भी शुभ-अशुभ का मिश्रण है। यह तो उसका स्वभाव ही है। अत: सदैव अशुभ के प्रति असन्तोष व्यक्त करते हुए उससे पलायन और शुभ की स्पृहा लगी रहना, यह अविवेक के कारण ही सम्भव है। ज्ञानी पुरुष अपने नित्य स्वरूप में स्थित होनें के कारण जीवन की उत्कृष्ट एवं निकृष्ट परिस्थितियों में पूर्ण वैराग्य के साथ रहता है।

अर्जुन का प्रश्न था कि स्थितप्रज्ञ किस प्रकार बोलता है ? यह श्लोक उसके उत्तर स्वरूप है। शुभ-अशुभ, हर्ष और विषाद के द्वन्द्वों से सर्वथा मुक्त ज्ञानी पुरुष के लिए सब सुन्दर ही है। अपनी कल्पनाओं का आरोप किये बिना वस्तुएँ जैसी हैं, वह उनका वैसा ही अवलोकन करता है। ऐसा स्थितप्रज्ञ पुरुष पाश्चात्य मनोविज्ञान द्वारा ज्ञात व्यवहार के सभी नियमों के परे है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।५८।।

कछुवा अपने अंगों को जैसे समेट लेता है वैसे ही यह पुरुष जब सब ओर से अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से परावृत्त कर लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है ।।५८।।

ज्ञानी पुरुष के आत्मानन्द, समत्व एवं अनासक्त भाव का वर्णन करने के पश्चात् इस श्लोक में इन्द्रियों पर उसके पूर्ण संयम का वर्णन किया गया है। अत्यन्त उपयुक्त उपमा के द्वारा उसके लक्षण को यहां स्पष्ट किया गया है। जैसे कछुआ किसी प्रकार के संकट का आभास पाकर अपनें अंगों को समेट कर स्वयं को सुरक्षित कर लेता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष में यह क्षमता होती है कि वह अपनी इच्छा

से इन्द्रियों को विषयों से परावृत्त तथा उनमें प्रवृत्त भी कर सकता है।

वेदान्त में प्रत्यक्ष ज्ञान[1] की प्रक्रिया के अनुसार अन्तःकरण की चैतन्य युक्त वृत्ति इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य देश स्थित विषय का आकार ग्रहण करती है और तब उस विषय का 'प्रत्यक्ष ज्ञान' होता है। इस प्रक्रिया को कठोपनिषद् में इस प्रकार कहा है कि मानो चैतन्य का प्रकाश मस्तकस्थ सात छिद्रों (दो नेत्र, दो कान, दो नासिका छिद्र और मुख) के द्वारा बाहर किरण रूप में निकल कर वस्तुओं को प्रकाशित करता है। इस प्रकार एक विशेष इन्द्रिय द्वारा एक विशिष्ट वस्तु प्रकाशित होती है जैसे आंख से रूप रंग और कान से शब्द। भौतिक जगत् में हम विद्युत का उदाहरण ले सकते हैं, जो सामान्य बल्ब में प्रकाश के रूप में व्यक्त होकर वस्तुओं को प्रकाशित करती है; और वही विद्युत क्ष-किरण नलिका से गुजर कर स्थूल शरीर को भेदकर आंतरिक अंगों को भी प्रकाशित कर सकती है, जो सामान्यतः प्रत्यक्ष नहीं होते।

इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति पांच ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से सम्पूर्ण बाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त करता है। इन्द्रियों द्वारा निरन्तर प्राप्त होने वाली विषय संवेदनाओं के कारण मन में अनेक विक्षेप उठते रहते हैं। नेत्रों के अभाव में रूप से उत्पन्न विक्षेप नहीं होते और बधिर पुरुष को अपनी आलोचना सुनाई नहीं पड़ती, जिससे कि उसके मन में क्षोभ हो! यही बात अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी है। भगवान् कहते हैं कि ज्ञानी पुरुष में यह क्षमता होती है कि वह स्वेच्छा से इन्द्रियों को विषयों से परावृत्त कर सकता है।

इन्द्रिय संयम की इस क्षमता को योगशास्त्र में प्रत्याहार कहते हैं, जिसे योगी प्राणायाम की सहायता से प्राप्त करता है। ईश्वर की रूप माधुरी में प्रीति होनें के कारण भक्त के मन में विषय जन्य विक्षेपों का अभाव स्वाभाविक रूप से ही होता है: वेदान्त में इसे उपरति कहते हैं जिसे जिज्ञासु साधक अपने विवेक के बल पर विषयों की परिच्छिन्नता और व्यर्थता एवं आत्मा के आनन्दस्वरूप को समझकर, प्राप्त करता है।

रोग अथवा किसी अन्य कारण से विषयोपभोग न करनें वाले पुरुष से विषय तो दूर हो जाते हैं, परन्तु उनका स्वाद नहीं। इस स्वाद की भी निवृत्ति किस प्रकार हो सकती है? सुनो:

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

१. देखिए अध्याय २, श्लोक १४

निराहारी देही पुरुष से विषय तो निवृत्त (दूर) हो जाते हैं, परन्तु (उनके प्रति) राग नहीं; परम तत्त्व को देखने पर इस (पुरुष) का राग भी निवृत्त हो जाता है ॥५९॥

प्रत्याहार या उपरति की क्षमता के बिना कभी कोई व्यक्ति किसी रोग के कारण या क्षणिक दु:ख के आवेग में अथवा व्रत आदि कारणों से विषय उपभोग को छोड़ देता है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि विषयों से वैराग्य अथवा द्वेष हो गया है, किन्तु उनके प्रति मन में स्थित राग केवल कुछ समय के लिए अव्यक्त अवस्था में रहता है। अर्जुन के मन में शंका उत्पन्न होती है कि सम्भवत: योगी का इन्द्रिय संयम भी क्षणिक – अनित्य ही हो जो, अनुकूल या प्रलोभनपूर्ण परिस्थितियों में टूट जाता हो। उसकी इस शंका का निराकरण यहाँ किया गया है।

यदि आप दूकानों से ग्राहकों तक उपभोग के विषयों की गति का अवलोकन करें तो इस सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं। उपभोग की वे वस्तुएँ केवल उन्हीं लोगों के घर पहुँचती हैं, जो उनकी तीव्र इच्छा किए हुए उन वस्तुओं को पाने के लिए प्रयत्न कर रहे होते हैं। मद का भण्डार तब खाली हो जाता है, जब बोतलें "चलकर" मद्यपियों की आलमारियों को भर देती हैं! लुहार के बनाए हल केवल किसान के घर जाते हैं और न कि किसी कलाकार, कवि, चिकित्सक या वकील के घर में। इसी प्रकार उन विषयों के इच्छुक लोगों के पास ही वे विषय पहुँचते हैं। भोगों के त्यागी व्यक्ति से भोग की वस्तुयें दूर ही रहती हैं।

निराहार रहने से विषय तो दूर हो जायेंगे, परन्तु उनके प्रति मन में पूर्वानुभवजनित रस अर्थात् स्वाद या राग निवृत्त नहीं होता। भगवान् यहाँ आश्वासन देते हैं कि परम आत्मतत्व की अपरोक्षानुभूति होने पर यह राग भी समाप्त हो जाता है – या भुनें हुए बीजों के समान मनुष्य कें मन में विषय प्रभावहीन हो जाते हैं।

इस तथ्य को समझना कठिन नहीं क्योंकि हम जानते हैं कि अनुभव की एक अवस्था विशेष में प्राप्त अनिष्ट वस्तुएँ और दु:ख दूसरी अवस्था में उसी प्रकार नहीं रहते। स्वप्नावस्था का राज्य मेरी जाग्रतावस्था के दारिद्र्य को दूर नहीं करता; किन्तु जाग्रतावस्था का दारिद्र्य भी स्वप्न के राज्य का उपभोग करने से मुझे वंचित नहीं कर सकता!!

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में रहते हुए अहंकार ने असंख्य विषय वासनाएं अर्जित कर ली हैं। परन्तु अवस्थात्रय अतीत शुद्ध चैतन्य स्वरूप को पहचान कर अहंकार ही समाप्त हो जाता है, तब ये वासनायें किस पर अपना प्रभाव दिखायेगा!

आत्मप्रज्ञा प्राप्त करने के इच्छुक साधक का सर्वप्रथम उसकी इन्द्रियों पर संयम होना आवश्यक है, अन्यथा :

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

हे कौन्तेय ! (संयम का) प्रयत्न करते हुए बुद्धिमान (विपश्चितः) पुरुष के भी मन को ये इन्द्रियां बलपूर्वक हर लेती हैं ॥६०॥

अब तक के अपने प्रवचन में, भगवान् श्रीकृष्ण ने ज्ञानी पुरुष के इन्द्रिय संयम की सामर्थ्य पर विशेष बल दिया है । भारत में दर्शनशास्त्र के सिद्धान्तों को अव्यावहारिक होने पर स्वीकारा नहीं जाता । अतः, गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को उन साधनों का भी उपदेश देते हैं, जिनके अभ्यास से वह भी स्थितप्रज्ञ के पूर्णत्व को प्राप्त कर सकता है ।

सत्त्व (विवेकशीलता), रज (क्रियाशीलता) और तम (निष्क्रियता) इन तीन गुणों का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण पर पड़ता है । तमोगुण के आवरण तथा रजोगुण के विक्षेप के कारण जब सत्त्वगुण भी दूषित हो जाता है, तब अनेक दुःखों को हमें भोगना पड़ता है । यदि इन्द्रियों पर पूर्ण संयम न हो, तो वे मन को विषयों की ओर बलपूर्वक खींच ले जायेंगी, जिसका एकमात्र परिणाम होगा – दुःख । इस श्लोक में स्वीकार किया गया है कि ऐसी स्थिति किसी बुद्धिमान साधक की भी कभी–कभी होती है । यह वाक्य भयभीत करने या किसी को निरुत्साहित करने के लिए नहीं समझना चाहिये । अर्जुन को केवल इस बात की सावधानी रखने को कहा गया है कि वह कभी भी मन का बुद्धि पर अपना आधिपत्य स्थापित न होने दे । सावधानी की यह सूचना अत्यन्त समयोचित है ।

अध्यात्म साधना का अभ्यास करने वाले अनेक साधकों के पतन का कारण एक ही है । कुछ वर्षों तक तो वे संयम के प्रति सजग रहते हैं, जिसके फलस्वरूप उन्हें आनन्द भी मिलता है । तत्पश्चात् स्वयं पर अत्यधिक विश्वास के कारण तप के प्रति उनकी जागरूकता कम हो जाती है और तब स्वाभाविक ही इन्द्रियाँ बलपूर्वक मन को विषयों में खींच ले जाती हैं और साधक की शान्ति को नष्ट कर देती हैं ।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

उन सब इन्द्रियों को संयमित कर युक्त और मत्पर होवे । जिस पुरुष के इन्द्रियां वश में होती हैं, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है ॥६१॥

अध्यात्म साम्राज्य के सम्राट आत्मा के पतन का मूल कारण ये इन्द्रियां ही हैं । अर्जुन को यहां सावधान किया गया है कि वह पूर्णत्व प्राप्ति के लिये इन्द्रियों और विषयों के अनियन्त्रित एवं उन्मुक्त विचरण के प्रति सतत सजग रहे । आधुनिक मनोविज्ञान गीता के इस उपदेश पर नाक-भौं सिकोड़ेगा, क्योंकि जर्मन मनोवैज्ञानिक सिगमण्ड फ्रायड के अनुसार वासनाएं मनुष्य की स्वाभाविक मूल प्रवृत्ति हैं और उनके संयमित करने का अर्थ है उनका अप्राकृतिक दमन ।

पाश्चात्य देशों में संयम का अर्थ दमन समझा जाता है, और मन के स्वास्थ्य की दृष्टि से दमन को कोई भी स्वीकार नहीं करेगा । परन्तु वैदिक दर्शन ने कहीं भी दमन का उपदेश नहीं दिया । वहां तो बुद्धि की उस परिपक्वता पर बल दिया गया है जिससे मनुष्य का व्यक्तित्व खिल उठे और श्रेष्ठ वस्तुओं की प्राप्ति से निकृष्ट की इच्छा अपने आप ही छूट जाये । वहां इच्छाओं का दमन नहीं, वरन् उनसे ऊपर उठने को कहा गया है ।

भगवान् श्रीकृष्ण इस वैदिक सिद्धान्त को यहां अत्यन्त सुन्दर ढंग से स्पष्ट करते हैं । वे आत्मविकास की साधना के विधेयात्मक (जो करना चाहिये) और निषेधात्मक (जो त्यागना चाहिये) दोनों पक्षों पर प्रकाश डालते हैं । आत्मविकास के जो प्रतिकूल भोग और कर्म हैं, उन्हें त्यागकर अनुकूल साधना का अभ्यास करना चाहिये । विधेयात्मक साधना में भगवान् शिष्य को 'मत्पर' होने का उपदेश देते हैं । 'मत्पर' का अर्थ है जो मुझ परमात्मा को ही जीवन का परम लक्ष्य समझता है ।"

युक्त आसीत मत्परः– इस अर्ध पंक्ति में ही गीता द्वारा आत्मविकास की पूर्ण साधना बतायी गयी है । मनुष्य को पशु के स्तर पर लें जाने वाली अनैतिक एवं कामुक प्रवृत्तियाँ, उसके असंख्य जन्मजन्मान्तरों में किये विषयोपभोग और उनसे अर्जित वासनाओं का ही परिणाम हैं । एक जीवन में ही उन सबको नष्ट करना अथवा उनके परे जाना मनुष्य के लिये कदापि संभव नहीं । नैतिकता के उन्नायकों, आदर्श के शिक्षकों और अध्यात्म के साधकों की निराशा का भी यही एक कारण है ।

इन वैषयिक प्रवृत्तियों को समाप्त करने का साधन प्राचीन ऋषियों ने स्वानुभव से खोज निकाला था । ध्यान के शान्त वातावरण में मन को अपने शुद्ध पूर्ण स्वरूप में स्थिर करने का प्रयत्न ही वह साधना है । इसके अभ्यास से जिसकी इन्द्रियां, स्वतः ही वश में आ गई हैं, वही स्थितप्रज्ञ पुरुष माना जाता है ।

इस श्लोक का गूढ़ार्थ अब स्पष्ट हो जाता है; निराहारी का बलपूर्वक किया

हुआ इन्द्रिय निग्रह क्षणिक है, जिससे आध्यात्मिक सौन्दर्य के खिल उठने की कोई आशा नहीं करनी चाहिये । आत्मानुभव में स्थित जिस पुरुष की इन्द्रियां स्वतः वश में रहती हैं, वह स्थितप्रज्ञ है । न तो वह इन्द्रियों को नष्ट करता है और न उनका उपयोग ही बन्द करता है । एवं पूर्णत्व प्राप्त ज्ञानी पुरुष वह है, जिसकी इन्द्रियां और मन वश में होकर उसकी सेवा में सदैव तत्पर रहते हैं ।

अब, भगवान् असफल व्यक्ति के पतन के कारण बताते हैं ।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।६२।।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।६३।।

विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उनमें 'आसक्ति' हो जाती है, आसक्ति से 'इच्छा' और इच्छा से 'क्रोध' उत्पन्न होता है ।।६२।।

क्रोध से उत्पन्न होता है 'मोह' और मोह से 'स्मृति विभ्रम' । स्मृति के भ्रमित होने पर 'बुद्धि का नाश' होता है और बुद्धि के नाश से वह मनुष्य नष्ट हो जाता है ।।६३।।

इस श्लोक से आगे पाँच, सुन्दर श्लोकों में श्रीकृष्ण हिन्दू मनोविज्ञान के अनसार, देवत्व की स्थिति से मनुष्य के पतन का कारण बताते हैं । इसका एक मात्र प्रयोजन है महाबाहु अर्जुन को सभी ओर से इन्द्रियों को वश में रखने के महत्व को समझाना । इन्द्रियों पर स्वामित्व रखने वाला पुरुष ही हिन्दू शास्त्रों के अनुसार स्थितप्रज्ञ कहलाता है ।

यह प्रकरण उन समस्त साधकों के आत्मचरित्र की रूपरेखा भी प्रस्तुत करता है जो दीर्घकाल तक साधना रत रहने के उपरान्त भी असफलता एवं निराशा की चट्टानों से टकराकर चूर-चूर हो जाते हैं । वेदान्त के सच्चे साधक का पतन असम्भव है । असफल साधकों के उदाहरण कम नहीं है और उन सभी की असफलता का एकमात्र कारण विषयों के शिकार होना ही है । यह भी देखा गया है कि एक बार पतन होने पर वे फिर सम्हल नहीं पाते, उनके लिये पतन का अर्थ है– सम्पूर्ण नाश !!

पतन की सीढ़ी का यह बहुत सुन्दर वर्णन है । स्वयं के नाश की सीढ़ी का वर्णन इतना विस्तारपूर्वक इसलिये किया गया है कि हमारे जैसे साधक यह समझ सकें कि पुनः अपने पूर्ण दिव्य स्वरूप को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है ।

जैसे छोटे से बीज से बड़े वृक्ष की उत्पत्ति होती है, वैसे ही हमारे नाश का बीज है असद् विचार, और मिथ्या कल्पनाएँ। विचार में रचना शक्ति है, यह हमारा निर्माण अथवा नाश कर सकती है। निर्माण और विनाश उस शक्ति के सदुपयोग और दुरुपयोग पर निर्भर करते हैं। जब मनुष्य किसी विषय को सुन्दर और सुख का साधन समझकर उसका निरन्तर चिन्तन करता है तब उससे उत्पन्न होती है उस विषय में 'आसक्ति'। इस आसक्ति के और अधिक बढ़ने पर वह उसकी उत्कट 'इच्छा' या कामना का रूप लेती है, जिसको पूर्ण किये बिना मनुष्य शान्ति से बैठ नहीं सकता। यदि कामना पूर्ति के मार्ग से कोई विघ्न आता है, तो उस विघ्न की ओर होनें वाली प्रतिक्रिया को कहते हैं 'क्रोध'।

क्रोध का परिणाम यह होता है कि मनुष्य जहाँ जो वस्तु या गुण नहीं है, उसे वहाँ देखने लग जाता है, जिसे 'मोह' नाम दिया गया है। मोह का अर्थ है अविवेक। मोह ही स्मृति के नाश का कारण है। क्रोध के आवेश में मनुष्य सभी सम्बन्ध भूलककर चाहे जैसा व्यवहार कर सकता है। श्रीशंकराचार्य लिखते हैं कि क्रोधावेश में मनुष्य अपने पूज्य गुरु एवं माता-पिता के ऋण को भूलकर उनका भी धिक्कार करता है।

इस प्रकार, असद् विचारों से प्रारम्भ होकर आसक्ति (संग), इच्छा, क्रोध, मोह और स्मृति के नाश तक मनुष्य का जब पतन हुआ, तो अगली सीढ़ी है बुद्धि का नाश। बुद्धि में विवेक की वह सामर्थ्य है जिससे हम अच्छे बुरे, धर्म-अधर्म का निर्णय कर सकते हैं। निषिद्ध कर्मों को करते समय बुद्धि हमें उससे परावृत्त करनें का प्रयत्न भी करती है। यदि यह बुद्धि ही नष्ट हो जाय, तो मनुष्य का मनुष्यत्व ही नष्ट हुआ समझना चाहिये। बुद्धिनाश के बाद तो वह पशु से भी हीन व्यवहार करता है और फिर कभी जीवन में श्रेष्ठ और उच्च ध्येय को न समझ सकता है और न प्राप्त कर सकता है। यहाँ मनुष्य के नाश से तात्पर्य यह है कि अपने शुद्ध स्वरूप को पहचान कर वह मनुष्य जीवन के परमपुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त करने के योग्य नहीं रह जाता।

विषयों के चिन्तन को यहाँ सभी अनर्थों का कारण बताया है। अब मोक्ष प्राप्ति का साधन बताते हैं :

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

आत्मसंयमी (विधेयात्मा) पुरुष रागद्वेष से रहित अपने वश में की हुई (आत्मवश्यैः) इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ प्रसन्नता (प्रसाद) प्राप्त करता है॥ ६४ ॥

जो पुरुष आत्मसंयम से युक्त जीवन में अनेक विषयों को ग्रहण करता है, परन्तु न किसी से राग रखता है और न द्वेष, वह शांति और प्रसन्नता ही प्राप्त करता है। विषयों से दूर भागने से किसी को शान्ति नहीं मिलती; क्योंकि, अन्तःकरण की अशान्ति बाह्य विषयों के होने या न होने पर निर्भर नहीं करती, उसका प्रमुख कारण प्रिय वस्तु को पाने की लालसा अथवा अप्रिय को त्यागनें की इच्छा है।

किन्तु पूर्ण आत्मनियन्त्रक ज्ञानी पुरुष अशांति के इन कारणों से सर्वथा मुक्त हुआ विचरण करता है। जैसे कि हम जहाँ कहीं भी जायें, प्रकाश की स्थिति के अनुसार हमारी छाया हमारे आसपास बनी रहती है; परन्तु वह छाया स्वयं किसी प्रकार हमें न राग के द्वारा बांध सकती है और न द्वेष के कारण नष्ट ही कर सकती है! बाह्य विषय जगत् केवल उस व्यक्ति को कष्ट पहुँचाता है, जो स्वयं उन विषयों को ऐसी शक्ति प्रदान करता है कि वे उसको ही चूर-चूर कर दें!!

यदि कोई पागल व्यक्ति हाथ में चाबुक लेकर अपने ही शरीर पर मारता हुआ पीड़ा से रोये, तो उसके दुःखों का अन्त तभी होगा जब वह चाबुक को छोड़ देगा; अथवा, यदि चाबुक को हाथ में रखे तब भी उसे अपने शरीर पर ही न घुमाये! इसी प्रकार, मन ही विषयों में सुन्दरता आदि का आरोप कर उनको पाने के लिये परिश्रम करता है और स्वयं ही दुःखी होता हैं। उपदेश की दृष्टि से यहाँ कहा गया है कि आत्मसंयमी पुरुष राग और द्वेष न रखकर विषयों को अपनी ओर से शक्ति नहीं देता कि वे उसे ही पीड़ित करें।

आत्मसंयम तथा रागद्वेष का अभाव – इन दो गुणों के होने पर विषयों के आकर्षण से उत्पन्न होने वाले मन के विक्षेप स्वतः कम होने लगते हैं। मन की विक्षेप रहित स्थिति को ही शान्ति अथवा प्रसाद कहते हैं।

पूजन विधि के अन्त में प्रसाद वितरण की क्रिया इस सिद्धान्त की ही द्योतक है। पूजन अथवा यज्ञ करते समय मनुष्य को संयमित रहकर ईश्वर का ध्यान करना चाहिए, जिसके फलस्वरूप वह मन में अपूर्व शान्ति का अनुभव करता है। वास्तव में इसको ही ईश्वर प्रसाद कहा जाता है। वेदान्ती चित्तशुद्धि को प्रसाद समझते हैं। राग द्वेष के अभाव में विक्षेपों का अभाव स्वाभाविक है और यही है चित्तशुद्धि।

प्रसाद को प्राप्त करने पर क्या होगा? सुनो :

प्रसादे सर्व दुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

प्रसाद के होने पर सम्पूर्ण दुःखों का अन्त हो जाता है; और प्रसन्नचित्त

पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है ॥६५॥

शान्ति के मिलने पर क्या होगा ? ऐसा प्रश्न मानवबुद्धि में उठना स्वाभाविक है। "शान्ति प्राप्त होने पर सब दुःखों का अन्त हो जाता है।" इस वाक्य में सुख की परिभाषा मिलती है। विक्षेपों का होना दुःख कहलाता है। अतः विक्षेपों के अभाव रूप मन की शान्ति का अर्थ सुख ही होना चाहिए। शान्ति ही सुख है और सुख ही शान्ति है।

यहाँ "दुःखों की हानि" से तात्पर्य वासना निवृत्ति से समझना चाहिये। गीता की प्रस्तावना में हमनें देखा है कि बुद्धि पर पड़े वासनाओं के आवरण के कारण मनुष्य शोक-मोह को प्राप्त होता है; जबकि ज्ञानी पुरुष पूर्ववर्णित बुद्धियोग के अभ्यास से वासनाओं का क्षय करके उनके परे आत्मतत्व को पहचान लेता है। सामान्यतः वासनाओं से मुक्ति पाना मनुष्य के लिए कठिन प्रतीत होता है, परन्तु आत्मसंयम एवं समत्वयोग के द्वारा यह कार्य सम्पादन किया जा सकता है।

अगले श्लोक में भगवान् कहते हैं :

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

(संयमरहित) अयुक्त पुरुष को (आत्म) ज्ञान नहीं होता; और अयुक्त को भावना और ध्यान की क्षमता नहीं होती; भावना रहित पुरुष को शान्ति नहीं मिलती; अशान्त पुरुष को सुख कहाँ ? ॥६६॥

शास्त्रों में मन की शांति पर बल देने का कारण यहाँ स्पष्ट किया गया है। मनः शान्ति के अभाव के कारण बुद्धि में सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक विचार करने की क्षमता नहीं होती। शांति के न होने पर जीवन की समस्याओं को समझने की बौद्धिक तत्परता का अभाव होता है और तब जीवन का सही मूल्यांकन कर आत्मज्ञान एवं ध्यान के लिए अवसर ही नहीं रहता। ध्रुवतारे के समान जीवन में महान लक्ष्य के न होने पर हमारा जीवन समुद्र में खोये जलपोत के समान भटकता हुआ अन्त में किसी विशाल चट्टान से टकराकर नष्ट हो जाता है।

लक्ष्यहीन, दिशाहीन पुरुष को कभी शांति नहीं मिलती और ऐसे अशांत पुरुष को सुख कहाँ ? जीवन सिन्धु की शान्त अथवा विक्षुब्ध तरंगों में सुख या दुःख के समय संयम से रहनें के लिये परमार्थ सत्य का लक्ष्य हमारी दृष्टि से कभी ओझल नहीं होना चाहिए। एक मृदंग वादक के बिना नर्तकी के पैर लय और गति को

नियन्त्रित नहीं रख सकते ।

अयुक्त (संयमरहित) पुरुष को ज्ञान क्यों नहीं होता ? सुनो :

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

जल में वायु नाव को जैसे हर लेता है वैसे ही विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के बीच में जिस इन्द्रिय का अनुकरण मन करता है, वह एक ही इंद्रिय इसकी प्रज्ञा को हर लेती है ॥६७॥

नाव के नाविक की मृत्यु हो गई हो और उसके पाल खुले हों तब वह नाव पूरी तरह उन्मत्त तूफानों और उद्दाम तरंगों की दया पर आश्रित होगी । विक्षुब्ध तरंगों के भयंकर थपेड़ों से इधर-उधर भटकती हुई वह लक्ष्य को प्राप्त किये बिना बीच में ही नष्ट हो जाएगी । इसी प्रकार संयम रहित पुरुष की इन्द्रियाँ भी विषयों में विचरण करती हुई मन को वासनाओं की अंधी–आंधी में भटकाकर विनष्ट कर देती हैं । अतः यदि मनुष्य अर्थपूर्ण जीवन जीना चाहता है, तो उसे अपनी इंद्रियों को अपने वश में रखने का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए।

६२वें श्लोक से प्रारम्भ किये मनुष्य के पतन के विषय का उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं :

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

इसलिये, हे महाबाहो ! जिस पुरुष की इन्द्रियां सब प्रकार इन्द्रियों के विषयों से वश में की हुई होती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥६८॥

किसी सिद्धान्त को समझाते समय पर्याप्त तर्क प्रस्तुत किये बिना हम अन्तिम निष्कर्ष को प्रकट नहीं करते, चाहे वह निष्कर्ष कितना ही स्वीकार करने योग्य क्यों न हो । इसी को ध्यान में रखते हुए श्रीकृष्ण अर्जुन को आवश्यक तर्क देने के बाद इस श्लोक में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "केवल अश्रु, विलाप और शोक के अतिरिक्त किसी उच्चतर वस्तु की अपेक्षा यदि हम जीवन में करते हैं, तो संयम-पूर्ण जीवन ही जीने योग्य है ।" इन्द्रियों के विषयों से जिसकी इन्द्रियां पूर्णतः वश में होती हैं, वही पुरुष वास्तव में स्थितप्रज्ञ है ।

इंद्रियों को वश में रखने का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि ज्ञानी पुरुष

की इन्द्रियां निरुपयोगी हो जाती हैं, जिससे वह किसी प्रकार विषय ग्रहण ही न कर सके ! इंद्रियों की दुर्बलता ज्ञान का लक्षण नहीं । इसका अर्थ केवल यह है कि विषयों के ग्रहण करने से उसके मन की शांति में कोई विघ्न नहीं आ सकता, उसे कोई विचलित नहीं कर सकता । अज्ञानी पुरुष इंद्रियों का दास होता है, जबकि स्थितप्रज्ञ पुरुष उनका स्वामी ।

ज्ञानी के लक्षण को स्पष्ट करते हुए भगवान् आगे कहते हैं :

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।६९।।

सब प्राणियों के लिए जो रात्रि है, उसमें संयमी पुरुष जागता है; और जहां सब प्राणी जागते हैं, वह (तत्व को) देखने वाले मुनि के लिए रात्रि है ।।६९।।

ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टियों के बीच के भेद को स्पष्ट करना इस श्लोक का प्रयोजन है । शरीर और मन की उपाधियों के माध्यम से अनुभूत जगत् अध्यात्म के खुले वातायन से देखे गये हृदय से भिन्न होता है यहाँ रूपक की भाषा में सिद्धांत को इतने पूर्णरूप से कहा गया है कि अनेक शुष्क तर्क करने वाले लोग उसमें निहित काव्य के सौन्दर्य को देख भी नहीं पाते । काव्य और ज्ञान का समन्वय करना आर्य लोगों की विशेषता है, और जब दार्शनिक कवि व्यास जी पूर्णत्व के आनन्द को व्यक्त करने के लिये अपनी लेखनी और भोजपत्र उठाते थे तब वे गीता में कविता से श्रेष्ठ अन्य कोई माध्यम प्रयुक्त नहीं कर सकते थे ।

अज्ञानी पुरुष जगत् को यथार्थ रूप में कभी नहीं देखता; वह जगत को अपने मन के रंग में रंगकर देखता है और फिर बाह्य वस्तुओं को ही दोषयुक्त समझता है । रंगीन कांच द्वारा जगत् को देखने पर वह रंगीन ही दिखाई देगा; किन्तु जब कांच को हटा देते हैं, तब वह जगत् जैसा है वैसा ही प्रतीत होता है ।

आज जब हम शरीर, मन और बुद्धि के माध्यम से जगत् को देखते हैं तब वह स्वाभाविक ही परिच्छिन्न और दोष युक्त अनुभव होता है; किन्तु यह सब दोष उपाधियों का ही है । स्थितप्रज्ञ पुरुष अपने ज्ञान की दृष्टि से जब देखता है, तब उसे पूर्णत्व और आनन्द का ही अनुभव होता है ।

जब एक विद्युत अभियंता (इंजिनियर) किसी महानगर में पहुँचता है, जहां संध्या के समय से ही सभी दिशाओं में विद्युत का प्रकाश जगमगाता है, तब प्रश्न करता है कि, " यह ए. सी. है या डी. सी. ?"; जब कि उसी दृश्य को एक अनपढ़

ग्रामीण व्यक्ति आश्चर्य चकित होकर देखते हुए चिल्ला उठता है कि, "बिना तेल और और बत्ती के प्रकाश को मैं देख रहा हूँ !" उस ग्रामीण की दृष्टि से वहां न विद्युत हैं और न ए. सी. डी. सी. की समस्या ! उस अभियंता की दृष्टि ग्रामीण को अज्ञात है और वह अभियंता भी उस अनपढ़ के आश्चर्य को समझ नहीं पाता ।

इस श्लोक में यह बताया गया है कि अज्ञानी, मर्त्य जीव आत्मस्वरूप वे प्रति सोया हुआ है, जिसके प्रति ज्ञानी पुरुष पूर्णरूप से जागरूक है। जिन सांसारिक विषयों के प्रति अज्ञानी लोग सजग होकर व्यवहार करते हैं और दुःख भोगते हैं, स्थितप्रज्ञ पुरुष उसे रात्रि अर्थात् अज्ञान की अवस्था ही समझते हैं ।

जिसने समस्त कामनाओं का त्याग किया, वही ज्ञानी भक्त मोक्ष प्राप्त करता है और कामी पुरुष कभी नहीं। इससे एक दृष्टान्त द्वारा भगवान समझाते हैं :

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।।७०।।

जैसे सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में (अनेक नदियों के) जल (उसे विचलित किये बिना) समा जाते हैं, वैसे ही जिस पुरुष के प्रति कामनाओं के विषय उसमें (विकार उत्पन्न किये बिना) समा जाते हैं, वह पुरुष शान्ति प्राप्त करता है, न कि भोगों की कामना करने वाला पुरुष ।।७०।।

यह सुविदित तथ्य है कि यद्यपि करोड़ों गैलन पानी अनेक सरिताओं द्वारा विभिन्न दिशाओं से आकर निरन्तर समुद्र में समाता रहता है, तथापि समुद्र की मर्यादा किसी प्रकार भंग नहीं होती । इसी प्रकार, ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से असंख्य विषय संवेदनाएँ ज्ञानी पुरुष के मन में पहुँचती रहती हैं, फिर भी वे उसके अन्तःकरण में किसी प्रकार का भी विकार अथवा क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकतीं ।

विषयों के बीच रहता हुआ, इंद्रियों के द्वारा समस्त व्यवहार करता हुआ भी जो पुरुष स्वस्वरूप की स्थिति से विचलित नहीं होता, वहीं ज्ञानी है, सन्त है । भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि ऐसा पुरुष ही वास्तविक शान्ति और आनन्द प्राप्त करता है । इतना कहने मात्र से मानो उन्हें संतोष नहीं होता और आगे वे कहते हैं, 'भोगों की कामना करने वाले पुरुषों को कभी शांति नहीं मिलती ।"

उपर्युक्त विचार आधुनिक भौतिकवादी विचारधारा के सर्वथा विपरीत हैं ।

उनकी यह धारणा है कि अधिक इच्छाओं के होने से भौतिक उन्नति होगी और अधिक से अधिक इच्छाओं की पूर्ति से मनुष्य को सुखी बनाया जा सकता है। औद्योगीकरण और बड़ी मात्रा में उत्पादन के सिद्धांतों पर आधारित आधुनिक भौतिकवादी समाज का प्रयत्न मनुष्य में इच्छाओं की निरन्तर वृद्धि करने के लिए ही हो रहा है। परिणाम यह हुआ है कि आज के सामान्य मनुष्य की इच्छाएँ एक शताब्दि पूर्व के अपने पूर्वजों की इच्छाओं से लाख–गुना अधिक हैं। बड़े-बड़े व्यापारी और उद्योगपति, बिज्ञान की आधुनिक उपलब्धियों की सहायता से नई–नई इच्छाएँ उत्पन्न करने और उन्हें पूर्ण करने का प्रयत्न करते रहते हैं। जिस मात्रा में मनुष्य की इच्छाएँ पूर्ण होती हैं उसे कहा जाता है कि अब वह पहले से कहीं अधिक सुखी है।

इसके विपरीत, भारत के प्राचीन महान् विचारकों ने स्वानुभव, सूक्ष्म निरीक्षण एवं अध्ययन से यह पाया कि इच्छाओं की पूर्ति से प्राप्त सुख कभी पूर्ण नहीं हो सकता। सुख की मात्रा को गणित की भाषा में इस प्रकार बताया जा सकता है:

$$\text{सुख की मात्रा} = \frac{\text{पूर्ण हुई इच्छाओं की संख्या}}{\text{मन में स्थित इच्छाओं की संख्या}}$$

भौतिकवादी धर्मनिरपेक्ष आधुनिक लोग भी इस सत्य को स्वीकार तो करते हैं, परन्तु उनकी तथा ऋषियों की व्यावहारिक कार्यप्रणाली बहुत भिन्न दिखाई देती है।

आज सर्वत्र अधिक-से-अधिक इच्छाओं को पूर्ण करने का प्रयत्न सुख के लिये किया जाता है। प्राचीन ऋषिगण भी मानव समाज में ही रहते थे और तत्वज्ञान के द्वारा उनका लक्ष्य समाज को अधिक सुखी बनाना ही था। उन्होंने पहचाना कि इच्छाओं की संख्या कम किये बिना केवल अधिक से अधिक इच्छाओं की पूर्ति से न कोई वास्तविक आनन्द ही प्राप्त होता है और न ही उसमें कोई विशेष वृद्धि ही। परन्तु आज हम ऋषियों के विचार से सर्वथा भिन्न मार्ग अपना रहे हैं और इसीलिए समाज में आनन्द नहीं दिखाई देता।

औपनिषदिक सिद्धांत का ही प्रतिपादन गीता में है, जिसकी प्रशंसा भारतीय कवियों द्वारा मुक्त कण्ठ से की गयी है। अनेक भोगों की कामना करने वाला पुरुष कभी शांति नहीं प्राप्त करता। बाह्य जगत् का त्रुटिपूर्ण मूल्यांकन करने पर ही विषयों में हमें दुखी बनाने की सामर्थ्य आ जाती है, अन्यथा वे स्वयं किसी प्रकार की हानि हमें नहीं पहुँचा सकते। आनन्दस्वरूप में स्थित ज्ञानी पुरुष इन सब विषयों से अविचलित रहता है।

स्थितप्रज्ञ पुरुष के लक्षणों का प्रारम्भ करते हुए भगवान ने उसकी आत्मसन्तुष्टि एवं निष्कामत्व को बताया था, उसी को और अधिक विस्तार से इस श्लोक में बताया गया है।

इसलिये :

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः सः शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

जो पुरुष सब कामनाओं को त्यागकर स्पृहारहित, ममभाव रहित और निरहंकार हुआ विचरण करता है, वह शान्ति प्राप्त करता है ॥७१॥

कुछ व्याख्याकारों का मत है कि इन अन्तिम दो श्लोकों में संन्यास मार्ग की व्याख्या है। वास्तव में गीता में संन्यास की उपेक्षा नहीं की गई है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि इस द्वितीय अध्याय में सम्पूर्ण गीता का सार सन्निहित है। इसलिए आगामी समस्त विषयों की रूपरेखा इस अध्याय में दी हुई है। संन्यास मार्ग का वर्णन भी हमें आगे के अध्यायों में विभिन्न सन्दर्भों और स्थानों पर मिलेगा।

इसके पूर्व ३८वें श्लोक में सभी द्वन्द्वों में समभाव से रहते हुए युद्ध करने का उपदेश अर्जुन को दिया गया था। अध्याय के अन्त में उसी उपदेश को यहाँ भगवान् दूसरे शब्दों में दोहरा रहे हैं।

परम शान्ति को प्राप्त पुरुष के मन की स्थिति को प्रथम पंक्ति में बताया गया है कि वह पुरुष सब कामनाओं का तथा विषयों के प्रति स्पृहा, लालसा, आसक्ति का सर्वथा त्याग कर देता है। दूसरी पंक्ति में ऐसे पुरुष की बुद्धि के भाव को बताते हुए कहते हैं कि उस पुरुष में अहंकार और ममत्व का पूर्ण अभाव होता है। जहां अहंकार नहीं होता, जैसे निद्रावस्था में, वहाँ इच्छा, आसक्ति आदि का अनुभव नहीं होता। इस प्रकार, प्रथम पंक्ति में अज्ञान के कार्यरूप लक्षणों का निषेध किया गया है, और दूसरी पंक्ति में उस कारण का ही निषेध किया है, जिससे इच्छायें उत्पन्न होती हैं।

प्रस्तावना में स्पष्ट किया गया है कि अर्जुन के व्यक्तित्व के विघटन के कारण अहंकार तथा ममभाव अथवा अहंकार से प्रेरित इच्छायें थीं, जिन्होंने उसके मन और बुद्धि को विलग कर दिया था। भगवान् श्रीकृष्ण सब प्रकार की युक्तियाँ देनें के बाद रोग के मुख्य कारण की ओर अर्जुन का ध्यान आकर्षित करते हैं।

इस श्लोक का निष्कर्ष यह है कि जीवन में हमारे समस्त दुःखों का कारण अहंकार और उससे उत्पन्न ममभाव, स्वार्थ और असंख्य कामनायें हैं।

संन्यास का अर्थ है त्याग, और अहंकार और स्वार्थ को पूर्णरूप से परित्याग करके वैराग्य का जीवन जीना वास्तविक संन्यास है, जिससे वह साधक सतत अपने

पूर्ण दिव्य स्वरूप की अनुभूति में रह सकता है। जीवन से पलायन करने अथवा गेरुये वस्त्र धारण करने को संन्यास समझने की, जो गलत धारणा समाज में फैल गई है उसने उपनिषदों के महान्‌तत्त्वज्ञान पर एक अमिट सा धब्बा लगा दिया है। वास्तव में, हिन्दू धर्म केवल उसी को संन्यासी स्वीकार करता है, "जिसने विवेकपूर्वक अहंकार और स्वार्थ को त्याग कर स्फूर्तिमय जीवन जीना सीखा है।"

एक सच्चे संन्यासी का अत्यन्त सुन्दर वर्णन श्री शंकराचार्य अपने भाष्य में इस प्रकार करते हैं: "वह पुरुष जो सब कामनाओं को त्यागकर, जीवन में सन्तोषपूर्वक रहता हुआ शरीर धारणमात्र के उपयोग की वस्तुओं में भी ममत्व भाव नहीं रखता, न ज्ञान का अभिमान करता है – ऐसा ब्रह्मवित् स्थितिप्रज्ञ पुरुष निर्वाण (शान्ति) को प्राप्त करता है, जहाँ संसार के सब दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है।" संक्षेप में, ब्रह्मवित् ज्ञानी पुरुष ब्रह्म ही बन जाता है।

इस ज्ञाननिष्ठा की इस प्रकार स्तुति करते हैं:

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

हे पार्थ ! यह ब्राह्मी स्थिति है। इसे प्राप्त कर पुरुष मोहित नहीं होता। अन्तकाल में भी इस निष्ठा में स्थित होकर ब्रह्मनिर्माण (ब्रह्म के साथ एकत्व) को प्राप्त होता है ॥७२॥

सब इच्छाओं के त्याग का अर्थ है अहंकार का त्याग। अहंकार रहित अवस्था निष्क्रिय, अर्थहीन, शून्य नहीं हैं। जहां भ्रान्तिजनित अहंकार समाप्त हुआ, वहीं पर पूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्मा प्रकाशित होता है। अपने हृदय में स्थित आत्मा को पहचानने का ही अर्थ है, उसी समय सर्वत्र व्याप्त, नित्य ब्रह्म को पहचानना। अहंकार के नष्ट होने पर नित्य चैतन्य आत्मा का अनुभव उससे भिन्न रहकर नहीं होता, वरन् उसके साथ एकत्व का अनुभव ही होता है। अतः इस साक्षात्कार को ब्राह्मी स्थिति कहा गया है।

यहां एक शंका उठ सकती है कि क्या आत्मानुभव के पश्चात् भी हमें पुनः मोहित होकर अहंकार से उत्पन्न दुःखों का भोग हो सकता है? ऐसे किसी पुनर्मोह का यहां निषेध करके भगवान् हमारे भय को दूर कर देते हैं। और भी एक बात है कि आत्मसाक्षात्कार का युवावस्था में ही होना आवश्यक नहीं है। वृद्धावस्था अथवा जीवन के अन्तिम क्षणों में भी यदि मनुष्य अपने स्वयंसिद्ध नित्य स्वरूप को पहचान लेता है, तब भी वह अनुभव ब्राह्मी स्थिति के लिए पर्याप्त है।

"मिथ्या का निषेध और सत्य का प्रतिपादन" – यही वह मार्ग है जिसका उपनिषदों में आत्मप्राप्ति के लिए उपदेश है। कर्मयोग उस ज्ञान का व्यावहारिक स्वरूप है, जिसका निरूपण व्यासजी ने गीता में अपनी मौलिक शैली में किया है। अनासक्त भाव से, सिद्धि और असिद्धि में समान रहते हुए कर्म करने का अर्थ है अहंकार के अधिकार को ही समाप्त करना, और इस प्रकार अनजाने ही वहाँ उच्च-तर सत्य की स्थापना करना। अस्तु वेदान्त के निदिध्यासन से गीता में वर्णित कर्म योग की साधना भिन्न नहीं है। परन्तु अर्जुन भगवान् के केवल वाच्यार्थ को ही ग्रहण करता है और उसके मन में एक सन्देह उत्पन्न होता है, जिसे वह तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में व्यक्त करता है। अतः, अगले अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण कर्मयोग का विस्तारपूर्वक विवेचन करते हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगाशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे सांख्ययोगोनाम् द्वितीयोऽध्यायः ॥

इस प्रकार श्रीकृष्णार्जुन संवाद के रूप में ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र स्वरूप श्रीद्भगवद्गीतोपनिषद् का सांख्ययोग नामक दूसरा अध्याय समाप्त होता है।

कपिल मुनिजी के 'सांख्य दर्शन' के अर्थ में इस अध्याय का नाम 'सांख्ययोग' नहीं है। यहाँ सांख्य शब्द का प्रयोग उसकी व्युत्पत्ति के आधार पर किया गया है, जिसके अनुसार सांख्य का अर्थ है "किसी विषय का युक्तियुक्त वह विवेचन, जिसमें अनेक तर्क प्रस्तुत करने के पश्चात् किसी विवेकपूर्ण निष्कर्ष पर हम पहुँचते हैं।" इस अर्थ में, तत्त्वज्ञान से पूर्ण इस अध्याय को संकल्प वाक्य में 'सांख्ययोग' कहा गया है।

यह सत्य है कि मूल महाभारत में गीता के अध्यायों के अन्त में ये संकल्प वाक्य नहीं मिलते। किसी एक व्यक्ति को इनकी रचना का श्रेय देने के विषय में व्याख्याकारों में मतभेद है। तथापि यह स्वीकार किया जाता है कि एक अथवा अनेक विद्वानों ने प्रत्येक अध्याय के विषय का अध्ययन कर उसका उचित नामकरण किया है। गीता के सभी विद्यार्थियों के लिए, वास्तव में, ये नाम उपयोगी हैं। श्री शंकराचार्य ने इस विषय पर भाष्य नहीं लिखा है।

ॐ

तृतीय अध्याय

कर्मयोग

युद्ध से निवृत्त होकर और राज्य वैभव का त्याग कर जंगलों में संन्यासी जीवन व्यतीत करते हुए सत्य की खोज करने के लिए अर्जुन ने विचार व्यक्त किया था। भगवान् श्रीकृष्ण ने अनेक तर्क प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से इसका प्रतिवाद किया। एक स्थान पर उन्होंने यह उपदेश दिया कि कर्म फलासक्ति छोड़कर कर्म करना अर्जुन का परम कर्तव्य है। श्रीकृष्ण ने इस बात की भी सावधानी रखने को कहा कि, "अकर्मण्यता में तुम्हारी आसक्ति न हो।" तत्पश्चात्, अध्याय की समाप्ति ज्ञानमार्ग के उपदेश के साथ हुई। स्वाभाविक ही है कि अर्जुन को यह शंका हुई हो कि आत्मविकास के लिए वह कौन सा मार्ग अपनाये।

भारत में तत्वज्ञान का उपदेश गुरु–शिष्य संवाद के रूप में अत्यन्त सद्भाव-पूर्ण वातावरण में दिया जाता है। विश्व के किसी भी धर्म में शिष्य को यह स्वतन्त्रता नहीं दी जाती है कि वह स्पष्ट रूप से प्रश्न पूछे अथवा गुरु के साथ तर्क करते हुए असहमत भी हो सके।

वेदान्त धर्म का पूर्ण एवं विस्तृत विज्ञान होने के कारण ऋषियों ने कभी भी शिष्यों की तर्क बुद्धि की उपेक्षा करके उनके अन्धविश्वासी अथवा मूढ़ भक्त होने का आग्रह नहीं किया। वे शिष्यों को सन्देह निवारणार्थ प्रश्न पूछने के लिए सदैव प्रोत्साहित करते थे। ऐसे संवाद के क्षणों में गुरु और शिष्य के बीच मानो विचार प्रतियोगिता होती थी। ऐसे विचार के अभ्यास से शिष्य को आध्यात्मिक सामर्थ्य के साथ साथ अपने व्यक्तित्व के सभी पक्षों के प्रति पूर्णता और जागरूकता भी प्राप्त होती थी। महर्षि व्यास जी ने गीता में इसका अत्यन्त कलात्मक शैली में उपयोग करके उपनिषदों की इस अध्ययन प्रणाली को सुरक्षित रखा है।

किसी भी विद्यार्थी के मन में गीता का अध्ययन करते समय यह शंका आ सकती है, जिसे अर्जुन तीसरे अध्याय में प्रगट करता है। श्रीकृष्ण ने अब तक जो उपदेश दिया है, उसके आधार पर यह प्रश्न सहज ही उठाया जा सकता है कि परमार्थ सत्य की अनुभूति के लिए कौन सा निश्चित और सरल मार्ग है? साधन मार्ग के संबंध में, जो विकल्प मन में आते हैं, वे, इस प्रकार हैं: (क) ज्ञान; अथवा (ख)

कर्म, अथवा (ग) इन दोनों का समुच्चय अर्थात् दोनों का एक साथ अनुष्ठान, अथवा (घ) दोनों से ही पूर्ण संन्यास । ये विकल्प केवल उसी प्रकार के मन में उठेंगे, जो पूर्ववर्णित योग के जीवन को उत्साहपूर्वक जीना चाहता है ।

श्री शंकराचार्य के अनुसार, वेदों में कर्म और ज्ञान का अनुष्ठान एक क्रम में बताया गया है, न कि उनका समुच्चय । इसमें कोई सन्देह नहीं कि कोई भी जीवित प्राणी अपने जीवन में एक क्षण भी बिना किसी प्रकार का कर्म किये नहीं रह सकता । सभी क्रियाओं की समाप्ति का अर्थ है मृत्यु । इसलिए जन्म से मृत्यु पर्यन्त हमारे लिए कर्म अनिवार्य है ।

जन्मजात अज्ञान के कारण स्वाभाविक प्रवृत्ति से ही हम अहंकार और स्वार्थ से प्रेरित हुए कर्म करते हैं । एक असंस्कृत व्यक्ति अविवेक और अपनी दुष्प्रवृत्तियों से प्रेरित हुआ कर्म करता है इस प्रकार अपने लिए दुखी जीवन का निर्माण करता है । वह कर्म तो करता है, सुख प्राप्ति के लिए, परन्तु परिणामस्वरूप अर्जित करता है–क्षणिक सुख, अन्तहीन दुःख और असंख्य वासनाएँ । ये वासनाएँ अपने क्षय के लिए नये-नये अनुभवों के क्षेत्रों की अपेक्षा रखती हैं ।

स्वाभाविक ही, कर्म से वासना और वासना से कर्म के इस निरन्तर चलने वाले दुश्चक्र से मुक्ति पाने का एक मात्र उपाय है–कर्मयोग । निःस्वार्थ होकर ईश्वर को भक्तिपूर्वक अर्पण किये गए कर्म पूर्वस्थित वासनाओं का क्षय करते हैं और स्वयं नई वासनाएँ उत्पन्न नहीं करते जिससे कि प्रेरित होकर मनुष्य नये कर्म करे ।

वेद कालीन जीवन में कर्म का सीमित अर्थ केवल यज्ञयागादि कर्मकाण्ड से ही था । इन कर्मों के दीर्घकालीन अनुष्ठान के फलस्वरूप चित्तशुद्धि प्राप्त होती है जिससे तात्पर्य संगठित व्यक्तित्व और चित्त एकाग्रता से है । यह प्रमाणित तथ्य है कि इस प्रकार साधन सम्पन्न व्यक्ति ही आत्मविचार तथा आत्मसाक्षात्कार में सफल हो सकता है ।

व्यास जी ने गीता की रचना अपने काल की अत्यावश्यक मांग की पूर्ति के रूप में की थी । प्राचीन पारम्परिक विचारधारा घिसीपिटी और निष्प्राण होकर रह गई थी । निष्प्राण विचार संस्कृत का पोषण नहीं कर सकते । अतः व्यास जी ने गीता के माध्यम से, श्रीकृष्ण द्वारा तत्कालीन भाषा में समसामयिक परिस्थितियों के संदर्भ में वैदिक सत्य की पुनर्व्याख्या तथा अर्थ समाज के समक्ष प्रस्तुत किया । युद्धभूमि में अर्जुन ऐसी सेना का सामना करने के लिए खड़ा था, जिसका उद्देश्य सर्वथा अनैतिक और अधार्मिक था । यद्यपि आत्मविकास जीवन का लक्ष्य है, परन्तु ऐसे क्षणों में उसका साधन यज्ञरूप कर्मकाण्ड नहीं हो सकता था क्योंकि उस स्थिति में अर्जुन को युद्ध से कर्तव्यच्युत होना पड़ता, जो उपयुक्त नहीं था ।

यदि कर्मकाण्ड ही एक मात्र साधन होता, तो सभी लोग, कालों में जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य को पाने के लिए उस साधन का अनुष्ठान नहीं कर सकते थे। इस लिये गीता में वैदिक विचार का विस्तार किया गया है। श्रीकृष्ण अपनी दिव्य घोषणा में उन सभी कर्मों को 'यज्ञ' ही प्रमाणित करते हैं, जिनका आचरण शुद्ध उद्देश्य, गहन भक्ति भावना तथा समर्पण बुद्धि से किया गया हो।

वैदिक सिद्धांतों के व्यावहारिक रूप के विकास के प्रारम्भकर्ता की दृष्टि से गीता का मौलिक योगदान रहा है। इस तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में पूछे गये प्रश्न के द्वारा अर्जुन के मन का भ्रम स्पष्ट होता है। अर्जुन मानसिक उन्माद की जिस स्थिति में पहुँच गया था उसका हम अवलोकन कर चुके हैं। मन की विकृत अवस्था के रोगी के लक्षण आधुनिक मनोविज्ञान में इस प्रकार बताये गये हैं कि : "उस रोगी व्यक्ति का वास्तविकता से सम्बन्ध नहीं रहता। वह स्वप्न जगत् में रह सकता है। अपने व्यक्तित्व तथा आसपास के वातावरण का उसे भान नहीं होता। या वह अपने व्यवहार को संयमित नहीं रख सकता। विचित्र कल्पनाएँ करना, वस्तु को विपरीत देखना अथवा सुनना, वस्तु का सर्वथा अभाव होने पर भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस या गन्ध का अनुभव होना, उस रोगी के लक्षण हैं।"

यद्यपि मानसिक रोग के शिकार अर्जुन ने अपने आप को भगवान् को समर्पित कर दिया था तथापि श्रीकृष्ण के उपदेश को वह पूर्णरूप से नहीं समझ पाया था। विषाद के कारण अपने कर्तव्य को वह अभी भी निश्चित नहीं कर सका था। इसके पूर्व युद्ध न करने का उसने निश्चय किया था और उसके औचित्य को सिद्ध करने के लिए अनेक तर्क भी दिये थे, वह भी अपने निर्णय के प्रति पक्षपाती ही था। द्वितीय अध्याय में वह श्रीकृष्ण के उपदेश को ध्यान से सुन रहा था, परन्तु मुख्यतः मानो, उसमें कुछ दोष देखने अथवा स्वयं के निर्णय को प्रमाणित करने वाले तर्कों को पाने की दृष्टि से।

अपने ही विचारों के प्रति आग्रही होने के कारण अर्जुन को भगवान् के तर्क कुछ अस्पष्ट और सन्देहास्पद प्रतीत हुये। अपने निर्णय के विरुद्ध सभी विचारों के प्रति पूर्वाग्रह होने के कारण भी श्रीकृष्ण का उपदेश वह स्पष्ट नहीं समझ सका। एक स्थान पर कर्म की श्रेष्ठता के प्रति उनका उपदेश था; किन्तु अध्याय के अन्त में संन्यास या ज्ञान मार्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई थी।

उस सम्पूर्ण अवधि में अर्जुन का यही प्रयत्न था कि भगवान् उसकी कायरता को हृदय की श्रेष्ठ भावना समझें, उसकी प्रसंशा करें और उसे उचित समझकर उसका अनुमोदन करें। परन्तु भगवान् ने यह कुछ भी नहीं किया। तथापि अर्जुन को अपने निर्णय की योग्यता को सिद्ध करने वाला एक अप्रत्यक्ष प्रमाण दिखाई ही

दिया ! क्या भगवान् ने स्थितप्रज्ञ पुरुष का विस्तार से वर्णन नहीं किया था ? अर्जुन का कहना है, "यही तो मैं चाहता था।" परन्तु उसी समय उसे शत्रुओं के साथ क्रूर युद्ध करने हेतु आगे किया जाता है। ऐसी परिस्थिति में स्वाभाविक है कि अर्जुन श्रीकृष्ण से सीधे प्रश्न करे कि परस्पर विरोधी उपदेश से वे उसे भ्रमित क्यों कर रहे हैं।

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

हे जनार्दन ! यदि आपको यह मान्य है कि कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ है, तो फिर हे केशव ! आप मुझे इस भयंकर कर्म में क्यों प्रवृत्त करते हैं ? ॥१॥

अभी भी अर्जुन का यही विश्वास है कि गुरुजन, पितामह आदि के साथ युद्ध करना भयानक कर्म है। लगता है, अर्जुन या तो भगवान् के उपदेश को भूल गया है, या वह कभी उसे समझ ही नहीं पाया था। श्रीकृष्ण ने यह बिल्कुल स्पष्ट किया था कि महाभारत के युद्ध में अर्जुन गुरुजनों को नहीं मारने वाला था; क्योंकि यह युद्ध व्यक्तियों के बीच न होकर दो सिद्धान्तों के मध्य था। पाण्डवों का पक्ष धर्म एवं नैतिकता का था। परन्तु दुर्भाग्यवश, अर्जुन अपने अहंकार को भूलकर अपने पक्ष के साथ एकरूप नहीं हो पाया। जिस मात्रा में वह आदर्श के साथ तादात्म्य नहीं कर पाया, उस मात्रा में उसका अहंकार बना रहा और युद्ध करने में उसे नैतिक दोष दिखाई दिया।

इस श्लोक में अर्जुन का तात्पर्य यह है कि यद्यपि श्रीकृष्ण के तर्क-संन्यासमार्ग का ही अनुमोदन कर रहे थे, परन्तु उसे भयंकर कर्म में प्रवृत्त किया जा रहा था।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

आप इस मिश्रित वाक्य से मेरी बुद्धि को मोहित-सा करते हैं अतः आप उस एक (मार्ग) को निश्चित रूप से कहिये, जिसमें मैं परम श्रेय को प्राप्त कर सकूँ ॥२॥

पहले से ही मोहित-मन अर्जुन में सामान्य मनुष्य होने के नाते, वह सूक्ष्म बुद्धि नहीं थी जिसके द्वारा विवेक पूर्वक भगवान् के सूक्ष्म तर्कों को समझ कर वह निश्चित

कर सके कि परम श्रेय की प्राप्ति के लिये कर्म मार्ग सरल था अथवा ज्ञान मार्ग। इसलिए, वह यहाँ भगवान् से नम्र निवेदन करता है, "आप उस एक मार्ग को निश्चित कर आदेश करिये जिससे मैं परम श्रेय को प्राप्त कर सकूँ।"

अर्जुन को इसमें कोई सन्देह नहीं था कि जीवन केवल धन के उपार्जन, परिग्रह और व्यय करने के लिए नहीं है। वह जानता था कि उसका जीवन श्रेष्ठ सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए था, जिसके लिए भौतिक उन्नति केवल साधन थी, साध्य नहीं। अर्जुन मात्र यह जानना चाहता था कि उपलब्ध परिस्थितियों का जीवन की लक्ष्य प्राप्ति और भविष्य निर्माण में किस प्रकार सदुपयोग करे।

प्रश्न के अनुरूप भगवान् उत्तर देते हैं :

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

श्री भगवान् ने कहा–

हे निष्पाप (अनघ) अर्जुन ! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गई है, ज्ञानियों की (सांख्यानां) ज्ञानयोग से और योगियों की कर्मयोग से ॥३॥

कर्मयोग और ज्ञानयोग को परस्पर प्रतिद्वन्द्वी मानने का अर्थ है, उनमें से किसी एक को भी नहीं समझना। परस्पर पूरक होने के कारण उनका क्रम से अर्थात् एक के पश्चात् दूसरे का आश्रय लेना पड़ता है। प्रथम, निष्काम भाव से कर्म करने पर मन में स्थित अनेक वासनायें क्षीण हो जाती हैं। इस प्रकार मन के निर्मल होने पर उसमें एकाग्रता और स्थिरता आती है, जिससे वह ध्यान में निमग्न होकर परमार्थ तत्त्व का साक्षात् अनुभव करता है।

विदेशी संस्कृति के लोग हिन्दू धर्म को समझने में बड़ी कठिनाई अनुभव करते हैं। साधनों की विविधता और परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले उपदेशों को पढ़ कर उनकी बुद्धि भ्रमित हो जाती है। परन्तु, केवल इसी कारण से हिन्दू धर्म को अवैज्ञानिक कहने में उतनी ही बड़ी और हास्यास्पद त्रुटि होगी, जितनी चिकित्साशास्त्र को विज्ञान न मानने में, केवल इसलिये कि एक ही चिकित्सक एक ही दिन में विभिन्न रोगियों को विभिन्न औषधियों द्वारा उपचार बताता है।

अध्यात्म साधना करने के योग्य साधकों में दो प्रकार के लोग होते हैं : क्रियाशील और मननशील। इन दोनों प्रकार के लोगों के स्वभाव में इतना अन्तर होता है कि दोनों के लिये एक ही साधना बताने का अर्थ होगा किसी एक विभाग के लोगों को निरुत्साहित करना और उनकी उपेक्षा करना। गीता केवल हिन्दुओं के लिये ही नहीं वरन् समस्त मानव जाति के कल्याणार्थ लिखा हुआ शास्त्र है। अतः सभी के उपयोगार्थ उनकी मानसिक एवं बौद्धिक क्षमताओं के अनुरूप दोनों ही वर्गों के लिए साधनाएँ बताना आवश्यक है।

अतः भगवान् यहाँ स्पष्ट कहते हैं कि क्रियाशील स्वभाव के मनुष्यों के लिए कर्मयोग तथा मननशील साधकों के लिए ज्ञानयोग का उपदेश किया गया है। 'पुरा' शब्द से वे यह भी इंगित करते है कि ये दो मार्ग सृष्टि के आदिकाल से ही जगत् में विद्यमान हैं।

इस श्लोक में प्रथम बार भगवान् श्रीकृष्ण अपने वास्तविक परिचय की एक झलकमात्र दिखाते हैं। यदि गीतोपदेश देवकीपुत्र कृष्ण नामक किसी मर्त्य पुरुष का ही दिया होता, तो अधिक से अधिक उसमें उस व्यक्ति की बुद्धि द्वारा समझे हुये सिद्धांत ही होते, जिनका आधार जीवन के उसके स्वानुभव मात्र होते। जीवन में अनुभव किये तथ्यों में परिवर्तित होते रहने का विशेष गुण होता है, और इसीलिये जब वे बदलते हैं तो हमारा पूर्व का निष्कर्ष भी परिवर्तित हो जाता है। परिवर्तित सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक परिस्थितियों एवं विज्ञान के क्षेत्र में हुई प्रगति के साथ समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं विज्ञान के अगणित पूर्व प्रतिपादित सिद्धांत काल-बाह्य हो चुके हैं। यदि गीता में कृष्ण नामक किसी मनुष्य की बुद्धि से पहुँचे हुए निष्कर्ष मात्र होते, तो वह कालबाह्य होकर अब उसके अवशेष मात्र रह गए होते !

यहाँ, श्रीकृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं, "सृष्टि के आदि में (पुरा) ये दो मार्ग 'मेरे' द्वारा कहे गये थे।" इसका तात्पर्य यह है कि यहाँ भगवान, वृन्दावन के नीलवर्ण गोपाल, गोपियों के प्रिय सखा अथवा अपने युग के महान् राजनीतिज्ञ के रूप में नहीं बोल रहे थे। किन्तु भारतीय इतिहास के एक स्वस्वरूप के ज्ञाता, तत्त्वदर्शी उपदेशक, सिद्ध पुरुष एवं ईश्वर के रूप में उपदेश दे रहे थे। उस क्षण वे न तो अर्जुन के सारथि के रूप में, न एक सखा के रूप में और न ही पाण्डवों के शुभेच्छु के रूप में बात कर रहे थे। उन्हें अपने पारमार्थिक स्वरूप जगत् के अधिष्ठान कारण के रूप में पूर्ण भान था। काल और कारण के अतीत सत्यस्वरूप में स्थित हुए वे इन दो मार्गों के आदि उपदेशक के रूप में अपना परिचय देते हैं।

कर्मयोग लक्ष्य प्राप्ति का क्रमिक साधन है, साक्षात् नहीं। अर्थात् वह ज्ञान

प्राप्ति की योग्यता प्रदान करता है, जिससे ज्ञानयोग के द्वारा सीधे ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है। इसे समझाने के लिये भगवान् कहते हैं :

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।।४।।

कर्मों के न करने से मनुष्य नैष्कर्म्य को प्राप्त नहीं होता और न कर्मों के संन्यास से ही वह सिद्धि (पूर्णत्व) प्राप्त करता है ।।४।।

अपने आत्मस्वरूप की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति परिपूर्ण है। इस पूर्णत्व के अज्ञान के कारण हमारी बुद्धि में अनेक इच्छायें सुख को पाने के लिए उत्पन्न होती हैं। यह सब जानते हैं कि हम केवल उन्हीं वस्तुओं की इच्छा करते हैं, जो पहले से हमारे पास पूर्ण रूप में अथवा पर्याप्त मात्रा में नहीं होतीं। जैसी इच्छायें, वैसी ही विचार वृत्तियाँ मन में उठती हैं। मन में उठने वाली ये वृत्तियाँ विक्षेप कहलाती हैं। प्रत्येक क्षण, इन वृत्तियों के गुण-धर्म इच्छाओं के अनुरूप ही होते हैं। ये विचार ही शरीर के स्तर पर बाह्य जगत् में मनुष्य के कर्म के रूप में व्यक्त होते हैं। इस प्रकार, अविद्या जनित इच्छा, विक्षेप और कर्म की श्रृंखला में हम बँधे हुए पड़े हैं।

इस पर और अधिक गहराई से विचार करने पर ज्ञात होगा कि वास्तव में ये सब भिन्न-भिन्न न होकर एक आत्म अज्ञान के ही अनेक रूप हैं। यह अज्ञान बुद्धि, मन और शरीर के स्तर पर क्रमशः इच्छा, विचार और कर्म के रूप में व्यक्त होता है। अतः स्वाभाविक है कि यदि परम तत्त्व की परिभाषा "अज्ञान के परे का अनुभव" है, तो यह भी सत्य है कि 'इच्छा शून्य', या 'विचार शून्य', या 'कर्म शून्य' स्थिति ही आत्मस्वरूप है। कर्मशून्यत्व को यहाँ 'नैष्कर्म्य' कहा है।

इस प्रकार विचार करने से ज्ञात होता है कि 'नैष्कर्म्य' का वास्तविक अर्थ पूर्णत्व है। अतः भगवान् कहते हैं कि कर्मों के संन्यास मात्र से नैष्कर्म्य सिद्धि नहीं मिलती। जीवन-संघर्षों से पलायन, व्यक्ति के विकास के सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति का मार्ग नहीं है। अर्जुन का विचार रणभूमि से पलायन करने का था और, इसलिए उसे वैदिक संस्कृति के सम्यक् ज्ञान की पुनः शिक्षा देना आवश्यक था। भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा दिव्य गीतोपदेश का यही प्रयोजन भी था।

कर्मयोग से अन्तःकरण शुद्धि और तत्पश्चात् ज्ञानयोग से आत्मानुभूति – संक्षेप में यह है आत्मविकास की साधना, जिसका संकेत इस श्लोक में किया गया है। इसलिए हिन्दू धर्म पर लिखने वाले सभी महान् लेखक इस श्लोक को प्रायः उद्धृत करते हैं।

ज्ञान के बिना केवल कर्मसंन्यास से ही नैष्कर्म्य अथवा पूर्णत्व क्यों नहीं प्राप्त होता ? – कारण यह है कि :

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।५।।

कोई भी पुरुष कभी क्षणमात्र भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता! क्योंकि, प्रकृति से उत्पन्न गुणों के द्वारा अवश हुए सब (पुरुषों) से कर्म करवा लिया जाता है ।।५।।

प्रकृति के सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के प्रभाव में मनुष्य सदैव रहता है । क्षणमात्र भी पूर्णरूप से निष्क्रिय होकर वह नहीं रह सकता । निष्क्रियता जड़ पदार्थ का धर्म है । शरीर से कोई कर्म न करने पर भी हम मन और बुद्धि से क्रियाशील रहते ही हैं । विचार क्रिया केवल निद्रावस्था में लीन हो जाती है । जब तक हम इन गुणों के प्रभाव में रहते हैं, तब तक कर्म करने के लिए हम विवश होते हैं ।

इसलिए, कर्म का सर्वथा त्याग करना प्रकृति के नियम के विरुद्ध होने के कारण असम्भव है । शारीरिक कर्म न करने पर भी मनुष्य व्यर्थ के विचारों में मन की शक्ति को गँवाता है । अतः, गीता का उपदेश है कि मनुष्य शरीर से तो कर्म करे, परन्तु समर्पण की भावना से; इससे शक्ति के अपव्यय से बचाव होने के साथ-साथ उसके व्यक्तित्व का भी विकास होता है ।

आत्मस्वरूप को नहीं जाननें वाले पुरुष के लिए कर्तव्य का त्याग उचित नहीं है । भगवान् कहते हैं :

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।।६।।

जो मूढ बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियों का निग्रह कर, इन्द्रियों के भोगों का मन से स्मरण (चिन्तन) करता रहता है, वह मिथ्याचारी (दम्भी) कहा जाता है ।।६।।

शरीर से निष्क्रिय होकर कहीं पर भी नहीं पहुँचा जा सकता फिर पूर्णत्व की स्थिति के विषय में क्या कहना । जिसने कर्मेन्द्रियों के निग्रह के साथ ही मन और बुद्धि को विषयों के चिन्तन से बुद्धिमत्तापूर्वक निवृत्त नहीं किया हो, तो ऐसे साधक की आध्यात्मिक उन्नति, निश्चय ही, असुरक्षित और आनन्दरहित होगी ।

मनोविज्ञान की आधुनिक पुस्तकों में उपर्युक्त वाक्य का सत्यत्व सिद्ध होता है। शरीर से अनैतिक और अपराधपूर्ण कर्म करनें की अपेक्षा मन से उनका चिन्तन करते रहना अधिक हानिकारक है। मन का स्वभाव है एक विचार को बारम्बार दोहराना। इस प्रकार, एक ही विचार के निरन्तर चिन्तन से मन में उसका दृढ़ संस्कार (वासना) बन जाता है, और फिर, जो कोई विचार हमारे मन में उठता है उनका प्रवाह पूर्व निर्मित दिशा में ही होता है विचारों की दिशा निश्चित हो जाने पर वही मनुष्य का स्वभाव बन जाता है, जो उसके प्रत्येक कर्म में व्यक्त होता है। अतः निरन्तर विषय-चिन्तन से वैषयिक संस्कार मन में गहराई से उत्कीर्ण हो जाते हैं, और फिर उनसे प्रेरित विवश मनुष्य संसार में इसी प्रकार के कर्म करते हुये देखने को मिलता है।

जो व्यक्ति बाह्य रूप से नैतिक और आदर्शवादी होने का प्रदर्शन करते हुए मन में निम्न स्तर की वृत्तियों में रहता है वास्तव में वह अध्यात्म का सच्चा साधक नहीं, वरन् जैसा कि यहाँ कहा गया है, "विमूढ और मिथ्याचारी है!" हम सब जानते हैं कि शारीरिक संयम होने पर भी मन की वैषयिक वृत्तियों को संयमित करना सामान्य पुरुष के लिए कठिन होता है।

यह समझते हुए कि सामान्य पुरुष अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों से स्वयं को सुरक्षित रखने का उपाय नहीं जान सकता, इसलिए भगवान् कहते हैं :

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

परन्तु, हे अर्जुन! जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है, वह श्रेष्ठ है ॥७॥

सरल-सी प्रतीत होने वाली इन दो पंक्तियों में सही कर्म एवं जीवन जीने की कला का सम्पूर्ण ज्ञान सन्निहित है। आधुनिक जगत् को "विचारों की सूत्ररूपता" (अर्थात् कम शब्दों में अधिक अर्थ बताना) का ज्ञान नहीं है, जबकि प्राचीन सूत्रकारों ने अपने विचारों से ऐसे भारत का निर्माण किया, जहाँ आध्यात्मिक संस्कृति विकसित हुई और राष्ट्र ने स्वर्णयुग का अवलोकन किया।

मन का अस्तित्व एवं पोषण पांच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ग्रहण की गई बाह्य जगत् की विषय संवेदनाओं से होता है। मन की वृत्ति इन्द्रियों के माध्यम द्वारा विषयों तक पहुंचकर उनके आकार को ग्रहण करती है, जिससे उस विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान

होता है। यदि मन इन्द्रियों के साथ युक्त न हो, तो विषयों के बाह्य देश में स्थित होने पर भी उनका ज्ञान संभव नहीं होता। इसीलिए, अनेक बार जब हम पुस्तक के अध्ययन में एकचित्त हो जाते हैं, तब समीप से किसी के पुकारने पर भी उसकी आवाज हम नहीं सुन पाते। मन की एकाग्रता के ऐसे अनेक उदाहरण हैं।

इस श्लोक में साधक को मन के द्वारा इन्द्रियों को संयमित करने की सम्मति दी गई है। इसे सफलतापूर्वक तभी किया जा सकता है, जब मन को एक श्रेष्ठ दिव्य लक्ष्य की ओर प्रेरित किया जाय। केवल हठपूर्वक मन के तीव्र वेग को रोकने का प्रयत्न करना जलप्लावित नदी का प्रवाह रोकने के प्रयत्न के समान है। इस का व्यर्थ होना निश्चित है। श्रीकृष्ण आत्मसंयम का उपाय आगे बतायेंगे।

मन से इन्द्रियों का संयम करना साधना का निषेधात्मक पक्ष है। हम अपने सामान्य जीवन में अपनी अधिकांश शक्ति विषयों में ही व्यय करते हैं, इसलिये संयम के द्वारा इस शक्ति का अपव्यय रोककर उसे संग्रहित करने को कहा जाता है; किन्तु यदि इस संग्रहित शक्ति का उपयोग तत्काल ही श्रेष्ठ वस्तु की प्राप्ति के लिये नहीं किया जाय, तो संयम के बांध को तोड़कर वह मनुष्य के सन्तुलित व्यक्तित्व को ही प्रवाह में बहाकर ले जायेगी। श्लोक की दूसरी पंक्ति में, अपनी एकत्रित शक्ति का सदुपयोग करना सिखाया गया है।

इस शक्ति का उपयोग कर्मेन्द्रियों के द्वारा कर्मक्षेत्र में समुचित रूप से कर्म करने में करना चाहिये। यहाँ भी, एक महत्वपूर्ण सावधानी रखने के लिये श्रीकृष्ण कहते हैं। कर्मयोगी को सब कर्म अनासक्त होकर करने चाहिये।

यदि किसी कैमरे में साधारण कागज रखकर किसी वस्तु का चित्र खींचने का प्रयत्न किया जाय, तो कितनी ही देर प्रकाशित वस्तु के सामने रखने पर भी उस कागज पर कोई चित्रण नहीं हो सकता! परन्तु कागज को कैमरे के उपयुक्त बनाने पर क्षणमात्र में चित्र खींचा जा सकता है। इसी प्रकार आसक्ति से भरे मन पर विषयों के सम्बन्ध से शीघ्र ही वासनाएँ अंकित हो जाती हैं। इसी कारण से, भगवान् कहते है कि हमको अनासक्त होकर कर्म करना चाहिये, जिससे नये संस्कार उत्पन्न नहीं होंगे। साथ-ही-साथ पूर्वार्जित वासनाओं का क्षय भी हो जायेगा।

गीता में इस सिद्धान्त का विवेचन इतना युक्तियुक्त एवं वैज्ञानिक पद्धति से किया गया है कि उसका अध्ययन करने वाले किसी भी विद्यार्थी को उसमें दोष देखने अथवा संदेह करने का अवसर ही नहीं मिलता।

इंद्रिय संयम से शक्ति के अपव्यय को रोककर, अनासक्त भाव से कर्मेन्द्रियों के द्वारा श्रेष्ठ कर्म करने में उसका सदुपयोग करने से चित्तशुद्धि होगी। इस प्रकार जो

कर्मक्षेत्र हमारे बन्धन का कारण था, उसी में गीता में वर्णित जीवन की शैली अपनाते हुए कर्म करने पर वही क्षेत्र मोक्ष का साधन बन जायेगा ।

इसलिये :

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः ॥८॥

तुम (अपने) नियत (कर्तव्य) कर्म करो; क्योंकि, अकर्म से कर्म श्रेष्ठ है। तुम्हारे अकर्म होने से (तुम्हारा) शरीर निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा ॥८॥

अपने व्यावहारिक जीवन में 'नियत कर्म' से हमको वे सब 'कर्तव्य कर्म' समझने चाहिए, जो परिवार, कार्यालय, समाज एवं राष्ट्र के एक व्यक्ति होने के नाते हमें करने पड़ते हैं। इस दृष्टि से, अकर्म का अर्थ होगा अपने इन कर्तव्यों को कुशलता से नहीं करना। निष्क्रयता से तो शरीर निर्वाह भी असंभव होता है। इस प्रकार के अकर्म से राष्ट्र, समाज और परिवार का नाश होता है; साथ ही वह व्यक्ति स्वयं अपनी अकर्मण्यता का शिकार होकर शारीरिक अक्षमता और बौद्धिक ह्रास से कष्ट पाता है।

यह धारणा ग़लत है कि कर्म बन्धन का कारण होते हैं, इसलिये उनको नहीं करना चाहिए। क्यों ?

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

यज्ञ के लिये क्रिये हुए कर्म के अतिरिक्त, अन्य कर्म में प्रवृत्त हुआ यह पुरुष कर्मों द्वारा बंधता है, इसलिये, हे कौन्तेय! आसक्ति को त्यागकर यज्ञ के निमित्त ही कर्म का सम्यक् आचरण करो ॥९॥

प्रत्येक कर्म कर्त्ता के लिये बन्धन उत्पन्न नहीं करता। केवल अविवेकपूर्वक किये हुए कर्म ही मन में वासनाओं की वृद्धि करके परिच्छिन्न अहंकार और अपरिच्छिन्न आत्मस्वरूप के मध्य एक अभेद्य दीवार खड़ी कर देते हैं। वासनाओं से पूर्ण अन्तःकरण वाले व्यक्ति में दिव्यत्व का कोई प्रकाश नहीं दिखाई देता। पारम्परिक अर्थानुसार, यज्ञ के अतिरिक्त जो अन्य कर्म हैं, वे वासनाओं को उत्पन्न कर व्यक्ति के विकास में अवरोधक बन जाते हैं।

यहां यज्ञ शब्द का अर्थ है" वे सब कर्म जिन्हें मनुष्य निःस्वार्थ भाव एवं समर्पण की भावना से विश्व के कल्याण के लिये करता है ।" ऐसे कर्म व्यक्ति के पतन में नहीं वरन् उत्थान में ही सहायक होते हैं । यज्ञ शब्द का उपर्युक्त अर्थ समझ लेने पर आगे के श्लोक और अधिक स्पष्ट होंगे और उनमें उपदिष्ट ज्ञान सम्पूर्ण विश्व के उपयुक्त होगा ।

जब समाज के लोग आगे आकर परस्पर सहयोग एवं समर्पण की भावना से कर्म करेंगे, केवल तभी वह समाज दारिद्रय और दुःखों के बन्धनों से मुक्त हो सकता है, यह एक ऐतिहासिक सत्य है । ऐसे कर्मों का सम्पादन अनासक्ति के होने से ही संभव होगा । अर्जुन में यह दोष आ गया था कि विरुद्ध पक्ष के व्यक्तियों के साथ अत्यन्त आसक्त हो गया, और परिणामस्वरूप, परिस्थिति को ठीक से समझ नहीं पाया । इसलिए, समसामयिक कर्तव्य का त्याग कर कर्मक्षेत्र से पलायन करने की उसकी प्रवृत्ति हो गयी ।

कर्ममार्ग के अधिकारी व्यक्ति को निम्नलिखित कारणों से भी कर्म करना चाहिए :

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

प्रजापति (सृष्टिकर्ता) ने (सृष्टि के) आदि में यज्ञ सहित प्रजा का निर्माण कर कहा, "इस यज्ञ द्वारा तुम वृद्धि को प्राप्त हो और यह यज्ञ तुम्हारे लिये इच्छित कामनाओं को पूर्ण करने वाला (इष्टकामधुक्) होवे ॥१०॥

स्वयं सृष्टिकर्त्ता प्रजापति पंचमहाभूतों की सृष्टि रचकर अन्य प्राणियों के साथ मनुष्य को भी कर्म करने और फल पाने के लिए उत्पन्न करते हैं । उस समय वे यज्ञ को भी बनाते हैं अर्थात् उसका उपदेश देते हैं । यज्ञ का अर्थ है "समर्पण बुद्धि और सेवा भाव से किये हुए कर्म ।" प्रकृति में सर्वत्र यज्ञ की भावना स्पष्ट दिखाई देती है । सूर्य प्रकाशित होता है और चन्द्रमा प्रकट होता है, समुद्र स्पन्दित होता है, पृथ्वी प्राणियों को धारण करती है – ये सब मातृभाव से तथा यज्ञ की भावना से कर्म करते है, जिनमें रंचमात्र भी आसक्ति नहीं होती ।

ब्रह्माण्ड की शक्तियाँ और प्राकृतिक घटना चक्र अपने आप सब की सेवा में संलग्न रहता है । जगत् में जीवन के प्रादुर्भाव के पूर्व ही प्रकृति ने उसके लिये उचित क्षेत्र निर्माण कर रखा था । जब विभिन्न स्तरों पर जीवन का विकास होता है, तब भी हम प्रकृति में सर्वत्र चल रहा यज्ञ कर्म देख सकते हैं, जिसके कारण सब का

अस्तित्व बना रहता है और विकास होता रहता है।

उपर्युक्त सिद्धांत को काव्यात्मक-भाषा में यह अर्थ गर्भित श्लोक प्रस्तुत करता है। सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माजी ने "सेवा की भावना" तथा "यज्ञ करने की क्षमता" के साथ जगत् की रचना की। मानो, उन्होंने घोषणा की, 'इस यज्ञ से तुम वृद्धि को प्राप्त हो; यह तुम्हारे लिये कामधेनु सिद्ध हो।" पौराणिक कथाओं के अनुसार कामधेनु नामक गाय वशिष्ठ ऋषि के पास थी, जो सभी इच्छाओं की पूर्ति करती थी। इस लिए, इस शब्द का अर्थ इतना ही है कि यदि मनुष्य सहयोग और अनुशासन में रह कर, अनासक्ति और त्याग की भावना से कर्म करने में तत्पर रहे, तो उसके लिये कोई भी लक्ष्य अप्राप्य नहीं हो सकता।

यज्ञ से इसे कैसे सम्पादन किया जा सकता है?

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

तुम लोग इस यज्ञ द्वारा देवताओं की उन्नति करो और वे देवतागण तुम्हारी उन्नति करें। इस प्रकार परस्पर उन्नति करते हुए परम श्रेय को तुम प्राप्त होगे ॥११॥

वैदिक सिद्धांत के अनुसार सर्वशक्तिमान् ईश्वर एक है। उसकी यह सर्वशक्ति प्रकृति में अनेक प्रकार से व्यक्त होकर सदैव कार्य करती है। विभिन्न प्रकार से व्यक्त परिच्छिन्न शक्तियों के विभिन्न नियामक हैं उन्हें देवता कहते हैं। इन सबके नाम भी वेदों में बताये हैं जैसे—अग्नि, वायु, इन्द्र आदि।

इस श्लोक के सर्वमान्य और सर्वत्र उपयुक्त होने के लिए 'देव' शब्द का अर्थ यह समझना चाहिए कि ये "किसी भी कर्मक्षेत्र का वह 'अधिष्ठाता देवता' जो कर्म करने वाले कर्मचारी या कर्त्ता को फल प्रदान करता हो।" वह देवता और कोई नहीं, उस कर्म क्षेत्र की "उत्पादन क्षमता" ही होगी। जब हम किसी क्षेत्र विशेष में पूर्ण मनोयोग से परिश्रम करते हैं, तब उस क्षेत्र की 'उत्पादन क्षमता' प्रगट होकर हमें फल प्रदान करती है। यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है यदि हम समझने का प्रयत्न करें कि अपने देश को भारत माता कहने में हमारा क्या तात्पर्य है। राष्ट्र की शक्ति को एक रूप देने में हमारा तात्पर्य उस राष्ट्र के सभी प्रकार के कर्मक्षेत्रों की 'उत्पादन क्षमता' से ही होता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कहीं पर भी निर्माण की जो क्षमता अव्यक्त रूप में रहती है, उसे व्यक्त करने के लिए आवश्यक है केवल मनुष्य का परिश्रम। इस

अव्यक्त क्षमता को कहते हैं देव । इन देवों को यज्ञ कर्म से प्रसन्न कर उनका आह्वान किये जाने पर वे प्रकट होकर यज्ञकर्ता को फल प्रदान कर प्रसन्न करेंगे । इस प्रकार परस्पर उन्नति कर मनुष्य परम श्रेय को प्राप्त करेगा – यह ब्रह्माजी का दिव्य उद्देश्य इस श्लोक में श्रीकृष्ण ने बताया ।

इस सेवाधर्म का पालन प्रकृति में सर्वत्र होता दिखाई देता है । एकमात्र मनुष्य ही है, जिसे स्वेच्छा से कर्म करने की स्वतन्त्रता दी गयी है । इस सार्वभौमिक सेवा धर्म – यज्ञ भावना का पालन करने पर वह शुभफल प्राप्त करता है; परन्तु जिस सीमा तक अहंकार और स्वार्थ से प्रेरित हुआ वह कर्म करेगा, उतना ही वह दुःख पायेगा क्योंकि प्रकृति के सामंजस्य में वह विरोध उत्पन्न करता है ।

और :

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

"यज्ञद्वारा पोषित देवता गण तुम्हें इष्ट भोग प्रदान करेंगे । उनके द्वारा दिये हुये भोगों को जो पुरुष, उनको दिये बिना ही भोगता है, वह निश्चय ही चोर है" ॥१२॥

"देवताओं को सन्तुष्ट करने पर वे हमें सन्तुष्ट करते हैं ", कर्मकाण्ड के इस अबाध्य सिद्धान्त को श्रीकृष्ण दोहराते हैं । देव और यज्ञ इन दो शब्दों के पारम्परिक अर्थ के स्थान पर पूर्व-श्लोकों के विवरण में बताये हुए अर्थ को हम यदि स्वीकार करें तभी इस श्लोक का अर्थ सत्य प्रमाणित होता है "उत्पादन-क्षमता" (देव) का, 'त्याग और अर्पण की भावना से आचरित कर्म' (यज्ञ) के द्वारा पोषण करने पर वह हमें इष्ट फल प्रदान करेगा । यह जीवन का नियम है ।

जब हम सबके यज्ञ से फल प्राप्त होता है, तब उसे आपस में बांटकर उपभोग करने का हमें पूर्ण अधिकार है । किसी भी प्राणी को सामूहिक प्रयत्न में सहयोग दिये बिना दूसरे के कर्मों का लाभ नहीं उठाना चाहिए । पूँजीवादी जीवन व्यवस्था में एक यह दुष्प्रवृत्ति दिखाई देती है कि लाखों कर्मचारियों के सामूहिक कर्मों का अधिक से अधिक लाभ अकेला व्यक्ति उठाना चाहता है। इस प्रकार की दुष्प्रवृत्ति अन्ततः सभी कर्मक्षेत्रों में अव्यवस्था को जन्म देती है । परिणाम यह होता है कि जीवन के सामंजस्य में अव्यवस्था फैलाने से राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिये संकट उत्पन्न हो जाता है । इस श्लोक की दूसरी पंक्ति में कही हुई बात को आधुनिक अर्थ-शास्त्र की भाषा में इस प्रकार कहते हैं "समाज का वह व्यक्ति जो उत्पादन किये

बिना भोग करता है, राष्ट्र के लिये भारस्वरूप है।"

यज्ञ (निःस्वार्थ सेवा) किये बिना जो देवताओं से भोग प्राप्त करता है, भगवान श्रीकृष्ण उसे 'सामाजिक चोर' की संज्ञा देते है। गीताकालीन सम्मानित नैतिक आदर्शों को देखते हुए 'चोर' शब्द का प्रयोग कठोर किन्तु शक्तिशाली है जो भोगी एवं सामाजिक अपराधी व्यक्ति के भ्रष्ट एवं अनादरपूर्ण स्वभाव की ओर संकेत करता है।

परन्तु :

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।१३।।

यज्ञ के अवशिष्ट अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से मुक्त हो जाते हैं; किन्तु जो लोग केवल स्वयं के लिए ही पकाते हैं, वे तो पापों को ही खाते हैं ।।१३।।

उत्पादन किये बिना समाज के धन पर जीने वाले अपराधी व्यक्तियों से सर्वथा भिन्न लोगों के विषय में इस श्लोक में वर्णन है। श्रेष्ठ पुरुष, यज्ञ भावना से कर्म करने के पश्चात् प्राप्त फल में अपने 'भाग' को ही ग्रहण करते हैं और इस प्रकार "सब पापों से मुक्त हो जाते हैं।"

पूर्व काल में किये गये पाप वर्तमान में पीड़ा के कारण है, तो वर्तमान के पाप भविष्य में दुःखों के कारण बनेंगे। अतः, समाज में दुःखों को समाप्त करने का एकमात्र उपाय है, समाज के जागरूक पुरुषों का यज्ञ-भावना से सामूहिक कर्म करके अवशिष्ट फल को ग्रहण कर सन्तुष्ट रहना।

इसके विपरीत, जो केवल अपने लिए ही पकाते हैं, वे पाप को ही खाते हैं। इस श्लोक से प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण 'वैयक्तिक सम्पत्ति' के सर्वथा विरुद्ध हैं, परन्तु एक साम्यवादी व्यक्ति के अर्थ में नहीं। समाज के धन को अपना ही समझ कर उसके परिग्रह के सिद्धान्त का भगवान् विरोध करते हैं। जो मनुष्य धन के लोभ से केवल अपने भोग के लिए, समाज के दरिद्र और अभागे लोगों के कष्टों की ओर ध्यान दिये बिना, धन संग्रह करता है, उसे ही यहाँ "पाप को खाने वाला" कहा गया है।

निम्नलिखित कारणों से भी मनुष्य को कर्म करना चाहिए; क्योंकि कर्म से ही विश्वचक्र चलता है। कैसे ? इसका उत्तर है :

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।।१४।।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।।१५।।

समस्त प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न की उत्पत्ति पर्जन्य से । पर्जन्य की उत्पत्ति यज्ञ से और यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होता है ।।१४।।

कर्म की उत्पत्ति ब्रह्माजी से होती है और ब्रह्माजी अक्षर तत्त्व से व्यक्त होते हैं । इसलिये, सर्वव्यापी ब्रह्म सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है ।।१५।।

विश्व में चल रहे सामूहिक यज्ञ कर्म के चक्र का वेदों की परिचित भाषा में यहाँ वर्णन किया गया है । प्राणियों की उत्पत्ति एवं पोषण का कारण अन्न है । पृथ्वी में स्थित खनिज सम्पत्ति पोषक अन्न का रूप तभी लेती है, जब जल वृष्टि होती है । वर्षा के बिना न तो वनस्पति जीवन की वृद्धि होगी और न पशुओं का जीवन ही संभव होगा ।" यज्ञ के फलस्वरूप वर्षा होती है, तथा यज्ञ का सम्पादन मनुष्य के कर्मों द्वारा होता है ।"

सूक्ष्म विचार के अभाव में यह श्लोक विचित्र ही प्रतीत होता है । आधुनिक शिक्षित व्यक्ति, अन्न (पदार्थ) से प्राणियों की तथा वर्षा से पोषक अन्न की उत्पत्ति होने को तो समझ पाता है, परन्तु उसे यह समझने में कठिनाई होती है कि यज्ञ से वर्षा की उत्पत्ति किस प्रकार होती है ।

भगवान् श्रीकृष्ण के शब्दों से हम यह मानने को बाध्य नहीं हैं कि वे अर्जुन को कर्मकाण्ड के अनुष्ठान का उपदेश दे रहे हैं । गीता में अनेक स्थानों पर, वेद काल में प्रचलित और परिचित शब्दों को नये अर्थों में प्रयुक्त किया गया है । यहाँ भी 'पर्जन्य' से केवल जलवृष्टि ही समझना उचित नहीं । 'पर्जन्य' से तात्पर्य उस 'स्थिति' से है, जो पृथ्वी में स्थित तत्त्वों का भक्षण योग्य पोषक अन्न में रूपान्तर करने के लिए आवश्यक है । इसी प्रकार, प्रत्येक कार्य क्षेत्र में "उपभोग्य लाभ" (अन्न) विद्य-मान होता है, जिसकी प्राप्ति तभी संभव है, जब उसके "अनुकूल परिस्थितियाँ" निर्मित होती हैं । इस प्रकार की "अनुकूल परिस्थिति" (पर्जन्य) का निर्माण सब लोगों के 'निस्वार्थ सेवाभाव से किए गये कर्मों" (यज्ञ) से ही संभव होकर समाज के 'उप-भोग्य वस्तुओं' (अन्न) की उत्पत्ति होती है ।

उदाहरणार्थ, नदी के व्यर्थ ही बहते हुए पानी को रोककर बांध के निर्माण से

उसका उपयोग नदी के तट की उपजाऊ किन्तु अब तक नहीं जोती गई भूमि की सिंचाई के लिये किया जा सकता है। त्याग और परिश्रम से ही बांध का निर्माण संभव होगा। उसके पूर्ण होने पर नदी के दोनों किनारों की भूमि जोतने के लिए 'अनुकूल परिस्थिति' बन जायेगी। सींची हुई भूमि से अन्न प्राप्त करने के लिये निरन्तर परिश्रम की आवश्यकता है, जैसे–भूमि जोतना, बीजारोपण, सिंचन और रक्षण आदि।

यहाँ हमें बताया गया है कि इस कर्मचक्र का सम्बन्ध परम सत्य (ब्रह्म) से किस प्रकार है और कैसे वह ब्रह्म यज्ञ में प्रतिष्ठित है। सम्यक् कर्म का सिद्धान्त (यज्ञ) तथा कर्म की क्षमता भी सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माजी से ही सबको प्राप्त हुई और स्वयं ब्रह्माजी अक्षर-अविनाशी परम तत्त्व ब्रह्म से ही प्रगट हुये हैं। नवजात शिशु में कर्म की क्षमता है; और वह क्षमता सृष्टिकर्त्ता का दिया उपहार है! इसलिये, सर्वगत ब्रह्म सदैव, व्यक्ति के अथवा समूह के उन कर्मों में (यज्ञ) प्रतिष्ठित है, जो विश्व के कल्याण के लिये सेवाभाव से किये गये हों।

इस कर्मचक्र का पालन करने वाला पुरुष प्रकृति के सामंजस्य में अपना योगदान देता है। इसका उल्लंघन करने वाले के विषय में भगवान् कहते हैं :

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

जो पुरुष यहाँ इस प्रकार प्रवर्तित हुए चक्र का अनुवर्तन नहीं करता, हे पार्थ! इंद्रियों में रमने वाला वह पापआयु पुरुष, व्यर्थ ही जीता है ॥१६॥

खनिज, वनस्पति एवं पशु जगत् के समस्त सदस्य अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति से ही यज्ञ भावना का पालन करते हुए प्रकृति में प्रवर्तित कर्मचक्र के निर्विघ्न चलने में अपना योगदान देते हैं। केवल मनुष्य को ही यह स्वतन्त्रता है कि चाहे तो वह इसका पालन करे अथवा विरोध। जब तक किसी पीढ़ी के अधिक–से-अधिक लोग सामंजस्य-के-नियम के अनुसार जीवन जीते हैं, तब तक उतनी ही अधिक मात्रा में वे सुख समृद्धि से सम्पन्न होकर रहते हैं। ऐसे काल को ही सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का स्वर्णयुग कहा जाता है।

परन्तु सभी मनुष्यों के लिए सदैव यह सम्भव नहीं होता कि वे इस सनातन नियम का दृढ़तापूर्वक पालन कर सकें। इतिहास के किसी-किसी काल में मनुष्य इस नियम के विरुद्ध खड़ा हो जाता है, और तब, जीवन में शान्ति और विकास का राज्य बिखरता हुआ अन्त में मात्र खण्डहर रह जाता है। ऐसे तिमिराच्छन्न युग

निराशा और अशान्ति, युद्ध और महामारी, बाढ़ और अकाल से प्रताड़ित और त्रस्त युग होते हैं।

स्वाभाविक ही, मन में यह प्रश्न उठता उठता है कि सुख शान्ति का उज्वल दिवस अस्त होकर जगत् में निराशा और अविवेक की अन्धकारपूर्ण रात्रि आने का क्या कारण है ? इसका उत्तर गीता में दिया हुआ है।

व्यक्तियों से समाज बनता है। किसी समाज की उपलब्धियों के कारण हम उसे कितना ही गौरवान्वित करें, फिर भी समाज के निर्माता व्यक्तियों के व्यक्तिगत योगदान की अवहेलना नहीं की जा सकती। व्यक्तियों के योग्य होने पर समाज सरलता से आगे बढ़ता है। परन्तु इकाई रूप व्यक्तियों का त्रुटिपूर्ण संघटन होने पर सम्पूर्ण समाज रूपी महल ही ढह जाता है। मनुष्य का विनाशकारी जीवन प्रारम्भ होता है, उसके अत्यधिक इन्द्रियों के विषयों में रमने से। देह को ही अपना स्वरूप समझकर उसके पोषण एवं सुख सुविधाओं का ध्यान रखने में ही वे व्यस्त हो जाते हैं। अत्यधिक देहाशक्ति के कारण वे पशुवत विषयोपभोग के अतिरिक्त जीवन का अन्य श्रेष्ठ लक्ष्य ही नहीं जानते और, इसलिये, उच्च जीवन जीने के मार्ग के ज्ञान की भी उन्हें कोई आवश्यकता अनुभव नहीं होती।

ऐसे युग, में कोई भी व्यक्ति यज्ञ की भावना से कर्म करने में प्रवृत्त नहीं होता, जिसके बिना उत्पादन के लिए "अनुकूल परिस्थितियाँ" (पर्जन्य) नहीं बनती, जिससे कि "उत्पादन क्षमता" (देव) आनन्ददायक पोषक वस्तुओं (अन्न) के रूप में प्रगट हो सकें। विषयों के भोगियों को यहाँ 'इन्द्रिया रामाः' कहा गया, जिनमें से प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने ही भोग की चिन्ता करता है, और अनजाने ही विश्व के कर्मचक्र में घर्षण उत्पन्न करता है। इन लोगों का जीवन पापपूर्ण माना गया है और गीता का कथन है, "वे व्यर्थ ही जीते हैं।"

अब एक प्रश्न है : "क्या इस प्रकार प्रवर्तित चक्र का पालन सबको अनिवार्य है, अथवा केवल उसके लिए, जिसे ज्ञानयोग में अभी निष्ठा प्राप्त नहीं हुई है ?" उत्तर में भगवान् कहते हैं :

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

परन्तु जो मनुष्य आत्मा में ही रमने वाला, आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट हो, उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं रहता ॥१७॥

कर्म के चक्र का पालन अधिकतर साधकों के लिए करणीय है, क्योंकि यज्ञ

भावना से कर्म के आचरण द्वारा उनका व्यक्तित्व संगठित होता है और उनमें जीवन के श्रेष्ठ कार्य – ध्यान की योग्यता आती है। निःस्वार्थ कर्म के द्वारा प्राप्त अन्तःकरण की शुद्धि एवं एकाग्रता का उपयोग जब निदिध्यासन में किया जाता है, तब साधक, अहंकार के परे अपने शुद्ध आत्मस्वरूप की अनुभूति प्राप्त करता है। पूर्णत्व प्राप्त ऐसे सिद्ध पुरुष के लिए कर्म की चित्तशुद्धि के साधन के रूप में कोई आवश्यकता नहीं रहती, वरन् कर्म तो उसके ईश्वर साक्षात्कार की अभिव्यक्ति मात्र होते हैं।

यह एक सुविदित तथ्य है कि तृप्ति एवं सन्तोष के लिए ही हम कर्म में प्रवृत्त रहते हैं। तृप्ति और सन्तोष, मानो जीवन-रथ के दो चक्र हैं। इन दोनों की प्राप्ति के लिए ही हम धन का अर्जन, रक्षण, परिग्रह और व्यय करने में व्यस्त रहते हैं। परन्तु आत्मानुभवी पुरुष अपने अनन्त आनन्दस्वरूप में उस तृप्ति और सन्तोष का अनुभव करता है कि उसे फिर बाह्य वस्तुओं की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

जहाँ तृप्ति और सन्तोष है, वहाँ सुख प्राप्ति की इच्छाओं की उत्पत्ति कहाँ ? इच्छाओं के अभाव में कर्म का अस्तित्व कहाँ ? इस प्रकार, आत्म अज्ञान के कार्य इच्छा, विक्षेप और कर्म का उसमें सर्वथा अभाव होता है। स्वाभाविक है, ऐसे पुरुष के लिये कोई 'अनिवार्य कर्तव्य' नहीं रह जाता। सभी कर्मों का प्रयोजन उसमें पूर्ण हो जाता है। अतः, जगत् के सामान्य नियमों में उसे बाँधा नहीं जा सकता। वह ईश्वरीय पुरुष बनकर पृथ्वी पर विचरण करता है।

और :

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

इस जगत् में उस पुरुष का कृत और अकृत से कोई प्रयोजन नहीं है ; और न वह किसी वस्तु के लिये भूतमात्र पर आश्रित होता है ॥१८॥

सामान्य मनुष्य कर्म में दो कारणों से प्रवृत्त होता है : (क) कर्म करने से (कृत) कुछ लाभ की आशा, और (ख) कर्म न करने से (अकृत) किसी हानि का भय। परन्तु जिसने अपने परम पूर्ण आत्मस्वरूप को साक्षात् कर लिया, ऐसे तृप्त और सन्तुष्ट पुरुष को कर्म करने अथवा न करने से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता, क्योंकि, उसे न अधिक लाभ की आशा होती है और न हानि का भय। आत्मानुभूति में स्थित वह पुरुष आनन्द के लिए किसी भी वस्तु या व्यक्ति पर आश्रित नहीं होता। परमार्थ दृष्टि से, बाह्य बिषयरूप जगत् आत्मस्वरूप से भिन्न नहीं है। वास्तव में, आत्मा ही अविद्या वृत्ति से जगत् के रूप में प्रतीत होता है।

"चूँकि तुमने समुद्र के समान पूर्णत्व प्राप्त नहीं किया है, इसलिए–" :

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।।१९।।

इसलिए, तुम अनासक्त होकर सदैव कर्तव्य कर्म का सम्यक् आचरण करो ; क्योंकि, अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ परमात्मा को प्राप्त होता है ।।१९।।

भगवान् श्रीकृष्ण उपदेश के समय यह मानकर चलते हैं कि अर्जुन इस विषय में पूर्णतया अनभिज्ञ है, परन्तु साथ ही, वे उसपर केवल अपने विचार को थोपना भी नहीं चाहते जिन्हें अन्धविश्वासपूर्वक वह स्वीकार कर ले। धर्मपरिवर्तन कराना वेदान्त का कार्य नहीं। हिन्दू लोग इससे अनभिज्ञ हैं। कोई भी विधेयात्मक ('ऐसा करो') उपदेश देने के पूर्व विस्तार से तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं। कर्म के चक्र को पूर्णतः बताने के बाद, अब इस श्लोक में वे अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँच कर अर्जुन को कर्म करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं।

इसलिए, समाज और राष्ट्र के एक योग्य नागरिक होने के नाते तुम सदैव करणीय कर्तव्यों को सम्यक् प्रकार से करो। यहाँ, फिर एक बार, सब कर्मों में अनासक्त रहने पर वल दिया गया है। आसक्ति=अहंकार+अहंकारमूलक इच्छा। अतः, अनाशक्ति का अर्थ है–अहंकार और स्वार्थ का परित्याग। इसके पूर्व, आसक्ति से वासनाओं की उत्पत्ति के विषय में बताया जा चुका है।

"निम्नांकित कारण से भी तुमको कर्म करने चाहिए।"

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ।।२०।।

जनकादि (ज्ञानी जन) भी कर्म द्वारा ही संसिद्धि को प्राप्त हुए ; लोक संग्रह (लोक रक्षण) को भी देखते हुए तुम कर्म करने योग्य हो ।।२०।।

प्राचीन काल में जनक और अश्वपति आदि ज्ञानी राजाओं ने भी कर्म द्वारा ही संसिद्धि प्राप्त की थी। कर्मयोग के सम्यक् ज्ञान पूर्वक अनाशक्ति और अर्पण की भावना से कर्म करते हुए वे बन्धनों से मुक्त हो गए। सेवा के पवित्र जीवन को जी कर जगत् के लिये उन्होंने एक आदर्श स्थापित किया।

श्रीकृष्ण का कहना है कि अर्जुन पर भी जन्मजात राजकुमार होने के कारण प्रजा तथा धर्म के रक्षण का उत्तरदायित्व था जिसका निर्वाह करना उसका कर्तव्य

था। प्रारब्धवशात् आसन्न युद्ध से पलायन न करके कर्तव्य का सम्मान करते हुए उसको कुशलतापूर्वक युद्ध करना चाहिए। उसकी बन्धनकारक वासनाओं के क्षय का एकमात्र यही उपाय था। राजपरिवार में जन्म लेने के कारण सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा अर्जुन पर समाज रक्षण का उत्तरदायित्व अधिक था। इसलिए, उस समय उसे युद्ध रूप कर्तव्य का निर्वाह करना अत्यावश्यक था।

मरुस्थल में लता उत्पन्न नहीं होती। प्रकृति के नियमानुसार प्रत्येक प्राणी, अपने लिये अनुकूल वातावरण में ही स्वयं को उपयुक्त पाता है। इस दृष्टि से, यदि अर्जुन का जन्म क्षत्रिय राज परिवार में हुआ, तो स्वाभाविक है वही उसके लिए अनुकूल रहा होगा। संकटों और शत्रुओं का साहस पूर्वक सामना करने और समाज में शांति और विकास के लिए प्रयत्न करने के जीवन के लिये वह योग्य था।

"लोक संग्रह क्यों करना चाहिये ?" इसका उत्तर है

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करता है, अन्य लोग भी वैसा ही अनुकरण करते हैं; वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग भी उसका अनुसरण करते हैं ॥२१॥

मनुष्य मूलतः अनुकरण करने वाला प्राणी है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। इतिहास के किसी काल में भी समाज का नैतिक पुनरुत्थान हुआ है तो केवल उस राष्ट्र के नेतृत्व करने वाले व्यक्तियों के आदर्शों के कारण। शिक्षकों के सद्व्यवहार से ही विद्यार्थियों को अनुशासित किया जा सकता है; यदि किसी राष्ट्र का शासक भ्रष्ट और अत्याचारी हो तो निम्न पदों के अधिकारी सदय और ईमानदार नहीं हो सकते। छोटे बालकों का व्यवहार पूर्णतः उनके माता-पिता के आचरण एवं संस्कृति द्वारा निर्भर और नियन्त्रित होता है।

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए भगवान् कर्माचरण के लिए अर्जुन के समक्ष एक और कारण प्रस्तुत करते हैं। यदि वह कर्म नहीं करता, तो सम्भव है समाज के अधिकांश लोग भी स्वकर्त्तव्यपराङ्मुख हो जायेंगे और अन्त में परिणाम होगा—जीवन में संस्कृति का ह्रास।

अब आगे, इस बात पर बल देने तथा अब तक दिए उपदेश का प्रभाव दृढ़ करने के लिए भगवान् स्वयं का ही उदाहरण देते हैं। यद्यपि भगवान् स्वयं नित्य-मुक्त हैं, तथापि तमोगुण तथा रजोगुण की बुराइयों में पड़ी तत्कालीन पीढ़ी को

उसमें से बाहर निकालने के लिए वे स्वयं अनासक्त भाव से कुशलतापूर्वक कर्म करते हुए सभी के लिये एक आदर्श स्थापित करते हैं ।

"अधर्म का सक्रिय प्रतिकार" यह श्रीकृष्ण का सिद्धान्त है । उनकी अहिंसा उस दिवास्वप्न देखने वाले कायर के समान नहीं थी, जो अन्याय का प्रतिकार संस्कृति का रक्षण करने में असमर्थ होता है । अब अर्जुन के मन में कर्मयोग के के विषय में कोई सन्देह नहीं रह सकता था ।

"यदि लोकसंग्रह के विषय में तुम्हें कोई शंका हो, तो तुम मुझे क्यों नहीं देखते ? मेरे अनुसार तुम भी लोगों को अधर्म के मार्ग से निवृत्त कर उन्हें धर्म मार्ग में प्रवृत्त होने के लिए अपना आदर्श क्यों नहीं स्थापित करते ? "

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

यद्यपि मुझे त्रैलोक्य में कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है तथा किंचित् भी प्राप्त होने योग्य (अवाप्तव्यम्) वस्तु अप्राप्त नहीं है, तो भी मैं कर्म में ही बर्तता हूँ ॥२२॥

पूर्णस्वरूप में स्थित योगेश्वर श्रीकृष्ण को तीनों लोकों में किसी वस्तु की इच्छा नहीं थी । यदि वे चाहते तो अपने स्वयं के लिए राज्य स्थापित कर उसमें सुख से रह सकते थे, परन्तु केवल कर्तव्य पालन का उत्तरदायित्व समझते हुए पाण्डवों के धर्म और न्याय संगत पक्ष का साथ देने के लिए ही वे युद्धभूमि में आये थे ।

बाल्यकाल से लेकर महाभारत युद्ध के क्षण तक का उनका सम्पूर्ण जीवन अनासक्ति का ज्वलन्त उदाहरण हैं । यद्यपि उन्हें जीवन में कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्य नहीं थी, तथापि वे सदैव कर्म में ही रत रहे, मानो, उनके लिए कर्म करना उत्साह और आनन्द से परिपूर्ण एक क्रीड़ा हो ।

इसी सन्दर्भ में भगवान् कहते हैं ।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

यदि मैं सावधान हुआ (अतन्द्रितः) कदाचित कर्म में न लगा रहूँ तो, हे पार्थ ! सब प्रकार से मनुष्य मेरे मार्ग (वर्त्म) का अनुसरण करेंगे ॥२३॥

भगवान् को कर्म क्यों करने चाहिए ? उनके कर्म न करने से समाज की क्या

हानि होगी ? यह वस्तुस्थिति है कि सामान्य जन सदैव अपने नेता का अनुकरण उसकी वेशभूषा, नैतिक मूल्य, कर्म, और सभी क्षेत्रों में उसके व्यवहार के अनुसार करते है। नेताओं का जीवन उनके लिए आदर्श मापदण्ड होता है। अतः, भगवान् के कर्म न करने पर अन्य लोग भी निष्क्रिय होकर अनुत्पादक स्थिति में पड़े रहेंगे। जबकि प्रकृति में निरन्तर क्रियाशीलता दिखाई देती है। सम्पूर्ण विश्व की स्थिति कर्म पर ही आश्रित है।

गीता में भगवान् 'मैं' शब्द का प्रयोग देवकी पुत्र कृष्ण के अर्थ में नहीं करते वरन् शुद्ध आत्मस्वरूप की दृष्टि से अथवा आत्मानुभवी पुरुष के अर्थ में करते हैं आत्मज्ञानी पुरुष अपने उस शुद्ध चैतन्य स्वरूप को जानता है, जिसपर जड़ अनात्म पदार्थों का खेल हो रहा होता है, जैसे जाग्रत पुरुष के मन पर आश्रित स्वप्न। यदि इस परम तत्व का नित्य आधार या अधिष्ठान न हो, तो वर्तमान में अनुभूत जगत् का अस्तित्व ही बना नहीं रह सकता। यद्यपि लहरों की उत्पत्ति से समुद्र उत्पन्न नहीं होता; तथापि समुद्र के बिना लहरों का नृत्य भी सम्भव नहीं है। इसी प्रकार, भगवान् क्रियाशील रहकर जगत् में न रहें, तो समाज का सांस्कृतिक जीवन ही गतिहीन होकर रह जाएगा।

"यदि मैं कर्म न करूँ, तो क्या हानि होगी ?" भगवान् आगे कहते हैं।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

यदि मैं कर्म न करूं, तो ये समस्त लोक नष्ट हो जायेंगे; और मैं वर्णसंकर का कर्ता तथा इस प्रजा का हनन करने वाला होऊँगा ॥२४॥

ईश्वर के रूप में यदि मैं शासन न करूँ, तो विश्व में उन्नति नहीं होगी और नियमबद्ध, सृष्टि भी नष्ट हो जाएगी। विश्व कोई क्रमहीन रचना नहीं, वरन् नियमबद्ध सृष्टि है। प्रकृति के नियम पालन में कहीं पर भी मर्यादा का उल्लंघन होता नहीं दिखाई देता है।

प्राकृतिक घटनायें, ग्रहों की गति, ऋतुओं का लयबद्ध नृत्य, और सृष्टि का संगी – ये तसब किसी महान् नियमें के अनुसार चलते रहते हैं; इसी को कहते हैं प्रकृति और उसके नियामक ईश्वर न इस ईश्वररूप में भगवान् के निष्क्रिय हो जाने पर ये लोक नष्ट हो जायेंगे। श्रीकृष्ण का यह कथन तर्क के विपरीत नहीं है, जो केवल अन्धविश्वासी लोगों को ही स्वीकार होगा। विज्ञान की दृष्टि से विचार करने वाले लोग भी इसको अस्वीकार नहीं कर सकते।

भगवान् केवल बाह्यजगत् के पदार्थों का संचालन करने वाले नियमों के ही नियामक नहीं बल्कि भावना एवं विचार के आन्तरिक जगत् के भी नियन्ता हैं। हिन्दू ऋषि–मुनियों ने मानव समाज का चार वर्णों में जो वर्गीकरण किया, उसका आधार मनुष्य का मानसिक स्वभाव एवं बौद्धिक क्षमता थी। यदि आन्तरिक जगत् में कोई नियम सुचारु रूप से काम न करे तो मनुष्य के व्यवहार और चरित्र में विचित्रता और अस्थिरता उत्पन्न होगी जिससे भ्रान्ति की वृद्धि होगी। वर्तमान में प्रचलित वर्णसंकर का अर्थ शास्त्र के विपरीत है, जिस कारण आज का शिक्षित व्यक्ति गीता की आलोचना करते हुए कह सकता है कि इसमें उच्च वर्ण की वर्चस्वता को ही भगवान् की स्वीकृति है। वर्ण संकर के विषय में प्रथम अध्याय के ४१वें श्लोक में विवेचन किया जा चुका है।

"आत्मज्ञान प्राप्त कर लेने पर, स्वयं को कर्म से कोई प्रयोजन न होने पर भी ज्ञानी पुरुष को कर्म करना चाहिये।" कैसे ?

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोक संग्रहम् ।।२५।।

हे भारत ! कर्म में आसक्त हुए अज्ञानीजन जैसे कर्म करते हैं वैसे ही विद्वान् पुरुष अनासक्त होकर, लोकसंग्रह (लोक कल्याण) की इच्छा से कर्म करे ।। २५ ।।

हम सब अपने–अपने कार्यक्षेत्रों में जीवन पर्यन्त पूर्ण उत्साह एवं रुचि के साथ कर्म करते रहते हैं। एक सामान्य मनुष्य निरन्तर कर्म के दबाव तथा तनाव में अपने आपको थकाकर क्षीण कर लेता है। शारीरिक स्वास्थ्य, ऋतु परिवर्तन की पीड़ा तथा जीवन के अन्य सुख-दुःख की चिन्ता न करके वह निरन्तर अधिक से अधिक धनार्जन तथा उसके उपभोग के लिये प्रयत्नशील रहता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि आत्मज्ञानी पुरुष भी अज्ञानी के समान उत्साह–पूर्वक अथक कर्म करता है। दोनों के कार्यों में एकमात्र अन्तर यह है कि अज्ञानी पुरुष कर्म फलों में आसक्त हुआ कर्म करता है, तो ज्ञानी पुरुष पूर्णरूप से अनासक्त हुआ केवल विश्व के कल्याण के लिये कर्मरत होता है।

यह संभव है कि सामान्य मनुष्य को ज्ञानी और अज्ञानी के कर्मों के मध्य सूक्ष्म भेद विशेष महत्व का प्रतीत न हो, जब तक कि उसका ध्यान इस ज्ञान की सार्वभौमिक उपयोगिता की ओर आकर्षित नहीं किया जाय। कर्मफल के प्रति आसक्ति और चिन्ता ही वे छिद्र हैं, जिनके माध्यम से कर्त्ता की शक्ति बिखर जाती है और

जीवन में उसे केवल असफलता ही हाथ लगती है। ज्ञानी पुरुष भी शरीर, मन और बुद्धि से ही समस्त कर्म करता है, परन्तु वह मन की शक्ति को व्यर्थ में गंवाता नहीं।

मन का यह स्वभाव है कि वह किसी न किसी वस्तु के साथ आसक्त होकर ही कार्य करता है। इस श्लोक में वर्णित अनासक्ति का अर्थ है "मिथ्या विषयों के प्रति मन में आकर्षण का अभाव है।" इसे प्राप्त करने का उपाय है—मन को उच्च और श्रेष्ठ लक्ष्य की ओर प्रवृत्त करना। अतः, श्रीकृष्ण जब अनासक्त होकर कर्म करने का उपदेश देते हैं तब उसका उपाय भी बताते हैं कि विद्वान् पुरुष को लोक कल्याण की इच्छा से कर्म करना चाहिये।

अत्यधिक अहंकार–केन्द्रित होने पर ही आसक्ति कल्याण के मार्ग में बाधक बनती है। जिस सीमातक हम अपनी दृष्टि को व्यापक करते हुए किसी बड़ी योजना अथवा समाज के लिये कार्य करते हैं उसी सीमा तक आसक्ति का दुखदायी विष समाप्त होकर युग को आनन्द विभोर करता है। अनेक प्रकार के विष मिश्रित रूप में जीवन रक्षक औषधि का काम करते हैं, जब कि वही विष अपने तीव्र रूप में तत्काल मृत्यु का कारण बन जाते हैं। अत्यधिक आत्मकेन्द्रित इच्छाएँ मनुष्य को हानि पहुँचाती हैं, परन्तु अपने को ऊँचा उठाकर सम्पूर्ण जगत् के साथ तादात्म्य स्थापित होने पर उसी मनुष्य के कर्म दिव्यता की आभा से मंडित होकर उसके दुःखों एवं दुर्बलताओं को दूर कर देते हैं।

यहाँ, अर्जुन को इस प्रकार की अनासक्ति के भाव द्वारा संस्कृति के उच्च मूल्यों की रक्षा के लिये शत्रुओं के साथ युद्ध करने का उपदेश दिया गया है।

जगत् की सेवा में रत विद्वान् पुरुष को निम्नलिखित सम्मति दी गई है:

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥२६॥

ज्ञानी पुरुष, कर्मों में आसक्त अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम उत्पन्न न करे, स्वयं (भक्ति से) युक्त होकर कर्मों का सम्यक् आचरण कर, उनसे भी वैसा ही कराये॥ २६॥

यह संभव है कि आत्मानुभूति के पश्चात्, ज्ञानी पुरुष जब कार्यक्षेत्र में प्रवेश करे, तो तत्वज्ञान का सर्वोच्च उपदेश देना प्रारम्भ कर दे, जिसे समझने की योग्यता लोगों में न हो। उस पीढ़ी के लोग उस विद्वान् पुरुष के कथन का विपरीत अर्थ लगाकर यह समझ सकते हैं कि कर्म का संन्यास सत्य की प्राप्ति का सीधा मार्ग है। ऐसे गुरुओं को यहां सावधान किया गया है क्योंकि इससे लोगों का कर्म करने में उत्साह कम हो सकता है।

जीवन गतिशील है। कोई भी निष्क्रिय होकर बैठ नहीं सकता। जीवन की निरन्तर अग्रगामी कर्मरूपी गतिशील धारा के प्रवाह के मध्य में यदि कोई मार्ग दर्शक गुरु दोनों हाथ उठाकर अपनी पीढ़ी के लोगों को अकस्मात रुकने का आदेश दें, तो उस प्रवाह में वे स्वयं ही छिन्नभिन्न होकर रह जायेंगे। अनेक धर्मोपदेशकों ने यह गलती की और उन्हें उसका मूल्य भी चुकाना पड़ा। यहाँ श्रीकृष्ण मार्गदर्शन करते हुए कहते हैं कि ऐसे धर्मोपदेशकों को चाहिये कि वे समय कि गति को पहचान कर कार्य करें, जीवनी शक्ति का विरोध करके नहीं।

समाज के मार्गदर्शन की पद्धति इस श्लोक में बताई गयी है, जो समस्त नेतृत्व वर्ग के लिये उपयोगी है। वे सामाजिक, राजनैतिक अथवा सांस्कृतिक किसी भी क्षेत्र में क्यों न कार्य कर रहे हों। यदि किसी काल में कोई समाज किसी विशेष दिशा में आगे बढ़ रहा हो, तो नेता को अपनी पीढ़ी के साथ मिलकर स्वयं के उदाहरण के द्वारा धीरे–धीरे लोगों को सही दिशा में ले जाने का प्रयत्न करना चाहिये।

यदि कोई व्यक्ति हरिद्वार जाने की इच्छा से कार को तेज गति से परन्तु विपरीत दिशा में चला रहा हो तो उसकी दिशा सुधारने का उपाय यह नहीं कि अचानक उसे रोक दें; किन्तु उसकी दिशा मात्र को बदलें। कार के रुक जाने मात्र से वह किसी लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकेगा।

इसी प्रकार, मनुष्य को कर्म करते रहना चाहिये। यदि वह गलत दिशा में भी जा रहा हो, तो केवल कर्म से ही वह सही दिशा में आगे बढ़ सकता है। विद्वान् पुरुष अज्ञानी को कर्म की प्रवृत्ति से विचलित न करे, बल्कि स्वयं कुशलतापूर्वक कर्म का आचरण करे जिससे सामान्य जन उसका सरलता से अनुसरण कर सकें।

"किस प्रकार अज्ञानी पुरुष कर्म में आसक्त होता है?"

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं, अहंकार से मोहित हुआ पुरुष, "मैं कर्ता हूँ" ऐसे मान लेता है॥ २७॥

भगवान् श्रीकृष्ण निरन्तर इस बात पर बल देते हैं कि अनासक्त अथवा निष्काम कर्म ही आदर्श है। यह कहना सरल परन्तु करना कठिन होता है। बुद्धि से यह बात समझ में आने पर भी उसे कार्यान्वित करना सरल काम नहीं। हम सबके साथ

कठिनाई यह है कि हम जानते नहीं कि कर्म में असक्ति को त्यागकर फिर कर्म भी किस प्रकार करते रहें। यहाँ भगवान् विवेक की वह पद्धति बता रहें हैं, जिसके द्वारा इस अनासक्ति को हम प्राप्त कर सकते हैं।

आत्म अज्ञान वुद्धि और मन के स्तर पर क्रमशः इच्छा और विचार के रूप में व्यक्त होता है। ये विचार मन की सात्विक, राजसिक एवं तामसिक प्रवृत्तियों के अनुरूप होकर शरीर के स्तर पर कर्म के रूप में व्यक्त होते हैं। इन तीनों गुणों में से जिस गुण का आधिक्य विचारों में होता है मनुष्य के कर्म भी ठीक इसी प्रकार के ही होते है। जैसे सत्व के कारण शुभ कर्म और रजोंगुण तथा तमोगुण से क्रमशः उत्पन्न होते हैं—काम क्रोध से प्रेरित तथा क्रूर पाशविक कर्म। इस प्रकार, हम देखते हैं कि इन वासनाओं का ही जगत् में व्यक्त होने वाला स्थूल रूप 'कर्म' कहलाता है।

जहाँ मन है, वहाँ कर्म भी है। कर्म मन से ही उत्पन्न होते हैं और मन से ही शक्ति प्राप्तकर मन की सहायता से ही किये जाते हैं। परन्तु मन के साथ अविद्या-जनित मिथ्या तादात्म्य के कारण मनुष्य स्वयं को ही 'कर्ता' मानता है। कर्तृत्व की भावना होने पर फल की चिन्ता, व्याकुलता एवं आसक्ति होना स्वाभाविक ही है।

स्वप्न में अपने ही संस्कारों से एक जगत् उत्पन्न करके मनुष्य उसके साथ तादात्म्य स्थापित करता है; उसे ही स्वप्न द्रष्टा कहते हैं। स्वप्न के दुःख स्वप्न द्रष्टा के लिये होते हैं, और किसी के लिए नहीं। स्वप्नजगत् के साथ तादाम्य को त्यागने पर द्रष्टा के सब दुःख समाप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार, वासना, इच्छा, कर्म, अथवा फल स्वयं किसी भी प्रकार आसक्ति को जन्म नहीं देते; किन्तु जब हमारा तादात्म्य मन के साथ हो जाता है, तो कर्तृत्व और आसक्ति दोनों की ही उत्पत्ति होती है। जिस क्षण इस विवेक का उदय होता है, आसक्ति का अस्तित्व वहां नहीं रह पाता। जीवन शान्तिमय हो जाता है।

परन्तु ज्ञानी पुरुष आसक्त नहीं होते, क्योंकि

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

परन्तु हे महाबाहो ! गुण और कर्म के विभाग के सत्य (तत्व) को जानने वाला ज्ञानी पुरुष यह जानकर कि "गुण गुणों में बर्तते हैं" (कर्म में) आसक्त नहीं होता ॥२८॥

पूर्व श्लोक में अज्ञानी का जो लक्षण बताया गया है। उसकी तुलना में ज्ञानी पुरुष की उससे ठीक विपरीत दृष्टि यहाँ, श्रीकृष्ण बता रहे हैं। ज्ञानी के कर्मों में

आसक्ति का कोई स्थान नहीं रहता, क्योंकि वह जानता है कि मन ही बाह्यजगत् में कर्मरूप में व्यक्त होता है। यह विवेक उसमें सदा जागृत रहता हैं। एक बार इस सत्य को सम्यक् रूप से जान लेने पर ज्ञानी पुरुष यह समझ लेता है कि राग और द्वेष, प्रवृत्ति या निवृत्ति, सफलता और विफलता ये सब मन के लिए हैं। अतः उसे फल में आसक्त होने का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। इस प्रकार, बन्धनों से मुक्त हुआ ज्ञानी पुरुष एक सच्चे खिलाड़ी के समान कार्य करता है, जिसका आनन्द केवल खेल में ही है, अंक जीतने में नहीं।

इस स्थान पर श्रीकृष्ण का अर्जुन को 'महाबाहो' कहकर सम्बोधित करना अर्थपूर्ण है। इस सम्बोधन से हमें धनुर्धारी के रूप में अर्जुन की अनेक उपलब्धियों का स्मरण होता है। यहाँ 'महाबाहों' शब्द सूचित करता हैं कि सच्चा वीर पुरुष वह नहीं जो किसी युद्ध में केवल कुछ शत्रुओं का वध करे बल्कि जो निरन्तर मन में चल रहे युद्ध का अथक सामना करते हुए आसक्तियों के ऊपर पूर्ण विजय प्राप्त करता है, वही पुरुष वास्तविक वीर है। कर्म के युद्धक्षेत्र में परिस्थितियों पर आधिपत्य स्थापित करते हुये समस्त दिशाओं से आने वाले आसक्तियों के बाणों के समक्ष आत्मसंमर्पण न करते हुये कर्म करता है, वही अपराजेय अमर वीर है। तत्पश्चात्, वह निःशस्त्र होकर मर्त्य वीरों के रथ में बैठकर प्रत्येक कुरुक्षेत्र में अनेक सेनाओं का मार्गदर्शन कर सकता है ! ऐसा ही पुरुष, जो सत्य का ज्ञाता है "तत्ववित" कहलाता है।

अबः

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।।२९।।

प्रकृति के गुणों से मोहित हुए पुरुष गुण और कर्म में आसक्त होते हैं, उन अपूर्ण ज्ञान वाले (अकृत्स्नविदः) मंदबुद्धि पुरुषों को पूर्ण ज्ञान प्राप्त पुरुष विचलित न करे ।।२९।।

यद्यपि अनेक लोग सामान्यरूप से यह जानते हैं कि मन में स्थित वासनाएं ही स्वयं को पूर्ण करने के लिए जगत् में कर्म बनकर व्यक्त होती हैं, परन्तु केवल ज्ञानी पुरुष ही इस सत्य से पूर्णतया परिचित सब कर्मों में शान्त और अनासक्त रहता है। बहु संख्यक लोग तो पूर्ण रूप से मोहित हुये अपनी ही वासनाओं के शिकार बने रहते हैं। वासनाओं से तरंगायित कर्मरूप जीवन के प्रवाह में बाधा उत्पन्न करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। २६वें श्लोक में विद्वान पुरुष को दी गयी सम्मति को ही यहाँ दूसरे शब्दों में उस पर बल देने के लिए दोहराया गया है।

मन्दबुद्धि अज्ञानी एवं आसक्त पुरुषों को कर्म से विचलित न करके ज्ञानी को चाहिये कि उन्हें शनैः शनैः सही मार्ग पर लाने का प्रयत्न करे। इस प्रकार ज्ञानी पुरुष द्वारा सुनिर्दिष्ट प्रवाह संस्कृति के उद्यान को सींचता हुआ वैयक्तिक और सामाजिक उन्नति के स्वप्न को साकार कर सकेगा।

"कर्म में ही अधिकृत अज्ञानी पुरुष को अपने बन्धनों से मुक्त होने के लिये किस प्रकार कर्म करना चाहिये ?" उत्तर है :

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

सम्पूर्ण कर्मों का मुझ में संन्यास करके, आशा और ममता से रहित होकर, संतापरहित हुए तुम युद्ध करो ॥ ३० ॥

भगवान् का यह स्पष्ट मत था कि अर्जुन को युद्ध करना चाहिये। पाण्डव राजकुमार अर्जुन अभी उच्चस्तरीय ध्यान साधना के योग्य नहीं था। कर्म में वासना उत्पन्न करने की प्रवृत्ति होती है और फिर उस वासना से कर्म में वृद्धि होती है। श्रीकृष्ण के कर्मयोग के उपदेशानुसार कर्माचरण करने पर पुरानी वासनाओं का क्षय तो होता ही है, परन्तु अन्य नई वासनाएँ भी उत्पन्न नहीं होतीं। अहंकार और स्वार्थ से रहित कर्म के आचरण के उस सिद्धान्त को ही यहां दूसरे शब्दों में बताया गया है।

समस्त कर्मों का संन्यास मुझमें करके – जैसा कि हम देख चुके हैं, यहाँ भी 'मुझ में' शब्द से तात्पर्य शुद्ध परमात्मस्वरूप से है। श्रीकृष्ण का उपदेश है कि अर्जुन को भक्तिपूर्वक परमात्मा का स्मरण करते हुए (अध्यात्मचेतसा) समस्त कर्मों का संन्यास (अर्पण) परमात्मा में करना चाहिये। कर्मों के संन्यास का अर्थ अकर्मण्यता का जीवन नहीं समझना चाहियें। कर्मों से अहंकार और स्वार्थ का त्याग ही वास्तविक 'कर्म–संन्यास' कहलाता है।

सर्प की भयंकरता उसके विष में है। यदि उसके विषदन्त निकाल दिये जांय, तो वह भयानक सर्प किसी को हानि नहीं पहुँचा सकता। इसी प्रकार, अहंकार और स्वार्थ के कारण ही कर्म बन्धन कारक होते हैं, अन्यथा नहीं। यहां कर्मों के संन्यास से तात्पर्य उनके उत्प्रेरक दुष्प्रयोजनों के त्याग से है।

आत्मस्वरूप ईश्वर के निरन्तर कीर्ति गान से उद्देश्यों की शुद्धता प्राप्त की जा सकती है। कीर्तिगान से हृदय दैवी भावनाओं से स्पन्दित हो उठता है। ऐसे व्यक्ति के कर्म सामान्य नहीं समझने चाहिये, वरन् ईश्वर के संकल्प ही उस व्यक्ति के माध्यम से जगत् में व्यक्त होते हैं। परिच्छिन्न जीवभाव के स्थान पर पूर्णत्व का भाव दृढ़ होनेपर वह व्यक्ति ईश्वरेच्छा को व्यक्त करने का सर्वोत्कृष्ट माध्यम बन जाता है।

केवल निषिद्ध कर्मों का त्याग ही पर्याप्त नहीं है। हमको उन आन्तरिक सद्गुणों का भी विकास करना चाहिये, जिससे ईश्वर के संकल्पों का प्रवाह निर्वाध रूप से हमारे द्वारा प्रवाहित हो सके। इस का संकेत यहाँ 'निराशी' और 'निर्मम' इन दो शब्दों से किया गया है।

इस श्लोक के सतही अध्ययन से भ्रमित होकर कोई इस निष्कर्ष पर पहुँच सकता है कि हिन्दू धर्म, गतिशील जीवन का त्याग कर निराशा का जीवन जीने की शिक्षा देता है। परन्तु सूक्ष्म अध्ययन करने पर स्पष्ट होगा कि, इस श्लोक में, श्रीकृष्ण जीवन के उच्चतर मनोवैज्ञानिक सत्य की ओर इंगित कर रहे हैं।

'निराशी':–आशा" उस वस्तु या घटना की अपेक्षा है, जो भविष्य काल में व्यक्त या प्राप्त होगी।" आशा सदैव भविष्य के लिये होती है वर्तमान में नहीं।

'निर्मम:'-अहंकार मूलक 'ममभाव', और कुछ नहीं "उन घटनाओं एवं उपलब्धियों की एक गठरी है जो भूतकाल में घटित हुई थीं।" अतः, अहंकार "भूतकाल की प्रतिच्छाया" मात्र है और उसका अस्तित्व व्यतीत हुए काल के सन्दर्भ में ही है।

आशा यदि अनुत्पन्न भविष्य का शिशु है, तो अहंकार भूतकाल की हठीली स्मृति। आशा और अहंभाव में रहने का अर्थ है भविष्य और भूतकाल में ही जीना। दुःख की बात यह है कि इन सब में, हम शक्तिशाली 'वर्तमान' को खो देते हैं, जब कि 'वर्तमान' ही वह अवसर है जो कर्म करने, आगे बढ़ने और लक्ष्य प्राप्त करने के लिये हमें प्राप्त हुआ है। श्रीकृष्ण अर्जुन को आशा और ममभाव से रहित होकर कर्म करने का उपदेश देते हैं। भूत और भविष्य के विचारों में शक्ति का अपव्यय किये बिना 'वर्तमान' का सदुपयोग करने के सम्बंध में महत्वपूर्ण सूचना इस श्लोक में दी गयी है।

विचाराधीन यह श्लोक सभी दृष्टियों से अपने आपमें पूर्ण है, जिसे पढ़कर आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी आश्चर्यचकित रह जायेगा। यद्यपि अब तक के विवेचन को समझने से भूत और भविष्य के विचारों में होने वाले शक्ति के अपव्यय को हम रोक सकते हैं, परन्तु वर्तमान में ही कार्य करते हुए अपनी क्षमता के क्षरण की संभावना रह सकती है। इसका कारण अनावश्यक रूप से व्याकुल और उत्तेजित होने का हमारा स्वभाव है। इस उत्तेजना को यहाँ ज्वर कहा गया है। भगवान् श्रीकृष्ण उपदेश देते हैं कि समस्त कर्मों का संन्यास परमात्मा में करके, आशा और ममता से रहित होकर तथा मानसिक उत्तेजना का त्याग कर अर्जुन को युद्ध करना चाहिये। गीता के इस सिद्धान्त की परिपूर्णता इसके समस्त अध्येताओं को स्पष्ट हो जाती है।

यहाँ 'युद्ध करने' से तात्पर्य "जीवन संघर्षों में आने वाली समस्त परिस्थितियों

का सामना करने" से है। अतः, यह उपदेश केवल अर्जुन के लिये ही नहीं बल्कि उन सभी के लिये हैं, जो बुद्धिमत्ता पूर्वक पूर्ण रूप से अपना जीवन जीना चाहते हैं।

कर्मयोग का सीमित अर्थ समझकर जिन्होंने वेदों का अध्ययन किया है, उन्हें इस श्लोक में दिया उपदेश पारम्परिक प्रतीत होगा।

अपनी पीढ़ी को यह उपदेश स्वीकृत होने पर उसके प्रचारार्थ भगवान् कहते हैं :

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

जो मनुष्य दोष बुद्धि से रहित (अनसूयन्तः) और श्रद्धा से युक्त हुए सदा मेरे इस मत (उपदेश) का अनुष्ठानपूर्वक पालन करते हैं, वे कर्मो से (बन्धन से) मुक्त हो जाते हैं ॥६१॥

कर्मयोग के सिद्धांत का मात्र ज्ञान होने से नहीं, किन्तु उसके अनुसार आचरण करने पर ही वह हमारा कल्याण कर सकेगा। यह श्रीकृष्ण का मत है। अध्यात्म ज्ञान तो एक ही है, परन्तु आचार्यों, सम्प्रदाय, संस्थापकों एवं भिन्न-भिन्न धर्म प्रथाओं के मतों में अनेक भेद हैं; जिसका कारण यह है कि वे सभी तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर अपनी पीढ़ी का मार्ग दर्शन करना चाहते थे; जिससे सभी साधक परम पुरुषार्थ को प्राप्त कर सकें।

बैलगाड़ी को हांकने वाले चालक के चाबुक के नीचे काम करने वाले पशु के समान ही मनुष्य को बोझ उठाते हुए नहीं जीना चाहिये। परिश्रम केवल शरीर को सुदृढ़ बनाता है ; कर्म हमारे चरित्र की बक्रता को दूर कर आन्तरिक व्यक्तित्व को आभा प्रदान करते हैं। यदि हम अपने परिश्रमपूर्वक किए गए कर्मों में अपने मन और मस्तिष्क का भी पूर्ण उपयोग करें। असूया (गुणों में दोष दर्शन) का त्याग करके एवं श्रद्धापूर्वक कर्मयोग का पालन करने से ही यह संभव हो सकेगा।

श्रद्धा – संस्कृत में श्रद्धा का भाव गम्भीर है, जिसे अंग्रेजी भाषा के किसी एक शब्द द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता।

श्रीशंकराचार्य श्रद्धा को पारिभाषित करते हुए कहते हैं कि "शास्त्र और गुरु के वाक्यों में वह विश्वास जिसके द्वारा सत्य का ज्ञान होता है, श्रद्धा कहलाता है।" यहां किसी प्रकार के अन्धविश्वास को श्रद्धा नहीं कहा गया है ; वरन् उसे बुद्धि की वह सामर्थ्य बताया गया है जिससे सत्य का ज्ञान होता है। बिना विश्वास के किसी कार्य

में प्रवृत्ति नहीं होती तथा विचारों की परिपक्वता के बिना विश्वास में दृढ़ता नहीं आती है।

अनसूयन्तः (गुणों में दोष को नहीं देखने वाले) – सामान्यतः जगत् में हम जो कुछ ज्ञान प्राप्त करते हैं, उसे समझने के लिये उसकी आलोचना भी की जाती है ; उसके विरुद्ध तर्क दिये जाते हैं। परन्तु यहाँ भगवान् अर्जुन को सावधान करते हैं कि केवल उग्र वाद-विवाद अथवा गहन अध्ययनमात्र में इस ज्ञान का उपयोग नहीं है। वास्तविक जीवन में उतारने से ही इस ज्ञान की सत्यता का अनुभव किया जा सकता है।

वे भी कर्म से मुक्त होते हैं – ऐसे वाक्यों को पढ़कर अनेक विद्यार्थी स्तब्ध रह जाते हैं। अब तक भगवान् कुशलतापूर्वक कर्म करने का उपदेश दे रहे थे और अब अचानक कहते हैं, "वे भी कर्म से मुक्त हो जाते हैं।" स्वाभाविक है कि जो पुरुष शास्त्रीय शब्दों के अर्थों को नहीं जानता, उसे इन वाक्यों में विरोधाभास दिखाई देता है।

'नैष्कर्म्य' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते समय हमने देखा कि आत्म अज्ञान ही इच्छा, विचार और कर्म के रूप में व्यक्त होता है। अतः आनन्दस्वरूप आत्मा को पहचानने पर अविद्या जनित इच्छायें और कर्मों का अभाव हो जाता है। इस लिए, यहां बताई हुई 'कर्मों से मुक्ति' का वास्तविक तात्पर्य हैं – अज्ञान के परे स्थित आत्मस्वरूप की प्राप्ति।

केवल कर्मों के द्वारा परमात्मस्वरूप में स्थिति नहीं प्राप्त की जा सकती। संसद–मार्ग स्वयं संसद नहीं है ; किन्तु वहाँ तक पहुँचने पर संसद भवन दूर नहीं रह जाता। इसी प्रकार, यहाँ कर्मयोग को ही परमार्थ प्राप्ति का 'मार्ग' कहकर उसकी प्रशंसा की गयी है ; क्योंकि उसके पालन से अन्तःकरण शुद्ध होकर साधक नित्यमुक्त स्वरूप का ध्यान करने योग्य बन जाता है।

परन्तु इसके विपरीत :

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

परन्तु जो दोष दृष्टि वाले मूढ़ लोग इस मेरे मत का पालन नहीं करते, उन सब ज्ञानों में मोहित चित्तवालों को नष्ट हुये ही तूम समझो ॥३२॥

भगवान् के अपदेश में दोष देखकर उसका पालन न करने से मनुष्य और

भी अधिक मोहित हुआ अपनी ही हानि कर लेगा।

'जीवन के मार्ग' को भली प्रकार समझ लेने पर ही मनुष्य को कर्ममय जीवन जीने के लिए उत्साहित किया जा सकता है। यदि मनुष्य पहले से किसी सिद्धान्त की ही निन्दा में प्रवृत्त हो जाता है, तो उस सिद्धांत के अनुरूप जीवन यापन की कोई सम्भावना ही नहीं रह जाती। कर्मयोग जीवन यापन का एक मार्ग है और उसके कल्याणकारी फल को प्राप्त करने के लिए तदनुसार ही हमें जीवन जीना होगा।

अहंकार और स्वार्थ को त्याग कर कर्म करना ही आदर्श जीवन है, जिसके द्वारा मनुष्य को नित्य और महान् उपलब्धियां प्राप्त हो सकती हैं। ऐसे जीवन का त्याग करने का अर्थ है, अविवेक को निमन्त्रण देना और अन्त में स्वयं का नाश कराना।

बुद्धि के कारण ही मनुष्य को प्राणिजगत् में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। बुद्धि में स्थित आत्मानात्मविवेक, सत्य और मिथ्या का विवेक करने की क्षमता का सदुपयोग ही आत्मविकास का एकमात्र उपाय है। विवेक के नष्ट होने पर वह पशु के समान मन की प्रवृत्तियों के अनुसार व्यवहार करने लगता है तथा मनुष्य जीवन के परम पुरुषार्थ को प्राप्त नहीं कर पाता। यही उसका विनाश है।

"क्या कारण है कि लोग इस उपदेशानुसार कर्तव्य पालन नहीं करते? भगवान् के उपदेश का उल्लंघन करने में उन्हें भय क्यों नहीं लगता?" इसका उत्तर है:

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥३३॥

ज्ञानवान् पुरुष भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है। सभी प्राणी अपनी प्रकृति पर ही जाते हैं, फिर इसमें (किसी का) निग्रह क्या करेगा॥३३॥

जिस प्रकार के विचारों का चिन्तन हम करते हैं उनसे विचारों की दिशा निर्धारित होती है और वे स्थायी भाव का रूप लेते हैं इसको ही हमारा स्वभाव कहा जाता है। किसी समय मनुष्य का स्वभाव उसके मन में उठने वाले विचारों से निश्चित किया जाता है। यहाँ कहा गया है कि ज्ञानवान् पुरुष भी अपने स्वभाव के अनुसार ही कार्य करता है।

यहाँ ज्ञानवान् शब्द का अर्थ है – वह पुरुष जिसने 'कर्मयोग' के सिद्धान्त को भलीभांति समझ लिया है। यद्यपि वह सिद्धांत को जानता है। तथापि उसे कार्यान्वित

करने में कठिनाई आती है, क्योंकि उसका स्वभाव उसके कार्य में बाधा उत्पन्न करता है। पूर्वाजित बासनाओं के कारण इस सरल से प्रतीत होनें वाले सिद्धान्त को मनुष्य अपने जीवन में नहीं उतार पाता। इसका एकमात्र कारण है : "प्राणीमात्र अपने स्वभाव का अनुसरण करते हैं।" स्वभाव के शक्तिशाली होने पर किसी का निग्रह क्या करेगा ?

यह अन्तिम वाक्य भगवान् के उपदेश में निराशा का उद्गार नहीं, किन्तु उनकी परिपूर्ण दृष्टि का परिचायक है। वे उस वस्तुस्थिति से परिचित हैं कि प्रत्येक व्यक्ति जीवन के उच्च मार्ग पर चलने की क्षमता नहीं रखता। विकास के सोपान की सबसे निचली सीढ़ी पर खड़े असंख्य मनुष्यों के लिए इस मार्ग का अनुसरण कदापि सम्भव नहीं ; क्योंकि विषयों में आसक्ति तथा पाशविक प्रवृत्तियों से वे इस प्रकार बँधे होते हैं कि उन सबका एकाएक त्याग करना उनके लिए सम्भव नहीं होता। जिस मनुष्य में कर्म के प्रति उत्साह तथा जीवन में कुछ पाने की महत्वाकांक्षा है, केवल वही व्यक्ति इस 'कर्मयोग' का आचरण करके स्वयं को कृतार्थ कर सकता है। भगवान् का यह कथन उनकी विशाल हृदयंता एवं सहिष्णुता का परिचायक है।

"प्रत्येक व्यक्ति का अपना निजी स्वभाव है और यदि उसी के अनुसार कर्म करने को वह विवश है, तो फिर पुरुषार्थ के लिए कोई अवसर ही नहीं रह जाता। इस कारण यह उपदेश भी निष्प्रयोजन हो जाता है।" इस पर भगवान् कहते हैं :

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

इन्द्रिय–इन्द्रिय (अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय) के विषय के प्रति (मन में) राग-द्वेष रहते हैं ; मनुष्य को चाहिये कि वह उन दोनों के वश में न हो ; क्योंकि वे इसके (मनुष्य के) शत्रु हैं ॥३४॥

पूर्व श्लोक में कहा गया था कि 'शास्त्राध्ययन करने वाला ज्ञानवान् पुरुष भी नैतिकता का उच्च जीवन जीने में अपने को असमर्थ पाता है, क्योंकि उसकी कुछ निम्न स्तर की प्रवृत्तियाँ कभी-कभी उससे अधिक शक्तिशाली सिद्ध होती हैं। सर्वत्र अनुपलब्ध औषधि का उपचार लिख देना रोग का निवारण करना नहीं कहलाता। दार्शनिक तत्ववेत्ता का यह कर्तव्य है कि वह केवल हमारे वर्तमान जीवन की दुर्बलताओं को ही नहीं दर्शाये, बल्कि पूर्णत्व की स्थिति का ज्ञान कराकर उस साधन मार्ग को भी दिखाये, जिससे हम दोषमुक्त होकर पूर्णस्वरूप में स्थित हो सकें। केवल ऐसा करके ही वह दार्शनिक तत्वविज्ञ पुरुष अपनी पीढ़ी को कृतार्थ कर सकता है।

यह सत्य है कि प्रत्येक मनुष्य अपने स्वभावानुसार कार्य करता है ; परन्तु यह स्वभाव वह अपने कर्म एवं विचारों के द्वारा बनाता है और न कि किसी अन्य के कारण । अतः यहाँ पुरुषार्थ के लिए अवसर है । उसी को यहां श्रीकृष्ण बता रहे हैं । प्रत्येक इन्द्रिय के विषय के प्रति प्रत्येक व्यक्ति के मन में राग अथवा द्वेष उत्पन्न होता है । शब्दस्पर्शादि इन्द्रियों के विषय स्वयं किसी भी प्रकार हमारे अन्तःकरण में दुःख या विक्षेप उत्पन्न नहीं कर सकते । विषयों को ग्रहण करके मन किसी के प्रति राग और किसी के प्रति द्वेष रखता है; और मन के इन रागद्वेषों के कारण प्रिय या अप्रिय विषय के दर्शन अथवा प्राप्ति से मनुष्य को हर्ष या विषाद होता है । स्वयं रागद्वेष को उत्पन्न करके मनुष्य का फिर प्रयत्न होता है–प्रिय की प्राप्ति और अप्रिय का त्याग । विषयों के प्रति राग और द्वेष सदा परिवर्तित होते रहने के कारण वह सदा ही क्षुब्धचित्त बना रहता है । श्रीकृष्ण कहते हैं कि ये राग द्वेष ही लुटेरे हैं जो मन की शान्ति का हरण कर लेते हैं और जिनके कारण मनुष्य सच्चा जीवन नहीं जी पाता । वास्तब में यह दुःख की बात है ।

वस्तुस्थिति को दर्शाकर, भगवान् समस्त साधकों को उपदेश देते हैं कि, "मनुष्य को चाहिए कि वह इन दोनों के वश में न होवे ।"

प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में बाह्य जगत् से पलायन करने का उपदेश गीता में कहीं पर भी नहीं मिलता । भगवान् का उपदेश तो "यहाँ और अभी", जीवन की उपलब्ध परिस्थितियों में, शरीर मन और बुद्धि के माध्यम से सब अनुभवों को प्राप्त करते हुए जीने के लिये हैं आग्रह केवल इस बात का है कि सभी परिस्थितियों में मनुष्य को मन आदि उपाधियों का स्वामी बनकर रहना चाहिए और न कि उनका दास बन कर । इस प्रकार के स्वामित्व को प्राप्त करने का उपाय राग और द्वेष से मुक्त हो जाना है ।

राग-द्वेष से मुक्ति पाने के लिए मिथ्या अहंकार तथा तज्जनित अन्य वृत्तियों को समाप्त करना चाहिए, क्योंकि राग और द्वेष अहंकार से सम्बन्धित हैं । इसलिये, अहंकार रहित कर्म करने पर वासनाओं का क्षय हो जाता है । वासनाओं से उत्पन्न होता है मन और वहीं पर अहंकार का खेल होता है । जैसे–जैसे वासनायें क्षीण होती हैं वैसे–वैसे मन भी नष्ट हो जाता है । मन के नष्ट होने पर शुद्ध आत्मा का प्रति–बिम्ब रूप अहंकार भी नष्ट हो जाता है ।

भगवान् वासना क्षय का उपाय निम्नलिखित श्लोक में बताते हैं :

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

सम्यक् प्रकार से अनुष्ठित परधर्म की अपेक्षा गुण रहित स्वधर्म का पालन श्रेयस्कर है; स्वधर्म में मरण कल्याणकारक है (किन्तु) परधर्म भय को देने वाला है ॥३५॥

धर्म शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। धार्मिकता, सद्व्यवहार, कर्तव्य, सद्गुण आदि विभिन्न अर्थों में इसका प्रयोग किया गया है। धर्म की परिभाषा हम देख चुके हैं कि "जिसके कारण वस्तु का अस्तित्व सिद्ध होता है, वह उस वस्तु का धर्म कहलाता है।"

एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति का भिन्नत्व उसके विचारों के द्वारा निश्चित किया जाता है। इन विचारों का स्तर, गुण, दिशा आदि व्यक्ति की वासनाओं पर निर्भर करते हैं। यही है मनुष्य का स्वभाव अथवा धर्म। अतः मनःसंयम के इस प्रकरण में धर्म से तात्पर्य प्रत्येक व्यक्ति की वासनाओं से है।

स्वधर्म और परधर्म - यहाँ स्वधर्म का अर्थ किसी जाति विशेष में जन्म लेने पर प्राप्त होने वाले कर्त्तव्य से नहीं है। स्वधर्म का सही तात्पर्य है स्वयं की वासनायें। स्वयं की सहज और स्वाभाविक वासनाओं के अनुसार कार्य करने से ही जीवन में शान्ति और आनन्द, सफलता और सन्तोष का अनुभव होता है। अतः परधर्म का अर्थ है दूसरे के स्वभाव के अनुसार व्यवहार और कर्म करना जो भयावह होता है, इसमें दो मत नहीं हो सकते।

गीता में, अर्जुन के स्वभाव को देखते हुए भगवान् उसे युद्ध करने का स्पष्ट उपदेश देते हैं। जन्मजात राजकुमार अर्जुन ने अपने विद्यार्थी जीवन में ही साहस और शूरवीरता का प्रदर्शन किया था और धनुर्विद्या में निपुणता भी प्राप्त की थी। अतः, युद्ध जैसा खतरनाक कर्म उसके स्वभाव के अनुकूल ही था। प्रथम अध्याय से यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्जुन ने सम्भवतः अपने प्रारम्भिक शिक्षणकाल में यह सुना और समझा था कि संन्यास और त्याग का अर्थात् ब्राह्मण का जीवन उसके जीवन से श्रेष्ठतर है। इसीलिए युद्धभूमि से पलायनकर और गुफाओं में बैठकर ध्यानाभ्यास करने की उसकी इच्छा हो रही थी। श्रीकृष्ण उसे स्मरण दिलाते हैं कि स्वधर्म पालन में कुछ कमी रहने पर भी उसी का पालन उसके आत्मविकास के लिए श्रेयस्कर है। दूसरे व्यक्ति के श्रेष्ठ और दिव्य जीवन की अनुकृति मात्र से अर्जुन को लाभ नहीं होगा।

यद्यपि समस्त अनर्थों का मूल कारण पहले बताया जा चुका है,[1] तथापि उसके और अधिक स्पष्टीकरण के लिए:

१– अध्याय २–६, अध्याय ३–३४

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छिन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ।।३६।।

अर्जुन ने कहा :

हे वार्ष्णेय ! फिर यह पुरुष बलपूर्वक बाध्य किए हुए के समान अनिच्छा होते हुए भी किसके द्वारा प्रेरित पाप का आचरण करता है ? ।।३६।।

धर्मशास्त्रों की परम्परा के अनुसार, यहाँ अर्जुन, विचाराधीन प्रकरण पर एक निश्चित प्रश्न पूछता है। इस प्रश्न से ही ज्ञात होता है कि अर्जुन अपनी प्रारम्भिक उन्माद् की स्थिति से बहुत कुछ बाहर आ गया था और अब उसनें आत्म–निरीक्षण भी प्रारम्भ कर दिया था जिसके फलस्वरूप उसे अपनें ही मन में कुछ ऐसे गुण अथवा शाक्तियां कार्य कर रही अनुभव हुयीं, जो उसके उच्च गुणों की अभिव्यक्ति में बाधक बनकर उनके प्रभाव को ही नष्ट कर रही थीं। उसका प्रश्न ऐसे परिचित शब्दों में पूछा गया है कि लगता है मानो, आज का कोई विद्यार्थी ही इस प्रश्न को पूछ रहा है।

कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है, जिसे कुछ मात्रा में ही सही अच्छे और बुरे का पुण्य और पाप का ज्ञान हो। बुद्धि से प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि पुण्य क्या है, किन्तु जब कर्म करने का समय आता है तब पाप में ही उसकी प्रवृत्ति होती है। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण विडम्बना है। स्वयं के आदर्श और वास्तविकता में जो दूरी रहती है, वह सभी आत्मनिरीक्षक विचारकों के लिए वास्तव में एक बड़ी समस्या बन जाती है।

हमारे हृदय में स्थित दैवी गुण व्यक्त होकर श्रेष्ठतर उपलब्धि प्राप्त करना चाहते हैं, परन्तु पाशविक प्रवृत्तियां हमें प्रलोभित करके श्रेयमार्ग से दूर ले जाती हैं और हम निम्न स्तर के शारीरिक सुखों में ही रमण करते रहते हैं। अधिकांश समय यह सब हमारी अनिच्छा से ही होता रहता है। अर्जुन पूछता है, "मन में बैठे इस राक्षस का स्वरूप क्या है, जो हममें स्थित दैवी गुणों को सुनियोजित ढंग से लूट ले जाता है ? "

वृष्णि वंश में जन्म होने से श्रीकृष्ण का नाम वार्ष्णेय था। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए:

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ।।३७।।

श्रीभगवान् ने कहा :

रजोगुण ने उत्पन्न हुयी यह 'कामना' है, यही क्रोध है; यह महाशना (जिसकी भूख बड़ी हो) और महापापी है, इसे ही तुम यहाँ (इस जगत् में) शत्रु जानो ॥३७॥

यह काम, यह क्रोध – काम अर्थात् इच्छा ही मनुष्य के हृदय में स्थित राक्षस है। आत्म अज्ञान ही बुद्धि में इच्छारूप में व्यक्त होता है। इस श्लोक में काम और क्रोध इन दोनों को भिन्न नहीं समझना चाहिए। किसी परिस्थिति विशेष में काम ही क्रोध का रूप ले लेता है। मन का वह विक्षेप, जो किसी वस्तु को प्राप्त करने की अत्यन्त अधीरता के रूप में व्यक्त होता है, काम कहलाता है। सामान्यतः, इच्छा अपने से भिन्न किसी अप्राप्त वस्तु के लिए ही होती है। जगत् में असंख्य व्यक्तियों और परिस्थितियों के मध्य सदैव इच्छा का पूर्ण होना सम्भव नहीं होता, और इस प्रकार हमारे और इच्छित वस्तु के बीच कोई विघ्न आता है, तो प्रतिहत इच्छा ही क्रोध का रूप ले लेती है।

इस प्रकार काम अथवा क्रोध ही वह राक्षस है, जो हमें परिस्थितियों के साथ समझौता करने को विवश कर देता है। आदर्शों को भुलाकर हमें पापाचरण में प्रवृत्त करता है। हमारी निम्न कोटि की इच्छाएं जितनी प्रबल होंगी उतना ही पापपूर्ण हमारा जीवन होगा। कामनाएं हमारे विवेक को आच्छादित कर देती हैं। काम के उत्पन्न होने पर उससे ही असंख्य प्रकार की दुखदायक वृत्तियां उत्पन्न होती हैं। इन सब के वश में होना 'अज्ञान' और उनके ऊपर शासन करना 'ज्ञान' है।

अब, भगवान् दृष्टान्तों के द्वारा समझाते हैं कि किस प्रकार हमारा शत्रु यह 'काम' हमारे विवेक को आच्छादित करता है :

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

जैसे धुएं से अग्नि और धूलि से दर्पण ढक जाता है तथा जैसे भ्रूण गर्भाशय से ढका रहता है, वैसे उस (काम) के द्वारा यह (ज्ञान) आवृत होता है ॥३८॥

यहां तीन दृष्टान्त यह समझाने के लिये दिये गये हैं कि किस प्रकार काम और क्रोध हमारे विचार की सामर्थ्य को आवृत कर देते हैं। शास्त्रों में इसे पुनरुक्ति दोष माना गया है। किन्तु गीता में यह दोष नहीं मिलता। भगवद्गीता में कहीं पर भी अनावश्यक या निरर्थक पुनरुक्ति नहीं है। इसे ध्यान में रखकर इस श्लोक

को समझने का प्रयत्न करें, तो ज्ञात होगा कि यहां दिये तीन दृष्टान्तों में सूक्ष्म भेद है। वाच्यार्थ से कहीं अधिक अर्थ इस श्लोक में बताया गया है।

जगत् की अनित्य वस्तुओं के साथ आसक्ति के कारण मनुष्य की विवेचन सामर्थ्य आच्छादित हो जाती है। हमारी आसक्तियां अथवा इच्छाएँ तीन भागों में विभाजित की जा सकती हैं। अत्यन्त निम्न स्तर की इच्छाएँ–मुख्यतः शारीरिक उपभोगों के लिये हमारी महत्वाकांक्षाएँ हो सकती हैं सत्ता, धन, प्रसिद्धि और कीर्ति पाने के लिये। इन से भिन्न तीसरी इच्छा हो सकती है आत्मविकास और आत्म-साक्षात्कार की। ये तीन प्रकार की इच्छाएँ गुणों के प्राधान्य से क्रमशः तामसिक, राजसिक और सात्विक कहलाती हैं। तीन दृष्टान्तों के द्वारा इन तीन प्रकार की इच्छाओं से उत्पन्न विभिन्न प्रकार के आवरणों को स्पष्ट किया गया है।

जैसे धुएँ से अग्नि – अनेक बार धुएँ से अग्नि की चमकती ज्वाला पूर्णतः या अंशतः आवृत हो जाती है। इसी प्रकार सात्विक इच्छाएँ भी अनन्तस्वरूप आत्मा के प्रकाश को आवृत सी कर लेती हैं।

जैसे धूलि से दर्पण – रजोगुण से उत्पन्न विक्षेपों के कारण बुद्धि पर पड़े आवरण को इस उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया गया है। धुएँ के आवरण की अपेक्षा दर्पण पर पड़े धूलि को दूर करने के लिये अधिक प्रयत्न की आवश्यकता होती है। बहते हुए वायु के एक हल्के से झोंके से ही धुँआ हट जाता है, जबकि तूफान के द्वारा भी दर्पण स्वच्छ नहीं किया जा सकता। केवल एक स्वच्छ, सूखे कपड़े से पोंछकर ही उसे स्वच्छ करना संभव है। धुएँ के होने पर भी कुछ मात्रा में अग्नि दिखाई पड़ती है, परन्तु धूलि की मोटी परत जमी हुई होने पर दर्पण में प्रतिबिम्ब बिल्कुल नहीं दिखाई पड़ता।

जैसे गर्भाशय से भ्रूण – तमोगुण जनित अत्यन्त निम्न पशु जैसी वैषयिक कामनाएँ दिव्य स्वरूप को पूर्णतः आवृत कर देती हैं जिसे समझने के लिये यह भ्रूण का दृष्टान्त दिया गया है। गर्भस्थ शिशु पूरी तरह आच्छादित रहता है और उसके जन्म के पूर्व उसे देखना संभव भी नहीं होता। यहाँ आवरण पूर्ण है और उसके दूर होने के लिये कुछ निश्चित काल की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार तामसिक इच्छाओं से उत्पन्न बुद्धि पर के आवरण को हटने के लिये जीव को विकास की सीढ़ी पर चढ़ते हुए दीर्घकाल तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

इस प्रकार इन भिन्न-भिन्न प्रकार की इच्छाओं से उत्पन्न विभिन्न तारतम्य में अनुभव में आने वाले आवरणों को स्पष्ट किया गया है।

इस श्लोक में केवल सर्वनामों का उपयोग करके कहा गया है कि "उसके

द्वारा यह आवृत है।" अब, अगले श्लोक में इन दोनों सर्वनामों – 'उसके द्वारा' और 'यह' – को स्पष्ट किया गया है :

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

हे कौन्तेय ! अग्नि के समान जिसको तृप्त करना कठिन है ऐसे कामरूप, ज्ञानी के इस नित्य शत्रु द्वारा ज्ञान आवृत है ॥३९॥

यहां स्पष्ट किया गया है कि 'उस' कामरूप शत्रु के द्वारा 'यह' ज्ञान, अर्थात् विवेक सामर्थ्य, आच्छादित हो जाता है। आत्मानात्म, नित्यानित्य और सत्यासत्य के जिस विवेक सामर्थ्य के कारण सब प्राणियों में मनुष्य को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है, उसी बुद्धि की क्षमता को यह काम आवृत कर देता है। यह काम दुष्पूर अर्थात् पूर्ण होना असंभव ही होता है।

अब, भगवान् उस काम के निवास स्थान बताते हैं, जिसके ज्ञान से शत्रु को नष्ट करना सरल होगा :

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इसके निवास स्थान कहे जाते हैं; यह काम इनके द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित करके देही पुरुष को मोहित करता है ॥४०॥

मन की शान्ति और सन्तोष को लूट ले जाने वाले शत्रु काम के पहचाने जाने पर, एक सैनिक के समान, राजकुमार अर्जुन की अपने शत्रु के निवास स्थान के विषय में जानने की इच्छा थी। अध्यातम के उपदेशक के रूप में भगवान् को यह बताना आवश्यक था कि यह काम कौन से स्थान पर रहकर अपनी अत्यन्त दुष्ट योजनाएँ बनाता है। कामना का निवास स्थान है इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि।

बड़े विस्तृत क्षेत्र में अपराध करने वाले दस्यु दल के सरदार के एक से अधिक रहने के स्थान होते हैं, जहाँ से वह पूरे दल का संचालन करता है। यहाँ भी कामनारूप शत्रु के स्थानों का स्पष्ट निर्देश किया गया है।

---

१. महाभारत में कहा गया है, "उपभोग से कामनाओं की पूर्ति नहीं होती, बल्कि उसमें तो, अग्नि में घी के डालने के समान, उसकी और अधिक वृद्धि होती है।"

बिना किसी नियन्त्रण एवं संयम के इन्द्रियां यदि विषयों में संचार करती हैं, तो वे इच्छा के निवास के लिये प्रथम उपयुक्त स्थान हैं। इन्द्रियों के माध्यम से विषय की संवेदनाएँ मन में पहुंचने पर वह भी कामनाजन्य दुःखों की उत्पत्ति के लिये उपयुक्त क्षेत्र का कार्य करता है। और अन्त में, पूर्व विषयोपभोग की स्मृति से रंजित, आसक्तियों से युक्त बुद्धि कामना का तीसरा सुरक्षित वासस्थान है।

अविद्या से मोहित जीव शरीर के साथ तादात्म्य करके विषयोपभोग चाहता है। अविवेकपूर्वक मन और बुद्धि के साथ तादात्म्य करके भावनाओं एवं विचारों की सन्तुष्टि की वह इच्छा करता है।

इन स्थानों पर इच्छा को खोजना माने शत्रु से सामना करना है। अन्त में, शत्रु का नाश कैसे करना है इसका वर्णन आगे के श्लोकों में किया गया है :

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इसलिये, हे अर्जुन ! तुम पहले इन्द्रियों को वश में करके, ज्ञान और विज्ञान के नाशक इस कामरूप पापी को नष्ट करो ॥४१॥

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है श्रीकृष्ण बिना पर्याप्त तर्क दिये किसी सत्य का प्रतिपादन मात्र नहीं करते। अब वे यहां भी युक्तियुक्त विवेचन के पश्चात्, इन्द्रियों को वश में करने का उपदेश देते हैं, जिसके सम्पादन से अन्तःकरण में स्थित "कामना" को नष्ट किया जा सकता है।

इच्छा को यहां पापी कहने का कारण यह है कि वह अपने स्थूल रूप में हमें अत्यन्त निम्न स्तर के जीवन को जीने के लिये विवश कर देती है। धुएँ के समान सात्विक इच्छा होने पर भी हमारा शुद्ध अनन्तस्वरूप पूर्णरूप से प्रकट नहीं हो पाता। अतः सभी प्रकार की इच्छाएँ कम-अधिक मात्रा में पाप युक्त ही कही गयी हैं।

चिकित्सक को किसी रोगी के लिये औषधि लिख देना सरल है, परन्तु यदि वह औषधि "आकाश पुष्प" से बनायी जाती हो, तो रोगी कभी स्वस्थ नहीं हो सकता ! इसी प्रकार, गुरु का शिष्य को इन्द्रिय संयम का उपदेश देना तो सरल है, परन्तु जब तक वे उसका कोई साधन नहीं बताते तब तक उनका उपदेश "आकाश पुष्प से बनी औषधि" के समान ही असंभव समझा जायेगा।

"हम किस वस्तु का आश्रय लेकर इस इच्छा का त्याग करें ?" इस प्रश्न का उत्तर है :

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।।४२।।

(शरीर से) परे (श्रेष्ठ) इन्द्रियां कही जाती हैं; इन्द्रियों से परे मन है और मन से परे बुद्धि है, और जो बुद्धि से भी परे है, वह है आत्मा ।।४२।।

तृतीय अध्याय के अन्तिम दो श्लोकों में व्यास जी ने उस परिपूर्ण साधना की ओर संकेत किया है, जिसके अभ्यास से कोई भी साधक सफलतापूर्वक अपने शत्रु 'काम' को खोजकर उसका नाश कर सकता है।

यद्यपि-भगवद्गीता के प्रारम्भ के अध्यायों में ही हम ध्यानविधि के विस्तृत विवेचन की अपेक्षा नहीं कर सकते, फिर भी, इन श्लोकों में भगवान् आत्मप्राप्ति के उपाय रूप ध्यानविधि की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं।

बाह्य जगत् की वस्तुओं की तलना में हमारे लिये अपनी इन्द्रियां अधिक महत्व की होती हैं। कर्मेन्द्रियों की अपेक्षा ज्ञानेन्द्रियां अधिक-श्रेष्ठ और सूक्ष्म हैं। हमारा सब का अनुभव है कि मन ही इन्द्रियों को नियन्त्रित करता है, अतः यहाँ मन को इन्द्रियों से सूक्ष्म और परे कहा गया है।

निःसन्देह मन के विचरण का क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत है, फिर भी उसकी अपनी सीमाएँ हैं। एक ज्ञान के पश्चात अन्य ज्ञान को प्राप्त कर हम अपने मन की सीमा बढ़ाते हैं, और विजय के इस अभियान में, बुद्धि ही सर्वप्रथम मन के वर्तमान ज्ञान की सीमा रेखा को पार करके उसके लिये "ज्ञान के नये राज्यों" को विजित करती है। इस दृष्टि से बुद्धि की व्यापकता और भी अधिक विस्तृत है, इसलिये बुद्धि को मन से श्रेष्ठतर कहा गया है। जो बुद्धि के भी परे तत्व है, उसे ही आत्मा कहते हैं।

बुद्धिवृत्तियों को प्रकाशित करने वाला चैतन्य बुद्धि से भी सूक्ष्म होना ही चाहिये। उपनिषदों में यह कहा गया है कि इस चैतन्य स्वरूप आत्मा के परे और कुछ नहीं है। ध्यानसाधना में शरीर, मन और बुद्धि उपाधियों से अपने तादात्म्य को हटाकर आत्मस्वरूप में स्थित होने का सजग प्रयत्न किया जाता है। ये सभी प्रयत्न तब समाप्त हो जाते हैं जब सब मिथ्या वस्तुओं की ओर से अपना ध्यान हटाकर हम निर्विषय चैतन्यस्वरूप बनकर स्थित हो जाते हैं।

भगवान् आगे कहते हैं :

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।।४३।।

इस प्रकार बुद्धि से परे (शुद्ध) आत्मा को जानकर आत्मा (बुद्धि) के द्वारा आत्मा (मन) को वश में करके, हे महाबाहो! तुम इस दुर्जेय (दुरासदम्) कामरूप शत्रु को मारो ॥४३॥

इस श्लोक के साथ न केवल यह अध्याय समाप्त होता है, किन्तु अर्जुन द्वारा मांगी गई निश्चित सलाह भी इसमें दी गई है। आत्मानुभव रूप ज्ञान के द्वारा ही हम आत्म अज्ञान को नष्ट कर सकते हैं। अज्ञान का ही परिणाम है - इच्छा, जिसके निवास स्थान हैं इन्द्रियां, मन और बुद्धि। ध्यान के अभ्यास से जब हम अपना ध्यान बाह्य विषय, शरीर, मन और बुद्धि से विलग करके स्वस्वरूप में स्थिर करते हैं, तब इच्छा की जननी बुद्धि ही समाप्त हो जाती है।

शरीर मन आदि उपाधियों के साथ जब तक हमारा तादात्म्य बना रहता है तब तक हम अपने शुद्ध दिव्य स्वरूप को पहचान ही नहीं पाते। इतना ही नहीं बल्कि सदैव दु:खी, बद्ध, परिच्छिन्न अहंकार को ही अपना स्वरूप समझते हैं। स्वस्वरूप के वैभव का साक्षात् अनुभव कर लेने पर हम अपने मन को पूर्णतया वश में रख सकेंगे। गौतम बुद्ध के समान ज्ञानी पुरुष का मन किसी भी प्रकार उसके अन्त:करण में क्षोभ नहीं उत्पन्न कर सकता; क्योंकि वह मन ज्ञानी पुरुष के पूर्ण नियन्त्रण में रहता है।

यहाँ ध्यान देने की बात है कि गीता में प्रतिपादित तत्त्वज्ञान जीवन की विधेयात्मक संरचना करने की शिक्षा देता है, न कि जीवन की सम्भावनाओं की उपेक्षा अथवा उनका नाश। कामना एक पीड़ादायक घाव है जिसको ठीक करने के लिए ज्ञान रूपी लेप का उपचार यहाँ बताया गया है। इस ज्ञान के उपयोग से सभी आन्तरबाह्य परिस्थितियों के स्वामी बनकर हम रह सकते हैं। जो इस लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है, वही साधक ईश्वरीय पुरुष, ऋषि या पैगम्बर कहलाता है!

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्याय: ॥

इस प्रकार श्रीकृष्णार्जुन संवाद के रूप में ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रस्वरूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् का कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय समाप्त होता है।

इस अध्याय का नाम है कर्मयोग। योग शब्द का अर्थ है आत्मविकास की साधना द्वारा अपर, निकृष्ट वस्तु को पर और उत्कृष्ट वस्तु के साथ संयुक्त करना। जिस किसी साधना के द्वारा यह लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है, उसे ही योग कहते हैं।

अर्जुन के समान शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर जीवन के युद्ध क्षेत्र में खड़े हुए साधकों के लिये आत्मविकास का मार्ग यहाँ दर्शाया गया हैं ; क्योंकि सामने शत्रुपक्ष की सेना खड़ी है, जो अधिक शक्तिशाली, सुव्यवस्थित और नवीनतम शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित हमें नष्ट करने के लिए सन्नद्ध है। वस्तुतः जीवन में प्रत्येक निष्कपट व्यक्ति की स्थिति अर्जुन के ही समान है, जो संघर्षों का सामना करने में संकोच करता है। पलायन तो करना चाहता है, किन्तु साहस नहीं जुटा पाता ! कर्मयोग की साधना हमें जीवन-संघर्षों का सामना करने के लिए सक्षम बना देती है ।

ॐ

चतुर्थ अध्याय

ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

आध्यात्मिक क्षेत्र में आर्य लोगों को नवीनता का कोई आकर्षण नहीं है। कितना ही युक्तियुक्त होने पर भी कोई नया विचार, आर्य संस्कृति में पले हुए लोगों को सहजता से, ब्रह्मविद्या के रूप में स्वीकार नहीं होता। यदि नए विचार का प्रणेता यह दर्शा सके कि उसका मत वेदसम्मत है, तो फिर उस मत को ग्राह्य समझा जाता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक इकाई के रूप में हम वेदों से बंधे हुए हैं।

पूर्व अध्याय में श्रीकृष्ण ने कर्मयोग के रूप में जिस क्रान्तिकारी विचार को अर्जुन के सम्मुख प्रस्तुत किया, वह विचार ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो वह उनकी स्वयं की बुद्धि की उपज हो। हिन्दू संस्कृति का विद्यार्थी होने के नाते, अर्जुन सहज भाव से उस विचार को स्वीकार नहीं कर सकता था, जब तक उसके गुरु यह सिद्ध न कर दें कि उनका मत नवीन न होकर प्राचीन पवित्र वैदिक ज्ञान की ही विवेकपूर्ण पुनर्व्याख्या है। इस अध्याय में श्रीकृष्ण का सम्पूर्ण प्रयत्न अर्जुन को यह समझाने का है कि वेदों के स्रष्टा स्वयं भगवान् उसे प्राचीन सत्य का ही उपदेश दे रहे हैं। यह कोई नया ज्ञान नहीं है।

एक और बात यह है कि, जब कभी गुरु, शिष्य के आत्म-विकास के लिए उपयोगी किसी साधना विशेष पर अधिक बल देते हैं, तो सम्भावना यह रहती है कि मन्दबुद्धि शिष्य उनके उपदेश को पूर्ण रूप से न समझकर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह साधना ही अनन्त की प्राप्ति का सम्पूर्ण मार्ग है। इस त्रुटिपूर्ण धारणा को दूर करने के लिए गीता के इस चतुर्थ अध्याय में ज्ञानयोग का उपदेश दिया गया है। ज्ञान ही वह मुख्य द्वार है जिसमें प्रवेश करके प्रत्येक साधक तीर्थयात्री को आत्मदेव के मन्दिर में पहुँचना पड़ता है। विभिन्न मानसिक एवं बौद्धिक परिपक्वता के साधक इस द्वार तक पहुँचने के पूर्व भिन्न-भिन्न साधन मार्गों का आश्रय ले सकते हैं, परन्तु तत्पश्चात् आत्मदेव के दर्शन हेतु सबको ज्ञानद्वार से ही प्रवेश करना होता हैं। श्री शंकराचार्य के मतानुसार सम्पूर्ण गीता में यह ज्ञानयोग ही भगवान् के उपदेश का मुख्य विषय है।

किसी भी शिक्षक के द्वारा पदार्थ अथवा लौकिक विषयों का ज्ञान अपने विद्यार्थियों को सफलतापूर्वक कराया जा सकता है। इस प्रकार के ज्ञान में शिक्षक के प्रति अत्यन्त प्रेम, श्रद्धा एवं आदर की भी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि शिक्षक इन विषयों की 'जानकारी देने के साधन मात्र' समझे जाते हैं। आधुनिक महाविद्यालयों में प्राध्यापक केवल 'बोलने वाले यन्त्र' के समान हो गये हैं, जिनका महत्व श्यामपट (ब्लैक बोर्ड), कुर्सी और मेज से अधिक नहीं समझा जाता! परन्तु, इसके विपरीत, यदि शिष्य के व्यक्तित्व को संस्कृति की सुगन्ध आदर्श की गरिमा और नैतिक बल की आभा प्रदान करनी हो, तो शिष्य के लिये आवश्यक है कि वह अपने गुरु के पास अत्यन्त प्रेम, श्रद्धा और आदर भाव के साथ पहुँचे। गुरु द्वारा प्रदत्त दिव्य ज्ञान को ग्रहण करने के लिए हृदय में इन सद्‌गुणों का होना अनिवार्य है।

अर्जुन श्रीकृष्ण को वृन्दाबन का गोपबाल, और अपना मित्र ही समझता था। यदि अवज्ञा नहीं भी हो, तब भी घनिष्ठ परिचय के कारण परिचित वस्तु या व्यक्ति के महत्व एवं पावित्र्य को हम भली प्रकार से आंक नहीं पाते। इस अध्याय का एक प्रयोजन यह भी है कि अर्जुन के मन में अपने रथ-सारथि के प्रति आवश्यक आदर भाव उत्पन्न हो। संक्षेप में, श्रीकृष्ण अपने व्यावहारिक रूप को त्यागकर, पहली बार, सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता के दिव्य वस्त्रों को धारण कर समस्त ईश्वरीय वैभव के साथ पृथ्वी पर अवतार लेते हुये अपना परिचय कराते हैं।

कर्मयोग की भावना से कर्तव्यपालन करने पर अन्तःकरण की शुद्धि प्राप्त होती है, जिससे साधक पुरुष सत्य के ज्ञान को ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त करता है। इस ज्ञान को दृढ़ करने के साधन हैं मनन और निदिध्यासन। इसलिए, इस अध्याय में ज्ञानयोग पर अधिक बल देकर उसके अभ्यास का आग्रह किया गया है।

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

श्रीभगवान् ने कहा :

मैंने इस अविनाशी योग को विवस्वान् (सूर्य देवता) से कहा (सिखाया); विवस्वान् ने मनु से कहा; मनु ने इक्ष्वाकु से कहा ॥१॥

जैसा कि इस अध्याय की प्रस्तावना में कहा गया है, भगवान् यहाँ स्पष्ट करते हैं कि जब तक उनके द्वारा दिया गया उपदेश नवीन न होकर सनातन वेदों में

प्रतिपादित ज्ञान की ही पुर्नव्याख्या है। स्वस्वरूप की स्मृति से स्फूर्त होकर, भगवान् घोषणा करते हैं कि उन्होंने ही सृष्टि के प्रारम्भ में इस ज्ञान का उपदेश सूर्य देवता (विवस्वान्) को दिया था। विवस्वान् ने अपने पुत्र मनु–जो भारत के प्राचीन स्मृतिकार हुए–को यह ज्ञान सिखाया। मनु ने इसका उपदेश राजा इक्ष्वाकु को दिया, जो सूर्यवंश के पूर्वज थे। इस वंश के राजाओं ने दीर्घकाल तक अयोध्या पर शासन किया।

'वेद' शब्द संस्कृत के 'विद्' धातु से बना है जिसका अर्थ है, "जानना"। अतः, वेद का अर्थ है "ज्ञान" अथवा "ज्ञान का साधन" (प्रमाण)। वेदों का प्रतिपाद्य विषय है जीव के शुद्ध "ज्ञान स्वरूप" तथा उसकी अभिव्यक्ति के साधनों का बोध।

जैसे, हम विद्युत को नित्य कह सकते हैं, क्योंकि उसके प्रथम बार आविष्कृत होने के पूर्व भी वह थी, और यदि हमें उसका विस्मरण भी हो जाता है, तब भी विद्युत शक्ति का अस्तित्व बना रहेगा, इसी प्रकार, हमारे नहीं जानने से दिव्य चैतन्य स्वरूप आत्मा का नाश नहीं होता। इस अविनाशी आत्मा का ज्ञान वास्तव में अव्यय है।

आधुनिक विज्ञान भी यह स्वीकार करता है कि विश्व का निर्माण सूर्य के साथ प्रारम्भ होना चाहिये। शक्ति के स्रोत के रूप में सर्वप्रथम सूर्य की उत्पत्ति हुई और उसकी उत्पत्ति के साथ ही यह महान् आत्मज्ञान विश्व को दिया गया।

वेदों का विषय आत्मानुभूति होने के कारण वाणी उसका वर्णन करने में सर्वथा असमर्थ है। कोई भी गंभीर अनुभव शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। अतः, स्वयं की बुद्धि से ही शास्त्रों का अध्ययन करने से, उनका सम्यक् ज्ञान तो दूर रहा, विपरीत ज्ञान होने की ही संभावना अधिक रहती है। इसलिये, भारत में यह प्राचीन परम्परा रही है कि अध्यातम ज्ञान के उपदेश को, आत्मानुभव में स्थित गुरु के मुख से ही श्रवण किया जाता है। गुरुशिष्य परम्परा से यह ज्ञान दिया जाता रहा है। यहाँ इस ब्रह्मविद्या के पूर्वकाल के विद्यार्थियों का परिचय कराया गया है।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥२॥

इस प्रकार परम्परा से प्राप्त हुए इस योग को राजर्षियों ने जाना, (परन्तु)

हे परन्तप ! वह योग बहुत काल (के अन्तराल) से यहाँ (इस लोक में) नष्ट (-प्राय) हो गया ॥२॥

वेदों में प्रवृत्ति और निवृत्ति, मार्गों का उपदेश है । इस योग का परम्परागत रूप से राजर्षियों को ज्ञान था । परन्तु, लगता है इस योग का भी अपना दुर्भाग्य और सौभाग्य है ! इतिहास के किसी काल में मानवमात्र की सेवा के लिये यह ज्ञान उपलब्ध होता है, और किसी अन्य समय अनुपयोगी सा बनकर निरर्थक हो जाता है । तब अध्यात्म का स्वर्णयुग समाप्त होकर भोगप्रधान आसुरी जीवन का अन्धा युग प्रारम्भ होता है । किन्तु आसुरी भौतिकवाद से ग्रस्त काल में भी, वह पीढ़ी, अपने ही अवगुणों से पीड़ित होने के लिये, उपेक्षित नहीं रखी जाती । क्योंकि, उस समय, कोई महान् गुरू अध्यात्म क्षितिज पर अवतीर्ण होकर तत्कालीन पीढ़ी को प्रेरणा, साहस, उत्साह और आवश्यक नेतृत्य प्रदान करके दुःख पूर्ण पगडंडी से बाहर सांस्कृतिक पुनरुत्थान के राजमार्ग पर ले आता है :

महाभारत काल का उचित मूल्यांकन करते हुए श्रीकृष्ण भगवान् ठीक ही करते हैं कि "दीर्घकाल के अन्तराल से वह योग यहां नष्ट हो गया है ।"

यह देखकर कि इन्द्रिय संयम से रहित, दुर्बल व्यक्तियों के हाथों में जाकर यह योग नष्टप्राय हो गया, जिसके बिना जीवन का परम पुरुषार्थ प्राप्त नहीं किया जा सकता । भगवान् आगे कहते हैं :

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

वह ही यह पुरातन योग आज मैंने तुम्हें कहा (सिखाया) क्योंकि तुम मेरे भक्त और मित्र हो । यह उत्तम रहस्य है ॥३॥

यहां भगवान् अब तक के उपदिष्ट ज्ञान की प्राचीनता की घोषणा करके रूढ़िवादी विचारकों की शंका का निर्मूलन कर देते हैं ।

शिष्य के प्रति स्नेह भाव होने पर ही कोई गुरु उत्साह और कुशलता पूर्वक उपदेश दे सकता है । श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच ऐसा ही सम्बन्ध था और भगवान् को यह विश्वास था कि उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का वह अनुसरण करेगा । गुरु और शिष्य के बीच इस प्रकार की व्यापारिक व्यवस्था न हो कि "तुम शुल्क दो और मैं पढ़ाऊँगा ।" प्रेम और स्वातन्त्र्य, मित्रता और आपसी समझ के वातावरण में ही मन और बुद्धि विकसित होकर खिल उठते हैं । आत्मानुभव का ज्ञान प्रदान

करने के लिये आवश्यक गुणों को अर्जुन में देखकर ही श्रीकृष्ण कहते हैं कि उन्होंने इस योग का ज्ञान उसे दिया ।

यहाँ इस ज्ञान को रहस्य कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि कोई व्यक्ति कितना ही बुद्धिमान् क्यों न हो, फिर भी अनुभवी पुरुष के उपदेश के बिना वह आत्मा के अस्तित्व का कभी आभास भी नहीं पा सकता । समस्त बुद्धि वृत्तियों को प्रकाशित करने वाली आत्मा, स्वयं बुद्धि के परे होती है । इसलिये मनुष्य की विवेक सामर्थ्य कभी भी नित्य, अविकारी आत्मा को विषयरूप में नहीं जान सकती । यही कारण है कि सत्य के विज्ञान को यहाँ उत्तम रहस्य कहा गया है ।

किसी के मन में यह शंका न रह जाये कि भगवान् के वाक्यों में परस्पर विरोध है, इसलिये अर्जुन, मानो आक्षेप करता हुआ, प्रश्न पूछता है :

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ।।४।।

अर्जुन ने कहा :

आपका जन्म अपर अर्थात् पश्चात का है और विवस्वान् का जन्म (आपके) पूर्व का है, इसलिये यह मैं कैसे जानूँ कि (सृष्टि के) आदि में आपने (इस योग को) कहा था ? ।।४।।

इस अध्याय के प्रारम्भिक श्लोक में घटनाओं के काल के विषयों में स्पष्ट विरोधाभास है । श्रीकृष्ण ने कहा कि उन्होंने सृष्टि के प्रारम्भ में इस योग को विवस्वान् को सिखाया । अर्जुन के लिये स्वाभाविक था कि वह श्रीकृष्ण को देवकी के पुत्र और गोकुल के मुरलीधर कृष्ण के रूप में ही जाने । श्रीकृष्ण की निश्चित जन्मतिथि थी और वे अर्जुन के ही समकालीन थे । इस दृष्टि से, उनका सूर्य के प्रति उपदेश करना असंभव था, क्योंकि सम्पूर्ण ग्रहों की सृष्टि के पूर्व सूर्य का अस्तित्व सिद्ध है ।

गीतोपदेष्टा भगवान् श्रीकृष्ण को कोई मनुष्य न समझ ले, इसलिये व्यासजी भगवान् के ही मुख से घोषणा करवाते हैं कि :

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ।।५।।

श्रीभगवान् ने कहा :

हे अर्जुन ! मेरे और तुम्हारे बहुत से जन्म हो चुके हैं, (परन्तु) हे परन्तप ! उन सब को मैं जानता हूँ और तुम नहीं जानते ।।५।।

हिन्दू शास्त्रों के आचार्य सदैव शिष्यों के मन में उठने वाली सभी संभाव्य शंकाओं का निरसन करने को तत्पर रहते हैं। हम उनमें असीम धैर्य और शिष्यों की कठिनाइयों को समझने की क्षमता के साक्षात् दर्शन कर सकते हैं। यहाँ श्रीकृष्ण अर्जुन को यह समझाने का प्रयत्न करते हैं कि किस प्रकार वे अनन्त स्वरूप हैं और सृष्टि के प्रारम्भ में कैसे उन्होंने सूर्य देवता को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया।

पुराणों में वर्णित "अवतार का सिद्धान्त" इस प्रकरण में विस्तारपूर्वक बताया गया है। अनेक विदेशियों को, हिन्दू दर्शन का यह प्रकरण और हिन्दुओं का अवतारवाद में विश्वास अत्यन्त भ्रामक प्रतीत हो सकता है। अनेक विद्वानों ने इस प्रकार के मत प्रगट भी किये हैं, परन्तु मैक्समूलर के समान संभवतः किसी ने इतनी तीव्र आलोचना नहीं की होगी। अवतार के विषय में वे कहते हैं, "यह आध्यात्मिक बकवास है।"

परन्तु, यदि हम सृष्टि-सम्बंधी वेदान्त के सिद्धान्त को जानते हुए इस पर विचार करें, तो अवतारवाद को समझना कठिन नहीं होगा। एक अन्य स्थान पर[1] "मनुष्य के पतन," के प्रकरण में यह विस्तारपूर्वक बताया गया है कि सत्वगुणप्रधान उपाधि के माध्यम से व्यक्त होकर अनन्तस्वरूप परमार्थ सत्य ब्रह्म, सर्वशक्तिमान् ईश्वर के रूप में प्रकट होता है। इसी अध्याय में आगे श्रीकृष्ण बतायेंगे कि किस प्रकार वे स्वेच्छा और पूर्ण स्वातन्त्र्य से उपाधियों को धारण करके मनुष्यों के मध्य रहते हुए कार्य करते हैं, जो उनकी दृष्टि से लीलामात्र है। उन्हें कभी भी अपने दिव्य स्वरूप का विस्मरण नहीं होता।

किसी एक भी प्राणी का जन्म केवल संयोग ही नहीं है। डार्विन के विकास के सिद्धान्त के अनुसार भी, प्रत्येक व्यक्ति जगत् में विकास की सीढ़ी पर उन्नति करने के फलस्वरूप आया है। प्रत्येक देहधारी का जीवन उस जीव के दीर्घ आत्मचरित्र को दर्शाता है। असंख्य और विभिन्न प्रकार के शरीरों में वास करने के पश्चात् ही जीव वर्तमान विकसित स्थिति को प्राप्त हुआ है। प्रत्येक नवीन देह में जीव को पूर्व जन्मों का विस्मरण हो जाता है किन्तु वह पूर्व जन्मों में अर्जित वासनाओं से युक्त रहता है। परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण की स्थिति एक जीव के समान नहीं समझनी चाहिये। वे अपनी सर्वज्ञता के कारण अर्जुन के और स्वयं के अतीत को जानते हैं,

1. देखिये स्वामीजी की पुस्तक "जीवन ज्योति" और केनोपनिषद् पर प्रवचन।

अत: उन्होंने कहा, "मैं उन सबको जानता हूँ और तुम नहीं जानते।"

"आपके लिये, धर्म-अधर्म के अभाव में, जन्म की क्या आवश्यकता है? आपका जन्म कैसे संभव है!" इसका उत्तर है:

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

यद्यपि मैं अजन्मा और अविनाशी स्वरूप हूँ और भूतमात्र का ईश्वर हूँ (तथापि) अपनी प्रकृति को अपने अधीन रखकर (अधिष्ठाय) मैं अपनी माया से जन्म लेता हूँ ॥६॥

परमेश्वर अपनी निर्बाध स्वतन्त्रता और पूर्ण स्वेच्छा से एक विशिष्ठ देह को धारण करके जगत् में उस काल की मोहित पीढ़ी का मार्गदर्शन करने आते हैं। अज्ञानी के समान देहादि के बन्धन में रहना, उनके लिये वास्तविकता न होकर एक नाटक की भूमिका के समान है। मर्त्य जीव अविद्या का शिकार बनता है, जब कि ईश्वर स्वमाया के स्वामी बने रहते हैं। कार का चालक कार से बँधा रहता है और उसका स्वामी स्वतन्त्र। वाहन का स्वामी अपने प्रयोजन के लिये वाहन का उपयोग करता है और गन्तव्य स्थान पर पहुँचने पर उसे छोड़कर अपने कार्य में व्यस्त हो जाता है। परन्तु, बेचारा चालक, चोर आदि लोगों से उसको सुरक्षित रखनें के लिये एक सेवक के समान उस कार से बंधा रहता है। सृष्टि की रक्षा के खेल में भगवान् इन उपाधियों तथा तज्जनित परिच्छिन्नताओं को साधन रूप में स्वीकारते हैं किन्तु स्वयं उनके दास अथवा शिकार नहीं बन जाते।

इस प्रकार, स्वस्वरूप से अज और अविनाशी तथा प्राणिमात्र के ईश्वर होते हुए भी, भगवान् अपनी माया को पूर्णत: वश में रखकर स्वेच्छा से जन्म लेते है, जीव के समान पूर्व कर्मों के अवश्यंभावी फलों को भोगने के लिये नहीं। उन्हें न स्वस्वरूप का विस्मरण है और न माया का बन्धन है।

आप अपने सेवक से स्कूटर में पेट्रोल भरवाकर लाने के लिये कहकर फिर उसे काम करते देखिये, तो इस श्लोक में कथित अर्थ को आप समझ सकते हैं। स्कूटर के विषय में अनजान उस बेचारे के लिये वह भारी मशीन एक बोझ और दु:ख का कारण ही बन जाती है। स्कूटर के भार के कारण उसे खींचकर ले जाना कठिन होता है। इसके विपरीत, यदि आप उस स्कूटर पर बैठकर उसे चला रहे हों अथवा उसे धक्का भी देना पड़े तो आप सहर्ष और सरलता से ले जा सकते हैं। स्कूटर तो वही है, परन्तु आपके हाथों में वह आपका दास है और अनुचर को तो वह स्वयं इधर

उधर खींचकर ले जाने वाला भार है।

इसी प्रकार, अज्ञानी मनुष्य अपनी उपाधियों के कार्यों के विषय में कुछ नहीं जानता और इसलिये उनका दास बना रहता है। ईश्वर के लिये जगत् कोई समस्या नहीं, क्योंकि वे प्रकृति को सर्वथा अपने वश में रखते हैं। ईश्वर के पूर्ण स्वातन्त्र्य को इन दो पंक्तियों में अत्यन्त सुन्दर शैली में व्यक्त किया गया है।

"ईश्वर का यह जन्म कब और किसलिये होता है?" इस पर कहते हैं:

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

हे भारत! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं स्वयं को प्रकट करता हूँ ॥७॥

जब धर्म की हानि और अधर्म का उत्कर्ष होता है, तब ईश्वर अवतार लेते हैं। गीता के प्रथम अध्याय की प्रस्तावना में धर्म शब्द का अर्थ विस्तारपूर्वक बताया जा चुका है। धर्म एक पवित्र सत्य है, जिसके पालन से ही समाज-धारणा सम्भव होती है। जब बहुसंख्यक लोग धर्म का पालन नहीं करते तब द्विपद-पशुओं के समूह द्वारा यह जगत् जीत लिया जाता है; उस समय परस्पर सहयोग और आनन्द से जीवन व्यतीत करते हुए सुखी परिवार दिखाई नहीं देते। मनुष्य को शोभा देने वाला उच्च जीवन भी कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। इतिहास के ऐसे काले युग में, कोई महान् व्यक्ति समाज में आकर लोगों के जीवन और नैतिक मूल्यों का स्तर ऊँचा उठाने का प्रयत्न करता है। समाज में विद्यमान नैतिक मूल्यों को आगे बढ़ाने से ही यह कार्य सम्पादित नहीं होता, वरन् साथ-साथ दुष्टता का भी नाश अनिवार्य होता है।

इस कार्य के लिए, अनन्तस्वरूप परमात्मा कभी-कभी देहादि उपाधियों को धारण करके पृथ्वी पर प्रकट होते हैं, उस बड़ी सम्पत्ति के स्वामी के समान जो कभी-कभी अपनी सम्पत्ति का निरीक्षण करने और उसे सुव्यवस्थित करने से लिये हाथ में अस्त्र आदि लेकर निकलता है। धूप में काम करते श्रमिकों के बीच वह खड़ा रहता है तथापि अपने स्वामित्व को नहीं भूलता। इसी प्रकार, समस्त जगत् के अधिष्ठाता भगवान् शरीर धारण कर मर्त्य मानवों के अनैतिक जीवन के साथ निर्लिप्त रहते हुए उनको अधर्म से बाहर निकाल कर धर्म मार्ग पर लाने के लिये सदैव प्रयत्नशील रहते हैं।

भगवान् के इस अवतरण में यहाँ एक बात स्पष्ट की गई है कि यद्यपि वे शरीर धारण करते हैं, तथापि अपने स्वातन्त्र्य को नहीं खोते। 'उपाधियों में' वे रहते हैं परन्तु 'उपाधियों के' वे दास नहीं बन जाते।

"किस प्रयोजन के लिए ?"

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥८॥

साधु पुरुषों के रक्षण, दुष्कृत्य करने वालों के नाश, तथा धर्म संस्थापना के लिए, मैं प्रत्येक युग में प्रकट होता हूँ ॥८॥

यह तो स्पष्ट है कि बिना किसी 'इच्छा' अथवा 'प्रयोजन' के, ईश्वर अपने को व्यक्त नहीं करता। इच्छाओं के आत्यन्तिक अभाव का अर्थ है कर्मों का पूर्ण अभाव। बिना किसी साधन के विद्युत् शक्ति किसी विशेष रूप में व्यक्त नहीं हो सकती। इसी प्रकार, परम ब्रह्म किसी प्रयोजन के अभाव में किसी उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट उपाधि को न धारण कर सकता है और न उसे उसकी कोई आवश्यकता ही होती है। जिस प्रकार शान्त और स्थिर जल में किसी वस्तु के डालने पर उसमें तरंगे उठने लगती हैं, उसी प्रकार इच्छारूपी विक्षेपक के होने पर ही परम पूर्ण स्वरूप में से उच्च या हीन किसी प्रकार की सृष्टि की उत्पत्ति सम्भव है।

पूर्ण परमात्मा को गोपाल कृष्ण के रूप में अवतार लेने की कारणरूप जो इच्छा है, उसे यहाँ व्यासजी अपने शब्दों में वर्णन करते हैं। सब इच्छाओं में सर्वोत्तम दैवी इच्छा है – जगत् की निःस्वार्थ भाव से सेवा करनें की इच्छा ; किन्तु वह भी एक इच्छा ही है। कर्तव्य पालन करने वाले साधु पुरुषों के रक्षण का कार्य करते हुए, अपनी माया का आश्रय लेकर एक और कार्य अवतारी पुरुष को करना होता है और वह है – दुष्टों का संहार।

दुष्टों के संहार से तात्पर्य शब्दशः दुष्ट व्यक्तियों के संहार से ही समझना आवश्यक नहीं है ; उसमें दुष्ट प्रवृत्तियों का नाश अभिप्रेत है। वस्त्र रखने की आलमारी की पुनर्व्यवस्था करने के समान यह कार्य है। जो वस्त्र अत्यन्त निरुपयोगी हो जाते हैं, उन्हें नए वस्त्रों को रखने के लिए स्थान बनाने हेतु वहां से हटाना ही पड़ता है। इसी प्रकार अवतारी पुरुष साधुओं का उत्साह बढ़ाते हैं, दुष्टों के स्वभाव को परिवर्तित करने का प्रयत्न करते हैं और कभी-कभी दुष्टों का पूर्ण संहार भी आवश्यक हो जाता है।

अर्जुन के लिए इतना सब कुछ विस्तार से बताना पड़ा क्योंकि वह श्रीकृष्ण के वास्तविक स्वरूप के विषय में सर्वथा अनभिज्ञ था। श्रीकृष्ण को एक मनुष्य और मित्र के रूप में ही समझने के कारण वह प्रथम अध्याय में इतने प्रकार के तर्क करता रहा, अन्यथा उसमें इतना साहस ही नहीं होता। यदि यह मान भी लिया जाय कि

अर्जुन को श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व के विषय में पूर्ण भान था, तब इसका अर्थ होगा कि एक नास्तिक के समान श्रीकृष्ण की सहायता पाकर भी वह अपने विजय के प्रति पूर्ण आश्वस्त नहीं था, यह उचित नहीं प्रतीत होता। जब भगवान् उसे अपना मित्र भक्त कहते हैं, तब वह शिशुओं की सी सरलता से उनसे कहता है, "आप मुझे सिखाइए, मैं आपका शिष्य हूँ।" इस वाक्य से श्रीकृष्ण के प्रति उसका आदर भाव तो स्पष्ट होता है, किन्तु किसी भी प्रकार उसमें उनके ईश्वरत्व का ज्ञान होना सिद्ध नहीं होता।

भगवान् अपने ही विषय में यह जानकारी क्यों दे रहे हैं ?

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

हे अर्जुन ! मेरा जन्म और कर्म दिव्य है, इस प्रकार जो पुरुष तत्वतः जानता है, वह शरीर को त्यागकर फिर जन्म को नहीं प्राप्त होता ; वह मुझे ही प्राप्त होता है।

अवतार कैसे होता है तथा उसका प्रयोजन भी बताने के पश्चात्, श्रीकृष्ण यहाँ कहते हैं कि जो पुरुष उनके दिव्य जन्म और कर्म को तत्त्वतः जानता है, वह सब बन्धनों से मुक्त होकर परमात्मस्वरूप बन जाता है। तत्त्वतः शब्द से यह स्पष्ट किया गया है कि इसे केवल बुद्धि के स्तर पर जानना नहीं हैं, वरन् यह अनुभव करना है कि अपने ही हृदय में किस प्रकार परमात्मा का अवतरण होता है। आज, निःसन्देह ही हम एक पशु के समान जी रहे हैं, परन्तु जब कभी हम निःस्वार्थ इच्छा से प्रेरित हुए कर्म करते हैं, उस समय परमात्मा की ही दिव्य क्षमता हमारे कर्मों में झलकती है।

इस श्लोक में सूक्ष्म संकेत यह भी है कि आत्मविकास के लिये भगवान् के आनन्द रूप की उपासना करना निराकार आत्मा के ध्यान के समान ही प्रभावकारी है। कुछ वेदान्त विचारक ऐसे भी हैं, जो भगवान् के सगुण-साकार होने की कल्पना को स्वीकार नहीं करते। अतः वे अवतार को भी नहीं मानते। वास्तव में, यह युक्ति-युक्त नहीं है। पूरी लगन से जो पुरुष साधना करता है वह सगुण अथवा निर्गुण उपासना के द्वारा लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

यहाँ उस पूर्णत्व की स्थिति का संकेत किया गया है, जिसे प्राप्त करके जीव का पुनर्जन्म नहीं होता। वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर इसका संकेत 'अमृतत्व' शब्द से किया गया है, तो दूसरे स्थानों पर पुनर्जन्म के अभाव के रूप में। ऐसा

प्रतीत होता है, मानो पहले लोग मृत्यु से डरते थे, इसलिये पूर्णत्व की स्थिति में उसका अभाव बताया गया है। अन्य विचारकों ने यह अनुभव किया होगा कि मृत्यु से अधिक दुःखदायी जन्म है, क्योंकि उसके पश्चात् दुःखों की एक शृंखला प्रारम्भ हो जाती है। अतः, मोक्ष का लक्षण पुनर्जन्म का अभाव कहा गया है।

जिसका जन्म होता है, उसी का नाश भी होता है, इस कारण 'अमृतत्व' और 'पुनर्जन्म के अभाव' से पूर्णत्व की स्थिति का ही संकेत किया गया है। तथापि दूसरे शब्द से विचारकों की परिपक्वता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

यह मोक्षमार्ग केवल वर्तमान में ही प्रवृत्त नहीं हुआ, बल्कि प्राचीनकाल में भी अनेक साधकों ने इसका अनुसरण किया था :

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

राग, भय और क्रोध से रहित, मन्मय (मेरे में स्थिति वाले) मेरे शरण हुये बहुत से पुरुष ज्ञानरूप तप से पवित्र हुए मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए हैं ॥१०॥

इस श्लोक में अध्यात्म साधना एवं साध्य, दोनों को ही स्पष्टरूप से बताया गया है : किसी भी साधक के लिए राग और उसके कार्यों का त्याग किये बिना कोई उन्नति करना सम्भव नहीं क्योंकि वे सदैव उसके मार्ग में बाधा उत्पन्न करते रहते हैं। एक बार मन इनसे उत्पन्न विक्षेपों से रहित होकर शान्त और स्थिरचित्त हो जाता है, जब पूर्णत्व की स्थिति उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य होती है, जो उसे आगे बढ़नें के लिये उत्साहित करती है। आत्मविकास की इस स्थिति पर पहुँचने पर उस साधक को शास्त्राध्ययन की योग्यता प्राप्त होती है।

उपनिषदों में वर्णित आत्मप्राप्ति की साधना इस प्रकार है : (क) गुरु के चरणों के पास बैठकर वेदान्त का 'श्रवण', (ख) श्रवण किये हुए विषय पर युक्ति पूर्वक 'मनन', और (ग) इस प्रकार जाने हुए आत्मतत्व का 'निदिध्यासन' अर्थात् ध्यान। वेदान्त के सिद्धान्त का अध्ययन और उस ज्ञान के अनुसार जीवन में आचरण करने को ही इस श्लोक में 'ज्ञानतप' कहा गया।

कुछ व्याख्याकारों के मतानुसार इस श्लोक में कर्म, भक्ति एवं ज्ञान इन तीनों योगों के समुच्चय का उपदेश दिया गया है। कैसे ? उनके अनुसार – कर्मयोग की भावना से अपने कार्यक्षेत्र में कर्म किए बिना राग, भय और क्रोध निवृत्ति नहीं हो सकती। 'मन्मया' और मामुपाश्रिताः – अर्थात् मुझमें स्थित' और 'मेरे शरण हुए'

इन शब्दों में भक्तियोग का संकेत है, क्योंकि ईश्वर की शरण में गया हुआ भक्त भगवान के साथ एक रूप हो जाता है। आत्मानात्मविवेक करके आत्मा के साथ तादात्म्य रखने के प्रयत्न को ज्ञानयोग कहते हैं, जिसे यहाँ ज्ञानतप कहा गया है। इन सबका निष्कर्ष यह है कि, भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाले साधना मार्गों का अनुसरण करने पर साधकगण 'मुझ परमात्मा' को ही प्राप्त होते हैं।

वास्तव में देखा जाय तो ये समस्त साधनामार्ग मन को साधन सम्पन्न बनाने के लिए ही हैं, जिसे शास्त्रीय भाषा में अन्तःकरण शुद्धि कहते हैं। हममें से कुछ लोगों का अपनी देह के साथ अत्यधिक तादात्म्य होता है। कुछ व्यक्ति अधिक भावुक होते हैं, तो अन्य लोग बुद्धिवादी। इस सबके लिये एक ही प्रकार के साधन का उपदेश करने पर इस बात की सम्भावना रहती है कि उसे सार्वभौमिक स्वीकृति न मिले तथा सबके लिए उसकी उपयोगिता सिद्ध न हो सके।

यह स्पष्ट है कि साधना मार्गों में विविधता होने पर भी सभी साधकों का आत्मानुभव एक ही है। यह एक विवादरहित तथ्य है, क्योंकि विश्व के आध्यात्मिक साहित्य के अध्ययन करने पर ऐसा प्रतीत होता है, मानो प्रत्येक सन्त ने अपने पूर्व-कालीन साहित्य से विचारों को लेकर उनकी नई प्रति प्रस्तुत कर दी हो !

इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् रागद्वेषवान् हैं, क्योंकि वे किसी को मोक्ष प्रदान करते हैं और अन्यों को नहीं। इस पर कहते हैं :

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।। ।।११।।

जो मुझे जैसे भजते हैं, मैं उन पर वैसे ही अनुग्रहक करता हूँ ; हे पार्थ सभी मनुष्य सब प्रकार से, मेरे ही मार्ग का अनुवर्तन करते हैं ।।११।।

भगवान् में राग द्वेष आदि की दुर्बलताओं का आरोप उचित नहीं है। वे तो शक्तिपुञ्ज हैं, जो समस्त कर्मों एवं उपलब्धियों का मूल है। उस ईश्वर की शक्ति का आह्वान करने के लिये हमें उपाधियाँ दी गयी हैं। बुद्धिमत्तापूर्वक यदि इन उपाधियों का तथा शक्ति का हम उपयोग करें, तो निश्चय ही लक्ष्य को पा सकते हैं, अन्यथा वही शक्ति हमारे नाश का कारण बन सकती है।

यन्त्रों की सहायता से पेट्रोल की ईन्धन शक्ति को अश्वशक्ति में परिवर्तित किया जा सकता है। उस परिवर्तित शक्ति का उपयोग करके वाहन द्वारा हम अपने गन्तव्य तक पहुँच सकते हैं अथवा किसी वृक्ष आदि से टक्कर मारकर अपनी हड्डियाँ भी चूर-चूर कर सकते हैं ! इस प्रकार की दुर्घटनायें वाहन चालकों की असावधानी

के कारण होती हैं। यद्यपि जिस वेग से वाहन टकराया उस वेग को उसने पेट्रोल से ही प्राप्त किया था। हम यह नहीं कर सकते कि जो लोग लक्ष्य तक पहुँच गये, उनके प्रति पेट्रोल को राग था और दुर्घटनाग्रस्त लोगों से द्वेष। बिना किसी पक्षपात के पेट्रोल अपनी शक्ति प्रदान करता है; परन्तु यन्त्रों के द्वारा उसका सदुपयोग अथवा दुरुपयोग करना हमारी अपनी बुद्धि पर निर्भर करता है। यही बात विद्युत शक्ति के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। विद्युत् की अभिव्यक्ति विभिन्न उपकरणों में विभिन्न प्रकार से होती हैं, वह उन उपकरणों का गुणधर्म है और न कि विद्युत शक्ति का।

इसी प्रकार, भगवान् यहाँ कहते हैं, "जो मुझे जैसा भजते हैं, मैं उनपर वैसी ही कृपा करता हूँ।" जिस रूप में हम ईश्वर का आह्वान करेंगे, उसी रूप में वे हमारी इच्छा को पूर्ण करेंगे।

यदि भगवान् पक्षपातादि अवगुणों से सर्वथा मुक्त हैं, तो उनकी कृपा सब पर एक समान ही होगी; फिर सामान्य मनुष्य भगवान् की शरण में न जाकर अन्य विषयों की ही क्यों इच्छा करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर है:

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

(सामान्य मनुष्य) यहाँ (इस लोक में) कर्मों के फल को चाहते हुए देवताओं को पूजते हैं; क्योंकि मनुष्य लोक में कर्मों के फल शीघ्र ही प्राप्त होते हैं ॥१२॥

सुकर्म अथवा दुष्कर्म करने के लिए आत्म चैतन्य अथवा ईश्वर की शक्ति की समान रूप से आवश्यकता है और वह उपलब्ध भी है। परन्तु मन की प्रवृत्ति बहिर्मुखी ही बनी रहने का कारण है इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्पर्क होनें पर निम्न स्तर के सुख की संवेदनाओं में उसकी आसक्ति। इस प्रकार के सुख सरलता से प्राप्त भी हो जाते हैं।

अनेक प्रयत्नों के बावजूद हम वैषयिक सुख में ही रमते हैं, जिसका कारण भगवान् बताते है, "मनुष्य लोक में कर्म की सिद्धि शीघ्र ही होती हैं।"

इस जगत् में विषयोपभोग के द्वारा सुख पाना सामान्य मनुष्य के लिए सरल प्रतीत होता है। वह सुख निकृष्ट होने पर भी बिना किसी प्रतिरोध के मिलता है, और इस कारण सुख शान्ति की इच्छा करने वाला पुरुष अपनी आध्यात्मिक शक्ति को व्यर्थ ही इन वस्तुओं की प्राप्ति और भोग करने में खो देता है। इस कथन के सत्यत्व का हम सबको अनुभव है।

उपर्युक्त विवरण का सम्बन्ध केवल लौकिक सामान्य भोगों में ही सीमित नहीं वरन् हमारी अन्य उपलब्धियों से भी है। वनस्पति एवं पशु जगत् की अपेक्षा हम सुनियोजित कर्मों के द्वारा प्रकृति को अपने लिए अधिक सुख प्रदान करने को बाध्य कर सकते हैं।

जीवन के उत्कृष्ट एवं निकृष्ट मार्गों का अनुसरण करने वाले लोगों को हम उनकी अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी प्रवृत्तियों के आधार पर विभाजित कर सकते हैं; इन बहिर्मुखी लोगों का फिर चार प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है, जिसका आधार है उनके विचार (गुण) और कर्म।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

गुण और कर्मों के विभाग से चातुर्वण्य मेरे द्वारा रचा गया है। यद्यपि मैं उसका कर्ता हूँ, तथापि तुम मुझे अकर्ता और अविनाशी जानो ॥१३॥

कुछ काल से इस श्लोक का अत्यन्त दुरुपयोग करके इसे विवादास्पद विषय बना दिया गया है। वर्ण शब्द का अर्थ है रंग। योगशास्त्र में प्रकृति के तीन गुणों-सत्व, रज और तम को तीन रंगों से सूचित किया जाता है। जैसा कि पहले बता चुके हैं, इन तीन गुणों का अर्थ है मनुष्य के विभिन्न प्रकार के स्वभाव। सत्व, रज और तम का संकेत क्रमशः श्वेत, रक्त और कृष्ण वर्णों से किया जाता है। मनुष्य अपने मन में उठने वाले विचारों के अनुरूप ही होता है। दो व्यक्तियों के विचारों में कुछ साम्य होने पर भी दोनों के स्वभाव में सूक्ष्म अन्तर देखा जा सकता है।

इन स्वभावों की भिन्नता के आधार पर, अध्यात्म की दृष्टि से अध्ययन करने के लिए, मनुष्यों का चार भागों में वर्गीकरण किया गया है इसको ही वर्ण कहते हैं। जैसे किसी बड़े नगर अथवा राज्य में व्यवसाय की दृष्टि से लोगों का वर्गीकरण चिकित्सक, वकील, प्राध्यापक, व्यापारी, राजनीतिज्ञ, ताँगा चालक आदि के रूप में करते हैं, उसी प्रकार, विचारों के भेद के आधार पर प्राचीन काल में मनुष्यों को वर्गीकृत किया जाता था। किसी राज्य के लिये चिकित्सक और ताँगा चालक उतने ही महत्व के हैं, जितने कि वकील और यान्त्रिक। इसी प्रकार स्वस्थ सामाजिक जीवन के लिए भी इन चारों वर्णों अथवा जातियों को आपस में प्रतियोगी बनकर नहीं वरन् परस्पर सहयोगी बनकर रहना चाहिए। एक वर्ण दूसरे का पूरक होने के कारण आपस में द्वेषजन्य प्रतियोगिता का कोई प्रश्न ही नहीं होना चाहिए।

तदोपरान्त भारत में मध्य युग की सत्ता लोलुपता के कारण साम्प्रदायिकता की भावना उभरने लगी, जिसने आज अत्यन्त कुरूप और भयंकर रूप धारण कर लिया है। उस काल में शास्त्रीय विषयों में सामान्य जनों के अज्ञान का लाभ उठाते हुए अर्धपण्डितों ने शास्त्रों के कुछ अंशों को बिना किसी सन्दर्भ के उद्धृत करते हुए अपने ज्ञान का प्रदर्शन करना प्रारम्भ कर दिया।

हिन्दुओं के पतनोन्मुखी काल में ब्राह्मण वर्ग को इस श्लोक की प्रथम पंक्ति का अर्ध भाग अत्यन्त अनुकूल लगा और वे इसे दोहराने लगे, "मैंने चातुर्वर्ण्य की रचना की।" इस का उदाहरण दे देकर समाज के वर्तमान दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन को दैवी प्रमाणित करने का प्रयत्न किया गया। जिन लोगों ने ऐसे प्रयत्न किये, उन्हें ही हिन्दू धर्म का विरोधी समझना चाहिये। वेदव्यासजी ने इसी श्लोक की प्रथम पंक्ति में ही इसी प्रकार के वर्गीकरण का आधार भी बताया कि "गुणकर्म विभागशः" अर्थात् गुण और कर्मों के विभाग से चातुर्वर्ण्य बनाया हुआ है।

वर्ण शब्द की यह सम्पूर्ण परिभाषा न केवल हमारी वर्तमान विपरीत धारणा को ही दूर करती है, बल्कि उसे यथार्थ रूप में समझने में भी सहायता करती है। जन्म से कोई व्यक्ति ब्राह्मण नहीं होता। शुभ संकल्पों एवं श्रेष्ठ विचारों के द्वारा ही ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया जा सकता है। केवल शरीर पर तिलक, चन्दन आदि लगाने से अथवा कुछ धार्मिक विधियों के पालन मात्र से हम ब्राह्मण होने का दावा नहीं कर सकते। परिभाषा के अनुसार उसके विचारों एवं कर्मों का सात्विक होना अनिवार्य है। रजोगुणप्रधान विचारों तथा कर्मों का व्यक्ति क्षत्रिय कहलाता है। जिसके केवल विचार ही तामसिक नहीं, बल्कि जो अत्यन्त निम्नस्तर का जीवन शारीरिक सुखों के लिये ही जीता है, उस पुरुष को शूद्र समझना चाहिये। गुण और कर्म के आधार पर किये गये इस वर्गीकरण से इस परिभाषा की वैज्ञानिकता सिद्ध होती है।

सत्व (ज्ञान), रज (क्रिया) और तम (जड़त्व) इन तीन गुणों से युक्त है जड़ प्रकृति अथवा माया। चैतन्य स्वरूप आत्मा के इसमें व्यक्त होने पर ही सृष्टि उत्पन्न होकर उसमें ज्ञान क्रिया रूप व्यवहार सम्भव होता है। उसके बिना जगत् व्यवहार संभव ही नहीं हो सकता। इस चैतन्य स्वरूप के साथ तादात्म्य करके श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे चातुर्वर्ण्यादि के कर्ता हैं; क्योंकि उनके बिना जगत् का कोई अस्तित्व नहीं है और न कोई क्रिया संभव है। जैसे समुद्र तरंगों, लहरों, फेन आदि का कर्त्ता है; अथवा स्वर्ण सब आभूषणों का कर्त्ता है, वैसे ही भगवान् का कर्तृत्व भी समझना चाहिये।

इसी श्लोक में भगवान् स्वयं को कर्ता कहते हैं परन्तु दूसरे ही क्षण कहते हैं

कि वास्तव में वे अकर्ता हैं। कारण यह है कि अनन्त, सर्वव्यापी चैतन्य आत्मा में किसी प्रकार की क्रिया नहीं हो सकती। देशकाल से परिच्छिन्न वस्तु ही क्रिया कर सकती हैं। आत्मस्वरूप की दृष्टि से भगवान् अकर्ता ही हैं।

शास्त्रों की अध्ययन प्रणाली से अनभिज्ञ विद्यार्थियों को वेदान्त के ये परस्पर विरोधी वाक्य भ्रमित करने वाले होते हैं। परन्तु, हम अपने दैनिक संभाषण में भी इस प्रकार के वाक्य बोलते हैं और फिर भी उसके तात्पर्य को समझ लेते हैं। जैसे, हम कहते हैं "कार में बैठकर मैं गन्तव्य तक पहुँचा।" अब, यह तो स्पष्ट है कि बैठने से मैं अन्य स्थान पर कभी नहीं पहुँच सकता; तथापि कोई अन्य व्यक्ति हमारे वाक्य की अधिक छानबीन नहीं करता। इस प्रकार के वाक्यों में कार की गति का आरोप बैठे यात्री पर किया जाता है। वह अपनी दृष्टि से तो स्थिर बैठा है, परन्तु वाहन की दृष्टि से गतिमान् प्रतीत होता है। इसी प्रकार विभिन्न स्वभावों की उत्पत्ति मन और बुद्धि का धर्म है, फिर भी उसका आरोप चैतन्य आत्मा पर करके उसे ही कर्त्ता कहते हैं; किन्तु स्वस्वरूप से सर्व-व्यापी अविकारी आत्मा अकर्ता ही है।

वास्तव में मैं अकर्ता हूँ, इसलिये :

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

कर्म मुझे लिप्त नहीं करते; न मुझे कर्मफल में स्पृहा है। इसप्रकार जो मुझे जानता है, वह भी कर्मों से नहीं बन्धता है ॥१४॥

नित्य शुद्ध और परिपूर्ण आत्मा को किसी प्रकार की अपूर्णता का भान नहीं हो सकता, जो किसी 'इच्छा' को जन्म दे। इस दृष्टि से श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं "कर्म मुझे दूषित नहीं कर सकते और न मुझे कर्मफल में कोई आसक्ति ही है।" इच्छा अथवा कर्म का बन्धन जीव–अहंकार के लिये ही हो सकता है। "मन और बुद्धि की उपाधियों से युक्त चैतन्य आत्मा ही जीव कहा जाता है।" इन उपाधियों के दोषयुक्त होने पर जीव ही दूषित हुआ समझा जाता है। इसे एक दृष्टान्त के द्वारा हम भली भाँति समझ सकेंगे।

यदि किसी पात्र में रखे जल में सूर्य प्रतिबिम्बित होता है, तो उस प्रतिबिम्ब की स्थिति पूर्णतया उस जल की स्थिति पर निर्भर करती है। जल के शान्त, अस्थिर अथवा मैले होने पर वह प्रतिबिम्ब भी स्थिर, क्षुब्ध अथवा धुंधला दिखाई देगा। परन्तु महाकाश स्थित वास्तविक सूर्य पर हम चंचलता अथवा निश्चलता का

कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसी प्रकार, इच्छा, आसक्ति आदि का प्रभाव अहंकार पर ही पड़ता है। नित्य मुक्त चैतन्य स्वरूप आत्मा इन सबसे किसी प्रकार भी दूषित नहीं होती।

आत्मविकास की वैदिक साधना का यह अर्थ नवीन प्रतीत होता है। क्या इसके पूर्व किसी ने इसका आचरण किया था? उत्तर है:

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

पूर्व के मुमुक्षु पुरुषों द्वारा भी इस प्रकार जानकर ही कर्म किया गया है; इसलिये तुम भी पूर्वजों द्वारा सदा से किये हुए कर्मों को ही करो ॥१५॥

परमात्मा में कर्तृत्व तथा फलासक्ति का अभाव है और उस आत्मस्वरूप का साक्षात् अनुभव कर लेने पर साधक में न इच्छा रहती है और न अहंकार जनित अन्य वृत्तियां। पूर्व अध्याय में वर्णित कर्मयोग का आचरण प्राचीन समय में अनेक बुद्धिमान् मुमुक्षु पुरुषों ने किया था। अर्थ यह हुआ कि यह मार्ग कोई नवीन नहीं है।

"आपके उपदेशमात्र से मैं कर्मयोग का पालन करूँगा, किन्तु इसमें पूर्व के मुमुक्षुओं का सन्दर्भ देने की क्या आवश्यकता है?" इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं," क्योंकि कर्म क्या है, इस विषय को समझने में कठिनाई है" कैसे? कहते हैं:

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

कर्म क्या है और अकर्म क्या है? इस विषय में बुद्धिमान् पुरुष भी भ्रमित हो जाते हैं। इसलिये मैं तुम्हें कर्म कहूँगा, (अर्थात् कर्म और अकर्म का स्वरूप समझाऊँगा) जिसको जानकर तुम अशुभ (संसार बन्धन) से मुक्त हो जाओगे ॥१६॥

सामान्य दृष्टि से हम किसी भी प्रकार की शारीरिक क्रिया को 'कर्म' और वैसी क्रिया के अभाव को 'अकर्म' समझते हैं। दैनिक जीवन के कार्यकलापों के सन्दर्भ में यह परिभाषा योग्य ही है। परन्तु दर्शनशास्त्र के दृष्टिकोण से, कर्म और 'अकर्म' का लक्षण भिन्न है।

आत्मविकास की दृष्टि से 'कर्म' का तात्पर्य केवल उसका स्थूल रूप जो शरीर द्वारा व्यक्त होता है, नहीं समझना चाहिए किन्तु उसके साथ ही उसी कर्म के पीछे जो सूक्ष्म उद्देश्य है, उसे भी ध्यान में रखना आवश्यक है। कर्म अपने आप में न अच्छा होता है और न बुरा। कर्म के उद्देश्य से कर्म का स्वरूप निश्चित किया जाता है। जैसे, किसी फल की सुन्दरता से ही हम नहीं कह सकते कि वह खाने योग्य है अथवा नहीं, क्योंकि वह तो उस फल में निहित तत्वों पर निर्भर करता है। उसी प्रकार, अत्यन्त श्रेष्ठ प्रतीत होने वाले कर्म भी अपराधपूर्ण हो सकते हैं, यदि उनका उद्देश्य निम्नस्तरीय और पापपूर्ण हो।

इसलिये, यहां कहा गया है कि कर्म-अकर्म का विवेक करने में कवि लोग भी मोहित होते हैं। आजकल, कविता लिखने वाले व्यक्ति को ही 'कवि' कहा जाता है, किन्तु पूर्व काल में उपनिषदों के मन्त्र द्रष्टा ऋषियों के लिये अथवा बुद्धिमान् पुरुषों के लिये यह शब्द प्रयुक्त होता था। प्रेरणा प्राप्त कोई भी पुरुष जो श्रेष्ठ सत्य को उद्घाटित करता था सिद्धकवि कहा जाता था।

कर्म-अकर्म की कठिन समस्या की ओर संकेत करके श्रीकृष्ण अर्जुन को आश्वासन देते है कि वे उसे कर्म-अकर्म का तत्व समझायेंगे, जिसे जानकर मनुष्य स्वयं को सांसारिक बन्धनों से मुक्त कर सकता है।

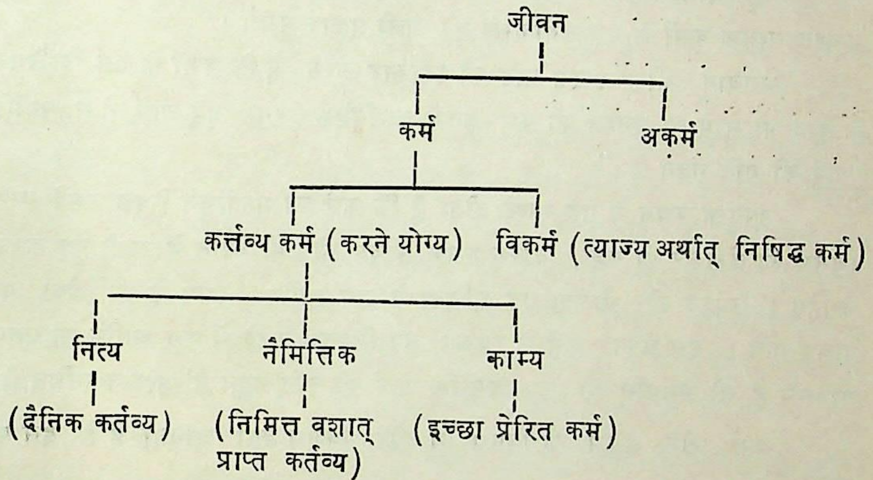
यह सर्वविदित है कि कोई भी क्रिया कर्म है और क्रिया का अभाव—शान्त बैठना अकर्म है। इसके विषय में और अधिक जानने योग्य क्या बात है? इसपर कहते हैं:

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

कर्म का (स्वरूप) जानना चाहिये और विकर्म का (स्वरूप) भी जानना चाहिये (बोद्धव्यम्) तथा अकर्म का भी (स्वरूप) जानना चाहिये; (क्योंकि) कर्म की गति गहन है ॥१७॥

जीवन क्रियाशील है। क्रिया की समाप्ति ही मृत्यु का आगमन है। क्रियाशील जीवन में ही हम उत्थान और पतन को प्राप्त हो सकते हैं। एक स्थान पर स्थिर जल सड़ता और दुर्गन्ध फैलाता है, जबकि सरिता का प्रवाहित जल सदा स्वच्छ और शुद्ध बना रहता है। जीवन शक्ति की उपस्थिति में कर्मों का आत्यन्तिक अभाव नहीं हो सकता।

चूँकि मनुष्य को जीवन पर्यन्त क्रियाशील रहना आवश्यक है, इसलिए प्राचीन मनीषियों ने जीवन के सभी सम्भाव्य कर्मों का अध्ययन किया ; क्योंकि वे जीवन का मूल्यांकन उसके पूर्णरूप में करना चाहते थे। निम्नांकित तालिका में उनके द्वारा किया गया कर्मों का वर्गीकरण दिया हुआ है।



क्रिया ही जीवन है। निष्क्रियता से उन्नति और अधोगति दोनों ही सम्भव नहीं। गहन निद्रा अथवा मृत्यु की कर्म शून्य अवस्था मनुष्य के विकास में न साधक है न बाधक।

कर्म के क्षण मनुष्य का निर्माण करते हैं। यह निर्माण इस बात पर निर्भर करता है कि हम कौन से कर्मों को अपने हाथों में लेकर करते हैं। प्राचीन ऋषियों के अनुसार कर्म दो प्रकार के होते हैं – निर्माणकारी (कर्तव्य) और विनाशकारी (निषिद्ध)। इस श्लोक में 'कर्म' शब्द से मनुष्य के विकास में साधक निर्माणकारी कर्तव्य कर्मों का ही समावेश है। जिन कर्मों से मनुष्य अपने मनुष्यत्व से नीचे गिर जाता है उन कर्मों को यहाँ 'विकर्म' कहा गया है जिन्हें शास्त्रों में निषिद्ध कर्म का नाम दिया गया है।

कर्तव्य कर्मों का फिर तीन प्रकार से वर्गीकरण किया गया है और वे हैं, नित्य, नैमित्तिक और काम्य। जिन कर्मों को प्रतिदिन करना आवश्यक है, वे 'नित्य कर्म' तथा किसी कारण विशेष से करणीय कर्मों को 'नैमित्तिक कर्म' कहा जाता है। इन दो प्रकार के कर्मों को करना अनिवार्य है। किसी फल विशेष को पाने के लिए उचित साधन का उपयोग कर जो कर्म किया जाता है, उसे 'काम्य कर्म' कहते हैं जैसे पुत्र या स्वर्ग पाने के लिए किया हुआ कर्म। यह सबके लिए अनिवार्य नहीं होता।

आत्मविकास के लिये विकर्म का सर्वथा त्याग और कर्तव्य का सभी परिस्थितियों में पालन करना चाहिए। वैज्ञानिक पद्धति से किये हुये इस विश्लेषण में श्रीकृष्ण अकर्म[1] की पूरी तरह उपेक्षा करते हैं।

यह आवश्यक है कि अपने भौतिक अभ्युदय तथा आध्यात्मिक उन्नति के इच्छुक साधक कर्मों के इस वर्गीकरण को भली प्रकार समझें।

भगवान् श्रीकृष्ण इस बात को स्वीकार करते हैं कि कर्मों के इस विश्लेषण के बाद भी सामान्य मनुष्य को कर्म-अकर्म का विवेक करना सहज नहीं होता, क्योंकि "कर्म की गति गहन है।"

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि कर्म का मूल्यांकन केवल उसके वाह्य स्वरूप को देखकर ही नहीं, बल्कि उसके उद्देश्य को भी ध्यान में रखते हुए करना चाहिए। उद्देश्य की श्रेष्ठता एवं शुचिता से उस व्यक्ति विशेष के कर्म श्रेष्ठ एवं पवित्र होंगे। इस प्रकार कर्म के स्वरूप का निश्चय करने में जब व्यक्ति का इतना प्राधान्य हैं, तो भगवान् का यह कथन कि 'कर्म की गति गहन है' अत्यन्त उचित है।

कर्म और अकर्म के विषय में और विशेष क्या जानना है? इस पर कहते हैं:

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

जो पुरुष कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान है, वह योगी सम्पूर्ण कर्मों को करने वाला है ॥१८॥

वेदान्त के वर्णनानुसार दीर्घकाल तक जब मनुष्य कर्तव्य कर्मों का पालन करता हैं, तब सभी सच्चे साधकों के मन में एक प्रश्न उठता है कि उन्हें कैसे ज्ञात हो कि उन्होंने पूर्णत्व की स्थिति प्राप्त कर ली है। इस श्लोक में श्रीकृष्ण उस स्थिति का वर्णन कर रहे हैं।

शारीरिक कर्म बुद्धि में स्थित किसी ज्ञात अथवा अज्ञात इच्छा की केवल स्थूल अभिव्यक्ति है। पूर्ण 'नैष्कर्म्य की स्थिति' का अर्थ 'निष्कामत्व की स्थिति' होनी चाहिये, इसे ही 'पूर्ण ईश्वरत्व की स्थिति' कहते हैं। परन्तु यहाँ बढ़ाया हुआ

---

१. कुछ व्याख्याकार अकर्म शब्द आत्मा का सूचक मानते हैं। इसके पूर्व कहा गया था कि भगवान अकर्ता है। इसी अध्याय के १७वें श्लोक में अकर्म शब्द का जैसा प्रयोग किया गया है, उसे देखते हुये व्याख्याकारों द्वारा बताया हुआ अर्थ ग्राह्य है। हम, 'अकर्म' शब्द से सात्विक आनन्द और शान्ति की स्थिति समझते हैं।

लक्ष्य अनन्तस्वरूप पूर्णत्व न होकर ज्ञान की तीर्थयात्रा के मध्य पड़ने वाला एक स्थान है। विवेकी पुरुष यह सहजता से अवलोकन कर सकता है कि शरीर से अकर्म होने पर भी उसके मन और बुद्धि पूर्ण वेग से कार्य कर रहे होते हैं, वह यह भी अनुभव करता है कि शरीर द्वारा निरन्तर कर्म करते रहने पर भी वह स्वयं शान्त और स्थिर रहकर केवल द्रष्टाभाव से उन्हें स्वयं अकर्म रहते हुए देख सकता है – यह अकर्म सात्विक गुण की चरम सीमा है।

ऐसा व्यक्ति समत्व की महान् स्थिति को प्राप्त हुआ समझना चाहिये, जो ध्यानाभ्यास की सफलता के लिए अनिवार्य है। जैसा कि अनेक लोगों का विश्वास है, कि कर्तव्य कर्म ही हमें पूर्णत्व की प्राप्ति करा देंगे ऐसा यहाँ नहीं कहा गया है। यह सर्वथा असंभव है। कर्म स्वयं ही इच्छा का 'शिशु' है, और कर्मों के द्वारा हम वस्तुओं को उत्पन्न कर सकते हैं; और कोई भी उत्पन्न की हुई वस्तु स्वभाव से ही परिच्छिन्न, विनाशी होती है। इस प्रकार कर्मों के द्वारा प्राप्त किया ईश्वरत्व रविवासरीय ईश्वरत्व होगा, जो आगामी सोमवार को हमसे विलग हो जायेगा!

श्री शंकराचार्य और अन्य आचार्यवृन्द पुनः-पुनः यह दोहराते हैं कि कर्तव्य पालन से शुद्धान्तःकरण वाले व्यक्ति में वह सामर्थ्य आ जाती है कि वह स्वयं के मन में तथा बाहर होने वाली क्रियाओं को साक्षीभाव से देख सकता है। जब वह यह जान लेता है कि उसके कर्म विश्व में हो रहे कर्मों के ही भाग हैं, तब उसे एक अनिर्वचनीय समता का भाव प्राप्त हो जाता है, जो ध्यान के अभ्यास के लिये आवश्यक है।

किसी व्यक्ति के शान्त बैठे रहने मात्र से उसे निष्क्रिय नहीं कहा जा सकता। शारीरिक निष्क्रियता (अकर्म) किसी व्यक्ति के क्रियाहीन होने का मापदण्ड नहीं हो सकता। यह एक सुविदित तथ्य है कि जब कभी हम गम्भीर निर्माणकारी विचारों में मग्न होते हैं, तो हम केवल शारीरिक दृष्टि से बिल्कुल शान्त और निष्क्रिय हो जाते हैं। इसलिए, जीवन के पादमार्ग (फुटपाथ) पर ही चलने वाले लोगों की दृष्टि से जो व्यक्ति क्रियाहीन कहलाता है, उसके हृदय में गम्भीर विचारों की क्रिया का चलना सम्भव हो सकता है। बोधि वृक्ष के नीचे बैठे हुए बुद्ध, वाद्यों के समीप एक संगीतज्ञ, हाथ में लेखनी लिए एक लेखक – इन सब में कभी-कभी निष्क्रियता देखी जाती है, परन्तु वह निष्क्रियता सत्वगुण की है, तमोगुण की नहीं। इन शान्त क्षणों के बाद ही वे अपनी श्रेष्ठ कलाकृति प्रस्तुत करते हैं। इस, प्रकार, जिस पुरुष में आत्मनिरीक्षण की क्षमता है, वह अकर्म में कर्म को पहचान सकता है।

एक विवेकी पुरुष जब जगत् में क्रियाशील रहता है, उस समय मानों अपने आपको सब उपाधियों से अलग करके साक्षीभाव से स्वयं अकर्म रहते हुए वह सब

कर्मों को होते हुए देख सकता है ।

जब मैं इन शब्दों को लिख रहा हूँ, तब मेरा ही कोई एक भाग मानो द्रष्टा-भाव से देख सकता है कि हाथ में पकड़ी हुई लेखनी कागज पर शब्दों को लिख रही है । इसी प्रकार सभी कर्मों में स्वयं अकर्म रहते हुए कर्मों को देखने की क्षमता दुर्लभ नहीं है । जो कोई पुरुष इसका उपयोग करेगा वह स्पष्ट रूप से सब कर्मों में इस द्रष्टा को अकर्म रूप से पहचान सकता है ।

रेल चलती है, वाष्प नहीं । पंखा घूमता है, विद्युत नहीं । इसी प्रकार ईंधन जलता है, अग्नि नहीं । शरीर, मन और बुद्धि कार्य करते हैं, परन्तु चैतन्य आत्मा नहीं ।

इस प्रकार, कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखने वाले पुरुष को, सब मनुष्यों से बुद्धिमान कहा जाता है । उसे यहाँ आत्मानुभवी नहीं कहा गया है । निःसन्देह वह मनुष्यों में श्रेष्ठ है और आत्मप्राप्ति के अत्यन्त समीपस्थ है ।

संक्षेप में, निष्कर्ष यह है कि निःस्वार्थ भाव तथा अर्पण की भावना से कर्माचरण करने पर चित्त शुद्ध होता है और बुद्धि में कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखने की क्षमता आती है । यह क्षमता दैवी और श्रेष्ठ है, क्योंकि इसके द्वारा ही हम अपने आप को सांसारिक बन्धनों से मुक्त कर सकते हैं ।

उपर्युक्त ज्ञान की प्रशंसा अगले श्लोकों में की गयी है :

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ।।१९।।

जिसके समस्त कार्य कामना और संकल्प से रहित हैं, ऐसे उस ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा भस्म हुये कर्मों वाले पुरुष को ज्ञानीजन पण्डित कहते हैं ।।१९।।

जिस पुरुष के सभी कर्म कामना और फलों के संकल्प (आसक्ति) से रहित होते हैं, वह पुरुष सन्त या आत्मानुभवी कहलाता है । भविष्य में विषयोपभोग के द्वारा सुख पाने की बुद्धि की योजना को कामना कहते हैं । यह योजना बनाना स्वयं की स्वतन्त्रता को सीमित करना ही है । कामना करने का अर्थ है कि परिस्थितियों को अपने अनुकूल होने का आग्रह करना । इस प्रकार, प्राप्त परिस्थितियों से सदा असन्तुष्ट रहते हुये भविष्य में उन्हें अनुकूल बनाने के प्रयत्न में हम अपने आप को भ्रमित करके अनेक विघ्नों का सामना करते रहते हैं । कर्म करने की यह पद्धति कर्त्ता के आनन्द और प्रेरणा का हरण कर लेती है ।

हम इस पर पहले ही विचार कर चुके हैं कि फलासक्ति किस प्रकार हमारी शक्तियों को नष्ट कर देती है । कर्मफल सदैव भविष्य में मिलता है ; इसलिये उसकी चिन्ता करने का तात्पर्य वर्तमान से पलायन करके अनुत्पन्न भविष्य में जीना है । यह नियम है कि कारणों अर्थात् कर्मों के अनुरूप ही कर्मफल मिलता है ; अतः निश्चित रूप से सफलता पाने का एकमात्र उपाय है – वर्तमान काल में पूरी लगन से कार्य करना ।

यहाँ कहा गया है कि ज्ञानी पुरुष के सब कर्म काम और संकल्प से रहित होते हैं । प्रकरण के सन्दर्भ में इन दो शब्दों को ठीक से समझने की आवश्यकता है, क्योंकि केवल शाब्दिक अर्थ लेने से यह कथन अत्यन्त अनुपयुक्त होगा । भगवान् के कथन से कोई यह न समझ ले कि समत्व में स्थित ज्ञानी पुरुष अपने स्फूर्त कर्मों में इष्ट फल पाने के लिये अपनी बुद्धि का उपयोग नहीं करता है । इसका आशय इतना ही है कि वह कर्म करते समय काल्पनिक भय, चिन्ता आदि में अपनी मन की शक्ति विनष्ट नहीं करता । वेदान्त मनुष्य की बुद्धि की उपेक्षा नहीं करता है । गीता में उपदिष्ट जीवन यापन का मार्ग तो हमें वह साधन प्रदान करता है कि हम अधिकाधिक कुशलतापूर्वक कर्म करके और अपनी क्षमताओं का पूर्ण उपयोग करते हुए अपने कार्यक्षेत्र में सर्वोच्च सफलता प्राप्त करें ।

जो व्यक्ति बुद्धिमत्तापूर्वक जीनें और कुशलतापूर्वक काम करने की कला को सीख लेता है वह कर्म करने में ही आनन्द को पाकर उसी में रम जाता है । किसी दिव्य और श्रेष्ठ लक्ष्य के अभाव के ही कारण ही हमारा मन अनेक चिन्ताओं से ग्रस्त रहता है । ज्ञानी पुरुष का मन दिव्य चैतन्यस्वरूप में स्थित रहने के कारण जगत् में सब प्रकार के कर्म करते हुए भी वह आनन्द का ही अनुभव करता है ।

ज्ञानी पुरुष की मनःस्थिति के वर्णन का प्रयोजन अर्जुन जैसे साधकों के लिए साधन मार्ग का निर्देश करना है । अर्जुन के निमित्त दिया भगवान् श्रीकृष्ण का यह उपदेश सभी कालों के साधकों के लिए भी अनुकरणीय है ।

यदि हमारा पुत्र चिकित्सक बनना चाहता है, तो हम उसे अन्य चिकित्सकों के संघर्ष की कहानी बताते हैं, जिससे उत्तम चिकित्सक बनने के लिए आवश्यक गुणों को वह अर्जित कर सके । इसी प्रकार, यहाँ ज्ञानी पुरुष के स्वाभाविक लक्षण बताकर भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को साधन मार्ग में प्रवृत्त करते हैं, जिससे वह जीवन के लक्ष्य तक पहुँच सके ।

उपर्युक्त लक्षणों से युक्त ज्ञानी पुरुष समाज के लिए कर्म करता हुआ भी वास्तव में कुछ कर्म नहीं करता है । उसके कर्म अकर्म तुल्य ही हैं, क्योंकि ज्ञानाग्नि

से उसके कर्म (अर्थात् बन्धन के कारणभूत अहंकार और स्वार्थ) भस्म हो चुके होते हैं – यह सात्विक स्थिति की चरम सीमा है । भगवान् कहते हैं :

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥

जो पुरुष, कर्मफलाशक्ति को त्यागकर, नित्यतृप्त और सब आश्रयों से रहित है वह कर्म में प्रवृत्त होते हुए भी (वास्तव में) कुछ भी नहीं करता है ॥२०॥

यहाँ हमें न कर्मफल को त्यागने को कहा गया है और न उसकी उपेक्षा करने को ; किन्तु फल के साथ हमारी मानसिक दासता तथा आसक्ति का त्याग करने को कहा गया है । जब हम इच्छित फ़लों की चिन्ताओं से ग्रस्त हो जाते हैं, तब हम अपने कर्मों को कुशलतापूर्वक नहीं कर पाते हैं । इस चिन्ता और आसक्ति का त्याग करके समाज कल्याण के लिए हमको प्रयत्नशील होना चाहिये ।

एक सच्चा कलाकार अपनी सर्वश्रेष्ठ कलाकृति-का कभी भी स्वेच्छा से विक्रय करने के लिए तैयार नहीं होगा ! जिस चित्र को चित्रित करने हेतु उसने इतना अधिक परिश्रम किया और समय दिया, वह चित्र ही उसका वास्तविक पारितोषिक होता है। यदि भूखे भी रहना पड़े, तो भी वह उस चित्र की बिक्री करना नहीं चाहेगा ! उस चित्र को देखने मात्र से उसे जो सन्तोष और आनन्द का अनुभव होता है, उसकी तुलना में सम्पूर्ण जगत् की सम्पत्ति भी तुच्छ प्रतीत होती है । यदि एक लघु परिच्छिन्न कलाकृति उस सामान्य व्यक्ति को इतना अधिक आनन्द प्रदान कर सकती है, तो आत्मस्वरूप में स्थित दैवी आनन्द की अनुभूति में रमे हुए, नामरूपमय जगत् में काम करते हुए ज्ञानी पुरुष के आनन्द का क्या मापदण्ड हो सकता है ? वास्तव में, अनन्त तत्त्व को आत्मरूप से अनुभव किया हुआ पुरुष बाह्य आश्रयों से सर्वथा-मुक्त हो जाता है ।

फलासक्ति, असन्तोष तथा बाह्यवस्तुओं पर आश्रय – ये सब अविद्याजनित जीव के लिए ही होते हैं । यह जीव ही इन सबसे पीड़ित होता है । जब सत्य का साधक यह पहचान लेता है कि इस जीव का वास्तविक स्वरूप अनन्त और परिपूर्ण है, तब यह जीवभाव (अहंकार) नष्ट हो जाता है और, स्वभावतः उसके साथ सब दुःखों का अन्त होना अवश्यंभावी है । पात्र में रखे हुये जल को हिलाने से उसमें स्थित सूर्य का प्रतिबिम्ब भी हिलता है । परन्तु, जल को फेंक देने पर प्रतिबिम्ब लुप्त हो जाता है, और फिर किसी भी प्रकार आकाश में स्थित सूर्य को हिलाया नहीं जा सकता है ।

ऐसा आत्मज्ञानी पुरुष कर्म में प्रवृत्त हुआ भी किञ्चिन्मात्र कर्म नहीं करता है।

शरीर, मन और बुद्धि बाह्य जगत् में कार्य करते रहते हैं, किन्तु सर्वव्यापी आत्मा नहीं। इस चैतन्य आत्मा के बिना शरीर कार्य नहीं कर सकता, परन्तु उसकी क्रिया का आरोप अकर्म आत्मा पर नहीं किया जा सकता है। अतः, आत्मस्वरूप में स्थित पुरुष कार्य करते हुए भी कर्त्ता नहीं कहा जा सकता। रेल चलती है परन्तु यह कहना ठीक नहीं होगा कि वाष्प गतिशील है।

वेदान्त के शिक्षार्थी के मन में यह शंका उठती है कि आत्मानुभव होने पर ज्ञानी के पूर्वार्जित सभी कर्म नष्ट हो सकते हैं, परन्तु तत्पश्चात् पुनः जगत् में कर्म करने से हो सकता है कि वह नये पापपुण्यरूप कर्म करें, जिसका फल भोगने हेतु उसे नए जन्मों को भी लेना पड़े। इस श्लोक में उपर्युक्त शंका को निर्मूल कर दिया गया है। यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि ज्ञानी पुरुष कर्म करने पर भी किञ्चित कर्म नहीं करता है, तब फिर उसे बन्धन कैसे होगा?

प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। सन्त पुरुष के शारीरिक कर्मों का भी कुछ तो फल होना चाहिये। यह सामान्य युक्तिवाद है, जिसका खण्डन करते हुये भगवान् कहते हैं:

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

जो आशा रहित है तथा जिसने चित्त और आत्मा (शरीर) को संयमित किया है, जिसने सब परिग्रहों का त्याग किया है, ऐसा पुरुष शारीरिक कर्म करते हुए भी पाप को नहीं प्राप्त होता ॥२१॥

केवल शरीर द्वारा कर्म किए जाने से वासना के रूप में प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं हो सकती है। वासनायें अन्तःकरण में उत्पन्न होती हैं और उनकी उत्पत्ति का कारण कर्तृत्वाभिमान के साथ किए गए कर्म हैं। स्वार्थ के प्रबल होने पर ही ये वासनाएँ बन्धनकारक बनती हैं।

आत्मा के साथ शरीर, मन और बुद्धि इन अविद्याजनित उपाधियों के मिथ्या तादात्म्य से अहंकार उत्पन्न होता है। इस अहंकार की प्रतिष्ठा 'भविष्य की आशाओं' तथा 'वर्तमान में प्राप्त विषयोपभोगजनित सन्तोष' में है।

इसलिए, इस श्लोक में कहा गया है कि जो व्यक्ति (क) आशारहित है, (ख) जिसने शरीर और मन को संयमित किया है, (ग) जो सब परिग्रहों से मुक्त

है, उस व्यक्ति में इस मिथ्या अहंकार का कोई अस्तित्व शेष नहीं रह सकता। अहं-कार के नष्ट होने पर केवल शरीर द्वारा किये गये कर्मों में यह सामर्थ्य नहीं होती कि वे अंतःकरण में नये संस्कारों को उत्पन्न कर सकें।

निद्रावस्था में किसी व्यक्ति के विवस्त्र हो जाने पर उस पर किसी प्रकार के अशोभनीय व्यवहार का आरोप नहीं किया जा सकता। निद्रा में यदि किसी व्यक्ति का पदाघात उसके अपने पुत्र को लगता है, तो उस पर क्रूरता का आरोप भी नहीं हो सकता। क्योंकि उस समय शरीर में मैं नहीं था। इसका कारण है कि दोनों ही स्थितियों में व्यक्ति में कर्तव्य का अभिमान नहीं था। अतः स्पष्ट है कि सभी प्रकार के दुःख, कष्ट, बन्धन आदि केवल कर्तृत्वभिमानी जीव को ही होते हैं, और उसके अभाव में शारीरिक कर्मों में मनुष्य को बांधने की क्षमता नहीं होती है।

आत्मानुभवी सन्त पुरुष के कर्म उसे स्पर्श तक नहीं कर सकते, क्योंकि वह उनका कर्ता ही नहीं है; कर्म केवल उसके द्वारा व्यक्त होते हैं। ऐसा महान् पुरुष कर्मों का कर्ता नहीं, वरन् ईश्वर की इच्छा को व्यक्त करने का सर्वोत्तम करण अथवा माध्यम है।

यदि वीणा से मधुर संगीत व्यक्त नहीं हो रहा हो तो श्रोतागण उस वाद्य पर आक्रमण नहीं करते, यद्यपि वीणा वादक भी सुरक्षित नहीं रह सकता है! वीणा अपने आप मधुर ध्वनि को उत्पन्न नहीं करती, परन्तु वादक की उंगलियों के स्पर्श-मात्र से अपनें में से संगीत को व्यक्त होने देती है। वादक की इच्छा और स्पर्श के अनुसार झुक जानें भर से उसका कर्तव्य समाप्त हो जाता है। अहंकार से रहित आत्मज्ञानी पुरुष भी वह श्रेष्ठतम माध्यम है, जिसके द्वारा ईश्वर की इच्छा पूर्णरूप से प्रकट होती है। ऐसे पुरुष से कर्म उसके लिए पाप और पुण्य रूप बन्धन नहीं उत्पन्न कर सकते; वह तो केवल माध्यम है।

ज्ञानयोग में स्थित, शरीर धारण के लिये आवश्यक कर्म करता हुआ पुरुष नित्य मुक्त ही है। भगवान् कहते हैं:

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

यदृच्छया (अपने आप) जो कुछ प्राप्त हो उसमें ही सन्तुष्ट रहने वाला, द्वन्द्वों से अतीत तथा मत्सर से रहित, सिद्धि व असिद्धि में समभाव वाला पुरुष कर्म करके भी नहीं बन्धता है ॥२२॥

अहंकार के परे आत्मस्वरूप में स्थित पुरुष इच्छा तथा फलासक्ति से प्रेरित

होकर कर्म नहीं करता। कर्मों को करने से प्राप्त फल से ही वह सन्तुष्ट रहता है। अहंकार रहित अवस्था का अर्थ है अन्तःकरण पर पूर्ण संयम। स्वाभाविक ही, शीत उष्ण, सिद्धि-असिद्धि, सुख-दुःख इत्यादि द्वन्द्वात्मक अनुभव उसे व्यथित नहीं कर सकते, क्योंकि वे सब मन की बाह्यजगत् के साथ होने वाली प्रतिक्रियाएं मात्र हैं।

मन के प्रभावहीन होने पर बुद्धि अपने पूर्वाग्रह, ईर्ष्या और मत्सर आदि से ज्ञानी पुरुष को प्रभावित नहीं कर सकती। सामान्यतः सिद्धि में हमें हर्षातिरेक और असिद्धि में अत्यन्त विषाद होता है। परन्तु, जब अविद्याजनित अहंकार पूर्णरूप से दैवी स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, तब वह पुरुष सफलता और असफलता में समान भाव से स्थित रहता है। ऐसा ज्ञानी पुरुष कर्म करके भी कर्मफलों से नहीं बंधता।

जब आत्मज्ञानी पुरुष हमारे मध्य रहता हुआ कर्म करता है, तब उसका व्यवहार सामान्य जनों के समान ही प्रतीत होता है ; तथापि उसके कर्मों में एक विशेष शक्ति और प्रभाव दिखाई पड़ता है, जो उसे कर्मक्षेत्र में सामान्य से कहीं अधिक सफलता प्रदान करता है। श्रीकृष्ण के कथनानुसार ऐसे पुरुष को कर्मों का बन्धन नहीं होता। सामान्य जनों को ज्ञानी पुरुष की इस उपलब्धि को समझने में कठिनाई होती है।

जिस दैवी प्रेरणा एवं भावना से ज्ञानी पुरुष जगत् में कर्म करता है, उसका वर्णन भगवान् अगले श्लोकों में करते हैं :

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थित चेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

जो आसक्तिरहित और मुक्त है, जिसका चित्त ज्ञान में स्थित है, यज्ञ के लिये आचरण करने वाले ऐसे पुरुष के समस्त कर्मलीन हो जाते हैं ॥२३॥

इस श्लोक में ज्ञानी पुरुष के लक्षणों का वर्णन करके जिस क्रम से उसके गुणों को बताया गया है, वह स्वयं साधना मार्ग की ओर संकेत करता है। उपदेश को सूत्ररूप में वर्णन करने की सभी शास्त्रीय ग्रन्थों की एक विशेष शैली होती है। उसमें भी, प्रतीक शब्दों के चयन के प्रति शास्त्रज्ञ अधिक सजग रहते हैं और उन शब्दों को एक विशेष क्रम देने में भी उन्हें आनन्द का अनुभव होता है। विचाराधीन श्लोक इसका एक उदाहरण है।

गतसंगस्य— जिस दैवी स्वरूप को ऋषियों ने प्राप्त किया, वह कोई अज्ञात स्थल से प्राप्त की हुई नवीन उपलब्धि नहीं थी। यह पूर्णत्व तो सबका स्वयं सिद्ध स्वरूप ही है, जिसे उन्होंने केवल पहचाना। बाह्य विषयों के साथ आसक्ति के कारण

हमनें अपने आपको स्वस्वरूप के राज्य के बाहर निष्कासित कर लिया है। ज्ञानी पुरुष वह है, जो परिच्छिन्न जगत् की आसक्ति से पूर्णतया मुक्त है।

मुक्तस्य– अधिकांश साधकों को मुक्ति के संबंध में स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। हम अपने आप ही अपने लिये बन्धन उत्पन्न कर लेते हैं। अनेक प्रकार के बन्धनों का कारण है, विषयों के साथ हमारी आसक्ति। विषयोपभोग में ही यह जीव सुख सन्तोष का अनुभव करता है। यही कारण है कि वह उसमें आसक्त हो जाता है। इस प्रकार, शरीर, मन और बुद्धि की दृष्टि से वह क्रमशः बाह्य विषयों, भावनाओं एवं विचारों के साथ बंध जाता है। ज्ञानी पुरुष इन सबसे मुक्त होता है।

ज्ञानावस्थितचेतसः – नित्यानित्यवस्तु के विवेक के द्वारा नित्य स्वरूप को पहचान कर उसमें प्राप्त की हुई स्थिति के द्वारा ही विषयासक्ति के बन्धन से मुक्ति हो सकती है।

विवेकजनित विज्ञान के प्रकाश में अविद्या से उत्पन्न आसक्ति के नष्ट होने पर वह पूर्णत्व प्राप्त पुरुष वैषयिक प्रवृत्ति और अनैतिकता की श्रृंखलाओं से मुक्त हो जाता है। ऐसा पुरुष यज्ञ की अर्थात् निःस्वार्थ सेवा और अर्पण की भावना से जीवन पर्यन्त कर्म करता रहता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यज्ञ के लिये कर्म करने वाले पुरुष के सब कर्म लीन हो जाते हैं। अर्थात् वे नई वासनाएं नहीं उत्पन्न करते।

वेदों में प्रयुक्त 'यज्ञ' शब्द को लेकर यहां भगवान श्रीकृष्ण ने उसके अर्थ को और अधिक व्यापक रूप दिया है जिससे सम्पूर्ण विश्व में उसकी उपादेयता सिद्ध हो सके। केवल यज्ञयागादि ही नहीं, बल्कि वे सब कर्म, जो अहंकार और स्वार्थ से प्रेरित न होकर सेवा भाव पूर्वक किये गये हों, यज्ञ कर्म में ही समाविष्ट हैं।

आगे के ६ श्लोकों में लगभग १२ प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया गया है, जिसका आचरण प्रत्येक व्यक्ति, सर्वत्र सभी परिस्थितियों में और अपने कार्यक्षेत्र में कर सकता है।

क्या कारण है कि ज्ञानी पुरुष के कर्म प्रतिक्रिया उत्पन्न किये बिना लीन हो जाते हैं ? इसका कारण बताते हुए कहते हैं :

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।।२४।।

अर्पण (अर्थात् अर्पण करने का साधन स्रुवा) ब्रह्म है और हवि (शाकल्य अथवा हवन करने यो[illegible] द्रव्य) भी ब्रह्म है ; ब्रह्मरूप अग्नि में ब्रह्मरूप कर्ता के

द्वारा जो हवन किया गया है, वह भी ब्रह्म ही है। इस प्रकार ब्रह्मरूप कर्म में समाधिस्थ पुरुष का गन्तव्य भी ब्रह्म ही है ॥२४॥

यह एक प्रसिद्ध श्लोक है, जिसको भारत में भोजन प्रारम्भ करने के पूर्व पढ़ा जाता है; किन्तु अधिकांश लोग न तो इसके अर्थ को जानते हैं और न जानने का प्रयत्न ही करते हैं। तथापि इसका अर्थ गंभीर है और इसमें सम्पूर्ण वेदान्त के सार को बता दिया है।

वह अनन्त पारमार्थिक सत्य जो इस दृश्यमान नित्य परिवर्तनशील जगत् का अधिष्ठान है, वेदान्त में 'ब्रह्म' शब्द के द्वारा निर्देशित किया जाता है। यही ब्रह्म एक शरीर से परिच्छिन्नसा हुआ, 'आत्मा' कहलाता हैं। एक ही तत्व इन दो शब्दों से लक्षित किया है और वेदान्त केसरी की यह गर्जना है कि "आत्मा ही ब्रह्म है।"

इस श्लोक में वैदिक यज्ञ का रूपक है। प्रत्येक यज्ञ में चार प्रमुख आवश्यक वस्तुएं होती हैं– (१) यज्ञ का देवता जिसे आहुति दी जाती है, (२) अग्नि, (३) हवन के योग्य द्रव्य पदार्थ हवि (शाकल्य) और (४) यज्ञकर्ता व्यक्ति।

यज्ञ भावना से कर्म करते हुए ज्ञानी पुरुष की मन की स्थिति एवं अनुभूति का वर्णन इस श्लोक में किया गया है। उसके अनुभव की दृष्टि से एक पारमार्थिक सत्य ही विद्यमान है न कि अविद्या से उत्पन्न नामरूपमय यह जगत्। अतः वह जानता है कि सभी यज्ञों की उत्पत्ति ब्रह्म[1] से ही होती है, जिनमें देवता, अग्नि, हवि और यज्ञकर्ता सभी ब्रह्म हैं। जब एक तरंग दूसरी तरंग पर से उछलती हुई अन्य साथी तरंग से मिल जाती है, तब, इस दृश्य को देखते हुए हम जानते हैं कि "ये सब तरंगे समुद्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" समुद्र में ही समुद्र का खेल चल रहा है।

यदि कोई व्यक्ति जगत् के असंख्य नामरूपों, कर्मों और व्यवहारों में अंत-र्बाह्य व्याप्त अधिष्ठान स्वरूप परमार्थ तत्व को देख सकता है, तो फिर उसे सर्वत्र सभी परिस्थितियों में वस्तुओं और प्राणियों का दर्शन अनन्त आनंद स्वरूप सत्य का ही स्मरण कराता है। संत पुरुष ब्रह्म का ही आह्वान करके प्रत्येक कर्म करता है, इसलिये उसके सब कर्म लीन हो जाते हैं।

भोजन के पूर्व इस श्लोक के पाठ का प्रयोजन अब स्वतः स्पष्ट हो जाता है। शरीर धारण के लिये भोजन आवश्यक है; और तीव्र क्षुधा लगने पर किसी भी प्रकार का अन्न स्वादिष्ट लगता है। इस प्रार्थना का भाव यह है कि भोजन के समय भी हमें सत्य का विस्मरण नहीं होना चाहिए। यह ध्यान रहे कि भोक्ता–

---

१. देखिये गीता ३–१४,१५

रूप ब्रह्म, ब्रह्म का आह्वान करके अन्नरूप ब्रह्म की आहुति उदर में स्थित अग्निरूप ब्रह्म को ही दे रहा है। इस ज्ञान का निरंतर स्मरण रहने पर मनुष्य भोगों से ऊपर उठकर अपने अनन्तस्वरूप को प्राप्त कर लेता है ।

यज्ञ की सर्वोच्च भावना को स्पष्ट करने के पश्चात् भगवान् अर्जुन को समझाते हैं कि सम्यक् भावना के होने से किस प्रकार प्रत्येक कर्म यज्ञ बन जाता है :

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

कोई योगीजन देवताओं के पूजनरूप यज्ञ को ही करते हैं; और दूसरे (ज्ञानीजन) ब्रह्मरूप अग्नि में यज्ञ के द्वारा यज्ञ को हवन करते हैं ॥२५॥

जगत् में कार्य करते हुए ज्ञानी पुरुष के हृदय के भाव को ही कुछ श्लोकों में बताया गया है । साधक के मन में एक शंका सदैव उठती है कि ध्यानावस्था में बुद्धि से भी परे अर्थात् उसकी द्रष्टा आत्मा का साक्षात् अनुभव होता है; परन्तु कुछ काल के लिये ही । गौतम बुद्ध के समान कुछ महापुरुषों को हम कार्य में अत्यधिक व्यस्त देखते हैं, जबकि कोई महात्मा एक स्थान पर ही रहकर अपने सीमित क्षेत्र में कार्य करते देखे जाते हैं, जैसे भगवान् रमण महर्षि । कुछ अन्य सन्त सामान्य जीवन ही व्यतीत करते हैं । साधक को यह जानने की उत्सुकता रहती है कि जगत् में अनेक वस्तुओं के सम्पर्क में आने पर ज्ञानी पुरुष के मन की क्या भावना होती है ।

जो पुरुष सभी उपलब्ध साधनों के उपयोग से अपने आपको शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक अपूर्णताओं, दुर्बलताओं से ऊँचा उठाने का सतत प्रयत्न करता है, वह योगी कहलाता है । इस दृष्टि से, इस श्लोक के केवल सामान्य अर्थ को ही ग्रहण करना उचित नहीं होगा ।

जो प्रकाशरूप है, उसे कहते हैं 'देव' । अध्यात्म की दृष्टि से ये देव, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । इन इन्द्रियों के द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच विषय प्रकाशित किये जाते हैं । साधक तथा सिद्ध पुरुष भी इन्द्रियों के माध्यम से ही विषय ग्रहण करते हैं; परन्तु उनकी दृष्टि में यह भी एक यज्ञ है जिसमें विषयों की आहुतियाँ इन्द्रियरूप देवों को दी जा रही हैं । अज्ञानी के लिये जो विषयग्रहण की क्रिया मात्र है, वही ज्ञानियों की दृष्टि से विषयों की इन्द्रियों के प्रति भक्ति की साधना है ।

यज्ञ की भावना बनाये रखने से साधक को धीरे-धीरे उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट सभी प्रकार के इन्द्रियोपभोगों से वैराग्य हो जाता है, जो आन्तरिक समता बनाये रखने में सहायक होता है ।

देवयज्ञ के वर्णन के बाद, श्रीकृष्ण कहते हैं अन्य लोग ब्रह्मयज्ञ करते हैं, जिसमें "ब्रह्मरूप अग्नि में यज्ञ (आत्मा) के द्वारा यज्ञ का (आत्मा का) हवन करते हैं।" अध्यात्म की दृष्टि से विचार करने पर इस कथन का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। जब तक हम शरीर धारण किये हुए इस जगत् में रहते हैं, तब तक विषयों के साथ हमारा सम्पर्क अवश्य रहता है। परन्तु हमें जो सुख-दुःख का अनुभव होता है वह बाह्य जगत् के कारण नहीं वरन् हमारे विषयों के प्रति राग-द्वेष के कारण होता है। विषयों में स्वयं सुख या दुःख देने की क्षमता नहीं है।

ज्ञानी पुरुष जानते हैं कि इन्द्रियाँ विषय ग्रहण की साधन मात्र हैं और वे केवल चैतन्य आत्मा के सान्निध्य से ही कार्य कर सकती हैं। इस ज्ञान के कारण वे इन्द्रियों को ब्रह्मज्ञान की अग्नि में स्वयं की आहुति देते हैं। यहाँ साधकों को उपदेश हैं कि वे अपनी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का उपयोग स्वार्थ के लिये न करके जगत् की सेवार्थ करें, इससे वे जगत् में रहकर कार्य करते हुए भी विषयासक्ति के बन्धन में नहीं पड़ सकते।

अगले श्लोक में भगवान् दो प्रकार के यज्ञ बताते हैं:

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

अन्य (योगीजन) श्रोत्रादिक सब इन्द्रियों को संयम रूप अग्नि में हवन करते हैं, और अन्य (लोग) शब्दादिक विषयों को इन्द्रियरूप अग्नि में हवन करते हैं ॥२६॥

सुपरिचित वैदिक यज्ञ के रूपक के द्वारा यहां सब यज्ञों अर्थात् साधनाओं का निरूपण अर्जुन के लिये किया गया है। यज्ञ विधि में देवाताओं का अनुग्रह प्राप्त करने के लिये अग्नि में आहुतियाँ दी जाती थीं। इस रूपक के द्वारा यह दर्शाया गया है कि इस विधि में न केवल आहुति भस्म हो जाती है बल्कि उसके साथ ही देवता का आशीर्वाद भी प्राप्त होता है। आत्मज्ञानी पुरुष अथवा साधकगण श्रोत्रादि इन्द्रियों की आहुति संयमाग्नि में देते हैं अर्थात् वे आत्मसंयम का जीवन जीते हैं। इस प्रकार इन्द्रियों की बहिर्मुखी प्रवृत्ति भस्म हो जाती है और साधक को आन्तरिक स्वातन्त्र्य का आनन्द भी प्राप्त होता है। यह एक सुविदित तथ्य है कि इन्द्रियों को जितना अधिक सन्तुष्ट करने का हम प्रयत्न करते हैं, उतनी ही अधिक वे प्रमथनशील होकर हमारी शान्ति को लूट ले जाती हैं। आत्मसंयम की साधना के अभ्यास के द्वारा ही साधक को ध्यान की योग्यता प्राप्त होती हैं।

इस श्लोक की प्रथम पंक्ति में 'इन्द्रिय संयम' का उपदेश है, तो दूसरी पंक्ति में मन:संयम का। इन्द्रियों के द्वारा बाह्य विषयों की संवेदनाएं प्राप्त करके ही मन का अस्तित्व बना रहता है। जहां शब्दस्पर्शादि पांच विषयों का ग्रहण नहीं होता, वहां मन कार्य कर ही नहीं सकता। इसलिये विषयों से मन को अप्रभावित रखने की साधना यहां बताई गयी है, जिसके अभ्यास से ध्यानाभ्यास के लिये आवश्यक मन की स्थिरता प्राप्त की जा सकती है। जिस पुरुष ने मन को पूर्ण रूप से संयमित कर लिया है, उसके विषय में भगवान् कहते हैं, "अन्य (साधक) शब्दादिक विषयों को इन्द्रियाग्नि में आहुति देते हैं।"

प्रथम विधि में विषयों की संवेदनाओं को इन्द्रियों के प्रवेश द्वार पर ही संयमित किया जाता है, जब कि दूसरी विधि में (अभ्यांतर में) मन के सूक्ष्मतर स्तर पर उन्हें नियन्त्रित करनें की साधना है।

और भी दूसरे प्रकार के यज्ञ बताते हुए भगवान् कहते हैं :

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ।।२७।।

दूसरे (योगीजन) सम्पूर्ण इन्द्रियों के तथा प्राणों के कर्मों को ज्ञान से प्रकाशित आत्मसंयमयोगरूप अग्नि में हवन करते हैं ।।२७।।

दिव्य सत्य के ज्ञान के द्वारा अहंकार को संयमित करनें को यहां आत्मसंयम योग कहा गया है।

आत्मानात्मविवेक के द्वारा परिच्छिन्न संसारी अहंकार से अपरिच्छिन्न आनन्दस्वरूप आत्मा को विलग करके उसमें ही दृढ़ स्थिति प्राप्त करने के अभ्यास का अर्थ ही "आत्मा के द्वारा अहंकार को संयमित करना है।" इसे ही आत्मसंयम[1] कहते हैं। इस साधना के द्वारा कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों के अनियन्त्रित व्यापार को नियन्त्रित किया जा सकता है।

इस प्रकार पांच यज्ञों का वर्णन करने के पश्चात भगवान् अगले श्लोक में पांच और साधनाएं बताते हैं; मानो वे अर्जुन को यह समझाना चाहते हों कि इस प्रकार की सैकड़ों साधनाएँ बतायी जा सकती हैं।

---

१. इन्द्रियों का संयम तब तक संभव नहीं जब तक साधक का मन आत्मानुसन्धान में स्थिर नहीं होगा।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

कुछ (साधक) द्रव्ययज्ञ, तपयज्ञ और योगयज्ञ करने वाले होते हैं; और दूसरे कठिन व्रत करने वाले स्वाध्याय और ज्ञानयज्ञ करने वाले योगीजन होते हैं॥२८॥

द्रव्ययज्ञ – यहां द्रव्य शब्द को उसके व्यापक अर्थ में समझना चाहिये। ईमानदारी से अर्जित किये धन का समाज सेवा में भक्तिभाव सहित विनियोग करने को द्रव्ययज्ञ कहते हैं। यह आवश्यक नहीं कि इसमें केवल अन्न या धन का ही दान हो।

द्रव्य शब्द के अर्थ में वे सब वस्तुएं समाविष्ट हैं, जो हमारे पास हैं जैसे-भौतिक सम्पत्ति, प्रेम और सद्विचार। ईश्वर की पूजा समझकर अपनी इन भौतिक, मानसिक एवं बौद्धिक सम्पदाओं का समाजसेवा में सदुपयोग करना ही 'द्रव्ययज्ञ' कहलाता है। अतः, इस यज्ञ के अनुष्ठान के लिये साधक का धनवान् होना आवश्यक नहीं है। दरिद्र अथवा शरीर से अपंग होते हुए भी हम जगत् के कल्याण की कामना कर सकते हैं, और हृदय से प्रार्थना कर सकते हैं। हार्दिक सहानुभूति का एक शब्द, कृपा का एक कटाक्ष, स्नेह सिंचित स्मिति अथवा मैत्रीपूर्ण सद्व्यवहार पाषाणीमन से दी हुई बड़ी धनराशि से भी अधिक महत्व का होता है।

तपोयज्ञ – कुछ साधक गण अपना तपोमय जीवन ईश्वर को अर्पित करते हैं। विश्व में ऐसा कोई धर्म नहीं, जो किसी न किसी प्रकार से तप या व्रत का जीवन जीने का उपदेश न करता हो। ये व्रत परमेश्वर प्रीत्यर्थ ही किये जाते हैं। यह तो सब जानते ही हैं कि भक्त द्वारा किये गये भोग के त्याग से, समस्त विश्व के पालन और पोषणकर्त्ता, करुणासागर परमात्मा का कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध होने का नहीं; तथापि साधक गण इसे ईश्वरार्पण करते हैं, जिससे उन्हें आत्मसंयम तथा चित्त शुद्धि प्राप्त हो। कोई–कोई तप शरीर के लिये अत्यन्त पीड़ादायक होते हैं, फिर भी यदि उन्हें समझकर किया जाय, तो इन्द्रिय संयम प्राप्त हो सकता है।

योगयज्ञ – अपने मन से निकृष्ट प्रवृत्तियों का त्याग करके उत्कृष्ट दिव्य जीवन जीने के सतत प्रयत्न का नाम हैं योग। इसकी प्राथमिक साधना है अपने हृदय के इष्ट भगवान् की भक्तिपूर्वक पूजा करना। इसका ही नाम है उपासना। निष्काम भावना से उपासना का अनुष्ठान करने पर साधक की अध्यात्म मार्ग में प्रगति होती है; इसलिये इसे योग कहा गया है और यज्ञ भावना से इसका अनुष्ठान करने वालों को यहां 'योगयज्ञ' कहा गया है।

स्वाध्याय यज्ञ–प्रतिदिन शास्त्रों का अध्ययन करना स्वाध्याय कहलाता है। शास्त्रों के अध्ययन के बिना हम न तो अपने लक्ष्य को ही निर्धारित कर सकते हैं और न ही साधना अभ्यास का अर्थ ही समझ सकते हैं। ज्ञान रहित यन्त्रवत साधना से अपेक्षित प्रगति नहीं हो सकती। यही कारण है कि सभी धर्मों में दैनिक स्वाध्याय पर विशेष बल दिया जाता है। आत्मानुभव के पश्चात् भी ऋषि मुनि अपना अधिकांश समय शास्त्राध्ययन तथा उसके गंभीर चिन्तन मनन पर व्यतीत करते हैं।

अध्यात्म दृष्टि से स्वाध्याय का अर्थ है स्वयं का अध्ययन अर्थात् आत्मनिरीक्षण के द्वारा अपनी दुर्बलताओं को समझना, जिससे उनका परित्याग किया जा सके। साधक के लिये यह आत्मविकास का एक साधन है तो सिद्ध पुरुषों के लिये आत्मानुभव में रमण का।

ज्ञानयज्ञ – गीता में यह शब्द अनेक स्थानों पर प्रयुक्त है और व्यासजी ने जिन मौलिक शब्दों का प्रयोग गीता में किया है, उनमें से यह एक है। वह साधना ज्ञानयज्ञ कहलाती है, जिसमें साधक ज्ञान की अग्नि प्रज्वलित करके उसमें अपने अज्ञान की आहुति देता है। आत्मानात्मविवेक के द्वारा मिथ्या अनात्म वस्तु का निषेध एवं आत्मा के पारमार्थिक सत्यस्वरूप का प्रतिपादन इस यज्ञ के अंग हैं। निदिध्यासन में इसी का अभ्यास किया जाता है।

आत्मोन्नति के उपर्युक्त पाँच साधनों का लाभ दृढ़ निश्चयी एवं उत्साहपूर्ण अभ्यासी साधकों को ही मिल सकता है। इन साधनों के केवल ज्ञान अथवा आत्मविकास की इच्छामात्र से कोई प्रगति नहीं हो सकती। पूर्ण लगन से जो निरन्तर साधना का अभ्यास करते हैं, केवल वे ही साधक अध्यात्म के मार्ग पर सफलतापूर्वक आगे बढ़ सकते हैं।

साधनोपदेश के क्रम में, अब, भगवान् प्राणायाम की विधि बताते हैं:

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

अन्य (योगीजन) अपानवायु में प्राणवायु को हवन करते हैं, तथा प्राण में अपान की आहुति देते है, प्राण और अपान की गति को रोककर, वे प्राणायाम के ही समलक्ष्य समझने वाले होते हैं ॥२९॥

इस श्लोक में आत्मसंयम के लिये उपयोगी प्राणायाम विधि का वर्णन किया गया है, जिसका अभ्यास कुछ साधकगण करते हैं।

अन्दर ली जाने वाली वायु को प्राण तथा बाहर छोड़ी जाने वाली वायु को अपान कहते हैं। योगशास्त्र के अनुसार हमारी श्वसन क्रिया के तीन अंग हैं - पूरक, रेचक और कुम्भक। श्वास द्वारा वायु को अन्दर लेने को पूरक तथा उच्छ्वास द्वारा बाहर छोड़ने को रेचक कहते हैं। एक पूरक और रेचक के बीच कुछ अन्तर होता है जब वायु या तो अन्दर ही अथवा बाहर ही रहती है इसे कुम्भक कहते हैं। सामान्यत: हमारी श्वसन क्रिया नियमबद्ध नहीं होती। अत: पूरक-कुम्भक-रेचक-कुम्भक रूप प्राणायाम की विधि का उपदिष्ट अनुपात में अभ्यास करने से प्राण को संयमित किया जा सकता है, जो मन:संयम के लिये उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इस श्लोक में क्रमश: रेचक, पूरक और कुम्भक का उल्लेख है। प्राणायाम को यज्ञ समझकर जो व्यक्ति इसका अभ्यास करता है, वह अन्य उपप्राणों को मुख्य प्राण में हवन करना भी सीख लेता है।

जैसी कि सामान्य धारणा है, प्राण का अर्थ केवल वायु अथवा श्वास नहीं है। हिन्दू शास्त्रों में प्रयुक्त प्राण शब्द का अभिप्राय जीवन शक्ति के उन कार्यों से है, जो एक जीवित व्यक्ति के शरीर में होते रहते हैं। शास्त्रों में वर्णित पंचप्राणों का अध्ययन करने से ज्ञान होता है कि वे शरीर धारणा के पांच प्रकार के कार्य हैं। वे पंचप्राण हैं – प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान जो क्रमश: विषय ग्रहण, मलविसर्जन, शरीर में रक्त प्रवाह, अन्नपाचन एवं विचार की क्षमताओं को इंगित करते हैं। सामान्यत: मनुष्य को इन क्रियाओं का कोई भान नहीं रहता, परन्तु प्राणायाम के अभ्यास से इन सबको अपने वश में रखा जा सकता है। अत: वास्तव में प्राणायाम भी एक उपयोगी साधना है।

अगले श्लोक में अन्तिम बारहवीं प्रकार की साधना का वर्णन किया गया है:

अपरे नियताहारा: प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपित कल्मषा: ॥३०॥

दूसरे नियमित आहार करने वाले (साधकजन) प्राणों को प्राणों में हवन करते हैं। ये सभी यज्ञ को जानने वाले हैं, जिनके पाप यज्ञ के द्वारा नष्ट हो चुके हैं ॥३०॥

कुछ ऐसे साधक होते हैं, जो आहार संयम के द्वारा काम-क्रोधादि से उत्पन्न मन की उत्तेजनाओं को संयमित करने का अभ्यास करते हैं। भारत में आहार

संयम की बिधि अपरिचित और नई नहीं है। प्राचीन ऋषियों को अन्न के पोषक तत्वों के विषय में पूर्ण ज्ञान था। इतना ही नहीं बल्कि उन्होंने समाज के विभिन्न स्तर के व्यक्तियों के स्वभाव एवं कार्यों के लिए उपयुक्त शाक-सब्जियों तथा धान्यों का भी वैज्ञानिक पद्धति से वर्गीकरण किया था। केवल विचार ही नहीं वरन् उन्होंने प्रयोग करके यह दर्शाया भी था कि आहार संयम के द्वारा किस प्रकार मनुष्य अपने गुणों तथा व्यवहार को परिष्कृत करके सांस्कृतिक उन्नति कर सकता है।

'यज्ञविद:' शब्द से तात्पर्य उन साधकों से है, जो उपर्युक्त साधनों को समझ कर उनमें से सभी अथवा कुछ साधनों का ही अभ्यास निःस्वार्थ भावना से करते हैं। ऐसे ही लोग इनसे लाभान्वित होंगे। यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि यज्ञ के द्वारा मनुष्य पापमुक्त होगा और न कि इनसे सीधे ही परमात्मा की प्राप्ति होगी।

देहादि अनात्म पदार्थों के साथ तादात्म्य से उत्पन्न अहंकार देह तथा बाह्य विषयों में आसक्त हुआ अनेक प्रकार के संकल्प करता रहता है। इन संकल्पों के अनुरूप ही कर्म और फलोपभोग से वासनायें उत्पन्न होती हैं, जो सदैव मनुष्य को विषयों में प्रवृत्त करती हैं। यही पाप है, जो मनुष्य को पशु के स्तर तक गिरा देता है। उपर्युक्त यज्ञों के अनुष्ठान से न केवल विद्यमान वासनायें नष्ट होती हैं, वरन् नवीन विनाशकारी वासनायें भी नहीं उत्पन्न होती।

संक्षेप में, निष्कर्ष निकलता है कि ये समस्त यज्ञ साध्य न होकर अन्तःकरण की शुद्धि के साधनमात्र हैं। चित्त शुद्ध होनें पर निदिध्यासन के अभ्यास से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। अनेक साधक लोग अज्ञानवश किसी एक विशेष साधना में ही इतने आसक्त हो जाते हैं कि उनकी आगे की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है।

इन सभी यज्ञों में पुरुषार्थ अर्थात् स्वयं का प्रयत्न अत्यन्त आवश्यक है। भगवान् कहते हैं:

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

हे कुरुश्रेष्ठ! यज्ञ के अवशिष्ट अमृत को भोगने वाले पुरुष सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। यज्ञ रहित पुरुष को यह लोक भी नहीं मिलता, फिर परलोक कैसे मिलेगा? ॥३१॥

प्राचीनकाल में यज्ञकर्म में अग्नि को आहुति देने के पश्चात् जो कुछ अवशिष्ट रह जाता था, उसे ही 'अमृत' कहते थे, जिसका सेवन भक्तगण ईश्वर का प्रसाद

समझकर करते थे। उनका यह विश्वास था कि भक्तिपूर्वक इस अमृत-सेवन से अन्तः-करण की शुद्धि हो सकती है।

इस रूपक के आध्यात्मिक लक्ष्यार्थ पर विचार करने पर ज्ञात होगा कि "अवशिष्ट अमृत' का अभिप्राय 'उपर्युक्त यज्ञों के आचरण से प्राप्त फल" से है। इन यज्ञों के आचरण का फल है – आत्मसंयम अथवा दूसरे शब्दों में – संगठित व्यक्तित्व। इस फल को प्राप्त पुरुष ही ध्यानाभ्यास के योग्य होते हैं।

संगठित व्यक्तित्व का पुरुष ही ध्यान के लिये आवश्यक मन के समत्व को प्राप्त करके अनन्तस्वरूप ब्रह्म को आत्मरूप से पहचान सकता है। इस श्लोक की दूसरी पंक्ति निषेध की भाषा में उपर्युक्त सिद्धांत को और अधिक स्पष्ट करती है। पुरुषार्थ के बिना आत्मविकास नहीं हो सकता। अकर्मण्यता से कोई किसी भी क्षेत्र में लाभान्वित नहीं हो सकता। निःस्वार्थ कर्म के बिना जब इस लोक में ही कोई शाश्वत फल नहीं प्राप्त होता तब परलोक के सम्बन्ध में क्या कर सकता है?

इस स्थान पर दो शंकाएँ मन में उठ सकती हैं। "क्या ये सभी 'मार्ग' एक ही लक्ष्य तक पहुँचाते हैं अथवा विभिन्न लक्ष्यों तक?" तथा दूसरी शंका यह हो सकती है कि "क्या ये सब 'मार्ग' भगवान् के बौद्धिक विचार मात्र तो नहीं हैं?"

भगवान् इन शंकाओं का निराकरण करते हुए कहते हैं:

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

ऐसे अनेक प्रकार के यज्ञों का ब्रह्मा के मुख अर्थात् वेदों में प्रसार है अर्थात् वर्णित हैं। उन सब को कर्मों से उत्पन्न हुए जानो; इस प्रकार जानकर तुम मुक्त हो जाओगे ॥३२॥

जगत् में देखा जाता है कि दो विभिन्न कर्मों के फल भी भिन्न-भिन्न होते हैं। अतः इन बारह यज्ञकर्मों के फल भी विभिन्न होने चाहिए। यह दर्शाने के लिए कि इनमें भेद प्रतीत होते हुये भी सब का लक्ष्य एक ही है, यहां कहा है कि: "इस प्रकार बहुत से यज्ञ ब्रह्मा के मुख में फैले हुए हैं।" इसका तात्पर्य है कि सभी यज्ञों का लक्ष्य ब्रह्म ही है। "सभी राज मार्ग राजधानी को ही जाते हैं।"

"उन सबको कर्मों से उत्पन्न हुये जानो" – भगवान् के इस कथन के दो अभि-प्राय हैं: (क) वेदों में उपदिष्ट इन साधनों का अभ्यास प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये। अर्जुन को स्मरण दिलाते हैं कि यदि वह आत्मविकास का इच्छुक है, तो कर्म अपरि-हार्य है। तथा (ख) ये सब यज्ञ केवल साधन हैं, साध्य नहीं। हमारा लक्ष्य है

है "पूर्णत्व की स्थिति" जबकि कर्म उस पूर्णस्वरूप के अज्ञान से उत्पन्न इच्छाओं के कारण ही होते हैं।

"इस प्रकार जानकर तुम मुक्त हो जाओगे" – जानने का अर्थ बौद्धिक स्तर पर न होकर साक्षात् आत्मानुभूति से है।

सम्यक् ज्ञान को ज्ञानयज्ञ कहा गया था। तत्पश्चात् अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया गया है। अब, अन्य यज्ञों की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ की विशेषता बताते हुए उसकी प्रशंसा करते हैं।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

हे परन्तप! द्रव्यों से सम्पन्न होने वाले यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। हे पार्थ! सम्पूर्ण अखिल कर्म ज्ञान में समाप्त होते हैं, अर्थात् ज्ञान उनकी पराकाष्ठा है ॥३३॥

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि आत्मोन्नति के लिए अनेक द्रव्य पदार्थों के उपयोग से सिद्ध होनें वाले यज्ञों की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ ही श्रेष्ठ है। दूसरी पंक्ति में भगवान् उसके श्रेष्ठत्व का कारण भी बताते हैं। कर्मकाण्ड में उपदिष्ट द्रव्यमय यज्ञ ऐसे फलों को उत्पन्न करते हैं, जिनके उपभोग के लिए कर्तृत्वाभिमानी जीव को अनेक प्रकार के देह धारण करने पड़ते हैं, जिनमें और भी नए-नए कर्म किये जाते रहते हैं। कर्म से ही कर्म की समाप्ति नहीं होती। अतः कर्म की पूर्णता स्वयं में ही कभी नहीं हो सकती।

इसके विपरीत, ज्ञान के प्रकाश में अज्ञान जनित अहंकार नष्ट हो जाता है। अज्ञान से 'कामना' और कामना से 'कर्म' उत्पन्न होते हैं। इसलिए ज्ञान के द्वारा कर्म के मूल स्रोत अज्ञान के ही नष्ट हो जाने पर कर्म स्वतः समाप्त हो जाते हैं। "सम्पूर्ण कर्मों की परिसमाप्ति ज्ञान में होती है।"

यदि केवल ज्ञान से ही पूर्णत्व की प्राप्ति होती हो, तो उस ज्ञान को हम कैसे प्राप्त कर सकते हैं, जिससे कि सब कर्मों का क्षय तत्काल हो जाये? इसका उत्तर है:

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

उस (ज्ञान) को (गुरु के समीप जाकर) साष्टांग प्रणिपात, प्रश्न तथा सेवा करके जानो ; ये तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुष तुम्हें ज्ञान का उपदेश करेंगे ।। ३४।।

जीवन के परम पुरुषार्थ को प्राप्त करने के लिए ज्ञान का उपदेश अनिवार्य है । उस ज्ञानोपदेश को देने के लिए गुरु का जिन गुणों से सम्पन्न होना आवश्यक है, उन्हें इस श्लोक में बताया गया है । गुरु के उपदेश से पूर्णतया लाभान्वित होने के लिये शिष्य में जिस भावना तथा बौद्धिक क्षमता का होना आवश्यक है, उसका भी यहाँ वर्णन किया गया है ।

प्रणिपातेन – वैसे तो साष्टांग दण्डवत शरीर से किया जाता है, परन्तु यहाँ 'प्रणिपात' से शिष्य का प्रपन्नभाव और नम्रता, गुरु के प्रति आदर एवं आज्ञाकारिता अभिप्रेत है । सामान्यत: लोगों को अपने ही विषय में पूर्ण अज्ञान होता है । वे न तो अपने मन की प्रवृत्तियों को जानते हैं और न ही मन:संयम की साधना को । अत: उनके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वे गुरु के समीप रहकर उनके दिये उपदेशों को समझने तथा उसके अनुसार आचरण करने में सदा तत्पर रहें ।

जिसप्रकार जल का प्रवाह ऊपरी धरातल से नीचे की ओर होता है उसी प्रकार ज्ञान का उपदेश भी ज्ञानी गुरु के मुख से जिज्ञासु शिष्य के लिये दिया जाता है । इसलिये शिष्य में नम्रता का भाव होना आवश्यक है जिससे कि वह उपदेश को यथावत् ग्रहण कर सके ।

परिप्रश्नेन– प्रश्नों के द्वारा गुरु की बुद्धि मंजूषा में निहित ज्ञान निधि को हम खोल देते हैं । एक निष्णात गुरु शिष्य के प्रश्न से ही उसके बौद्धिक स्तर को समझ लेते हैं । शिष्य के विचारों में हुई त्रुटि को दूर करते हुए वे अनायास ही उसके विचारों को सही दिशा भी प्रदान करते हैं । प्रश्नोत्तर रूप इस संवाद के द्वारा गुरु के पूर्णत्व की आभा शिष्य को भी प्राप्त हो जाती है !

इसलिये, हिन्दू धर्म में गुरु और शिष्य के मध्य प्रश्नोत्तर की यह प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है जिसे सत्संग कहते हैं । विश्व के सभी धर्मों में शिष्य को यह विशेष अधिकार प्राप्त नहीं है । वास्तव में, केवल वेदान्त दर्शन ही हमारी बुद्धि को पूर्ण स्वतन्त्रता देता है । उसका व्यापार साधकों की अन्धश्रद्धा पर नहीं चलता । अन्य धर्मों में श्रद्धा का अत्यधिक महत्व होने के कारण उनके धर्मग्रन्थों में बौद्धिक दृष्टि से अनेक त्रुटियां रह गई हैं, जिनका समाधानकारक उत्तर नहीं मिलता । अत: उनके धर्मगुरुओं के लिये आवश्यक है कि शास्त्र संबन्धी प्रश्नों को पूछने के अधिकार से साधकों को वंचित रखा जाय ।

सेवया–गुरु को फल, फूल और मिष्ठान्न आदि अर्पण करना ही सेवा नहीं

कही जाती। यद्यपि आज धार्मिक संस्थानों एवं आश्रमों में इसी को ही सेवा समझा जाता है। गुरु के उपदेश को ग्रहण करके उसी के अनुसार आचरण करने का प्रयत्न ही गुरु की वास्तविक सेवा है। इससे बढ़कर और कोई सेवा नहीं हो सकती।

शिष्यों को ज्ञान का उपदेश देने के लिये गुरु में मुख्यतः दो गुणों का होना आवश्यक है : (क) आध्यात्मिक शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान तथा (ख) अनन्त स्वरूप परमार्थ सत्य के अनुभव में दृढ़ स्थिति। इन दो गुणों को इस श्लोक में क्रमशः 'ज्ञानिनः' और 'तत्वदर्शिनः' शब्दों से बताया गया हैं। केवल पुस्तकीय ज्ञान से प्रकाण्ड पंडित बना जा सकता है लेकिन योग्य गुरु नहीं। शास्त्रों से अनभिज्ञ आत्मानुभवी पुरुष मौन हो जायेगा, क्योंकि शब्दों के परे अपने निज अनुभव को वह व्यक्त ही नहीं कर पायेगा। अतः गुरु का शास्त्रज्ञ तथा ब्रह्मनिष्ठ होना आवश्यक है।

उपर्युक्त कथन से भगवान् का अभिप्राय यह है कि ज्ञानी और तत्त्वदर्शी आचार्य द्वारा उपदिष्ट ज्ञान ही फलदायी होता है और अन्य ज्ञान नहीं। अस्तु निम्नलिखित कथन भी सत्य ही है कि :

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

जिसको जानकर तुम पुनः इस प्रकार मोह को नहीं प्राप्त होगे, और हे पाण्डव! जिसके द्वारा तुम भूतमात्र को अपने आत्मस्वरूप में तथा मुझमें भी देखोगे ॥३५॥

इस प्रकरण के संदर्भ में किसी के मन में यह शंका उठ सकती है कि इतना अधिक परिश्रम करके ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु हो सकता है कि मृत्यु के पश्चात् फिर हम इसी अज्ञान अवस्था को पुनः प्राप्त हो जायें। अपने एक ही जीवन में हम अनेक प्रकार के ज्ञान प्राप्त करते हैं, लेकिन सब का ही हमें स्मरण नहीं रहता। इसी प्रकार आत्मज्ञान को भी प्राप्त करके यदि उसका विस्मरण हो जाता है, तब तो वास्तव में बड़ी ही हानि होगी।

इस प्रकार की शंका का निवारण करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण निश्चयपूर्वक कहते हैं, "इसे जानकर पुनः तुम मोह को प्राप्त नहीं होगे।" किसी कट्टरवादी की अत्युत्साही शैली की भाँति प्रतीत होने वाला यह कथन है, तथापि विचार की प्रारम्भिक अवस्था में इसे इसी रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। सभी आचार्य इस विषय पर एकमत हैं; और चूँकि अपनी पीढ़ी की वंचना करने में उनका कोई स्वार्थ नहीं हो सकता, इसलिए उनके इस मत को विश्वासपूर्वक स्वीकार करने में ही

बुद्धिमानी है। इस श्रद्धा की आवश्यकता तब तक ही है जब तक हम स्वयं आत्मा का साक्षात् अनुभव नहीं कर लेते।

वैवाहिक जीवन का आनन्द एक बालक नहीं समझ सकता। इसी प्रकार अज्ञान अवस्था में शोक मोह से ग्रस्त हम लोग भी देशकालातीत आत्मतत्व की अनुभूति के आनन्द को नहीं समझ सकते। गुरु चाहे जितना ही वर्णन क्यों न करें, परन्तु आन्तरिक परिपक्वता प्राप्त किए बिना उनके वाक्यों के लक्ष्यार्थ को हम यथार्थरूप में ग्रहण नहीं कर सकेंगे।

आत्मानुभूति का लक्षण बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं आत्मा की पहचान होने पर बाह्य विषयों, भावनाओं एवं विचारों की सम्पूर्ण सृष्टि आत्मा में ही प्रतीत होगी; और वह आत्मा ही श्रीकृष्ण परमात्मा का स्वरूप है। एक बार समुद्र की पहचान हो जाने पर उस मनुष्य के लिए सम्पूर्ण लहरें समुद्ररूप ही हो जाती हैं।

पूर्व श्लोकों में वर्णित ज्ञान के साक्षात्कार के लक्षण इस श्लोक में बताये गये हैं। यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि शिष्य को गुरु के सान्निध्य की आवश्यकता तभी तक रहती है, जब तक वह समस्त सृष्टि को परमात्मा से अभिन्न आत्मस्वरूप में अनुभव नहीं कर लेता।

इस ज्ञान का माहात्म्य देखिये कि :

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥३६॥

यदि तुम सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाले हो, तो भी ज्ञानरूपी नौकाद्वारा, निश्चय ही सम्पूर्ण पापों का तुम संतरण कर जाओगे ॥३६॥

यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आत्मसाक्षात्कार का आश्वासन दिया था किन्तु वह अनुभव इतना भव्य और उच्चकोटि का था कि अर्जुन को स्वयं पर विश्वास नहीं हो रहा था। उसकी स्वयं के विषय में यह धारणा थी कि वह इस अनुभव को प्राप्त करने के योग्य नहीं था। जिस किसी विवेकी पुरुष को अपने अवगुणों का भान है, उसके मन में ऐसी शंका आ सकती है।

वेदान्त ऐसा दर्शन नहीं है कि वह निष्ठुर-हृदय होकर पापियों को ज्ञानार्जन से वंचित रखे। वेदान्त इस धारणा में विश्वास नहीं रखता कि कोई व्यक्ति पतित है और वह हीन योनियों में सदा भटकता रहेगा तथा उस पतित व्यक्ति का उद्धार केवल तभी होगा, जब वह वेदान्त मंदिर में प्रवेश करेगा !!

अत्यन्त सहिष्णु वेदान्त दर्शन सत्य की और केवल सत्य की ही घोषणा करता हैं। सर्वव्यापी दिव्य तत्व सर्वत्र व्यक्त हो रहा है और इसलिये कोई भी पापी व्यक्ति ऐसा नहीं हैं, जो स्वप्रयत्न से अपने जन्मसिद्ध पूर्णत्व के अधिकार को प्राप्त न कर सके।

गीता मानव मात्र के लिये लिखा गया एक जीवन शास्त्र है और उसकी सार्वभौमिकता इस श्लोक में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। गीता का आश्वासन है कि अत्यन्त पापी पुरुष भी वर्तमान जीवन की परिच्छिन्नताओं तथा दुःखदायी अवगुणों को तैर कर पूर्णत्व के तट पर ज्ञान नौका के द्वारा पहुंच सकता है। मनुष्य के पूर्णत्व प्राप्ति का यह अधिकार विश्व के किसी भी धर्मग्रन्थ में इतने स्पष्ट रूप से उल्लिखित नहीं है।

यह पहचान कर कि जीव का वास्तविक स्वरूप पूर्ण परमात्मा से भिन्न नहीं है तथा तत्पश्चात् आत्मरूप में रहने को ही सम्यक् ज्ञान कहते हैं। अपने पारमार्थिक आनन्दस्वरूप को पहचान लेने पर वैषयिक सुख हमें प्रलोभित नहीं कर सकते और न पापपूर्ण जीवन में हमें खींच सकते हैं। बड़े ही सुन्दर शब्दों में यहां कहा है "ज्ञान नौका द्वारा तुम सम्पूर्ण पापों को तर जाओगे।"

किस प्रकार यह ज्ञान पापों को नष्ट करता है? एक दृष्टान्त के द्वारा इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं:

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

जैसे प्रज्जवलित अग्नि ईन्धन को भस्मसात् कर देती है, वैसे ही, हे अर्जुन! ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्मसात् कर देती है ॥३७॥

यह दृष्टान्त सुपरिचित तथा अत्यन्त उपयुक्त है। ईन्धन की लकड़ियों का आकार-प्रकार या रंग कुछ भी हो, जब उन्हें अग्निकुण्ड में डाला जाता है, तब सब का अन्तिम परिणाम एक ही होता है-भस्म। उस भस्म के ढेर से हम विभिन्न लकड़ियों की राख को अलग-अलग नहीं कर सकते। उनका मूलरूप सर्वथा नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार, पाप और पुण्य रूप जो भी और जितने भी कर्म हैं, वे सब ज्ञानाग्नि में भस्मीभूत हो जाते हैं। उनका, पूर्व का कार्य-कारण रूप नष्ट हो जाता है।

कर्म फल प्रदान करते हैं। परन्तु सभी कर्म एक साथ ही फलदायी नहीं हो सकते। नियमानुसार जब वे परिपक्व हो जाते हैं तभी उनका फल प्राप्त होने लगता

हैं। अनादि काल से जीव कर्तृत्व का अभिमान करके अनेक कर्मों को करता आ रहा है। इसीलिये उसे अनेक प्रकार के शरीर भी धारण करने पड़ते हैं। इन कर्मों का फलोपभोग आवश्यक होता है।

शास्त्रों में इन कर्मों का वर्गीकरण तीन भागों में किया गया है– (क) संचित- अर्जित किये कर्म जो अभी फलदायी नहीं हुए हैं, (ख) प्रारब्ध - जिन्होंने फल देना प्रारम्भ कर दिया है, तथा (ग) अगामी – अर्थात् जिन कर्मों का फल भविष्य में मिलेगा। इस श्लोक में सब कर्मों से तात्पर्य संचित और आगामी कर्मों से हैं।

इसलिये :

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योग संसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।।३८।।

इस श्लोक में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला, निःसंदेह, कुछ भी नहीं है। योग में संसिद्ध पुरुष स्वयं ही उसे (उचित) काल में आत्मा में प्राप्त करता है।।३८।।

जिस प्रकार पानी में डूबते हुए पुरुष को जीवन रक्षक वस्तु के अलावा अन्य कोई भी वस्तु अधिक महत्व की नहीं हो सकती, उसी प्रकार एक मोहित जीव के लिये इस ज्ञानार्जन से बढ़कर कोई सम्पत्ति नहीं होती।

योग में संसिद्धि अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि प्राप्त पुरुष ही आत्मज्ञान को प्राप्त कर सकता है। इस चित्तशुद्धि के लिये ही बारह प्रकार के साधनरूप यज्ञों का वर्णन किया गया है। कोई भी गुरु अपने शिष्य को चित्तशुद्धि प्रदान नहीं कर सकते। उसके लिये शिष्य को ही प्रयत्न करना पड़ेगा। लोगों में एक मिथ्या धारणा फैली हुई हैं कि गुरु अपने स्पर्श मात्र से शिष्य को सिद्ध बना सकता है। यह असंभव है। अन्यथा अपने अत्यन्त प्रिय मित्र एवं शिष्य अर्जुन को स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण स्पर्श- मात्र से ही सम्पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान करा सकते थे।

अनेक साधक पुरुष गुरु की कुछ सेवा के प्रतिदान स्वरूप उनका अर्जित किया हुआ ज्ञान क्षणमात्र में प्राप्त करना चाहते हैं। ऐसी इच्छा करना जीवन के सुअवसरों को खोना ही है। कितने ही चेले ईश्वरत्व को सस्ते में खरीदने की प्रतीक्षा में जीवन के बहुमूल्य क्षणों को व्यर्थ खो रहे हैं! यद्यपि इस देश में अनेक गुरु अपने आश्रमों में आध्यात्मिकता का विक्रय करते हैं; परन्तु यहां साधकों को सावधान किया जाता है कि इस प्रकार के विक्रय के लिये शास्त्र में कोई आधार नहीं हैं। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से स्पष्ट कहते हैं कि उसे स्वयं चित्तशुद्धि के लिये प्रयत्न करना होगा, जिससे उचित समय में पारमार्थिक सत्य का वह साक्षात् अनुभव कर सकेगा।

पूर्णत्व की प्राप्ति के लिये किसी निश्चित समय का यहां अश्वासन नहीं दिया गया है। केवल इतना ही कहा गया है कि जो पुरुष पूर्ण मनोयोग से पूर्व वर्णित यज्ञों का अनुष्ठान करेगा, उसे आवश्यक आन्तरिक योग्यता प्राप्त होगी और फिर उचित समय में वह आत्मानुभव को प्राप्त करेगा। 'कालेन' शब्द से यह बताया गया है कि यदि साधक अधिक प्रयत्न करे, तो लक्ष्यप्राप्ति में उसे अधिक समय नहीं लगेगा। अतः सभी साधकों को चाहिये कि वे इसके लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहें।

ज्ञानप्राप्ति का निश्चित साधन अगले श्लोक में बताते हैं :

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

श्रद्धावान्, तत्पर और जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान को प्राप्त करके शीघ्र ही वह परम शान्ति को प्राप्त होता है ॥३९॥

योग्यता के बिना किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। इस श्लोक में वर्णित आवश्यक गुणों को समझने से यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि अनेक वर्षों तक साधना करने पर भी कुछ साधक लक्ष्य तक क्यों नहीं पहुंच पाते हैं। श्रद्धा, तत्परता (भक्ति) तथा इन्द्रिय संयम–ये वे तीन अत्यावश्यक गुण है, जिनके द्वारा जीवत्व के बन्धनों से मुक्त होकर हम देवत्व को प्राप्त करने की आशा कर सकते हैं। परन्तु इन तीवों शब्दों के अर्थों के विषय में अनेक विपरीत धारणाए फैल गयी हैं।

श्रद्धा–अनेक पाखण्डी गुरु लोगों की धार्मिक भावनाओं का अनुचित लाभ उठाते हुए 'श्रद्धा' शब्द की आड़ में विपुल धन अर्जित करते हैं। श्रद्धा शब्द का अर्थ अन्धविश्वास करके सामान्य भक्त जनों के बौद्धिक एवं मानसिक विकास की सर्वथा उपेक्षा कर दी जाती है। श्रद्धा का अर्थ यह नहीं है कि दैवी मानी जाने वाली किसी घोषणा को बिना सोचे समझे वैसे ही स्वीकार कर लिया जाय।

श्री शंकराचार्य के अनुसार श्रद्धा वह है जिसके द्वारा मनुष्य शास्त्र एवं आचार्य द्वारा दिये गये उपदेश से तत्व का यथावत् ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

तत्पर – आत्मविकास के किसी भी मार्ग पर अग्रसर साधक के लिये आवश्यक है कि वह उस मार्ग की ओर पूर्ण ध्यान दे तथा मन में ईश्वर का स्मरण रखे। शास्त्रों का केवल बौद्धिक अध्ययन हमें अन्तःकरण शुद्धि नहीं प्रदान कर सकता। उपनिषदों में उपदिष्ट जीवन मन और बुद्धि को संगठित करके जीना चाहिये।

जितेन्द्रिय – आत्मसंयम के बिना श्रद्धा और ज्ञान में दृढ़ता आनी कठिन है। इन्द्रियां ही हमें विषयों की ओर आकर्षित करके खींच ले जाती हैं। एक बार

वैषयिक उपभोगों में आसक्त हो जाने पर जीवन के उच्च मूल्यों को बनाये रखना संभव नहीं होता दिव्य मार्ग पर चलने का अर्थ है विषयोपभोग की नालियों से बाहर निकल जाना। ये दोनों प्रकार के जीवन परस्पर विरोधी है। एक की उपस्थिति में दूसरे का अभाव होता है। जहाँ हृदय में शान्ति के प्रकाश का उदय हुआ, वहाँ वैषयिक और पाशविक प्रवृत्तियों से उत्पन्न क्षोभ का अन्धकार नष्ट हो जाता है, अस्तु साधक के लिये आत्मसंयम का जीवन जीना अनिवार्य हो जाता है।

विषय सुख का त्याग कर स्वयं में तथा शास्त्रों में विश्वास रखते हुए दिव्य लक्ष्य को ही प्राप्त करने का प्रयत्न क्यों करना चाहिये ? साधना की प्रारम्भिक अवस्था में साधक बुद्धि के स्तर पर ही रहता है और बुद्धि का कार्य ही प्रत्येक वस्तु के कारण की खोज करना है। स्वाभाविक है कि विचारशील पुरुष के मन में प्रश्न उठेगा कि आखिर विषय सुख के त्याग का फल क्या होगा ? दूसरी पंक्ति में इसका उत्तर दिया गया है।

उपनिषदों के मन्त्रद्रष्टा ऋषियों का यह निश्चयात्मक आश्वासन है कि श्रद्धावान्, तत्पर और जितेन्द्रिय पुरुष आत्म-ज्ञान को प्राप्त करता है। यहां भगवान् कहते हैं कि इस ज्ञान का फल है परम शान्ति। पूर्व श्लोक के समान यहां भी इस शान्ति को प्राप्त करने का निश्चित समय नहीं बताया गया क्योंकि वह साधक के प्रयत्न पर निर्भर करता है। परन्तु यह निश्चित है कि ज्ञान को प्राप्त कर शीघ्र ही वह परम शान्ति को प्राप्त होता है।

परमशान्ति – परम का अर्थ है अनन्त। अतः परम शान्ति वह है, जो कभी क्षीण नहीं होती। आज के युग में जहां शान्ति के नाम पर युद्ध होते रहते हैं, वहां इस श्लोक में निर्दिष्ट शांति को भी कोई व्यक्ति शंका की दृष्टि से देखे, तो कोई आश्चर्य नहीं। समय-समय पर शान्ति वार्ता करने वाले राजनीतिज्ञों की यह शान्ति नहीं है, वरन् मनोविज्ञान की दृष्टि से इसका गंभीर अर्थ है।

यह एक सुविदित तथ्य है कि प्रत्येक प्राणी जीवन पर्यन्त प्रति क्षण अधिकाधिक सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहता है। श्वसन तथा भोजन से लेकर, युद्ध और नाश के द्वारा सम्पूर्ण विश्व पर आधिपत्य स्थापित करने के सुनियोजित प्रयत्नों तक, प्रत्येक मनुष्य का ध्येय सुख प्राप्ति ही है। केवल मनुष्य ही नहीं बल्कि पशु एवं वनस्पति भी इसी के लिये कार्यरत रहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सुख प्राप्ति की आन्तरिक प्रेरणा के बिना कोई भी कर्म संभव नहीं हो सकता।

इस प्रकार यदि जगत् में सभी प्राणी अधिक-से-अधिक सुख पाने तथा उसके रक्षण के लिये प्रयत्नशील रहते हैं, तब जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य .शाश्वत सुख, अनन्त आनन्द ही होना चाहिये, ऐसा आनन्द कि जहां सब संघर्ष समाप्त हो जाते

हैं, सब इच्छाएं पूर्ण हो जाती हैं, और मन के सभी विक्षेपों का सदा के लिये अन्त हो जाता है। सुख की कामना के कारण ही मन में विक्षेप उत्पन्न होते हैं तथा मनुष्य शरीर द्वारा बाह्य जगत् में कर्म करता है। पारमार्थिक, शाश्वत आनन्द के प्राप्त होने पर मन के विक्षेप तथा शारीरिक शिथिलता दोनों का ही कष्ट समाप्त हो जाता है। इसलिये, परम शान्ति का अर्थ है परम आनन्द। यही हमारे जीवन का वास्तविक लक्ष्य है।

इस विषय में संशय नहीं करना चाहिये, क्योंकि संशय बड़ा पापिष्ठ है। कैसे ? – सुनो –

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।।४०।।

अज्ञानी तथा श्रद्धारहित और संशययुक्त पुरुष नष्ट हो जाता है, (उनमें भी) संशयी पुरुष के लिये न यह लोक है, न परलोक और न सुख ।।४०।।

इसके पूर्व के श्लोक में कहा गया है कि श्रद्धा तथा ज्ञान से मुक्त पुरुष परम शान्ति प्राप्त करता है। इसी तथ्य पर बल देने के लिये निषेधात्मक भाषा में कहते हैं कि उपर्युक्त गुणों से रहित पुरुष अपनी ही हानि करता हुआ अन्त में नष्ट हो जाता है।

जो अज्ञानी है अर्थात् वह पुरुष जिसे बौद्धिक स्तर पर भी आत्मा का ज्ञान नहीं है। इस प्रकार के श्रद्धा रहित तथा संशयी स्वभाव के पुरुष का नाश अवश्यंभावी है।

दूसरी पंक्ति में भगवान् श्रीकृष्ण संशयात्मा पुरुष की निन्दा करते हुए उसके जीवन की त्रासदी बताते हैं। ऐसे पुरुष को न इस लोक में सुख मिलता है और न अन्यत्र। इसका अभिप्राय यह हुआ कि अज्ञानी तथा अश्रद्धालु पुरुष कुछ मात्रा में तो इस लोक का सुख प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु संशयी स्वभाव के व्यक्ति के भाग्य में वह भी नहीं लिखा होता ! ऐसे पुरुष मानसिक रूप से किसी भी परिस्थिति का आनन्द लेने में सर्वथा असमर्थ हो जाते हैं, क्योंकि संशय की प्रवृत्ति प्रत्येक अनुभव में विष घोल देती है। तथाकथित बुद्धिमान अश्रद्धालु और संशयी स्वभाव के पुरुषों पर इस पंक्ति में तीक्ष्ण व्यंग का प्रहार किया गया है।

अतः, इस विषय में संशय नहीं करना चाहिये। भगवान् आगे कहते है :

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।।४१।।

जिसने योगद्वारा कर्मों का संन्यास किया है, ज्ञानद्वारा जिसके संशय नष्ट हो गये हैं, ऐसे आत्मवान् पुरुष को, हे धनंजय ! कर्म नहीं बांधते हैं ॥४१॥

इस अध्याय में विस्तारपूर्वक बतायी हुई जीवन जीने की कला को इस श्लोक में अत्यन्त सुन्दर प्रकार से संक्षेप में बताया गया है । कर्म संन्यास से तात्पर्य फलासक्ति के त्याग से है । जब हम कर्मयोग की भावना से कर्म करते हुए कर्म फलों की आसक्ति त्यागना सीख लेते हैं तथा आत्मानुभवरूप ज्ञान के द्वारा जीवन के लक्ष्य सम्बन्धी हमारे सब संशय छिन्न भिन्न हो जाते हैं, तब अहंकार नष्ट होकर शुद्ध आत्मस्वरूप में हमारी स्थिति दृढ़ हो जाती है। ऐसा आत्मवान् पुरुष कर्म करता हुआ भी उनसे नहीं बन्धता ।

कर्तृत्व के अभिमान तथा स्वार्थ से प्रेरित होकर किये गये कर्म ही वासनाएं उत्पन्न करके हमें बन्धन में डालते हैं । कर्मयोग की भावना से निरहंकार होकर कर्म करने पर बन्धन नहीं हो सकता । स्वप्न में स्वप्न की पत्नी की हत्या करने पर स्वाप्निक दण्ड को भोगना पड़ सकता है, परन्तु स्वप्न द्रष्टा के जागने पर जाग्रत अवस्था में उसे कोई दण्ड नहीं दे सकता ; क्योंकि स्वप्न के साथ-साथ स्वप्नद्रष्टा भी नष्ट हो जाता है जाग्रत-पुरुष को स्वप्न द्रष्टा का किया कर्म नहीं बांध सकता । इसी प्रकार, अहंकार पूर्वक किये गये कर्म अहंकार के लिये बन्धनकारक हो सकते हैं, परन्तु आत्मानुभूति में उसके ही नष्ट जाने पर आत्मा को वे कर्म कैसे बांध सकेंगे ? जिसका अहंकार नष्ट हो चुका है, उसी पुरुष को यहां आत्मवान् कहा गया है ।

इस आत्मज्ञान का फल सर्वश्रेष्ठ है इसलिये श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं कि :

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

इसलिये अपने हृदय में स्थिति अज्ञान से उत्पन्न आत्मविषयक संशय को ज्ञान खड्ग से काट कर, हे भारत ! योग का आश्रय लेकर खड़े हो जाओ ॥४२॥

इस अन्तिम श्लोक में श्रीकृष्ण द्वारा दी गयी सम्मति संक्षिप्त होते हुए भी प्रेमाग्रह पूर्ण है । यह श्लोक अर्जुन के प्रति उनकी स्नेह भावना से झंकृत हो रहा है ।

हिमालय की गिरि-कन्दराओं के शान्त और एकान्त वातावरण में दिये गये ऋषियों के उपदेश को यहां श्रीकृष्ण अपने योद्धामित्र अर्जुन को युद्ध की भाषा में ही समझाते हैं । हृदय में स्थित अज्ञान से उत्पन्न आत्मविषयक संशय को ज्ञान की तलवार द्वारा छिन्न-भिन्न करने के लिये वे अर्जुन को प्रोत्साहित करते हैं ।

यहां संशय को हृदय में स्थित कहा गया है, आज के शिक्षित पुरुष को यह कुछ विचित्र जान पड़ेगा, क्योंकि संशय बुद्धि से उत्पन्न होता है हृदय से नहीं।

वेदान्त की धारणा के अनुसार "बुद्धि का निवास स्थान हृदय है।" परन्तु स्थूल शरीर का अंगरूप हृदय यहां अभिप्रेत नहीं है। दर्शनशास्त्र में हृदय शब्द का मनोवैज्ञानिक अर्थ में साहित्यिक प्रयोग किया जाता है।" प्रेम, सहानुभूति तथा इसी प्रकार की मनुष्य की श्रेष्ठ एवं आदर्श भावनाओं का स्रोत हृदय ही है। इस प्रेम से परिपूर्ण हृदय से जो बुद्धि कार्य करती है वही, वास्तव में, दर्शनशास्त्र की दृष्टि से मनुष्य की बुद्धि मानी जा सकती है। इसलिये, जब यहां संशय को हृदय में स्थित कहा गया तब उसका तात्पर्य कुछ साधकों की विकृत बुद्धि से है, जिसके कारण वे आत्मदर्शन नहीं कर पाते। अनेक प्रकार के संशयों की आत्यन्तिक निवृत्ति तभी संभव होगी, जब साधक पुरुष आत्मा का साक्षात् अनुभव कर लेगा।

यह योग के अभ्यास द्वारा ही संभव है। परन्तु योग का अर्थ कोई रहस्यमयी साधना नहीं जिसे कोई विरले गुरु गुप्त रूप से बतायेंगे; और न ही वह ऐसी साधना है जिसका अभ्यास हिमालय की निर्जन गुफाओं में बैठकर करना पड़ेगा। योग सम्बन्धित जो भी भय उत्पन्न करने वाली मिथ्या धारणाएं हैं, गीता में उन्हें सदा के लिए दूर करके उस शब्द को सुपरिचित और व्यावहारिक बना दिया गया है। जीवन के सभी कार्य क्षेत्रों में योग उपयोगी है। भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा इस अध्याय में जो बारह प्रकार के यज्ञ बताये गये हैं वे ही योग शब्द से लक्षित हैं।

इस अध्याय की समाप्ति अर्जुन को उठने के आह्वान के साथ होती है: "उत्तिष्ठ भारत।" यद्यपि गीतोपदेश के सन्दर्भ में भारत शब्द अर्जुन को ही सम्बोधित करता है तथापि अर्जुन के माध्यम से समस्त साधक को यहाँ आह्वान किया गया है, यज्ञ साधना का आचरण करके हमको अधिकाधिक अन्तःकरण शुद्धि प्राप्त करनी चाहिये, जिससे कि निदिध्यासन के द्वारा हम विकास के चरम लक्ष्य-परम शान्ति को प्राप्त कर सकें।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥

इस प्रकार श्रीकृष्णार्जुनसंवाद के रूप में ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र स्वरूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् का ज्ञानकर्मसंन्यासयोग नामक चौथा अध्याय समाप्त होता है।

ॐ

पंचम अध्याय

कर्मसंन्यासयोग

भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेश को सुनकर अर्जुन के मन में उत्पन्न एक शंका के साथ इस अध्याय का प्रारम्भ होता है। तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में व्यक्त की गयी शंका से बहुत कुछ समान होते हुए भी इसमें सूक्ष्म अन्तर है। द्वितीय अध्याय की समाप्ति पर अर्जुन कुछ भ्रमित-सा हुआ, यह निश्चय नहीं कर सका कि आध्यात्मिक जीवन में कर्मों का कोई स्थान भी है अथवा नहीं। यहां अर्जुन को यह जानने की उत्कण्ठा है कि कर्मसंन्यास और कर्मयोग (अर्थात् कर्म का आचरण) इन दोनों में अधिक महान् तथा श्रेयस्कर कौन सा मार्ग है। अर्जुन के प्रश्न से स्पष्ट होता है कि महान् गीताचार्य श्रीकृष्ण कुछ सीमा तक अर्जुन को मानसिक विषाद की विनाशकारी स्थिति से बाहर निकालने में सफल हो गये थे। 'कर्मयोग' तथा 'अधर्म का सक्रिय प्रतिकार' करने के उनके उपदेश से वह प्रभावित हुआ दिखाई पड़ता है। उसने मन का सन्तुलन प्राप्त करके आत्मविकास के लिये उपयुक्त कर्माचरण की अनिवार्यता स्वीकार कर ली थी।

अर्जुन के लिये कर्म शब्द का अर्थ वैदिक यज्ञ, याग, होम आदि तथा संन्यास का तात्पर्य कर्मों का सर्वथा त्याग करके हिमालय के जंगलों में कठोर तपश्चर्या का जीवन व्यतीत करना था जब राज परिवार में जन्मे एक बुद्धिमान् और शिक्षित पुरुष की इस विषय में ऐसी भ्रान्त धारणाएं थीं, तब हम कल्पना कर सकते हैं कि उस युग के सामान्य हिन्दूजन अज्ञान के कितने गहरे गह्वरों में डूबे हुए होंगे!

निष्प्राण हुए इन शास्त्रीय शब्दों को पुनर्जीवित करके समाज में उनकी पुनर्स्थापना करने का प्रयत्न भगवान् श्रीकृष्ण ने किया। पूर्व अध्याय में, हम देख चुके हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण ने कर्मकाण्ड पूर्ण यज्ञों को गोपन रहस्य तथा कृत्रिम पावित्र्य के शीशमहलों से मुक्त करके दैनिक कर्मों के विशाल क्षेत्र में सर्वजनहिताय प्रयुक्त करने का प्रयास किया है। वेदों में निहित जिस गुप्त धन का लाभ समाज के कतिपय विशिष्ट जन हीं उठा पाते थे, गीता के द्वारा उसका 'राष्ट्रीयकरण' करके उसे समस्त साधकों के लाभार्थ समस्त विश्व को उपलब्ध करा दिया गया। धर्म-संस्थापना

के इस कार्य के द्वारा श्रीकृष्ण नें हिन्दू धर्म के तत्वज्ञान तथा उसमें वर्णित साधनाओं को संसार के समस्त मनुष्यों के लिए व्यवहारोपयोगी बना दिया।

कर्मयोग का विस्तृत विवेचन करने के पश्चात् अर्जुन को यह समझाना आवश्यक था कि आध्यात्मिक पूर्णत्व पाने के लिए किस प्रकार ज्ञान पूर्वक कर्मों का संन्यास करके उच्चतर साधना का आश्रय लेना चाहिये। तमोगुण की शिथिल अकर्मण्यता में पड़े व्यक्ति को उस स्थिति से बाहर निकालने के लिए सर्वप्रथम कर्म करने का उपदेश दिया जाता है। इस अवस्था में ये कर्म अहंकार तथा स्वार्थ से प्रेरित ही होंगे। तथापि रजोगुण की क्रियाशीलता उस व्यक्ति में आ जाती है। तत्पश्चात् उस व्यक्ति को यज्ञ भावना से कर्म करने का उपदेश दिया जाता है। इस प्रकार निरहंकार और निःस्वार्थ भाव से सभी के कल्याण के लिए किये गए कर्मों के प्रभाव से रजोगुण के विक्षेपों से मुक्त होकर साधक पुरुष सात्विक शांति और आनन्द में स्थित हो जाता है। सत्वगुण प्रधान अन्तःकरण के द्वारा ही निदिध्यासन करना सम्भव होता है और पूर्णत्व का साक्षात् अनुभव किया जा सकता है।

इस प्रकार, आत्मविकास के तीन सोपान हैं—काम्य कर्म, निष्काम कर्म और निदिध्यासन। महाभारत के रचयिता महर्षि व्यासजी का उपदिष्ट यह साधन मार्ग उनका मौलिक योगदान नहीं है। वेद प्रतिपादित सिद्धान्त का ही युक्तियुक्त पुनर्विवेचन यहां किया गया है। वेदों में आत्मिक उन्नति हेतु वैज्ञानिक पद्धति से साधन मार्ग का निरूपण किया गया है। वेदों का प्रथम भाग 'मन्त्र' कहलाता है, जिसमें प्रकृति की विशालता, सामर्थ्य एवं सौन्दर्य का अवलोकन करके आश्चर्य से मुग्ध हुए मानव के उद्‌गार हैं, स्तुति और गुणगान से पूर्ण अनेक सूक्त हैं। द्वितीय भाग में 'ब्राह्मण' जिसमें अनेक प्रकार के यज्ञ यागादि का वर्णन मिलता है, जिनके विधिवत् अनुष्ठान से मनुष्य अभ्युदय अर्थात् भौतिक सुखों की इच्छापूर्ण कर सकता है। अनेक प्रकार के सुखोपभोग करने के उपरान्त जिन लोगों के मन में उन भोगों से कुछ वैराग्य उत्पन्न होता है, उनके लिए अनेक प्रकार की उपासनाओं का अनुष्ठान करने का उपदेश वेदों के 'आरण्यक' नामक भाग में दिया गया है। इन उपासनाओं का निष्काम अनुष्ठान साधकों के मन और बुद्धि का तादात्म्य स्थापित करके मानो उन्हें दो पंख प्रदान करता है, जिनकी सहायता से वे परिच्छिन्नताओं की सीमाओं को लांघकर अनन्त रूप में विहार कर सकते हैं।

वैदिक शब्दावली के अर्थों में यत्र-तत्र किंचित् परिवर्तन के साथ गीता में वेदप्रतिपादित साधना का ही उपदेश दिया गया है। तत्व वही है; परिवर्तन है केवल भाषा रूपी परिधान में। और ऐसा करना उचित ही है क्योंकि तत्कालीन पीढ़ी इसी भाषा को समझ सकती थी। महाभारत के कुछ आलोचकों ने इस परिवर्तन को

क्रान्ति की उपमा दे दी, जो अनुचित होने के कारण सिद्धान्त को हानि पहुँचाने वाली है। सामान्यतः क्रान्ति शब्द का प्रयोग तब किया जाता है, जब किसी पुरानी पद्धति को पूर्णतया नष्ट करके उसके स्थान पर किसी नवीन व्यवस्था की स्थापना की जाती हैं। जैसे, पाश्चात्य देशों में हुई औद्योगिक क्रान्ति ने पितृप्रधान परिवार की सामाजिक जीवन पद्धति को सर्वथा विस्थापित कर दिया जो पवन चक्कियों के प्रारम्भ होनें के पूर्व वहां प्रचलित थी। व्यास महर्षि द्वारा रचित गीता के कारण अथवा आचार्यों द्वारा उसे शास्त्र के रूप में स्वीकार करने से इस प्रकार की कोई विनाशकारी क्रान्ति नहीं हुई।

तथापि, गीता क्रान्ति की प्रतीक है। जब पूर्ण विकसित हुआ फूल फल के रूप में परिवर्तित हो जाता है, तब बाह्य दृष्टि से फूल का नाश होते हुए भी उसका तत्त्व अथवा सार उत्पन्न हुए फल में विद्यमान रहता ही है। वनस्पति जीवन से अनभिज्ञ लोग भले ही फूल के नाश पर शोक करें, परन्तु एक वनस्पतिशास्त्री जानता है कि फूल के सारभूत तत्व की पूर्णता फल बनने में ही है। फल बनने की प्रक्रिया में केवल फूल के अनावश्यक तत्त्वों का नाश होता है।

इसी प्रकार गीता में वैदिक कर्मकाण्ड के विशाल आडम्बरों, गोपन विधि विधानों में एवं विस्तृत तैयारियों को तो त्याग दिया गया है, किन्तु उसमें निहित पारमार्थिक तत्त्वज्ञान तथा पूर्णता प्राप्त साधना को यथावत् सुरक्षित रखा गया है।

द्वितीय अध्याय में स्थितप्रज्ञ पुरुष के लक्षणों के द्वारा पूर्णत्व के परम लक्ष्य को दर्शाकर भगवान् श्रीकृष्ण ने उसके अगले दो अध्यायों में कर्मयोग के रूप में सही कर्म करने के अनेक साधनों का विस्तृत विवेचन किया है। अध्यात्म के सर्वोच्च लक्ष्य को पाने के लिए कर्मयोग साधनभूत अंग है। किसी भी विद्यार्थी के लिए चिकित्सक अथवा अभियन्ता, वकील अथवा अर्थशास्त्री बनने की अपनी महत्त्वाकांक्षा पूर्ण करने के लिए प्राथमिक शिक्षा उतनी ही आवश्यक है, जितनी उच्चतर माध्यमिक शिक्षा। तत्पश्चात् उसे महाविद्यालय में प्रवेश मिल सकेगा, जहां कठिन परिश्रम करने पर ही अपने इच्छित विषय विशेष में उसे विश्वविद्यालय की उपाधि प्राप्त हो सकती है। ठीक इसी प्रकार, निष्काम कर्मयोग की साधना के पश्चात् साधक को आत्मानुसन्धानरूप निदिध्यासन का अभ्यास करना चाहिए।

तृतीय और चतुर्थ अध्यायों में कर्मयोग का विवेचन है तथा षष्ठ अध्याय में ध्यान योग का। अतः इस अध्याय का शीर्षक 'कर्मसंन्यासयोग' होना सर्वथा उपयुक्त है। इस अध्याय के मुख्य विषय हैं—संन्यास का अर्थ, कर्मसंन्यास योग की अभ्यास विधि, इस साधना का फल तथा मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में इसका योगदान। यह पंचम अध्याय कर्मयोग तथा ध्यानयोग के मध्य एक सेतु के समान है, जो दोनों

को जोड़ने का कार्य करता है। वैदिक विचार श्रृंखला में दोनों योगों को मिलाने वाली यह कड़ी सर्वथा विलुप्त है। गीता का यह अध्याय हमारे लिए, उस कड़ी का पुनर्अनुसंधान कर देता है। यह उस कड़ी का केवल 'पुनर्अनुसंधान' है, स्वेच्छापूर्वक जोड़ी गई कोई नई मौलिक विचारधारा नहीं है।

इस अध्याय की संगति दिखाते हुए श्री शंकराचार्य कहते हैं कि "भगवान् ने अनेक स्थानों पर कर्मसंन्यास के विषय में कहा; परन्तु चतुर्थ अध्याय की समाप्ति पर अर्जुन को योग का आश्रय लेकर कर्म में प्रवृत्त होने को कहा गया था। अर्जुन को भगवान् के उपदेश में स्पष्ट विरोध दिखाई देता है। अतः वह इस अध्याय में अपनी शंका को भगवान् के समक्ष प्रस्तुत करता है।"

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

अर्जुन ने कहा :

हे कृष्ण! आप कर्मों के संन्यास की और फिर योग (कर्म के आचरण) की प्रशंसा करते हैं। इन दोनों में एक जो निश्चय पूर्वक श्रेयष्कर है, उसको मेरे लिए कहिये ॥१॥

अर्जुन के इस प्रश्न से स्पष्ट होता है कि अनजाने ही वह अपनी नैराश्य अवस्था से बहुत कुछ मुक्त हुआ भगवान् के उपदेश को ध्यानपूर्वक श्रवण करके विचार भी करने लगा था। स्वभाव से क्रियाशील होने के कारण अर्जुन को 'कर्म-योग' रुचिकर तथा स्वीकार्य था। परन्तु अनेक स्थानों पर श्रीकृष्ण द्वारा अन्य यज्ञों की अपेक्षा ज्ञान अथवा कर्मसंन्यास को अधिक श्रेष्ठ प्रतिपादित करने से अर्जुन के मन में सन्देह उत्पन्न हुआ; और यही कारण था कि वह स्वयं के लिए किसी मार्ग का निश्चय नहीं कर सका। अतः इसका निश्चय कराना ही अर्जुन के प्रश्न का प्रयोजन है।

और एक बात यह भी है कि मानसिक उन्माद का रोगी उस रोग के प्रभाव से कुछ मुक्त होने पर भी शीघ्र ही पूर्ण आत्मविश्वास नहीं जुटा पाता। यह सबका अनुभव है कि भयंकर स्वप्न से जागे हुए व्यक्ति को पुनः संयमित होकर निद्रा अवस्था में आने के उपक्रम में कुछ समय लग जाता है। अर्जुन की ठीक ऐसी ही स्थिति थी मानसिक तनाव एवं उन्माद की स्थिति से बाहर आने पर भी अपने सारथी श्रीकृष्ण

के उपदेश को पूर्णरूप से समझने तथा विचार करने में वह स्वयं को असमर्थ पा रहा था। अर्जुन इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि भगवान् उसके सामने कर्मयोग तथा कर्म संन्यास के रूप में दो विकल्प प्रस्तुत कर रहे हैं। अतः, वह श्रीकृष्ण से यह जानना चाहता है कि उसके आत्मकल्याण के लिए इन दोनों में से कौन सा एक निश्चित मार्ग अनुकरणीय है। इस अध्याय का प्रयोजन यह बताने का है कि ये दो मार्ग विकल्परूप नहीं हैं और न ही परस्पर पूरक होते हुए युगपत् अनुष्ठेय हैं।

कर्मयोग तथा कर्मसंन्यास इनका इसी क्रम में आचरण करना है और न कि एक साथ दोनों का। यही इस अध्याय का विषय है।

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

श्रीभगवान् ने कहा–

कर्मसंन्यास और कर्मयोग ये दोनों ही परम कल्याणकारक हैं; परन्तु उन दोनों में कर्मसंन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है।

अर्जुन के प्रश्न से श्रीकृष्ण समझ गये कि किस तुच्छ अज्ञान की स्थिति में अर्जुन पड़ा हुआ है। वह कर्मसंन्यास और कर्मयोग इन दो मार्गों को भिन्न–भिन्न मानकर यह समझ रहा था कि वे साधक को दो भिन्न लक्ष्यों तक पहुँचाने के साधन थे।

मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति निष्क्रियता की ओर होती है। यदि मनुष्यों को अपने स्वभाव पर छोड़ दिया जाय, तो अधिकांश लोग केवल यही चाहेंगे कि जीवन में कम-से-कम परिश्रम और अधिक-से-अधिक आराम के साथ भोजन आदि प्राप्त हो जाय। इस अनुत्पादक अकर्मण्यता से उसे क्रियाशील बनाना उसके विकास की प्रथम अवस्था है। यह कार्य मनुष्य की सुप्त इच्छाओं को जगाने से सम्पादित किया जा सकता है। विकास की इस प्रथमावस्था में स्वार्थ से प्रेरित कर्म उसकी मानसिक एवं बौद्धिक शिथिलता को दूर करके उसे अत्यन्त क्रियाशील बना देते हैं।

तदुपरान्त, मनुष्य को क्रियाशील रहते हुए स्वार्थ का त्याग करने का उपदेश दिया जाता है। कुछ काल तक निष्काम भाव से ईश्वर की पूजा समझकर जगत् की सेवा करने से उसे जो आनन्द प्राप्त होता है, वही उसके लिए स्फूर्ति एवं प्रेरणा

का स्रोत बन जाता है। इसी भावना को कर्मयोग अथवा यज्ञ की भावना कहा गया है। कर्मयोग के पालन से वासनाओं का क्षय होकर साधक को मानो ध्यान रूप पंख प्राप्त हो जाते हैं, जिनकी सहायता से वह शांति और आनन्द के आकाश में ऊँची-ऊँची उड़ानें भर सकता है। ध्यानाभ्यास का विस्तृत विवेचन अगले अध्याय में किया गया है।

उपर्युक्त विचार से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आत्मविकास के लिये तीन साधन हैं – काम्य कर्म, निष्काम कर्म तथा निदिध्यासन। पूर्व अध्यायों में कर्म योग का वर्णन हो चुका है और अगले अध्याय का विषय ध्यान योग है। अतः इस अध्याय में अहंकार और स्वार्थ के परित्याग द्वारा कर्मों के संन्यास का निरूपण किया गया है।

इस श्लोक में भगवान् ने कहा है कि कर्मसंन्यास और कर्मयोग–दोनों ही कल्याणकारक हैं, तथापि इन दोनों में कर्मयोग श्रेष्ठतर है। श्रीकृष्ण के इस कथन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि वे कर्मयोग की अपेक्षा संन्यास को हीनतर बताते हैं। ऐसा समझना अपने अज्ञान का प्रदर्शन करना है, अथवा अब तक किये भगवान् के उपदेश को ही नहीं समझना है। यहां, संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग को श्रेष्ठ कहने के अभिप्राय को हमें समझना चाहिये। विकास की जिस अवस्था में अर्जुन था, उसको तथा युद्ध की विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रखकर अर्जुन के लिए संन्यास की अपेक्षा कर्म करने का उपदेश ही उपयुक्त था। अर्थ यह हुआ कि दोनों ही श्रेयष्कर होनें पर भी विशेष परिस्थितियों को देखते हुए संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ कहा गया है। अधिकांश लोग 'अर्जुन के रोग" से पीड़ित होते हैं, उन सब के लिए कर्मयोग ही वासनाक्षय का एकमात्र उपाय है। अतः, यहाँ कर्मयोग को श्रेष्ठ कहने के तात्पर्य को हमको ठीक से समझना चाहिए।

ऐसा क्यों ? इस पर कहते हैं :

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

जो पुरुष न किसी से द्वेष करता है और न किसी की आकांक्षा, वह सदा संन्यासी ही समझने योग्य है; क्योंकि, हे महाबाहो ! द्वन्द्वों से रहित पुरुष सहज ही बन्धन मुक्त हो जाता है ॥३॥

इस श्लोक में स्वयं भगवान् ही कर्मयोग के श्रेष्ठत्व का कारण बताते हैं। भगवान् द्वारा यहां दी हुई संन्यास की परिभाषा उसके विषय में प्रचलित निरर्थक

धारणाओं को दूर कर देती है। वेशभूषा के बाह्य आडम्बर की अपेक्षा आन्तरिक गुणों का अधिक महत्व है। श्रीकृष्ण के विचारानुसार राग और द्वेष से रहित पुरुष ही संन्यासी कहलाने योग्य हैं।

राग-द्वेष, जय-पराजय, सुख-दु:ख आदि इसी प्रकार के द्वन्द्वात्मक चक्र हैं, जिन पर आरूढ़ मन जीवन में अनेक प्रकार के अनुभव प्राप्त करता हुआ आगे बढ़ता है। हम तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा ही जीवन में आने वाली परिस्थितियों को समझ पाते हैं। अन्धकार के सन्दर्भ में ही प्रकाश का ज्ञान होता है। किसी वस्तु के विपरीत धर्मवाली वस्तु के न होने पर हम उस वस्तु को यथार्थ रूप में नहीं समझ पाते।

यदि वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिये बुद्धि के पास तुलनात्मक अध्ययन प्रणाली ही उपलब्ध हो, तब, उसका त्याग करने का अर्थ होगा विचार के साधन अन्तःकरण का ही त्याग करना। एक वाहन द्वारा सड़क पर यात्रा करना सम्भव है परन्तु समुद्र यात्रा नहीं। उसके लिए उस वाहन का त्याग करके जलपोत की आवश्यकता होती है। असंख्य नाम रूपों की सृष्टि में तो बुद्धि का उपयोग किया जा सकता है। यहाँ कहा गया है कि समस्त प्रकार के भेद दर्शनों से मुक्त हुआ अर्थात् मन और बुद्धि के अतीत हुआ पुरुष ही सच्चा संन्यासी है।

यह कोई सहज कार्य नहीं है। द्वन्द्वों से रहित होने का अर्थ है मर्त्य जीव के सभी बन्धनों से मुक्त हो जाना। संन्यासी की इस परिभाषा से यह नहीं समझें कि साधकों के लिए दु:खपूर्ण निराशा के जीवन को चित्रित करने का भगवान् का प्रयत्न है। अर्जुन के मन में दीर्घकाल से अर्जित वासनाओं का संचय था। अत:, उसके आत्मविकास को ध्यान में रखकर भगवान् उसे संन्यास जीवन को स्वीकार करने की शीघ्रता से परावृत करना चाहते हैं।

सांख्ययोगौ पृथग्बाला: प्रवदन्ति न पण्डिता:।
एकमप्यास्थित: सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

बालक अर्थात् बालबुद्धि के लोग सांख्य (संन्यास) और योग को परस्पर भिन्न समझते हैं; किसी एक में भी सम्यक् प्रकार से स्थित हुआ पुरुष दोनों के फल को प्राप्त कर लेता है ॥४॥

किसी भी सामान्य कर्म को ईश्वर की पूजा में परिवर्तित करने के दो उपाय हैं। एक है 'सभी कर्मों में कर्तृत्व के अभिमान का त्याग', और दूसरा है–'फलासक्ति के कारण उत्पन्न होने वाली चिन्ताओं का त्याग' जिसे दूसरे शब्दों में कहेंगे–'भोक्तृत्व

के अभिमान का त्याग'। प्रथम उपाय को कहते हैं सांख्य तथा दूसरे को योग।

सांख्य मार्ग का अनुसरण सबके लिए सम्भव नहीं होता है। अत्यन्त मेधावी पुरुष ही सम्पूर्ण विश्व में हो रहे कर्मों का अवलोकन कर इस कर्तृत्व के अभिमान को त्याग सकता हैं। जीवन में प्राप्त उपलब्धियों के लिए जगत् में कितने ही व्यक्तियों एवं नियमों की अपेक्षा होती है। इसे समझकर ही हम अपने व्यक्तिगत योगदान की क्षुद्रता समझ सकते हैं और तभी हम अपनें मिथ्या कर्तृव्य की धारणा को भी त्याग सकते हैं।

केवल बालक अर्थात् अपरिपक्व विचार के लोग ही सांख्य और योग में विरोध देखते हैं, जबकि बुद्धिमान् पुरुष जो किसी एक मार्ग का अवलंबन दृढ़ता से करते हैं–दोनों मार्गों के समान प्रभाव को जानते हैं। यदि साधक के रूप में हम कर्तृत्व अभिमान अथवा फलासक्ति को त्यागते हैं तो हमें एक ही लक्ष्य प्राप्त होता है।

एक के ही सम्यक् अनुष्ठान से दोनों के फल की प्राप्ति कैसे होगी ? उत्तर में कहते हैं :

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।५।।

जो स्थान ज्ञानियों द्वारा प्राप्त किया जाता है, उसी स्थान पर कर्मयोगी भी पहुँचते हैं। इसलिए जो पुरुष सांख्य और योग को (फलरूप से) एक ही देखता है, वही (वास्तव में) देखता है ।।५।।

यहां भगवान् का स्पष्ट वचन है कि सांख्य और योग दोनों का लक्ष्य एक ही है; इसलिए एक के अनुष्ठान से दोनों के फल को प्राप्त होने की बात कही गयी है। इस प्रकार इन दोनों को फलरूप से एक समझने वाले पुरुष ही यथार्थ में वेदों में प्रतिपादित सत्य के ज्ञाता हैं।

'पश्यंति' अर्थात् 'देखते हैं' इस शब्द का प्रयोग उसके शास्त्रीय अर्थ में किया गया है जिसके कारण नेत्र इन्द्रिय के द्वारा किसी बाह्य वस्तु का दर्शन यहां अभिप्रेत नहीं हैं। अद्वैत तत्त्वज्ञान के सिद्धान्तानुसार आत्मा के स्वयं द्रष्टा होने से उसका दृश्यरूप में दर्शन कभी नहीं हो सकता। द्रष्टा के द्वारा द्रष्टा का ही यह अनुभव है। 'देखते हैं' शब्द का प्रयोग मात्र यह दर्शाने के लिए है कि इस आत्मतत्त्व का अनुभव उतना ही स्पष्ट और सन्देहरहित हो सकता है, जितना कि बाह्य स्थूल पदार्थ का दर्शन।

इस प्रकार इन दोनों के संश्लेषण करने का अर्थ यह नहीं है कि इनका मिश्रण किया गया हो। क्रम से योग तथा सांख्य का अनुष्ठान अपेक्षित है। इन दोनों को हम एक ही मान सकते हैं, क्योंकि कर्मयोग से चित्तशुद्धि प्राप्त होकर सांख्य अर्थात् ध्यान के द्वारा हम परम तत्त्व का साक्षात् अनुभव कर सकते हैं। सभी साधकों को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि योग और सांख्य का अनुष्ठान क्रम से करना है, न कि युगपत्।

कर्मयोग का लक्ष्य संन्यास किस प्रकार है ? सुनो–

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥६॥

परन्तु, हे महाबाहो ! योग के बिना संन्यास प्राप्त होना कठिन है; योग-युक्त मननशील पुरुष परमात्मा को शीघ्र ही प्राप्त होता है ॥६॥

आत्मज्ञान की साधना में कर्म के स्थान के विषय में प्राचीन ऋषिगण जिस निष्कर्ष पर पहुँचे थे, भगवान यहां उसका ही दृढ़ता से विशेष बल देकर प्रतिपादन कर रहे हैं। कर्मपालन के बिना वास्तविक कर्मसंन्यास असंभव है। किसी वस्तु को प्राप्त किये बिना उसका त्याग कैसे संभव होगा ? इच्छाओं के अतृप्त रहने से और महत्त्वाकांक्षाओं के धूलि में मिल जाने के कारण, जो पुरुष सांसारिक जीवन का त्याग करता है, उसका संन्यास वास्तविक नहीं कहा जा सकता।

किसी धातु विशेष के बने पात्र पर मैल जम जाने पर उसे स्वच्छ एवं चमकीला बनानें के लिए एक विशेष रासायनिक घोल का प्रयोग किया जाता है। जंग (आक्साइड) की जो एक पर्त उस पात्र पर जमी होती है, वह उस घोल में मिल जाती है। कुछ समय पश्चात् जब कपड़े से उसे स्वच्छ किया जाता है, तब उस घोल के साथ-साथ मैली पर्त भी दूर ही जाती है और फिर वहाँ स्वच्छ, चमकीला और आकर्षक पात्र दिखाई देता है। मन के शुद्धिकरण की प्रक्रिया भी इसी प्रकार की है।

कर्मयोग के पालन से जन्मजन्मान्तरों में अर्जित वासनाओं का कलमष दूर हो जाता है और तब, शुद्ध हुए मन द्वारा निदिध्यासन के अभ्यास से अकर्म आत्मा का अनुभव होता है और यही वास्तविक कर्मसंन्यास है। ध्यान के लिए आवश्यक इस पूर्व तैयारी के बिना यदि हम कर्मों का संन्यास करें, तो शारीरिक दृष्टि से तो हम क्रियाहीन हो जायेंगे, लेकिन मन की क्रियाशीलता बनी रहेगी। आन्तरिक शुद्धि के लिये मन की बहिर्मुखता अनुकूल नहीं है। वास्तव में देखा जाय, तो यह बहि-

मुँखता ही वह कलमष है, जो हमारे दैवी सौन्दर्य एवं सामर्थ्य को आच्छादित किये रहता है। प्राचीन काल के हिन्दू मनीषियों की आध्यात्मिक उन्नति के क्षेत्र में यह सबसे बड़ी खोज है।

जहाँ भगवान् ने यह कहा कि कर्मयोग की भावना से कर्म किये बिना ध्यान की योग्यता अर्थात् चित्तशुद्धि नहीं प्राप्त होती, वहीं वे यह आश्वासन भी देते हैं कि साधकगण उचित प्रयत्नों के द्वारा ध्यान के अनुकूल इस मनःस्थिति को प्राप्त कर सकते हैं।

योगयुक्तः – जो पुरुष सदा निरहंकार और निःस्वार्थ भाव से कर्म करने में रत होता हैं, उसे मन की समता तथा एकाग्रता प्राप्त होती है। साधक को ध्यानाभ्यास की योग्यता प्राप्त होने पर कर्म का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। ऐसे योग्यता सम्पन्न मुनि को आत्मानुभूति शीघ्र ही होती है।

परमात्मा का अनुभव कब होगा, इस विषय में कोई कालमर्यादा निश्चित नहीं की जा सकती। 'अचिरेण' शब्द के प्रयोग से यही बात दर्शायी गई है।

उपर्युक्त विवेचन से, कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्म के आचरण को श्रेष्ठ कहने का कारण स्पष्ट हो जाता है।

जब साधक पुरुष सम्यक् दर्शन के साधनभूत योग का अश्रय लेता है तब:

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

जो पुरुष योगयुक्त, विशुद्ध अन्तःकरणवाला, शरीर को वश में किये हुए, जितेन्द्रिय तथा भूतमात्र में स्थित आत्मा के साथ एकत्व अनुभव किये हुए है वह कर्म करते हुए भी उनसे लिप्त नहीं होता ॥७॥

पूर्व श्लोक में संक्षेप में वर्णन है कि कर्मयोग पालन करने पर चित्तशुद्धि प्राप्त होकर साधक ध्यानाभ्यास की सहायता से ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। वर्तमान की परिच्छिन्नता एवं बन्धनों को तोड़कर अनन्तस्वरूप की प्राप्ति के प्रयत्न में जो आन्तरिक परिवर्तन साधक में होता है, उसका युक्तियुक्त विस्तृत विवेचन इस श्लोक में किया गया है।

कर्मयोग से युक्त पुरुष अन्तःकरण की शुद्धि प्राप्त करता है, जिसका अर्थ है अधिक-से-अधिक मन की आन्तरिक शान्ति। मन का कम-से-कम क्षुब्ध होना उसकी शुद्धि का द्योतक है। इसे ही दूसरे शब्दों में कहते हैं, वासनाओं का क्षीण होना।

विक्षेप की कारणरूप वासनाओं का क्षय होने पर स्वाभाविक रूप से वह पुरुष सन्तुलित बन जाता है।

ऐसे शुद्धान्तःकरण सम्पन्न कर्मयोगी के लिए इन्द्रियों पर संयम रखना बच्चों का खेल बन जाता है। वह स्वेच्छा से इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त कर सकता है और निवृत्त भी। जिस साधक को अपने शरीर, मन एवं बुद्धि पर पूर्ण संयम है वह ध्यान की सर्वोच्च साधना के लिए योग्यतम है। निदिध्यासन में आने वाले मुख्य विघ्न ये ही हैं-वैषयिक प्रवृत्ति, मन के विक्षेप एवं अतृप्त इच्छाएं। एक बार इन श्रृंखलाओं को तोड़ देने पर ध्यान सहज और सुलभ बन जाता है, फिर साधक को आत्मा का साक्षात् अनुभव तत्काल और उसकी सम्पूर्णता में होता है।

आत्मानुभूति आंशिक रूप में नहीं हो सकती। यदि साधक केवल स्वयं को दिव्य और शुद्ध स्वरूप अनुभव करे और अन्यों को नहीं तो उसका अनुभव वास्तविक और प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। सम्यक् दर्शक को प्राप्त हुए पुरुष के लिये तो शुद्ध आत्मा सर्वत्र एवं समस्त कालों में व्याप्त है। इस आध्यात्मिक दृष्टि से जगत् को देखने पर उसे सर्वत्र, सम्पूर्ण प्राणियों में, नित्य आत्मा का ही दर्शन होता है। ऐसे ज्ञानी पुरुष को ही यहाँ 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' कहा गया है जिसका अर्थ है "वह पुरुष जिसकी आत्मा ही सर्व-भूतों की आत्मा है"।

जब एक तरंग अपने वास्तविक समुद्र स्वरूप को पहचान लेती है, तब ज्ञान में स्थित उस तरंग के लिये कोई भी अन्य तरंग समुद्र से भिन्न नहीं हो सकती।

आत्मानुभूति में स्थित हुआ पुरुष जब जगत् में कर्म करता है, तब वे कर्म वासना के रूप में प्रतिफल उत्पन्न नहीं करते। कर्मफलों का बन्धन केवल अहंकार को ही हो सकता है और ज्ञानी पुरुष में उसी का अभाव होने के कारण कर्म उसे किस प्रकार लिप्त कर सकते हैं? प्रवाहित जल पर लिखने के समान ही ज्ञानी पुरुष के कर्म उसके चित्त पर वासनाएँ नहीं उत्पन्न करते।

भगवान् श्रीकृष्ण कर्मयोग के सिद्धान्त का पुनःपुनः प्रतिपादन करते हैं। इस श्लोक से भी स्पष्ट होता है कि अहंकार और स्वार्थ से प्रेरित होकर किये गये कर्म ही वासना उत्पन्न करके बुद्धि की विवेक-शक्ति को धूमिल कर देते हैं, जिसके कारण मनुष्य को अपने स्वयंसिद्ध शुद्ध दिव्य स्वरूप का अनुभव नहीं हो पाता।

सर्वव्यापी परमात्मा के अनुभव में स्थित सिद्ध पुरुष का जीवन की ओर देखने का क्या दृष्टिकोण होगा? भगवान् कहते हैं:

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन् श्वसन् ॥८॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

तत्त्ववित् युक्त पुरुष यह सोचेगा (अर्थात् जानता है) कि "मैं किंचित् मात्र कर्म नहीं करता हूँ"; देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, ॥८॥

बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखों को खोलता और बन्द करता हुआ (वह) निश्चयात्मक रूप से जानता है कि सब इन्द्रियां अपने-अपने विषयों में विचरण कर रहीं हैं ॥९॥

एक ज्ञानी सिद्ध पुरुष भी जगत् में औरों के समान ही कुशलतापूर्वक कर्म करते हुए रहता है न कि पाषाण की प्रतिमा के समान निष्क्रिय होकर। सर्व सामान्य और स्वाभाविक क्रियाओं की एक सूची ही इन दो श्लोकों में दी हुई है जैसे-देखता हुआ, सुनता हुआ...आदि। भगवान् कहते हैं कि जीवन की इन अपरिहार्य क्रियाओं में ज्ञानी पुरुष किसी प्रकार का कर्तृत्व अभिमान नहीं रखता हैं।

निद्रा अवस्था में अहंकार के अभाव में हमें अपनी श्वसन क्रिया का कोई भान नहीं रहता। इसी प्रकार, अहंकार के नष्ट होनें पर उपर्युक्त सभी क्रियाएँ अपने स्वाभाविक रूप से होती रहती हैं। परन्तु ज्ञानी पुरुष को सदा यह भान बना रहता है कि 'मैं किंचिन्मात्र कर्म नहीं करता हूँ।' इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि सिद्ध पुरुष उपचारहित नींद में चलने वाला रोगी बन जाता है! दोनों में मुख्य भेद यह है कि नींद में चलने वाले को किसी प्रकार का भान नहीं रहता, जबकि ज्ञानी पुरुष अपने चैतन्य स्वरूप के प्रति सदा जागरूक रहता है।

युक्त अर्थात् आत्मस्वरूप में स्थित, इस शब्द के द्वारा यह सूचित करते हैं कि अहंकार का पूर्ण त्याग करना केवल आत्मज्ञानी के लिये ही संभव हो सकता है। इस युक्तता में साधक तथा सिद्ध पुरुषों के भेद से कुछ तारतम्य होता है। जहां साधकगण अध्ययन, श्रवण, मनन आदि की सहायता से बौद्धिक स्तर पर स्वस्वरूप के प्रति सजग रहने का प्रयत्न करते हैं, वहां सिद्ध पुरुष के लिए तो स्वस्वरूपानुभूति सदा सहजरूप में बनी ही रहती है।

अतः अहंकार का त्याग करने के लिए हमको आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए। जाग्रत अवस्था के अपने व्यक्तित्व का विस्मरण होने पर ही हम अपने ही बनाये स्वप्न के शिकार बन जाते हैं। स्वप्नावस्था के दुःखों का अन्त तभी होगा जब हम पुनः अपने जाग्रत अवस्था के स्वरूप का साक्षात्कार कर लेंगे। इसी प्रकार, "मैं कर्ता हूं"

इस अविद्या जनित कर्तृत्व भाव की निवृत्ति आत्मस्वरूप के सम्यक् ज्ञान से ही होगी कि "आत्मा अर्थात् मैं अकर्ता हूँ"। इसी तथ्य को इस श्लोक में दर्शाया गया है कि ज्ञानी पुरुष जानता है कि इन्द्रियां अपने-अपने विषयों में विचरण करती हैं, जब कि आत्मा सदा अकर्ता ही है।

यदि समुद्र चेतन होता तो वह स्वयं में ही उत्पन्न और नष्ट होती हुई लहरों को देख सकता। आत्मस्वरूप में स्थित ज्ञानी पुरुष शरीरादि उपाधियों द्वारा किये जा रहे कर्मों को साक्षी भाव से देखता रहता है। टंकण (टाइप) करते हुए हम अपनी उँगलियों को कार्यरत देख सकते हैं और तब टाइप राइटर पर चलती उँगलियों की क्रिया एक क्रीड़ा बन जाती है। यही स्थिति है, ज्ञानी पुरुष की। चिन्ता और विक्षेप से रहित हुआ आत्मानुभूति में स्थित पुरुष का यह निश्चयात्मक ज्ञान होता है कि "मैं किंचिन्मात्र कर्म नहीं करता हूँ"।

परन्तु, कर्म में ही प्रवृत्त अतत्ववित् पुरुष को किस प्रकार कर्म करने चाहिये ? भगवान् कहते हैं :

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।।१०।।

जो पुरुष सब कर्म ब्रह्म में अर्पण करके और आसक्ति को त्यागकर करता है, वह पुरुष कमल के पत्ते के सदृश पाप से लिप्त नहीं होता।।१०।।

दो पूर्ववर्ती श्लोकों में वर्णित ज्ञान ब्रह्म स्वरूप में रमे हुए तत्त्ववित् पुरुषों के लिये सत्य हो सकता है, परन्तु निरहंकार और अनासक्ति का जीवन सर्व सामान्य जनों के लिये सुलभ नहीं होता। पूर्णत्व के साधनों को यही कठिनाई आती है। जो साधक गण गीताज्ञान को जीना चाहते हैं, और न कि तत्प्रतिपादित सिद्धान्तों की केवल चर्चा करना, उनकी यही समस्या होती है कि किस प्रकार वे अहंकार का त्याग करें। इस समस्या का निराकरण विचाराधीन श्लोक में किया गया है, जिसके द्वारा कोई भी अनासक्त जीवन व्यतीत कर सकता है। **ब्रह्म में अर्पण करके** – मन का पूर्णतया अनासक्त होना असम्भव है और यही तथ्य साधक लोग नहीं जानते। जबतक मन का अस्तित्व रहेगा, तब तक वह किसी-न-किसी वस्तु के साथ आसक्त रहेगा। इसलिये, परमार्थ सत्य को पहचान कर उसके साथ तादात्म्य रखने का प्रयत्न करना ही मिथ्या वस्तुओं के साथ की आसक्ति को त्यागने का एकमात्र उपाय है। इस मनोवैज्ञानिक सत्य को दर्शाते हुए भगवान् उपदेश देते हैं कि सभी साधकों को ईश्वरा-

र्पण बुद्धि से कर्म करने चाहिये। किसी आदर्श के निरन्तर स्मरण का अर्थ है, मनुष्य का तत्स्वरूप ही बन जाना। जैसे, अज्ञानदशा में हमें अहंकार का अखण्ड स्मरण बना रहता है, वैसे ही ईश्वर का निरन्तर स्मरण रहने पर अहंकार का त्याग संभव हो सकता है। ईश्वर के अखण्ड चिन्तन से हम जीवभाव से ऊपर उठकर ईश्वर के साथ एकत्व का अनुभव कर सकते हैं।

संक्षेप में, आज हम "जीवभाव में स्थित आत्मा हैं" ; गीता का आह्वान है कि हम "आत्मभाव में स्थित जीव" बन जायें।

एक बार अपने शुद्ध स्वरूप की पहचान हो जाने पर, शरीर, मन और बुद्धि के द्वारा किये गये कर्म किसी प्रकार की वासना उत्पन्न नहीं कर सकते। पाप और पुण्य कर्तृत्वाभिमानी जीव के लिये हैं, आत्मा के लिये कदापि नहीं। दर्पण के कारण दिखाई दे रहे मेरे प्रतिबिम्ब की कुरूपता मेरी नहीं कही जा सकती। प्रतिबिम्ब का विकृत होना दर्पण की सतह के उत्तल या अवतल होने पर निर्भर करता है। इसी प्रकार, पाप और पुण्य का बन्धन जीव को ही स्वकर्मानुसार होता है।

आत्मसाक्षात्कार के पश्चात् ज्ञानी पुरुष देहादि उपाधियों के साथ विषयों के मध्य उसी प्रकार रहता है, जैसे कमल का पत्ता जल में। यद्यपि कमल की उत्पत्ति, पोषण, स्थिति और नाश भी जल में ही होता है तथापि कमल पत्र जल से सदा अस्पर्शित रहता है। जल उसे गीला नहीं कर पाता। उसी प्रकार ही, एक ज्ञानी सन्त पुरुष अन्य मनुष्यों के समान जगत् में निवास करता हुआ समस्त व्यवहार करता है और फिर भी पाप पुण्य, रागद्वेष, सुन्दरता कुरूपता आदि से कभी भी लिप्त नहीं होता।

सामान्य कर्म को कर्मयोग में परिवर्तित करने के दो उपाय हैं (१) कर्तृत्व का त्याग और (२) फलासक्ति का त्याग। यहां प्रथम उपाय का वर्णन किया गया है। यह कोई अपरिचित नवीन या विचित्र सिद्धान्त नहीं है। इसका हमें अपने जीवन में अनेक अवसरों पर अनुभव भी होता है। एक चिकित्सक आसक्ति के कारण अपनी पत्नी की शल्य क्रिया (आपरेशन) करने में स्वयं को असमर्थ पाता है; परन्तु वही चिकित्सक उसी दिन उसी शल्य क्रिया को किसी अन्य रोगी पर कुशलतापूर्वक कर सकता है, क्योंकि उस रोगी के साथ उसकी कोई आसक्ति नहीं होती।

यदि मनुष्य स्वयं को ईश्वर का प्रतिनिधि अथवा सेवक समझकर कार्य करे, तो वह स्वयं में ही उस प्रचण्ड सामर्थ्य एवं कार्यकुशलता को पायेगा, जिन्हें वह वर्तमान में कर्तृत्वाभिमान के कारण व्यर्थ में खोये दे रहा है।

इसलिये–

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

योगीजन, शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा आसक्ति को त्याग कर आत्मशुद्धि (चित्तशुद्धि) के लिए कर्म करते हैं ॥११॥

कर्मयोगी का प्रयत्न यह होता है कि अपने स्वरूप में ही रहकर स्वयं के अन्तर्बाह्य घटित हो रही घटनाओं को उनके साथ तादात्म्य किए बिना केवल साक्षी-भाव से देखे । कुछ काल तक इसका अभ्यास करने पर उसे यह स्पष्टतया ज्ञात होगा कि समस्त कर्म उपाधियों के द्वारा किए जाते हैं और साक्षी के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता । तथापि उसको इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि यह साक्षित्व अथवा साक्षी स्वयं पारमार्थिक सत्य नहीं है, वरन् "बुद्धि की खिड़की में से झांकता हुआ परम सत्य" यह साक्षी है । हमारा अनुभव है कि हम स्वयं को कार्य-रत देखते हैं, तब हमें इस देखने वाले साक्षी का भी भान होता है । शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मतत्व वह है, जो इस उपर्युक्त द्रष्टा को भी प्रकाशित करता है – यह उपनिषदों की घोषणा है ।

यदि परम सत्य साक्षित्व से भी परे है, तो कर्मयोगी को इस साक्षीभाव का अभ्यास क्यों करना चाहिये ? इसका उत्तर है "आत्मविशुद्धये" अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि के लिए । साक्षीभाव से कर्म करने पर स्वाभाविक ही अहंकार का त्याग होकर पूर्व संचित वासनाओं का क्षय हो जायेगा । जितनी अधिक मात्रा में वासना निवृत्ति होगी उतना ही शुद्ध और स्थिर अन्तःकरण होगा, जिसमें परमात्मा की अनुभूति स्पष्ट रूप से होगी ।

निम्नलिखित कारण से भी कर्मयोगी अनासक्त भाव से कर्म करता है :

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शांतिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

युक्त पुरुष कर्मफल का त्याग करके परम शान्ति को प्राप्त होता है ; और अयुक्त पुरुष फल में आसक्त हुआ कामना के द्वारा बँधता है ॥१२॥

कर्मफल प्राप्ति की चिन्ताओं से मुक्त होकर सम्यक् प्रकार से कर्माचरण के द्वारा कर्मयोगी को अनिर्वचनीय शांति प्राप्त होती है । यह शान्ति आर्थिक अथवा

राजनीतिक परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न की जानें वाली कोई वस्तु नहीं है। संविधान बनाने वाली संस्थाओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के द्वारा भी इस शान्ति को स्थापित नहीं किया जा सकता है। यह तो मनुष्य के मन की वह स्थिति है जबकि उसका आन्तरिक संसार विक्षुब्ध करने वाले विचारों के मदोन्मत्त तूफानों से विचलित नहीं होता है। शांति एक अखण्डानुभूति एवं एक संगठित व्यक्तित्व को सुरभि है। यज्ञ भावना से कर्म करते हुए इस शान्ति को प्राप्त करना ही यहां प्रतिपादित क्रांतिकारी सिद्धान्त है। जब साधक कर्तृत्व के अभिमान और फल की आसक्ति का त्याग करके अपनें कर्तव्य कर्म करता है, तब उसे कर्मयोग निष्ठा की शांति शीघ्र ही प्राप्ति होती है।

इसी बात पर अधिक बल देने के लिये भगवान् कहते हैं कि कर्मयोगी के विपरीत जो अयुक्त पुरुष है, वह अभिमान तथा फलाशक्ति के कारण अपने ही कर्मों से बँधता है। जो औषधि कम मात्रा में उपचार का कार्य करती है, उसी का अधिक मात्रा में सेवन मृत्यु का कारण बन सकता है, जैसे – नींद की गोलियाँ। जो शस्त्र आत्मरक्षण का साधन है, वही आत्महनन का भी कारण बन सकता है।

इसी प्रकार, जगत् में अविवेक से कार्य करने पर संतोष और आनन्द के आलोक के मिलन के स्थान पर दृढ़तर बन्धन और अथाह अन्धकारमय जीवन प्राप्त होता है। इसका एकमात्र कारण है हमारी किसी फलविशेष के लिये कामना। भविष्य में अपने मन के अनुकूल स्थिति को चाहने का नाम है कामना अथवा इच्छा। यदि एक मेढक अपना विस्तार करता हुआ बैल के आकार का बनने का प्रयत्न करे, तो उसका अन्त दुःखपूर्ण ही होगा। एक परिच्छिन्न सामर्थ्य का जीव स्वयं के अनुकूल और इष्ट परिस्थिति का निर्माण करने में सर्वथा असमर्थ है। उसका प्रयत्न उस मेढक के समान ही होने के कारण अविवेकपूर्ण है। उसको यह समझना चाहिये कि कर्म करने में वह स्वतन्त्र है, परन्तु कर्मफल अनेक नियमों के अनुसार प्राप्त होने के कारण फल प्राप्ति में वह परवश है। इसलिये, किसी फलविशेष में आसक्त होकर उसका आग्रह रखना केवल अज्ञान के सिवाय और कुछ नहीं।

परन्तु जो परमार्थ दर्शी हैं, उसके विषय में कहते हैं :

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

सब कर्मों का मन से संन्यास करके संयमी पुरुष नवद्वार वाली शरीर रूप नगरी में सुख से रहता हुआ न कर्म करता है और न करवाता है॥१३॥

जगत् से पलायन करना संन्यास नहीं है। मिथ्या धारणाओं एवं अविवेकपूर्ण आसक्तियों का त्याग ही वास्तविक संन्यास है। जिस पुरुष की सम्पूर्ण इन्द्रियाँ एवं मन की प्रवृत्तियाँ स्वयं के वश में हैं, और जिसके सब कर्म अहंकार और स्वार्थ से रहित होते हैं उसे ही अनिर्वचनीय आनन्द, परम सन्तोष प्राप्त होता है। तब वह सुखपूर्वक शरीर रूपी 'नवद्वार' नगरी में निवास करता है।

नवद्वारयुक्त नगरी का रूपक उपनिषदों में प्रसिद्ध है। शरीर को उस नगरी के समान माना गया है, जो प्राचीन काल में किलों की प्राचीर के अन्दर बसायी गयी होती थी। इस शरीर रूपी नगरी के नव द्वार हैं – दो आँखें, दो नासिका छिद्र, दो कान, मुँह, जननेन्द्रिय तथा गुदेन्द्रिय। इस शरीर में जीवन व्यापार सुचारु रूप से चलने के लिये इनमें से समस्त या अधिकांश द्वारों का होना आवश्यक है। जैसे, एक राजा किले में रहकर अपने मन्त्रियों द्वारा शासन करता है, तब उसकी उपस्थिति मात्र से अधिकारीगण प्रेरणाशक्ति और अनुमति प्राप्त कर अपना-अपना कार्य करते हैं ; इसी प्रकार चैतन्य आत्मा स्वयं अकर्ता रहते हुए भी उसके केवल सान्निध्य से समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियां स्वव्यापार में व्यस्त रहती हैं।

इन प्रसिद्ध रूपक का उपयोग करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि संयमी एवं तत्त्वदर्शी पुरुष शरीर में सुख से रहते हुये उपाधियों के कार्य देखता रहता है, परन्तु स्वयं न कर्म करता है और न उपाधियों से करवाता है।

और :

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

लोकमात्र के लिए प्रभु (ईश्वर) न कतृत्व, न कर्म और न कर्मफल के संयोग कों रचता है। परन्तु प्रकृति (सब कुछ) करती है ॥१४॥

वेदों में ईश्वर के विषय में प्रतिपादन करते हुये कहा गया है कि वह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्, सर्वद्रष्टा, कर्माध्यक्ष और कर्मफलदाता है, जो समस्त जीवों को उनके कर्मों के अनुसार ही न्यायपूर्वक फल प्रदान करता है। यहाँ परमात्मा का वर्णन जगत् के साथ उसके सम्बन्ध को दिखाकर किया गया है।

परमात्मा न कर्तृत्व को उत्पन्न करता है और न ही कर्मों का अनुमोदन करता है। कर्म का फल के साथ संयोग कराना यह भी उसका कार्य नहीं। अनेक व्याख्याकारों के मतानुसार इस श्लोक में प्रभु शब्द से कर्माध्यक्ष–कर्मफलदाता ईश्वर

को सूचित किया गया है ; परन्तु भगवान् के कथन से उनके मत की पुष्टि नहीं होती। विचार करने पर कोई भी विद्यार्थी स्पष्ट रूप से समझ सकता है कि यहाँ भगवान अर्जुन को निरुपाधिक चैतन्य आत्मा का स्वरूप समझाने का प्रयत्न कर रहे हैं। यहां आत्मा का तीन शरीरों – स्थूल, सूक्ष्म और कारण – के साथ सम्बन्ध बताया गया है

यदि श्रीकृष्ण के कथन के अनुसार आत्मा का कर्तृत्व, कर्म और कर्मफल संयोग से कोई सम्बन्ध नहीं हैं, तब हमारे जीवन का भी आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिये, क्योंकि कर्तृत्वादि से भिन्न हमारे जीवन का अस्तित्व ही नहीं है। तथापि, आत्मा के अभाव में किसी भी वस्तु का न अस्तित्व है और न क्रियारूप व्यापार। इसलिए आत्मा और अनात्मा के बीच किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध होना अनिवार्य है और उस विचित्र "सम्बन्ध रहित सम्बन्ध" का वर्णन यहाँ किया गया है।

यह तो सर्वबिदित है कि मनुष्य की नाक अपने स्थान पर सुस्थिर रहती है। उसमें स्वेच्छा से अथवा अनिच्छा से गति नहीं होती। और फिर भी, यदि कोई व्यक्ति जल में अपने मुख को देखते हुये यह पाये कि उसकी नाक किसी कील पर लटकी हुई वस्तु के समान हिल रही है, तब वह क्या सोचेगा ? वह जानेगा कि नाक अपने स्थान पर सुस्थित है तथापि जल में वह उसे हिलती दिखाई दे रही है। स्पष्ट है कि चेहरे के प्रतिबिम्ब की स्थिति जल की स्थिति पर निर्भर करती है। आत्मा में न कर्तृत्व है और न क्रिया, परन्तु उपाधियों में व्यक्त आत्मा – जिसे जीव कहते हैं – के लिए कर्तृत्व, कर्म और फल संयोग प्राप्त हो जाते हैं।

विद्युत स्वयं स्थिर शक्ति है। उसके उत्पादन के पश्चात् उसका वितरण करने पर अनेक प्रकार के उपकरणों के माध्यम से वह अनेक रूपों में व्यक्त होती है। चैतन्यस्वरूप आत्मा भी जड़ उपाधियों से परिछिन्न-सा हुआ कर्तृत्वादि को प्राप्त होता है।

कर्मो का कर्ता और भोक्ता जीव हैं, आत्मा नहीं। स्वभाव अर्थात् त्रिगुणात्मिका माया के सम्बन्ध से ही आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्वादि गुण अतीत होते हैं।

पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा प्रकृति के गुणों से सर्वथा निर्लिप्त ही है। भगवान् कहते हैं :

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

विभु परमात्मा न किसी के पापकर्म को और न पुण्य कर्म को ही ग्रहण करता है ; (किन्तु) अज्ञान से ज्ञान ढका हुआ है, इससे सब जीव मोहित होते हैं ॥१५॥

'विभु' अर्थात् सर्वव्यापी परमात्मा न किसी के पापकर्म को ग्रहण करता है और न पुण्य कर्म को। यह कथन पुराणों में वर्णित देवताओं की कल्पना से भिन्न है, क्योंकि वहाँ देवताओं को जीवों के पाप और पुण्य कर्मों का लेखा-जोखा रखने वालों के रूप में वर्णन किया गया है। कथा प्रेमी भक्त लोगों को वेदान्त सिद्धान्त उनके प्रेम को आघात पहुँचाने वाला प्रतीत होता है और इसलिये वे गीता के स्थान पर श्रीकृष्ण की लीलाओं का अध्ययन कर भाव विभोर होना अधिक पसन्द करते हैं। ईश्वर के विषय में यह धारणा है कि वह मेघों के ऊपर कहीं आकाश में बैठा विश्व भर के प्राणियों के शुभ-अशुभ कर्मों का निरीक्षण करते हुए उनका ख्याल रखता है, जिससे प्रलय के पश्चात "न्याय के दिन" जब समस्त जीव उसके पास पहुँचें, तो वह उनका कर्मानुसार न्याय कर सके। यह रोचक धारणा केवल सामान्य जनों की ही हो सकती है, जिनकी बुद्धि अधिक विकसित नहीं है।

समस्त विश्व के अधिष्ठानस्वरूप परमात्मा को जीवन के कर्मों से कोई प्रयोजन हो या परिच्छिन्न वस्तुओं में उसकी कोई विशेष रुचि हो, ऐसा हम नहीं मान सकते। परमार्थ की दृष्टि से तो परिच्छिन्न जगत् का आत्यन्तिक अभाव है। केवल आत्म विस्मृति के कारण ही उपाधियों में व्यक्त हुआ वह आत्मा कर्तृत्व, कर्म, फलभोग आदि से जुड़ा हुआ प्रतीत होता है। समतल काँच के माध्यम से निर्गत सूर्यप्रकाश में कोई विकार नहीं होता ; परन्तु यदि वही प्रकाश एक प्रिज्म (आयत) में से निकले तो सात रङ्गों में विभाजित हो जाता है। इसी प्रकार एकमेव अद्वितीय सर्वव्यापी, परिपूर्ण परमात्मा शरीर, मन और बुद्धि इन आविद्यक उपाधियों में व्यक्त होकर नानारूप जगदाभास के रूप में प्रतीत होता है।

यहाँ ज्ञान और अज्ञान के सम्बन्ध का सुन्दर वर्णन किया गया है। अज्ञान ज्ञान नहीं हो सकता और न ज्ञान अज्ञान का एक अंश। परस्पर विरोधी स्वभाव के कारण इन दोनों का सह अस्तित्व सम्भव नहीं हो सकता हैं। परन्तु, यहाँ कहा गया है कि "अज्ञान के द्वारा ज्ञान आवृत हुआ है" ; यह ऐसे ही है जैसे, किसी जंगल में सर्वत्र व्याप्त अन्धकार में दूर कहीं प्रकाश की किरण को देखकर कहा जा सकता है कि "वह प्रकाश अन्धकार से आवृत है।" अगले श्लोक में अज्ञान आवरण को दूर करने के उपाय तथा उसकी निवृत्ति के फल को विस्तार से बताया गया है।

सत्य के अनावरण की प्रक्रिया में अज्ञान की निवृत्ति मात्र अपेक्षित है न कि ज्ञान की उत्पत्ति। इसलिए सत्य की प्राप्ति वास्तव में सिद्ध वस्तु की ही प्राप्ति है और कोई नवीन उपलब्धि नहीं। इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं :

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

परन्तु जिनका वह अज्ञान आत्मज्ञान से नष्ट हो जाता है, उनके लिये वह ज्ञान, सूर्य के सदृश, परमात्मा को प्रकाशित करता है ॥१६॥

शोक और मोह से ग्रस्त जीवों के लिए शुद्ध आत्म स्वरूप अविद्या से आवृत रहता है। अर्थात् उन्हें आत्मा का उसके शुद्ध स्वरूप में अनुभव नहीं होता। ज्ञानी पुरुष के लिए अज्ञानावरण पूर्णतया निवृत्त हो जाता है। कितने ही दीर्घकाल से किसी स्थान पर स्थित अन्धकार प्रकाश के आने पर तत्काल ही दूर हो जाता है, न कि धीरे-धीरे किसी विशेष क्रम से। इसी प्रकार से आत्मज्ञान का उदय होते ही अनादि अविद्या उसी क्षण निवृत्त हो जाती है। अविद्या से उत्पन्न होता है – अहंकार जिसका अस्तित्व शरीर, मन और बुद्धि के साथ हुए तादात्म्य के कारण बना रहता है। अज्ञान के नष्ट हो जाने पर अहंकार भी नष्ट हो जाता है।

द्वैतवादियों को वेदान्त के इस सिद्धान्त को समझने में कठिनाई होती है। वस्तुओं को जानने के लिये हमारे पास उपलब्ध साधन हैं – इन्द्रियां, मन और बुद्धि। अहंकार इनके माध्यम से देखता, अनुभव करता और विचार करता है। द्वैतवादी यह समझने में असमर्थ हैं कि अहंकार, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि के अभाव में आत्म ज्ञान कैसे सम्भव है। एक बुद्धिमान विचारक में यह शंका आना स्वाभाविक है। इसका अनुमान लगाकर श्रीकृष्ण यह बताते हैं कि अहंकार नष्ट होने पर आत्मज्ञान स्वतः हो जाता है।

विचार-रत बुद्धि को यह बात सरलता से नहीं समझाई जा सकती है। इसलिए दूसरी पंक्ति में प्रभु एक दृष्टान्त देते हैं – 'आदित्यवत्'। हम सबका सामान्य अनुभव है कि प्रावृट् ऋतु में कई दिनों तक सूर्य नहीं दिखाई देता है और हम जल्दी में कह देते हैं कि "सूर्य बादलों से ढक गया है।"

इस वाक्य के अर्थ पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि सूर्य बादल के छोटे से टुकड़े से ढक नहीं सकता है। इस विश्व के मध्य में जहाँ सूर्य अकेला अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ विद्यमान है वहाँ से बादल बहुत दूर है। पृथ्वी तल पर खड़ा छोटा सा मनुष्य अपनी बिन्दुमात्र आँखों से देखता है कि बादल की एक टुकड़ी ने दैदीप्यमान आदित्य को ढक लिया है। यदि हम अपनी छोटी सी उँगली अपने नेत्र के सामने निकट ही लगा लें तो विशाल पर्वत भी ढक सकता है।

इसी प्रकार जीव जब आत्मा पर दृष्टि डालता है तो उस अनन्त आत्मा को अविद्या से आवृत पाता है। यह अविद्या सत् स्वरूप आत्मा में नहीं है, जैसे बादल सूर्य में कदापि नहीं है। अनन्त सत् की तुलना में सीमित अविद्या बहुत ही तुच्छ है। किन्तु आत्म-स्वरूप की विस्मृति हमारे हृदय में उत्पन्न होकर अहंकार में यह मिथ्या धारणा उत्पन्न करती है कि आध्यात्मिक सत् अविद्या से प्रच्छन्न है। इस अज्ञान के नष्ट होने पर आत्म-तत्त्व प्रकट हो जाता है, जैसे मेघ-पट हटते ही सूर्य प्रकट हो जाता है।

सूर्य को देखने के लिये किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं है ; आत्मानुभव के लिये भी किसी अन्य अनुभव की अपेक्षा नहीं। आत्मा स्वयं प्रकाशस्वरूप हैं। वह चित् स्वरूप है। चित् की चेतना के लिये किसी दूसरे चैतन्य की अपेक्षा नहीं है। ज्ञान का अन्तर्निहित तत्त्व चेतना ही है। अतः, अहंकार आत्मा को पाकर आत्मा ही हो जाता है।

स्वप्न से जागने पर स्वप्नद्रष्टा अपनी स्वप्नावस्था से मुक्त हो कर जाग्रत पुरुष बन जाता है। वह जाग्रत पुरुष को कभी भिन्न विषय के रूप में न देखता है और न अनुभव करता है ; बल्कि वह स्वयं ही जाग्रत पुरुष बन जाता है। ठीक इसी प्रकार, अहंकार भी अज्ञान से ऊपर उठकर स्वयं आत्मस्वरूप के साथ एकरूप हो जाता है। अहंकार और आत्मा का सम्बन्ध तथा आत्मानुभूति की प्रक्रिया का बड़ा ही सुन्दर वर्णन सूर्य के दृष्टांत द्वारा किया गया है, जिसके लक्ष्यार्थ पर सभी साधकों को मनन करना चाहिये।

आत्मनिष्ठ पुरुष सदा के लिए जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है। भगवान् कहते हैं :

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

जिनकी बुद्धि उस (परमात्मा) में स्थित है, जिनका मन तद्रूप हुआ है, उसमें ही जिनकी निष्ठा है, वह (ब्रह्म) ही जिनका परम लक्ष्य है, ज्ञान के द्वारा पापरहित पुरुष अपुनरावृत्ति को प्राप्त होते हैं, अर्थात् उनका पुनर्जन्म नहीं होता है ॥१७॥

शास्त्रों के गहन अध्ययन से द्वारा साधक अपने व्यक्तित्व के सभी पक्षों के साथ आत्मयुक्त हो जाता है। बुद्धि आत्मस्वरूप का निश्चय करके उसमें ही स्थित

हो जाती है और उसके मन की प्रत्येक भावना ईश्वर की ही स्तुति का गान करती है। अनन्त आनन्दस्वरूप को आत्मरूप से पहचान कर साधक की उसमें निष्ठा हो जाती है। ऐसे व्यक्ति के लिए अपरिच्छिन्न और अपरिच्छेद्य आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई परम लक्ष्म नहीं हो सकता।

शास्त्राध्ययन के द्वारा जो व्यक्ति अपने सत्यात्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, उसके लिए पुनः राग और द्वेष के बन्धन में आने का अवसर या कारण ही नहीं रह जाता। यही शास्त्राध्ययन का फल है। अध्ययन के पश्चात् आवश्यकता होती है उस ज्ञान के अनुसार जीवन जीने की, अर्थात् उस ज्ञान के आचरण की। अध्ययन और आचरण से ही स्वस्वरूप में अवस्थान सम्भव हो सकता है।

स्वरूप में अवस्थान प्राप्त पुरुष का पुनर्जन्म नहीं होता। इसका कारण क्या है? हम कैसे कह सकते हैं कि ज्ञान के उपरान्त पुनः अहंकार उत्पन्न नहीं होगा? ज्ञानी पुरुषों के लिए प्रयुक्त 'ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः' इस विशेषण के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं। कलमष अर्थात् पाप से तात्पर्य वासनाओं से है। वासनाओं से उत्पन्न होता है अहंकार। वेदान्त में वासना को ही आत्म अज्ञान कहते हैं। अज्ञान के विरोधी आत्मज्ञान का उदय होने पर दुःखदायक अज्ञान अन्धकार का विनाश हो जाता है और उसके साथ ही तज्जनित अहंकार भी नष्ट हो जाता है। तत्पश्चात् अहंकार पुनः जन्म नहीं ले सकता, क्योंकि ज्ञान की उपस्थिति में अज्ञान लौटकर नहीं आ सकता। कारण के ही अभाव में कार्यरूप अहंकार कैसे उत्पन्न हो सकता है? इस श्लोक में हमें विश्व के सबसे आशावावी तत्त्वज्ञान के दर्शन होते हैं, जहाँ स्पष्ट घोषणा की गयी है कि आत्मसाक्षात्कार जीव के विकास का चरम लक्ष्य है। परम तत्त्व की अनुभूति विकास के सोपान की अन्तिम सीढ़ी है, जिसे प्राप्त करने के लिए ही जीव स्वनिर्मित विषयों के बन्धनों में यत्र-तत्र भटकता रहता है।

ज्ञान के द्वारा जिनका अज्ञान नष्ट हो जाता है वे ज्ञानी पुरुष किस प्रकार तत्त्व को देखते हैं? उत्तर है:

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

(ऐसे वे) ज्ञानीजन विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण, तथा गाय, हाथी, श्वान और चाण्डाल में भी सम तत्त्व को देखते हैं ॥१८॥

अपने ज्ञानानुसार ही हमारी जगत् को देखने की दृष्टि होती है। आत्मज्ञानी

पुरुष सर्वत्र समरूप विद्यमान दिव्य आत्मतत्त्व का ही दर्शन करता है। समुद्र में उठती हुई असंख्य लहरों के प्रति समुद्र की अलग-अलग भावना नहीं हो सकती। मिट्टी की दृष्टि से मिट्टी से निर्मित सभी घट एक समान ही हैं। इसी प्रकार, जिस अहंकार रहित पुरुष ने अपने ब्रह्मस्वरूप को पहचान लिया है उसकी नामरूपमय सृष्टि की ओर देखने की दृष्टि सम बन जाती है। दृष्टिगोचर सभी प्रकार के भेद केवल उपाधियों में ही हैं। मनुष्य-मनुष्य में भेद शरीर के रूप और रंग में हो सकता है अथवा मन के स्वभाव या बुद्धि की प्रखरता में। परन्तु, जीवन तत्त्व तो सबमें सदा एक ही होता है।

इसलिए, इस श्लोक में कहा गया है कि विद्या-विनय-युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, श्वान और चाण्डाल – इन सबकी ओर आत्मप्रज्ञा प्राप्त पण्डित पुरुष समदृष्टि से देखता है। सब उपाधियों में एक ही परम सत्य विराजमान है।

आत्मसाक्षात्कार का मुख्य लक्षण है – समदर्शन। ज्ञानी पुरुष अपने व्यक्तिगत रागद्वेष के आधार पर भेद नहीं करता। आत्मरूप से अनुभव किये परम सत्य को ही विभिन्न नामरूपों में व्यक्त देखता है।

इस श्लोक के सन्दर्भ में श्री शंकराचार्य गौतम–स्मृति को उद्धृत करते हुए एक शंका उठाते हैं, जिसका निराकरण अगले श्लोक में किया गया है। उस स्मृति ग्रन्थ के अनुसार, जैसे पूजनीय व्यक्ति का अनादर करना दोषयुक्त है, वैसे ही अनादरणीय व्यक्ति का सम्मान करने में भी उतना ही दोष है। स्मृति के इस कथन की दृष्टि से, ब्राह्मण के समान ही श्वान को आदर देना अथवा जो अनादर श्वान का किया जाता है, उतना ही असम्मान एक श्रेष्ठ ब्राह्मण का करना – ये दोनों ही पापपूर्ण कर्म होंगे। परन्तु समदर्शी पुरुष इस दोष से सर्वथा मुक्त होते हैं। उसका कारण यह है कि :

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

जिनका मन समत्वभाव में स्थित है, उनके द्वारा यहीं पर यह सर्ग जीत लिया जाता है; क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है इसलिये वे ब्रह्म में ही स्थित हैं ॥१९॥

इस श्लोक में प्रायः सम्पूर्ण शास्त्र को ही गागर में सागर की भाँति भर दिया गया है। प्रस्तुत प्रकरण के सन्दर्भ में सर्वप्रथम यह दर्शाना आवश्यक था कि

पूर्व श्लोक में वर्णित समदर्शनरूप पूर्णत्व कोई ऐसा दैवी आदर्श नहीं जिसकी प्राप्ति या अनुभूति देहत्याग के पश्चात् स्वर्ग नामक किसी लोक विशेष में होगी। पुराणों तथा यहूदी धर्मों में धर्म साधना और जीवन का लक्ष्य स्वर्गप्राप्ति ही बताया गया है। एक बुद्धिमान एवं विचारशील पुरुष को स्वर्ग का आश्वासन एक आकर्षक माया-जाल से अधिक कुछ प्रतीत नहीं होता। ऐसे अस्पष्ट और अज्ञात लक्ष्य की प्राप्ति के लिये बुद्धिमान् पुरुष को प्रोत्साहित नहीं किया जा सकता। उसमें उस लक्ष्य के प्रति न उत्साह होगा और न लगन।

स्वर्ग प्राप्ति के आश्वासन के विपरीत, यहां वेदान्त में स्पष्ट घोषणा की गयी है कि जीव का संसार यहीं पर समाप्त होकर वह अपनें अनन्त स्वरूप का साक्षात् अनुभव कर सकता है। आत्मानुभूति का यह लक्ष्य मृत्यु के पश्चात् प्राप्य नहीं, वरन् इसी जीवन में, इसी देह में और इसी लोक में प्राप्त करने योग्य है। जीवभाव की परिच्छिन्नताओं से ऊपर उठकर मनुष्य ईश्वरानुभूति में स्थित रह सकता है।

जीवत्व से ईश्वरत्व तक आरोहण करने में कौन समर्थ है? किस उपाय से संसार बन्धनों से मुक्ति पायी जा सकती है? इस श्लोक में केवल जीवन के लक्ष्य का ही नहीं बल्कि तत्प्राप्ति के लिये साधन का भी संकेत किया गया है। भगवान् कहते हैं कि "जिनका मन समत्वभाव में स्थित है, वे ब्रह्म में स्थित हैं।"

पतंजलि मुनि इसी बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहते हैं कि–'योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः' अर्थात् 'चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं'। जहाँ मन की वृत्तियों का पूर्ण निरोध हुआ वहां मन का अस्तित्व ही समाप्त समझना चाहिए। मन ही वह उपाधि है, जिसमें व्यक्त चैतन्य जीव या अहंकार के रूप में प्रकट होकर स्वयं को सम्पूर्ण जगत् से भिन्न मानता है। अतः, मन के नष्ट होने पर अहंकार और उसके संसार का भी नाश अवश्यंभावी है। सांसारिक दुःखों से मुक्त जीव अनुभव करता है कि वह परमात्मस्वरूप से भिन्न नहीं। इस स्वरूपानुभूति के बिना पूर्व श्लोक में कथित समदर्शित्व प्राप्त नहीं हो सकता।

भगवान् कहते हैं कि 'जिसने सर्ग (जन्मादिरूप संसार) को जीत लिया और जिसका मन समस्त परिस्थितियों में समभाव में स्थित रहता है, वह पुरुष निश्चय ही ब्रह्म में स्थित हैं'। प्रथम बार अध्ययन करने पर यह कथन अयुक्तिक प्रतीत हो सकता है। इसलिये, भगवान् इसका कारण बताते हैं 'क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है'।

ब्रह्म सर्वत्र समानरूप से व्याप्त है। सब घटनाएं 'उसमें' हीं घटती हैं, परन्तु 'उसको' कोई विकार प्राप्त नहीं होता। सत्य सदैव नदी के तल के समान अपरिवर्तित रहता है, जबकि उसका जल प्रवाह सदैव चंचल रहता है। अधिष्ठान सदा अविकारी

रहता है, परन्तु अध्यस्त (कल्पित) अथवा व्यक्त हुई सृष्टि का स्वभाव है–नित्य परिवर्तनशीलता। जीव देहादि के साथ तादात्म्य करके इन परिवर्तनों का शिकार बन जाता है, जबकि अधिष्ठानरूप आत्मा नित्य अपरिवर्तनशील और एक समान रहता है।

जो व्यक्ति मनुष्य को विचलित कर देने वाली समस्त परिस्थितियों में अविचलित और समभाव रहता है, उसने निश्चय ही, अधिष्ठान में स्थिति प्राप्त कर ली हैं। समुद्र की लहरों पर बढ़ती हुई लकड़ी इतस्ततः भटकती रह सकती है, लेकिन दृढ़ चट्टानों पर निर्मित दीपस्तम्भ अविचल खड़ा रहता है। तूफान उसके चरणों से टकराकर अपना क्रोध शान्त करते रहते हैं। इसलिए भगवान् का कथन युक्तियुक्त ही है कि समत्वभाव में स्थित पुरुष ब्रह्म में ही स्थित है।

इसलिए,

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

जो स्थिरबुद्धि, संमोहरहित ब्रह्मवित् पुरुष ब्रह्म में स्थित है, वह प्रिय वस्तु को प्राप्त होकर हर्षित नहीं होता और अप्रिय को पाकर उद्विग्न नहीं होता ॥२०॥

एक कुशल चितेरा अपने सुन्दरतम चित्र को पूर्णता और सुन्दरता प्रदान करने के लिये चित्र पटल पर अपनी तूलिका से बारम्बार रेखायें बनाता है और थोड़ी दूर हटकर उसका अवलोकन करता है। इसी प्रकार एक कुशल और श्रेष्ठ चित्रकार के समान भगवान् श्रीकृष्ण मनुष्य के हृदय पटल पर ज्ञानी पुरुष का शब्द चित्र अंकित करते हुए, उसमें ज्ञानी के मन के भावों का एवं गुणों का सुन्दर चित्रण करते हैं। अनेक श्लोकों के द्वारा ज्ञानी पुरुष का वर्णन करने में भगवान का एक मात्र उद्देश्य यह है कि एक सामान्य पुरुष भी ज्ञानी के लक्षणों को स्पष्टरूप से समझ सके। वे स्पष्ट करते हैं कि महात्मा पुरुष कोई गंगा तट की निर्जीव पाषाणी प्रतिमा नहीं होता बल्कि वह ऐसा स्फूर्त, समर्थ और कुशल व्यक्ति होता है, जो अपनी पीढ़ी को प्रभावित करके उसका नवनिर्माण करता है।

बाह्य जगत् में घटित होने वाली घटनाओं के कारण नहीं वरन् उनके साथ अपने सम्बन्धों के कारण मनुष्य हर्ष से उत्तेजित अथवा दुःख से निराश होता है। महानगर में किसी एक व्यक्ति की मृत्यु से मनुष्य को दुःख नहीं होता; परन्तु उस मनुष्य के पिता की मृत्यु उसके लिए दुःखदायी घटना बन जाती है। इससे स्पष्ट

होता है कि किसी व्यक्ति की मृत्युमात्र दुःख का कारण नहीं बल्कि कारण तो मृत व्यक्ति के साथ का सम्बन्ध है। अपने मन के ऊपर विजय प्राप्त कर अनन्तस्वरूप में स्थित ब्रह्मवित् पुरुष प्रिय या अप्रिय को प्राप्त कर सुख या दुःख के आवेग में नहीं बह जाता। इसका अर्थ यह नहीं कि वह कोई लकड़ी के खिलौने या पत्थर की मूर्ति के समान जगत् में होने वाली घटनाओं को जानने में अथवा अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करनें में समर्थ नहीं होता। इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि ज्ञान के कारण उसे जो मन का समत्व प्राप्त होता है, उसे ये घटनाएँ प्रभावित अथवा विचलित नहीं कर सकती हैं।

तत्त्ववित् पुरुष की बुद्धि ज्ञान में स्थिर हो जाती है, क्योंकि अहंकार और तज्जनित मिथ्या धारणाओं के विष का उसमें सर्वथा अभाव होता है। जिस क्रम से ज्ञानी पुरुष के विशेषण यहां बताये हैं, उसका अध्ययन बड़ा रोचक है। प्रिय और अप्रिय वस्तुओं की उपस्थिति से जो अविचलित रहता है, वही 'स्थिरबुद्धि' पुरुष है। स्थिरबुद्धि पुरुष 'संमोहरहित' हो जाता है। जिसके मन में किसी प्रकार का मोह नहीं होता वही पुरुष ब्रह्मज्ञान का योग्य अधिकारी बनकर 'ब्रह्मवित्' हो जाता है। और ब्रह्मवित् पुरुष ब्रह्म ही बनकर स्वस्वरूप में स्थित होकर इस जगत् में विचरण करता है।

आगे कहते हैं :

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

बाह्य विषयों में आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला पुरुष आत्मा में ही सुख प्राप्त करता है; ब्रह्म के ध्यान में समाहित चित्तवाला पुरुष अक्षय सुख प्राप्त करता है ॥२१॥

पूर्व श्लोक से यह धारणा बनने की संभावना है कि आध्यात्मिक जीवन वह गति शून्य अस्तित्व है, जिसमें एक शुष्क हृदय का व्यक्ति बाह्य जगत् की आकर्षक एवं उत्तेजक वस्तुओं के सम्पर्क में आने पर भी मन के अपरिवर्तित समत्व के अतिरिक्त कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करता और न उसे कुछ विशेष अनुभव ही होता है। यदि वास्तविकता ऐसी ही होती, तो अधिकांश साधकों ने आध्यात्मिकता से तत्काल ही बिदा ले ली होती। बाह्य जगत् में विद्यमान परिच्छिन्नताओं एवं दोषों के होते हुए भी इस तथ्य को कौन नकार सकता है कि विषयोपभोग से, क्षणिक ही सही, आनन्द तो प्राप्त होता ही है ? क्यों कोई व्यक्ति स्वयं को असंख्य प्रकार के क्षणिक

आनन्दों से वंचित रखकर पत्थर के समान अचल अभेद्य समत्व की कामना करे ? फिर आप उस स्थिति को चाहे परम शान्ति कहें या ईश्वरत्व या और कुछ; नाम परिवर्तन से स्वयं वस्तु परिवर्तित नहीं हो जाती !

यह शंका कोई अतिशयोक्ति नहीं है। वेदान्त के विद्यार्थी प्रायः ऐसा प्रश्न करते हैं। कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति जिस किसी कार्य में प्रवृत्त होता है, तो उसका प्रयोजन या उपयोगिता जानना चाहता ही हैं। कोई भी गुरु शिष्यों के इन प्रश्नों की उपेक्षा नहीं कर सकते। जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण भी इस शंका का निवारण करते हुए अर्जुन को आश्वस्त करते हैं।

जो पुरुष बाह्य विषयों की आसक्ति से पूर्णतया मुक्त हो जाता है, वह आत्मा के स्वरूपभूत आनन्द का साक्षात् अनुभव करता है। यद्यपि आत्मोन्नति की साधना में वैराग्य की प्रधानता है, तथापि यह अनासक्ति हमें खोखली, निरर्थक शून्यावस्था को नहीं प्राप्ति कराती । सभी मिथ्या वस्तुओं का त्याग करने पर परमार्थ सत्य-स्वरूप पूर्ण परमात्मा को हम प्राप्त करते हैं। जब स्वप्नद्रष्टा स्वप्निल वस्तुओं तथा स्वप्न के व्यक्तित्व का त्याग कर देता है, तब वह कोई अभावरूप नहीं बन जाता वरन् वह अपने अधिक शक्तिशाली जाग्रत अवस्था के व्यक्तित्व को प्राप्त कर लेता है।

इसी प्रकार, जब कभी हम शरीर, मन और बुद्धि के साथ के अपने तादात्म्य से ऊपर उठ जाते हैं, तब हमें आत्मानुभूति का आनन्द प्राप्त होता है। यदि साधक केवल ध्यानाभ्यास के समय भी विषयासक्ति को त्याग कर हृदय से ब्रह्म का ध्यान करता है, तो वह अक्षय सुख का अनुभव करता है। हृदय का अर्थ है अन्तःकरण।

इस कारण से भी साधक को विषयोपभोग का त्याग करना चाहिए, क्योंकि–

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

हे कौन्तेय (इन्द्रिय तथा विषयों के) संयोग से उत्पन्न होने वाले जो भोग हैं वे दुःख के ही हेतु हैं, क्योंकि वे आदि अन्त वाले हैं। बुद्धिमान् पुरुष उनमें नहीं रमता ॥२२॥

आत्मा के अनन्त आनन्द का अनुभव करने के लिये हम साधक लोग भी विषयासक्ति से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं। एक सामान्य स्तर का बुद्धिमान्

पुरुष भी यदि जीवन के अनुभवों पर विचार करे, तो वह समझ सकता है कि अनित्य विषयों में सुख की खोज करना कोई लाभदायक व्यापार नहीं है। हमारे सभी अनुभवों में उपयोगिता के ह्रास का नियम समान रूप से कार्य करता है। जो वस्तु प्रारम्भ में सुख देती है, वही कुछ समय पश्चात् अत्यन्त दुःखदायी भी बन जाती है। भूखे न होने पर पहले और पच्चीसवें लड्डू को खाते समय हमारे क्या अनुभव होंगे, इसका प्रत्यक्ष प्रयोग करके देखा जा सकता है, जो इस मूलभूत सत्य को प्रमाणित करेगा कि वैषयिक उपभोग सदा ही दुःख के कारण होते हैं।

इन्द्रियोपभोग की वस्तुएँ उतनी ही सुन्दर एवं सुखदायक हो सकती हैं जितनी कि कुष्ठ रोगिणी कोई वेश्या, जो सौन्दर्य प्रसाधनों से सजधज कर किसी व्यापारिक नगरी की अन्धेरी संकरी गली में स्थित अपने कोठे पर अनजाने लोगों को लुभाने का प्रयत्न करती खड़ी रहती है। श्रीकृष्ण इस तथ्य को सुन्दर शैली में समझाते हुए कहते हैं कि ये वैषयिक सुख अनित्य होने के कारण विवेकी पुरुष को मोहित नहीं कर सकते।

बुद्धिमान् पुरुष पूर्णत्व प्राप्ति से ही सन्तुष्ट होता है। हम भौतिक परिच्छिन्न वस्तुओं के पीछे अधिक सन्तोष और आनन्द को पाने की आशा में दौड़-दौड़कर स्वयं को थका लेते हैं और उस झूठी आशा में न जाने कितने हीन कर्म भी करते हैं। जबकि वास्तविक शुद्ध, दिव्य और पूर्ण आनन्द केवल आत्मानुभूति के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

श्रेय मार्ग का एक और प्रतिपक्षी शत्रु है, जो सब अनर्थों का कारण तथा दुर्जेय है; इसलिये सबके परिहार के लिये प्रयत्नाधिक्य की आवश्यकता है। भगवान् कहते हैं :

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

जो मनुष्य इसी लोक में शरीर त्याग करने के पूर्व ही काम और क्रोध से उत्पन्न हुए वेग को सहन करने में समर्थ है, वह योगी (युक्त) और सुखी मनुष्य है ॥२३॥

भगवान् स्वयं अनुभव करते हैं कि उनके द्वारा ज्ञानी पुरुष का कुछ अत्यधिक उत्साह से किया हुआ वर्णन साधकों को असम्भव प्रतीत हो सकता है। कारण यह है कि मनुष्य का वर्तमान जीवन इतना अधिक दुःखपूर्ण और परावलम्बी है कि साधारण मनुष्य पूर्ण आनन्द के जीवन की कल्पना तक नहीं कर सकता। यदि कोई दर्शन

ऐसा आदर्शवादी है जिसका हम व्यावहारिक जगत् से कोई सम्बन्ध ही न हो, तो वह केवल एक मनोरंजक कल्पना तो हो सकता है, परन्तु मनुष्य को श्रेष्ठतर बनाने की सामर्थ्य उसमें नहीं होगी।

ऐसी त्रुटिपूर्ण धारणा को दूर करने के लिये श्रीकृष्ण सभी साधकों को यह कह कर आश्वस्त करते हैं कि आवश्यक प्रयत्नों के द्वारा इस आनन्दपूर्ण जीवन को इसी लोक में रहकर जिया जा सकता है।

मेरे पितामह एक महान् वीणा वादक थे। आज तक उनकी वीणा घर में सुरक्षित रखी है। संगीत से मेरा भी प्रारम्भिक परिचय होने के कारण एक दिन अचानक मन में विचार आया कि "क्यों न पितामह की वीणा का उपयोग कर रातो-रात महान् संगीतज्ञ बना जाँय ?" यह विचार कर यदि उस वीणा को उसी स्थिति में मैं बजाने का प्रयत्न करूँ, तो उसमें से शुद्ध संगीत नहीं सुनाई पड़ सकता और हो सकता है उसके साथ अधिक खिलवाड़ करने से वह टूट ही जाय। उस वाद्य का उपयोग करने के पूर्व आवश्यकता है उसे स्वच्छ करने की, उसके तार बदलने और उसे स्वर में मिलाने की। इन सबके सुव्यवस्थित होने पर उसी वीणा पर मधुर संगीत सुना जा सकता है। ठीक इसी प्रकार, अनादिकाल से उपेक्षित हमारा अन्तःकरण इस योग्य नहीं रहा है कि पूर्णत्व के गान को वह गा सके। अब, हमको चाहिये कि साधनाभ्यास से उसे शुद्ध और सुव्यवस्थित करें, जिससे उसमें पूर्ण आनन्द की अनुभूति हो और वह आनन्द उसके माध्यम से व्यक्त हो सके।

अन्तःकरण को पुनर्व्यवस्थित करने की विधि का वर्णन यहाँ भगवान् संक्षेप में किन्तु सुन्दर ढंग से कर रहे हैं। कभी-कभी उनके कथन की संक्षिप्तता और सरलता ही उनके गंभीर अभिप्राय को समझने में बाधक-सी बन जाती है। उनके उपदेश में सरलता का आभास होता है, परन्तु अर्थ गाम्भीर्य रहता है। "काम और क्रोध के वेग को सहन करो" और फिर वह व्यक्ति इसी जगत् और जीवन में योगी और सुखी है।

सिगमण्ड फ्रायड के आधुनिक विद्यार्थियों तथा अन्य पुरुषों को भगवान् का कथन अवैज्ञानिक और रूक्ष उत्साह का प्रतीक प्रतीत हो सकता है। इसका कारण केवल यही है कि मानव व्यवहार तथा मनोविज्ञान की सतही बातों से उनके मन में अनेक धारणाएँ बन चुकी होती हैं, पूर्वाग्रह दृढ़ हो गये होते हैं। परन्तु, उक्त विचार की सम्यक् समीक्षा करने पर हम देखेंगे कि उसमें जीवन को सुखपूर्ण बनाने के लिए अत्यन्त उपयोगी सुझाव दिये गये हैं।

बुद्धिरूपी पर्वत शृंग से नीचे की ओर तीव्रगति से सरकती हुई विचारों की हिमराशि का नाम है 'कामना', जो हृदयरूपी घाटियों से गुजरती हुई बाह्य जगत् में

स्थित प्रिय विषय की ओर अग्रसर होती है। जब विचाररूपी हिमराशि के फिसलन मार्ग पर शक्तिशाली अवरोधक लगा दिया जाता है तब उस अवरोधक तक शीघ्र ही पहुंचकर छिन्न-भिन्न होकर वह आत्मविनाश रूप धारण करती है, जिसे कहते हैं 'क्रोध'। 'काम' और 'क्रोध' यही दो वृत्तियां हैं जो साधारणतः हमारे मन में अत्यन्त विक्षेप या क्षोभ उत्पन्न करती हैं। कामना की तीव्रता जितनी अधिक होती है, उसमें विघ्न आने पर, क्रोध का रूप भी उतना ही भयंकर होता है।

मनुष्य विषयों की कामना केवल सुखप्राप्ति के लिये ही करता है। जिस व्यक्ति ने यह समझ लिया कि विषयों में सुख नहीं होता और आनन्द तो स्वयं का आत्मस्वरूप ही है वह व्यक्ति इन उपभोगों से विरक्त होकर स्वरूप में ही स्थित होने का प्रयत्न करेगा। ऐसे व्यक्ति के मन में विषयों की कामनाएं नहीं होंगी और स्वाभाविक है कि उनके अभाव में क्रोध उत्पन्न होने के लिए कारण ही नहीं रह जायेगा। जिसने इन दो शक्तिशाली एवं दुर्जेय वृत्तियों को अपने वश में कर लिया है, वही एक पुरुष इस जगत् के प्रलोभनों में स्वतन्त्ररूप से अप्रभावित रह सकता है। वही वास्तव में सुखी पुरुष है।

अर्जुन के माध्यम से भगवान् का हम सबके लिए यही उपदेश है कि हमें काम और क्रोध को जीतने का प्रयत्न करना चाहिये। उनका आश्वासन है कि इन पर विजय प्राप्त करने पर हम इसी जगत् और जीवन में परमानन्द का अनुभव कर सकते हैं।

किन गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ब्रह्म में स्थित होता है? भगवान् कहते हैं :

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

जो पुरुष अन्तरात्मा में ही सुख वाला, आत्मा में ही आराम वाला तथा आत्मा में ही ज्ञान वाला है, वह योगी ब्रह्मरूप बनकर ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् परम मोक्ष को प्राप्त होता है ॥२४॥

सामान्यतः मनुष्य केवल तीन प्रकार के सुख जानता है – शारीरिक उपभोगों का सुख तथा भावनाओं एवं विचारों का आनन्द। उपर्युक्त तीन श्लोकों से यह बात स्पष्ट होती है कि तत्त्ववित् पुरुष का आनन्द तो इनसे भिन्न स्वरूप में ही होता है। अतः काम और क्रोध से मुक्त, आत्मानन्द में स्थित पुरुष ही योगी है, वही वास्तव में सुखी भी है।

हम विश्वास नहीं कर पाते कि सामान्यतया सर्वविदित सुख के साधनों को

त्यागने पर भी ज्ञानी की उपर्युक्त वर्णित स्थिति में कोई सुख या सन्तोष भी हो सकता है। सब प्रकार के भोजनों का त्याग करने पर भोजन का आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है ?

यह भी बात तर्क और अनुभव के विरुद्ध है कि मनुष्य कभी अन्धकारमय शून्यावस्थामात्र से सन्तुष्ट हो सकता है। प्राणिमात्र दिनरात अपने-अपने कार्य क्षेत्रों में कार्यरत दिखाई देते हैं। किस वस्तु को प्राप्त करने के लिए उनका यह परिश्रम है ? उत्तर केवल एक है – अधिक-से-अधिक सुख एवं सन्तोष की प्राप्ति के लिए। 'सब दुःखों के अभावमात्र' की स्थिति भी–जैसे निद्रावस्था-आनन्द का शिखर नहीं कही जा सकती जिसे प्राप्त कर मनुष्य पूर्ण सन्तोष का अनुभव कर सकता है।

इन कारणों से ज्ञानी के विषय में कहे हुये भगवान् के वचन को अतिशयोक्ति ही माना जायेगा। इस श्लोक में ऐसी ही विपरीत धारणा को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। जब जीव मिथ्या और अनित्य वस्तुओं को त्यागकर आत्मस्वरूप को पहचानता है, तब वह कोई शून्यावस्था नहीं बल्कि आत्मा के द्वारा आत्मा में ही आत्मानन्द की अनुभूति की स्थिति है।

आध्यात्मिक साधना में उपदिष्ट विषयों से वैराग्य कोई दुःख का कारण नहीं है, वरन् उसके द्वारा साधक निश्चयात्मकरूप से सुखशान्ति प्राप्त करता है। यह स्वरूपानुभव का आन्तरिक आनन्द नित्य बना रहता है न कि वैषयिक सुखों के समान क्षणमात्र। आत्मोन्नति के मार्ग में अग्रसर साधक 'अन्तःसुख' और 'अन्तराराम' बन जाता है। उसका आनन्द बाह्य विषय निरपेक्ष होता है। उसका हृदय सदैव चैतन्य के प्रकाश से आलोकित रहता है।

आत्मानुभूति में स्थित यह पुरुष ब्रह्मवित् कहलाता है। ब्रह्म को जानकर वह स्वयं ब्रह्मस्वरूप बनकर परम मोक्ष को प्राप्त होता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

वे ऋषिगण मोक्ष को प्राप्त होते हैं–जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, जो छिन्नसंशय, संयमी और भूतमात्र के हित में रमने वाले हैं ॥२५॥

जितेन्द्रिय होकर जब मनुष्य साधनाभ्यास करता है, तब वह अपने मन की सभी पापपूर्ण वासनाओं को धो डालता है, जिन्होंनें आत्मस्वरूप को आवृत्त कर रखा है और जिसके कारण सत्य के विषय में असंख्य संशय उत्पन्न होते हैं। मन के शुद्ध

होने पर आत्मानुभव सहजसिद्ध हो जाता है। आत्मज्ञान का उदय होने के साथ ही आवरण और विक्षेप रूप अज्ञान की आत्यंतिक निवृत्ति होकर स्वरूप में अवस्थान प्राप्त हो जाता है।

विकास के सर्वोच्च शिखर–आत्मस्थिति को प्राप्त करने के पश्चात् देह त्याग तक ज्ञानी पुरुष का क्या कर्तव्य होता है ? इस विषय में सामान्य धारणा यह है कि वह जगत् में विक्षिप्त के समान अथवा पाषाण प्रतिमा के समान रहेगा; दिन में कम-से-कम एक बार भोजन करेगा और घूमता रहेगा। लोग ऐसे पुरुष को समाज पर भार समझते हैं। परन्तु वेदों में मनुष्य के लिये कोई "जीवित प्रेत" का लक्ष्य नहीं बताया गया है और न ऋषियों ने कभी ऐसे लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्न किया है।

आत्मसाक्षात्कार कोई दैवनिर्धारित शव-गर्त की ओर धीरे-धीरे बढ़ने वाला दुखद संचलन नहीं, वरन् 'सत्य के राजप्रासाद तक पहुँचने की सुखद यात्रा है। यह सत्य जीव का स्वयं सिद्ध स्वरूप ही है, जिसके अज्ञान से वह अपने से ही दूर भटक गया था। आत्मानुभव में स्थित ज्ञानी पुरुष का सम्पूर्ण जीवन मनुष्यों का आत्म अज्ञान दूर करने और आत्मवैभव को प्रकट करने में समर्पित होता है। इसका संकेत भगवान् के शब्दों में "सर्वभूत हिते रता:" के द्वारा किया गया है।

यह लोक सेवा उसका स्वनिर्धारित कार्य और मनोरंजन दोनों ही है। उपाधियों के द्वारा सब की सेवा में अपने को समर्पित करते हुए ज्ञानी पुरुष स्वयं अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित रहता है।

भगवान् आगे कहते हैं।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

काम और क्रोध से रहित, संयतचित्त वाले तथा आत्मा को जानने वाले यतियों के लिये सब ओर मोक्ष (या ब्रह्मानन्द) विद्यमान रहता है ॥२६॥

इस आसुरी युग में लोगों को दैवी जीवन जीने की प्रेरणा देने, प्राणि मात्र के प्रति हृदय में उमड़ते प्रेम के कारण वेश्या को पापमुक्त अथवा कोढ़ी को रोग मुक्त करने, अंधकार को प्रकाशित करके अज्ञानियों का पथप्रदर्शन करने का समाज सेवा का कार्य करते हुए ज्ञानी पुरुष स्वयं अपने दिव्य स्वरूप में स्थित समाज की अशुद्धियों से लिप्त नहीं होता। जैसे एक चिकित्सक अस्वस्थ रोगियों का उपचार

उनके मध्य रहकर करता हुआ भी उनके रोगों से अछूता रहता है या उनके दुःखों से स्वयं भावावेश में नहीं आ जाता, वैसे ही दुःखार्त, कामुक, हीन वैषयिक प्रवृत्तियों के लोगों के मध्य रहकर भी ज्ञानी पुरुष को उनके अवगुणों का स्पर्श तक नहीं होता।

किस प्रकार सिद्ध पुरुष जगत् के प्रलोभनों में अपने मन का समत्व बनाये रख पाता है? – भगवान् कहते हैं, जो पुरुष अपने पुरुषार्थ के बल पर मन को काम और क्रोध की प्रवृत्तियों को विजित कर लेता है और शास्त्रों में उपदिष्ट दैवी जीवन के मार्ग का अनुसरण करता है वह आत्मज्ञान को प्राप्त करके इस समत्व को प्राप्त करता है, जिसे कोई भी वस्तु या परिस्थिति विचलित नहीं कर पाती। वह इसी जीवन में तथा देहत्याग के पश्चात् भी ब्रह्मानन्द में ही स्थित रहता है।

अब, भगवान् सम्यक् दर्शन के साक्षात् अन्तरंग साधन–ध्यानयोग का वर्णन अगले दो सूत्ररूप श्लोकों में करते हैं:

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

बाह्य विषयों को बाहर ही रखकर नेत्रों की दृष्टि को भ्रुकुटी के बीच में स्थित करके तथा नासिका में विचरने वाले प्राण और अपानवायु को सम करके, ॥२७॥

जिस पुरुष की इन्द्रियां, मन और बुद्धि संयत हैं, ऐसा जो मोक्ष परायण मुनि इच्छा, भय और क्रोध से रहित है, वह सदा मुक्त ही है ॥२८॥

सूत्रस्थानीय इन दो श्लोकों में भगवान् ने ध्यानयोग का संक्षेप में संकेत किया है, जिसका विस्तृत वर्णन अगले अध्याय में किया गया है। संस्कृत में ब्रह्म विद्या के ग्रन्थों की यह पारस्परिक शैली है कि प्रायः उसमें एक अध्याय के अन्तिम श्लोकों में आगामी अध्याय के विषय की प्रस्तावना प्रस्तुत की जाती है।

इन श्लोकों में ज्ञानी पुरुष के अर्थपूर्ण जीवन के सभी पक्षों का वर्णन मिलता है। वेदान्त के साधक पूर्णत्व का जीवन जीने के लिए सदैव उत्सुक एवं तत्पर रहते हैं। वे उन स्वप्न द्रष्टा पुरुषों के समान नहीं होते, जो किसी आदर्शवादी कल्पना-मात्र में रमना पसन्द करते हैं; बल्कि वे तो अत्यन्त व्यवहारकुशल, उपयोगी और प्रेरणा का जीवन जीना चाहते हैं। इसलिए, उन्हें अव्यावहारिक एवं आदर्शवादी तत्त्वज्ञान का कोई आकर्षण नहीं होता।

पूर्णरूप से मन का समत्व कैसे प्राप्त किया जाय ? यह शंका सभी साधकों के मन में उठती है। श्रीकृष्ण यहां संक्षेप में ही उस साधन क्रम का वर्णन करते हैं, जिसके अभ्यास से सिद्ध पुरुष के सुसंगठित व्यक्तित्व को प्राप्त किया जा सकता है। इसी का विस्तार अगले अध्याय में है।

बाह्य विषयों की स्वयं में यह सामर्थ्य नहीं कि वे किसी व्यक्ति को क्षुब्ध या लुब्ध कर सकें। विक्षेप का होना तो उनके साथ के हमारे संबंध पर निर्भर करता है। समुद्र तट पर खड़े होकर उसमें उठती उत्ताल तरंगों को देखने मात्र से कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती; किन्तु समुद्र में कूद पड़ने पर तरंगों के द्वारा हमें इधर-उधर फेंका जाना प्रारम्भ होता है। शब्द, स्पर्श, रूप आदि ग्रहण करने पर विक्षेप तभी होता है जब हम अपने मन की परिवर्तनशील परिस्थितियों से तादात्म्य करते हैं। इसलिये, यदि हम बाह्य विषयों को बाहर ही रख सकें, तो निश्चय ही ध्यानाभ्यास के लिए आवश्यक मनःशान्ति प्राप्त की जा सकती है। यहां विषयों को बाहर रखने का अर्थ यह नहीं कि हम अपनी इन्द्रियों का उपयोग करना बन्द कर दें। उसका तात्पर्य यह है कि हम विषयों का चिन्तन न करें। विचार द्वारा यह जानकर कि उनमें सुख नहीं होता, उनसे विरक्त हो जायें।

अनेक साधक गुरु के उपदेशों का शाब्दिक अर्थ लेकर विचित्र साधनाभ्यास करने लगते हैं। ध्यान के लिये वे नेत्रदृष्टि को भ्रुकुटियों के मध्य स्थिर करने का प्रयत्न करते हैं। यह तो उपदेश का अतिप्रसंग ही कहा जायेगा। जैसा कि श्री शङ्कराचार्य बताते हैं, यहाँ दृष्टि को 'मानो' भ्रुकुटियों के बीच स्थिर करना है, वास्तव में नहीं। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि भ्रुकुटियों के बीच दृष्टि को स्थिर करने की कल्पना से ४५° का कोण बनता है और यह स्थिति ध्यान के लिये अत्यन्त अनुकूल होती है।

हमारे श्वासोच्छ्वास की गति एवं मन की स्थिति के बीच अत्यन्त समीप का संबंध है। मन के क्षुब्ध होने पर श्वासोच्छ्वास की लय भी बिगड़कर असंयमित हो जाती है। यहां प्राणापान की गति को सम करने का उपदेश है, क्योंकि प्राणायाम मन को शान्त करने में उपयोगी होता है।

प्रथम तो शरीर तथा प्राण को सुव्यवस्थित करनें का उपदेश है और तत्पश्चात् मन और बुद्धि को। इन्द्रियों की भूख, मन की चंचलता और बुद्धि की अस्थिरता—इन सबको संयमित करने का एक मात्र उपाय है, मोक्ष को अपनें जीवन का परम लक्ष्य बनाना। लक्ष्य का निर्धारण करने पर समस्त कर्मों का उस लक्ष्य के प्रति ही अर्पण करना चाहिये। बुद्धि पर संयम होने का अर्थ इच्छा, भय और क्रोध से मुक्त हो जाना है।

उपर्युक्त तीनों गुणों में निकट का सम्बन्ध है। किसी अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की तीव्र लालसा को इच्छा कहते हैं। इच्छा के तीव्र होने पर वह वस्तु प्राप्त होगी अथवा नहीं इसका भय लगा रहता है और उसके प्राप्त हो जानें पर यह भय होता है कि 'कहीं यह खो न जाय'। जब व्यक्ति इस प्रकार भयभीत होता है, तब स्वाभाविक है कि उसके और उस वस्तु की प्राप्ति के बीच कोई विघ्न आ जाये, तब वह व्यक्ति क्रोधित हो जाता है। अतः तीनों पर विजय पाना, बुद्धि की सभी वृत्तियों को अपने वश में करना है। इस प्रकार, इन दो श्लोकों में वर्णित गुणों से सम्पन्न व्यक्ति, भगवान के शब्दों में, सदा मुक्त ही है।

इन गुणों के होने पर मुक्ति दूर नहीं रहती, इसलिए यहां भगवान् कहते हैं कि 'इच्छा, भय और क्रोध से रहित व्यक्ति मुक्त ही है'। व्यवहार में भी 'रोटी पकाना' इस प्रकार की शब्दावली प्रचलित है। किन्तु वास्तव में गूंथे हुए आटे को पकाया जाता है और न कि रोटी को। परन्तु हम उस वाक्य के अभिप्राय को समझते हैं। ठीक वैसे ही, यदि साधक सब साधन सम्पन्न होकर ध्यान का अभ्यास करे, तो सब मिथ्या धारणाओं से मुक्त होकर वह शीघ्र ही नित्यमुक्त आत्मा का साक्षात् अनुभव करता है।

इस प्रकार समाहितचित्त के पुरुष के लिए कौन सी वस्तु ज्ञेय और ध्येय है? इस सम्बन्ध में कहते हैं :

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

(साधक भक्त) मुझे यज्ञ और तपों का भोक्ता और सम्पूर्ण लोकों का महान् ईश्वर तथा भूतमात्र का सुहृद् (मित्र) जानकर शान्ति को प्राप्त होता है ॥२९॥

हमको सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भगवान् श्रीकृष्ण जब कभी स्वयं के लिए 'मैं' शब्द का प्रयोग करते हैं तब उनका अभिप्राय भूतमात्र के हृदय में वास करने वाली आत्मा से होता है और न कि देवकी पुत्र शरीरधारी श्रीकृष्ण से। अहकार का मूलस्वरूप शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा है, जो देहादि उपाधियों के साथ तादात्म्य के कारण कर्ता और भोक्ता के रूप में प्रतीत होता है। यज्ञ शब्द का अर्थ पहले भी बताया जा चुका है। गीता के अनुसार किसी भी कार्यक्षेत्र में निःस्वार्थभाव से विश्व कल्याण के लिये अर्पित किया गया कर्म यज्ञ कहलाता है। जिन शक्तियों का हम व्यर्थ में अपव्यय करते हैं, उनका आत्मसंयम के द्वारा संचय करना तप है। फिर इस तप का उपयोग आत्म प्राप्ति के लिए किया जाना चाहिए।

यह आत्मा वास्तव में सब देवों का देव–महेश्वर है। ज्ञान और कर्म के सम्पूर्ण व्यापारों के नियन्ता के अर्थ में यहां 'ईश्वर' शब्द प्रयुक्त किया गया है। शास्त्रों के अनुसार प्रत्येक कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय का एक-एक अधिष्ठाता देवता है। नेत्र से रूप-वर्ण, श्रोत्र से शब्द और इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के द्वारा भिन्न-भिन्न विषयों का ज्ञान होता है। इन दश इन्द्रियों का शासक और नियन्ता है–चैतन्य आत्मा। अतः श्रीकृष्ण यहां आत्मा को 'महेश्वर' विशेषण देते हैं।

इस लोक में हमारा अनुभव यह है कि किसी बड़े पद के शासकीय अधिकारी के पास पहुँचने में अत्यंत कठिनाई का सामना करना पड़ता है; और उसमें भी राजनीति सत्ता के सर्वोच्च पद पर आसीन व्यक्ति की ओर तो सामान्य जन भयमिश्रित आदर के साथ देखते हैं। सामान्य मनुष्य में तो उसके समीप जाने का साहस ही नहीं होता। परन्तु 'सर्वलोक महेश्वर' आत्मा के साथ यह बात नहीं है। भगवान् कहते हैं आत्मा सर्व प्राणियों का सुहृद (मित्र) है।

'मुझे (इस प्रकार) जानकर वह पुरुष शान्ति को प्राप्त होता है।' यहां 'जानकर' शब्द का अर्थ यह नहीं कि जैसे हम किसी फल या फूल को विषय रूप में उससे भिन्न रहकर जानते हैं वैसे ही श्रीकृष्ण को जानना है। 'ज्ञात्वा' शब्द से तात्पर्य है श्रीकृष्ण को आत्मरूप से अनुभव करना। यज्ञ और तपों के भोक्ता, महेश्वर और सुहृद् भगवान् श्रीकृष्ण को आत्मरूप से साक्षात् अनुभव करके साधक परम शान्ति को प्राप्त होता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पंचमोऽध्यायः ॥

ॐ इस प्रकार श्रीकृष्णार्जुनसंवाद के रूप में ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र स्वरूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् का कर्मसंन्यासयोग नामक पांचवा अध्याय समाप्त होता है।

ॐ

षष्ठ अध्याय

ध्यानयोग

ईश्वरीय काव्य गीता के कतिपय प्रसिद्ध व्याख्याकारों एवं अध्येताओं ने सम्पूर्ण गीता को तीन खण्डों में विभाजित किया है। उनके मतानुसार षट अध्यायी प्रत्येक खण्ड उपनिषद् के महावाक्य 'तत् त्वम् असि' ('वह तुम हो') के एक-एक पद का मुख्य रूप से विवेचन करता है। प्रथम छः अध्याय 'त्वम्' पद का निरूपण करते हैं और, इस प्रकार, इस अध्याय के साथ प्रथम षटाध्यायी का विवेच्य विषय समाप्त होता है।

जीव को अपने परिपूर्णस्वरूप का बोध कराना ही सभी उपनिषदों का प्रयोजन है। उनका प्रतिपाद्य है – जीव ब्रह्मैक्य। भगवान् ने द्वितीय अध्याय में अर्जुन को इसी ज्ञान का उपदेश दिया है, जिससे वह प्रायः अपरिचित ही था। उस अध्याय में श्रीकृष्ण ने स्थितप्रज्ञ पुरुष का जो सुन्दर, स्पष्ट एवं विस्तृत वर्णन किया उससे स्वाभाविक ही, साधक उत्साहित होकर उन उपायों और साधनाओं को जानना चाहेगा, जिनके द्वारा वह स्वयं भी ज्ञानी पुरुष की दिव्य ऊँचाइयों तक पहुँच सके।

गीता का उपदेश विशेष रूप से अर्जुन के लिये उस समय उपदिष्ट किया गया था। जब वह, एक सामान्य मनुष्य के समान, जीवन संघर्ष में आयी समस्याओं से भयभीत और भ्रमित हो गया था। मन की ऐसी व्याकुल अवस्था में ध्यान की अत्यन्त सूक्ष्म साधना का अभ्यास करना सम्भव ही नहीं हो सकता। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ध्यान की साधना केवल गिने-चुने साधकों के लिए ही है। यह सही है कि साधन सम्पन्न व्यक्ति इससे अधिक लाभान्वित होते हैं; अतः अपरिपक्व व्यक्तियों के लिए उन प्राथमिक साधनाओं को बताना आवश्यक है, जिनके अभ्यास से ध्यान के लिए आवश्यक गुणों का विकास करके प्रत्येक व्यक्ति पूर्णत्व की प्राप्ति कर सकता है।

आधुनिक वाक्पटु वेदान्ती लोग यह नहीं समझते कि व्यक्ति की आत्मिक उन्नति के लिए स्थूल से सूक्ष्मतर साधना का क्रम बताया जाता है। इस अज्ञान के कारण ही हिन्दुओं में यह विपरीत और मिथ्या धारणा फैल गयी कि वेदों में निहित

ज्ञान केवल कुछ विरले लोगों के लिये ही सुरक्षित है। परन्तु, यदि वेदों में ज्ञान प्राप्ति के लिए आवश्यक अन्तःकरण शुद्धि के लिए उपासना पद्धतियों का उपदेश न दिया गया होता, तो उनके उपदेश में अपूर्णता रह गयी होती। निष्कर्ष यह निकला कि ध्यान की साधना सर्वजनीन है, उसके लिए पूर्व तैयारी का होना आवश्यक है।

अर्जुन की मानसिक एवं बौद्धिक असमर्थता को देखते हुए श्रीकृष्ण यह जानते थे कि वह ध्यानाभ्यास के उपयुक्त नहीं था। अतः अन्तःकरण को सुसंगठित और शुद्ध करने के लिये उन्होंने अनेक प्राथमिक साधनाओं का उपदेश दिया। इस प्रकार, तृतीय अध्याय में हमें कर्मयोग का विस्तृत विवेचन मिलता है।

कर्म, कितनी ही श्रेष्ठ भावना से क्यों न किए गये हों वे कर्त्ता के अन्तःकरण में संस्कारजनित पीड़ा और अशांति अंकित करते ही हैं और मनुष्य को उनका फल भी भोगना पड़ता है। ज्ञानकर्मसंन्यास योग' नामक चतुर्थ अध्याय में भगवान् उन उपायों का वर्णन करते हैं, जिनके द्वारा वासनाओं का क्षय होता है और मानसिक शांति प्राप्त होती है, और कर्म बन्धनों को शिथिल किया जा सकता है। सिद्धान्त यह है कि यदि मनुष्य कर्म करते हुए कर्माध्यक्ष ईश्वर का स्मरण बनाये रखता है, तो सभी प्रकार की विषम परिस्थितियों में वह अपनी आन्तरिक शान्ति को बनाये रख सकता है।

परन्तु अर्जुन कुछ भ्रमित हो गया था। कारण यह था कि उसे उपदेश तो 'कर्म' करने के लिए दिया था जबकि उपदेश की परिसमाप्ति "कर्मसंन्यास" में की गयी थी। इसलिए, पांचवें अध्याय में "संन्यास का मार्ग" तथा कर्म करते हुए भी वासनाओं से मुक्त रहने का उपाय बताया गया था। वह उपाय है – यज्ञ की भावना से अर्थात् निःस्वार्थ भाव से सबके कल्याण के लिए कर्म करना। चतुर्थ अध्याय में इसका विस्तृत वर्णम किया गया है।

पांचवें अध्याय में एक ही लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये कर्मसंन्यास के दो उपाय बताये गए हैं। वे दो उपाय हैं : (क) कर्म में कर्तृत्वाभिमान का त्याग तथा (ख) कर्मफल में आसक्ति का त्याग। इन दोनों में से किसी एक का भी आश्रय लेने पर हम वासनाओं के बन्धन से मुक्त हो सकते हैं।

जो व्यक्ति भगवान के द्वारा उपदिष्ट साधना क्रम का सम्यक् अभ्यास करेगा, वह क्रियाशील होकर मन की ऐसी सजगता प्राप्त करेगा, जो आत्मचिन्तन एवं निदिध्यासन के लिये अत्यावश्यक है। अनुशासित और शुद्ध अन्तःकरण ही आत्मोन्नति के लिए अनुकूल साधन है।

आत्मविकास के चरम लक्ष्य को ध्यान के द्वारा किस प्रकार प्राप्त किया जा

सकता है यह इस अध्याय का विषय है। यहां प्रत्येक श्लोक पर पूर्ण विचार करके और उसके विश्लेषण द्वारा उसमें प्रतिपादित सिद्धान्त को समझने की आवश्यकता है, केवल विश्वास करके मान लेने की नहीं। अपने दोषों से ऊपर उठकर सदगुण एवं सामर्थ्य को प्राप्त करने के उपाय इसमें वर्णित हैं। मानसिक इतिहास के समस्त धर्मों के उपदेष्टाओं के द्वारा किसी न किसी रूप में ध्यान का उपदेश अपने शिष्यों को दिया गया है।

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

श्रीभगवान् ने कहा :

जो पुरुष कर्मफल पर आश्रित न होकर कर्तव्य कर्म करता है, वह संन्यासी और योगी है, न कि वह जिसने केवल अग्नि का और क्रियाओं का त्याग किया है॥१॥

प्रथम अध्याय में अर्जुन का विचार युद्धभूमि से पलायन करके संन्यास जीवन व्यतीत करने का था। उसे यह नहीं ज्ञात था कि निःस्वार्थ भाव से कर्म करने वाला कर्मयोगी पुरुष ही सबसे बड़ा संन्यासी है। स्वार्थ का त्याग किये बिना कर्म का आचरण अथवा उससे पलायन करने का अर्थ है, विश्व के सामंजस्य में अनर्थकारी हस्तक्षेप करना।

मन की अपरिपक्व स्थिति में जीवन संघर्ष से पलायन करके गंगा के किनारे शान्त वातावरण में ध्यानाभ्यास के लिये जाने से सामान्य स्तर के अच्छे मनुष्य का भी गंगा में पड़े पाषाण के स्तर तक पतन ही होगा ! इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के इस त्रुटिपूर्ण विचार की मानो हंसी उड़ाते हैं। परन्तु भगवान् के व्यंग में किसी प्रकार की कटुता नहीं है। हम आगे देखेंगे कि अर्जुन को स्वयं भी अपनी गलत धारणा पर हँसी आती है।

निदिध्यासन की सफलता के लिये आन्तरिक शक्तियों का विकास तथा उनका सही दिशा में उचित उपयोग करना अत्यन्त आवश्यक है। भगवान् ने इस अध्याय में हमारे मन के उद्देश्यों तथा भावनाओं में परिवर्तन लाने के लिये विशेष बल दिया है। इसके द्वारा हम आध्यात्मिक मार्ग में प्रवेश कर सकते हैं।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

हे पाण्डव ! जिसको (शास्त्रवित्) संन्यास कहते हैं, उसी को तुम योग समझो; क्योंकि संकल्पों को न त्यागने वाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता ॥२॥

भगवान्, यहाँ, पूर्वकथित विचार को ही दोहराते हैं, क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि अर्जुन को इस तथ्य का विस्मरण हो जाय कि संन्यास (कर्तृत्व का त्याग) और योग (फलासक्ति का त्याग) दोनों वास्तव में एक ही है। योग के द्वारा संन्यास की स्थिति तक पहुंचा जाता है; और मन में संन्यास की भावना के बिना योग के अभ्यास का विचार तक नहीं किया जा सकता। वास्तव में देखा जाय तो ये दोनों आध्यात्मिक पूर्णत्व रूपी सिक्के के दो पहलू हैं।

भगवान् के इस कथन पर, स्वाभाविक है कि अर्जुन ने उनकी ओर प्रश्नार्थक मुद्रा में देखा होगा। संन्यास और योग को एक ही कहने का क्या कारण है? भगवान् स्पष्ट करते हैं कि संकल्पों का संन्यास किये बिना योगाभ्यास में दृढ़ता नहीं आ सकती और उसके अभाव में आध्यात्मिक प्रगति भी नहीं हो सकती।

साधारणतः मनुष्य संकल्प विकल्प किये बिना नहीं रह सकता। वह भविष्य की सुन्दर-सुन्दर कल्पनाएं करता रहता है। हम स्वयं ही किसी एक परिच्छिन्न लक्ष्य को निर्धारित करके उसे पाने के लिये योजनाएं बनाते हैं और उस पर प्रयत्नशील हो जाते हैं। परन्तु अपनी योजनाओं को पूर्णतया कार्यान्वित करने के पूर्व ही मन की कभी न थकने वाली, क्रियाशील कल्पना शक्ति हमें नये लक्ष्य का निर्देश करती है, जो पूर्व निर्धारित लक्ष्य से सर्वथा भिन्न होता है।

जैसे ही हम उस नये लक्ष्य को पाने के लिये तत्पर हो जाते हैं, उसी समय फिर यह अनोखी कल्पना शक्ति अन्य विकल्प को उपस्थित कर देती है। इस प्रकार, प्रत्येक समय हमारा लक्ष्य तब तक ही निश्चित रहता है, जब तक उसे पाने के लिये हम प्रयत्न आरम्भ नहीं कर देते; यात्रा प्रारम्भ हुई कि गन्तव्य लुप्त।

संक्षेप में, विडम्बना यह है कि जब हमारे समक्ष लक्ष्य होता है, तब प्रयत्न का आरम्भ नहीं और जैसे ही हम प्रयत्नशील होते हैं, तो सामने कोई लक्ष्य ही नहीं दिखाई देता ! हमारे अन्तःकरण में जो सूक्ष्म शक्ति उन्मत्त स्वभाव को जन्म देती है, वह है निरंकुश संकल्पशक्ति।

यह तो स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि जब तक हम इस विनाशकारी संकल्प शक्ति को वश में करके विनष्ट नहीं कर देते तब तक हम भौतिक और आध्यात्मिक उपलब्धि को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इसे समझने के लिये किसी व्याख्याकार की सहायता की आवश्यकता नहीं है।

यह कहकर कि 'कोई भी' (कश्चन) पुरुष संकल्प के संन्यास के बिना योगी नहीं बन सकता, भगवान् यह दर्शाते हैं कि बिना संकल्प शक्ति के विनष्ट किये इस विषय में किसी प्रकार का समझौता नहीं हो सकता।

फलनिरपेक्ष कर्मयोग का अनुष्ठान ध्यानयोग का बहिरंग साधन है। अतः उसकी प्रशंसा करने के पश्चात् 'अब, भगवान् यह बताते रहे हैं कि किस प्रकार कर्मयोग ध्यान का साधन है :

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

योग में आरूढ़ होने की इच्छा वाले मुनि के लिये कर्म करना ही हेतु (साधन) कहा है और योगारूढ़ हो जाने पर उसी पुरुष के लिये शम को (शांति, संकल्प-संन्यास) साधन कहा है ॥३॥

ध्यानयोग पर आरूढ़ होनें के इच्छुक व्यक्ति के लिये प्रथम साधन कहा गया है – कर्म। जगत् में कर्तृत्व के अभिमान और फलासक्ति का त्याग करके कर्म करने से पूर्व संचित वासनाओं का क्षय होता है और नई वासनाएं उत्पन्न नहीं होती।

यहां योगारूढ़ होने के विषय को स्पष्ट करनें के लिये अश्वारोहण (घोड़े की सवारी) के अत्यन्त उपयुक्त रूपक का उपयोग किया गया है। जब मनुष्य किसी स्वच्छंद अश्व पर प्रथम बार सवार होने का प्रयत्न करता है, तब पहले तो वह अश्व ही उस पर सवार हो जाता है ! यदि कोई व्यक्ति युद्ध के अश्व को अपने पूर्णवश में करना चाहे, तो कुछ काल तक उसे उस अश्व पर सवार होने का अभ्यास करना पड़ता है। एक पैर को पायदान में रखकर जीन पर झूलते हुए दूसरे पैर को पृथ्वी से उठाकर (उछलकर) अश्व की पीठ पर बैठने और उसे अपने बश में करने के लिये प्रयत्न करना पड़ता है। एक बार उस पर सवार हो जाने के बाद उसे अपने वश में रखना सरल कार्य है, परन्तु तब तक अश्वारोही को उस अवस्था में से गुजरना पड़ता है, जब वह पूर्णरूप से न अश्व पर बैठा होता है और न पृथ्वी पर खड़ा होता है।

प्रारम्भ में हम केवल कर्म करने वाले होते हैं; अहंकार और स्वार्थ से प्रेरित हुए हम परिश्रम करते हैं, पसीना बहाते हैं, रोते हैं, हंसते हैं। जब व्यक्ति इस प्रकार के कर्मों से थक जाता है, तब वह मनोरूप अश्व पर आरूढ़ होना चाहता है। ऐसे ही व्यक्ति को कहते हैं "आरुरुक्ष" (आरूढ़ होने की इच्छा वाला)। वह पुरुष कर्म तो पूर्व के समान ही करता है, परन्तु अहंकार और स्वार्थ को त्यागकर। यज्ञ भावना

से किये गये कर्म वासनाओं को नष्ट करके अन्तःकरण को शुद्ध एवं सुसंगठित कर देते हैं। ऐसे शुद्धान्तःकरण वाले साधक को शनैः-शनैः कर्म से निवृत्त होकर ध्यान का अभ्यास अधिक करना चाहिए। जब वह मन पर विजय प्राप्त करके उसकी प्रवृत्तियों को अपने वश में कर लेता है, तब वह 'योगारूढ़' कहा जाता है। मन का समत्व प्राप्त योगारूढ़ व्यक्ति के लिए ज्ञानरूप शम अर्थात् शान्ति वह साधन है, जिसके द्वारा वह अपने पूर्णस्वरूप में स्थित हो सकता है।

इस प्रकार एक ही व्यक्ति के लिए उसके विकास की अवस्थाओं को देखते हुए कर्म और ध्यान की दो साधनाएं बतायी गयी हैं, जो परस्पर विरोधी नहीं है। एक अवस्था में निष्काम कर्मों का आचरण उपयुक्त है, तथापि कुछ काल के पश्चात् वह भी कभी-कभी मनुष्य की शांति को भंग करके उसे मानो पृथ्वी पर पटक देता है। दुग्ध चूर्ण को गर्म पानी में घोलकर बनाया हुआ पतला दूध एक छोटे से शिशु के लिये तो पुष्टिवर्धक होता है, परन्तु दूध की वह बोतल एक बड़े बालक के लिये पर्याप्त नहीं होती, जो दिन भर खेलता है और काम करता है। उसे मक्खन और रोटी की आवश्यकता होती है। किन्तु यही रोटी शिशु के लिये प्राणघातक सिद्ध हो सकती है।

इसी प्रकार, साधना की प्रारम्भिक अवस्था में निष्काम कर्म समीचीन है, परन्तु और अधिक विकसित हुए साधक को आवश्यक है–आत्मचिन्तनरूप निदिध्यासन। पहले 'अहंकार रहित कर्म' साधन है और तत्पश्चात् 'आत्मस्वरूप का ध्यान'। इस ध्यानाभ्यास की आवश्यकता तब तक होती है, जब तक साधक यह निश्चयात्मक रूप से अनुभव न कर ले कि शुद्ध आत्मा ही पारमार्थिक सत्यवस्तु है, न कि अहंकार। तत्पश्चात् वह कर्म करे अथवा न करे, उसे इस ज्ञान की विस्मृति नहीं होती।

इस प्रकार, आत्मोन्नति के मार्ग में कर्मों का एक निश्चित स्थान होना सिद्ध होता है और, उसी प्रकार, इसका उपदेश देने वाले मनीषियों की बुद्धिमत्ता भी प्रमाणित होती है।

कब यह साधक योगारूढ़ बन जाता है? उत्तर है:

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

जब (साधक) न इन्द्रियों के विषयों में और न कर्मों में आसक्त होता है तब सर्व संकल्पों के संन्यासी को योगारूढ़ कहा जाता है ॥४॥

स्वयं को साधनावस्था का अनुभव होने से एक साधक को आरुरुक्षु की स्थिति समझना कठिन नहीं है। साधक के लिए निष्काम कर्म साधन है। कर्मों का संन्यास तभी करना चाहिए जब मन के ऊपर पूर्ण संयम प्राप्त हो गया हो। इसके पूर्व ही कर्मों को त्यागना उतना ही हानिकारक होगा जितना कि योगारूढ़त्व की अवस्था को प्राप्त होने पर कर्मों से मन को क्षुब्ध करना। उस अवस्था में तो साधन है–शम। स्वाभाविक ही, योगारूढ़ के लक्षणों को जानने की उत्सुकता सभी साधकों के मन में उत्पन्न होती है।

इस श्लोक में, श्रीकृष्ण, मन रूपी अश्व पर आरूढ़ हुए पुरुष के बाह्य एवं आन्तरिक लक्षणों को दर्शाते हैं। उस पुरुष का एक लक्षण यह है कि वह मन से न इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होता है और न जगत् में किये जाने वाले कर्मों में। इस कथन का शाब्दिक अर्थ लेकर परमसत्य का विचित्र हास्यजनक चित्र खींचने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। इसका अभिप्राय, केवल इतना ही है कि ध्यानाभ्यास के समय साधक का मन विषयों तथा कर्मों से पूर्णतया निवृत्त होता है, जिससे वह एकाग्रचित्त से ध्यान करने में समर्थ होता है। मन के सहयोग के बिना इन्द्रियों की स्वयं ही विषयों की ओर प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यदि मन को आनन्दस्वरूप आत्मतत्त्व के ध्यान में लगाया जाय, तो उस निर्विषय आनन्द का अनुभव कर लेने के उपरान्त वह स्वयं ही विषयों के क्षणिक सुखों की खोज में नहीं भटकेगा। किसी धनवान् व्यक्ति का हृष्ट–पुष्ट पालतू कुत्ता स्थान-स्थान पर रखे कूड़ेदानों में अन्न के कणों को नहीं खोजता।

इन्द्रियों के भोग तथा कर्म से परावृत्त हुआ मन आत्मचिन्तन में स्थिर हो जाता है। यहां 'न अनुषज्जते' शब्द पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। 'सज्जते' को 'अनु' यह उपसर्ग लगाकर भगवान् यहां दर्शाते हैं कि उस पुरुष को विषयों से रंचमात्र भी आसक्ति नहीं होती।

उपर्युक्त स्थिति को प्राप्त होने पर भी संभव है कि साधक अपने मन में ही उठने वाले संकल्पों–विकल्पों से क्षुब्ध हो जाय। बाह्य जगत् के विक्षेपों की अपेक्षा इन संकल्पों से उत्पन्न विक्षेप अधिक भयंकर होते हैं। भगवान् कहते हैं कि योगारूढ़ पुरुष न केवल बाह्य विक्षेपों से मुक्त है, बल्कि इस संकल्प शक्ति के[1] विक्षेपों से भी।

---

१. काम जानामि ते मूलं संकल्पात्किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यसि ।।

"हे काम ! मैं तुम्हारे मूल को जानता हूँ। तुम संकल्प से उत्पन्न होते हो। अतः मैं संकल्प ही नहीं करूंगा, जिससे तुम उत्पन्न ही नहीं होगे।"

(महाभारत, शान्ति पर्व : १७७–२५)

स्पष्ट है कि ऐसे योगारूढ़ के लिए ध्यान की गति तीव्र करने के लिए शम की आवश्यकता होती है।

योगारूढ़ पुरुष अनर्थ रूप संसार से अपना उद्धार कर लेता है। इसलिये–

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

मनुष्य को अपने द्वारा अपना उद्धार करना चाहिये और अपना अधःपतन नहीं करना चाहिए; क्योंकि आत्मा ही आत्मा का मित्र है और आत्मा (मनुष्य स्वयं ही) आत्मा का (अपना) शत्रु है ॥५॥

शास्त्र के रूप में गीता का प्रयोजन सत्य का और केवल सत्य का ही प्रतिपादन करना है। यह बात और है कि किसी काल विशेष में लोगों की धारणाएँ कुछ अन्य प्रकार की बन गई हों। परन्तु सत्य के प्रतिपादन में समाज में प्रचलित मान्यताओं का कोई महत्त्व नहीं होता। यह प्रचलित मान्यता कि किसी बाह्य स्रोत, जैसे ईश्वर, की कृपा साधक की निरन्तर सहायता करके उसे साधन मार्ग में आगे बढ़ाती है, हानिकारक नहीं है; परन्तु इस मान्यता के साथ ही स्वयं का पुरुषार्थ भी होना पूर्ण सफलता के लिये आवश्यक है। 'मनुष्य को आत्मोद्धार अपने द्वारा ही करना चाहिये'–यह स्पष्ट घोषणा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण की है। यह कोई यमुना तट पर गोपियों के साथ रासलीला करते हुए आनन्दपूर्ण क्षणों में किया हुआ श्रीकृष्ण का मधुर विनोद नहीं वरन् समरांगण के चरम तनावपूर्ण क्षणों में अर्जुन को किया हुआ आह्वान है और अपने अवतार कार्य की परिपूर्णता भी है। यदि मनुष्य सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति चाहता है, तो उसको अपनी सुप्त आंतरिक शक्तियों को वर्तमान की हीन स्थिति से ऊँचा उठाना होगा और अपने शुद्ध स्वरूप को पहचानना होगा।

प्रत्येक मनुष्य के मन में एक आदर्श की कल्पना होती है। यद्यपि बौद्धिक स्तर पर वह उस आदर्श को स्पष्ट देखता है परन्तु, दुर्भाग्य से वह आदर्श सदा कल्पना में ही बना रहता है और व्यावहारिक जगत में वास्तविकता का रूप नहीं ले पाता। हो सकता है कि हम अपनी बुद्धि से यह जानते हों कि हमें क्या होना चाहिए, परन्तु व्यवहार में हम अपने ही आदर्श के सर्वथा विपरीत आचरण करते हैं। "आदर्श-मैं" और "वास्तविक-मैं" के बीच की खाई ही मनुष्य के पूर्णत्व से पतन का मापदण्ड है।

अधिकांश लोग अपने दोहरे व्यक्तित्व के विषय में अनभिज्ञ ही होते हैं। सामान्यतः हम अपने को आदर्श व्यक्ति समझते हैं, जबकि वास्तव में हम अनेक दोषों से

युक्त रहते हैं, किन्तु इसे हम स्वीकार नहीं करते । समाज में हम ऐसे व्यक्ति को भी देखते हैं, जो स्वयं अत्यन्त स्वार्थी होते हुए अपने पड़ोसी की अल्प-सी स्वार्थपरता की भी कटु आलोचना करता है ! दर्पण विहीन देश में संभव है कि एक वक्रदृष्टि का पुरुष दूसरे वक्रदृष्टि वाले पुरुष की खिल्ली उड़ायें, क्योंकि वह स्वयं नहीं जानता कि उसकी अपनी आंखे एक दूसरे के साथ कौन सा कोण बना रही हैं ।

ध्यानपूर्वक आत्मनिरीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि बौद्धिक स्तर पर हमारा आदर्श एक नैतिक, स्नेहपूर्ण और अनुशासित व्यक्ति का होता है, जो हम बनना भी चाहते हैं; किन्तु मन के भावनात्मक जगत् में हम अपनी ही आसक्तियों, राग और द्वेष, प्रेम और घृणा, काम और क्रोध के विकारों से पीड़ित होते हैं और फिर हम एक गली के सामान्य कुत्ते के समान व्यवहार करने लगते हैं, जो मांस मज्जारहित शुष्क हड्डी के लिये अपनी ही जाति के कुत्ते के साथ लड़ाई–झगड़ा करता रहता है !!

जब तक मनुष्य अपने इस दोहरे व्यक्तित्व के प्रति सजग नहीं होता, तब तक उसके लिये धर्म का कोई अर्थ या प्रयोजन नहीं होता । आदर्श और वास्तविकता के बीच की खाई को जिसने पहचान लिया और जो स्वयं का उद्धार करना चाहता है, उसके लिए जो साधन बताया जाता है, उसे धर्म कहते हैं ।

हमारा मन ही विनाशक है जो हमें विषय सुखों की ओर लुभाकर उनका दास बना देता है । मन ही है जो आदर्श को भूलकर निम्न प्रवृत्तियों को बढ़ावा देता है । ऐसे ही मन को बुद्धि के नियन्त्रण में लाना है, जो आत्मा को व्यक्त करनें की सर्वश्रेष्ठ उपाधि है । संक्षेप में, जब बुद्धि की विवेक सामर्थ्य के प्रभाव का उपयोग चंचल स्वभाव के विषयाभिमुख मन को संयमित करने में किया जाता है, तब वही मन श्रेष्ठ और दिव्य स्वरूप के साथ युक्त हो जाता है । जिस प्रक्रिया के द्वारा इस कार्य को सम्पन्न किया जाता है उसे आध्यात्मिक साधन कहते हैं ।

आत्मोद्धार का यह कार्य किसी को ठेका देकर नहीं कराया जा सकता ! प्रत्येक साधक को यह कार्य स्वयं ही करना होगा : 'यह अकेले, नितान्त अकेले चलने का मार्ग है ।' कोई भी गुरु इसका उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं ले सकता और न कोई शास्त्र इस मुक्ति का वचन दे सकता है; पूजा की कोई वेदी अपनें आशीर्वाद मात्र से निकृष्ट को उत्कृष्ट नहीं बना सकती । यह सत्य है कि आत्म-विकास के मार्ग में गुरु, शास्त्र और मन्दिर का अपना स्थान है, प्रयोजन है और प्रभाव भी है, तथापि अपने अवगुणों एवं मिथ्या धारणाओं से स्वयं को मुक्त करने का मुख्य कार्य, तो हमें स्वयं ही करना होगा ।

अब तक, भगवान् ने जो उपचार बताया, वह कुछ अंशों में, आधुनिक मनोविज्ञान में कहा जाने वाला आत्मनिरीक्षण का मार्ग है, जिसमें यह प्रयत्न किया जाता

है कि अपने दोषों को समझें, मिथ्या का त्याग करें, जहां तक सम्भव हो सके श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करें आदि। परन्तु यह आंशिक उपचार ही है, सम्पूर्ण नहीं।

यहाँ श्रीकृष्ण पूर्ण उपचार का वर्णन करते हैं। आत्मनिरीक्षण में निर्दिष्ट साधना को करना मात्र पर्याप्त नहीं है, वरन् हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि आन्तरिक राक्षस के राज्य पर जो कुछ विजय हम पाते हैं, उसे सुरक्षित रखें और न कि उसे पुन: लौटा दें। इस एक ही वाक्य में भगवान् हमें सावधान करते हैं 'आत्मा का पुन: अधपतन न होने दें।'

इस श्लोक की दूसरी पक्ति में एक महान् विचार को अत्यन्त सुन्दर शैली में व्यक्त किया गया है, जिसने व्यास जी को अमर बना दिया है। हम स्वयं ही अपने मित्र हैं और शत्रु भी। कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति अपने जीवन के अनुभवों पर विचार करके उक्त कथन की सत्यता को प्रमाणित कर सकता है। दर्शनशास्त्र की दृष्टि से इसका अभिप्राय गम्भीर है।

निम्नस्तर के मन का उत्थान संभव है यदि वह श्रेष्ठ गुणों के प्रभाव में आने के लिये तत्पर है। जिस मात्रा में वह सहयोग करेगा, उस मात्रा में ही उसका उत्थान भी होगा। चैतन्य आत्मा तो नित्य उपलब्ध है, जिससे चेतना पाकर मनुष्य अपना उत्थान अथवा पतन कर सकता है। दोनों विकल्प मनुष्य के समक्ष प्रस्तुत हैं। इनमें से वह किसे चुनता है, यह उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर करता है।

यहां एक प्रश्न मन में आ सकता है कि 'कौन सा पुरुष स्वयं का ही मित्र है और कौन सा पुरुष स्वयं का ही शत्रु ?' उत्तर है--

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

जिसने आत्मा (इन्द्रियां, आदि) को आत्मा के द्वारा जीत लिया है, उस पुरुष की आत्मा उसका मित्र होता है, परन्तु अजितेन्द्रिय के लिये आत्मा शत्रु के समान स्थित होता है ॥६॥

जिस मात्रा में जीव शरीर, मन और बुद्धि से तादात्म्य को त्यागता है, उस मात्रा में वह आत्मा के दिव्य प्रभाव से प्रभावित होता है। तब आत्मा उसका मित्र कहलाता है। वही मन जब बहिर्मुखी होकर विषयों में आसक्त होता है, तब मानो आत्मा उसका शत्रु होता है।

निष्कर्ष यह निकला कि चैतन्य आत्मा समान रूप से विद्यमान रहता है, परन्तु

मन की अन्तर्मुखी अथवा बहिर्मुखी प्रवृत्तियों की दृष्टि से वह मनुष्य का मित्र अथवा शत्रु कहलाता है। और यदि आत्मा शब्द का अर्थ 'मन' करें, तो अर्थ होगा कि संयमित मन मनुष्य का मित्र है और स्वेच्छाचारी उसका शत्रु। यह श्लोक पूर्व श्लोक के अर्थ को अधिक स्पष्ट करता है।

योगारूढ़ मनुष्य के पूर्णत्व की स्थिति को अगले श्लोक में बताया गया है :

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

शीत-उष्ण, सुख-दुःख तथा मान-अपमान में जो प्रशान्त रहता है, ऐसे जितात्मा पुरुष के लिये परमात्मा सम्यक् प्रकार से स्थित है, अर्थात् आत्मरूप से विद्यमान है ॥७॥

जब योगारूढ़ पुरुष आत्मचिन्तन में स्थित हो जाता है, तब उसमें वह क्षमता आ जाती है कि वह जीवन की सभी–अनुकूल और प्रतिकूल–परिस्थितियों में ध्यानाभ्यास की निरन्तरता बनाये रख सकता है। यहाँ दूसरी पंक्ति में स्पष्ट दर्शाया है कि बाह्य जगत् में कोई ऐसा पर्याप्त कारण नहीं रह जाता, जो उसे आत्मध्यान से विचलित कर सके।

शीत-उष्ण, सुख-दुःख तथा मान-अपमान – इन तीन द्वन्द्वों के द्वारा भगवान् सभी संभाव्य विघ्नों को सूचित करते हैं, जो मनुष्य के जीवन में आकर उसकी समता और शान्ति को भंग करने में समर्थ होते हैं।

शीत-उष्ण – इनका अनुभव स्थूल शरीर के स्तर पर होता है। शीत या उष्ण में हमारे मन के विचारों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे शीत से न सिकुड़ते हैं और न काँपते हैं; उसी प्रकार उष्णता से न वे अधिक व्यापक होते हैं और न उन्हें स्वेद आता है! ये सब लक्षण अरीर में ही दिखाई देते हैं, और इसलिये, "शीत-उष्ण इस द्वन्द्व के द्वारा वे सभी अनुभव बताये गये हैं, जो शरीर को होते हैं, जैसे–रोग, युवावस्था, वृद्धावस्था आदि।

सुख-दुःख–मन के स्तर पर प्राप्त होने वाले सभी अनुभवों को सुख-दुःख रूप द्वन्द्व से दर्शाया गया है। स्पष्ट है कि इनका अनुभव मन को होता है, शरीर को नहीं। प्रेम और घृणा, स्नेह और ईर्ष्या, करुणा और क्रूरता –ऐसी ही असंख्य प्रकार की भावनाएं मन में उठती रहती हैं, जो मनुष्य को विचलित कर देती हैं; परन्तु इनमें किसी में भी यह सामर्थ्य नहीं कि वह जितेन्द्रिय, संयमित पुरुष को किसी प्रकार की हानि पहुँचा सके।

मान-अपमान—के कारण यदि किसी साधक को विक्षेप होता है, तो उसके प्रति सहानुभूति दिखाने की कोई आवश्यकता नहीं। मान-अपमान की कल्पना बुद्धि की होती है और फिर मनुष्य अपनी कल्पना के अनुसार प्राप्त परिस्थितियों में प्रतिक्रिया व्यक्त करता है।

शरीर, मन और बुद्धि ये ही तीन उपाधियां हैं, जिनके द्वारा ही उपर्युक्त द्वन्द्वरूप विघ्न आने की संभावनायें रहती हैं। भगवान् कहते हैं कि प्रशान्त चित्त वाले जितेन्द्रिय पुरुष के लिये परमात्मा सदा ही आत्मभाव से विद्यमान रहता है। इन परिस्थितियों का उस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियां हों, अच्छा या बुरा वातावरण हो अथवा मूर्ख या बुद्धिमान् का साथ हो – आत्मज्ञानी पुरुष सदा प्रशान्त और समभाव से स्थित रहता है।

ऐसे ज्ञानी पुरुष की क्या विशेषता है? क्यों कोई पुरुष इस कठिन साधना का अभ्यास करे? भगवान कहते हैं? :

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥८॥

जो योगी ज्ञान और विज्ञान से तृप्त है, जो विकार रहित (कूटस्थ) और जितेन्द्रिय है, जिसको मिट्टी, पाषाण और कंचन समान है, वह (परमात्मा से) युक्त कहलाता है ॥८॥

शास्त्रोपदेश से ज्ञात आत्मा का जो निरन्तर ध्यान करता है, ऐसा आत्मसंयमी पुरुष शीघ्र ही दिव्य तृप्ति और आनन्द का अनुभव पाकर पूर्णयोगी बन जाता है। उसकी तृप्ति शास्त्रों के पाण्डित्य की नहीं, वरन् द्विव्य आत्मानुभूति की होती है, जो शास्त्राध्ययन के सन्तोष से कहीं अधिक उत्कृष्ट होती है।

श्री शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान का अर्थ है शास्त्रोक्त पदार्थों का परिज्ञान। और विज्ञान शास्त्र से ज्ञात तत्व का स्वानुभवकरण है। ज्ञान और विज्ञान के प्राप्त होने पर पुरुष का हृदय अलौकिक तृप्ति का अनुभव करता है।

अविचल (कूटस्थ) – वेदान्त में आत्मा को कूटस्थ कहा गया है। कूट का अर्थ है निहाई। लुहार तप्त लोहखण्ड को निहाई पर रख कर हथोड़े से उस पर चोट करके लोहखण्ड को विभिन्न आकार देता है। हथोड़े की चोट का प्रभाव लोहखण्ड पर तो पड़ता है, परन्तु निहाई पर नहीं। वह स्वयं अविचल रहते हुए लोहे को अनेक आकार देने के लिये आश्रय देती है। इस प्रकार कूटस्थ का अर्थ हुआ जो कूट के समान अविचल, अविकारी रहता है।

ज्ञानविज्ञान से सन्तुष्ट पुरुष कूटस्थ आत्मा को जानकर स्वयं भी सभी परिस्थितियों में कूटस्थ बन कर रहता है। वह समदर्शी बन जाता है। उसके लिए मिट्टी, पाषाण और सुवर्ण सब समान होते हैं; अर्थात् वह इन सबके प्रति समान भाव से रहता है। सामान्य जन इसमें रागद्वेषादि रखकर प्रिय-अप्रिय की प्राप्ति या हानि में सुखी या दुःखी होते हैं। ज्ञान का मापदण्ड यही है कि क्या इन वस्तुओं के प्राप्त होने पर पुरुष एक समान रहता है ?

स्वप्नावस्था में कोई पुरुष कितना ही धन अर्जित करे अथवा सम्पत्ति को खो दे, परन्तु जाग्रत अवस्था में आने पर स्वप्न में देखे हुए धन के लाभ या अलाभ का कोई अर्थ नहीं रह जाता। इसी प्रकार, उपाधियों के द्वारा अनुभूत जगत् के परे परमपूर्ण स्वरूप में स्थित पुरुष के लिये मिट्टी, पाषाण और सुवर्ण का कोई अर्थ नहीं रह जाता। वे उसके आनन्द में न वृद्धि कर सकते हैं और न क्षय। वह परमानन्द का एकमात्र स्वामी बन जाता है। स्वर्ग के कोषाधिपति कुबेर के लिये पृथ्वी का राज्य कोई बड़ी उपलब्धि नहीं कि वे हर्षोल्लास में झूम उठें।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।।९।।

जो पुरुष सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी और बान्धवों में तथा धर्मात्माओं में और पापियों में भी समान भाव वाला है, वह श्रेष्ठ है ।।९।।

पूर्व श्लोक में ज्ञानी पुरुष की जड़ वस्तुओं की ओर अवलोकन करने की दृष्टि का वर्णन किया गया है। परन्तु जगत् केवल जड़ वस्तुओं से ही नहीं बना है। उसमें चेतन प्राणी भी हैं। मानव मात्र के साथ ज्ञानी पुरुष किस भाव से रहेगा ? क्या उन्हें मिथ्या कहकर उनके अस्तित्व का निषेध कर देगा ? क्या जगत् के अधिष्ठान स्वरूप परमात्मा में स्थित होकर वह लोगों की सेवा के प्रति उदासीन रहेगा ? इन प्रश्नों का उत्तर इस श्लोक में दिया गया है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि ऐसा ज्ञानी पुरुष सभी मनुष्यों के साथ समान प्रेम भाव से रहता है, चाहे वे सुहृद् हों या मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, बन्धु, साधु हों या पापी। अपनी विशाल सहृदयता में वह सबका आलिंगन करता है। प्रेम और आदर-भाव से सबके साथ रहता है। उसकी दृष्टि में वे सभी समान महत्व पूर्ण हैं।

उसका प्रेम साधु और पापी उत्कृष्ट और निकृष्ट, में भेद नहीं करता। वह

जानता है कि आत्मस्वरूप के अज्ञान से ही पुरुष पापकर्म में प्रवृत्त होता है और अपने ही कर्मों से दुःख उठाता है। स्वामी रामतीर्थ इसे बड़ी सुन्दरता से व्यक्त करते हुए कहते हैं कि हम अपने "पापों से दण्डित होते हैं, न कि पापों के लिये।"

आत्मस्वरूप के अपरोक्ष अनुभव से वह यह पहचान लेता है कि एक ही आत्मा सर्वत्र व्याप्त है। अनेकता में एकता को वह जानता है और विश्व के सामञ्जस्य को पहचानता है। सर्वत्र व्याप्त आत्मस्वरूप का अनुभव कर लेने पर वह किसके साथ प्रेम करेगा और किससे घृणा? मनुष्य के शरीर के किसी भी अंग में पीड़ा होने पर सबकी ओर देखने का उसका भाव एक ही होता है, क्योंकि सम्पूर्ण शरीर में ही वह स्वयं व्याप्त है।

इस उत्तम फल को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को क्या करना चाहिये? उत्तर है–

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

शरीर और मन को संयमित किया हुआ योगी एकान्त स्थान में अकेला रहता हुआ आशा और परिग्रह से मुक्त होकर निरन्तर मन को आत्मा में स्थिर करे॥१०॥

महाभारत में स्पष्ट कहा गया है कि श्रीकृष्ण सर्वज्ञ ईश्वर के अवतार थे। इसीलिए उन्हें श्रीकृष्ण परमात्मा कहा गया है। वे यहाँ अर्जुन को आत्मोन्नति के साधन का उपदेश दे रहे हैं। अर्जुन उनका परम मित्र था। स्वयं भगवान् की मित्रता प्राप्त होने पर भी, महाभारत में किसी भी स्थान पर यह नहीं कहा गया है कि अर्जुन को स्वयं संघर्ष किये बिना आत्मविकास की प्राप्ति के लिए भगवान् कोई गुप्त साधन बतलायेंगे। जिसका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व श्रीकृष्ण के ऊपर होगा। इस श्लोक की प्रथम पंक्ति ही किसी ऐसी मिथ्या आशा को साधक के मन से दूर कर देती है। यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि योगी को निरन्तर मन को आत्मा में स्थिर करने का प्रयत्न करना चाहिए। ध्यानाभ्यास के द्वारा ही मनुष्य अपने दोषों से मुक्त होकर पूर्णत्व को प्राप्त हो सकता है।

ध्यानविधि की विस्तृत जानकारी यहाँ दी गयी है। ध्यान का अभ्यास एकांत में करने को कहा गया है। कुछ समय पहले भारत में 'एकान्त' शब्द पर इतना अधिक बल दिया गया कि ध्यान शब्द से ही लोगों के मन में उसके प्रति एक प्रकार का भय व्याप्त हो गया। एकान्त का अर्थ केवल जंगल या गुफा नहीं, वरन् बाह्य विषयों से मन को विमुख करना है। अपने ही घर में शान्त समय में एक आसन में बैठकर

ध्यान का अभ्यास किया जा सकता है।

वास्तविक एकान्त तो तभी प्राप्त होगा जब मन की विषयाभिमुखी प्रवृत्ति क्षीण होगी। मन इच्छाओं से परिपूर्ण होने पर निर्जन वन अथवा गुफा में जाने से भी मनुष्य विषयों का ही चिन्तन करता रहेगा और उसे एकान्त की प्राप्ति नहीं होगी। 'रहसि' अर्थात् एकान्त – इस शब्द के द्वारा यह सूचित करते हैं कि धर्म आत्म प्रचार का कोई साधन नहीं वरन् जीवन में उच्च मूल्यों को जीनें का सतत् प्रयत्न है, जिनका गोपन शैली में अभ्यास करना चाहिये। साधक को चाहिये कि वह पूरी लगन से विचारों को सही दिशा प्रदान कर लक्ष्य की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न करे।

दैनिक जीवन में ध्यानाभ्यास की सफलता साधक के आत्मसंयम पर निर्भर करती है। जब तक हम "वस्तुओं की प्राप्ति की आशा" तथा "वस्तुओं का संग्रह" (परिग्रह) करने की प्रवृत्ति से स्वयं को मुक्त करना नहीं सीखते तब तक वास्तविक अर्थ में आत्मसंयम सम्भव नहीं होता। अतः साधक को 'निराशीः' अर्थात् झूठी आशाओं से रहित तथा 'अपरिग्रहः' होना चाहिये।

उक्त गुणों से युक्त होकर जो साधक ध्यान का अभ्यास करता है, वह जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सही दिशा में आगे बढ़ता है।

अब, योगाभ्यास करने वाले साधक के लिए उपयोगी आसन, आहार, विहार आदि का नियम बताते हैं। सर्वप्रथम आसन का वर्णन करते हैं :

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ।।११।।

शुद्ध (स्वच्छ) भूमि में कुश, मृगछाला और उस पर वस्त्र रखा हो ऐसे अपने आसन को न अति ऊँचा और न अति नीचा स्थिर स्थापित करके॰॰ ।।११।।

परम शांति एवं समदृष्टि प्राप्त करने का साधन निदिध्यासन है, और इसलिए, आवश्यक है कि भगवान् यहां उस विधि का विस्तृत वर्णन करें। यहां कुछ श्लोकों में साधक के लिए आसन, साधन एवं ध्यान के फल को बताया गया है।

विचाराधीन श्लोक में स्थान एवं आसन का वर्णन है। "शुद्ध भूमि में" – बाह्य वातावरण एवं परिस्थितियों का मनुष्य के मन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। इसलिये ध्यानाभ्यास का स्थान शुद्ध एवं स्वच्छ होना चाहिये। मन की शुद्धि में भी वह उपयोगी होता है। व्याख्याकार बताते हैं कि वह स्थान मच्छर, मक्खी, चींटी,

खटमल आदि कृमि कीटों से रहित होना चाहिये, जो प्रारम्भ में साधक की एकाग्रता में बाधक हो सकते हैं।

आसन के विषय में कहते हैं कि वह स्थिर होना चाहिए। उसे न अति उँचा और न अति नीचा होना चाहिए। ऊँचे से तात्पर्य पर्वत की चोटी से है। ऐसे स्थान पर बैठने से साधक के मन में असुरक्षा का भय उत्पन्न हो सकता है और उस स्थिति में बाह्य जगत् से मन को हटाकर आत्मा में स्थिर करना अत्यन्त कठिन होगा। इसी प्रकार, नीचे का अर्थ है जमीन के अन्दर गुफा आदि। ऐसा स्थान गीला आदि होने से जोड़ों में पीड़ा होने की सम्भावना रहती है। ध्यानाभ्यास के समय हृदय की गति तथा रक्त प्रवाह का दबाव भी कुछ धीमा पड़ जाता है और तब नीचा स्थान और भी हानिकारक हो सकता है। इसलिए यहां कहा गया है कि ध्यान का स्थान न अति ऊँचा हो और न अति नीचा।

गीता में किसी भी विषय का वर्णन किया जाता है तो कोई भी बात अनकही नहीं रहती कि जिससे विद्यार्थी उसे स्वयं न समझ सके। ध्यानविधि का वर्णन इसका स्पष्ट उदाहरण है। कुश नामक घास के ऊपर मृगछाला बिछाकर उसके ऊपर स्वच्छ वस्त्र को बिछाने से उपयुक्त आसन बनता है। कुशा घास से भूमि के गीलेपन से सुरक्षा होती है। उसी प्रकार, ग्रीष्मकाल में मृगछाला के भी गर्म होने से साधक को स्वेद आने से एकाग्रता में बाधा आ सकती है। उसे दूर करने के लिये मृगचर्म पर वस्त्र बिछाने को कहा गया है। ऐसे उपयुक्त आसन पर बैठने के पश्चात् साधक को मन और बुद्धि से क्या करना चाहिये, इसका उपदेश अगले श्लोक में किया गया है।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

वहां (आसन में बैठकर) मन को एकाग्र करके, चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में किया हुआ आत्मशुद्धि के लिए योग का अभ्यास करे ॥१२॥

उपयुक्त आसन में बैठनामात्र योग नहीं है। बाह्य आसन तथा शरीर का विशेष स्थिति में बैठना मन की एकाग्रता के लिए उपयोगी अवश्य हो सकता है, किन्तु इतना ही करने मात्र से आत्मविकास के प्रति हम आश्वस्त नहीं हो सकते।

आसन में बैठने के पश्चात् अन्तःकरण के द्वारा किस प्रकार ध्यान करना चाहिये इसका निर्देश श्रीकृष्ण यहाँ देते है। प्रथम निर्देश मन को एकाग्र करने का है। किसी के गुरु के लिये इस भ्रमित पीढ़ी के किसी शिष्य के मन को एकाग्र करने का

उपदेश देना तो सरल है, परन्तु बिना ज्ञान के साधक को उपदेश का पालन करना सम्भव नहीं होता। अतः इस उपदेश के साथ ही उन व्याहारिक विधियों को भी बताना आवश्यक है, जिनके द्वारा यह एकाग्रता प्राप्त की जा सकती है। व्यावहारिक विधि के बिना वह उपदेश केवल आदर्श तत्त्वज्ञान बनकर रह जाता है। गीता की यही विशेषता है कि ज्ञान को जीवन के लिये व्यवहार्य बनाने में वह अनेक उपायों को भी बताती है।

मन की कल्पना शक्ति एवं इन्द्रियों के व्यापार को संयमित करने के लिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह एक उपाय है। एकाग्रता तो मन की वास्तविक सामर्थ्य है, परन्तु कभी-कभी अचानक प्राप्त हुई शान्ति को वह समझ नहीं पाता तब पूर्वार्जित अनुभवों के स्मरण से अथवा इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण से वह क्षुब्ध हो जाता है। इन्हीं संकल्पों के कारण एकाग्रता भंग हो जाती है। यदि चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं से होने वाले शान्ति के ह्रास को रोक दिया जाय, तो मन तत्काल और सहज ही एकाग्र हो जाता है। इस प्रकार बाह्य आसन में बैठ कर अन्तःकरण के द्वारा आत्मतत्त्व का ध्यान करना चाहिये।

ध्यानाभ्यास का प्रयोजन ज्ञात करने की सभी साधकों की स्वाभाविक इच्छा होती है। प्रचलित धारणा यह है कि हमें आत्मा का अनुभव उसी प्रकार होगा जैसे कि किसी दृश्य वस्तु का। परन्तु श्रीकृष्ण ऐसी धारणा को दूर करते हुये कहते हैं कि ध्यान का प्रयोजन है, आत्मशुद्धि अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि। मन का विक्षेप ही उसकी अशुद्धि कहलाती है। शास्त्रों का वचन है कि प्रतिदिन दृढ़ता से ध्यान का अभ्यास करने से चित्त शुद्ध हो जाता है और ऐसे ही शुद्ध और स्थिर अन्तःकरण में आत्मा का साक्षात् अनुभव होता है, जो स्वयंसिद्ध, नित्य उपलब्ध है। जैसे दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर अपनी पहचान होती है, उसी प्रकार यह ध्यान विधि भी है।

अब, अगले श्लोक में शरीर की स्थिति का वर्णन करते हैं:

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

काया, शिर और ग्रीवा को समान और अचल धारण किए हुए स्थिर होकर अपनी नासिका के अग्र भाग को देखकर अन्य दिशाओं को न देखता हुआ ॥१३॥

बाह्य आसन के उपरान्त मन को एकाग्र करने का उपदेश दिया गया है। अब, शरीर का आसन बताते हैं। साधक को इस प्रकार स्थिर होकर बैठना चाहिये कि उसका मेरुदण्ड शिर और ग्रीवा एक समान सरल लम्बरूप में रहे। जिस क्षैतिज आसन में साधक बैठता है, वह आधार और काया, शिर और ग्रीवा उस पर लम्ब रूप में होगी। दोनों हाँथों की उँगलियों को आपस में बांधकर गोद में रखे।[1] यहाँ विशेष रूप से कहा गया है कि शरीर को अचल रखना चाहिये।

अचल का अर्थ यह नहीं कि शरीर को तनाव की स्थिति में रखना है। शरीर की स्थिति सीधी लेकिन इस प्रकार तनाव रहित होनी चाहिये कि वह आगे-पीछे, दांये बांये हिले नहीं।

फिर, साधक अपनी नासिका के अग्र भाग को देखे। इस कथन का शाब्दिक अर्थ नहीं लेना चाहिये। अनेक साधक लोग नासिकाग्र पर दृष्टि स्थिर करके शीश पीड़ा, चक्कर, थकान, तनाव आदि रोगों को व्यर्थ मोल ले लेते हैं। शंकराचार्य स्पष्ट करते हैं कि 'मानो' नासिकाग्र को देखते हुये, न कि वास्तव में। यह नहीं कहा जा सकता कि शंकराचार्य ने अपनी बुद्धि से खींचतान कर ऐसा अर्थ किया है, क्योंकि भगवान् स्वयं अपने कथन को स्पष्ट करते हैं।

अन्य दिशाओं को न देखते हुए – श्रीकृष्ण के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नासिकाग्र को देखने का अभिप्राय यह है कि यहां-वहाँ देखकर साधक को अपनी एकाग्रता भंग नहीं करनी चाहिये। यह नियम है कि जहां हमारी दृष्टि जाती है, वहीं पर हमारा मन भी। यही कारण है कि भ्रमित अवस्था में मनुष्य की दृष्टि स्थिर नहीं रहती। दृष्टि की अस्थिरता मनुष्य के विचित्र, सन्देहास्पद व्यवहार का लक्षण है, और प्रमाण भी।

आगे कहते हैं :

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

(साधक को) प्रशान्त अन्तःकरण, निर्भय और ब्रह्मचर्य ब्रत में स्थित होकर, मन को संयमित करके चित्त को मुझमें लगाकर मुझे ही परम लक्ष्य समझकर बैठना चाहिए ॥१४॥

---

१. देखिये स्वामीजी की पुस्तक "ध्यान और जीवन"।

कुछ काल तक ध्यान का निरन्तर अभ्यास करने के फलस्वरूप साधक को अधिकाधिक शांति और सन्तोष का अनुभव होता है : अत्यन्त सूक्ष्म आंतरिक शांति को प्राप्त पुरुष को यहाँ प्रशान्तात्मा कहा गया है। आत्मा को अपने शुद्ध और दिव्य स्वरूप में व्यक्त होने के लिये प्रशांत अन्तःकरण ही अत्यन्त उपयुक्त माध्यम है।

ध्यानाभ्यास करने वाले साधक को केवल मानसिक भय के कारण आत्मानुभव की ऊँचाई नापने में कठिनाई होती है। शनैः शनैः योगी अपने मन की वैषयिक वासनाओं से मुक्त होता है और तदुपरांत, यदि उसमें आवश्यक साधन की परिपक्वता न हो तो, वह इस मन के अतीत आत्मतत्व के अनुभव से भयभीत हो जाता है। उसे लगता है कि वह 'शून्य' में विलीन हो रहा है। अनादिकाल से उपाधियों के साथ तादात्म्य करके जीवभाव में रहने से उसे विश्वास भी नहीं होता कि इन उपाधियों के परे किसी तत्त्व का अस्तित्व भी हो सकता है। यहाँ उन मछली बेचने वाली स्त्रियों की कथा का स्मरण होता है, जिन्हें किसी कारणवश फूलों की दूकान में एक रात व्यतीत करनी पड़ी। मछली की दुर्गन्ध की अभ्यस्त होने से वे फूलों की सुगन्ध के कारण तब तक नहीं सो पायीं, जब तक कि मछली की टोकरियों को उन्होंने अपने सिरहाने नहीं रख लिया !! दुःखदायी उपाधियों से दूर रहकर अनन्त आनन्द में प्रवेश करने से हम भयभीत होते हैं।

इस भय के कारण आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग ही अवरुद्ध हो जाता है। यदि सफलता प्राप्त भी होने लगे, तो इसी मानसिक भय के कारण साधक उसकी उपेक्षा कर देगा। प्रशान्तचित्त होकर शास्त्राध्ययन के द्वारा निर्भय मन नित्य ध्यान का अभ्यास करने पर भी, यदि ब्रह्मचर्य व्रत में दृढ़ स्थिति न हो तो, सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। ब्रह्मचर्य व्रत औपनिषदिक अर्थ के साथ-साथ इस शब्द का यहाँ विशिष्ट अर्थ भी है। सामान्यतः ब्रह्मचर्य का अर्थ किया जाता है – मैथुन का त्याग। परन्तु, इस शब्द का अर्थ अधिक व्यापक है। केवल संभोग की वृत्ति का संयम ही ब्रह्मचर्य नहीं, वरन् समस्त इन्द्रियों की प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण होना ब्रह्मचर्य है। परन्तु यह संयम विवेकपूर्वक होना चाहिये, इच्छाओं का मूढ़ दमन नहीं। असंयमित मन विषयों की संवेदनाओं से विचलित और क्षुब्ध हो जाता है और अपनी सम्पूर्ण शक्ति को विनष्ट कर देता है।

इन्द्रिय संयम के इस सामान्य अर्थ के अतिरिक्त भी ब्रह्मचर्य का विशेष प्रयोजन है। संस्कृत भाषा में ब्रह्मचारी का अर्थ है "वह पुरुष जिसका स्वभाव ब्रह्म में विचरण करने का हो।" इस दृष्टि से ब्रह्मचर्य का अर्थ होगा अपने मन को निरन्तर ब्रह्मविचार और निदिध्यासन में स्थिर करने का प्रयत्न करना। यही एकमात्र मुख्य

उपाय है, जिसके द्वारा हम मन की बहिर्मुखी प्रवृत्ति को शांत एवं संयमित कर सकते हैं।

मन का स्वभाव ही किसी-न-किसी विषय का चिन्तन करना है। जब तक उसे उत्कृष्ट लक्ष्य का ज्ञान नहीं कराया जाता, तब तक उसकी विषयाभिमुखी प्रवृत्ति उनसे विमुख नहीं हो सकती। पूर्ण ब्रह्मचर्य की सफलता का रहस्य भी यही है। किसी योगी की ओर आश्चर्यचकित होकर देखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हममें से प्रत्येक व्यक्ति उस योगी की सफलता को प्राप्त कर सकता है। उस सफलता के लिए आत्म संयम की आवश्यकता है। इन्द्रियों के विषयों के आकर्षण से स्वयं को बचाने के निश्चयात्मक उपायों का ज्ञान न होने से ही मनुष्य उनके प्रलोभन में फँस जाता है और लोभ संवरण नहीं कर पाता।

इस श्लोक में वर्णित तीनों गुणों से सम्पन्न साधक को ध्यान साधना में कठिनाई नहीं होती। प्रशान्ति, निर्भयता और ब्रह्मचर्य ये क्रमशः बुद्धि, मन और शरीर को ध्यान के योग्य बनाते हैं। इन तीनों के सुसंगठित होने पर साधक को अधिकतम शक्ति एवं शान्ति प्राप्त होती है, जिनका उपयोग ध्यान के लिए किया जा सकता है। इस प्रकार नव-शक्ति सम्पन्न साधक क्षमतावान हो जाता है। वह अपने भटकने वाले मन को सहज ही विषयों से परावृत्त करके आत्मतत्व का ध्यान कर सकता है।

इस श्लोक में दिया गया यह निर्देश अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि "साधक को मुझे ही परम लक्ष्य समझकर ध्यान के लिए बैठना चाहिए। यह हम अपने अनुभव से जानते हैं कि जिस वस्तु को हम सर्वाधिक महत्व देते हैं, उसकी प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम प्रयत्न करते हैं। इसलिए, जो पुरुष परमात्मा को ही सर्वोच्च लक्ष्य समझ कर निरन्तर साधना-रत रहता है, वह शीघ्र ही अपने अनन्त, सनातन, शान्त और आनन्द स्वरूप का साक्षात् अनुभव करता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

इस प्रकार सदा मन को स्थिर करने का अभ्यास करता हुआ संयमित मन का योगी मुझमें स्थिति परम निर्वाण (मोक्ष) स्वरूप शान्ति को प्राप्त होता है ॥१५॥

शरीर का आसन, मन का भाव, बुद्धि के द्वारा चिन्तन का वर्णन करने के पश्चात्, अब, भगवान् ध्यानविधि के अन्तिम चरण का वर्णन अपने प्रिय मित्र अर्जुन के लिये करते हैं। उक्त गुणों से सम्पन्न साधक अपने आंतरिक और बाह्य

जीवन में सामञ्जस्य स्थापित करके एक अलौकिक क्षमता को प्राप्त करता है। ऐसा संयमित मन का पुरुष सतत साधना-रत हुआ परम पद को प्राप्त होता है।

'सदा' का अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि साधक को अपने परिवार एवं समाज के प्रति कर्तव्यों की उपेक्षा करने की सीख यहाँ दी गयी है। ऐसा करना समाज के प्रति अपराध होगा। 'सदा' से तात्पर्य प्रतिदिन के ध्यान के अभ्यास के समय से है। पूरी लगन से ध्यान करने पर साधक पूर्ण शान्ति का अनुभव करता है।

यह शान्ति ही परमात्मा का स्वरूप है, क्योंकि आत्मा में शरीर, मन और बुद्धि की उत्तेजना, चंचलता और विक्षेपों का सर्वथा अभाव है। आत्मा इन उपाधियों के परे है। भगवान् के इस कथन से कि "योगी मुझ में स्थित परम शान्ति को प्राप्त होता है" – ऐसा प्रतीत हो सकता है कि यहाँ श्रीकृष्ण द्वैतवाद के मत का प्रतिपादन कर रहे हैं। परन्तु, परम सत्य को गुणयुक्त मानने का अर्थ होगा – उसे एक द्रव्य पदार्थ समझना, जो कि परिच्छिन्न और विकारी होगा। उसी प्रकार उस शान्ति की प्राप्ति एक 'विषय' की प्राप्ति के समान होगी।

भगवान् श्रीकृष्ण तत्त्व का ज्ञान कराने में भाषा की असमर्थता एवं सीमित योग्यता को जानते हैं, इसलिए, वे उक्त दोष का परिहार करने के लिये शान्ति को एक विशेषण देते हैं – निर्वाण परमाम् – अर्थात् "मोक्ष स्वरूप शांति।"

तात्पर्य यह है कि जब योगी का मन विषयों से पूर्णतया निवृत्त होता है, तब वह उस शांति का अनुभव करता है, जो उसने बाह्य जगत् में कभी अनुभव नहीं की थी। शीघ्र ही वह पुरुष परम सत्य स्वरूप के साथ एक हो जाता है जिसकी सुगंध, पूर्वानुभूत शान्ति होती है। ध्यान के अन्तिम चरण में योगी अपने शुद्ध स्वरूप का साक्षात् अनुभव तद्रूप होकर ही करता है। इसी अद्वैतानुभूति का वर्णन सम्पूर्ण गीता में किया गया है।

अब योगी के लिये आहारादि के नियम का वर्णन करते हैं :

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

परन्तु, हे अर्जुन ! यह योग उस पुरुष के लिये सम्भव नहीं होता, जो अधिक खानेवाला है या बिल्कुल न खानेबाला है, तथा जो अधिक सोनेवाला है या सदा जागने वाला है ॥१६॥

उपर्युक्त साधन और साध्य का विस्तृत विवरण जानकर यदि कोई व्यक्ति निर्दिष्ट साध्य की प्राप्ति में स्वयं को असमर्थ पाये तो कोई आश्चर्य नहीं। ऐसा भी नहीं कि साधक में इच्छा या प्रयत्न का अभाव हो, फिर भी लक्ष्य प्राप्त करना उसे कठिन ही प्रतीत होता है। वह क्या कारण है जो अनजाने ही साधक को अपने साध्य से दूर ले जाता है ? कोई भी वैज्ञानिक सिद्धान्त प्रयोग में सफलता के लिए सावधानियों को बताये बिना पूर्ण नहीं होता। अगले कुछ श्लोकों में ध्यानयोग के मार्ग में आने वाले सम्भावित गर्तों का संकेत किया गया है, जिनसे साधक को बचने का प्रयत्न करना चाहिये।

ध्यान की सफलता के लिये महत्त्व का नियम यह है कि 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' अर्थात् जीवन के कार्यों और उपभोगों में अतिरेक का त्याग करना चाहिए। परिमितता या संयम सफलता की कुन्जी है। असंयम से विक्षेप उत्पन्न होते हैं और संगठित व्यक्तित्व का सांमजस्य भंग हो जाता है। इसलिये आहार, विहार और निद्रा में परिमितता का होना आवश्यक है।

भगवान् कहते हैं कि अत्यधिक मात्रा में भोजन करने वाले या अति उपवास करनें वाले व्यक्ति के लिए योग असाध्य है। यहां 'खाने' का अर्थ केवल मुख के द्वारा अन्न भक्षण ही नहीं वरन् सभी इन्द्रियों के द्वारा किये जाने वाले विषय ग्रहण है। इस शब्द में समाविष्ट हैं – विषय ग्रहण, मन की भावनाएँ और बुद्धि के विचार।

संक्षेप में, योगाभ्यासी पुरुष के लिए नियम यह होना चाहिये कि 'केवल व्यक्तिगत लाभ के लिये प्राणी जगत् का संहार किये बिना, समय-समय पर जो कुछ प्राप्त होता है, उसका ग्रहण या भक्षण इनता ही करे कि पेट को भार न हो।'

यहाँ ठीक ही कहा गया है कि अत्यधिक निद्रा अथवा जागरण योग के अनुकूल नहीं है। यहाँ भी विवेकपूर्ण परिमितता ही नियम होना चाहिये।

संभव है कि मन्दबुद्धि पुरुष इस श्लोक के तात्पर्य को न समझकर प्रश्न पूछे कि 'किस पुरुष के लिये योग सहज साध्य होता है ?' इसके उत्तर में कहते हैं।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

उस पुरुष के लिये योग दुःखनाशक होता है, जो युक्त आहार और विहार करते वाला है, यथायोग्य चेष्टा करने वाला है और परिमित शयन और जागरण करने वाला है ॥१७॥

इस श्लोक में वर्णित नियमों का जीवन में पालन करने से ध्यान का अभ्यास सहज सुलभ हो जाता है। आहार-विहारादि में संयम रखनें पर भगवान् विशेष बल देते हैं।

आत्मसंयम के श्रेष्ठ जीवन का वर्णन करने में जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, उनका भाव गम्भीर है और अर्थ व्यापक। साधारणतः साधक निःस्वार्थ कर्म को यह समझ कर अपनाते हैं कि यह कर्मपालन ही उन्हें आध्यात्मिक जीवन की योग्यता प्रदान करेगा। मुझे ऐसे अनेक साधक मिले हैं, जो अपने ही प्रारम्भ किये गये कर्मों में इतने अधिक उलझ गये हैं कि वे उनसे बाहर निकल ही नहीं पाते। इस प्रकार स्वनिर्मित जाल से बचने का उपाय इस श्लोक में दर्शाया गया है।

अपना कार्यक्षेत्र चुनने में विवेक का उपयोग करना ही चाहिए, परन्तु तत्पश्चात् यह भी आवश्यक है कि हमारे प्रयत्न यथायोग्य हों। किसी श्रेष्ठ कर्म का चयन करने के पश्चात् यदि हम उसी में उलझ जाय तो वासनाक्षय के स्थान पर नवीन वासनाओं की निर्मिति की संभावना ही अधिक रहेगी। और तब हो सकता है कि कर्मों की थकान एवं विक्षेपों के कारण हम नीचे पशुत्व की श्रेणी में गिर सकते हैं।

स्वप्न और अवबोध का सामान्य अर्थ क्रमशः निद्रावस्था और जाग्रत-अवस्था है। परन्तु इनमें एक अन्य गम्भीर अर्थ भी निहित है। उपनिषदों में पारमार्थिक सत्य के अज्ञान की अवस्था को निद्रा कहा गया है तथा उस अज्ञान के कारण प्रतीति और अनुभव में आनेवाली अवस्था को स्वप्न कहा गया है, जिसमें हमारी जाग्रत अवस्था तथा स्वप्नावस्था दोनों ही सम्मिलित हैं। इस दृष्टि से वास्तविक 'अवबोध' की स्थिति तो तत्त्व के यथार्थ ज्ञान की ही कही जा सकती है। अतः, इस श्लोक में कथित स्वप्न और अवबोध का अर्थ है जीव की जाग्रत अवस्था तथा ध्यानाभ्यास की अवस्था। इन दोनों में युक्त रहने का अर्थ यह होगा कि दैनिक कार्य-कलापों में तो साधक को संयमित होना ही चाहिए तथा, उसी प्रकार, प्रारम्भ में ध्यानाभ्यास में भी मन को बलपूर्वक शान्त करके दीर्घ काल तक उस स्थिति में रहने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से थकान के कारण ध्यान में मन की रुचि कम हो सकती है।

समस्त दुःखों का नाश करने की सामर्थ्य ध्यान योग में होने के कारण इसका नित्य अभ्यास करना चाहिए।

कब यह साधक युक्त बन जाता है? उत्तर है:

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

जब पूर्णरूप से वश में किया हुआ चित्त आत्मा में ही स्थित होता है, तब समस्त विषयों से स्पृहारति हुआ पुरुष युक्त कहा जाता है ॥१८॥

इस श्लोक से लेकर अगले पाँच श्लोकों में योग के फल पर विचार किया गया है तथा पूर्ण योगी का आत्मसाक्षात्कार के समय और तदुपरान्त जीवन में जीते हुए क्या अनुभव होता है, इसे भी स्पष्ट किया गया है ।

सम्पूर्ण गीता में श्रीकृष्ण ने 'युक्त' शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर किया है तथा साधक को युक्त बनने पर विशेष बल भी दिया है । तथापि इस शब्द की सम्पूर्ण परिभाषा अब तक नहीं बतायी गई, यद्यपि यत्र-तत्र उसका संकेत अवश्य किया गया है । विचाराधीन श्लोक में हमें 'युक्त' शब्द की विस्तृत परिभाषा मिलती है ।

'पूर्णतया संयमित किया हुआ मन आत्मा में ही स्थित होता है ।' इस कथन पर विचार करने से इसका सत्यत्व स्वयं ही स्पष्ट हो जायेगा । असंयमित मन का लक्षण है, विषयों में सुख की खोज करना । जैसा कि पहले बताया जा चुका है मन की इस बहिर्मुखी प्रवृत्ति को अवरुद्ध करने का सर्वोत्तम उपाय उसके प्रकाशक चैतन्य स्वरूप आत्मा का अनुसंधान करना है । उस ध्यान की स्थिति में, स्वाभाविक ही विषयों से परावृत्त हुआ मन आत्मस्वरूप में स्थिर होकर रहेगा ।

उपर्युक्त विवेचन की पुष्टि श्लोक की दूसरी पंक्ति से होती है, जिसमें मन के स्थिरीकरण का उपाय बताया गया है – सब कामनाओं से निःस्पृहता । दुर्भाग्य से अनेक व्याख्याकारों ने 'कामनाओं के त्याग' पर अत्यधिक बल देकर उसे हिन्दू धर्म का प्रमुख गुण घोषित किया है । 'कामना' और 'विषयों की स्पृहा' में धरती–आकाश का अन्तर है । कामना या इच्छा का होना अनुचित नहीं है और न ही वह स्वयं हमें किसी प्रकार का दुःख पहुंचा सकती है । किन्तु इच्छापूर्ति के प्रति हमारे मन में जो अत्यधिक लालसा या स्पृहा होती है, वही जीवन में हमारे कष्टों का कारण होती है ।

उदाहरणार्थ, धनार्जन की इच्छा अनुचित नहीं, क्योंकि वह मनुष्य को कर्म करने, लक्ष्य को प्राप्त करने और उसे सुरक्षित रखने में प्रोत्साहित करती है; परन्तु यदि वह पुरुष धनार्जन की उस इच्छा के वशीभूत होकर आशक्ति के कारण उन्माद के रोगी के समान व्यवहार करने लगे, तो वह अपने लक्ष्य को पाने में असमर्थ हो

जायेगा । उसकी असफलता का कारण है – स्पृहा । अतः गीता हमें केवल विषयों की स्पृहा को ही त्यागने का उपदेश देती है ।

विषयों की उपयोगिता का विवेकपूर्ण मूल्यांकन करने से मन विषयों से परावृत्त होकर आत्मा में स्थिर हो जाता है । परिच्छिन्न विषय मन को क्षुब्ध करते हैं । जबकि अनन्त स्वरूप आत्मा उसे आनन्द से परिपूर्ण कर देता है । मन का विषयों से निवृत्त होकर आत्मा में स्थिर होना ही युक्तता का लक्षण है । उक्त लक्षण सम्पन्न व्यक्ति ही युक्त कहलाता है ।

ऐसे योगी वे समाहित चित्त का वर्णन इस प्रकार करते हैं :

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ।।१९।।

जिस प्रकार वायुरहित स्थान में स्थित दीपक में कम्प नहीं होता, वैसी ही उपमा आत्मा के ध्यान में लगे हुए योगी के समाहित चित्त की कही गयी है ।।१९।।

योगी के समाहित चित्त का वर्णन करने के लिए निर्वात स्थान में रखे दीप की उपमा यहां दी है, जो अत्यन्त समीचीन है । मन में निरन्तर वृत्तियां उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं और हमें एक अखण्ड मन का अनुभव होता है । इसी प्रकार, दीपज्योति भी वास्तव में कभी स्थिर नहीं होती, तथापि उसका कम्पन इतनी तीव्र गति से होता है कि हमें एक निश्चित आकार की ज्योति प्रतीत होती है ।

जब इस ज्योति को वायु के झकोरों से सुरक्षित रखा जाता है, तब यह ऊर्ध्वगामी ज्योति स्थिर हो जाती है । ठीक इसी प्रकार, सामान्यतः वैषयिक इच्छाओं के कारण चंचल रहने वाला मन जब ध्यान के समय शान्त किया जाता है, तब वह स्थिर हो जाता है । और मन में एक ही अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति बनी रहती है । संक्षेप में, समस्त जगत् के अधिष्ठान, नित्य, अनन्त, आनन्द स्वरूप ब्रह्म का नित्य निरन्तर ध्यान ही आत्मयोग है ।

योगाभ्यास से इस एकाग्रता को प्राप्त करने के पश्चात् प्रगति के क्या सोपान होंगे ? अगले चार श्लोकों में इसका वर्णन किया गया है :

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।।२०।।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

जब (जिस स्थिति में) योगाभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त उपराम हो जाता है और जब आत्मा को आत्मा (बुद्धि) के द्वारा देखकर आत्मा में ही सन्तुष्ट होता है ॥२०॥

इन्द्रियातीत केवल (शुद्ध) बुद्धि के द्वारा ग्राह्य जो अनन्त आनन्द है, उसे जिस अवस्था में अनुभव करता है और जिसमें स्थित हुआ यह योगी तत्त्व से कभी दूर नहीं होता ॥२१॥

और जिस लाभ को प्राप्त होकर उससे अधिक अन्य कुछ भी लाभ नहीं मानता है और जिसमें स्थित हुआ योगी बड़े भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता है ॥२२॥

दुःख के संयोग से वियोग को ही योग कहते हैं, जिसे जानना चाहिये; उस योग का अभ्यास उकताहट-रहित चित्त से निश्चयपूर्वक करना चाहिए ॥२३॥

इन चार श्लोकों में योग की स्थिति का सम्पूर्ण वर्णन करते हुए भगवान् सब का आह्वान करते हैं कि इस योग का अभ्यास निश्चय पूर्वक करना चाहिए। इस मार्ग पर चलने के लिये सबको उत्साहित करने के लिए भगवान् योगी को प्राप्य सर्वोत्तम लक्ष्य का भी वर्णन करते हैं। पूर्व उपदिष्ट साधनों के अभ्यास के फलस्वरूप जब चित्त पूर्णतया शान्त हो जाता हैं, तब उस शान्त चित्त में आत्मा का साक्षात् अनुभव होता है – स्वयं से भिन्न किसी विषय के रूप में नहीं, वरन् अपने आत्म-स्वरूप से।

मन को अपने ही शुद्ध चैतन्य स्वरूप की अनुभूति की यह स्थिति परम आनन्द स्वरूप है। परन्तु यह साक्षात्कार तभी संभव है, जब जीव, शरीर, मन और बुद्धि – इन परिच्छेदक उपाधियों के साथ के अपने तादात्म्य को पूर्णतया त्याग देता है।

इस सुख को 'अतीन्द्रिय' कहने से स्पष्ट है कि विषयोपभोग के सुख के समान यह सुख नहीं है। सामान्यतः हमारे सभी अनुभव इन्द्रियों के द्वारा ही होते हैं। इसलिये, जब आचार्यगण आत्मसाक्षात्कार को आनन्द की स्थिति के रूप में वर्णन करते हैं, तब हम उसे बाह्य और स्वयं से भिन्न कोई लक्ष्य समझते हैं। परन्तु जब उसे अतीन्द्रिय कहा जाता है, तो साधकों को उसके अस्तित्व और सत्यत्व के प्रति शंका होती है कि कहीं यह मिथ्या आश्वासन तो नहीं ! इस शंका का निवारण करने के लिए इस श्लोक में भगवान् स्पष्ट करते हैं कि यह आत्मानन्द केवल शुद्ध बुद्धि[1] के द्वारा ही ग्रहण करने योग्य है।

यहां एक शंका मन में उठ सकती है कि प्रायः अतिमानवीय प्रयत्न करने के पश्चात् यह अनन्त आनन्द का जो अनुभव होगा, कहीं वह क्षणिक तो नहीं होगा, जिसके लुप्त हो जाने पर उसकी प्राप्ति के लिए पुनः उतना ही परिश्रम करना पड़े ? नहीं। भगवान् का स्पष्ट कथन है कि 'जिसमें स्थित होने पर योगी तत्त्व से कभी दूर नहीं होता।' यह शाश्वत सुख है, जिसे प्राप्त कर लेने पर साधक पुनः दुःखरूप संसार को नहीं प्राप्त होता है।

क्या उस योगी को सामान्य जनों को अनुभव होने वाले दुःख कभी नहीं होंगे ? क्या उसमें संसारी मनुष्यों के समान अधिक-से-अधिक वस्तुओं के संग्रह की इच्छा नहीं होगी ? क्या वह लोगों से प्रेम करने के साथ उनसे उसकी अपेक्षा नहीं रखेगा ? इस प्रकार की उत्तेजनाएं केवल अज्ञानी पुरुष के लिए ही कष्टप्रद हो सकती हैं, ज्ञानी के लिये नहीं। यहां बाइसवें श्लोक में उस परमसत्य को उद्घाटित करते हैं : 'जिसे प्राप्त कर लेने पर योगी इससे अधिक अन्य कोई भी लाभ नहीं मानता है।"

इतने अधिक स्पष्टीकरण के पश्चात् भी, केवल बौद्धिक स्तर पर वेदान्त को समझने का प्रयत्न करने वाले लोगों के मन में शंका आ सकती है कि क्या इस आनन्द के अनुभव को जीवन की तनाव, दुःख, कष्ट और शोकपूर्ण परिस्थितियों में भी निश्चल रखा जा सकता है ? दूसरे शब्दों में : क्या धर्म धनवान् और समर्थ लोगों के लिए केवल मनोरंजन और विलास, दुर्बल एवं असहाय लोगों के लिए अन्ध–

---

१. वेदान्त में, रजोगुण और तमोगुण के प्रभाव से मुक्त हुई बुद्धि को 'शुद्ध बुद्ध' कहते हैं। तमोगुण से सत्य पर 'आवरण' पड़ता है और फिर, रजोगुण से उत्पन्न होते हैं 'विक्षेप'। कुछ मात्रा में इनके कम होने पर सत्वगुण का प्रभाव बढ़ता है जिसके कारण मन शान्त हो जाता है। इस प्रकार, बुद्धि के परे अनन्त आत्मतत्त्व का साक्षात् अनुभव होता है।

विश्वासजन्य सन्तोष और पलायनवादियों के लिए काल्पनिक स्वर्गमात्र नहीं है? क्या जीवन में आनेवाली कठिन परिस्थितियों में जैसे – प्रिय का वियोग, हानि, रुग्णता, दरिद्रता, भुखमरी आदि में धर्म के द्वारा आश्वसित पूर्णत्व अविचलित रह सकता है ? लोगों के मन में उठने वाली इस शंका का असंदिग्ध उत्तर देते हुए यहाँ स्पष्ट कहते हैं कि 'जिसमें स्थित हो जाने पर पर्वताकार दुःखों से भी वह योगी विचलित नहीं होता।'

उपर्युक्त विवेचन का संक्षेप में सार इस प्रकार है : योगाभ्यास से मन के एकाग्र होने पर योगी को अपने उस परम आनन्दस्वरूप की अनुभूति होती है, जो अतीन्द्रिय तथा केवल शुद्ध बुद्धि के द्वारा ग्राह्य है। उस अनुभव में फिर बुद्धि भी लीन हो जाती है। इस स्थिति में न संसार में पुनरागमन होता है न इससे श्रेष्ठतर कोई अन्य लाभ ही है। इसमें स्थित पुरुष गुरुतम दुःखों से भी विचलित नहीं होता। गीता में इस अद्भुत सत्य का आत्मस्वरूप से निर्देश किया गया है और जो सभी विवेकी साधकों का परम लक्ष्य है।

इस आत्मा को जानना चाहिए। आत्मज्ञान तथा आत्मानुभूति के साधन को गीता में 'योग' कहा गया है और इस अध्याय में योग की बहुत सुन्दर परिभाषा दी गई है।

गीता की प्रस्तावना में हम देख चुकें हैं कि किस प्रकार गीता में महाभारत के सन्दर्भ में उपनिषद् प्रतिपादित सिद्धान्तों का पुनर्विचार किया गया है। योग के विषय में व्याप्त इस मिथ्या धारणा का कि यह कोई अद्भुत साधना है, जिसका अभ्यास करना सामान्य जनों के लिये अतिकठिन है, गीता में पूर्णतया परिहार कर दिया गया है। आत्मविकास के साधन के रूप में जो योग कुछ विरले लोगों के लिये ही उपलब्ध था, उसका गीता में, मानो, सार्वजनिक उद्यान में रूपान्तरण कर दिया गया है। जिसमें कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से प्रवेश करके यथायोग्य लाभान्वित हो सकता है। इस दृष्टि से गीता को हिन्दुओं के पुनर्जागरण का क्रान्तिकारी ग्रन्थ कहना उचित ही है।

अवतार के रूप में ईश्वरी निर्बाध अधिकार से सम्पन्न होने के अतिरिक्त श्रीकृष्ण की भावनाओं, उद्देश्यों एवं कर्मों में एक क्रान्तिकारी का अपूर्व उत्साह झलकता है। जब ऐसा दिव्य पुरुष अध्यात्म और संस्कृति के क्षेत्र में कार्य कर रहा हो, तो उसकी दी हुई योग की परिभाषा भी उतनी ही श्रेष्ठ होगी। भगवान् कहते हैं–'दुःख के संयोग से वियोग की स्थिति योग है।' योग की यह पुनर्व्याख्या इस प्रकार विरोधाभास की भाषा में गुंथी हुई है कि प्रत्येक पाठक का ध्यान सहसा उसकी ओर आकर्षित होता है और वह उस पर विचार करने के लिए बाध्य-सा हो जाता है।

योग शब्द का अर्थ है 'संबंध'। अज्ञान दशा में मनुष्य का संबंध केवल अनित्य परिच्छिन्न विषयों के साथ ही होने के कारण उसे जीवन में सदैव अनित्य सुख ही मिलते हैं। इन विषयों का अनुभव शरीर, मन और बुद्धि के द्वारा होता है। एक सुख का अन्त ही दुःख का प्रारम्भ है। इसलिये, उपाधियों के साथ तादात्म्य किया हुआ जीवन दुःखसंयुक्त ही होगा।

स्पष्ट है कि योग विधि में हमारा प्रयत्न यह होगा कि इन उपाधियों से अपना तादात्म्य त्याग दें अर्थात् उनसे ध्यान दूर कर लें। जब तक इनका उपयोग हम करते रहेंगे तब तक जगत् से हमारा सम्पूर्ण अथवा आंशिक वियोग नहीं होगा। अतः शरीर, मन, और बुद्धि से वियुक्त होकर आत्मा को उसके शुद्ध स्वरूप में अनुभव करना ही 'दुःखसंयोगवियोग योग' है।

विषयों में आसक्ति से ही मन का अस्तित्व बना रहता है। किसी एक वस्तु से वियुक्त करने के लिए उसे अन्य श्रेष्ठतर वस्तु का आलम्बन देना पड़ता है। अतः पारमार्थिक सत्य के आनन्द में स्थित होने का आलम्बन देने से ही दुःखसंयोग से वियोग हो सकता है। परन्तु इसके लिए प्रारम्भ में मन को प्रयत्नपूर्वक बाह्य विषयों से हटाकर आत्मा में स्थिर करना होगा।

कुछ विचार करने से यह ज्ञात होगा कि यहां श्रीकृष्ण ने किसी ऐसे नये आदर्श या विचार को प्रस्थापित नहीं किया है, जो पहले से ही हिन्दू शास्त्रों में प्रतिपादित नहीं था। अन्तर केवल इतना है कि श्रीकृष्ण के समय तक साधन की अपेक्षा साध्य पर विशेष बल दिया जाता रहा था। परिणाम यह हुआ कि श्रद्धावान् लोगों के मन में उसके प्रति भय सा बैठ गया और वे योग से दूर ही रहने लगे। फलतः योग कुछ विरले लोगों के लिए ही एक रहस्यमयी साधना बनकर रह गया। श्रीकृष्ण ने योग की पुनर्व्याख्या करके लोगों के मन में बैठे इस भय को निर्मूल कर दिया है।

भगवान् कहते हैं कि 'इस योग का अभ्यास उत्साहपूर्ण और निश्चयात्मक बुद्धि से करना चाहिए।' निश्चय और उत्साह ही योग की सफलता के लिए आवश्यक गुण हैं, क्योंकि मिथ्या से वियोग और सत्य से संयोग ही योग है।

यदि अग्नि की उष्णता असह्य लग रही हो, तो हमें केवल इतना ही करना होगा कि उससे दूर हटकर किसी शीतल स्थान पर पहुँच जायें। इसी प्रकार, यदि परिच्छिन्नता का जीवन, दुःखदायक है, तो उससे मुक्ति पाने के लिए आनन्दस्वरूप आत्मा में स्थित होने की ही आवश्यकता है। यही है "दुःखसंयोगवियोग योग।"

योग के सन्दर्भ में कुछ अवान्तर विषय का वर्णन करने के पश्चात् पुनः अभ्यास विधि का वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं :

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ।।२४।।
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।।२५।।

संकल्प से उत्पन्न समस्त कामनाओं को निःशेष रूप से परित्यागकर मन के द्वारा इन्द्रियसमुदाय को सब ओर से सम्यक् प्रकार वश में करके ।।२४।।

शनैः शनैः धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा (योगी) उपरामता (शान्ति) को प्राप्त होवे ; मन को आत्मा में स्थित करके फिर अन्य कुछ भी चिन्तन न करे ।।२१।।

पूर्व श्लोकों के अनुसार योग का लक्ष्य है, मन का अपने स्वस्वरूप में स्थित हो जाना। यह स्थिति परम आनन्दस्वरूप बतायी गयी है। परन्तु इस स्थिति को प्राप्त करने के उपायों को दर्शाये बिना विषय का सैद्धान्तिक निरूपण मात्र साधकों के लिए अधिक उपयोगी नहीं होता ।

विचाराधीन दो श्लोकों में ध्यान की सूक्ष्म कला का वर्णन किया गया है। मन को एकाग्र कैसे करें, तत्पश्चात् उस समाहित चित्त के द्वारा आत्मा का ध्यान करके तद्रूप कैसे हो, इसका विस्तृत विवेचन इन श्लोकों में मिलता है ।

'समस्त' कामनाओं का 'निःशेष' त्यागकर इन्द्रिय वर्ग को विषयों से सम्यक् प्रकार अपने वश में करना चाहिये । इस श्लोक का प्रत्येक शब्द सफलता के द्वार का सूचक होने से उसकी व्याख्या की आवश्यकता है । यहां विशेष रूप से कहा गया है कि सब कामनाओं का निःशेष त्याग करना आवश्यक है । इससे, आत्मानुभूति की स्थिति के स्वरूप के सम्बन्ध में किसी भी साधक के मन में कोई शंका नहीं रह जानी चाहिये । 'अशेषतः' से तात्पर्य यह है कि ध्यान के अन्तिम चरण में साधक को योग के पूर्णत्व की प्राप्ति की इच्छा का भी त्याग कर देना चाहिये !

यहां 'कामनात्याग' को एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यक गुण बताया गया है ; परन्तु दुर्भाग्य से, अविवेकी लोगों ने कामना को दिये हुए विशेषण की ओर ध्यान नहीं दिया और शास्त्रों के अर्थों को विकृत कर दिया है उन्होंने यही समझा कि शास्त्र में महत्त्वाकांक्षा रहित जीवन का उपदेश दिया गया है और इस विपरीत

धारणा के कारण व तमोगुण की अकर्मण्यता में फँस जाते हैं। "संकल्प प्रभवान्" इस विशेषण की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इसी अध्याय के दूसरे श्लोक की व्याख्या में 'संकल्प' शब्द का अर्थ बताया जा चुका है। उस दृष्टि से यहां अर्थ होगा कि ऐसी कामनाओं को त्यागना है, जो विषयों में सुख होने के संकल्प से उत्पन्न होकर मन में असंख्य विक्षेपों को जन्म देती हैं।

यदि मनुष्य इन संकल्पजनित इच्छाओं को त्यागने में सफल हो जाता हैं, तो उसके मन में वह सामर्थ्य और दृढ़ता आ जाती है कि वह इन्द्रियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकता है। सर्वप्रथम इन्द्रियों के उन्मत्त अश्वों को वश में कर लें तो फिर उन्हें सब विषयों से परावृत्त करने में सरलता होती है।

यह एक अनुभूत सत्य है कि मन स्वनिर्मित विक्षेपों के कारण दुर्बल होकर इन्द्रियों को अपने वश में नहीं रख पाता। कामनात्याग से उसमें यह क्षमता आ जाती है। परन्तु मन की यह शक्ति और शान्ति शीघ्रता में किये गये कर्म या कल्पना से नहीं प्राप्त होती है और न किसी विचित्र रहस्यमयी साधना से। यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि साधक को धीरे-धीरे अपने मन को शान्त करना चाहिये।

निःसन्देह इन्द्रियों की विषयाभिमुखी प्रवृत्ति को संयमित करने पर कुछ मात्रा में मनःशान्ति प्राप्त होती है। तब इस शान्ति को स्थिर और दृढ़ करने की आवश्यकता होती है। उसका उपाय बताते हुये भगवान् कहते हैं "धैर्ययुक्त बुद्धि से मन को आत्मा में स्थित करना चाहिये।" अभ्यास के क्रम में इस उपदेश का बहुत महत्त्व है।

सर्वप्रथम इन्द्रियों को मन के द्वारा संयमित करे और तत्पश्चात् मन को उससे सूक्ष्मतर विवेकवती बुद्धि के द्वारा आत्मा में स्थिर करे। ध्येय विषयक वृत्ति के अतिरिक्त अन्य सब वृत्तियों के त्याग के द्वारा ही मन को संयमित करना संभव है। "वृत्तियों का प्रवाह" मन कहलाता है; अतः आत्मा के स्वरूप पर सतत अनुसंधान करने से मन आत्मा में ही स्थित हो जायेगा। आत्मा में पूर्णतया स्थित हो जाने पर वह एक दिव्य अलौकिक शान्ति में निमग्न हो जाता है। मनुष्य अपने सजग पुरुषार्थ के द्वारा इस स्थिति तक पहुँच सकता है, जो ध्यानयोग का अन्तिम सोपान है।

सभी साधकों के द्वारा अभ्यसनीय इस योग का उपदेश देते हुए भगवान् उन्हें सावधान करते हैं कि योग की उपर्युक्त चरम स्थिति तक पहुँचने के पश्चात् किसी अन्य विषय का चिन्तन नहीं करना चाहिये।

इस "शांत क्षण"[१] को पाने के उपरान्त साधक को और कोई कर्तव्य और प्राप्तव्य शेष नहीं रह जाता। उसको इतना ही ध्यान रखना होता है कि कोई नवीन वृत्तिप्रवाह का प्रारम्भ न हो और मन की शान्ति सुदृढ़ रहे। "द्वार खटखटाओ और तुम अन्दर प्रवेश करोगे" यह भगवान् का आश्वासन है।

विश्व के किसी भी धर्मग्रन्थ में केवल दो श्लोकों में ध्यानयोग की विधि से सम्बन्धित निर्देशों का इतना विस्तृत विवरण नहीं मिलता। स्वयं गीता में भी किसी अन्य स्थान पर ऐसा वर्णन नहीं किया गया है। इस दृष्टि से ये दो सारगर्भित श्लोक अतुलनीय और अनुपम हैं।

योगाभ्यास में प्रवृत्त जिन साधकों का मन चंचल और अस्थिर होता है, उनके लिये अगले श्लोक में उपाय बताते हैं :

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

यह चंचल और अस्थिर मन जिन कारणों से (विषयों में) विचरण करता है, उनसे संयमित करके उसे आत्मा के ही वश में लावे अर्थात् आत्मा में स्थिर करे ॥२६॥

पूर्व दो श्लोकों से साधकों के मन में उत्साह आता है, परन्तु जब वे अभ्यास में प्रवृत्त होते हैं, तब जो कठिनाई आती है उससे उन्हें कुछ निराशा होने लगती है। प्रत्येक साधक यह अनुभव करता है कि उसका मन समस्त विरोधों को तोड़ता हुआ ध्येय विषय से हटकर पुनः विषयों का चिन्तन करने लगता है। कारण यह है कि मन का स्वभाव ही है – चंचलता और अस्थिरता। न वह किसी एक विषय का सतत अनुसन्धान कर पाता है और न विभिन्न विषयों का। चंचल और अस्थिर इन दो विशेषणों के द्वारा भगवान् ने मन का सुस्पष्ट और वास्तविक चित्र प्रस्तुत किया है, जो सभी साधकों का अपना स्वयं का अनुभव है। ये दो शब्द इतने प्रभावशाली हैं कि आगे हम देखेंगे कि अर्जुन अपनी एक शंका को पूछते समय इन्हीं शब्दों का प्रयोग करता है।

यद्यपि ध्यान के समय साधक इन्द्रियों को अपने वश में कर लेता है, तथापि मन पूर्व अनुभवों की स्मृति से विचलित होकर पुनः विषयों का चिन्तन प्रारम्भ करने लगता है। ये क्षण एक सच्चे साधक के लिए घोर निराशा के क्षण होते हैं। मन का यह भटकाव अनेक कारणों से हो सकता है, जैसे – भूतकाल की स्मृतियां, किसी

१. देखिये स्वामी जी की पुस्तक 'ध्यान और जीवन'।

आकर्षक वस्तु का सामीप्य, किसी से राग या द्वेष और यहाँ तक कि आध्यात्मिक विकास के लिए अधीरता भी। भगवान् का उपदेश हैं कि मन के विचरण का कोई भी कारण हो, साधक को निराश और अधीर होने की आवश्यकता नहीं है। उसको यह समझना चाहिये कि अस्थिरता तो मन का स्वभाव ही है और ध्यान का प्रयोजन ही मन के इस विचरण को शान्त करना है।

साधक को उपदेश दिया गया है कि जब-जब यह मन ध्येय को छोड़कर विषयों की ओर जाय तब-तब उसे वहाँ से परावृत्त करके ध्येय में स्थिर करे। दृढ़ इच्छा शक्ति के द्वारा कुछ सीमा तक मन को विषयों से निवृत्त किया जा सकता है, परन्तु वह पुनः उनकी ही ओर जायेगा। साधकगण भूल जाते हैं कि "वृत्तिप्रवाह" ही मन है, और इसलिये, वृत्तिशून्य होने पर मन रहेगा ही नहीं ! अतः विषयों से मन को निवृत्त करने के पश्चात् साधक को आवश्यक है कि उस समाहित मन को आत्मानुसंधान में प्रवृत्त करे। भगवान् इसी बात को इस प्रकार कहते हैं कि "मन को पुनः आत्मा के ही वश में लावे।"

अगले कुछ श्लोकों में योगी पर इस योग का क्या प्रभाव होता है उसे बताया गया है :

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

जिसका मन प्रशान्त है, जो पापरहित (अकल्मषम्) है और जिसका रजोगुण (विक्षेप) शान्त हुआ है, ऐसे ब्रह्मरूप हुए इस योगी को उत्तम सुख प्राप्त होता है ॥२७॥

पूर्व श्लोकों के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि शनैः शनैः मन को आत्म-स्वरूप में स्थिर करने से वृत्तिप्रवाह के साथ मन भी समाप्त हो जाता हैं। मन के निर्विषयी होने पर मनुष्य को आत्मा का शुद्ध स्वरूप में अनुभव होता है और, स्वाभाविक ही, वह परम सुख को प्राप्त होता है।

एक बुद्धिमान साधक को उक्त कथन को चुनौती देने का पूर्ण अधिकार है। क्योंकि शास्त्रीय विषयों में शास्त्रविदों को यह अधिकार नहीं कि वे अपने मत को प्रतिपादित करके विद्यार्थियों से अपेक्षा रखें कि वे उस मत को वैसा ही स्वीकार कर लें। दूसरी पंक्ति में कारण बताते हैं कि क्यों और किस प्रकार मन के शान्त होने पर आत्मा का स्वतः साक्षात् अनुभव होता है। कारण यह है कि मन को शान्त

आनन्दस्वरूप आत्मा में स्थिर करने के प्रयत्न में पूर्वसंचित वासनायें क्षीण पड़ जाती हैं और वासनारहित मन को ही निष्पाप (अकल्मष) कहते हैं।

वेदान्त में मन की अशुद्धि को कहते हैं – मल। "आत्मतत्त्व का अज्ञान" (आवरण) और उससे उत्पन्न मन के "विक्षेप" संयुक्त रूप से 'मल' कहलाते हैं। 'आवरण' तमोगुण का कार्य है जबकि तज्जनित 'विक्षेप' रजोगुण का। यही मनुष्य का दु:खमय संसार में पतन का कारण है। भगवान् के इन शब्दों में इसका स्पष्ट निर्देश मिलता है – (क) शान्तरजस, और (ख) अकल्मष।

तमोगुण और रजोगुण के प्रभाव से मुक्त पुरुष को आत्मज्ञानी ही मानना पड़ेगा। जब तक विक्षेप है, तब तक मन का अस्तित्व है और उसके साथ आत्मा के तादात्म्य से जीवभाव उत्पन्न होता है अर्थात् वह साधक जो ध्यानाभ्यास में प्रवृत्त होता है। ध्यानविधि के अनुसार मन के साथ के तादात्म्य की निवृत्ति होने पर जीव अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को पहचान लेता हैं। 'ब्रह्मभूत' शब्द से इस अद्वैत सत्य की स्पष्ट घोपणा यहाँ की गयी है, जिसके अर्थानुसार योगी स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

अब, भगवान् यह बताते हैं कि आत्मसाक्षात्कार के पश्चात् ज्ञानी पुरुष का सम्पूर्ण जीवन किस प्रकार उस अनुभव से युक्त होता है :

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।।२८।।

इस प्रकार मन को सदा आत्मा में स्थिर करने का योग करने वाला पाप रहित योगी सुखपूर्वक ब्रह्मसंस्पर्श का परम सुख प्राप्त करता है ।।२८।।

आत्मविकास एवं आत्मसंयम की साधना में प्रवृत्त हुआ योगी धीरे-धीरे आत्म अज्ञान के अन्धकार और दोषों से बाहर ज्ञान के प्रकाश में आकर आनन्द का अनुभव करता है, जब साधक योगाभ्यास से मन को शान्त रखता है तब, मानो, ध्यान की उष्णता में मन का शुद्धिकरण होता है, जैसे अग्नि की उष्णता में किसी लौहखण्ड का।

जैसा पहले बताया जा चुका है, मनुष्य अपने पुरुषार्थ से मन को विषयों से परावृत्त करके आत्मा में स्थिर कर सकता है। तत्पश्चात् मन एक गुब्बारे के समान विनष्ट हो जाता है, जो आकाश में ऊँचा उड़ता हुआ विरलतर वातावरण में पहुँच कर फूट जाता है। उसके फूटने पर गुब्बारा तो नीचे गिर जाता है और गुब्बारे में स्थित आकाश बाह्य महाकाश के साथ एकाकार हो जाता है। इसी प्रकार, ध्यान

की चरम स्थिति में मन नष्ट होता है तब अहंकार गिर जाता है और वह मन परमात्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त हो जाता है। और तब उसे ब्रह्मसंस्पर्श के परम सुख की अनुभूति होती है।

यहां भगवान् अधीर और जिज्ञासु साधक को सच्चितत्स्वरूप तत्त्व का ज्ञान कराना चाहते हैं, जिसका अनुभव अन्तःकरण के तादात्म्य के परियोग से ही सम्भव है। यह दर्शानें के लिए कि आत्मानुभूति की स्थिति आनन्द की है, भगवान् कहते हैं कि ब्रह्मसंस्पर्श से साधक अत्यन्त सुखी होता हैं। आत्मानुभव और ब्रह्मसंस्पर्श पर्यायवाची शब्द ही समझने चाहिए।

अब, अगले श्लोक में योग के फल एकत्वदर्शन का वर्णन किया गया है:

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

योगयुक्त अन्तःकरण वाला और सर्वत्र समदर्शी योगी आत्मा को सब भूतों में और भूतमात्र को आत्मा में देखता है ॥२९॥

विश्व के सभी धर्म महान् हैं; परन्तु यदि धर्म शब्द का अर्थ 'आत्मोन्नति का विज्ञान' है, तो उनमें से कोई भी धर्म वेदान्त के समान पूर्ण नहीं है। इस श्लोक में गीताचार्य भगवान् श्रीकृष्ण स्पष्ट घोषणा करते हैं कि केवल वह पुरुष आत्म-ज्ञानी या ईश्वर का साक्षात्कारकर्ता नहीं कहा जा सकता, जिसने मात्र स्वयं को ही शुद्ध दिव्य स्वरूप में अनुभव किया हो। वह पुरुष जिसने कि सम्पूर्ण भूतों में विराजमान एक ही आत्मतत्त्व के दर्शन किये हों, आत्माज्ञानी कहा जायेगा। अपने हृदय में स्थित चैतन्य आत्मा ही सर्वत्र सभी नाम रूपों में स्थित है और यही चैतन्य सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् का अधिष्ठान है। अतः हृदयस्थ चैतन्य के अनुभव का अर्थ ही सर्वत्र व्याप्त नित्य तत्त्व को अनुभव करता है।

हिन्दू धर्म में ऐसा कोई आत्मानुभवी पुरुष नहीं है जिसने दैवी करुणा से ही क्यों न हो, "हे! पापपुत्र" जैसे अशोभनीय सम्बोधन द्वारा किसी को संबोधित किया हो। स्वामी रामतीर्थ के समान हिन्दू महात्मा पुरुष ने लोगों को 'हे! अमृत के पुत्रो!' के अतिरिक्त किसी अन्य शब्द से संबोधित नहीं किया। 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव ही पूर्णत्व का द्योतक है, जिसे ऋषियों ने सदैव अपना लक्ष्य बनाया है। इसी अनुभव को इस श्लोक में अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से दर्शाया गया है।

गीता के प्रायः सभी अध्यायों में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है कि नामरूपमय यह सृष्टि पारमार्थिक सत्य की अभिव्यक्ति है अथवा यह सृष्टि उस

सत्य पर अध्यस्त (कल्पित) है। इस दृष्टि से, सम्पूर्ण नामरूपों का अधिष्ठान वह देशकालातीत आत्मतत्त्व ही है। जैसे मिट्टी समस्त मिट्टी के बने पात्रों में, सुवर्ण समस्त आभूषणों में, जल समस्त तरंगों में, वैसे ही आत्मा समस्त नामरूपों में अधिष्ठान के रूप में स्थित है।

हम अपने शरीर, मन और बुद्धि के द्वारा क्रमशः भौतिक पदार्थ दूसरों की भावनाएं और विचारों को देख और समझ पाते हैं। जिसने इन उपाधियों से परे आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कर लिया, वह पुरुष उस आध्यात्म दृष्टि से जब जगत् को देखता है, तब उसे सर्वत्र व्याप्त आत्मा का ही अनुभव होता है। वह योगी स्वयं आत्मस्वरूप बन जाता है। मिट्टी की दृष्टि से घट नहीं है और न सुवर्ण की दृष्टि से आभूषण। उसी प्रकार आत्मदृष्टि से आत्मा ही विद्यमान है और उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है।

इस ज्ञान को समझने से श्लोक का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। जिसनें अनेकता में एक सत्य का दर्शन कर लिया, वही आत्मज्ञानी पुरुष सर्वत्र समदृष्टि से–ब्राह्मण, गाय, हाथी, श्वान और चाण्डाल को देख सकता है।

अगले श्लोक में इन आत्मैकत्व दर्शन का फल बताते हैं :

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

जो पुरुष मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, उसके लिए मैं नष्ट नहीं होता (अर्थात् उसके लिये मैं दूर नहीं होता) और वह मुझसे वियुक्त नहीं होता ॥३०॥

पहले यह कहा गया था कि ब्रह्मसंस्पर्श से योगी अत्यंत सुख प्राप्त करता है। ब्रह्मसंस्पर्श से तात्पर्य आत्मा और ब्रह्म के एकत्व से है, जो उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय है। इस ज्ञान को स्वयं भगवान् ही यहां स्पष्ट दर्शा रहे हैं। आत्मज्ञानी पुरुष सर्वत्र आत्मा का अनुभव करता है।

'जो मुझे सबमें और सब को मुझ में देखता है'–अन्य स्थानों के समान ही यहां प्रयुक्त 'मैं' शब्द का अर्थ आत्मा है, न की देवकीपुत्र कृष्ण। इस व्याख्या के प्रकाश में जो पुरुष पूर्व श्लोक के साथ इस श्लोक को पढ़ेगा उसे प्रसिद्ध ईशावास्योपनिषद् की इस घोषणा का गूढ़ अर्थ[1] स्पष्ट हो जायेगा।

---

१. जो पुरुष सब को आत्मा में और आत्मा को सबमें देखता है वह किसी से घृणा नहीं करता। (ईशावास्योपनिषद् मन्त्र ६)

"वह मुझसे वियुक्त नहीं होता" – बुद्धि से अतीत आत्मा का अनुभव उससे भिन्न रहकर नहीं होता, वरन् जीव पाता है कि वह स्वयं आत्मस्वरूप (शिवोऽहम्) है। स्वप्नद्रष्टा पुरुष जागने पर स्वयं जाग्रत पुरुष बन जाता है; वह जाग्रत पुरुष को उससे भिन्न रहकर कभी नहीं जान सकता।

"और न मैं उससे वियुक्त होता हूं" – द्वैतवादी लोग अपने जीवभाव और देहात्मभाव की दृढ़ता के कारण इस अद्वैत स्वरूप को स्वीकार नहीं कर पाते। जिस स्पष्टता से यहां जीव के दिव्य स्वरूप की घोषणा की गयी है, उसे और अधिक स्पष्ट नहीं किया जा सकता। भगवान् श्रीकृष्ण यहां किसी भी प्रकार से इस तथ्य को गूढ़ और गोपन नहीं रखना चाहते कि अनात्म उपाधियों से तादात्म्य को त्यागने पर योगी स्वयं परमात्मस्वरूप बन जाता है। हो सकता है कि किन्हीं-किन्हीं लोगों के लिए यह सत्य चौंका देने वाला हो, तथापि है तो वह सत्य ही। जिन्हें इसे स्वीकार करने में संकोच होता हो, वे अपने जीव भाव को ही दृढ़ बनाये रख सकते हैं। परन्तु भारत में गुरुओं की परम्परा ने तथा विश्व के अन्य अनुभवी सन्तों ने इसी सत्य की पुष्टि की है कि, 'एक व्यक्ति के हृदय में स्थित आत्मा ही सर्वत्र नामरूपों में स्थित है।'

वर्तमान दशा में हम अपने आप से ही दूर हो चुके हैं; अहंकार एक राजद्रोही है, जिसनें आत्मसाम्राज्य से स्वयं का निष्कासन कर लिया है। आत्मप्राप्ति पर अहंकार पूर्णतया उसमें विलीन हो जाता है। स्वप्नद्रष्टा के जागने पर वह जाग्रत पुरुष से भिन्न नहीं रह सकता। भगवान् यहां कहते हैं कि 'साधक और मैं एक दूसरे से कभी वियुक्त नहीं होते।'

वास्तव में, यदि हम यह समझ लेते हैं कि आत्म विस्मृति के कारण परमात्मा जीव भाव को प्राप्त-सा हुआ है तो यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि आत्मज्ञान के द्वारा जीव पुनः परमात्मस्वरूप को प्राप्त हो सकता है। जैसे एक अभिनेता रंगमंच पर भिक्षक का अभिनय करते हुए भी वास्तव में भिक्षक नहीं बन जाता और नाटक की समाप्ति पर भिक्षक के वेष को त्यागकर पुनः स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही आत्मज्ञान के विषय में भी जीव का ब्रह्मरूप होता है। वेदान्त की यह साहसिक घोषणा समझनी कठिन नहीं है, परन्तु सामान्य अज्ञानी जन इससे स्तब्ध होकर रह जाते हैं और अपने दोषों के कारण इस सत्य को स्वीकार नहीं कर पाते। उनमें इतना साहस और विश्वास नहीं कि वे दिव्य जीवन जीने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले सकें। इस श्लोक में भगवान् का कथन परमार्थ सत्य के स्वरूप के संबंध में उपनिषदों के निष्कर्ष के विषय में रंचमात्र सन्देह रहीं रहने देता।

पूर्व श्लोक में कथित सम्यक् दर्शन को पुन: बताकर कहते हैं :

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

जो पुरुष एकत्वभाव में रहित हुआ सम्पूर्ण भूतों में स्थित मुझे भजता है, वह योगी सब प्रकार से बर्तता हुआ (रहता हुआ) मुझमें स्थित रहता है ॥३१॥

समाहित चित्त का योगी निरन्तर मेरा अनुसंधान करता है (भजता है)। फलतः बाह्य जगत् में सब प्रकार के व्यवहार करता हुआ भी वह मुझमें ही स्थित रहता है। इस श्लोक का मुख्य प्रयोजन यह दर्शाना है कि कोई आवश्यक नहीं कि एक आत्मानुभवी पुरुष हिमालय की किसी अज्ञात गुफा में जाकर निवृत्ति का जीवन व्यतीत करेगा। भगवान् कहते हैं कि जीवन के समस्त सामान्य व्यवहार करता हुआ सभी परिस्थितियों में वह अपने स्वरूप के ज्ञान में स्थित रह सकता है। जब मनुष्य रोगी हो जाता है, तब उसे नित्य के कार्यों से निवृत्त होकर चिकित्सालय में रहने की आवश्यकता होती है, परन्तु पूर्ण स्वस्थ हो जाने के पश्चात् नहीं। स्वस्थ होकर तो वह पुन: अधिक उत्साह के साथ अपना कार्य करने लगता है।

इसी प्रकार, विघटित व्यक्तित्व के पुरुष के लिए ध्यानसाधना का उपचार बताया जाता है। उसके अभ्यास से जब वह स्वस्वरूप को पहचानकर दैवी सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है, तब वह, निश्चय ही, अपनें पूर्व के कार्यक्षेत्र में जाकर कर्म करते हुए भी पूर्णत्व के ज्ञान को सुदृढ़ बनाये रख सकता है।

वास्तव में देखा जाय तो चिरस्थायी फलप्रदायी कर्म कुशलतापूर्वक तभी किये जा सकते हैं, जब कर्त्ता आत्मस्वरूप के ज्ञान में स्थित हो। गीता का यही संदेश है कि समर्पण भावना से किये गये कर्म आत्मोन्नति के साधन हैं।

यहां ध्यान देने की बात है कि श्रीकृष्ण, संभवतः, अर्जुन की अपेक्षा अधिक स्वयं को ही युद्ध की विपत्तियों में डाल रहे थे। रथ में बैठे योद्धा तक पहुँचने के पूर्व प्रतिपक्षी के बाण सारथि पर पहले प्रहार कहते हैं। केवल समस्त संसार को मुग्ध कर देने वाली मन्द स्मिति के अतिरिक्त किसी अन्य शस्त्र को न लेकर श्रीकृष्ण नें युद्धभूमि में प्रवेश किया था। तत्पश्चात् वे ही सम्पूर्ण युद्ध के स्वामी और केन्द्र बिन्दु बने रहे और सम्पूर्ण महायुद्ध का घटना चक्र उनके ही चारों ओर घूमता रहा। इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मज्ञानी पुरुष किसी भी कार्यक्षेत्र में कर्म करते हुए भी अपने वास्तविक स्वरूप का भान रख सकता है।

इस व्याख्या का अध्ययन करते समय हो सकता है कोई पाठक यह समझे

कि अत्यधिक उत्साह के कारण हम इस श्लोक में कुछ अधिक अर्थ देख रहे हैं। परन्तु उन्हें "सर्वथा वर्तमानोऽपि" इस शब्द पर ध्यान देते हुए अधिक विचार करना चाहिए।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

हे अर्जुन! जो पुरुष अपने समान सर्वत्र सम देखता है, चाहे वह सुख हो या दुःख, वह परम योगी माना गया है ॥३२॥

तत्त्वज्ञान और आत्मानुभव में स्थित हुए योगीजन स्वभावतः सर्वत्र व्याप्त आत्मा के दर्शन करते हैं। वे समान कर्मों में आत्मा के वैभव को देखते हैं और जानते हैं कि उपाधियों के द्वारा किये जाने वाले समस्त कर्म आत्मकृपा से ही होते हैं। बाह्य स्थूल और आन्तरिक सूक्ष्म जगत् आत्मा की ही अभिव्यक्ति है।

गीता के अनुसार सर्वश्रेष्ठ योगी वह है, जो अन्य के सुख एवं दुःख को इस प्रकार समझता है, जैसे वे उसके अपने ही हों। प्रसिद्ध नैतिक नियम है कि 'अन्य के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा कि उससे तुम अपेक्षा रखते हो।' परन्तु यह नियम सामान्य मनुष्य को अप्रिय लगता है, क्योंकि स्वार्थ के कारण वह सोचता है कि क्यों वह दूसरों को अपने ही समान समझे। अज्ञान तथा स्वार्थ के कारण लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति अनैतिकता की ओर झुक जाती है।

पूर्व श्लोकों में इसका स्पष्टीकरण किया गया है कि क्यों हमें प्राणीमात्र से प्रेम करना चाहिए। योगी आत्मसाक्षात्कार के द्वारा समस्त सृष्टि को आत्मा की ही अभिव्यक्ति के रूप में पहचानता है। अतः सबसे प्रेम होना स्वाभाविक ही है। प्रत्येक मनुष्य को अपने शरीर से तादात्म्य होने के कारण शरीर के समस्त अंगों से उसे एक समान ही प्रेम होता है। यदि अकस्मात् दांतों से जिह्वा कट जाती है तो मनुष्य कभी भी दांतों को दण्ड देने का विचार नहीं करता; क्योंकि दांतों में तथा जिह्वा में समान रूप से वह स्वयं व्याप्त है। इसी प्रकार, आत्मा को पहचान लेने पर सम्पूर्ण नामरूप की सृष्टि, आत्मस्वरूप ही बन जाती है और समस्त कालों में सर्वत्र केवल 'मैं' (आत्मा) ही व्याप्त रहता हूँ।

आत्मैकत्व दर्शन करने वाला सिद्ध व्यक्ति ही गीता में परम योगी माना गया है, जो समाज को देता अधिक है और लेता कम है। प्रेम उसका श्वास है और करुणा उसकी जीविका।

श्रीकृष्ण द्वारा ज्ञानी पुरुष का जो उपर्युक्त वर्णन शब्दचित्र के माध्यम से किया गया है, वह किसी को भी अपनी ओर आकर्षित कर सकता है; किन्तु व्यावहारिक बुद्धि का अर्जुन उक्त लक्ष्य को पाने में स्वयं को असमर्थ पाता है, और वह प्रश्न के रूप में अपनी शंका को व्यक्त करता है।

यथोक्त सम्यग्दर्शन रूप योग का संपादन दुष्कर जानकर उसकी प्राप्ति का निश्चयात्मक उपाय जानने की इच्छा से अर्जुन कहता है :

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

अर्जुन ने कहा--

हे मधुसूदन ! जो यह साम्य योग आपने कहा, इसकी मैं मन की चंचल होने से चिरस्थायी स्थिति को नहीं देखता हूं ॥३३॥

अत्यन्त व्यावहारिक बुद्धि का आर्य पुरुष होने के नाते अर्जुन क्रियाशील स्वभाव का था। इसलिये उसे किसी काव्यमय सुन्दरता से पूर्ण दर्शन में कोई आकर्षण नहीं था। उसमें जीवन की प्यास थी इसलिये ध्यानयोग में उसे रुचि नहीं थी। अस्तु वह उचित ही प्रश्न पूछता है, क्योंकि भगवान द्वारा अब तक वर्णित तत्त्वज्ञान उसे अव्यावहारिक सा प्रतीत हो रहा था।

इस अध्याय में श्रीकृष्ण ने सिद्ध किया है कि दुःखसंयोगवियोग ही योग है। तत्प्राप्ति का उपाय मन को विषयों से परावृत्त करके आत्मानुसंधान में प्रवृत्त करना है। सिद्धांत यह है कि आत्मस्वरूप में मन स्थिर होने पर सत्य के अज्ञान से उत्पन्न अहंकार और सभी विपरीत धारणाएं समाप्त होकर साधक मुक्त हो जाता है।

योग का लक्ष्य है – जीवन की सभी चुनौतियों, परिस्थितियों में समत्व भाव को प्राप्त होना – जो प्रशंसनीय तो है, परन्तु अर्जुन को प्रतीत होता है कि उसकी साधन विधि जीवन की वस्तुस्थिति से सर्वथा भिन्न होने के कारण कवि-कल्पना के समान अव्यावहारिक है। श्रीकृष्ण द्वारा वर्णित युक्तियों में उसे कोई कड़ी खोई हुई दिखलाई पड़ती है। वह इस विश्वास के साथ भगवान् से प्रश्न पूछता है, मानो उनके तत्त्वज्ञान के खोखलेपन को वह सबके समक्ष अनावृत्त कर देगा।

कुछ व्यंग के साथ अर्जुन इस समत्व योग की व्यावहारिकता के विषय में सन्देह प्रगट करता है। वेदान्त के विद्यार्थी का यही लक्षण है कि अन्धविश्वास से

से वह किसी की कही हुई बात को स्वीकार नहीं करता । साधकों की शंकाओं का निराकरण करना गुरु का कर्तव्य है । परन्तु, यदि शिष्य को गुरु के उपदेश में कोई कमी या दोष प्रतीत होता है, तो प्रश्न पूछते समय उसे अपने प्रश्न का कारण बताना भी अनिवार्य होता है । अर्जुन को समत्व योग का अभ्यास दुष्कर दिखाई दिया, जिसका कारण वह बताता है कि मनुष्य मन के चंचल स्वभाव के कारण योग की चिरस्थायी स्थिति नहीं रह सकती ।

प्रश्न पूछते समय अर्जुन विशेष सावधानी रखता है । वह यह नहीं कहता कि मन का समत्व सर्वथा असंभव है, किन्तु उसकी यह शंका है कि वह स्थिति 'चिर-स्थायी' नहीं हो सकती । तात्पर्य यह है कि, अनेक वर्षों की साधना के फलस्वरूप आत्मानुभव प्राप्त भी होता है, तो भी वह क्षणिक ही होगा । यद्यपि वह क्षणिक अनुभव भी आत्मा की पूर्णता में हो सकता है, तथापि मन के चंचल स्वभाव के कारण ज्ञानी पुरुष उस अनुभव को स्थायी नहीं बना सकता ।

अपने प्रश्न को और अधिक स्पष्ट करने के लिये अर्जुन कहता है :

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।३४।।

क्योंकि हे कृष्ण ! यह मन चंचल और प्रमथन स्वभाव का तथा बलवान् और दृढ़ है; उसका निग्रह करना मैं वायु के समान अति दुष्कर मानता हूँ ।।३४।।

आधुनिक विचारधारा का मनुष्य सभी पवित्र शास्त्रों की केवल निन्दा करता है जबकि एक जिज्ञासु साधक भी प्रत्येक शास्त्रोक्त कथन को अन्धविश्वास से स्वीकार नहीं कर लेता, वरन् वह प्रश्न भी पूछता है । परन्तु आधुनिक व्यक्ति की निन्दा और जिज्ञासु द्वारा किये गये प्रश्न में धरती आकाश का अन्तर है । जिज्ञासु का प्रयत्न होता है कि शास्त्र के तात्पर्य को वह पूर्णरूप से समझे । अर्जुन अपने मन को सम्यक् प्रकार से जानता है कि वह अति चंचल, प्रमथनधर्मी, बलवान् और दृढ़ है ।

प्रमाथि, बलवान् और दृढ़ ये तीन शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण और अर्थ गर्भित हैं । 'प्रमाथि' शब्द से वृत्तिप्रवाह की द्रुत गति तथा उसके द्वारा उत्पन्न विक्षेपों की लहराती लहरें भी दर्शायी गयी हैं । अर्जुन कहता है यह मन प्रमाथि होने के साथ-साथ बलवान् भी है । द्रुत गति का वृत्तिप्रवाह इष्ट विषय की ओर अग्रसर होते हुए उसे प्राप्त होने पर उस विषय के साथ दृढ़ आसक्ति से बंधकर इतना बलवान् हो जाता है कि उसे उस विषय से विलग करना दुष्कर कार्य हो जाता है । उसका तीसरा लक्षण है दृढ़ता अर्थात् एक बार यह स्वेच्छाचारी मन किसी विषय का चिन्तन

प्रारम्भ कर दे, तो उसे उससे परावृत्त करना सरल कार्य नहीं होता। इन लक्षणों से युक्त मन को किस प्रकार विषय पराङ्मुख करके आत्मा में स्थिर कर सकते हैं – जैसा कि ध्यानविधि में बताया गया है ?

मन की शक्ति और गति, भेदकता और व्यापकता को यहां प्रयुक्त 'वायु' की उपमा से अधिक सुन्दर तथा प्रभावशाली शैली में व्यक्त नहीं किया जा सकता था। अर्जुन यहां श्रीकृष्ण से उन उपायों को जानना चाहता है, जिनके द्वारा प्रचण्ड वायु के समान वेग वाले मन को पूर्णतया वश में किया जा सकता है। अर्जुन भगवान् को उनके अत्यन्त सुपरिचित नाम 'कृष्ण' के द्वारा संबोधित करता है, जो अत्यन्त उपयुक्त है; क्योंकि कृष् धातु से 'कृष्ण' शब्द बनता है, जिसका अर्थ है – जो आत्मानुभवी भक्तों के समस्त दोषों अर्थात् वासनाओं का कर्षण कर लेता है – नष्ट कर देता है।

स्वप्न में किसी की हत्या करने वाला स्वप्नद्रष्टा जैसे ही जाग्रत अवस्था में आता है उसके रक्तरंजित हाथ और कलंक की कालिमा तत्काल ही स्वच्छ हो जाते हैं। इसी प्रकार जब आत्मा के वास्तविक स्वरूप की पहचान हो जाती है तब मन और उसकी आक्रामक प्रवृत्तियाँ वासनाएं और उनकी दुष्टता, बुद्धि और उसकी खोज की प्रवृत्ति, शरीर और उसके भोग–ये सभी नष्ट हो जाते हैं। इसके लिये दार्शनिक कवि महर्षि व्यासजी ने, महाभारत में, इस अन्तरात्मा का चित्रण वृन्दावन के मुरली मनोहर श्याम कृष्ण के रूप में किया है। प्रकरण के सन्दर्भ में किसी विशेष गुण को दर्शाने के लिए व्यक्ति को एक विशेष संज्ञा प्रदान करने की कला संस्कृत भाषा की अपनी एक विशेषता है, जो विश्व की अन्य भाषाओं में नहीं मिलती।

अर्जुन के तर्क को स्वीकार करते हुए भगवान् कहते हैं :

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

श्रीभगवान् कहते हैं :

हे महाबाहो ! निःसन्देह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है; परन्तु, हे कुन्तीपुत्र ! उसे अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वश में किया जा सकता है ॥३५॥

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को पूर्णरूप से जानते थे; वह एक वीर योद्धा, कर्मशील, साहसी और यथार्थवादी पुरुष था। ऐसे असामान्य व्यक्तित्व का पुरुष जब

गुरु के उपदिष्ट तत्त्वज्ञान से सहमत होकर उसकी सत्यता या व्यावहारिकता के विषय में सन्देह करता है, तब गुरु में भी मन के सन्तुलन तथा शिष्य की विद्रोही बुद्धि को समझने एवं समझाने की असाधारण क्षमता का होना आवश्यक होता है। गीता में इस स्थान पर, संक्षेप में स्थिति यह है कि भगवान् के उपदेशानुसार मन के स्थिर होने पर आत्मानुभूति होती है; जब कि अर्जुन का कहना है कि चंचल मन स्थिर नहीं हो सकता, अतः आत्मानुभूति भी असंभव है।

जब अर्जुन के समान समर्थ व्यक्ति किसी विचार को मन में दृढ़ कर लेता है, तो उसे समझाने का सर्वोत्तम उपाय है, प्रारम्भ में उसके विचार को मान लेना। 'विजय के लिये सन्धि' दार्शनिक शास्त्रार्थ में सफलता का रहस्य है, और विशेषकर इस प्रकार की पूर्वाग्रहों से पूर्ण स्थिति में–जो अज्ञानी के लिये स्वाभाविक होती है। इस प्रकार, महान मनोवैज्ञानिक श्रीकृष्ण प्रश्न के उत्तर में 'असंशयं' कहकर प्रथम शब्द से ही अपने शक्तिशाली प्रतिस्पर्धी को निःशस्त्र कर देते हैं; और फिर 'महाबाहो' के सम्बोधन से उसके अभिमान को भी जाग्रत करते हैं। भगवान् स्वीकार करते हैं कि मन का निग्रह करना कठिन है और इसलिए मन की स्थायी शान्ति और समता 'सरलता' से प्राप्त नहीं हो सकती।

इस स्वीकारोक्ति से अर्जुन प्रशंसित होता है। 'महाबाहो' शब्द से उसे स्मरण कराते हैं कि वह एक वीर योद्धा है। भगवान् के कथन में व्यंग का पुट स्पष्ट झलकता है; दुष्कर तथा असाध्य कार्य को सम्पन्न कर दिखाने में ही एक शक्तिशाली पुरुष की महानता होती है, न कि अपने ही आंगन के उपवन से कुछ फूल तोड़कर लाने में! निःसन्देह, मन एक शक्ति सम्पन्न शत्रु है – परन्तु जितना बड़ा शत्रु होगा उस पर प्राप्त विजय भी उतनी ही श्रेष्ठ होगी।

दूसरी पंक्ति में भगवान् श्रीकृष्ण सावधानी पूर्वक चुने हुऐ उपयुक्त शब्दों का प्रयोग करते हैं, जिससे अर्जुन का मन शान्त और स्थिर हो सके। "हे कौन्तेय मन को वश में किया जा सकता है।" अभ्यास और वैराग्य के द्वारा प्रारम्भ में उसे वश में करके पूर्णतया आत्मसंस्थ कर सकते हैं – यह भगवान् की आश्वासनपूर्ण स्पष्टोक्ति है।

वाह्य विषयों में आसक्ति तथा कर्मफलों की हठीली आशा ये ही दो प्रमुख कारण मन में विक्षेप उत्पन्न होने के हैं। इनके कारण मन का संयमन कठिन हो जाता है। यहाँ वैराग्य शब्द से इनका त्याग ही सूचित किया गया है। श्री शंकराचार्य के अनुसार अभ्यास का अर्थ है–"ध्येय विषयक चित्तवृत्ति की पुनरावृत्ति"। सामान्यतः ध्यानाभ्यास में इच्छाओं के बारम्बार उठने से यह समान प्रत्यय आवृत्ति खंडित होती रहती है। परिणाम यह होता है कि पुनः पुनः मन ध्येय वस्तु के

अतिरिक्त अन्य विषयों में विचरण करने लगता है और मनुष्य का आन्तरिक सन्तुलन एवं व्यक्तित्व भी छिन्न भिन्न हो जाता है।

इस दृष्टि से, अभ्यास वैराग्य को दृढ़ करता है और वैराग्य अभ्यास को। दोनों के दृढ़ होने से सफलता निश्चित हो जाती है।

शास्त्रीय ग्रन्थों में प्रयुक्त शब्दों के क्रम की ओर ध्यान देना चाहिए, क्योंकि उनमें महत्व की उतरती सीढ़ी में शब्दों का क्रम रखा जाता है। कभी-कभी साधकों के मन में यह प्रश्न आता है कि क्या वह मन में स्वाभाविक वैराग्य होने की प्रतीक्षा करे अथवा ध्यान का अभ्यास प्रारम्भ कर दें। अधिकांश लोग व्यर्थ ही वैराग्य की प्रतीक्षा करते रहते हैं। गीता में अभ्यास को प्राथमिकता देकर यह स्पष्ट किया गया है कि अभ्यास के पूर्व वैराग्य की प्रतीक्षा करना उतना ही हास्यास्पद है, जितना कि बिना बीज बोये फसल की प्रतीक्षा करना।

हमको जीवन का विश्लेषण और अनुभवों पर विचार करते रहना चाहिए, और इस प्रकार जानते रहना चाहिये कि हमने जीवन में क्या किया और कितना पाया। यदि ज्ञात होता है कि लाभ से अधिक हानि ही हुई है, तो स्वाभाविक ही हम विचार करेगें कि किस प्रकार जीवन को सुनियोजित ढंग से व्यवस्थित किया जा सकता है, और अधिक-से-अधिक आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। इसी क्रम में फिर शास्त्र का अध्ययन प्रारंभ होगा, जो हमें जीवनादर्श के आश्चर्य, नैतिक मूल्यों की शान्ति आत्म–संयम के आनन्द, आत्म-विकास के रोमाञ्च और अहंकार के परिच्छिन्न जीवन के घुटन भरे दुःखों का ज्ञान करायेगा।

जिस क्षण हम अपने जीवन पद्धति के प्रति जागरूक हो जाते हैं, उसी क्षण 'अभ्यास' का आरम्भ समझना चाहिये। इसके फलस्वरूप सहज स्वाभाविक रूप से जो अनासक्ति का भाव उत्पन्न होता है, वही वास्तविक और स्थायी 'वैराग्य' है। अन्यथा वैराग्य तो मूढ़ तापसी जीवन का मिथ्या प्रदर्शन मात्र है, जो मनुष्य को संकुचित वृत्ति का बना देता है; इतना ही नहीं, उसकी बुद्धि को इस प्रकार विकृत कर देता है; कि वह उन्माद तथा अन्य पीड़ादायक मनोरोगों का शिकार बन जाता है। विवेक के अभ्यास से उत्पन्न वैराग्य ही आत्मिक उन्नति का साधन है। बौद्धिक परिपक्वता एवं श्रेष्ठतर लक्ष्य के ज्ञान से, तथा वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति और जीवन की घटनाओं के सही मूल्यांकन के द्वारा विषयों के प्रति हमारी आसक्ति स्वतः छूट जानी चाहिए। जीवन में सम्यक् 'अभ्यास' और स्थायी 'वैराग्य' के आ जाने पर, अन्य विक्षेपों के कारणों के अभाव में, मन अपने वश में आ जाता है और तत्पश्चात्, वह एक ही संसार को जानता है और वह है – सन्तुलन और समता का संसार।

तब, फिर, आत्मसंयमरहित पुरुष का क्या होगा?

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

असंयत मन के पुरुष द्वारा योग प्राप्त होना कठिन है, परन्तु स्वाधीन मन वाले प्रयत्नशील पुरुष द्वारा उपाय से योग प्राप्त होना संभव है, यह मेरा मत है ॥३६॥

पूर्व श्लोक में अभ्यास पर अत्यधिक बल दिया गया था, परन्तु अभ्यास क्या है, इसका निर्देश नहीं किया गया। किसी शब्द की परिभाषा तर्क या युक्ति के अभाव में कोई भी शास्त्रीय ग्रन्थ पूर्ण नहीं माना जा सकता। विचाराधीन श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण अभ्यास का अर्थ स्पष्ट करते हैं।

असंयत मन का, अर्थात् विघटित व्यक्तित्व का पुरुष अध्यात्मक साधना के लिये आवश्यक सजगता, उत्साह और सामर्थ्य से रहित होता है और, इस कारण, वह आत्मसाक्षात्कार के शिखर तक नहीं पहुँच पाता है।

जो व्यक्ति शारीरिक सुखों में आसक्त होकर विषयों का दास बन जाता है, अथवा कामुक मन के गाये मृत्युगीत की शोक धुन पर नृत्य करता है, अथवा मदोन्मत्त बुद्धि की विकृत, दुष्ट और अन्तहीन इच्छाओं को पूर्ण करने हेतु इतस्ततः भ्रमण करता रहता है, उस पुरुष में न वह शांति होती है और न स्फूर्ति, जो उसे अन्तरात्मा के मन्दिर तक पहुँचने के लिये उद्यत कर सके।

जब तक इन्द्रियां वश में नहीं होतीं तब तक मन के विक्षेप शान्त नहीं हो सकते। विक्षेप युक्त मन के द्वारा न श्रवण हो सकता है, न मनन और न निदिध्यासन ही। इन तीनों के बिना 'आवरण शक्ति' की निवृत्ति नहीं हो सकती। आवरण और विक्षेप ये क्रमशः तमोगुण और रजोगुण के कार्य हैं। हम देख चुके हैं कि इन दो गुणों को वश में किये बिना सत्वगुण का प्रभाव साधक में दृष्टिगोचर नहीं होता।

वादविवाद की सामान्य पद्धति के अनुसार अपना मत प्रस्तुत करते समय, प्रतियोगी के तर्कों का खण्डन इस प्रकार करना होता है कि वह दोनों मतों के अन्तर को देखकर हमारे दृष्टिकोण की युक्तियुक्तता एवं स्वीकार्यता को समझ सके। इसी पद्धति का उपयोग करते हुए दूसरी पक्ति में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं 'परन्तु स्वाधीन मन वाले प्रयत्नशील पुरुष द्वारा उपाय से योग प्राप्त होना संभव है।' इन्द्रियों को उनके

विषयों से पराङ्‌मुख करना आध्यात्मिक जीवन का प्रथम सोपान है, जो मन को सत्याभिमुख किये बिना संभव नहीं हो सकता।

लौकिक जीवन में भी त्याग और तप के बिना कोई भी लक्ष्य प्राप्त नहीं होता है। चुनाव के समय एक प्रत्याशी का और परीक्षा के पूर्व विद्यार्थी का जीवन, अथवा एक अभिनेता या नर्तकी का रंगमच पर प्रथम कार्यक्रम प्रस्तुत करने के पूर्व का जीवन ये कुछ उदाहरण हैं जिनमें हम देखते हैं कि अपने-अपने कार्य क्षेत्रों में सफलता पाने के लिये ये सभी लोग सामान्य भोगमय जीवन को त्यागकर कठिन परिश्रम करते हैं। यदि केवल सामान्य और अनित्य लौकिक वस्तु या कीर्ति प्राप्त करने के लिए भी इतने बड़े त्याग, तप और संयम की आवश्यकता होती है, तब नित्य, अनन्त, अखण्ड आत्मानन्द की प्राप्ति के लिये कितने अधिक आत्मसंयम की आवश्यकता होगी इसकी कोई भी व्यक्ति सहज ही कल्पना कर सकता है।

इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि साधक को सभी विषयों को पूर्णतया त्याग देना चाहिए। परन्तु प्रायः साधकों की यही धारणा बन जाती है।

धर्म या साधना के नाम पर अनेक साधक कुछ काल तक अत्यन्त कठोर तप का जीवन जीते हैं, जिसमें शरीर को क्लेश देना, शारीरिक आवश्यकताओं एवं प्रवृत्तियों का सर्वथा त्याग और दमन करना सम्मिलित है। इस प्रकार, स्वयं पर ही आसुरी और आत्मघातक अत्याचार करने पर, निश्चय ही, एक समय यही दमित प्रवृत्तियां भयंकर रूप में फूट कर बाहर निकल पड़ती हैं।

कहीं ऐसा न हो कि गीता का अध्येतावर्ग भी इसी भ्रामक विचार का बलि बन जाये, भगवान् कहते हैं कि 'इस योग को प्रयत्नशील साधक उचित उपाय के द्वारा प्राप्त कर सकता है।' केवल चित्रपट देखने न जाने अथवा खेल-कूद को त्यागने से ही कोई विद्यार्थी परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सकता क्योंकि उसके साथ ही अध्ययन में समय का सदुपयोग करना नितान्त आवश्यक होता है। एक बात और भी है कि गणित की परीक्षा हो और विद्यार्थी भूगोल का अध्ययन कर रहा हो, तो उसे कोई विशेष सफलता नहीं मिल सकती। 'उचित प्रयत्न' के द्वारा ही सफलता प्राप्त की जा सकती है।

इसी प्रकार, वैषयिक भोग के त्यागरूप तप के द्वारा संचित शक्ति का उपयोग साधक को निदिध्यासन में करना चाहिए जिसका फल आत्मसाक्षात्कार अर्थात् स्वस्वरूप की पहचान है। 'ऐसा साधनसम्पन्न व्यक्ति इस योग को प्राप्त कर सकता है' आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण का यह आशावादी तत्त्वज्ञान है।

इन दो श्लोकों के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हैं

और आगे के प्रकरण से यह सिद्ध होता है कि अर्जुन उनके उत्तर से सन्तुष्ट हो जाता है।

एक प्रश्न फिर भी रह जाता है कि उस पुरुष की गति क्या होती है, जो संयमित होकर योगाभ्यास करता है, परन्तु योगफल प्राप्त करने के पूर्व ही योग से विचलित हो जाता है ?

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

अर्जुन ने कहा—

हे कृष्ण ! जिसका मन योग से चलायमान हो गया है, ऐसा अपूर्ण प्रयत्न वाला (अयति) श्रद्धायुक्त पुरुष योग की सिद्धि को न प्राप्त होकर किस गति को प्राप्त होता है ? ॥३७॥

इस स्थान पर वेद व्यासजी अर्जुन के मुख से एक अत्यन्त उपयुक्त प्रश्न उठाते हैं, जिससे भगवान् को वेदान्त के महान् आशावादी तत्त्वज्ञान को प्रकाश में लाने का पुनः एक अवसर प्राप्त होता है। योग के दिव्य मार्ग पर चलनें वाला कोई भी साधक कदापि नष्ट नहीं होता; जो कोई उपलब्धि या सफलता वह प्राप्त कर चुकता है, वह धरोहर के रूप में उसके साथ इहलोक और परलोक में भी उपलब्ध रहती है। असंख्य व्यतीत हुए कल की दीर्घश्रृंखला में प्रत्येक आज एक कड़ी के रूप में जुड़ जाता है। इस प्रकार यह श्रृंखला निरन्तर बढ़ती ही जाती है। जीव के अस्तित्वकाल की असंख्य घटनाओं में मृत्यु भी मात्र एक घटना है और आने वाला कल न कोई आकस्मिक घटना होगी और न ही कोई अनिर्धारित प्रारम्भ। वर्तमान के विचारों तथा प्रयत्नों से प्रभावित एवं परिवर्तित भूतकाल ही भविष्य के रूप में प्रकट होता है।

अर्जुन का भगवान् से सावधानी पूर्वक पूछा गया कुछ अस्पष्ट सा प्रश्न यह है कि जो पुरुष पूर्ण श्रद्धा से योग साधना करता है, परन्तु अपने जीवन काल में पूर्ण आत्मसंयम को प्राप्त नहीं होता, अथवा पर्याप्त प्रयत्न के अभाव में योग से उसका मन चलायमान हो जाता है, उसकी गति क्या होगी ? तात्पर्य यह है कि योगाभ्यास में भोग का त्याग करने से उसे विषयों का सुख नहीं मिलेगा तथा उसी प्रकार, योग में सफलता न मिलने के कारण योग का अनन्त आनन्द भी प्राप्त नहीं

होगा। यद्यपि वेदान्ती केवल विषय भोग के जीवन की निन्दा करते हैं, तथापि वे इस तथ्य को कभी नहीं नकारते कि विषयों में क्षणिक सुख तो होता ही है। परन्तु उनके मतानुसार विषयानन्द भी वस्तुतः ब्रह्मानन्द का ही अंश है या आभास है। अर्जुन को भय है है कि सम्भवतः श्रीकृष्ण द्वारा उपदिष्ट योग के पालन में मनुष्य अल्प विषयानन्द और अनन्त ब्रह्मानन्द – दोनों से ही बंचित रह जाएगा।

ऐसा योगी प्रयत्नपूर्वक स्वयं को लौकिक विषयों के प्रलोभनों से सुरक्षित रखेगा। परन्तु, यदि साधना में रत उस योगी के जीवन–सूत्र को अनिश्चित काल की कैंची द्वारा काट दिया जाय, तो वह ब्रह्मानन्द को पाने का अवसर खो देगा, जिसे गीता में जीवन के लक्ष्य के रूप में निर्देशित किया गया है। अथवा, हो सकता है कि योगी का मन किसी कारण से विचलित हो जाये। योग में सफलता पाना निःसन्देह ही महान् विजय है – सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। परन्तु यदि अदृश्य कामुक वृत्ति रूपी गदा के द्वारा साधक धराशाही हो जाए, तो उसे इहलोक और परलोक का भी सुख नहीं मिलेगा। अतः अर्जुन ऐसे साधक की गति जानना चाहता है।

इस श्लोक में भी कथित श्रद्धा को अन्धविश्वास नहीं समझना चाहिए। बुद्धि की उस क्षमता को श्रद्धा कहते हैं, जिसके द्वारा शास्त्र और आचार्य के उपदेशों के तात्पर्य को समझ कर तत्त्व को पहचाना जा सकता है। बुद्धि के निश्चय से हृदय में उमड़ने वाली भक्ति की उस प्रबल शक्ति को श्रद्धा कहते हैं 'जो पर्वतों को हिला सकती है' और 'स्वर्ग को पृथ्वी पर उतार सकती है।'

योगभ्रष्ट पुरुष के चित्र को और अधिक स्पष्ट करने के लिए अर्जुन आगे कहता है :

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

हे महाबाहो! क्या वह ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग में मोहित तथा आश्रयरहित पुरुष छिन्न-भिन्न मेघ के समान दोनों ओर से भ्रष्ट हुआ नष्ट तो नहीं हो जाता है? ॥३८॥

सम्भव है कि ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग पर चलता हुआ कोई श्रद्धावान् साधक मृत्यु का ग्रास बन जाए अथवा पर्याप्त संयम के अभाव में योग से पतित हो जाए। उसके पतन को दर्शाने के लिए, जो अत्यन्त उपयुक्त और प्रभावोत्पादक दृष्टान्त अर्जुन के मुख से महर्षि व्यासजी ने दिया है, उसे प्रायः साहित्यिक क्षेत्र में उद्धृत किया जाता है।

कभी–कभी ग्रीष्म ऋतु में पर्वतों के पार्श्वभाग से कोई छत्रवत् मेघमालिका ऊर्ध्वदिशा में उठती हुई दृष्टिगोचर होती है। परन्तु तीव्रवेग से प्रवाहित वायु के स्पर्श से वह मेघ समूह अनेक छोटे-छोटे मेघ-खण्डों में विभक्त हो जाता है। ये मेघ खण्ड पूर्णतया प्रबल वायु की दया पर आश्रित इतस्ततः लक्ष्यहीन भ्रमण करते रहते हैं। ग्रीष्म ऋतु के ये मेघ न कृषकों की अपेक्षाएं पूर्ण कर सकते हैं और न तृषितों की पिपासा को ही शांत कर सकते हैं। किसी सुरक्षित स्थान को न प्राप्त कर अन्त में वे स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं। अर्जुन का प्रश्न है कि 'क्या योगभ्रष्ट पुरुष की गति भी उस मेघ के समान ही नहीं होगी ?'

अर्जुन यह प्रश्न क्यों पूछता है ? वह स्वयं ही इसका कारण बताता है :

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ।।३९।।

हे कृष्ण ! मेरे इस संशय को निःशेष रूप से छेदन (निराकरण) करने के लिए आपही योग्य हैं; क्योंकि आपके अतिरिक्त अन्य कोई इस संशय का छेदन करने वाला (छेत्ता) मिलना संभव नहीं है ।।३९।।

इस प्रकरण के अन्तिम श्लोक में अर्जुन स्पष्ट कहता है कि 'हे कृष्ण ! आप मेरे इस संशय को दूर कीजिए।'

केवल भगवान् कृष्ण ही अर्जुन के इस संशय का निराकरण करके उसके मन के विक्षेपों को शान्त कर सकते थे। इस प्रश्न से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसकी पूर्व की शंका पूर्णतः निवृत्त हो चुकी थी। उसकी पूर्व शंका समत्वयोग की अशक्यता के सम्बन्ध में थी, जिसका मुख्य कारण था मन का चंचल स्वभाव।

जो कोई भी जिज्ञासु साधक सम्पूर्ण हृदय से साधना करता है, उसके मन में एक शंका के निवृत्त होने पर अन्य शंकाएं और प्रश्न उठते रहते हैं। संशयनिवृत्ति का उपाय है – मनन। सत्संगत से भी विचार प्राप्त होकर संशय दूर हो जाते हैं।

प्रत्येक साधक की साधना एवं भावना के आधार पर उसे देहत्याग के पश्चात् श्रेष्ठ जीवन का आश्वासन भगवान् देते हैं।

अगले पांच श्लोकों में भगवान् उन योगियों की गति बताते हैं, जिनकी साधना मृत्यु के कारण अपूर्ण रह जाती है, अथवा मन की बहिर्मुखी प्रवृत्ति के कारण वे योग से पतित हो जाते हैं।

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ।।४०।।

श्रीभगवान् ने कहा-

हे पार्थ ! उस पुरुष का, न तो इस लोक में और न परलोक में ही नाश होता है; हे तात ! कोई भी शुभ कर्म करने वाला दुर्गति को नहीं प्राप्त होता है ।।४०।।

अपने उत्तर के प्रारम्भ में ही भगवान् स्पष्ट आश्वासन देते हैं कि 'कोई भी शुभ कर्म करने वाला न इहलोक और न परलोक में दुर्गति को प्राप्त होता है।'

भगवान् का यह कथन किसी अन्धविश्वास पर आधारित मात्र भावुक आश्वासन नहीं है, अथवा न किसी देवदूत के माध्यम से दिया गया दैवी आदेश है जिसे धर्म परायण लोगों को स्वीकार ही करना है। मनुष्य की बुद्धि एवं तर्क के विरुद्ध किसी भी मत को हिन्दू स्वीकार नहीं करते, चाहे वह मत किसी देवता का ही क्यों न हो। धर्म 'जीवन का विज्ञान' है और इसलिये उसमें प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं साधनाओं का युक्तियुक्त विवेचन भी होना आवश्यक है।

हमारी संस्कृति की इस विशिष्टता के अनुरूप ही भगवान् अपने कथन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'हे तात ! कोई भी शुभ कर्म करने वाला, दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।' वर्तमान में पुण्य कर्म करनें वाला भविष्य में कभी दुःख नहीं पायेगा, क्योंकि भूत और बर्तमान का परिणत रूप ही भविष्य है।

अर्जुन को योगभ्रष्ट के नाश की आशंका होने का कारण यह था कि जीवन की निरन्तरता एवं नियमबद्धता को वह ठीक से समझ नहीं पाया था। जन्म और मृत्यु के साथ ही जीव के अस्तित्व का प्रारम्भ और नाश हुआ समझना दर्शनशास्त्र की प्रारम्भिक अवस्था में ही संभव है। वस्तुतः ऐसे सिद्धान्त को दर्शन भी नहीं कहा जा सकता है।

साहसिक बुद्धि के जो जिज्ञासु साधक जीवन के नियम एवं अर्थ तथा विश्व के प्रयोजन को जानना चाहते हैं उन्हें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मनुष्य का वर्तमान जीवन सत्य के वक्षस्थल को सुशोभित करने वाले अनन्त सौन्दर्य के कण्ठाभरण का एक मुक्ता है। भूत का परिणाम है वर्तमान, और प्रत्येक विचार, ज्ञान एवं कर्म के द्वारा हम भविष्य की रूपरेखा खींच रहे होते हैं। हिन्दुओं में देहधारी जीव के पूर्व-

जन्म तथा पुनर्जन्म में विश्वास किया जाता है। इसी को पुनर्जन्म का सिद्धान्त कहते हैं।

इसी सिद्धान्त के आधार पर श्रीकृष्ण यहां योगी के विनाश अथवा दुर्गति की संभावना को नकारते हैं। हो सकता है कि कभी-कभी साधक का पतन होते हुए या मृत्यु होती हुई दिखाई दे, किन्तु उसका विनाश नहीं होता। आज का परिणत रूप भविष्य है।

पुत्र को संस्कृत में तात कहते हैं। उपनिषदों में भी शिष्य को पुत्र रूप में संबोधित किया गया है। उसी परम्परा के अनुसार अर्जुन को 'तात' कह कर संबोधित करने में उसके प्रति भगवान् का पुत्रवत भाव स्पष्ट हो जाता है। कोई व्यक्ति अन्य लोगों के प्रति कितना ही दुष्टता अथवा वंचना का भाव क्यों न रखता हो, परन्तु अपने ही पुत्र को हानि पहुँचाने का विचार उसके मन में कभी नहीं आता। इसी पितृप्रेम से श्रीकृष्ण अर्जुन को आश्वस्त करते हैं कि साधक का कभी वास्तविक पतन नहीं होता। आत्मिक विकास की सीढ़ी पर एक भी सोपान चढ़ने का अर्थ है पूर्णत्व की ओर बढ़ना।

योगसिद्धि को जो प्राप्त नहीं हुआ, उसकी निश्चित रूप से क्या गति होती है? भगवान् कहते हैं:

प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानों के लोकों को प्राप्त होकर वहां दीर्घकाल तक वास करके शुद्ध आचरण वाले श्रीमन्त (धनवान) पुरुषों के घर में जन्म लेता है ॥४१॥

परलोक की गति इहलोक में किये गये कर्मों तथा उनके प्रेरक उद्देश्यों पर निर्भर करती है। कर्म मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं – पाप और पुण्य। पाप कर्म का आचरण करने वालों की अधोगति होती है; केवल पुण्यकर्म का आश्रय लेने वाले ही आध्यात्मिक उन्नति करते हैं। हमारे शास्त्रों में इन पुण्यकर्मों को भी दो वर्गों में विभाजित किया गया है: (क) सकाम कर्म, अर्थात् इच्छा से प्रेरित कर्म, और (ख) निष्काम कर्म, अर्थात् समर्पण की भावना से ईश्वर की पूजा समझकर किया गया कर्म। कर्म का फल कर्त्ता के उद्देश्य के अनुरूप ही होता है; इसलिए सकाम और निष्काम कर्मों के फल निश्चय ही भिन्न होते हैं। स्वाभाविक है, पूर्णत्व के चरम लक्ष्य तक पहुँचने के इन पुण्यकर्मियों के मार्ग भी भिन्न-भिन्न होंगे। इस प्रकरण में उन्हीं मार्गों को दर्शाया गया है।

जो लोग स्वर्गादि लोकों को प्राप्त करने की इच्छा से ईश्वर की आराधना यज्ञयागादि तथा अन्य पुण्य कर्म करते हैं उन्हें. देहत्याग के पश्चात्, ऐसे ही लोकों की प्राप्ति होती है, जो उनकी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिये अनुकूल हों। उस लोक में वास करके वे पुन: इस लोक में 'शुद्ध आचरण वाले धनवान् पुरुषों के घर में जन्म लेते हैं।' संक्षेप में, यदि दृढ़ इच्छा तथा समुचित प्रयत्न किये गये हों तो मनुष्य की कोई भी इच्छा हो वह यथासमय पूर्ण होती ही है।

परन्तु निष्काम भाव से पुण्य कर्म करने वालों की क्या गति होती है? भगवान् कहते हैं:

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

अथवा, (साधक) ज्ञानवान् योगियों के ही कुल में जन्म लेता है, परन्तु इस प्रकार का जन्म इस लोक में नि:संदेह अति दुर्लभ है ॥४२॥

इस श्लोक में ऐसे निष्काम साधक की गति दर्शायी गयी है, जिसे स्वर्गादि लोकों की कोई आवश्यकता नहीं रहती। निष्काम-भाव से की गई उपासना के फल-स्वरूप योगी को शुद्धान्त:करण तथा एकाग्रता प्राप्त होती है जिनके द्वारा वह ध्यान की उच्च साधना करने के योग्य बन जाता है। इस प्रकार के श्रेष्ठ साधक को ऐसा अवसर प्रदान करना चाहिये कि वह, देहत्याग के पश्चात्, सीधे ही पुन: इस लोक में जन्म लेकर अपने मार्ग पर अग्रसर हो सके। उसे स्वर्ग जाने की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह वैराग्यवान् है, जब कि स्वर्ग भोगभूमि है। भगवान् कहते हैं कि ऐसा निष्काम साधक मृत्यु के पश्चात् तत्काल ही 'ज्ञानवान् योगियों के कुल में जन्म लेता है' जहां वह अपनी साधना को निर्विघ्न पूर्ण कर सकता है।

आजकल मनुष्य के दुराचरण के लिये बाह्य वातावरण एवं परिस्थितियों को ही दोषी बताकर सबको अपनें आसपास के वातावरण के विरुद्ध उत्तेजित किया जाता है; परन्तु उपर्युक्त श्लोकों में कथित सिद्धान्त इस प्रचलित मान्यता का खण्डन करता है। नि:सन्देह ही एक सीमा तक मनुष्य बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित होता है; किन्तु दर्शनशास्त्र की दृष्टि से देखने पर ज्ञात होगा कि सभी मनुष्य वर्तमान में जिन वातावरण और परिस्थितियों में रह रहे हैं, उसका कारण भूतकाल में किये गये उन्हीं के अपने कर्म ही हैं। बाह्य परिस्थितियों के परिवर्तन मात्र से व्यक्ति में वास्तविक सुधार नहीं हो सकता। यदि मदिरापान के अभ्यस्त व्यक्ति को किसी ऐसे नगर में ले जाएं, जहां सुरापान वर्जित है, तो वह व्यक्ति वहां भी छिपकर

मदिरापान करता ही रहेगा।

श्री शंकराचार्य, ईसा मसीह, गौतम बुद्ध तथा अनेक अन्य महान् पुरुषों के उदाहरण विचाराधीन श्लोक में कथित सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे मेधावी पुरुष विरले ही होते हैं, जिनमें कुमार अवस्था में ही अलौकिक बुद्धिमत्ता एवं ईश्वरीय ज्ञान के दर्शन होते हैं। भगवान् स्वयं कहते हैं कि 'इस प्रकार का जन्म लोक में अति दुर्लभ है।' पूर्व श्लोक में कहा गया है कि राग युक्त योगी स्वर्ग प्राप्ति के पश्चात् जन्म लेता है, जब कि यहां वैराग्यवान् योग-भ्रष्ट के विषय में कहते हैं कि वह सीधे ही ज्ञानी योगी के घर में जन्म लेकर पूर्णत्व प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर होता है।

योगाभ्यास के लिए अनुकूल वातावरण में जन्मे हुए योगभ्रष्ट पुरुष की स्थिति क्या होती है ? भगवान् कहते हैं :

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

हे कुरुनन्दन ! वह पुरुष वहां पूर्व देह में प्राप्त किये ज्ञान से सम्पन्न होकर योगसंसिद्धि के लिए उससे भी अधिक प्रयत्न करता है ॥४३॥

किसी को यह आशंका हो सकती है कि पुनर्जन्म लेने पर उस साधक को पुनः प्रारम्भ से साधना का अभ्यास करना पड़ेगा। यह आशंका निर्मूल है। भगवान् कहते हैं कि योग के अनुकूल वातावरण में जन्म लेने के पश्चात वह पुरुष पूर्व देह में अर्जित ज्ञान से सम्पन्न हो जाता है, जिनके कारण अन्य लोगों की अपेक्षा वह अपनी शिक्षा को अधिक सरलता से पूर्ण कर लेता है। कारण यह है कि उसके लिए यह कोई नवीन अध्ययन नहीं, वरन् पूर्वार्जित ज्ञान की मात्र पुनरावृत्ति या सिंहावल-लोकन ही होता है। अल्पकाल में ही वह अपने हृदय में ही ज्ञान को सिद्ध होते हुए देखता है, जो अव्यक्त रूप में पूर्व से ही निहित था।

इतना ही नहीं कि वह पौर्वदेहिक ज्ञान से युक्त होता है किन्तु वह फिर संसिद्धि के लिए पूर्व से भी अधिक प्रयत्न करता है। उसमें उत्साह, क्षमता तथा प्रयत्न की कमी नहीं होती। प्रयत्न रहित ज्ञान साधक के लिए दुःखदायी भार ही बनता है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'हे कुरुनन्दन ? योगभ्रष्ट पुरुष संसिद्धि के लिये और भी अधिक प्रयत्न करता है।'

पौर्वदेहिक बुद्धि संयोग का प्रभाव बताते हुए कहते हैं :

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।।४४।।

उसी पूर्वाभ्यास के कारण वह अवश हुआ योग की ओर आकर्षित होता है । योग का जो केवल जिज्ञासु है, वह शब्दब्रह्म का अतिक्रमण करता है ।।४४।।

बैंक में हमारे खाते में जमाराशि वही होगी जो 'पासबुक' में दर्शायी गयी होती है । बैंक से हमें उस राशि से अधिक धन नहीं प्राप्त हो सकता और न ही कम राशि दिखाकर हमें धोखा दिया जा सकता है । इसी प्रकार व्यक्ति के हृदय के विकास में भी कोई देवता उस व्यक्ति को उसके प्रयत्नों से अधिक न दे सकता है और न कुछ अपहरण कर सकता है । प्रतिदिन के जीवन में अनुभूत अखण्डता के समान ही प्रत्येक जन्म पूर्व जीवन की अगली कड़ी है । जैसे आज का दिन बीते हुए कल का विस्तार है । इस तथ्य को सम्यक् प्रकार से ध्यान में रखकर इस श्लोक का मनन करने पर इसका तात्पर्य सरलता से समझ में आ जाएगा ।

जिस व्यक्ति ने अपने पूर्व जन्म में योग साधना की होगी, वह उस पूर्वाभ्यास के कारण अपने आप अवश हुआ योग की ओर आकर्षित होगा । हमारे इस लोक के जीवन में भी इस तथ्य की सत्यता प्रमाणित होती है । एक शिक्षित तथा सुसंस्कृत व्यक्ति के व्यवहार और संभाषण में उसकी शिक्षा का प्रभाव सहज ही व्यक्त होता है, जिसके लिये उसे कोई प्रयास नहीं करना पड़ता । कोई भी सुसंस्कृत व्यक्ति दीर्घ-काल तक सफलतापूर्वक मूढ़ पुरुष का अभिनय नहीं कर सकता और, उसी प्रकार, न ही एक दुष्ट व्यक्ति सभ्य पुरुष जैसा व्यवहार कर सकता है । कभी-न-कभी वे दोनों अनजाने ही अपने वास्तविक स्वभाव का परिचय सम्भाषण, विचार और कर्म द्वारा करा देंगे ।

इसी प्रकार योगभ्रष्ट पुरुष भी जन्म लेने पर अवश–सा हुआ स्वत: ही योग की ओर खिचा चला जाएगा । यदि जीवन में प्रतिकूल परिस्थितियां आती हैं, तब भी उन सभी में जिस सम और शान्त भाव में वह रहता है, वह स्वयं उसके लिये भी एक आश्चर्य ही होता है ।

यह मात्र सिद्धांत नहीं है । समाज के सभी स्तरों के जीवन में इसका सत्यत्व प्रमाणित होता है । पूर्व संस्कारों की शक्ति अत्यन्त प्रबल होती है । एक लुटेरा भी दृढ़ निश्चयपूर्वक की गयी साधना के फलस्वरूप आदि कवि बाल्मीकि बन गया । ऐसे अनेक उदाहरण हमें इतिहास में देखने को मिलते हैं । इन सबका सन्तोषजनक

स्पष्टीकरण यही हो सकता है कि जीव का अस्तित्व देह से भिन्न है, जो अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न शरीर धारण करता है। इसलिये उसके अर्जित संस्कारों का प्रभाव किसी देह विशेष में भी दृष्टिगोचर होता है।

योगभ्रष्ट पुरुष पुनः साधना मार्ग पर अग्रसर हो जाता है। उसे चाहे राजसिंहासन पर अभिषिक्त कर दिया जाय अथवा बाजार के कोलाहल या किसी गली के असम्मानपूर्ण स्थान पर बैठा दिया जाय, सभी स्थानों पर उसकी सहृदयता और उसका दार्शनिक स्वभाव छिपा नहीं रह सकता। चाहे वह संसार की समस्त सम्पत्ति का स्वामी हो जाये, चाहे राजसत्ता की असीम शक्ति उसे प्राप्त हो जाये, चाहे अपार आदर और स्नेह उसे मिले किन्तु इन समस्त प्रलोभनों के द्वारा उसे योगमार्ग से विचलित नहीं किया जा सकता। यदि सम्पूर्ण जगत् उसके विचित्र व्यवहार एवं असामान्य आचरण को विस्मय से देखता हो, तो वह स्वयं भी अपनी ओर सबसे अधिक आश्चर्य से देख रहा होता है !!

इस ध्यानयोग की महत्ता को दर्शाते हुए भगवान् कहते हैं कि "जो केवल योग का जिज्ञासु है वह शब्द ब्रह्म का अतिक्रमण कर जाता है।" श्री शंकराचार्य के अनुसार शब्दब्रह्म से तात्पर्य वेदों के कर्मकाण्ड से है, जहाँ विभिन्न प्रकार के फल प्राप्त करने के लिए यज्ञयागादि साधन बताए गये है। अर्थ यह हुआ कि जो केवल जिज्ञासु है, वह इन सब फलों की कामना से मुक्त हो जाता है तब फिर ज्ञानी के विषय में क्या कहना ?

किस कारण से योगी श्रेष्ठ है ? इस पर कहते हैं :

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

परन्तु प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने वाला योगी सम्पूर्ण पापों से शुद्ध होकर अनेक जन्मों से (शनैः शनैः) सिद्ध होता हुआ, तब परम गति को प्राप्त होता है ॥४५॥

मनुष्य अपने पूर्व जन्मों में संचित संस्कारों के अनुसार स्थूल शरीर के द्वारा जगत् में कर्म करता है। ये वासनायें ही उसके विचारों को दिशा प्रदान करती हैं और उन्हीं के अनुसार वर्तमान में कर्मों की योग्यता निश्चित होती है। मन और बुद्धिरूप अन्तःकरण में स्थित इन वासनाओं को 'पाप अथवा 'चित्त की अशुद्धि' कहते हैं। इनके क्षय का उपाय हैं – कर्मयोग'।

सर्वप्रथम पाप-वासनाओं का त्याग करते हुए पुण्यमय रचनात्मक संस्कारों

का संचय करना चाहिये। ध्यानाभ्यास में ये पुण्य संस्कार भी विघ्नकारक सिद्ध हो सकते हैं। तथापि अभ्यास को निरन्तर बनाये रखने से जब मन अलौकिक आन्तरिक शान्ति में स्थिर हो जाता है, तब पुण्य वासनायें भी समाप्त हो जाती हैं। वासनाक्षय के साथ मन और अहंकार दोनों ही नष्ट हो जाते हैं और यही 'परम गति' अथवा 'आत्म साक्षात्कार' की स्थिति है।

यद्यपि इस सिद्धान्त का वर्णन पुस्तक के अर्धपृष्ठ में ही किया जा सकता है, परन्तु इसमें पूर्ण सफलता प्राप्त करना अनेक जन्मों के सतत प्रयत्नों का फल है। यहाँ "अनेकजन्मसंसिद्धः" शब्द का स्पष्ट प्रयोग किया गया है, जो अत्यन्त उपयुक्त है ; क्योंकि मनुष्य का विकास कोई रंगमञ्च पर खेला गया संन्ध्याकालीन नाटक नहीं, वरन् अनेक युगों में की गई उन्नति का इतिहास है। तत्त्वदर्शी ऋषियों का यह सही विचार हैं।

जिस पुरुष में जीवन को समझने की प्रवृत्ति, आत्मसाक्षात्कार के लिये व्याकुलता, विषय सुख की व्यर्थता को जानने की क्षमता, ऋषियों के पदचिन्हों पर चलने का साहस, परम शान्ति की इच्छा, नैतिक जीवन जीने की सामर्थ्य और परम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये अपना सर्वस्व बलिदान करने की तत्परता होती है, वही वास्तव में 'मनुष्य' कहलाने योग्य होता है। ऐसा ही श्रेष्ठ साधक पुरुष सत्य के मन्दिर में प्रवेश पाने का अधिकारी होता है।

यदि ध्यानाभ्यास में हमारी रुचि है, तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा है और दिव्य जीवन जीने का हममें साहस है, तो इसी क्षण – यही वर्तमान जन्म हमारा अन्तिम जन्म हो सकता है।

गीता के अध्येता जानते हैं कि यह कोई नवीन मौलिक अर्थ नहीं बताया गया है। जो पवित्र शास्त्रग्रन्थ पुनः पुनः सत्य की घोषणा करता हुआ मनुष्य में आशा और उत्साह का संचार करता चला आ रहा है, जिसमें कहीं भी नरक में जाने का भय नहीं दिखाया गया है, उसके सम्बन्ध में ऐसा नहीं माना जा सकता कि अकस्मात् उसने उपदेश में परिवर्तन करके मनुष्य को "अनेक जन्मों के पश्चात्" ही मुक्ति का आश्वासन दिया है। यद्यपि अनेक धर्म प्रवंचक इस प्रकार का विपरीत अर्थ करते हैं, तथापि बुद्धिमान पुरुष को धोखा नहीं दिया जा सकता। यहाँ बताये हुए अनेक जन्म ज्ञान प्राप्ति के पूर्व के हैं और न कि भावी।

इसलिये .

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।।४६।।

क्योंकि योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है और (केवल शास्त्र के) ज्ञानवालों से भी

श्रेष्ठ माना गया है तथा कर्म करने वालों से भी योगी श्रेष्ठ है, इसलिये हे अर्जुन तुम योगी बनो ॥४६॥

आत्मिक उन्नति के अनेक साधनों में ध्यान की महत्ता को दर्शाने के लिये भगवान् यहां विभिन्न प्रकार के साधकों का निर्देश करके उनमें योगी को सर्वश्रेष्ठ बताते हैं। मन्दबुद्धि के वे लोग जो विचाररहित केवल शारीरिक तप करते हैं, उन तपस्वियों से निश्चित ही योगी श्रेष्ठ हैं।

ज्ञानियों से भी योगी श्रेष्ठ माना गया है। यहां ज्ञानी से तात्पर्य शास्त्रपांडित्य रखने वाले पुरुष से है।

सकाम अथवा निष्काम कर्म करने वालों से भी योगी श्रेष्ठ है। निष्काम भाव से कर्म अथवा उपासना करने वाले अनेक साधकों की यह धारणा होती है कि इनके द्वारा ही परम लक्ष्य की प्राप्ति हो जाएगी।

भगवान् कहते हैं कि जो योगी अपने शरीर, मन और बुद्धि के साथ के मिथ्या तादात्म्य को दूर करके आत्मानुसंधान करता है, वह तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी से श्रेष्ठ है, क्योंकि वह सत्य के अत्यन्त समीप होता है। "इसलिए, हे अर्जुन ! तुम योगी बनो।"

योगी भी अनेक प्रकार के होते हैं, जिनमें प्रत्येक का ध्येय भिन्न हो सकता है। अतः उन सब में श्रेष्ठ योगी कौन है ? भगवान् कहते हैं :

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

समस्त योगियों में भी जो श्रद्धावान् योगी मुझ में युक्त हुये अन्तरात्मा से (अर्थात् एकत्व भाव से) मुझे भजता है, वह मुझे युक्ततम (सर्वश्रेष्ठ) मान्य है ॥४७॥

पूर्व श्लोक में आध्यात्मिक साधनाओं का तुलनात्मक मूल्यांकन करके ध्यानयोग को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध किया गया है। अब, इस श्लोक में समस्त योगियों में भी सर्वश्रेष्ठ योगी कौन है, इसे स्पष्ट किया गया है। ध्यानाभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था में साधक को प्रयत्नपूर्वक ध्येय विषयक वृत्ति बनाये रखनी पड़ती है और मन को बारम्बार विजातीय वृत्ति से परावृत्त करना पड़ता है। स्वाभाविक ही है कि प्रारम्भ में ध्यान प्रयत्नपूर्वक ही होगा, सहज नहीं। ध्येय (ध्यान का विषय) के स्वरूप तथा मन को स्थिर करने की विधि के आधार पर ध्यान साधना का विभिन्न प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है।

इस दृष्टि से हमारी परम्परा में प्रतीकोपासना, ईश्वर के सगुण साकार रूप का ध्यान, गुरु की उपासना, कुण्डलिनी पर ध्यान अथवा मन्त्र का जपरूप ध्यान आदि का उपदेश किया गया है। इसी आधार पर कहा जाता है कि योगी भी अनेक प्रकार के होते हैं। यहाँ भगवान् स्पष्ट करते हैं कि उपर्युक्त योगियों में श्रेष्ठ और सफल योगी कौन है।

"जो श्रद्धावान् योगी मुझ से एकरूप हो गया है तथा मुझे भजता है वह युक्ततम है।" यह श्लोक सम्पूर्ण योगशास्त्र का सार है और इस कारण इसके गूढ़ अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए अनेक ग्रंथों की रचना की जा सकती है। यही कारण है कि भगवान् आगामी सम्पूर्ण अध्याय में इस मन्त्र रूप श्लोक की व्याख्या करते हैं।

इस अध्याय को समझनें की दृष्टि से इस स्थान पर इतना ही जानना पर्याप्त होगा कि ध्यानाभ्यास का प्रयोजन मन को संगठित करने में उतना नहीं है, जितना कि अन्तःकरण को आत्मस्वरूप में लीन करके शुद्ध स्वरूप की अनुभूति करने में है। यह कार्य वही पुरुष सफलतापूर्वक कर सकता है, जो श्रद्धायुक्त होकर मेरा अर्थात् आत्मस्वरूप का ही भजन करता है।

भजन शब्द के साथ अनेक अनावश्यक अर्थ जुड़ गए हैं और आजकल इसका अर्थ होता है कर्मकाण्ड अथवा पौराणिक पूजा का विशाल आडम्बर। ऐसी पूजा का न पुजारी के लिये विशेष अर्थ होता है और न उन भक्तों को जो पूजा कर्म को देखते हुए खड़े रहते हैं। कभी-कभी भजन का अर्थ होता है वाद्यों के साथ उच्च स्वर में कीर्तन करना जिसमें भावुक प्रकृति के लोगों को बड़ा रस आता है और वे भावावेश में उत्तेजित होकर अन्त में थक जाते हैं। यदा कदा ही उन्हें आत्मानन्द का अस्पष्ट-सा भान होता होगा। वेदान्त शास्त्र में भजन का अर्थ है "जीव का समर्पण भाव से किया गया सेवा कर्म।" भक्तिपूर्ण समर्पण से उस साधक को मन से परे आत्मतत्त्व का साक्षात् अनुभव होता है। इस प्रकार जो योगी आत्मानुसंधान रूप भजन करता है, वह परमात्मस्वरूप में एक हो जाता है। ऐसे ही योगी को यहां सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

वेदान्त की भाषा में कहा जायगा कि जिस योगी ने अनात्म, जड़-उपाधियों से तादात्म्य दूर करके आत्मस्वरूप को पहचान लिया है, वह श्रेष्ठतम योगी है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः॥

इस प्रकार श्रीकृष्णार्जुनसंवाद के रूप में ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र स्वरूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् का ध्यानयोग नामक छठवां अध्याय समाप्त होता है।

आध्यात्मिक साहित्य प्रस्थानत्रय अर्थात् उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता में किसी भी एक स्थान पर ध्यान योग के विषय में इतना विस्तृत विवेचन नहीं मिलता है, जितना इस अध्याय में है। यहां न केवल ध्यानविधि का वर्णन किया गया है, वरन् सभी संभावित विघ्नों के संकेत तथा उनसे सुरक्षित रहने के उपाय भी दर्शाये गये हैं। सभी शास्त्रों में लक्ष्य प्राप्ति के लिये ध्यान का साधन बताया गया है : परन्तु इस अध्याय के समान उसका विस्तृत वर्णन कहीं नहीं किया गया है। इसलिए साधकों के लिये गीता के इस अध्याय का अध्ययन उपयोगी सिद्ध होगा। अतः इस अध्याय का नाम 'ध्यानयोग' होना उपयुक्त ही है।

ॐ

सप्तम अध्याय

ज्ञानविज्ञानयोग

अनेक व्याख्याकारों ने विषय प्रतिपादन की दृष्टि से गीता के अष्टादश अध्यायों का तीन विभागों में वर्गीकरण किया है, जिसके प्रत्येक विभाग में छः अध्याय हैं। उनके विचारानुसार, गीता उपनिषदों का सार होने के कारण उसमें उपनिषद् के महावाक्य – "तत्त्वमसि" द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान ही उपदिष्ट है।

वेद चार हैं; उसमें से प्रत्येक वेद से एक महावाक्य लिया गया है। इस प्रकार महावाक्य भी चार[1] हैं, जो एक ही परम सत्य को लक्षित करते हैं। उनमें से 'तत् त्वम् असि' (वह तुम हो) महावाक्य को कहते हैं – उपदेश वाक्य। इस सूत्ररूप वाक्य में सम्पूर्ण वेदों में उपदिष्ट ज्ञान निहित है, और इसलिए इस वाक्य के प्रत्येक शब्द के तात्पर्य को समझने के लिए विस्तृत ग्रन्थरूप व्याख्याओं की आवश्यकता है।

प्रथम षडाध्यायी (छः अध्यायों का एक विभाग) में त्वम् पद ('तुम' शब्द) का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है, तो सातवें अध्याय से लेकर बारहवें अध्याय तक की द्वितीय षडाध्यायी में महाकाव्य के 'तत्' पद का विवेचन है। अतः इस अध्याय से लेकर आगे के अध्यायों में हिन्दू शास्त्रों में निर्दिष्ट आध्यात्मिक ज्ञान के लक्ष्य के शुद्ध स्वरूप का बोध कराया गया है। तत् और त्वम् शब्दों के लक्ष्यार्थ के ऐक्य का बोधक शब्द है – 'असि' (हो), जिसका निरूपण छः अध्यायों के अन्तिम विभाग में किया गया है।

पूर्व अध्याय में न केवल आत्मसाक्षात्कार के साधन ध्यानयोग का वर्णन किया, बल्कि वृन्दावन बिहारी भगवान् श्रीकृष्ण ने अपना मत बताते हुए योगी को तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी की अपेक्षा श्रेष्ठ भी कहा। अन्त में उन्होंने यह भी कहा कि 'इन योगियों में भी जिसका अन्तःकरण आत्मस्वरूप मुझमें पूर्णतया लीन हो गया है, वह साधक युक्ततम है।'

---

१. चार महावाक्य हैं – १. प्रज्ञानं ब्रह्म। २. तत्त्वमसि। ३. अयमात्मा ब्रह्म, और ४. अहं ब्रह्मास्मि।

अर्जुन के मन में यह शंका उठ सकती है कि एक परिच्छिन्न जीव के अन्तः-करण के द्वारा अनन्त स्वरूप का ग्रहण कैसे संभव हो सकता है। इस शंका के निवारणार्थ भगवान् श्रीकृष्ण इस अध्याय का प्रारम्भ करते हुए वचन देते हैं कि वे ज्ञान और विज्ञान को समग्रतः बतायेंगे, जिससे किसी प्रकार की शंका शेष नहीं रहेगी। अपने विषय के प्रतिपादन तथा विस्तृत विवेचन करने में, संभवतः, किसी भी अन्य धर्म ग्रन्थ की तुलना गीता के साथ नहीं की जा सकती। गीता एक अनुपम ग्रन्थ है। गीता न केवल तत्त्वज्ञान का ग्रन्थ है, वरन् विश्व के साहित्य में वह ज्ञान और सौन्दर्य से परिपूर्ण एक श्रेष्ठ साहित्यिक रचना भी है।

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

हे पार्थ ! मुझमें आसक्त हुऐ मन वाले तथा मदाश्रित होकर योग का अभ्यास करते हुये जिस प्रकार तुम मुझे समग्ररूप से, बिना किसी संशय के, जानोगे वह सुनो ॥१॥

ध्यानाभ्यास का आरम्भ करने के पूर्व साधक जब तक केवल बौद्धिक स्तर पर ही वेदान्त का विचार करता है, जैसा कि प्रारम्भ में होना स्वाभाविक है, तब तक उसके मन में प्रश्न उठता रहता है कि परिच्छिन्न मन के द्वारा अनन्तस्वरूप सत्य का साक्षात्कार किस प्रकार किया जा सकता है ? यह प्रश्न सभी जिज्ञासुओं के मन में आता है और इसलिये वेदान्त शास्त्र इस विषय का विस्तार से वर्णन करता है कि किस प्रकार ध्यान की प्रक्रिया से मन अपनी ही परिच्छिन्नताओं से ऊपर उठकर अपने अनन्त स्वरूप का अनुभव करता है।

इस षडध्यायी के विवेच्य विषय की प्रस्तावना करते हुए श्रीकृष्ण अर्जुन को वचन देते हैं कि वे आत्मसाक्षात्कार के सिद्धान्त एवं उपायों का समग्रतः वर्णन करेंगे, जिससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि किस प्रकार सुसंगठित मन के द्वारा आत्मस्वरूप का ध्यान करने से आत्मा की अपरोक्षानुभूति होती है। ध्यान के सन्दर्भ में मन शब्द का प्रयोग होने पर उससे शुद्ध व एकाग्र मन का ही अभिप्राय है, न कि अशक्त तथा विखंडित मन। अनुशासित और संगठित मन जब अपने स्वरूप में समाहित होता है तब साधक का विकास तीव्रगति से होता है। इस प्रकरण का विषय है – आन्तरिक विकास का युक्तियुक्त विवेचन।

श्रीभगवान् कहते हैं :

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।।२।।

मैं तुम्हारे लिये विज्ञान सहित इस ज्ञान को अवशेष रूप से कहूँगा कि जिसको जानकर यहाँ (जगत् में) फिर और कुछ जानने योग्य (ज्ञातव्य) शेष नहीं रह जाता है ।।२।।

श्री शंकराचार्य के अनुसार शास्त्रोक्त पदार्थों का परिज्ञान 'ज्ञान' है तथा शास्त्र से ज्ञात तत्त्व का यथार्थ रूप में स्वानुभव होना 'विज्ञान' है। जहां भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को वचन देते हैं कि वे न केवल शास्त्रीय सिद्धान्तों का वर्णन करेंगे, वरन् प्रवचनकाल में ही वे उसे आत्मानुभव के सर्वोच्च शिखर तक पहुंचा भी देंगे। उनका यह कथन कुछ अविश्वसनीय प्रतीत हो सकता है, क्योंकि योग साधना तथा भारतीय दर्शन की अन्य शाखाओं में साधक को लक्ष्य का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उसकी प्राप्ति के लिये विशेष साधना करनी होती है। परन्तु वेदान्त शास्त्र इनसे भिन्न है, क्योंकि इसमें साधक को उसके नित्यसिद्ध स्वरूप का ही बोध कराया गया है, न कि स्वयं से भिन्न किसी वस्तु का। अतः एक 'सुयोग्य विद्यार्थी' को उपदेश ग्रहण के पश्चात् आत्मानुभव के लिए कहीं किसी वन प्रान्त में जाने की आवश्यकता नहीं होती है।

यदि शिष्य ज्ञान के लिए आवश्यक गुणों से सम्पन्न है और गुरु के बताये हुए तर्कों को समझने में समर्थ है, तो उसे अध्ययन काल में ही आत्मानुभव हो सकता है। यही कारण है कि वेदान्त केवल सुयोग्य विद्यार्थियों को ही पढ़ाया जाता है। उत्तम शिष्य के लिये आत्मानुभूति तत्काल प्राप्य है। उसे कालान्तर अथवा देशान्तर की अपेक्षा नहीं होती।

यदि वेदान्त एक पूर्ण शास्त्र है और उपदेश काल में ही आत्मानुभव सिद्ध हो सकता है, तो फिर क्या कारण है कि विश्वभर में ऐसे ज्ञानी पुरुष विरले ही होते हैं ? भगवान् कहते हैं :

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ।।३।।

सहस्रों मनुष्यों में कोई ही मनुष्य पूर्णत्व की सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है

और उन प्रयत्नशील साधकों में भी कोई ही पुरुष मुझे तत्त्व से जानता है ॥३॥

भारतीय आध्यात्मिक साहित्य में भिन्न-भिन्न आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से बारम्बार इस विचार को दोहराया है कि आत्मज्ञान तथा उसका अपरोक्ष अनुभव प्राप्त करने वाले साधक विरले ही होते हैं। इसके पूर्व भी हमें यह बताया गया था कि वेदान्त के सिद्धान्तों को भी एक आश्चर्य[1] के समान सुना तथा समझा जाता है। उपनिषदों में भी इसी तथ्य का ऋषियों ने वर्णन किया है।[2]

यहां भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार आत्मज्ञान की प्राप्ति का उत्तरदायित्व साधक पर ही निर्भर है। यदि कोई साधक इस अनुभव को प्राप्त नहीं कर पाता है, तो उसका एकमात्र कारण आवश्यक पुरुषार्थ का अभाव है। वेदान्त अध्यात्म विषयक विज्ञान होने के कारण हमारे लिए अपने अवगुणों का ज्ञानमात्र पर्याप्त नहीं है, वरन् उसकी निवृत्ति के लिये और आत्मबल की वृद्धि के लिए आवश्यक है कि हम वेदान्त ज्ञान को अपने जीवन में उतारने का भी सदैव प्रयत्न करें। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि किसी विरले पुरुष में ही आत्मोन्नति की तीव्र अभिलाषा होती है, जिसके लिये वह अपना सर्वस्व अर्पण करने को तत्पर रहता है।

सहस्रों मनुष्यों में से जो लोग वेदान्त का श्रवण करते हैं, तथा संभवतः, बौद्धिक स्तर पर तत्प्रतिपादित समस्त सिद्धान्तों को समझते भी हैं, उनमें भी कोई-कोई पुरुष ही ऐसे होते हैं, जो आध्यात्मिक जीवन पद्धति को पूर्णतया अपनाते हैं, ऐसे प्रयत्नशील साधकों में से कोई एक साधक 'मुझे तत्त्व से जानता है।'

इसके अनेक कारण हैं। जब शिष्य उत्साह पूर्वक एकाग्रचित्त होकर सद्गुरु के उपदेश का श्रवण करता है, तब वह स्वयं को किसी सीमा तक ऊंचा उठा भी सकता है। परन्तु हो सकता है कि सत्य के द्वार तक पहुंचकर भी वह किसी सूक्ष्म एवं अज्ञात अभिलाषा अथवा अजाने गर्व के कारण अपनी प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध कर ले और इस प्रकार सत्य के दर्शन से वंचित ही रह जाए। इस दृष्टि से ईसा मसीह की यह घोषणा अर्थपूर्ण है कि एक धनवान् व्यक्ति के स्वर्ग द्वार में प्रवेश करने की अपेक्षा एक ऊँट सुई के छिद्र से सरलता से प्रवेश करके बाहर निकल सकता है। यहां 'धन' शब्द से अभिप्राय मन में संचित वासनाओं से है, न कि 'लौकिक सम्पत्ति' से। जब तक मन पूर्णतया वासनारहित होकर शुद्ध नहीं हो जाता, तब तक वह सत्य के आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता है।

भगवान् श्रीकृष्ण की दृष्टि को ध्यान में रखकर इस श्लोक पर विचार करने से

---

१. देखिये अध्याय २ श्लोक २९.

२. देखिये स्वामीजी के कठोपनिषद् पर प्रवचन अ. १ ख. २ मन्त्र ७.

उसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि विरले लोग ही वेदान्त का श्रवण करके उसके सिद्धान्त को यथार्थ रूप में समझ पाते हैं। उनमें भी ऐसे साधकों की संख्या बहुत कम ही होती है, जिनमें सत्य एवं शुद्धि का जीवन जीने के लिये लक्ष्य का आवश्यक ज्ञान, मन की दृढ़ता, शारीरिक सहनशक्ति तथा प्रयत्न की सम्पन्नता हो। अर्जुन तथा गीता के जिज्ञासु लोग ऐसे ही विरले पुरुष हैं, जो आत्मज्ञान के अधिकारी हैं। उन्हें भगवान्, श्रीकृष्ण विज्ञान के सहित ज्ञान के उपदेश का वचन देते हैं जिससे आत्मा का साक्षात् अनुभव हो सकता है।

इस प्रकार श्रोता में इस ज्ञान के प्रति रुचि उत्पन्न कराकर भगवान् आगे कहते हैं :

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तथा मन, बुद्धि और अहंकार – यह आठ प्रकार से विभक्त हुई मेरी प्रकृति है ॥४॥

वैदिक काल के महान् मनीषियों ने जगत् की उत्पत्ति पर सूक्ष्म विचार करके यह बताया है कि यह जगत् जड़ पदार्थ (प्रकृति) और चेतनतत्त्व (पुरुष) के संयोग से उत्पन्न होता है। उनके अनुसार पुरुष की अध्यक्षता में जड़ प्रकृति से बनी शरीरादि उपाधियां चैतन्ययुक्त होकर समस्त व्यवहार करने में सक्षम होती हैं। एक आधुनिक दृष्टान्त से इस सिद्धान्त को स्पष्ट किया जा सकता है।

लोहे के बने वाष्प इंजिन में स्वतः कोई गति नहीं होती। परन्तु जब उसका सम्बन्ध उच्च दबाव की वाष्प से होता है, तब वह इंजिन गतिमान हो जाता है। केवल वाष्प भी किसी यन्त्र की सहायता के बिना अपनी शक्ति को व्यक्त नहीं कर सकती; दोनों के सम्बन्ध से ही यह कार्य सम्पादित किया जाता है।

भारत के तत्त्वचिन्तक ऋषियों ने वैज्ञानिक विचार पद्धति से इसका वर्णन किया है कि किस प्रकार सनातन पूर्ण पुरुष प्रकृति की जड़ उपाधियों के संयोग से इस नानाविधि सृष्टि के रूप में व्यक्त हुआ है।

भगवान् श्रीकृष्ण इस श्लोक में प्रकृति का वर्णन करते हैं तथा अगले श्लोक में चेतन तत्त्व का। यदि एक बार मनुष्य प्रकृति और पुरुष, जड़ और चेतन का भेद स्पष्ट रूप से समझ ले तो, वह यह भी सरलता से समझ सकेगा कि जड़ उपाधियों के साथ आत्मा का तादात्म्य ही उसके सब दुःखों का कारण है। स्वाभाविक ही इस मिथ्या तादात्म्य की निवृत्ति होने पर वह स्वयं अपने स्वरूप को पहचान

सकता है, जो पूर्ण आनन्दस्वरूप है। आत्मा और अनात्मा के परस्पर तादात्म्य से जीव उत्पन्न होता है। यही संसारी, दुःखी जीव आत्मानात्मविवेक से यह समझ पाता है कि वह तो वास्तव में, जड़ प्रकृति का अधिष्ठान चैतन्य पुरुष है, जीव नहीं।

अर्जुन को जड़ और चेतन का भेद स्पष्ट करने के लिये भगवान श्रीकृष्ण प्रथम प्रकृति के आठ भागों को बताते हैं जिसे यहां 'अष्टधा प्रकृति' कहा गया है। इस विवेक से प्रत्येक व्यक्ति अपने शुद्ध और दिव्य स्वरूप को पहचान सकता है।

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी – वे पंचमहाभूत तथा मन, बुद्धि और अहंकार यह है अष्टधा प्रकृति, जो परम सत्य के अज्ञान के कारण उस पर अध्यस्त (कल्पित) है। व्यष्टि (एक जीव) में स्थूल पंचममहाभूत का रूप है, स्थूल शरीर तथा उनके सूक्ष्म भाव का रूप पंच ज्ञानेद्रियाँ हैं, जिनके द्वारा मनुष्य बाह्य जगत् का अनुभव करता है। ज्ञानेन्द्रियां ही वे कारण हैं, जिनके द्वारा विषयों की संवेदनाएं 'मन' तक पहुँचती हैं। इन प्राप्त संवेदनाओं का वर्गीकरण तथा उनका ज्ञान और निश्चय करना 'बुद्धि' का कार्य है। इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण, मन के द्वारा उनका एकत्रीकरण तथा बुद्धि के द्वारा उनका निश्चय – इन तीनों स्तरों पर एक 'अहं' वृत्ति सदा बनी रहती है, जिसे 'अहंकार' कहते हैं। ये जड़ उपाधियां हैं, जो चैतन्य का स्पर्श पाकर चेतनवत् व्यवहार करने में समर्थ होती हैं।[1]

इसके पश्चात् अपनी पराप्रकृति बताने के लिये भगवान् कहते हैं :

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

हे महाबाहो ! यह अपरा प्रकृति है। इससे भिन्न मेरी जीवरूपी पराप्रकृति को जानो, जिससे यह जगत् धारण किया जाता है ॥५॥

अष्टधा प्रकृति अपरा – जड़ है। उसे बताने के पश्चात् उससे भिन्न अपनी परा प्रकृति को भगवान् बताते हैं। वह परा प्रकृति जीवरूप अर्थात् चेतन रूप है जिसके कारण ही, शरीर, मन और बुद्धि अपने-अपने कार्य इस प्रकार करते हैं मानो वे स्वयं ही चेतन हों।

---

१. मन, बुद्धि और अहंकार इन शब्दों का यहां बताया गया अर्थ व्यष्टि की दृष्टि से है। प्रस्तुत प्रकरण के सन्दर्भ में श्री शंकराचार्य इनका जो अर्थ बताते हैं वह सांख्य दर्शन के अनुसार क्रमशः – अहंकार, महत्तत्त्व और अव्यक्त है। सृष्टि का क्रम है – अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहंकार और पंचमहाभूत।

इस चेतन की विद्यमानता में ही उपाधियां अपना व्यापार कर सकती हैं, अन्यथा नहीं। चैतन्य के बिना हमें न बाह्य स्थूल जगत् का और न आन्तरिक सूक्ष्म विचार रूप जगत् का ही अनुभव और ज्ञान हो सकता है। वही जगत् को धारण किये हुए है। उसके अभाव में हमारी दशा एक पाषाण के समान हो जायेगी – जिसमें न चेतनता है और न बुद्धिमत्ता।

भगवान् के इस कथन को कि परा प्रकृति जगत् का आधार है भौतिक विज्ञान की दृष्टि से विचार करके भी सिद्ध किया जा सकता है। हम अनने घर में रहते हैं जिसका आधार है भूमि। उस भूमिभाग का आधार है शहर; शहर का राष्ट्र और राष्ट्र का आधार विश्व है; विश्व घिरा हुआ है समुद्र के जल से जिसकी स्थिति वायुमण्डल पर निर्भर करती है। यह वायुमण्डल तो सौरमण्डल अथवा ग्रहमंडल का एक भाग है ! सम्पूर्ण विश्व आकाश में स्थित है और आकाश स्थित है, मन में स्थित आकाश की कल्पना पर ! मन का आधार है बुद्धि का निर्णय। और क्योंकि बुद्धिवृत्तियों का ज्ञान चैतन्य के कारण ही संभव है, इसलिये यह चैतन्य ही सम्पूर्ण जगत् का आधार सिद्ध होता है !! वही जगत् का अधिष्ठान है।

दर्शनशास्त्र में जगत् का अर्थ केवल इन्द्रियगोचर जगत् ही नहीं, वरन् मन तथा बुद्धि के द्वारा अनुभूयमान जगत् भी उस शब्द की परिभाषा में समाविष्ट है। इस प्रकार बाह्य विषय, भावनाएं और विचार ये सब जगत् ही हैं। यह सम्पूर्ण जगत् चेतनरूप परा प्रकृति के द्वारा धारण किया जाता है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

यह जानो कि सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियों से उत्पत्ति वाले हैं। (अतः) मैं सम्पूर्ण जगत् का उत्पत्ति तथा प्रलय स्थान हूं ॥६॥

उपर्युक्त अपरा एवं परा प्रकृतियों के परस्पर संबंध से यह नानाविध वैचित्र्यपूर्ण सृष्टि व्यक्त होती है। जड़ प्रकृति के बिना चैतन्य की सामर्थ्य व्यक्त नहीं हो सकती और न ही उसके बिना जड़ उपाधियों में चेतनवत् व्यवहार की संभावना ही रहती है। बल्ब में स्थित तार में स्वयं विद्युत् ही प्रकाश के रूप में व्यक्त होती है। प्रकाश की अभिव्यक्ति के लिए विद्युत् और बल्ब दोनों का सम्बन्ध होना आवश्यक है। इसी प्रकार सृष्टि के लिए परा और अपरा, जड़ और चेतन के सम्बन्ध की अपेक्षा होती है।

इसी दृष्टि से भगवान् कहते हैं, 'ये दोनों प्रकृतियां भूतमात्र की कारण हैं।' एक मेधावी विद्यार्थी को इस कथन का वास्तविक अभिप्राय समझना कठिन नहीं है। बाह्य विषय, भावनाएं तथा विचारों के जगत् की न केवल उत्पत्ति और स्थिति बल्कि लय भी चेतन पुरुष में ही होता है। इस प्रकार, अपरा प्रकृति पारमार्थिक स्वरूप में पराप्रकृति से भिन्न नहीं है। आत्मा मानो अपने स्वरूप को भूलकर अपरा प्रकृति से साथ तादात्म्य करके जीवभाव के दुःखों को प्राप्त होता है। परन्तु उसका यह दुःख मिथ्या है, वास्तविक नहीं। स्वस्वरूप की पहचान ही अनात्मबन्धन से मुक्ति का एकमात्र उपाय है। परा से अपरा की उत्पत्ति उसी प्रकार होती है, जैसे मिट्टी के बनें घटों की उत्पत्ति मिट्टी से। सभी घटों में एक मिट्टी ही सत्य है; उसी प्रकार विषय, इन्द्रियां, मन तथा बुद्धि इन अपरा प्रकृति के कार्यों का वास्तविक स्वरूप चेतन तत्त्व ही है।

इसलिये–

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

हे धनंजय ! मुझसे श्रेष्ठ (परे) अन्य किंचिन्मात्र वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्र में मणियों के सदृश मुझ में पिरोया हुआ है ॥७॥

इसके पूर्व के श्लोकों में कथित सिद्धान्त को स्वीकार करने पर हमें जगत् की ओर देखने के दो दृष्टिकोण मिलते हैं। एक है अपर अर्थात् कार्यरूप जगत् की दृष्टि से तथा दूसरा इससे भिन्न है पर कारण की दृष्टि से। जैसे मिट्टी की दृष्टि से उसमें विभिन्न रूप रंग वाले घटों का सर्वथा अभाव होता है, वैसे ही चैतन्यस्वरूप पुरुष में न विषयों का स्थूल जगत् है और न विचारों का सूक्ष्म जगत्। 'मुझसे अन्य किञ्चिन्मात्र वस्तु नहीं है।'

स्वप्न से जागने पर जाग्रत पुरुष के लिए स्वप्न जगत की कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती। समुद्र में असंख्य लहरें उठती हुई दिखाई देती हैं, परन्तु वास्तव में वहां समुद्र के अतिरिक्त किसी का कोई अस्तित्व नहीं होता। उनकी उत्पत्ति, स्थिति और लय स्थान समुद्र ही होता है। संक्षेप में, कोई भी वस्तु अपनें मूल स्वरूप का त्याग करके कदापि नहीं रह सकती है।

पहले हमें बताया गया है कि प्रत्येक प्राणी में एक भाग अपरा प्रकृतिरूप है, जिसका संयोग आत्मतत्त्व से हुआ है। यहां जिज्ञासु मन में शंका उठ सकती है कि 'क्या मुझमें स्थित आत्मा अन्य प्राणी की आत्मा से भिन्न है?'' यह विचार हमें इस

निष्कर्ष पर पहुँचायेगा कि विभिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न आत्मायें हैं अर्थात् आत्मा की अनेकता के सिद्धान्त पर हम पहुँच जायेंगे ।

समस्त नामरूपों में आत्मा के एकत्व को दर्शाने के लिए यहाँ भगवान् कहते हैं कि वे ही इस जगत् के अधिष्ठान् हैं । वे सभी रूपों को इस प्रकार धारण करते हैं, जैसे कण्ठाभरण में एक ही सूत्र सभी मणियों को पिरोये रहता है । यह दृष्टांत अत्यन्त सारगभित है । काव्य के सौन्दर्य के साथ-साथ उसमें दर्शनशास्त्र का गम्भीर लाक्षणिक अर्थ भी निहित है । कण्ठाभरण में समस्त मणियाँ एक समान होते हुए दर्शनीय भी होती हैं, परन्तु वे समस्त छोटी-बड़ी मणियाँ जिस एक सूत्र में पिरोयी होती हैं, वह सूत्र हमें दृष्टिगोचर नहीं होता । तथापि उसके कारण ही वह माला शोभायमान होती है ।

इसी प्रकार मणि-मोती जिस पदार्थ से बने होते हैं वह उससे भिन्न होता है, जिस पदार्थ से सूत्र बना होता है । वैसे ही यह जगत् असंख्य नामरूपों की एक वैचित्र्यपूर्ण सृष्टि है, जिसे इस पूर्णरूप में एक पारमार्थिक सत्य आत्मतत्त्व धारण किये रहता है । एक व्यक्ति विशेष में भी शरीर, मन और बुद्धि परस्पर भिन्न होते हुये भी एक साथ कार्य करते हैं, और समवेत रूप में जीवन का संगीत निसृत करते हैं । केवल यह आत्मतत्त्व ही इसका मूल कारण है ।

यह श्लोक एक ऐसा उदाहरण है जिनमें हमें महर्षि व्यास की काव्य एवं दर्शन की अपूर्व प्रतिभा के दर्शन होते हैं । यहाँ काव्य एवं दर्शन का सुन्दर समन्वय हुआ है ।

"किस प्रकार मुझ में यह जगत् पिरोया हुआ है वह सुनो"—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

हे कौन्तेय ! जल में मैं रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश हूँ, सब वेदों में प्रणव (ॐ कार) हूँ तथा आकाश में शब्द और पुरुषों में पुरुषत्व हूँ ॥८॥

पृथ्वी में पवित्र गन्ध हूँ और अग्नि में तेज हूँ ; सम्पूर्ण भूतों में जीवन हूँ और तपस्वियों में मैं तप हूँ ॥९॥

किस प्रकार परमात्मरूपी 'सूत्र' में नामरूपमय 'मणि' पिरोकर सुन्दर सृष्टि-रूप 'कण्ठाभरण' की निर्मिति हुई है इसका वर्णन इन दो श्लोकों में किया गया है। इसके पूर्व भगवान् नें यह कहा था कि "परा और अपरा प्रकृतियों के द्वारा मैं ही जगत् का कारण हूँ और मुझसे भिन्न किञ्चिन्मात्र वस्तु नहीं है।" वह सनातन तत्त्व क्या है जो सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी दृष्टिगोचर नहीं होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यहां भगवान् श्रीकृष्ण ने दिया है।

किसी वस्तु का धर्म या स्वरूप वह है, जो सदा एक समान बना रहता है और जिसके बिना उस वस्तु का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकता। यहाँ दिए दृष्टान्त – 'जल में रस', 'सूर्य चन्द्र में प्रकाश', 'समस्त वेदों में प्रणव', 'आकाश में शब्द', 'पृथ्वी में पवित्र गन्ध','पुरुषों में पुरुषत्व' एवं 'तपस्वियों में तप' आदि, ये सब दर्शाते हैं कि आत्मा ही वह तत्त्व है, जिसके कारण इन वस्तुओं का अपना विशेष अस्तित्व होता है। संक्षेपतः, आत्मा समस्त भूतों का जीवन है।

भगवान् श्रीकृष्ण कुछ और उदाहरण देते हुये कहते हैं :

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

हे पार्थ ! सम्पूर्ण भूतों का सनातन बीज (कारण) मुझे ही जानो ; मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूँ ॥१०॥

परिपक्व बुद्धि के जिज्ञासुओं के लिये पूर्व के दो श्लोकों में दिये गये उदाहरण तत्व को समझने के लिये पर्याप्त हैं, किन्तु मन्दबुद्धि के पुरुषों के लिये नहीं। अतः यहां भगवान् श्रीकृष्ण कुछ और उदाहरण देते हैं। "समस्त भूतों का सनातन कारण मैं हूं"। जैसे एक चित्रकार अपने चित्र को और अधिक स्पष्ट सुन्दर बनाने के लिये नये-नये रंगों का प्रयोग करता है, वैसे ही मानो अपने संक्षिप्त कथन से सन्तुष्ट न होकर भगवान श्रीकृष्ण और भी अनेक दृष्टान्त देते हैं, जिनके द्वारा हम दृश्य जड़ जगत तथा अदृश्य चेतन आत्म तत्त्व के सम्बन्ध को समझ सकें।

"बुद्धिमानों की बुद्धि मैं हूं"—एक बुद्धिमान् व्यक्ति अपने आदर्शों तथा विचारों के माध्यम से अपने दिव्य स्वरूप को व्यक्त कर पाता है। उस बुद्धिमान् पुरुष के बुद्धि की वास्तविक सामर्थ्य आत्मा के कारण ही संभव है। उसी प्रकार तेजस्वियों का तेज भी आत्मा ही है।

दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि आत्मा ही बुद्धि उपाधि के द्वारा बुद्धिमान् व्यक्ति के रूप में प्रकट होता है। जैसे विद्युत ही "बल्ब में प्रकाश", हीटर में उष्णता और "रेडियो में संगीत" के रूप में व्यक्त होती है।

आगे कहते हैं :

बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

हे भरत श्रेष्ठ! मैं बलवानों का कामना तथा आसक्ति से रहित बल हूँ और सब भूतों में धर्म के अविरुद्ध अर्थात् अनुकूल काम हूँ ॥११॥

सामान्य बुद्धिमत्ता के और मन्दबुद्धि के लोगों को अनेक उदाहरण देनें के पश्चात् यहां इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण उस अत्यन्त मेधावी पुरुष के लिये तत्त्व का निर्देश करते हैं जिसमें यह क्षमता हो कि वह इस दिये हुये निर्देश पर सूक्ष्म विचार कर सके।

बलवानों का बल मैं हूँ — केवल इतने ही कथन में पूर्व कथित दृष्टान्तों की अपेक्षा कोई अधिक विशेषता नहीं दिखाई पड़ती। परन्तु 'बल' शब्द को दिये हुए विशेषण से इसको विशेष महत्त्व प्राप्त हो जाता है। सामान्यतः, मनुष्य में जब कामना वा आसक्ति होती है तब वह अथक परिश्रम करते हुए दिखाई देता है और अपनी इच्छित वस्तु को पाने के लिये सम्पूर्ण शक्ति लगा देता है।

कामना और आसक्ति इन दो प्रेरक वृत्तियों के बिना किसी बल की हम कल्पना भी नहीं कर पाते हैं। यद्यपि सतही दृष्टि से 'काम' और 'राग' में हमें भेद नहीं दिखाई देता है तथापि श्री शंकराचार्य अपने भाष्य में उसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं, "अप्राप्त वस्तु की इच्छा काम है और प्राप्त वस्तु में आसक्ति राग कहलाता है।" मन की इन्हीं दो वृत्तियों के कारण व्यक्ति या परिवार, समाज या राष्ट्र अपनी सामर्थ्य को प्रकट करते हैं। हड़ताल और दंगे, उपद्रव और युद्ध इन सबके पीछे प्रेरक वृत्तियां हैं – काम और राग। श्रीकृष्ण कहते हैं, "मैं बलवानों का काम और राग से वर्जित बल हूँ।" स्पष्ट है कि यहाँ सामान्य बल की बात नहीं कही गयी है।

इस कथन से मानो उन्हें सन्तोष नहीं होता है और इसलिये वे आगे और कहते हैं, "प्राणियों में धर्म के अनुकूल काम मैं हूँ।" जिसके कारण वस्तु का अस्तित्व होता है वह उसका धर्म कहलाता है। मनुष्य का अस्तित्व चैतन्य आत्मा के बिना नहीं हो सकता अतः वह उसका वास्तविक धर्म या स्वरूप है। व्यवहार में जो विचार

भावना और कर्म उसके दिव्य स्वरूप के विरुद्ध नहीं हैं वे 'धर्म' के अन्तर्गत आते हैं। जिन विचारों एवं कर्मों से अपने आत्मस्वरूप को पहचानने में सहायता मिलती है, उन्हें धर्म कहा जाता है; और इसके विपरीत कर्म अधर्म कहलाते हैं, क्योंकि वे उसकी आत्मविस्मृति को दृढ़ करते हैं। उनके वशीभूत होकर मनुष्य पतित होकर पशुवत् व्यवहार करने लगता है।

धर्म की इस परिभाषा को ध्यान में रखकर इस श्लोक के अध्ययन से उसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है। धर्म के अविरुद्ध कामना से तात्पर्य साधक की उस इच्छा तथा क्षमता से है, जिसके द्वारा वह अपनी दुर्बलताओं को समझकर उन्हें दूर करने का प्रयत्न करता है और आत्मोन्नति की सीढ़ी पर ऊपर चढ़ता जाता है। भगवान् के कथन को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि' "मैं साधक नहीं, वरन् उसमें स्थित आत्मज्ञान की प्रखर जिज्ञासा हूँ।"

अब तक के उपदेश तथा दृष्टान्तों का क्या यह अर्थ हुआ कि आत्मा वास्तव में अनात्म जड़ उपाधियों के बन्धन में आ गया है? परिच्छिन्न उपाधि अपरिच्छिन्न आत्मा को कैसे सीमित कर सकती है? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं:

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

जो भी सात्विक (शुद्ध,) राजसिक (क्रियाशील) और तामसिक (जड़) भाव हैं, उन सबको तुम मेरे से ही उत्पन्न हुए जानो; तथापि मैं उनमें नही हूँ, वे मुझमें हैं ॥१२॥

"मुझमें सम्पूर्ण जगत पिरोया हुआ है, जैसे सूत्र में मणियाँ" – अपने इस कथन के साथ प्रारम्भ किए गए प्रकरण का उपसंहार भगवान् श्रीकृष्ण इस श्लोक में करते हैं।

हमें जगत् में ज्ञान, क्रिया और जड़त्व इन तीनों का अनुभव होता है। इन्हें ही क्रमशः सत्व, रज और तमोगुण का कार्य कहा जाता है। वेदान्त में जिसे 'माया' कहा गया है, वह इन तीनों गुणों का संयुक्त रूप है, जिसके अधीन प्राणियों की प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की दिखाई देती हैं। मनुष्य की भावनायें और विचार इन गुणों से प्रभावित होते हैं, जिनके अनुसार ही मनुष्य अपने शरीर, मन और बुद्धि से कार्य करता है।

उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखकर इस श्लोक के अध्ययन से यह अर्थ

स्पष्ट होता है कि "इन तीन गुणों से उत्पन्न जो कोई भी वस्तु, प्राणी या स्थिति है, वह सब आत्मा से(मुझ से)उत्पन्न होती है।" पूर्व वर्णित सिद्धांत को ही यहाँ शास्त्रीय भाषा में दोहराया गया है। पारमार्थिक सत्यस्वरूप चैतन्य आत्मा पर अपरा प्रकृति का अध्यास हुआ है, वह कोई वास्तविकता नहीं। त्रिगुणजनित भावों की सत्य से उत्पत्ति उसी प्रकार की है, जैसे मिट्टी से घट, समुद्र से तरंग और स्वर्ण से आभूषण की।

इस श्लोक का सुन्दर अन्तिम वाक्य एक पहेली के समान है। इस प्रकार का लेखन हिन्दू दार्शनिकों की विशेषता है, जो अध्ययनकर्ता को सहज ही अपनी ओर आकर्षित करती है। ऐसे कथन विद्यार्थी को और अधिक सूक्ष्म एवं गहन विचार करने के लिए और उसका वास्तविक अभिप्राय समझने के लिए आमन्त्रित करते हैं। "मैं उनमें नहीं हूँ, वे मुझमें हैं।"

केवल वाच्यार्थ की दृष्टि से उपर्युक्त कथन त्रुटिपूर्ण ही समझा जाएगा, क्योंकि यदि 'क', 'ख' में नहीं है तो 'ख', 'क' में कैसे हो सकता है? यदि "मैं उनमें नहीं हूँ, तो वे भी मुझमें नहीं हो सकते।" परन्तु भगवान् का कथन है "मैं उनमें नहीं हूँ, वे मुझमें हैं।" इस सुन्दर एवं मधुर विरोधाभास से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुरुष और प्रकृति का सम्बन्ध कारण और कार्य का नहीं, बल्कि अधिष्ठान और अध्यस्त का है।[1] पुरुष पर प्रकृति का आभास अध्यास के कारण होता है। खंभे में यदि प्रेत का आभास हो, तो यही कहा जायेगा कि प्रेत खंभे में है, परन्तु खंभा प्रेत में नहीं।

श्री शंकराचार्य इस वाक्य का अर्थ स्पष्ट करते हुये लिखते हैं, "मैं उनमें नहीं हूँ का अर्थ है, मैं उन पर आश्रित नहीं हूँ, जबकि उनका अस्तित्व मुझ पर आश्रित है।" जैसे जल का अस्तित्व तरङ्ग पर आश्रित नहीं है किन्तु तरंग जल पर आश्रित होती है। तरंग के होने से जल को किसी प्रकार का दोष या बन्धन नहीं प्राप्त होता। उसी प्रकार जड़ प्रकृति का अस्तित्व चेतन पुरुष के कारण सिद्ध होता है, परन्तु पुरुष सब परिच्छेदों से सदा मुक्त ही रहता है।

अगले श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण खेद व्यक्त करते हुये कहते हैं कि जगत् के लोग उनके वास्तविक नित्यमुक्त स्वरूप को नहीं जानते हैं। लोगों के इस अज्ञान का क्या कारण है? सुनो –

---

१. यदि रस्सी पर सर्प की प्रतीति हो, तो रस्सी अधिष्ठान और सर्प अध्यस्त वस्तु कहलाती है।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ।।१३।।

त्रिगुणों से उत्पन्न इन भावों (विकारों) से सम्पूर्ण जगत् (लोग) मोहित हुआ इन (गुणों) से परे अव्यय स्वरूप मुझे नहीं जानता है ।।१३।।

प्रश्न यह है कि यदि त्रिगुणों से परे कोई परम अव्यय तत्त्व है, तो सामान्य मनुष्य उसे क्यों नहीं जान पाता है ? पूर्ण साक्षात्कार न भी हो तब भी कम से कम उसके अस्तित्व के विषय में तो उसे शंका नहीं होनी चाहिये ? इसका उत्तर इस श्लोक में दिया गया है ।

त्रिगुणों से उत्पन्न राग द्वेषादि विकारों के कारण मनुष्य अपने दिव्यस्वरूप को भूलकर उपाधियों के साथ तादात्म्य स्थापित करके केवल विषयोपभोग का ही जीवन जीते हैं । स्वाभाविक है कि इस आसक्ति के कारण स्वस्वरूप की ओर उनका ध्यान तक नहीं जाता । एक बार स्तम्भ में प्रेत का आभास होने पर वह स्तम्भ उससे आच्छादित हो जाता है । यह एक तथ्य है कि जब तक यह आभास बना रहता है तब तक स्तम्भ का एक इञ्च भाग भी मोहित व्यक्ति को नहीं दिखाई देता !!

इसी प्रकार, माया से उत्पन्न उपाधियों के साथ तादात्म्य के कारण आत्मा को मानो जीवभाव प्राप्त हो जाता है । यह जीव बाह्य जगत् में व्यस्त और आसक्त होकर अपने शुद्ध स्वरूप को पहचानने में स्वयं को असमर्थ पाता है । स्वयं में स्वयं के साथ स्वयं का चल रहा लुकाछिपी का यह खेल विचित्र एवं रहस्यमय है, जिसके कारण यह अपने लिए और जगत् के लिये अनन्त दुःख और विक्षेप उत्पन्न करता रहता है ।

अगले श्लोक में इस 'आवरण शक्ति' की परिभाषा तथा वर्णन किया गया है--

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।१४।।

यह दैवी त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है । परन्तु जो मेरी शरण में आते हैं, वे इस माया को पार कर जाते हैं ।।१४।।

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं स्वीकार करते हैं कि अहंकार से युक्त आत्मकेन्द्रित पुरुष के लिए "मेरी माया" से उत्पन्न मोह को पार करना दुस्तर है । यदि कोई

चिकित्सक रोगी के रोग को पहचानकर कहे कि इस रोग के निवारण के लिये कोई औषधि नहीं है तो कोई भी रोगी सावधानी, उत्साह तथा श्रद्धा के साथ उस चिकित्सक की सलाह के अनुसार उपचार नहीं करेगा। इसी प्रकार, यदि भव-रोगियों के चिकित्सक भगवान् श्रीकृष्ण रोग का कारण माया को बताकर उसे दुस्तर घोषित करें, तो कौन व्यक्ति श्रद्धा के साथ उनके निराशावादी उपदेश का अनुकरण करेगा ?

भगवान् श्रीकृष्ण इस कठिनाई अथवा दोष को जानते हैं और इसलिये तत्काल ही साधक के मन की शंका को दूर करते हैं। यदा कदा रोगी को उसके रोग की गम्भीरता का भान कराने के लिये चिकित्सक को कठोर भाषा का प्रयोग करना पड़ता है; ठीक उसी प्रकार यहां श्रीकृष्ण अनेक विशेषणों के द्वारा हमें इस रोग की वह भयंकरता बताने का प्रयत्न करते हैं, जिसके कारण हम अपने परमात्म स्वरूप को भूलकर संसारी जीवभाव को प्राप्त हो गये हैं ! रोग तथा उपचार को बताकर भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण स्वास्थ्य का आश्वासन भी देते हैं।

'जो साधक मेरी शरण में आते हैं वे माया को तर जाते हैं।' शरण से तात्पर्य भगवान् के स्वरूप को पहचान कर तत्स्वरूप बन जाना है। इसका सम्पादन कैसे किया जा सकता है ? इसका विवेचन पूर्व के 'ध्यानयोग' नामक अध्याय में किया जा चुका है। एकाग्र चित्त होकर आत्मस्वरूप का ध्यान करना यह साक्षात् साधन है, और ध्यान के लिये आवश्यक योग्यता प्राप्त करने के उपाय भी पहले बताये गये हैं।[1]

यदि आपकी शरण में आने से माया को पार किया जा सकता है, तो फिर सब लोग आप की शरण में क्यों नहीं आते हैं ? इस पर कहते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

दुष्कृत्य करने वाले, मूढ, नराधम पुरुष मुझे नहीं भजते हैं; माया के द्वारा जिनका ज्ञान हर लिया गया है, वे आसुरी भाव को धारण किये रहते हैं ॥१५॥

पूर्व श्लोक में कहा गया है कि 'मेरे भक्त माया को तर जाते हैं' तो इस श्लोक में बता रहे हैं कि कौन से लोग हैं जो मेरी भक्ति नहीं करते हैं। इन दो प्रकार के लोगों का भेद स्पष्ट किये बिना जिज्ञासु साधक सम्यक् प्रकार से यह नहीं जान

१. देखिये गीता अ० ६ श्लोक १४.

सकता कि मन की कौन सी प्रवृत्तियां मोह के लक्षण हैं।

दुष्कृत्य करने वाले, मूढ, नराधम लोग ईश्वर की भक्ति नहीं करते हैं, जिसका कारण यह है कि उनके विवेक का माया द्वारा हरण कर लिया जाता है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि मनुष्य के उच्च विकास का लक्षण उसकी विवेकवती बुद्धि है। इस बुद्धि के द्वारा वह अच्छा-बुरा, उच्च-नीच नैतिक-अनैतिक का विवेक कर पाता है। बुद्धि ही वह माध्यम है, जिसके द्वारा मनुष्य अज्ञानजनित जीवभाव के स्वप्न से जागकर अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप का साक्षात् अनुभव कर सकता है।

विषयों के द्वारा जो व्यक्ति क्षुब्ध नहीं होता, उसमें ही यह विवेक शक्ति प्रभावशाली ढंग से कार्य कर पाती है। मनुष्य में देहात्मभाव जितना अधिक दृढ़ होगा, उतनी ही अधिक विषयाभिमुखी उसकी प्रवृत्ति होगी। अतः विषयभोग की कामना को पूर्ण करने हेतु वह निंद्य कर्म में भी प्रवृत्त होगा। इस दृष्टि से पाप कर्म का अर्थ है मनुष्यत्व की उच्च स्थिति को पाकर भी स्वस्वरूप के प्रतिकूल किये गये कर्म। स्थूल देह को अपना स्वरूप समझकर मोहित हुए पुरुष ही पाप कर्म करते हैं। ऐसे लोगों को यहां मूढ़ और आसुरी भाव के मनुष्य कहा गया है। गीता में सोलहवें अध्याय में दैवी और आसुरी-भाव का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

परन्तु जो पुण्यकर्मी लोग हैं, वे चार प्रकार से मेरी भक्ति करते हैं। भगवान् कहते हैं :

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

हे भरत श्रेष्ठ अर्जुन ! उत्तम कर्म करने वाले (सुकृतिनः) आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी ऐसे चार प्रकार के लोग मुझे भजते हैं ॥१६॥

समस्त पदार्थ एवं ऊर्जा का स्रोत आत्मा ही होने के कारण जड़ पदार्थों में यदि क्रिया होते दिखाई दे, तो उसका प्रेरक स्रोत भी आत्मा ही होना चाहिए। वाष्प इंजिन का प्रत्येक भाग लोहे का बना होता है और फिर भी यदि उसमें रेल के डिब्बों को खींचने की सामर्थ्य होती है, तो निश्चिय ही उस सामर्थ्य का स्रोत लोहे से भिन्न होना चाहिए। ठीक प्रकार समस्त मनुष्य शरीर, मन और बुद्धि के माध्यम से जो सामर्थ्य प्रकट करते हैं, वह आत्मचैतन्य के कारण ही संभव होता है। योगी हो या भोगी दोनों को कार्य करने के लिये आत्मचैतन्य का ही आह्वान करना पड़ता है। चाहे वे पीड़ा और कष्ट के समय सान्त्वना की कामना करें, या विषय उपभोगों की इच्छा करें – इन सबके लिए आत्मा की चेतनता आवश्यक होती है।

एक विशेष दिशा में कार्य करने के लिये आत्मा का आह्वान करना ही भजन या प्रार्थना है। प्रार्थना विधि में भक्त स्वयं को ईश्वर के चरणों में समर्पित करके ईश्वर के अनुग्रह की कामना करता है। इसको समझने के लिए हम विद्युत का दृष्टान्त ले सकते हैं। विद्युत् पंखा हीटर, रेडियो आदि स्वयं कुछ कार्य नहीं कर सकते। विद्युत् शक्ति के इनमें प्रवाहित होनें पर ये अपने-अपने कार्य के द्वारा समाज की सेवा कर पाते हैं। यही विद्युत् शक्ति का आह्वान है।

स्पष्ट है कि सभी यन्त्रों के लिये विद्युत् आवश्यक है, लेकिन उसका उपयोग किस यन्त्र के लिये करना है, वह हमारी इच्छा पर निर्भर करता है। शीत ऋतु के दिनों में पंखा चलाकर हमें और अधिक कष्ट उठाना पड़े, तो उसका दोष विद्युत् को नहीं दिया जा सकता और न उसे क्रूर ही कहा जा सकता है। विखण्डित मन में जब चैतन्य व्यक्त होता है, तो मन के अवगुणों के लिये आत्मा को दोष नहीं दिया जा सकता है।

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि एक मात्र आत्मा ही चैतन्य स्वरूप है, है, भगवान् यहाँ कहते हैं कि पापी हो या पुण्यात्मा, मूढ़ हो या बुद्धिमान्, आलसी हो या क्रियाशील, भीरु हो या साहसी – सब 'मुझे ही भजते हैं' और 'मैं उन सब के हृदय में व्यक्त होता हूं।' शरीर, मन या बुद्धि से कार्य करनें के लिये सभी मनुष्यों को जाने या अनजाने मेरा आह्वान करना पड़ता है।

इस श्लोक में पुण्यकर्मी भक्तों का चार प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। वे हैं:

(क) **आर्त** – आर्त का सामान्य अर्थ है दुःख से पीड़ित व्यक्ति। दुःखार्त भक्त अपने कष्ट निवारण के लिए भक्ति करता है। यह सामान्य दुःख के विषय में हुआ; किन्तु ऐसे भी व्यक्ति होते हैं, जिन्हें जीवन में सब प्रकार की सुख–सुविधाएं उपलब्ध होने पर भी वे एक प्रकार की आन्तरिक अशान्ति का अनुभव करते हैं। इस अशान्ति की निवृत्ति भगवत्स्वरूप की प्राप्ति से ही होती है। ऐसे आर्त भक्त भी मेरा भजन करते हैं।

(ख) **जिज्ञासु** – जो साधक शास्त्राध्ययन के द्वारा मुझे जानना चाहते हैं वे जिज्ञासु भक्त हैं।

(ग) **अर्थार्थी** – किसी-न-किसी कार्यक्षेत्र में इष्ट फल को प्राप्त करने के लिये, जो लोग कर्म करते हुए मेरे अनुग्रह की कामना करते हैं, उन्हें अर्थार्थी कहते हैं। कामना की पूर्ति इनका लक्ष्य होता है।

(घ) **ज्ञानी** – उपर्युक्त तीनों से भिन्न ज्ञानी भक्त विरला ही होता है, जो न

किसी फल की इच्छा रखता है और न मुझ से कोई अपेक्षा । वह स्वयं को ही मुझे अर्पित कर देता है । वह मेरे स्वरूप को पहचान कर मेरे साथ एकत्व को प्राप्त हो जाता है ।

इन चतुर्विध भक्तों में सर्वश्रेष्ठ कौन है ?

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

उनमें भी मुझ से नित्ययुक्त, अनन्य भक्ति वाला ज्ञानी श्रेष्ठ है, क्योंकि ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूं और वह मुझे अत्यन्त प्रिय है ॥१७॥

चतुर्विधि भक्तों की परस्पर तुलना करके भगवान् कहते हैं कि जो ज्ञानी भक्त मुझसे नित्य युक्त है और आत्मस्वरूप के साथ जिसकी अनन्य भक्ति है, वह सर्व श्रेष्ठ है, क्योंकि आत्मतत्त्व से भिन्न किसी अन्य विषय में उसका मन विचरण नहीं करता है । जब तक साधक को अपने ध्येय का स्वरूप निश्चित रूप से ज्ञात नहीं होता है तब तक मन की एकाग्रता भी प्राप्त नहीं की जा सकती है । एक भक्ति का अर्थ है, साधक के मन में आत्मसाक्षात्कार की ही एक वृत्ति बनी रहना ।

एक भक्ति को पाने के लिए साधक को अपने मन की विषयाभिमुखी प्रवृत्ति को विषयों से निवृत्त करना आवश्यक होता है । ज्ञानी व्यक्ति किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये नहीं, वरन् अपने मन की उन प्रवृत्तियों को नष्ट करने के लिये ईश्वर का आह्वान करता है, जिनके कारण उनके मन की शक्ति का जगत् के मिथ्या आकर्षणों में व्यर्थ अपव्यय होता है । अत: स्वाभाविक है कि आत्मस्वरूप में स्थित भगवान् श्रीकृष्ण ऐसे ज्ञानी पुरुष को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं जिसके मन में आत्मानुभूति के अतिरिक्त अन्य कोई कामना ही नहीं रहती ।

'ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूं ।' प्रेम का मापदण्ड है प्रियतम के साथ हुआ तादात्म्य । वास्तव में आत्मसमर्पण की धुन पर ही प्रेम का गीत गाया जाता है । नि:स्वार्थता प्रेम का आधार है । प्रेम की मांग है समस्त कालों एवं परिस्थितियों में बिना किसी प्रतिदान की आशा के सर्वस्व दान । प्रेम के इस स्वरूप को समझने पर ही यह ज्ञात होगा कि ज्ञानी भक्त का प्रेम ही वास्तविक शुद्ध और पूर्ण प्रेम होता है ।

एकपक्षीय प्रेम की परिसमाप्ति कभी पूर्णत्व में नहीं हो सकती । यहां भगवान् स्पष्ट कहते हैं, 'ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूं और मुझे वह अत्यन्त प्रिय है ।' इस

कथन में एक मनोवैज्ञानिक सत्य छिपा हुआ है। प्रेम का यह सनातन नियम है कि वह निष्काम होने पर न केवल पूर्णता को प्राप्त होता है, वरन् उसमें एक दुष्ट को भी आदर्श बनाने की विचित्र सामर्थ्य होती है।

यह एक सुविचारित एवं सुविदित तथ्य है कि यदि किसी व्यक्ति का मन किसी एक विशेष भावना – जैसे दुःख, द्वेष, मत्सर, करुणा से भर जाता है, तो उसके समीपस्थ लोगों के मन पर भी उसकी तीव्र भावना का प्रभाव पड़ता है। अतः यदि हम किसी को निःस्वार्थ, शुद्ध प्रेम दे सकें, तो हमारे दुष्ट शत्रु का भी हृदय परिवर्तित हो सकता है। यह नियम है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य भगवान् के इस कथन में स्पष्ट होता है कि 'ज्ञानी को मैं और मुझे ज्ञानी अत्यन्त प्रिय है।''

तब क्या आर्तादि भक्त भगवान् वासुदेव को प्रिय नहीं हैं? ऐसी बात नहीं; फिर क्या? कहते हैं–

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥१८॥

(यद्यपि) ये सब उत्कृष्ट हैं, परन्तु ज्ञानी तो मेरा स्वरूप ही है ऐसा मेरा मत है, क्योंकि वह स्थिर बुद्धि ज्ञानी अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें अच्छी प्रकार स्थित है॥१८॥

विशाल हृदय के भक्तानुग्रहकारक भगवान् श्रीकृष्ण यहां स्पष्ट कहते हैं कि जो कोई भी भक्त मेरी भक्ति करता है, वह अन्य जनों की अपेक्षा उत्कृष्ट ही है; फिर चाहे वह अपने कष्ट निवारणार्थ मेरा भक्त हो अथवा वह अर्थार्थी हो। किसी-न-किसी प्रकार से वह मुझ अनन्तस्वरूप की ओर ही अग्रसर हो रहा होता है। अतः वह उत्कृष्ट है। तथापि इन चतुर्विध भक्तों में 'ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है।'

हम सब जानते हैं कि किसी मन्त्री का मित्र होना और स्वयं ही मन्त्री बनना इन दोनों में बहुत अन्तर है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मन्त्री की मित्रता प्राप्त होने मात्र से भी मनुष्य को समाज में एक विशेष प्रभावपूर्ण स्थान प्राप्त होता है, परन्तु मन्त्रीपद की समस्त गरिमा एवं अधिकार तो स्वयं मन्त्री बनने पर ही प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार, किसी फल विशेष के लिए ईश्वर की आराधना करना, उसका आह्वान करना निश्चय ही एक दैवी गुण है; किन्तु ज्ञानी पुरुष निष्काम होकर मन और बुद्धि के अतीत अपने परमात्मस्वरूप को पहचान कर परिच्छिन्न

अहंकार को ही समाप्त कर देता है। और परमात्मा के साथ वह एकत्वभाव को प्राप्त हो जाता है।

तत्पश्चात् ऐसा ज्ञानी पुरुष सदा आत्मस्वरूप में ही स्थित होता है। इसलिये अन्य भक्तों की तुलना में ज्ञानी पुरुष श्रेष्ठ है – यह श्रीकृष्ण का मत है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

बहुत जन्मों के अन्त में (किसी एक जन्म विशेष में) ज्ञान को प्राप्त होकर कि 'यह सब वासुदेव है' ज्ञानी भक्त मुझे प्राप्त होता है; ऐसा महात्मा अति दुर्लभ है ॥१९॥

सर्वोच्च ज्ञान को प्राप्त हुए श्रेष्ठ महात्मा पुरुष जगत् में विरले ही होते हैं, यह भगवान् श्री कृष्ण का कथन है। हिन्दु धर्म के पतन काल में इस प्रकार के कथन को अत्यन्त निराशावादी माना जाने लगा।[1] परन्तु थोड़े विचार से ही इस प्रकार के निष्कर्ष का दोष स्पष्ट हो जायेगा। सृष्टि में समस्त चेतन जीवों की तुलना में मानव की संख्या अत्यन्त कम अनुपात में है। मनुष्य-जाति में भी सभी परिपक्व बुद्धि एवं उच्च भावनाओं से सम्पन्न नहीं होते हैं।

अन्तःकरण के श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न होने पर भी बहुत कम लोग हैं, जो गंभीरतापूर्वक शास्त्राध्ययन करते हैं; और शास्त्रों से प्राप्त ज्ञान को अपने जीवन में जीने वालों की संख्या तो नगण्य ही होती है। अनेक लोगों को केवल बौद्धिक ज्ञान से ही सन्तोष हो जाता है। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि विकास के चरम लक्ष्य – आत्मानुभूति तक पहुंचने वाले ज्ञानी पुरुष विरले ही होंगे।

डॉर्विन के समान प्राचीन काल में ऋषियों ने सभी प्राणियों का निरीक्षण करके यह पाया कि प्राणी का अपने निम्न स्तर से उच्च स्तर तक का विकास होने के लिए दीर्घकालावधि की अपेक्षा होती है, जिसमें विभिन्न परिस्थितियों एवं जन्मों से गुजरते हुए वह विकास के श्रेष्ठतर रूप को प्राप्त करता है। यह कालावधि करोड़ों वर्ष की हो सकती है। इससे हम कल्पना कर सकते हैं कि अहंकार को हटा कर अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा प्राप्त हो सकनें वाले विकास के सर्वोच्च लक्ष्य सम्पूर्ण आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये कितने जन्मों की तपस्या होनी चाहिए।

इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि हम इसी वर्तमान जन्म में ही जीवन के

---

१. देखिये गीता अध्याय ६, श्लोक ४५.

इस सर्वोच्च लक्ष्य ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकते। गीता का कथन निराशाजनक नहीं, वरन् उत्साहवर्धक है। यहां बताये गये असंख्य जन्म ज्ञान प्राप्ति के पूर्व के हैं पश्चात् के नहीं। यदि मनुष्य अपनें जीवन की अनेंक उपलब्धियों से भी असन्तुष्ट होकर जीवन का वास्तविक लक्ष्य जानने का प्रयत्न करता है, तो यह स्वयं ही विकास की एक अवस्था है। तत्पश्चात् शास्त्रों के अध्ययन में उसकी प्रवृत्ति हो और तत्प्रतिपादित सिद्धान्तों को ग्रहण करनें की सामर्थ्य हो, तो स्पष्ट है कि वह आत्मदेव के मन्दिर के द्वार तक पहुँच गया है। अतः और अधिक लगन से प्रयत्न करने पर इसी जन्म में वह मानव जन्म के परमपुरुषार्थ – आत्मसंस्थिति को प्राप्त हो सकता है। साधक को साधना में अग्रसर होने के लिए उत्साहित करना ही भगवान् के उक्त कथन का एक मात्र प्रयोजन है।

'यह सब आत्मा या वासुदेव ही है' इस ज्ञान को प्राप्त न करने का कारण वे अगले श्लोक में बताते हैं :

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

भोगविशेष की कामना से जिनका ज्ञान हर लिया गया है, ऐसे पुरुष अपने स्वभाव से प्रेरित हुए अन्य देवताओं को विशिष्ट नियम का पालन करते हुए भजते हैं ॥२०॥

विवेक सामर्थ्य मानव जन्म की विशेषता है और यह सर्वथा असंभव है कि विवेक के प्रखर और सजग होने पर मनुष्य को आत्मज्ञान न हो सके। परन्तु मन की बहिर्मुखी प्रवृत्तियां और विषयभोग की कामनायें उसके विवेक को आच्छादित कर देती हैं।

देवता शब्द के अनेक अर्थ हैं जैसे – प्रकृति के नियमों के अधिष्ठाता देवता इन्द्र, वरुण आदि इन्द्रियां, किसी कार्य क्षेत्र में निहित उत्पादन क्षमता आदि। यहां इनमें से कोई भी अर्थ लेकर इस श्लोक का अध्ययन करनें पर यही ज्ञात होता है कि भोगी पुरुष इनकी आराधना केवल वैषयिक सुख को प्राप्त करने के लिये ही करता है। वह कामना से प्रेरित होकर तत्पूर्ति के लिये अनेक प्रकार के प्रयत्न करता रहता है।

शान्त मन में आत्मा का प्रतिबिम्ब स्पष्ट और स्थिर दिखाई देता है परन्तु कामनाओं के स्रोतों से प्रवाहित होने वाली विचारों की धारायें, उसमें विक्षेप उत्पन्न

करके प्रतिबिम्ब को भी विचलित कर देती हैं। मन के क्षुब्ध होने पर बुद्धि की विवेक सामर्थ्य लुप्त हो जाती है और स्वभावत: फिर, मनुष्य सत्य असत्य का विवेक नहीं कर पाता है। जब मनुष्य की बुद्धि का आलोक कामना के मेघों से आवृत हो जाता है, तब आसक्तियों और अवगुणों के उलूक मन के जंगल में शोर मचाने लगते हैं।

मन में इच्छा के उदय मात्र में मनुष्य का पतन नहीं होता, बल्कि पतन का कारण है – उत्पन्न इच्छा के साथ उसका तादात्म्य। इस तादात्म्य के द्वारा मनुष्य अनजाने में अपनी इच्छाओं को बढ़ावा देकर असंख्य विक्षेपों को जन्म देता हुआ स्वयं उनका शिकार बन जाता है।

अन्न के सूक्ष्म तत्त्व का ही रूप वृत्ति (विचार) है और, इसलिए, वह स्वयं जड़ है। वृत्तिरूप मन आत्मा से चेतनता प्राप्त करता है और कामी व्यक्ति से सामर्थ्य। विचारों के अनुसार कर्म होता है। एक बार मनुष्य के मन में कोई कामना दृढ़ हो जाये, तो वह यह विवेक खो देता है कि उस कामनापूर्ति से उसे नित्य शाश्वत सुख मिलेगा या नहीं। क्षणिक सुख की आसक्ति के कारण वह अन्यान्य देवताओं को सन्तुष्ट करने में व्यस्त रहता है।

अब यह भी सर्वविदित तथ्य है कि प्रत्येक देवता को सन्तुष्ट करने के विशेष नियम होते हैं। इन्द्रादि, देवताओं को यज्ञयागादि के द्वारा, इन्द्रियों के शब्दादि विषयों के द्वारा तथा कार्यक्षेत्र की उत्पादन क्षमता को व्यक्त करने के लिए उचित उपकरणों और उनके योग्य उपयोग के द्वारा सन्तुष्ट करके इष्ट फल प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए, यहां कहा गया है कि "वे अन्यान्य देवताओं को विशिष्ट नियमों का पालन करके भजते हैं।"

एक वासुदेव को त्यागकर लोग अन्य देवताओं को क्यों भजते हैं, इसका कारण श्लोक की दूसरी पंक्ति में बताया गया है कि – "प्रकृत्या नियत: स्वया।" प्रत्येक मनुष्य अपनी पूर्व संचित वासनाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न विषयों की ओर आकर्षित होकर तदनुसार कर्म करता है। यह धारणा कि "स्वर्ग में बैठा कोई ईश्वर हमारे मन में इच्छाओं को उत्पन्न कराकर हमें पाप और पुण्य कर्मों में प्रवृत्त करता है", केवल निराशावादी, निर्बल और आलसी लोगों की ही हो सकती है। बुद्धिमान, साहसी और उत्साही पुरुष जानते हैं कि मनुष्य स्वयं ही अपने विचारों के अनुसार अपने वातावरण, कार्यक्षेत्र आदि का निर्माण करता है।

संक्षेप में, एक मूढ़ पुरुष शाश्वत सुख की आशा में वैषयिक क्षणिक सुखों की मृगमरीचिका के पीछे दौड़ता रहता है, जबकि विवेकी पुरुष उसकी व्यर्थता पहचान कर पारमार्थिक सत्य के मार्ग पर अग्रसर होता है।

भगवान् आगे कहते हैं :

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।।२१।।

जो-जो (सकामी) भक्त जिस-जिस (देवता के) रूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, उस-उस (भक्त) की मैं उस ही देवता के प्रति श्रद्धा को स्थिर करता हूँ ।।२२।।

इस अध्याय के प्रारम्भिक भाग में ही आत्मानात्म विवेक (जड़चेतन का विभाजन) करके भगवान् श्रीकृष्ण ने वर्णन किया है कि किस प्रकार उनमें समस्त नामरूप पिरोये हुए हैं। उसके पश्चात् उन्होंने यह भी बताया कि किस प्रकार त्रिगुणात्मिका मायाजनित विकारों से मोहित होकर मनुष्य अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को नहीं पहचान पाता। आत्मचैतन्य के बिना शरीर, मन और बुद्धि की जड़ उपाधियाँ स्वयं कार्य नहीं कर सकती हैं।

जगत् में यह देखा जाता है कि सभी भक्तजन एक ही रूप में ईश्वर की आराधना नहीं करते हैं। प्रत्येक भक्त अपने इष्ट देवता की पूजा के द्वारा सत्य तक पहुंचने का प्रयत्न करता हैं। भगवान् श्रीकृष्ण स्पष्ट घोषणा करते हैं कि कोई भी भक्त, किसी भी स्थान पर – मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा या गिरजाघर में, एकान्त में या सार्वजनिक स्थान में – किसी भी रूप में ईश्वर की पूजा श्रद्धा के साथ करता है, उसकी उस श्रद्धा को उसके इष्ट देवता में "मैं स्थिर करता हूँ।" गीता के मर्म को जानने वाला सच्चा विद्यार्थी कदापि कट्टरपंथी, पृथकतावादी या असहिष्णु नहीं हो सकता। ईश्वर के सभी सगुण रूपों का अधिष्ठान एक परम सत्य ही है. जहां से भक्त के हृदय में भक्तिरूपी पौधा पल्लवित पुष्पित और फलित होने के लिए श्रद्धारूपी जल प्राप्त करता है, क्योंकि भगवान् स्वयं कहते हैं "मैं उस श्रद्धा को स्थिर करता हूँ।"

अध्यात्मदृष्टि से विचार करने पर इस श्लोक का और अधिक गम्भीर अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है।

मनुष्य जिस विषय का निरन्तर चिन्तन करता रहता है, उसमें वह दृढ़ता से आसक्त और स्थित हो जाता है। अखण्ड चिन्तन से मन में उस विषय के संस्कार दृढ़ हो जाते हैं और फिर उसके अनुसार ही उस मनुष्य की इच्छायें और कर्म होते हैं। इसी नियम के अनुसार सतत आत्मचिन्तन करने से भी मनुष्य अपने शुद्ध स्वरूप का साक्षात् अनुभव कर सकता है।

सारांशतः भगवान् का कथन है कि, "जैसा हम विचार करते हैं वैसा ही हम बनते हैं।" अतः, यदि कोई व्यक्ति दुर्गुणों का शिकार हो गया हो अथवा अन्य व्यक्ति दैवी गुणों से सम्पन्न हो, तो यह दोनों के भिन्न-भिन्न विचारों का ही परिणाम समझना चाहिये। विचार प्रकृति का अंग है ; विचारों के अनुरूप जगत् होता है, जिसका एक अधिष्ठान है – सर्वव्यापी आत्मतत्त्व।

सतत समृद्ध हो रही श्रद्धा के द्वारा मनुष्य किस प्रकार इष्टफल को प्राप्त करता है ?

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्या राधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥

वह (भक्त) उस श्रद्धा से युक्त होकर उस देवता का पूजन करता है और उससे मेरे द्वारा विधान किये हुये इच्छित भोगों को निःसन्देह प्राप्त करता है ॥२२॥

वह भक्त उस श्रद्धा से युक्त होकर अपने इष्ट देवता की आराधना करता है, जिसके फलस्वरूप वह देवता उसकी इच्छा को पूर्ण करता है। परन्तु भगवान् कहते हैं कि वास्तव में कर्मफलदाता वे ही हैं। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा ही समस्त जगत् का आदि कारण होने से मनुष्य को कर्म करने की और देवताओं को फल प्रदान करने की सामर्थ्य उन्हीं से प्राप्त होती है। इष्टानिष्ट फलों की प्राप्ति से सुख दुःखादि का अनुभव अन्तःकरण में होता है, जिसे आत्मचैतन्य प्रकाशित करता है। उसके बिना इस प्रकार का कोई अनुभव प्राप्त नहीं हो सकता।

श्रद्धा के साथ किये हुए पूजन से ईश्वर द्वारा विधान किए हुए नियम के अनुसार फल प्राप्त होता है। यहां श्री कृष्ण अपनें परमात्मस्वरूप के साथ तादात्म्य करके कहते हैं "वे इष्टफल मेरे द्वारा ही दिये जाते हैं।"

अविवेकी लोग अनित्य भोगों की कामना करते हैं, इसलिये उन्हें कभी शाश्वत शान्ति प्राप्त नहीं होती ; अतः कहते हैं :

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

परन्तु उन अल्पबुद्धि पुरुषों का वह फल नाशवान् होता है। देवताओं के पूजक देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं ॥२३॥

नाशवान् भोगों की इच्छा को पूर्ण करने के लिए मनुष्य जो कर्म करता है, वह अनित्य होने से उसका फल भी क्षणभंगुर ही होता है। स्वर्ण से बने आभूषण स्वर्ण ही होंगे। कार्य का गुणधर्म पूर्णतया कारण पर निर्भर करता है।

देशकाल से परिच्छिन्न कर्मों से प्राप्त फल अनित्य ही होगा – चाहे वह सुख हो या दुःख। सुख का अन्त दुःख का प्रारम्भ है। अतः जब कोई इच्छा पूर्ण हो जाती है तब यद्यपि क्षणमात्र के लिये सुख का आभास भी होता है, परन्तु शीघ्र ही उसके समाप्त होने पर दुःख का कटु अनुभव मनुष्य को होता है।

भगवान् श्रीकृष्ण सामान्य नियम बताते हैं कि "देवपूजक देवताओं को प्राप्त होते हैं।" जिस नियम का जो अधिष्ठाता देवता है या जिस क्षेत्र में जो उत्पादन क्षमता है उसका आह्वान करने पर मनुष्य केवल उसी फल को प्राप्त कर सकता है।

इसी प्रकार, "मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं।" परिच्छिन्न भोग के लिये मनुष्य इतना अधिक प्रयत्न करके अन्त में क्षणिक फल को ही प्राप्त करता है। यदि वही प्रयत्न वह दैवी जीवन जीने में करे, तो उसे नित्य आनन्दस्वरूप की उपलब्धि हो सकती है। किन्तु मन की बहिर्मुखी प्रवृत्तियों के कारण वह अनात्म उपाधियों से तादात्म्य करके बाह्य वैषयिक जगत् में ही रमता है।

विवेकी पुरुष विषयोपभोग की तुच्छता और व्यर्थता को पहचान कर उनसे विरक्त हो जाते हैं। विवेक और वैराग्य से सम्पन्न होकर जब वे आत्मस्वरूप का ध्यान करते हैं, तब उन्हें परम आनन्दस्वरूप की वह अनुभूति होती है, जो शरीर, मन और बुद्धि तीनों के परे है, नित्य है।

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण नें जो 'मैं' शब्द का प्रयोग किया है, वह उसे अनन्त सत्य को सूचित करता है, जो व्यष्टि और समष्टि का अधिष्ठान है। अतः वे कहते हैं कि, "मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं", तब उनका तात्पर्य ऐतिहासिक पुरुष देवकी पुत्र कृष्ण से नहीं, वरन् चैतन्यस्वरूप पुरुष से होता है। इस दृष्टि से, आत्मवित् आत्मस्वरूप ही बन जाता है। यही भगवान् श्रीकृष्ण के कथन का वास्तविक अभिप्राय है।

तब क्या कारण है कि सामान्य जन आपको प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करते? उत्तर है :

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम (सर्वोत्तम) अव्यय परम भाव को न जानते हुए मुझ अव्यक्त को व्यक्त मानते हैं ॥२४॥

समस्त नामरूपों की वैचित्र्यपूर्ण सृष्टि में प्रकाशित हो रहे परम सत्य को ग्रहण करने की विवेक-सामर्थ्य जिनमें नहीं है, वे लोग अव्यय अविनाशी आत्मतत्त्व को साक्षत् नहीं कर पाते । अनित्य दृश्यमान जगत् में अत्यन्त आसक्ति के कारण वे यह नहीं जान पाते कि यह सम्पूर्ण नामरूपमय जगत् सूत्र में मणियों के समान परमात्मा में पिरोया हुआ है ।

जिस चैतन्य के प्रकाश में सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित हो रहा है, उस परम सत्य को ही यहाँ 'अव्यक्त' शब्द से इंगित किया गया है । इस शब्द का लक्ष्यार्थ समझना आवश्यक है । जो वस्तु इन्द्रियगोचर है या मन और बुद्धि के द्वारा जानी जा सकती है – जैसे भावना या विचार, वह व्यक्त कहलाती है । अतः इन तीनों उपाधियों के द्वारा जिसे जाना नहीं जा सकता वह वस्तु अव्यक्त है ।'

आत्मतत्त्व ही अव्यक्त हो सकता है, क्योंकि वही एकमात्र चेतन तत्त्व है, जिसके कारण इन्द्रियां, मन और बुद्धि स्वविषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि आत्मा इन सबका द्रष्टा है और इसलिए कभी दृश्यरूप में नहीं जाना जा सकता । वह अव्यक्त है ।

बहिर्मुखी प्रवृत्ति के लोग केवल स्थूल भौतिक रूप को ही देख पाते हैं । अविवेक के कारण वे गुरु अथवा अवतार के शरीर को और सामर्थ्य को देखकर उतने मात्र को ही सनातन सत्य समझ लेते हैं । इसमें कोई सन्देह नहीं कि चित्त की एकाग्रता के लिये अथवा उपासना के लिये किसी उपास्य की प्रतीक या प्रतिमा के रूप में आवश्यकता होती है; किन्तु वह प्रतिमा स्वयं परमार्थ सत्य नहीं हो सकती । यदि वही सत्य वस्तु होती तो पाषाण से मूर्ति बनाने के पश्चात् या गुरु के पास पहुँचने मात्र से साधक को सत्य की प्राप्ति हो जानें से उसे और कुछ करने की आवश्यकता नहीं रह जाती ! मूर्ति पूजा का प्रयोजन चित्त की शुद्धि एवं एकाग्रता प्राप्त करना है, जिसके द्वारा ध्यान का अभ्यास करके आत्मा का साक्षात् अनुभव किया जा सकता है ।

यह श्लोक स्पष्ट रूप से हमें बताता है कि बोतल को औषधि समझना, शरीर को ही गुरु और मूर्ति को ही भगवान् समझ लेना व्यर्थ है ! सभी श्वेत काष्ठ चंदन नहीं और आकाश में प्रत्येक चमकीली वस्तु तारा नहीं होती । हो सकता है कि किसी ऊँचे स्तम्भ से आ रहे प्रकाश को देखकर अतिमूढ़ पुरुष उसे सूर्य समझ लें, परन्तु कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति उसकी धारणा को गंभीरता से नहीं लेगा । अवतार का सिद्धान्त हिन्दू धर्म में स्वीकार किया जाता हैं । किसी-न-किसी मात्रा में प्रत्येक व्यक्ति ही अवतार कहा जा सकता है । एक ही सत्य सर्वत्र सबमें व्याप्त है । मन और बुद्धि की उपाधियों में वह व्यक्त होता है । जितना ही अधिक शुद्ध और स्थिर

अन्तःकरण होगा, उतना ही अधिक स्पष्ट चैतन्य का प्रकाश उसमें व्यक्त होगा।

जिस पुरुष का अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध एवं स्थिर होता है और जिसने अपरा प्रकृति पर पूर्ण विजय पा ली होती है, वह ऋषि, मुनि या पैगम्बर कहलाता है। ये पुरुष आत्मस्वरूप को पहचानकर कि वही भूतमात्र की आत्मा है, उसमें स्थित होकर दिव्य जीवन जीते हैं। उनके शरीर, मन और बुद्धि को ही परम सत्य समझना ऐसी ही त्रुटि है, जैसे कि तरंगों को ही समुद्र समझ लेना है!

यही कारण है कि भगवान् श्रीकृष्ण यहां ऐसे अविवेकी लोगों के लिये 'अबुद्धयः' जैसे कठोर शब्द का प्रयोग करते हैं।

यह अज्ञान किस निमित्त से है? इस पर कहते हैं:

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

अपनी योगमाया से आवृत्त मैं सबको प्रत्यक्ष नहीं होता हूं। यह मोहित लोक (मनुष्य) मुझ जन्मरहित, अविनाशी को नहीं जानता है ॥२५॥

यदि समस्त जगत् के अधिष्ठान के रूप में कोई दिव्य तत्त्व विद्यमान है, तो फिर क्या कारण है कि सब लोगों के द्वारा सर्वत्र सदा वह अनुभव नहीं किया जाता? क्यों हम परिच्छिन्न जीव के समान व्यवहार करते हैं और अपने अनन्त स्वरूप को पहचान नहीं पाते? संक्षेप में, 'मुझमें और मेरे स्वरूप के मध्य कौन सा आवरण पड़ा हुआ है?' जब जिज्ञासु साधकगण वेदान्त प्रतिपादित सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं, तो स्वाभाविक ही उनके मन में इस प्रकार के प्रश्न उठते हैं।

भगवान् कहते हैं, 'यह मोहित जगत् मुझ अजन्मा अविनाशी को नहीं जानता है', क्योंकि उनके लिये, 'मैं त्रिगुणात्मिका योगमाया से आच्छादित रहता हूं।' जब वेदान्त के प्रारम्भिक विद्यार्थी 'माया' को एक बाह्य वस्तु के रूप में समझने का प्रयत्न करते हैं, तब उसे समझने में अत्यन्त कठिनाई होती है। परन्तु जब वे अध्यात्म दृष्टि से विचार करते हैं अर्थात् अपने ही अन्तःकरण में माया किस प्रकार कार्य करती है, ऐसा विचार करते हैं तो 'माया' का सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है। माया प्रिज्म (आयत) के समान ऐसी उपाधि है, जिसके माध्यम से अवर्ण अद्वैत स्वरूप तत्त्व जब व्यक्त होता है, तब सप्तरंगी प्रकाश के समान वह नानाविधि सृष्टि के रूप में प्रतीत होता है।

व्यष्टि (एक व्यक्ति) में कार्य कर रही माया को ही अविद्या कहते हैं। ऋषियों ने इस अविद्या का जो कि जीव के सब दुःखों का कारण है – सूक्ष्म अध्ययन किया और यह उद्घाटित किया कि यह तीन गुणों से युक्त है, जो मनुष्य को प्रभावित करते हैं। ये तीन गुण हैं सत्त्व, रज और तम जो एक आयत (प्रिज्म) का सा काम करते हैं और जिनके माध्यम से हमें इस बहुविधि सृष्टि का अनुभव होता है। रजोगुण का कार्य है विक्षेप और तमोगुण का कार्य बुद्धि पर पड़ा आवरण है।

त्रिगुणों के विकारों से मोहित और भ्रान्त पुरुष को आत्मा का साक्षात् ज्ञान नहीं होता। उस आत्मज्ञान के लिये गुरु के उपदेश तथा स्वयं की साधना की आवश्यकता होती है। किसी ग्रामीण अनपढ़ व्यक्ति के लिये बल्ब में विद्युत का अभाव प्रतीत होता है, क्योंकि वह अव्यक्त होती है। उसके प्रवाह को प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिये सैद्धान्तिक ज्ञान तथा प्रत्यक्ष प्रयोग की अपेक्षा होती है। एक बार विद्युत् शक्ति के गुणधर्म का ज्ञान हो जाने पर यदि वह मनुष्य उसी बल्ब में प्रकाश देखे, तो उसे अव्यक्त विद्युत् का ज्ञान तत्काल हो जाता है!

इसी प्रकार, आत्मसंयम, श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा जब साधक का क्षुब्ध मन प्रशान्त हो जाता है, तब आवरण के अभाव में वह 'मुझ अजन्मा अविनाशी स्वरूप को पहचान लेता है।' अज्ञानी जीव विषय-उपभोगों में नित्य सुख की खोज तभी तक करता है, जब तक आवरण और विक्षेप की निवृत्त नहीं हो जाती।

कामाग्नि में सुलगते, निराशा में जकड़े, असन्तोष से कुचले और आत्मनाश के भय से व्याकुल, उन्मत्त और संतप्त मनों में समता और एकाग्रता कदापि नहीं हो सकती कि वे क्षणभर के लिए भी आत्मा का शुद्ध स्वरूप अनुभव कर सकें। योग–माया से मोहित यह जगत् मुझ अव्यय स्वरूप को नहीं जानता। मानो नाम और रूप की इस सृष्टि ने आत्मा को आवृत्त कर दिया है। यह आवरण उसी प्रकार है, जैसे प्रेत स्तम्भ को, मृगमरीचिका रेत को और तरंगें समुद्र को आच्छादित कर देती हैं!!

जीवन की अज्ञान दशा के विपरीत, भगवान् श्रीकृष्ण अपने स्वरूप को बताते हुये कहते हैं:

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

हे अर्जुन! पूर्व में व्यतीत हुए और वर्तमान में स्थित तथा भविष्य में होने

वाले भूतमात्र को मैं जानता हूँ, परन्तु मुझे कोई भी पुरुष नहीं जानता है ॥२६॥

विश्व के सभी धर्मों में ईश्वर को सर्वज्ञ माना गया है, किन्तु केवल वेदान्त में ही सर्वज्ञता का सन्तोषजनक विवेचन मिलता है। उपनिषदों के सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में गीता का विशेष स्थान है, जिसमें यह स्पष्ट किया गया है कि वास्तव में सर्वज्ञता का अर्थ क्या है।

आत्मा ही वह चेतन तत्त्व है, जो मन-बुद्धि की समस्त वृत्तियों को प्रकाशित करता है। बाह्य भौतिक जगत् का ज्ञान हमें तभी होता है जब इन्द्रियां विषय ग्रहण करती हैं, जिसके फलस्वरूप मन में विषयाकार वृत्तियां उत्पन्न होती हैं। इन वृत्तियों का वर्गीकरण करके विषय का निश्चय करने का कार्य बुद्धि का है। मन और बुद्धि की वृत्तियां नित्य चैतन्य स्वरूप आत्मा से ही प्रकाशित होती हैं।

सूर्य प्रकाश जगत् की समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करता है। जब मेरे नेत्र या श्रोत रूप या शब्द को प्रकाशित करते हैं, तक मैं कहता हूं कि 'मैं देखता हूं' या 'मैं सुनता हूं।' संक्षेप में, वस्तु का भान होने का अर्थ है, उसे जानना, और जानने का अर्थ है प्रकाशित करना। जैसे सूर्य को 'जगच्चक्षु' कहा जा सकता है, क्योंकि उसके अभाव में हमारी नेत्रेन्द्रिय निष्प्रयोजन होकर गोलक मात्र रह जायेगी; वैसे ही आत्मा को सर्वत्र सदा सब का ज्ञाता कहा जा सकता है। आत्मा की सर्वज्ञता भगवान् के इस कथन में कि, "मैं भूत, वर्तमान और भविष्य के भूतमात्र को जानता हूं', स्पष्ट हो जाती है।

यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि आत्मा न केवल वर्तमान का ज्ञाता है, बल्कि अनादिकाल से जितने विषय, भावनाएं एवं विचार व्यतीत हो चुके है उन सब का भी प्रकाशक वही था; और अनन्तकाल तक आने वाले भूतमात्र का ज्ञाता भी वही रहेगा !

विद्युत् से पंखा घूमता है, परन्तु पंखा विद्युत् को गति नहीं दे सकता ! एक व्यक्ति दूरदर्शी यन्त्र से नक्षत्रों का निरीक्षण करता है, किन्तु वह यन्त्र उस द्रष्टा व्यक्ति का निरीक्षण नहीं कर सकता ! इन्द्रिय, मन और बुद्धि को चेतना प्रदान करने वाले द्रष्टा आत्मा को किस प्रकार कोई जान सकता है ? भगवान् श्रीकृष्ण इस आत्मदृष्टि से कहते हैं, 'यद्यपि मैं सबको सर्वत्र सदा जानता हूं, लेकिन मुझे कोई भी नहीं जानता है।"

वेदान्त में वर्णित पारमार्थिक दृष्टि से तो आत्मा को 'ज्ञाता' या 'द्रष्टा' भी नहीं कहा जा सकता, जैसे शुद्ध तार्किक दृष्टि से यह कहना गलत होगा कि सूर्य जगत् को 'प्रकाशित' करता है। हमें रात्रि के अन्धकार में वस्तुएं दिखाई नहीं

देतीं, इस कारण दिन में उनके दृष्टिगोचर होने पर हम सूर्य को प्रकाशित करने के धर्म से युक्त मानते हैं । तथापि नित्य प्रकाश स्वरूप सूर्य की दृष्टि से ऐसा कोई क्षण नहीं है, जब वह वस्तुओं को प्रकाशित करके उन्हें अनुग्रहित न करता हो । अतः, यह कहना कि सूर्य जगत् को 'प्रकाशित करता है' उतना ही अर्थहीन है, जितना यह कथन कि आजकल मैं श्वासोच्छ्वास में अत्यन्त व्यस्त हूं !'

आत्मा का ज्ञातृत्व औपाधिक है अर्थात् माया की उपाधि से उसे प्राप्त हुआ है । शुद्ध सत्त्वगुण प्रधान माया में व्यक्त आत्मा या ब्रह्म को ही वेदान्त में ईश्वर कहा जाता है । भगवान् श्रीकृष्ण सत्य का साकार रूप या ईश्वर का अवतार है, और इसलिये, उनका स्वयं को सर्वज्ञ घोषित करना समीचीन ही है ।

परन्तु दुर्भाग्य से, आत्मकेन्द्रित मर्त्य जीव परिच्छिन्न संकीर्ण और सीमित मन तथा बुद्धि के छिद्र से जगत् को देखते हुए समष्टि की तालबद्ध लय को पहचान नहीं पाता । जो व्यक्ति स्वनिर्मित अज्ञान बन्धनों को तोड़कर विश्व के साथ तादात्म्य कर सकता है, वही व्यक्ति श्रीकृष्ण के दृष्टिकोण को निश्चय ही समझ सकता हैं, उसका अनुभव कर सकता है । जो कोई पुरुष सफलतापूर्वक समष्टि मन के साथ तादात्म्य प्राप्त कर जीता है, वह व्यक्ति अपने तथा तत्पश्चात् आने वाले युग का कृष्ण ही है ।

यदि सभी औपाधिक ज्ञानों का प्रकाशक आत्मा ही है तो किन प्रतिबन्धों के कारण आत्मा का साक्षात्कार नहीं हो पाता है ? भगवान् कहते हैं :

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परन्तप ।।२७।।

हे परंतप भारत ! इच्छा और द्वेष से उत्पन्न द्वन्द्वमोह से भूतमात्र उत्पत्ति काल में ही संमोह (अविवेक) को प्राप्त होते हैं ।।२७।।

एक अत्यन्त वैज्ञानिक एवं सूक्ष्म दार्शनिक सत्य को इस श्लोक में सूचित किया गया है । इस तथ्य का वर्णन करने में कि क्यों और कैसे यह जीव आत्मा के शुद्ध स्वरूप को नहीं जान पाता है, भगवान् श्रीकृष्ण मूलभूत उन सिद्धान्तों को बताते हैं जो आधुनिक जीवशास्त्रियों ने जीव के विकास के सम्बन्ध में शोध करके प्रस्तुत किये हैं ।

आत्मसुरक्षा की सर्वाधिक प्रवल स्वाभाविक प्रवृत्ति के वशीभूत मनुष्य जगत् में जीने का प्रयत्न करता है । सुरक्षा की यह प्रवृत्ति बुद्धि में उन वस्तुओं की इच्छाओं

के रूप में व्यक्त होती है, जिनके द्वारा मनुष्य अपने सांसारिक जीवन को सुखी और समृद्ध बनाने की अपेक्षा रखता है।

प्रिय वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा को इच्छा कहते हैं। यदि कोई वस्तु या व्यक्ति इस इच्छापूर्ति में बाधक बनता है, तो उसकी ओर मन की प्रतिक्रिया द्वेष या क्रोध के रूप में व्यक्त होती है। इच्छा और द्वेष की दो शक्तियों के बीच होने वाले शक्ति परीक्षण में दुर्भाग्यशाली जीव छिन्न-भिन्न होकर मरणासन्न व्यक्ति की असह्य पीड़ा को भोगता है। स्वाभाविक ही, ऐसा व्यक्ति सदा प्रिय की ओर प्रवृत्ति और द्वेष्य की ओर से निवृत्ति में व्यस्त रहता है। शीघ्र ही वह व्यक्ति अत्यधिक व्यस्त और पूर्णतया भ्रमित होकर थक जाता है। मन में उत्पन्न होने वाले विक्षेप दिनप्रतिदिन बढ़ते हुये अशान्ति की वृद्धि करते हैं। इन्हीं विक्षेपों के आवरण के फलस्वरूप मनुष्य को अपने सत्यस्वरूप का दर्शन नहीं हो पाता।

अतः, आत्मा की अपरोक्षानुभूति का एकमात्र उपाय है – मन को संयमित करके उसके विक्षेपों पर पूर्ण विजय प्राप्त करना। विश्व के सभी धर्मों में जो क्रिया प्रधान, भावना प्रधान या विचारप्रधान आध्यात्मिक साधनाएं बतायी जाती हैं उन सबका प्रयोजन केवल मन को पूर्णतया शान्त करने का ही है। परम शान्ति का क्षण ही आत्मानुभूति, आत्मप्रकाश और आत्ममिलन का क्षण होता है।

परन्तु दुर्भाग्य है कि 'प्राणीमात्र उत्पत्तिकाल में ही संमोह को प्राप्त होते हैं', दैवी करुणा से भरे स्वर में भगवान् श्रीकृष्ण का यह कथन है। दुःखपूर्ण प्रारब्ध को मनुष्य का यह कोई नैराश्यपूर्ण समर्पण नहीं है कि जिससे मुक्ति पाने में वह जन्म से ही अशक्त बना दिया गया हो। ईसाई धर्म के समान कृष्ण धर्म किसी व्यक्ति को 'पाप का पुत्र' नहीं मानता। यमुना कुञ्ज बिहारी, दुर्दम्य आशावादी, आशा के संदेश-वाहक जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण यहां मात्र दार्शनिक सत्य को ही व्यक्त कर रहे हैं कि कोई भी व्यक्ति किसी देहविशेष और उपलब्ध वातावरण में जन्म लेने की त्रासदी अपनी अतृप्त बासनाओं एवं प्रच्छन्न कामनाओं की परितृप्ति के लिये स्वयं ही निर्माण करता है।

इस मोह जाल से मुक्ति पाना और सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करना जीवन का पावन लक्ष्य है। गीता भगवान् द्वारा विरचित काव्य है जो विपरीत ज्ञान में फंसे जीवों को भ्रमजाल से निकालकर पूर्णानन्द में विहार कराता है।

सत्य के साधकों के गुण दर्शाने के लिए भगवान् आगे कहते हैं :

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

परन्तु जिन पुण्यकर्मी पुरुषों का पाप नष्ट हो गया है, वे द्वन्द्वमोह से निर्मुक्त और दृढव्रती पुरुष मुझे भजते हैं ॥२८॥

'जिन पुण्यकर्मी पुरुषों का पाप नष्ट हो गया है', इस कथन को सम्यक् प्रकार से समझना आवश्यक है। पाप मनुष्य का स्वभाव नहीं हैं; वेदान्त के अनुसार वह मनुष्य द्वारा किये गये गलत निर्णय अर्थात् विपरीत ज्ञान का परिणाम है, जिसने आत्मचैतन्य को आच्छादित सा कर दिया है। पाप का मुख्य कारण है – बाह्य स्थूल जगत् के निम्न स्तरीय विषयोपभोग के लिए हमारे मन की तृष्णा और स्पृहा। पापी पुरुष वह है, जिसका अत्यधिक समय और ध्यान केवल अपने देह – सुख के लिये ही व्यक्त होता है। ऐसे पुरुष में, देह स्वामी और आत्मा उसकी 'दासी' बन जाती है। बहिर्मुखी प्रवृत्ति, वैषयिक सुखों की कामना, मन में उठने वाली प्रत्येक निम्न कोटि की भावना का सन्तुष्टीकरण – यह है पापी पुरुष की जीवन पद्धति।

इस प्रकार का कामुक पाशविक जीवन अन्तःकरण में वैसी ही वासनाएं उत्पन्न करता है। वासना के अनुसार ही विचार होते हैं। विचारानुसार कर्म और ये कर्म फिर वासना को ही दृढ़ करते हैं।

मनुष्य की शान्ति और सन्तुष्टि को विनष्ट करने वाली 'वासना-विचार-कर्म' की श्रृंखला को तोड़ने के लिये मनुष्य को पुण्यकर्म का नया जीवन प्रारम्भ करने का उपदेश दिया जाता है। पुण्यकर्म पाप का विरोधी होने से उसके अन्तर्गत वे सब विचार भावनाएं तथा कर्म आते हैं जो ईश्वर को समर्पित होते हैं अर्थात् जिनका लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति होता है। 'मैं देह हूँ' के स्थान पर 'मैं आत्मा हूँ' इस ज्ञान को दृढ़ करके कर्म करने पर वे अपना संस्कार उत्पन्न करेंगे। कुछ कालावधि में इन पुण्यसंस्कारों के दृढ़ होने पर पाप वासनाएं नष्ट हो जायेंगी।

ऐसा पापमुक्त पुरुष सुखदुःखादि रूप सभी प्रकार के द्वन्द्वमोह से निर्मुक्त हो जाता है। तब उसमें यह योग्यता आती है कि वह एकाग्रचित्त तथा दृढ़वती अर्थात् दृढ़ निश्चयी होकर आत्मा का ध्यान कर सके।

साधन सम्पन्न साधक किस प्रयोजन से आत्मा का ध्यान करते हैं ? उत्तर है :

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

जो मेरे शरणागत होकर जरा और मरण से मुक्ति पाने के लिये यत्न करते

हैं, वे पुरुष उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को और सम्पूर्ण कर्म को जानते हैं ॥२९॥

चित्तशुद्धि तथा ध्यानसाधना का प्रयोजन है 'जरा और मरण से मुक्ति पाना।' आधुनिक काल में भी मनुष्य ऐसे उपायों को खोजने का प्रयत्न कर रहा है, जिसके द्वारा जरा और मरण से मुक्ति मिल सके। उसकी अमृतत्त्व की कल्पना यह है कि इस भौतिक देह का अस्तित्व सदा बना रहे; परन्तु, अध्यात्मशास्त्र में इसे अमृतत्त्व नहीं कहा है और न देह के नित्य अस्तित्व को जीवन का लक्ष्य बताया है।

प्राणिमात्र के लिये जन्म, वृद्धि, व्याधि, क्षय और मरण ये विकार अवश्यंभावी हैं। ये सभी विकार या परिवर्तन मनुष्य को असह्य पीड़ादायक होते हैं। इनके अभाव में मनुष्य का जीवन अखण्ड आनन्दमय होता है। ध्यानाभ्यास में साधक का प्रयत्न इन परिवर्तनशील उपाधियों के साथ हुए तादात्म्य से ऊपर उठकर कालत्रयातीत मुक्त आत्मस्वरूप में स्थिति प्राप्त करने का होता है।

योग्यता सम्पन्न साधक आत्मा का ध्यान करके अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप का साक्षात्कार करता है कि 'यह आत्मा मैं हूं।' यह आत्मा ही वह परम सत्य है, जो समस्त ब्रह्माण्ड का अधिष्ठान है, जिसे वेदान्त में ब्रह्म की संज्ञा दी गई है। आत्मसाक्षात्कार का अर्थ ही ब्रह्मस्वरूप बनना है, क्योंकि व्यक्ति की आत्मा ही भूतमात्र की आत्मा है। सत्य के इस अद्वैत को यहां इस प्रकार सूचित किया गया है कि 'जो साधक मुझ आत्मस्वरूप पर ध्यान करते हैं, वे ब्रह्म को जानते हैं।'

ज्ञानी पुरुष के विषय में श्रीकृष्ण कहते हैं कि वह न केवल सर्वव्यापी आत्मा का ज्ञाता है, बल्कि 'स्वयं की सम्पूर्ण अध्यात्म अर्थात् मनोवैज्ञानिक शक्तियों का भी ज्ञाता है तथा वह सभी कर्मों में कुशल होता है।' इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि आत्मानुभवी पुरुष जगद्व्यवहार में अकुशल और मूढ़ नहीं होता। अनुभवी पुरुषों का मत है कि केवल वही पुरुष वास्तविक अर्थ में जगत् की सेवा कर सकता है, जिसे लोगों के मनोविज्ञान का पूर्ण ज्ञान है तथा अपने मन पर पूर्ण संयम है। सत्य का गीत गाने के लिये ऐसा पूर्णत्व प्राप्त व्यक्ति ही योग्यतम माध्यम है, और ऐसे व्यक्ति का सुसंगठित और समस्त कार्यों में कुशल होना आवश्यक है।

ज्ञानी पुरुषों के विषय में ही आगे कहते हैं :

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

जो पुरुष अधिभूत और अधिदैव तथा अधियज्ञ के सहित मुझे जानते हैं, वे युक्तचित्त वाले पुरुष अन्तकाल में भी मुझे जानते हैं ॥३०॥

आत्मानुभवी पुरुष न केवल मन के स्वभाव (अध्यात्म) और कर्म के स्वरूप को ही जानते हैं, वरन् वे अधिभूत (पंच विषय रूप जगत्), अधिदैव (इन्द्रिय, मन और बुद्धि की कार्य प्रणाली) और अधियज्ञ अर्थात् उन परिस्थितियों को भी जानते हैं, जिनमें विषय ग्रहण रूप यज्ञ सम्पन्न होता है।

ईश्वर के किसी रूप विशेष के भक्त के विषय में सम्भवत: यह धारणा उचित हो सकती है कि भक्तजन अव्यावहारिक होते हैं और उनमें सांसारिक जीवन को सफलतापूर्वक जीने की कुशलता नहीं होती। एक सगुण उपासक अपने इष्ट देवता का ध्यान करने में ही इतना भावुक और व्यस्त हो जाता है कि उसमें संसार को समझने में न रुचि होती है और न क्षमता। परन्तु वेदान्त शास्त्र में आत्मज्ञानी पुरुष का जो चित्रण मिलता है उनके अनुसार वह पुरुष न केवल आत्मानुभव में दृढ़ निष्ठ होता है, वरन् वह सर्वत्र, सदा एवं समस्त परिस्थितियों में अपने मन का स्वामी बना रहता है और ऐसी सामर्थ्य से सम्पन्न होता है, जिसे सम्पूर्ण जगत् को स्वीकार करना पड़ता है।

ऐसा स्वामित्व प्राप्त पुरुष ही जगत् को नेतृत्व प्रदान कर सकता है। सब प्रकार के संयम एवं विपर्ययों से मुक्त वह ज्ञानी पुरुष अध्यात्म और अधिभूत को जानते हुए जगत् में ईश्वर के समान रहता है। सारांशत: इस अध्याय की समाप्ति भगवान् की इस घोषणा के साथ होती है कि 'जो पुरुष मुझे जानता है वह सब कुछ जानता है।' भगवान् श्रीकृष्ण के समान वह अपनी वर्तमान तथा भावी पीढ़ियों के भाग्य निर्माण में मार्गदर्शक बनता है।

इस अध्याय के अन्तिम दो श्लोक उनमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का पूर्णरूप से वर्णन नहीं करते हैं। ये सूत्ररूप श्लोक हैं, जिनका विस्तृत विवेचन अगले अध्याय में किया गया है। दो अध्यायों को संबद्ध करने की पारस्परिक शास्त्रीय पद्धतियों में से यह एक पद्धति है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥

इस प्रकार श्रीकृष्णार्जुनसंवाद के रूप में ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र स्वरूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् का ज्ञानविज्ञानयोग नामक सप्तम अध्याय समाप्त होता है।

उपनिषदों में उपदिष्ट सिद्धान्त महर्षि व्यास के समय केवल काव्यत्मक पूर्णत्व के काल्पनिक वर्णन के रूप में रह गये थे जिनका जीवन की वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं था। इस प्रकार, अपनी संस्कृति के मूल वैभव एवं सामर्थ्य से विलग हुए हिन्दुओं की सांस्कृतिक चेतना को पुनर्जीवित करना आवश्यक था। यह कार्य उन्हें

उनके दार्शनिक सिद्धान्तों में सौन्दर्य एवं तेजस्विता को दर्शा कर ही सम्पन्न किया जा सकता था। इस अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने निश्चयात्मक रूप से यह सिद्ध किया है तथा इस पर बल दिया है कि वेदान्त प्रतिपादित पूर्णत्व कोई कल्पना नहीं वरन् वह साधक की वास्तविक उपलब्धि बन सकती है, जिसे जीवन में सफलतापूर्वक जीकर वह अपनी पीढ़ी का कल्याण कर सकता है। अतः इस अध्याय का "ज्ञानविज्ञानयोग" शीर्षक अत्यन्त उपयुक्त है।

केवल ज्ञान विशेष उपयोगी नहीं होता। ज्ञान का पूर्णत्व उसके यथार्थ अनुभव में है। ज्ञान का उपदेश तो दिया जा सकता है, परन्तु अनुभव (विज्ञान) नहीं। धर्म तत्व ज्ञान का उपदेश देता है और उसके साथ ही उन उपायों का भी निर्देशन करता है, जिनके द्वारा वह ज्ञान साधक का अपना विज्ञान बन सके, और जीवन के साथ एक रूप हो जाय। इस प्रकार धर्म का प्रयोजन ऐसे अनुभवी पुरुषों का निर्माण करना है जो जीवन के परम पुरुषार्थ को प्राप्त करके, धर्म को सत्योचित प्रमाणित कर सकें और अपनी पीढ़ियों को आनन्दाभिभूत करके कृतार्थ करने में सक्षम हों।



अष्टम अध्याय

अक्षरब्रह्मयोग

जो पुरुष परमात्मा की परा और अपरा प्रकृति का विवेक करके परस्वभाव के साथ एकरूप होकर अपरा प्रकृति के व्यक्तरूप इस जगत् में स्वतन्त्रतापूर्वक आनन्द के साथ स्वेच्छा से विहार करता है, वह पुरुष पूर्ण आत्मज्ञानी है। संसार के समस्त भयों एवं दुःखों से नित्य-मुक्त पृथ्वी पर विचरण करता हुआ वह ईश्वर है। सामान्य जनों में से ही ऐसे आनन्द मग्न एवं आत्मानुभवी पुरुषों का निर्माण करना वेदान्त का लक्ष्य है। इसलिये, पूर्व अध्याय में ज्ञान और विज्ञान का स्पष्ट एवं विस्तृत वर्णन किया गया है।

पूर्व अध्याय की विषय वस्तु का ही यहां विस्तृत वर्णन है। भगवान् श्रीकृष्ण ज्ञानी पुरुष की प्रशंसा करते हुए यह दर्शाते हैं कि वह न केवल आत्मा के विशेष ज्ञान एवं अनुभव से सम्पन्न होता है, वरन् ज्ञान के फलस्वरूप, जीवन के सभी स्तरों पर तथा जगत् व्यवहार में भी यह सुगठित व्यक्तित्व का पुरुष बन जाता है। सर्वत्र सदा, सब परिस्थितियों में वह स्वयं को ईश्वरीय कार्यकुशलता तथा समता का क्षमतावान पुरुष सरलता से सिद्ध करता है।

पूर्व अध्याय में वेदान्त के सैद्धान्तिक पक्ष के अतिरिक्त उसके व्यावहारिक पक्ष का केवल निर्देश किया गया था, किन्तु वेदान्त के आदर्शों को वास्तविकता का रूप देने के लिये आवश्यक साधनों का विस्तृत वर्णन वहां नहीं था। यहाँ उस साधना का समग्र वर्णन है; और उसी प्रकार चेतन पुरुष और अपरा प्रकृति के सम्बन्ध को भी यहां स्पष्ट रूप से दर्शाया गया है, इस अध्याय में अनिर्वचनीय परमार्थ सत्य को लक्षित करने वाली आदर्श परिभाषाएं दी गई हैं। इस अध्याय से केवल उन मन्द-बुद्धि साधकों को उत्साह एवं दैवी प्रेरणा की अनुभूति नहीं होगी जो विवेक और ज्ञान के मार्ग का अनुसरण करने के पात्र नहीं होते हैं।

सातवें अध्याय के अन्तिम दो श्लोकों में यह दर्शाया गया है कि आत्मानुभवी पुरुष न केवल जगत् के अधिष्ठान ब्रह्म को ही जानता है, बल्कि साथ ही उसे बाह्य जगत् स्वयं की ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों तथा मन पर पूर्ण स्वामित्व प्राप्त हो जाता

है। यही कारण है कि वह एक कुशल 'कर्त्ता' बनकर सर्वत्र, सदा चिरस्थायी उपलब्धियों का निर्माण करता है। यहां भगवान् श्रीकृष्ण अपने विस्तृत विवेचन से इस विषय को और अधिक स्पष्ट करते हैं। एक बार जब हम समुद्र को जान लेते हैं, तो उसमें उठने वाली तरंगें, लहरें, फेन आदि सब को हम जान जाते हैं। इसी प्रकार परमात्मा वह सत्य है, जिस पर सभी कर्म, कर्मेन्द्रियां, ज्ञानेन्द्रियां, पंच विषय आदि सब अध्यस्त (कल्पित) हैं, और इसलिये, आत्मज्ञान के होने से इन सभी का ज्ञान हो जाता है।

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

अर्जुन ने कहा—

हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है तथा कर्म क्या हैं ? और अधिभूत नाम से क्या कहा गया है ? तथा अधिदैव नाम से क्या कहा जाता है ? ॥१॥

और हे मधुसूदन ! यहां अधियज्ञ कौन है ? और वह इस शरीर में कैसे है ? और संयत चित्त वाले पुरुषों द्वारा अन्त समय में आप किस प्रकार जाने जाते हैं ?॥२॥

पूर्व अध्याय के अन्तिम दो श्लोकों में अकस्मात् ब्रह्म, अध्यात्म, अधिभूत आदि[1] जैसे नवीन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है और कहा गया है कि,

---

१. इन शब्दों के द्वारा कुछ व्याख्याकारों ने विभिन्न प्रकार के साधकों के लिये ज्ञान की विभिन्न स्तर की भूमिकाएं बताने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार का अर्थ करना कुछ कृत्रिम तथा संकुचित भी प्रतीत होता है; यहां प्रयुक्त संस्कृत शब्दों का इस प्रकार अर्थ करने में निश्चय ही श्रुतिहानि और अश्रुत कल्पना सिद्ध होती है।

'ज्ञानी पुरुष मरण काल में भी युक्त चित्त होकर मुझे इनके सहित जानते हैं।'[1] इससे अर्जुन कुछ भ्रमित हो गया।

इस अध्याय का प्रारम्भ अर्जुन के प्रश्न के साथ होता है जिसमें वह उन शास्त्रीय शब्दों की निश्चित परिभाषाएं जानना चाहता है, जिसका प्रयोग भगवान् ने अपने उपदेश में किया था। वह यह भी जानने को उत्सुक है कि जीवन काल में सतत आध्यात्मिक साधना के अभ्यास के फलस्वरूप प्राप्त पूर्ण आत्मसंयम के द्वारा मरणकाल में भी आत्मा का अनुभव किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है।

भगवान् श्रीकृष्ण प्रत्येक शब्द की परिभाषा देते हुए कहते हैं:

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर ॥४॥

श्रीभगवान् ने कहा–

परम अक्षर (अविनाशी) तत्त्व ब्रह्म है; स्वभाव (अपना स्वरूप) अध्यात्म कहा जाता है; भूतों के भाव को उत्पन्न करने वाला विसर्ग (यज्ञ, प्रेरक बल) कर्म नाम से जाना जाता है ॥१॥

हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन! नश्वर वस्तु (पंचमहाभूत) अधिभूत और पुरुष अधिदैव है; इस शरीर में मैं ही अधियज्ञ हूं ॥२॥

परम अक्षर तत्त्व ब्रह्म है – ब्रह्म शब्द का उस अपरिवर्तनशील और अविनाशी तत्त्व का संकेत करता है, जो इस दृश्यमान जगत का अधिष्ठान है। वही आत्म रूप से शरीर, मन और बुद्धि को चैतन्य प्रदान कर उनके जन्म से लेकर मरण तक के असंख्य परिवर्तनों को प्रकाशित करता है।

ब्रह्म का ही प्रतिदेह में आत्मभाव अध्यात्म कहलाता है। यद्यपि परमात्मा स्वयं निराकार और सूक्ष्म होने के कारण सर्वव्यापी है, तथापि उसकी सामर्थ्य और कृपा का अनुभव प्रत्येक भौतिक शरीर में स्पष्ट होता है। देह उपाधि से मानो परिच्छिन्न हुआ ब्रह्म जब उस देह में व्यक्त होता है, तब उसे 'अध्यात्म' कहते हैं। श्री

---

1. गीता ७–३०

शंकराचार्य इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, 'प्रतिदेह में प्रत्यगात्मतया प्रवृत्त परमार्थ ब्रह्म 'अध्यात्म' कहलाता है।'

मात्र उत्पादन ही कर्म नहीं है। उत्पादन की मात्रा में वृद्धि करने का आदेश दिया जा सकता है तथा केवल अधिक परिश्रम से उसे सम्पादित भी किया जा सकता है। यहां प्रयुक्त 'कर्म' शब्द का तात्पर्य और अधिक गम्भीर, सूक्ष्म और दिव्य है। बुद्धि में निहित वह सृजन शक्ति – वह सूक्ष्म आध्यात्मिक शक्ति जिसके कारण बुद्धि निर्माण कार्य में प्रवृत्त होकर विभिन्न भावों का निर्माण करती है, 'कर्म' नाम से जानी जाती है। अन्य सब केवल स्वेद और श्रम है, अर्जन और अपव्यय है, स्मिति और गायन है, सुबकन और रुदन है।

नश्वर भाव अधिभूत है – अक्षर तत्त्व के विपरीत क्षर प्राकृतिक जगत् है, जिसके माध्यम से आत्मा की चेतनता व्यक्त होने से सर्वत्र शक्ति और वैभव के दर्शन होते हैं। क्षर और अक्षर में उतना ही भेद है, जितना इंजिन और वाष्प में, रेडियो और विद्युत में। संक्षेप में, सम्पूर्ण दृश्यमान जड़ जगत् क्षर अधिभूत है। अध्यात्म दृष्टि से क्षर उपाधियां हैं – शरीर, इन्द्रियां, मन और बुद्धि। पुरुष अधिदैव है पुरुष का अर्थ है 'पुरी में शयन करने वाला' अर्थात् देह में वास करने वाला। वेदान्त-शास्त्र के अनुसार प्रत्येक इन्द्रिय, मन और बुद्धि का अधिष्ठाता देवता है उनमें इन उपाधियों के स्वविषय ग्रहण करने की सामर्थ्य है। समष्टि की दृष्टि से शास्त्रीय भाषा में इसे हिरण्यगर्भ कहते हैं।

इस देह में अधियज्ञ मैं हूं – वेदों के अनुसार 'देवताओं के उद्देश्य से अग्नि में आहुति दी जाने की क्रिया यज्ञ कहलाती है।' अध्यात्म (व्यक्ति) की दृष्टि से यज्ञ का अर्थ है विषय, भावनाएं एवं विचारों का ग्रहण। बाह्य यज्ञ के समान यहां भी जब विषय रूप आहुतियां इन्द्रियरूपी अग्नि में अर्पण की जाती हैं तब इन्द्रियों का अधिष्ठाता देवता (ग्रहण सामर्थ्य) प्रसन्न होता है, जिसके अनुग्रह स्वरूप हमें 'फल' प्राप्त होकर अर्थात् तत्सम्बन्धित विषय का ज्ञान होता है। इस यज्ञ का सम्पादन चैतन्य आत्मा की उपस्थिति के बिना नहीं हो सकता। अतः वही इस देह में 'अधि-यज्ञ' कहलाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा यहां दी गयी परिभाषाओं का सूक्ष्य अभिप्राय या लक्ष्यार्थ यह है कि ब्रह्म ही एक मात्र पारमार्थिक सत्य है और शेष सब कुछ उस पर भ्रान्तिजन्य अध्यास है। अतः आत्मा को जानने का अर्थ हैं सम्पूर्ण जगत् को जानना। एक बार अपने शुद्ध स्वरूप को पहचानने के पश्चात् वह ज्ञानी पुरुष कर्तव्य अकर्तव्य और विधि-निषेध के समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है। कर्म करने अथवा न करने में वह पूर्ण स्वतन्त्र होता है।

जो पुरुष इस ज्ञान में स्थित होकर अपने व्यक्तित्व के शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक स्तरों पर क्रीड़ा करते हुये आत्मा को देखता है, वह स्वाभाविक ही स्वयं को उस दिव्य साक्षी के रूप में अनुभव करता है, जो स्व-इच्छित अनात्म बन्धनों की तिल-तिल हो रही मृत्यु का भी अवलोकन करता रहता है।

अन्तकाल में आपका स्मरण करता हुआ, जो देहत्याग करता है, उसकी क्या गति होती है?

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति सः मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

और जो कोई पुरुष अन्तकाल में मुझे ही स्मरण करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है, वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं ॥५॥

महर्षि व्यास वेदान्त के इस मूलभूत सिद्धान्त पर बल देते हुये नहीं थकते कि कोई भी जीव किसी देह विशेष के साथ तब तक तादात्म्य किये रहता है, जब तक उसे अपनें इच्छित अनुभवों को प्राप्त करने में वह देह उपयोगी और आवश्यक होता है। एक बार यह प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर वह उस शरीर को सदा के लिये त्याग देता है। तत्पश्चात् उस देह के प्रति न कोई कर्तव्य रहता है, न सम्बन्ध और न ही कोई अभिमान। देह से विलग होने के समय जीव के मन में उस विषय के सम्बन्ध में विचार होंगे, जिसके लिए वह प्रबल इच्छा या महत्वाकांक्षा रखता था – चाहे वह इच्छा किसी भी जन्म में उत्पन्न हुई हो। इस प्रकार की मान्यता युक्तियुक्त है। ध्यान और भक्ति की साधना मन को एकाग्र करने की वह कला है, जिसमें ध्येय-विषयक एक अखण्ड वृत्ति बनाए रखी जाती है। ऐसा साधक, "अन्तकाल में मुझ पर ही ध्यान करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है।

मरण के पूर्व की जीव की यह अन्तिम प्रबल इच्छा उसकी भावी गति को निश्चित करती है। जो जीव अपने जीवन काल में केवल अहंकार और स्वार्थ का जीवन जीता रहा हो और देह के साथ तादात्म्य करके निम्न स्तर की कामनाओं को ही पूर्ण करने में व्यस्त रहा हो, ऐसा जीव वैषयिक यातनाओं से युक्त होने के कारण ऐसे ही शरीर को धारण करेगा, जिसमें उसकी पाशविक प्रवृत्तियां अधिक से अधिक सन्तुष्ट हो सकें।

इसके विपरीत, जब कोई साधक स्वविवेक से कामुक जीवन की व्यर्थता को पहचानता है, और, इस कारण, स्वयं को उन बन्धनों से मुक्त करने के लिए आतुर हो उठता है, तब देहत्याग के पश्चात् वह साधक निश्चित ही विकास की उच्चतर

स्थिति को प्राप्त होता है। इसी युक्तियुक्त एवं बुद्धिगम्य सिद्धान्त के अनुसार वेदान्त यह घोषणा करता है कि मरणासन्न पुरुष की अन्तिम इच्छा उसके भावी शरीर तथा वातावरण को निश्चित करती है।

इसलिये भगवान् यहां करते हैं कि, "अन्तकाल में आगे जो पुरुष मेरा स्मरण करता हुआ देह त्यागता है वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।"

यह निश्चय केवल मेरे विषय में ही नहीं है, वरन् :

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥

हे कौन्तेय ! (यह जीव) अन्तकाल में जिस किसी भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है, वह सदैव उस भाव के चिन्तन के फलस्वरूप उसी भाव को ही प्राप्त होता है ॥६॥

भारत के महान् तत्वचिन्तक ऋषियों द्वारा सम्यक् विचारोपरांत पहुँचे हुये निष्कर्ष को भगवान् श्रीकृष्ण यहां घोषित करते हैं कि, "अन्तकाल में जिस किसी भाव का स्मरण करते हुये जीव देह को त्यागता है, वह उसी भाव को प्राप्त होता है" – चाहे वह पशुत्व का भाव हो अथवा देवत्व का।

"जैसा तुम सोचोगे वैसे ही तुम बनोगे" यह एक ऐसा सिद्धान्त है, जो किसी भी बुद्धिमान पुरुष को किसी दार्शनिक द्वारा दिये गए स्पष्टीकरण के बिना भी स्वतः स्पष्ट हो जाता है। कर्मों के प्रेरक विचार हैं और किसी भी एक विशेष क्षण पर मनुष्य के मन में जो विचार आते हैं, वे उसके पूर्वार्जित संस्कारों के अनुरूप ही होते हैं। ये संस्कार या वासनाएँ मनुष्य स्वयं निर्माण करता है। स्वाभाविक है कि, जिस पुरुष ने जीवन पर्यन्त अनात्म उपाधियों से तादात्म्य हटाकर मन को आत्मा में स्थिर करने का सतत प्रयत्न किया हो, ऐसे साधक पुरुष के मन में अध्यात्म संस्कार दृढ़ हो जाते हैं। इस सतत चिन्तन और संस्कारों के प्रभाव से मरणकाल में उसकी वृत्ति सहज ही ध्येय विषयक होगी और तदनुसार ही मरणोपरान्त उसकी यात्रा अपने निर्धारित लक्ष्य की ओर होगी। हम यह नहीं सोचें कि अन्तकाल में हम ईश्वर का स्मरण कर लेंगे ! अन्तकाल में अपनी भावी यात्रा को निर्धारित करने का अवसर नहीं होता, क्योंकि पूर्वाभ्यास के अनुसार उसी प्रकार की ही वृत्ति मन में उठती है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥७॥

इसलिये, तुम सब काल में निरन्तर मेरा स्मरण करो और युद्ध करो ; मुझमें अर्पण किये मन, बुद्धि से युक्त हुए निःसन्देह तुम मुझे ही प्राप्त होओगे ।।७।।

कोई भी धर्म तब तक समाज की निरन्तर सेवा नहीं कर सकता, जब तक वह धर्मानुयायी लोगों को अपना व्यावहारिक दैनिक जीवन सफलतापूर्वक जीने की विधि और साधना का उपदेश नहीं देता है । यहां एक ऐसी साधना बतायी गई है जो भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से लागू होती है । इस सरल उपदेश के पालन से न केवल 'रहन सहन का स्तर', बल्कि सम्पूर्ण 'जीवन का स्तर' भी उच्च किया जा सकता है ।

अनेक लोग हैं, जिन्हें सन्देह होता है कि मन को धर्म तथा व्यावहारिक जीवन में बाँटना किसी भी क्षेत्र में वास्तविक सफलता पाने में हानिकारक है । वास्तव में, यह एक अविचारपूर्ण तर्क है । बहुत ही कम अवसरों पर व्यक्ति का मन पूर्णतः उसी स्थान पर होता है, जहाँ वह काम कर रहा होता है । सामान्यतः, मन का एक बड़ा भाग, भय के भयंकर जंगलों में, या ईर्ष्या की गुफाओं में, या फिर असफलता की काल्पनिक सम्भावनाओं के रेगिस्तान में सदैव भटकता रहता है । इस प्रकार मन की सम्पूर्ण शक्ति का अपव्यय करने के स्थान पर, भगवान् उपदेश देते हैं कि, भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही क्षेत्रों में सर्वोच्च लाभ पाने के इच्छुक और प्रयत्नशील पुरुष को अपना मन, शान्त और पावन सत्यस्वरूप में स्थिर करना चाहिए । ऐसा करने से वह अपनी सम्पूर्ण क्षमता को अपने कार्य के उपयोग में ला सकता है, और इस प्रकार, इह और पर – दोनों लोकों में सर्वोच्च सम्मान का स्थान प्राप्त कर सकता है ।

हिन्दू धर्म में धर्म और जीवन परस्पर विलग नहीं हैं । एक दूसरे से विलग होने से दोनों ही नष्ट हो जायेंगे । वे परस्पर वैसे ही जुड़े हुये हैं, जैसे मनुष्य का धड़ और मस्तक । वियुक्त होकर दोनों ही जीवित नहीं रह सकते । जीवन में आने वाली परीक्षा की घड़ियों में भी एक सच्चे साधक को चाहिये कि वह अपने मन को निरन्तर शुद्ध आत्मस्वरूप तथा विश्व के अधिष्ठान ब्रह्म में एकत्व भाव से स्थिर रखना सीखे । न तो यह कठिन है और न ही अनभ्यसनीय ।

रंगमंच पर राजा की भूमिका करते हुये एक अभिनेता को कभी यह विश्वास नहीं होता कि शहर में उसकी एक पत्नी और पुत्र भी है । यदि अपनी यह पहचान भूलकर, रंगमंच के बाहर भी वह राजा के समान व्यवहार करने लगे, तो तत्काल ही उसे समाज के हित में किसी पागलखाने में भर्ती करा दिया जायेगा । परन्तु, वह अपने वास्तविक व्यक्तित्व को जानता है, इसलिए वह कुशल अभिनेता होता है ।

इसी प्रकार, सदा अपने दिव्य स्वरूप के प्रति जागरूक रहते हुये भी हम जगत् में बिना किसी बाधा के कार्य कर सकते हैं। इस ज्ञान में स्थित होकर कर्म करने से हमारी उपलब्धियों को विशेष आभा प्राप्त होती है और उसके साथ ही जीवन में आने वाली निराशा की घड़ी में उत्पन्न होने वाली मन की प्रतिक्रियाओं को हम शान्त और मन्द करने में समर्थ बनते हैं।

वास्तविक अर्थ में एक सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत पुरुष को कभी भी अपनी शिक्षा का विस्मरण नहीं होता। वह तो उसके जीवन का अंग बन जाती है। उसके आचार, विचार और व्यवहार में शिक्षा की सुरभि का सतत निस्सारण होता रहता है। उसी प्रकार आत्मभाव में स्थित पुरुष के मन में सबके प्रति करुणा और प्रेम तथा कर्मों में निःस्वार्थ भाव होता है। यही वह रहस्य है, जिसके कारण वैदिक सभ्यता ने अपने काल में सम्पूर्ण विश्व को अपनी ओर आकर्षित किया और वह भावी पीढ़ियों के सम्मान का पात्र बनी।

भगवान् यहां स्पष्ट कहते हैं कि जो पुरुष केवल धर्म प्रतिपादित फल के लिये युद्ध का जीवन जीते हुये भी "मेरा स्मरण करता है उसका मन और बुद्धि मुझमें ही समाहित हो जाती है।" "अपने विचारों के अनुसार तुम बनोगे," इस सिद्धान्त के अनुसार, "तुम मुझे निःसन्देह प्राप्त होगे।"

आगे कहते हैं :

अभ्यासयोग युक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

हे पार्थ ! अभ्यासयोग से युक्त अन्यत्र न जाने वाले चित्त से निरन्तर चिन्तन करता हुआ (साधक) परम दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है ॥८॥

इस श्लोक में प्रयुक्त 'याति' क्रियापद का अर्थ है "जाता है।" परन्तु यह परम पुरुष को जाना या प्राप्त होना मृत्यु के पश्चात् ही नहीं समझना चाहिये। मृत्यु से तात्पर्य अहंकार के नाश से है, जिसका उपाय है – ध्यानाभ्यास। इस श्लोक का प्रयोजन यह दर्शाना है कि परिच्छिन्न अहंकार के लुप्त होने पर कोई भी साधक मुक्त पुरुष के रूप में इसी जीवन में सदा स्वस्वरूप में स्थित रहकर जी सकता है।

जो व्यक्ति जगत् में 'अस्थायी यात्री के रूप में, और न कि स्थायी निवासी' बनकर, उपर्युक्त जीवन पद्धति के अनुसार जीता है, और नित्य–निरन्तर आत्म-

चिन्तन का अभ्यास करता है, वह निश्चय ही ध्यान में एकाग्र हो जाता है। वास्तव में यह वेदोपदिष्ट प्रार्थना और उपासना का तथा पुराणों में वर्णित भक्ति और प्रपत्ति (शरणागति) की साधनाओं का ही स्पष्टीकरण है; जबकि पूर्व श्लोक में जो उपदेश है, वह धर्म के व्यावहारिक स्वरूप का है अर्थात् अपने कार्यक्षेत्र में ही संन्यास के स्वरूप का है।

इस अभ्यासयोग के फलस्वरूप भक्त को चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है, जो बुद्धि को सुगठित करने में उपयोगी होती है। ऐसे अन्तःकरण के आत्मसाक्षात्कार के योग्य हो जाने पर आत्मा की अनुभूति सहज सिद्ध हो जाती है' निरन्तर चिन्तन से, हे पार्थ ! साधक परम दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है।' यह नियम न केवल परम पुरुष की प्राप्ति के विषय में सत्य प्रमाणित है, वरन् किसी भी वस्तु के लिये यह समान रूप से लागू होता है। इससे इस श्लोक का गूढ़ार्थ स्पष्ट हो जाता है। यदि साधक सर्वसाधन सम्पन्न हो तो, आत्मा का अनुभव तथा उसमें दृढ़ निष्ठा इसी वर्तमान जीवन में ही प्राप्त की जा सकती है।

यहां प्रयुक्त 'अनुचिन्तयन्' शब्द साभिप्राय है। ध्येयविषयक सजातीय वृत्ति प्रवाह को 'चिन्तन' या 'ध्यान' कहते हैं। 'अनु' उपसर्ग का अर्थ है निरन्तर। अतः यहां दिव्य पुरुष का निरन्तर चिन्तन करने का उपदेश दिया गया है।

वह ध्येय पुरुष किन गुणों से विशिष्ट है ? भगवान् कहते हैं :

कविं पुराणमनुशासितारम्
अणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपम्
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥

जो पुरुष सर्वज्ञ, प्राचीन (पुराण), सबके नियन्ता, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर, सब के धाता, अचिन्त्यरूप, सूर्य के समान प्रकाश रूप और (अविद्या) अन्धकार से परे तत्त्व का अनुस्मरण करता है ॥९॥

मन को आत्मा के चिन्तन में एकाग्र करने के फलस्वरूप साधक भक्त के मन में अध्यात्म संस्कार दृढ़ हो जाते हैं। स्वाभाविक है कि ऐसे साधक को अन्तकाल में भी आत्मस्वरूप का स्मरण होगा। पूर्व के श्लोकों में[1] यह भी संकेत किया गया था कि

---

१. गीता ८-५, ६.

वर्तमान जीवन में ही अहंकार का नाश और जीवन्मुक्ति संभव है। इस अविद्याजनित विपरीत धारणाओं तथा तज्जनित गर्व, मद आदि विकारों का समूल नाश तभी सम्भव हो सकता है, जब साधक ध्यानाभ्यास के द्वारा देहादि जड़ उपाधियों के साथ अपने मिथ्या तादात्म्य का सर्वथा परित्याग कर दे।

पूर्व के श्लोक में अस्पष्ट रूप से केवल इतना संकेत किया गया था कि आत्मा का ध्यान 'परम दिव्य पुरुष' के रूप में करना चाहिये। परन्तु इन शब्दों का पूर्ण अर्थ जाने बिना उस पर ध्यान करना संभव नहीं हो सकता; क्योंकि उस दशा में वे केवल अर्थहीन ध्वनि या शब्द मात्र होंगे। जैसे किसी के उपदेशानुसार मैं 'आक्सीजनेलिटीन' नामक वस्तु पर ध्यान नहीं कर सकता, क्योंकि यह एक शब्द मात्र है!

वेदान्त को जीवन में जीने की कला सिखाने वाले इस ग्रन्थ में इस कला का और अधिक स्पष्टीकरण देना आवश्यक है। विचाराधीन दो श्लोकों में इस साधना का विस्तृत विवेचन किया गया है। कोई भी साधक इसका सफलतापूर्वक उपयोग कर सकता है।

इस श्लोक में दिये गये अनेक विशेषण उस सत्य को लक्षित करते हैं (परिभाषित नहीं), जो ऐसा सार तत्त्व है, जिसके कारण जड़ और मिथ्या पदार्थ भी चेतन और सत्य प्रतीत होते हैं। इसलिये यहां किसी भी एक विशेषण को अपने आप में सम्पूर्ण नहीं समझना चाहिए। रेखागणित में किसी अज्ञात बिन्दु का बोध अन्य दो ज्ञात बिन्दुओं के सन्दर्भ में ही कराया जाता है। उसी प्रकार, यहां भी अनिर्वचनीय सत्य का निश्चयात्मक वर्णन इन विशेषणों के द्वारा किया गया है।

इन शब्दों के ऊपर मनन करने का अर्थ अन्तःकरण में ऐसे वातावरण को उत्पन्न करना है, जिसमें रहने से एक सुगठित और अन्तर्मुखी मन अनन्तस्वरूप की अनुभूति में स्थिर हो सकता है।

कवि : देहविशेष में उपहित चैतन्य आत्मा मन में उठने वाली समस्त वृत्तियों को प्रकाशित करती है। आत्मा एक अनन्त और सर्वव्यापी होनें के कारण, वही सारे शरीरों तथा वृत्तियों को प्रकाशित करती है। जैसे पृथ्वी पर स्थिति सभी वस्तुओं का प्रकाशक होने से सूर्य को 'सर्वसाक्षी' कहा जाता है, वैसे ही, इस आत्मा को कवि अर्थात् सर्वज्ञ कहा जाता है, क्योंकि इसके बिना कोई भी ज्ञान संभव नहीं है। आत्मा का 'कवि' यह विशेषण जगत् के परिच्छिन्न औपाधिक ज्ञान की दृष्टि से है।

पुराण – सृष्टि के आदि, मध्य और अन्त में समान रूप से विद्यमान होने

के कारण आत्मा को 'पुराण' कहा गया है। यह शब्द दर्शाता है कि यही एक, अविकारी, सर्वव्यापी आत्मा काल की कल्पना का भी अधिष्ठान है।

अनुशासितारम् (सब का शासक) – इस विशेषण द्वारा हम यह न समझें कि आत्मा कोई सुल्तान है, जो क्रूरता से हम संसार पर शासन कर रहा है। यहां 'शासक' से अभिप्राय इतना ही है कि चैतन्य तत्त्व की उपस्थित के बिना विषयों, भावनाओं एवं विचारों को ग्रहण करने की हमारी शरीर, मन और बुद्धि की उपाधियां कार्य नहीं कर सकती, और उस स्थिति में जीवन में आनें वाले नानाविध अनुभवों को एक सूत्र में गूंथा भी नहीं जा सकता।

हमारा जीवन जो कि अनुभवों की अखण्ड धारा है आत्मा के बिना संभव नहीं हो सकता। मिट्टी के बिना घट, स्वर्ण के बिना आभूषण और समुद्र के बिना तरंगे नहीं हो सकती, और इसलिये, मिट्टी, स्वर्ण और समुद्र अपने-अपने कार्यों (विकारों) के 'अनुशासिता' कहे जा सकते हैं। इसी अर्थ में यहां आत्मा को अनुशासिता समझना चाहिये। ईश्वर की इस रूप में कल्पना करना कि वह कोई शक्तिशाली पुलिस है, जो अपने हाथ में स्वर्ग और नरक के द्वार खोलने के लिये, सोने की और लोहे की बनी दो कुन्जियां लिये खड़ा है तो यह ईश्वर की एक असभ्य कल्पना है जिसमें बुद्धिमान् जागरूक व्यक्तियों को आकर्षित करने के लिये कोई पवित्रता नहीं है! अणु से भी सूक्ष्मतर – किसी तत्त्व का परिमाण में वह अत्यन्त सूक्ष्म अविभाज्य कण जिसमें उस तत्त्व की विशेषताएं विद्यमान होती हैं अणु कहलाता है। आत्मा अणु से भी सूक्ष्मतर है। जितनी ही सूक्ष्मतर वस्तु होगी उसकी व्यापकता उतनी ही अधिक होगी। जल बर्फ से सूक्ष्मतर है और वाष्प जल से अधिक सूक्ष्म है। वस्तुओं की व्यापकता सूक्ष्मता का तुलनात्मक अध्ययन करने का मापदण्ड है। ब्रह्मविद्या में आत्मा को 'सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर' अर्थात् 'सूक्ष्मतम' कहा है जिसका अभिप्राय है, "आत्मा सर्वव्यापक है, परन्तु उसे कोई व्याप्त नहीं कर सकता।"

सर्वस्य धातारम् – आत्मा सब का धारण पोषण करने वाला है। इसका अर्थ है कि वह सबका आधार है। चलचित्र गृह में जो स्थिर अपरिवर्तनशील श्वेत पट होता है वह चलचित्र का धाता कहा जा सकता है, क्योंकि उसके बिना निरन्तर परिवर्तित हो रही चित्रों की धारा हमें एक सम्पूर्ण कहानी का बोध नहीं करा सकती। चित्र के माध्यम से कितना ही आदर्श और महान् सन्देश एक कुशल चित्रकार क्यों न व्यक्त करे, परन्तु पटल के बिना वह चित्र संभव नहीं हो सकता। चित्र की पूर्णता एवं सुन्दरता के लिये वह पटल धाता अर्थात् पोषक है। इसी प्रकार यदि चैतन्य तत्त्व हमारे आन्तरिक और बाह्य जगत् को निरन्तर प्रकाशित न करता होता, तो हमें एक अखण्ड जीवन का अनुभव ही नहीं हो सकता था।

अचिन्त्यरूपम् – कवि, पुराण आदि विशेषणों से विशिष्ट किसी तत्त्व पर हमें ध्यान करने को कहा जाय, तो संभव है कि हम तत्काल यह धारणा बना लें कि किसी अन्य परिच्छिन्न वस्तु या विचार के समान आत्मा का भी ध्यान हृदय या बुद्धि के द्वारा किया जा सकता है। इस प्रकार की त्रुटिपूर्ण धारणा को दूर करने तथा इस पर बल देने के लिये कि अनन्त आत्मा को इन्द्रियां, मन और बुद्धि के द्वारा नहीं जाना जा सकता है, भगवान् कहते हैं कि आत्मा 'अचिन्त्यरूप' है अर्थात् उसका चिन्तन नहीं किया जा सकता। यद्यपि यह सत्य है कि आत्मा का स्वयं से भिन्न किसी विषय रूप में चिन्तन अथवा ज्ञान संभव नहीं है, परन्तु उपाधियों के परे जाने से अर्थात् उनसे तादात्म्य न होने पर आत्मा का स्वयं के स्वरूप में साक्षात् अनुभव होता है, न कि स्वयं से भिन्न किसी विषय के रूप में।

आदित्यवर्णम् – यदि 'अचिन्त्यरूप' का तात्पर्य सही हो, तो कोई भी बुद्धिमान् साधक यह प्रश्न पूछने का लोभ संवरण नहीं कर सकता कि फिर आत्मा का अनुभव किस प्रकार हो सकता है ? साधक के रूप में साधना की प्रारम्भिक अवस्था में हमारा तादात्म्य शरीरादि उपाधियों के साथ दृढ़ होता है। उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त करने के साधन भी इन्द्रियां, मन और बुद्धि ही होते हैं, जिसके द्वारा हम आत्मतत्त्व को भी समझने का प्रयत्न करते हैं, क्योंकि इन्हीं के द्वारा हम अपने अन्य अनुभवों को प्राप्त करते हैं। अतः, स्वाभाविक है कि, गुरु के इस उपदेश से कि 'अचिन्त्य का चिन्तन करो', 'अप्रमेय को जानो' शिष्य भ्रमित हो जाता है !!

आत्मा को अचिन्त्य अथवा अप्रमेय केवल यह दर्शाने के लिये कहा जाता है कि हमारे पास उपलब्ध प्रमाणों के द्वारा किसी विषय के रूप में आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। स्वप्नद्रष्टा ने जिस स्वाप्निक अस्त्र से स्वप्न में अपने शत्रु की हत्या की थी वह अस्त्र उसे जाग्रत अवस्था में आने पर उपलब्ध नहीं होता। यहां तक कि उसके रक्त-रंजित हाथ भी स्वतः ही बिना पानी या साबुन के स्वच्छ हो जाते हैं ! जब तक मनुष्य अनात्म उपाधियों को अपना स्वरूप समझकर स्वकल्पित राग द्वेष युक्त बाह्य जगत् में रहता है, तब तक उसके लिये यह आत्मतत्त्व 'अचिन्त्य' और 'अज्ञेय' रहता है। परन्तु जिस क्षण आत्मज्ञान के फलस्वरूप वह उपाधियों से परे चला जाता है, उस क्षण वह अपने शुद्ध पारमार्थिक स्वरूप के प्रति जागरूक हो जाता है।

वेदान्त के इस मूलभूत सिद्धान्त को ग्रहण कर लेने पर यहाँ दिये गये सूर्य के अनुपम दृष्टान्त की सुन्दरता समझना सरल हो जाता है। सूर्य को देखने के लिये किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि सूर्य स्वयं ही प्रकाशस्वरूप है, प्रकाश का स्रोत है। वह सब वस्तुओं का प्रकाशक होने से उसका प्रकाश स्वयंसिद्ध

है। भौतिक जगत् में जैसे यह सत्य है, वैसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र में स्वयं चैतन्य स्वरूप आत्मा को जानने के लिए किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती। स्वप्न द्वारा कभी जाग्रत पुरुष को नहीं "जान सकता". क्योंकि जाग्रत अवस्था में आने पर स्वप्नद्रष्टा लुप्त होकर स्वयं जाग्रत पुरुष "बन जाता है।" स्वप्न से जागने का अर्थ है जाग्रत पुरुष को जानना; और जानने का अर्थ है स्वयं वह बन जाना। ठीक इसी प्रकार, आत्मसाक्षात्कार के क्षण में जीव नष्ट हो जाता है। वह यह पहचानता है कि वास्तव में सदा सब काल में वह चैतन्यस्वरूप आत्मा ही था, जीव नहीं। 'आदित्यवर्ण' इस शब्द में इतना अधिक अर्थ निगूढ़ है।

तमसः परस्तात् (अन्धकार से परे) – कोई भी दृष्टांत पूर्ण नहीं हो सकता। सूर्य के दृष्टांत से साधक के मन में कुछ विपरीत धारणा बनने की संभावना हो सकती है। पृथ्वी के निवासियों का अनुभव है कि उनके लिए रात्रि में सूर्य का अभाव हो जाता है; और दिन में भी सूर्य के प्रकाश और उष्णता की तीव्रता एक समान नहीं होती। उसमें परिवर्तन प्रतीत होता है। कोई मन्दबुद्धि का साधक कहीं यह न समझ ले कि आत्मा की चेतनता का भी कभी अभाव हो जाता हो तथा उस चेतनता में किसी प्रकार का तारतम्य हो! सूर्य के दृष्टांत में संभावित इन दो दोषों की निवृत्ति के लिए भगवान् श्रीकृष्ण आत्मा को "अन्धकार के परे" अर्थात् अविद्या के परे बताते हैं। अज्ञानरूप अन्धकार का ही निषेध कर देने पर सूर्य की परिच्छिन्नता आत्मा को प्राप्त नहीं होती। वह सदा ही चैतन्य रूप से ज्ञान और अज्ञान दोनों ही वृत्तियों को समान रूप से प्रकाशित करता है, अतः वह अविद्या के परे है। यही अविद्या माया भी कहलाती है।

जो साधक पुरुष इस कवि, पुराण, अनुशासिता, सूक्ष्मतम, सर्वाधार, अचिन्त्यरूप, स्वयं प्रकाशस्वरूप, अविद्या के परे आत्मतत्व का ध्यान करता है, वह उस परम पुरुष को प्राप्त होता है।

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

वह (साधक) अन्तकाल में योगबल से प्राण को भ्रकुटी के मध्य में सम्यक् प्रकार स्थापन करके निश्चल मन से भक्ति युक्त होकर उस परम दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है ॥१०॥

इस श्लोक का केवल वाच्यार्थ लेकर प्रायः इसे विपरीत रूप से समझा जाता हैं, जो कि वास्तव में, इसका तात्पर्य नहीं है।

गीता में प्रस्तुत प्रकरण का विषय है एकाग्रचित्त से परम पुरुष का ध्यान। अतः, प्रयाणकाल से अभिप्राय "अहंकार की मृत्यु के क्षण" से समझना चाहिये। ध्यान साधना के द्वारा जब सजग रहकर शरीर, मन और बुद्धि से हुए तादात्म्य को पूर्णतया निवृत्त किया जाता है, तब साधक आन्तरिक शान्ति के स्थिर क्षण का अनुभव करता है। उस समय "निश्चल मन से" इस श्लोक में उपदिष्ट साधना का उसे पालन करना चाहिये।

यहां 'भक्ति' शब्द से सामान्य संसारी जनों की व्यापारिक पद्धति की भक्ति नहीं समझनी चाहिये। ईश्वर के लिये वह परम प्रेम जिसमें न किसी प्रकार की कामना है और न अपेक्षा, जो प्रेम केवल प्रेम के लिए ही है – भक्ति कहलाता है। प्रेम का अर्थ है – अपने प्रियतम से वह तादात्म्य, जिसमें प्रियतम के सुख और दुःख अपने स्वयं के ही सुख-दुःख अनुभव होते हैं। संक्षेप में प्रेमी और प्रेमिका, भक्त और ईश्वर परस्पर एकरूप हो जाते हैं। इसलिये, श्री शंकराचार्य भक्ति का लक्षण बताते हैं कि, "स्वस्वरूपानुसन्धान भक्ति कहलाती है" अर्थात् "जीव का अपने सत्यस्वरूप के साथ एकत्व भक्ति है।"

प्रस्तुत श्लोक के सन्दर्भ में साधक को दी गयी महत्व की सूचना यह है कि उसका ध्यानाभ्यास आत्मा के साथ एकरूप होने की तत्परता से युक्त हो। आत्मा का स्वरूप पूर्व श्लोक में विस्तार से बताया जा चुका है। आन्तरिक शान्ति के समय जब अहंकार की मृत्यु होती है, तब साधक को आत्मस्वरूप में स्थित होकर रहना चाहिये।

योगबलेन – इस शब्द से किसी गुप्त रहस्यमयी 'कुण्डलिनी शक्ति' के विषय में हम नहीं कह रहे हैं, जिसके विषय में गुप्तता रखी जाती है और ईश्वर के भक्तों को भी सामान्यतः उसका रहस्य प्रकट नहीं किया जाता। योगबल से तात्पर्य साधक के उस बल से है, जो उसे दीर्घकाल तक नियमित रूप से ध्यानाभ्यास करने के फलस्वरूप प्राप्त होता है। यह वह आन्तरिक शक्ति है जो मन के विषयों से तथा तज्जनित विक्षेपों से निवृत्त होनें पर और बुद्धि के परम सत्य में स्थिर होनें से प्राप्त होती है और निरन्तर समृद्ध होती जाती है।

अल्पकाल में ही साधक अपने में ही मानसिक सन्तुलनरूपी सम्पत्ति और एक अवर्णनीय कार्यकुशलता को पाता है, जिनकी सहायता से पूर्ण तत्परता के साथ ध्यान में वह एक चित्त हो जाता है। ध्यानाभ्यास में रत योगी के सम्पूर्ण प्राण उसके

ध्यानबिन्दु में केन्द्रित हो जाते हैं – जैसे यहाँ कहा गया है कि "भ्रुकुटी के मध्य में।" यह भाग स्थिर विचार का स्थान माना जाता है।

वेदान्त में प्राण से तात्पर्य केवल वायु से न होकर "शरीर के विभिन्न अंगों में विभिन्न रूप से व्यक्त हो रही जीवनशक्ति से है।" इस जीवनशक्ति (प्राण) का पांच कार्यों के अनुसार पाँच विभागों में वर्गीकरण किया गया है, जैसे : प्राण-विषय ग्रहण की क्रिया ; अपान – मल विसर्जन ; व्यान – सम्पूर्ण शरीर में रक्त आदि प्रवाहित करना ; समान – पाचनक्रिया ; और उदान – जिसके कारण हममें वह क्षमता होती है कि वर्तमान से परे भी ज्ञान को हम समझ सकें। इनके द्वारा हमारी बहुत सी शक्ति बिखर जाती है, जो ध्यानाभ्यास के समय एक स्थान पर कुछ समय के लिये केन्द्रित हो जाती है। ध्यानमार्ग पर चलने वाले साधक के लिये तीव्र गति से की जाने वाली किसी शारीरिक साधना की आवश्यकता नहीं होती।

ऐसे गहन ध्यान के क्षण में जिस साधक का मन पूर्णतया शान्त और निश्चल हो जाता है, योगबल से प्राण भ्रुकुटी के मध्य स्थित हो जाते हैं और जो परम श्रद्धा एवं उत्साह के साथ ध्येय आत्मतत्त्व के साथ एकरूप हो जाता है, वह साधक "उस परम दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है।"

ओंकार पर किये जाने वाले ध्यान की प्रस्तावना के रूप में अगला श्लोक है :

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

वेद के जानने वाले विद्वान जिसे अक्षर कहते हैं ; रागरहित यत्नशील पुरुष जिसमें प्रवेश करते हैं ; जिसकी इच्छा से (साधक गण) ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं – उस पद (लक्ष्य) को मैं तुम्हें संक्षेप में कहूँगा ॥११॥

इस श्लोक में – जो कि एक प्रसिद्ध उपनिषद् के मन्त्र का स्मरण कराता है[1] – भगवान् श्रीकृष्ण लक्ष्य की स्तुति करते हुये वचन देते हैं कि वे अगले श्लोकों में पूर्णत्व के परम लक्ष्य तथा तत्प्राप्ति के उपायों का वर्णन करेंगे।

---

१. देखिए स्वामीजी के कठोपनिषद् पर प्रवचन २-१५.

ध्यानसाधना में पूर्ण सफलता प्राप्त करनें के लिये मन की योग्यता अत्यावश्यक होती है। इस योग्यता के सम्पादन के लिए प्राय: सभी उपनिषदों में प्रणवोपासना (ओंकारोपासना) का अनेक स्थानों पर उपदेश दिया गया है। पौराणिक युग से इस उपासना का स्थान श्रद्धाभक्तिपूर्वक किए जाने वाले ईश्वर के साकार रूप या अवतारों के ध्यान, पूजा आदि ने ले लिया है। इस प्रकार के ध्यान का प्रयोजन और उपयोगिता वही है, जो वैदिक उपासनाओं की है।

यहाँ साधक को अनेक प्रकार के प्रतिबन्धों की सूचनाओं और आवश्यक सावधानियों का निर्देश दिया गया है, जिससे उसकी आध्यात्मिक तीर्थयात्रा अधिक सरल और आनन्दप्रद हो सके। साधारणत: जिन विघ्नों की शिकायत साधक करते हैं, वे सब विघ्न अनात्म उपाधियों से हुये तादात्म्य के कारण ही आते हैं। इन उपाधियों के तादात्म्य से मन को परावृत्त करनें में वह स्वयं को असमर्थ पाता है। आत्मोन्नति के शास्त्र के रूप में वेदान्त के लिये आवश्यक है कि यह साधक को ध्यान की विधि बताने के साथ-साथ सम्भावित विघ्नों का भी संकेत देकर उनसे सुरक्षित रहने के उपायों का भी वर्णन करे। यदि साधक को इनका सम्पूर्ण ज्ञान हो, तो शीघ्र ही वह अपनी सुरक्षा कर सकता है। यह श्लोक इंगित करता है कि आत्मसंयम और वैराग्य के द्वारा किस प्रकार इस मार्ग पर सुखपूर्वक अग्रसर हुआ जा सकता है।

इसी अध्याय में ब्रह्म की लाक्षणिक परिभाषा देते हुए उसे 'अक्षर' कहा गया था। भगवान् श्रीकृष्ण विशेष बल देकर कहते हैं कि जो वीतराग यति हैं, वे ब्रह्मचर्य का पालन करते हुये इसी अक्षर ब्रह्म में प्रवेश करते हैं।

वीतरागा: – सम्पूर्ण गीता संन्यास का गीत हैं ; परन्तु यह मन्दबुद्धि पुरुष का अरचनात्मक संन्यास नहीं, वरन् विवेक जनित वैराग्य है, जो सर्वत्र एवं समस्त प्रगति और विकास का अग्रदूत है, कामनाओं का संन्यास बुद्धि की स्वाभाविक परिपक्वता का फल है, मन की प्रवृत्तियों का दमन नहीं। नई-नई खिली हुयी कलियाँ, कुछ समय पश्चात्, अपनी कोमल – सुन्दर पंखुड़ियों के परिधान को त्यागकर शोभनीयता का संन्यास व्यक्त करके नग्नावस्था में खड़ी रहती हैं। परन्तु प्रकृति में यह तभी होता है जब फूलों पर सेचन क्रिया सम्पन्न होकर फल सृजन की क्रिया प्रारम्भ हो गयी हो। इन फूलों पर दृष्टिपात करने वाले एक सामान्य पुरुष की दृष्टि से पंखुड़ियों का इस प्रकार विखर जाना फूल का महान त्याग अथवा संन्यास हो सकता है, किन्तु एक कृषक जानता है कि फूलों का यह त्याग उन्हें सद्य: प्राप्त परिपक्वता का परिणाम है, जिसके कारण ये सुन्दर पंखुड़ियां स्वत: ही बिखर गई हैं।

इसी प्रकार, भारत के आध्यात्मिक ज्ञान के अन्तर्गत निःसंदेह ही, संन्यास अथवा वैराग्य की आवश्यकता पर बल दिया गया है, परन्तु उसका अर्थ उदास और विषादपूर्ण आत्मत्याग अथवा स्वयं को दण्डित करना नहीं है। किन्हीं-किन्हीं धर्मों में अवश्य ही इस प्रकार के त्याग का प्रचार एवं अभ्यास किया जाता है। उपनिषदों के ऋषियों ने सदा सम्यक् विवेक जनित वैराग्य का ही उपदेश दिया है तथा उसका आग्रह किया है। इसलिये 'वीतरागाः' शब्द से उन साधकों को समझना चाहिये जो विषयों की तुच्छता एवं जीवन के परम लक्ष्य की श्रेष्ठता समझकर विषयाशक्ति से सर्वथा मुक्त हो गये हैं।

यह भी सर्वविदित तथ्य है कि इच्छाओं की संख्या जितनी अधिक होगी, मन में विक्षेप भी उतना ही अधिक होगा। विक्षेपों की अधिकता का अर्थ मानसिक क्षमता की न्यूनता है। साधक की ध्यान में सफलता मन की शक्ति पर निर्भर करती है और मनः शान्ति ही वह धन है, जिसके द्वारा इस यात्रा की कठिनाइयां और कष्ट कम हो सकते हैं। अतः एक नियम के रूप में कहा जा सकता है कि ज्ञान मार्ग में उन पुरुषों को सफलता का अधिक अवसर है, जिनमें कामनाओं की संख्या न्यूनतम है।

उपासना का क्रम तथा फल बताने के लिये भगवान् कहते हैं :

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

सब (इन्द्रियों के) द्वारों को संयमित कर मन को हृदय में स्थिर करके और प्राण को मस्तक में स्थापित करके योगधारणा में स्थित हुआ ।१२॥

जो पुरुष ओऽम् इस एक अक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ, और मेरा स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग करता है, वह परम गति को प्राप्त होता है ॥१३॥

ध्यान के अभ्यास में मन को सफलता और कुशलतापूर्वक एकाग्र करने के लिये साधक को तीन कार्यों का सम्पादन करना होता है। इन तीनों का वर्णन इन श्लोकों में किया गया है, जो उक्त क्रम में ही अभ्यसनीय है।

(क) इन्द्रियों के द्वारों को संयमित करके – इन्द्रिय अवयव स्थूल शरीर में स्थित हैं। श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राणेन्द्रिय (नाक) ये वे पांच द्वार हैं,

जिनके माध्यम से बाह्य विषयों की संवेदनाएं मन में प्रवेश करके उसे विक्षुब्ध करती हैं। विवेक और वैराग्य के द्वारा इन इन्द्रिय द्वारों को अवरुद्ध अथवा संयमित करना प्रथम साधना है, जिसके बिना ध्यान में प्रवेश नहीं हो सकता। इनके द्वारा न केवल बाह्य विषय मन में प्रवेश करते हैं, वरन् इन्हीं के माध्यम से मन बाह्य विषयों में विचरण एवं भ्रमण करता है। विक्षेपों की इन सुरंगों को अवरुद्ध करने पर नये-नये विक्षेपों का प्रवाह ही रुद्ध हो जाता है।

(ख) मन को हृदय में स्थापित करके – यद्यपि इन्द्रियों के संयमित होने पर बाह्य विषयों से क्षुब्ध नहीं हो सकता, तथापि भूतकाल के विषयोपभोगों से अर्जित वासनाओं के स्मरण से वह स्वयं ही विक्षुब्ध हो सकता है। इसलिये, मन को हृदय में स्थापित करने का उपदेश दिया गया है।

वेदान्त में हृदय का अर्थ शरीरमें स्थित रक्त संचालक अवयव से नहीं है। साहित्य और दर्शन में हृदय का अर्थ स्नेह और सहृदयता, करुणा और कृपा, भक्ति और प्रपत्ति जैसी आदर्श एवं रचनात्मक भावनाओं का अनवरत उद्गम-स्थल है। बाह्य स्थूल विषयों की संवेदनाओं का मन में प्रवेश अवरुद्ध करने के पश्चात् साधक को चाहिये की वह भावनाओं के साधन रूप मन को दिव्य एवं पवित्र बनाये, न कि उसका दमन करे। हृदय के उच्च और श्रेष्ठ वातावरण में ही मन को स्थिर करना चाहिये। इसका विवेचन किया जा चुका है कि रचनात्मक विचारों की सहायता से मन के विक्षेपों को न्यूनतम किया जा सकता है। नकारात्मक विचार वह है, जिसके कारण मन क्षुब्ध और चञ्चल हो जाता है।

(ग) प्राणशक्ति को मस्तक में अर्थात् बुद्धि में स्थापित करने का अर्थ है, बुद्धि को सभी निम्न स्तरीय विचारों एवं वस्तुओं से निवृत्त करना। विषय ग्रहण आदि के द्वारा बुद्धि का इनसे तादात्म्य रहता है। सतत आत्मानुसन्धान की प्रक्रिया से बुद्धि को विषयों से परावृत्त किया जा सकता है। उपर्युक्त तीन कार्यों के सम्पन्न होने पर मन की आत्मानुसंधान में जो दृढ़ स्थिति होती है, उसे ही यहां योगधारणा कहा गया है।

जो साधक अपने आसपास के वैषयिक वातावरण को भूलकर आनन्द और सन्तोष से पूर्ण हृदय से मन को बुद्धि के अनुशासन में ला सकता है, वह मन में ओंकार का उच्चार सरलता और उत्साह के साथ कर सकता है। शान्त मन में उठ रहीं ओंकार वृत्तियों को जो साक्षी होकर देख सकता है वही पुरुष प्रणवोपासना के योग्य है। श्लोक की अगली पंक्ति इस तथ्य को स्पष्ट करती है।

देह त्याग कर जो जाता है – ॐ के उच्चारण तथा उसके लक्ष्यार्थ पर

मनन करने के फलस्वरूप, साधक मिथ्या जड़ उपाधियों के साथ हुए अपने तादात्म्य से ऊपर उठ जाता है, जिसके कारण अहंकार का लोप हो जाता है। यही वास्तविक मृत्यु है। देह त्याग का अभिप्राय है–देहात्मभाव का त्याग। प्रवण के लक्ष्यार्थ पर ध्यान करते हुए साधक परमगति को प्राप्त होता है, क्योंकि उसका लक्ष्यार्थ है – सम्पूर्ण विश्व का वह अधिष्ठान जिस पर जन्म और मृत्यु का मनः कल्पित नाटक खेला जाता है।

क्या ध्यानमार्ग पर चलने वाले सभी साधकों को आत्मसाक्षात्कार समानरूप से कठिन है भगवान् कहते हैं :

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

हे पार्थ ! जो अनन्यचित्त वाला (पुरुष) नित्य मेरा स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगी के लिये मैं सुलभ हूं अर्थात् सहज ही प्राप्त हो जाता हूं ॥१४॥

उस नित्ययुक्त योगी के लिये आत्मप्राप्ति सहज साध्य होती है, जो मुझ चैतन्य स्वरूप आत्मा का अनन्यभाव से नित्य-प्रतिदिन स्मरण करता है। पूर्व श्लोकों में कथिक सिद्धान्त को ही यहां संक्षेप में, किन्तु स्पष्ट एवं प्रभावशाली भाषा में कहा गया है।

प्रार्थना कोई कीटनाशक दवाई नहीं कि जिसका यदाकदा छिड़काव करना पर्याप्त है; उसी प्रकार, पूजागृह को स्नानगृह के समान नहीं समझना चाहिये, जिसमें हम अशुद्ध प्रवेश करते हैं और फिर स्वच्छ होकर बाहर आते हैं ! यहां श्रीकृष्ण अत्यन्त सावधानी से विशेष बल देकर आग्रह करते हैं कि यह आत्मानु-संधान या ईश्वर स्मरण नित्य, निरन्तर और अखण्ड होना चाहिए।

उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न योगी को, 'हे अर्जुन ! मैं सुलभ हूं।' भगवान् का यह कथन विशेष महत्त्व एवं अभिप्राय रखता है, क्योंकि इन गुणों के अभाव में ध्यान में सफलता की आशा भी नहीं की जा सकती।

आत्मप्राप्ति के लिये प्रयत्न क्यों किया जाय ? इस पर कहते हैं :

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

परम सिद्धि को प्राप्त हुए महात्माजन मुझे प्राप्त कर अनित्य दुःख के आलय

रूप (गृहरूप) पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते हैं ॥१५॥

आत्मानुभूति के द्वारा ज्ञानी पुरुष को प्राप्त लाभ का मूल्यांकन करते हुए यहां कहा गया कि, 'मुझे प्राप्तकर महात्माजन पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते।" तत्त्व चिन्तक दार्शनिकों के अनुसार समस्त दुःखों का मूल है – पुनर्जन्म। श्रीकृष्ण भी यहां पुनर्जन्म को दुःखालय और अशाश्वत कहते हैं।

भारतीय दर्शन के इतिहास में एक बात ध्यान देने योग्य है कि प्रारंभ में 'अमृतत्त्व' को जीवन का लक्ष्य माना जाता था, परन्तु बाद में 'पुनर्जन्म के अभाव' को लक्ष्य स्वीकार किया गया। मनुष्य को सब अनुभवों में मृत्यु का अनुभव सर्वाधिक भयानक प्रतीत होता है। यही कारण है कि प्रारम्भ में, साधक का समस्त प्रयत्न और व्याकुलता इस अपरिहार्य मृत्यु से मुक्ति पाने के लिये थी। जीवन की घटनाओं का सम्यक् अवलोकन और मूल्यांकन करने पर जैसे उसके ज्ञान में वृद्धि हुई और विचारों में परिपक्वता आयी, तब शीघ्र ही अध्यात्म के विचारक ऋषियों ने यह पाया कि जो लोग यह समझ लेते हैं कि जीवन के अनुभवों में मृत्यु भी एक है, तो उनके लिये मृत्यु की भयंकरता समाप्त हो जाती है। जीवन के अखण्ड अस्तित्व को मृत्यु काट नहीं सकती। सत्य के विषय में अत्यन्त निष्पक्ष एवं निर्मम भाव से विचार करने वाले ऋषिगण तर्क एवं अनुभव के द्वारा इस निष्कर्ष तक पहुँचे कि समस्त दुःख जन्म के साथ प्रारम्भ होते हैं। अतः जीवन का लक्ष्य 'पुनर्जन्म का अभाव' होना चाहिये।

पुनर्जन्म का स्वप्न और उसके अपरिहार्य कष्ट मिथ्या अहंकार अथवा जीव को ही होते हैं। अजन्मा आत्मा ही जड़ उपाधियों के साथ तादात्म्य से जीवभाव को प्राप्त होता है। बल्ब उपाधि में व्यक्त विद्युत ही प्रकाश है, उस बल्ब के फूट जानें पर कार्यरूप प्रकाश अपनें कारणरूप विद्युत् में लीन हो जाता है, जबकि विद्युत् एकमेव अद्वितीय, सर्वत्र समान रूप से विश्व के सभी बल्बों में प्रकाशित होती है। इसी प्रकार अन्तःकरण की उपाधि से विशिष्ट अथवा परिच्छिन्न आत्मा ही जीव कहलाता है, उसको ही जन्म, वृद्धि, व्याधि, लक्ष्य और मृत्यु के सम्पूर्ण दुःख और कष्ट सहने होते हैं। उपाधि के लय होने पर अर्थात् उससे हुए तादात्म्य के निवृत्त होने पर जीव अनुभव करता है कि वह स्वयं ही चैतन्य स्वरूप आत्मा है।

आत्मज्ञानी पुरुष जानता है कि उसका मन और बुद्धि से कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। जैसे जाग्रत पुरुष का स्वप्न में देखे हुए पत्नी और पुत्रों से कोई सम्बन्ध नहीं होता, ठीक वैसे ही, आत्मस्वरूप के प्रति जागृत होने पर अहंकार(जीव) अपने दुःखपूर्ण परिच्छिन्न जीवन के साथ ही समाप्त हो जाता है। ऐसे महात्मा

जनों को इस जगत् में पुनर्जन्म लेकर दुःखों को भोगने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती ।

जिस पुरुष ने जीवन पर्यन्त "सतत आत्मानुसंधान" की साधना से इन्द्रियों का संयम करना सीख लिया हो, और मन को हृदय में तथा प्राण को बुद्धि में स्थापित कर लिया हो, ऐसा पुरुष अनन्त, नित्य स्वरूप को साक्षात् आत्मभाव से अनुभव करता है । तत्पश्चात्, वह पुनः किसी देह विशेष में जन्म लेकर परिच्छिन्न विषयों में अनन्त सुख की व्यर्थ खोज नहीं करता है ।

तब, क्या ऐसे लोग हैं जो परा गति को प्राप्त न होकर पुनः जगत् को लौटते हैं ? इस पर कहते हैं :

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक तक के सब लोक पुनरावर्ती स्वभाव वाले हैं । परन्तु, हे कौन्तेय ! मुझे प्राप्त होने पर पुनर्जन्म नहीं होता ॥१६॥

गीताचार्य श्रीकृष्ण की किसी सिद्धान्त को बल देकर समझाने की अपनी विशेष पद्धति यह है कि वे उस सिद्धान्त को उसके विरोधी तथ्य की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत करते हैं । गीता में प्रायः इस पद्धति का उपयोग किया गया है । इस श्लोक में भी दो परस्पर विरोधी तथ्यों को एक साथ व्यक्त किया गया है, जिससे कोई भी विद्यार्थी उन्हें तुलनात्मक दृष्टि से स्पष्ट समझ सकता है । प्रथम पंक्ति में कहा गया है कि 'ब्रह्म लोक तक के सब लोक पुनरावर्ती हैं ।' इसके विपरीत, जो पुरुष आत्मा का साक्षात् अनुभव करते हैं वे 'मुझे प्राप्त होकर पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते ।'

वेदान्त में क्रममुक्ति का एक सिद्धान्त प्रतिपादित है । इनके अनुसार जो पुरुष वैदिक कर्म एवं उपासना का युगपत् (एक साथ) अनुष्ठान करता है वह कर्म और उपासना के इस समुच्चय के फलस्वरूप ब्रह्मलोक अर्थात् सृष्टिकर्त्ता के लोक को प्राप्त करता है। यहां कल्प की समाप्ति पर ब्रह्मा जी के उपदेश से परब्रह्म के साथ एक रूप हो जाता है, अर्थात् मुक्त हो जाता है । इस ब्रह्म लोक में भी मुक्ति का अधिकारी बननें के लिये उसे आत्मसंयम, ब्रह्मा जी के उपदेश का पालन तथा आत्मविचार करना आवश्यक होता है । तभी अज्ञान जनित बन्धन से उसकी पूर्णमुक्ति हो सकती है । जो जीव ब्रह्मलोक तक नहीं पहुँच पाते वे मोक्ष का आनन्द नहीं अनुभव कर सकते । कल्प की समाप्ति पर उन्हें अवशिष्ट कर्मों के अनुसार पुनः किसी देह विशेष को धारण करना होता है । इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए

भगवान् कहते हैं कि ब्रह्मलोक तक के सभी लोकों को प्राप्त हुए जीवों को पुनः जन्म लेना पड़ता है। किन्तु ब्रह्मलोक को प्राप्त करने पर अधिकारी जीव मुक्त हो जाता है।

परन्तु, वर्तमान जीवन में ही जिन्होंने अपने वास्तविक नित्य स्वरूप का साक्षात् अनुभव कर लिया है, वे एक सर्वव्यापी आत्मस्वरूप "मुझे प्राप्त होकर पुनः संसार को प्राप्त नहीं होते।" स्वप्न से जाग्रत अवस्था में आने पर जाग्रत पुरुष पुनः स्वप्न में प्रवेश नहीं करता ; जागने का अर्थ है सदा के लिये स्वप्न में अनुभव किये सुख और दुःख से मुक्त हो जाना। जाग्रत पुरुष को (मुक्त को) प्राप्त होकर साधक स्वप्न (संसार) को पुनः लौटता नहीं।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

जो लोग ब्रह्माजी के एक दिन की अवधि जानते हैं जो कि एक सहस्र वर्ष की है तथा एक सहस्र वर्ष की अवधि की एक रात्रि को जानते हैं वे दिन और रात्रि को जानने वाले पुरुष हैं ॥१७॥

आइन्स्टीन के सापेक्षवाद ने एक रहस्योद्घाटन किया है जो कि अब पश्चिमी देशों में स्वीकृत हो चुका है। इस सिद्धान्त के अनुसार देश और काल की कल्पनायें उन व्यक्तिगत तत्त्वों पर निर्भर करती हैं, जो इनके मापदण्ड के नियामक होते हैं। जब मन क्षुब्ध होता है, तब समय भार मालूम पड़ता है और मन्दगति से बीत रहा प्रतीत होता है, जैसे – जब कोई व्यक्ति किसी की व्याकुलता या अत्यन्त उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहा होता है, किन्तु उसी व्यक्ति को समय उड़ता हुआ प्रतीत होता है, जब वह विश्राम और सुखदायक परिस्थितियों में बैठा हो जहाँ उसका मनोरंजन हो रहा हो। ताश खेलने में मग्न पुरुष को रात्रि कैसे व्यतीत हो गई, इसका भान नहीं रहता और उषाकाल की सूर्य की किरणों को खिड़की में से आते देखकर उसे आश्चर्य होता है। मन के प्रतिकूल कार्य करना पड़े अथवा शरीर में पीड़ा हो तो एक-एक क्षण युगों के समान जान पड़ता है। निद्रावस्था के एक अखण्ड अनुभव में काल की कोई कल्पना नहीं होती।

उपर्युक्त घटनाओं के निरीक्षण से हिन्दू दार्शनिक इस युक्तियुक्त निष्कर्ष पर पहुँचे कि, वास्तव में, जिसे हम काल कहते हैं वह दो भिन्न-भिन्न अनुभवों के मध्य के अन्तराल की गणना है। मन को क्षुब्ध करने वाले अनुभवों की संख्या जितनी अधिक होगी समय की गति मन्द अनुभव होगी। एक ही अनुभव यदि दीर्घकाल तक बना रहे तो समय तीव्र गति से व्यतीत होगा। केवल एक ही अनुभव में काल का

अनुभव नहीं होता, जैसे एक ही बिन्दु पर दूरी की गणना नहीं होती, क्योंकि दो बिन्दुओं के मध्य अन्तराल की गणना से ही दूरी नापी जा सकती हैं। इस सिद्धांत के आधार पर काल की गणना करते हुए पौराणिक कवियों ने जो कहा कि देवताओं की घड़ियों के डायल बड़े होते हैं, तो उनका कथन उपयुक्त ही है ! उपनिषदों में भी आनन्द मीमांसा की गई है, जिसमें एक मानवीय आनन्द को इकाई मानकर ब्रह्माजी तक के देवों को प्राप्त आनन्द की मात्रा की गणना की गई है। मर्त्यलोक से उच्चतर विभिन्न लोकों में आनन्द की मात्रा में वृद्धि उन लोकों में प्राप्त होने वाली मन की शान्ति एवं समता के तारतम्य को दर्शाती है।

इस श्लोक में कहा गया है कि ब्रह्माजी का एक दिन एक सहस्र युगों का होता है तथा एक रात्रि भी उतनी ही दीर्घ होती है। युग से तात्पर्य कल्प से है। कालविदों ने जो यह गणना की है वह हमारे ३६५ दिनों के एक वर्ष की गणना के अनुसार है। चार युगों का एक 'कल्प' होता है और ब्रह्मा जी का एक दिन एक सहस्र कल्पों का माना गया है।

जैसे व्यष्टि इकाइयाँ होंगी वैसे ही समष्टि होगी। व्यष्टि (एक) मन स्वेच्छा से अपनी सृष्टि की रचना करता है और उसका पोषण भी करता है। तत्पश्चात्, उसे नष्ट कर देता है – केवल पुनः नई सृष्टि रचने के लिये। सृष्टि और लय का यह निरन्तर कार्य मनुष्य केवल दिन में अर्थात् अपनी जाग्रत-अवस्था में ही करता है। इसी प्रकार, यह माना जाता है कि समष्टि मन अर्थात् ब्रह्मा जी इस चराचर सृष्टि की रचना केवल, उनकी जाग्रत अवस्था में करते हैं।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ।।१८।।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ।।१९।।

(ब्रह्माजी के) दिन का उदय होने पर अव्यक्त से (यह) व्यक्त (चराचर जगत्) उत्पन्न होता है ; और (ब्रह्माजी की) रात्रि के आगमन पर उसी अव्यक्त में लीन हो जाता है ।।१८।।

---

१. सत्युग में १,७२८,००० वर्ष होते हैं ; त्रेतायुग में १,२९५,००० वर्ष ; द्वापर युग में ८५४,००० वर्ष और कलियुग में ४८२,००० वर्ष होते हैं। इन चार युगों का योग एक कल्प कहलाता है।

हे पार्थ ! वही यह भूतसमुदाय है, जो पुनः पुनः उत्पन्न होकर लीन होता है। अवश हुआ (यह भूतग्राम) रात्रि के आगमन पर लीन तथा दिन के उदय होने पर व्यक्त होता है ॥१९॥

ब्रह्माजी जा कार्यभार एवं कार्यप्रणाली तथा सृष्टि की उत्पत्ति और लय का वर्णन इन दो श्लोकों में किया गया है। यहाँ कहा गया है कि दिन में – जो कि एक सहस्र युग का है – वे सृष्टि करते हैं और उनकी रात्रि का जैसे ही आगमन होता है, वैसे ही सम्पूर्ण सृष्टि पुनः अव्यक्त में लीन हो जाती है।

सामान्यतः, जगत् में 'सृष्टि' शब्द का अर्थ होता है किसी नवीन वस्तु की निर्मिति। परन्तु दर्शनशास्त्र की दृष्टि से 'सृष्टि' का अभिप्राय अधिक सूक्ष्म है तथा अर्थ उसके वास्तविक स्वभाव का परिचायक है। एक कुम्भकार मिट्टी से घट का 'निर्माण' कर सकता है, लेकिन लड्डू का नहीं ! निर्माण की क्रिया किसी पदार्थ विशेष (उपादान कारण, कच्चा माल, जैसे दृष्टांत में मिट्टी) से एक आकार को बनाती है जिसके कुछ विशेष गुण होते हैं। भिन्न-भिन्न रूपों को पुनः विभिन्न नाम दिए जाते हैं। विचार करने पर ज्ञात होगा कि जो निर्मित नामरूप है, वह अपने गुण के साथ पहले से ही अपने कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान था। मिट्टी में 'घटत्व' था, किन्तु 'लड्डुत्व' नहीं, इस कारण मिट्टी से घट की निर्मिति तो हो सकी, परन्तु लड्डू का एक कण भी नहीं बनाया जा सका। अतः, वेदान्ती इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि "सृष्टि का अर्थ है, अव्यक्त नाम, रूप और गुणों का व्यक्त हो जाना।"

कोई भी व्यक्ति वर्तमान में जिस स्थिति में रहता दिखाई देता है वह उसके असंख्य बीते हुये दिनों का परिणाम है। भूतकाल के विचार, भावना तथा कर्मों के अनुसार उनका वर्तमान होता है। मनुष्य के बौद्धिक विचार एवं जीवन मूल्यों के अनुरूप होने वाले कर्म अपने संस्कार उसके अन्तःकरण में छोड़ जाते हैं। यही संस्कार उसके भविष्य निर्माता और नियामक होते हैं।

जिस प्रकार विभिन्न जाति के प्राणियों की उत्पत्ति में सातत्य का विशिष्ट नियम कार्य करता है, उसी प्रकार विचारों के क्षेत्र में भी वह लागू होता है। मेंढक से मेंढक की, मनुष्य से मनुष्य की तथा आम्रफल के बीज से आम की ही उत्पत्ति होती है। ठीक इसी प्रकार, शुभ विचारों से सजातीय शुभ विचारों की ही धारा मन में प्रवाहित होगी और उसमें उत्तरोत्तर बृद्धि होती जायेगी। मन में अंकित इन विचारों के संस्कार इन्द्रियों के लिए अव्यक्त रहते हैं और प्रायः मन बुद्धि भी उन्हें ग्रहण नहीं कर पाती। ये अव्यक्त संस्कार ही विचार, शब्द तथा कर्मों के रूप

में व्यक्त होते हैं। संस्कारों का गुणधर्म कर्मों में भी व्यक्त होता है।

उदाहरणार्थ, किसी विश्राम-गृह में चार व्यक्ति–चिकित्सक, वकील, सन्त और डाकू – सो रहे हों, तब उस स्थिति में देह की दृष्टि से सबमें ताप, श्वास, रक्त, मांस, अस्थि आदि एक समान ही होते हैं। वहाँ डाक्टर और वकील या सन्त और डाकू का भेद स्पष्ट नहीं होता। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति की विशिष्टता को हम इन्द्रियों से देख नहीं पाते तथापि वह प्रत्येक में अव्यक्त रूप में विद्यमान रहती है, उनसे उसका अभाव नहीं हो जाता है।

उन लोगों के अव्यक्त स्वभाव, क्षमता और प्रवृत्तियां उनके जागने पर ही व्यक्त होती हैं। विश्राम–गृह को छोड़ने पर सभी व्यक्ति अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कार्यरत हो जायेंगे। अव्यक्त से इस प्रकार व्यक्त होना ही दर्शनशास्त्र की भाषा में 'सृष्टि' है।

सृष्टि की प्रक्रिया को इस प्रकार ठीक से समझ लेने पर सम्पूर्ण ब्रह्मांड की सृष्टि और प्रलय को भी हम सरलता से समझ सकेंगे। समष्टि मन (ब्रह्माजी) अपने सहस्रयुगावधि के दिन की जाग्रत अवस्था में सम्पूर्ण अव्यक्त सृष्टि को व्यक्त करता है, और "रात्रि के आगमन पर भूतमात्रअव्यक्त में लीन हो जाते हैं।"

यहां भगवान् श्रीकृष्ण इस पर विशेष रूप से बल देते हुये कहते हैं कि "वही भूतग्राम पुनः पुनः, अवश हुआ, उत्पन्न और लीन होता है।" अर्थात् प्रत्येक कल्प के प्रारम्भ में नवीन जीवों की उत्पत्ति नहीं होती। इस कथन से हम स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं कि किस प्रकार मनुष्य अपने ही विचारों एवं भावनाओं के बन्धन में आ जाता है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि कोई पशु प्रवृत्ति का व्यक्ति जो सतत विषयोपभोग का जीवन जीता है और अपनी वासनापूर्ति के लिए निर्मम तथा क्रूर कर्म करता है, रातोरात सर्व शुभ गुण सम्पन्न व्यक्ति बन जाय। ऐसा होना सम्भव नहीं, चाहे उसके गुरु कितनें ही महान् क्यों न हो, अथवा कितना ही मंगलमय पर्व क्यों न हो और किसी स्थान या काल की कितनी ही पवित्रता क्यों न हो।

जब तक शिष्य में दैवी संस्कार अव्यक्त रूप में न हों, तब तक कोई भी गुरु उपदेश के द्वारा उसे तत्काल ही सन्त पुरुष नहीं बना सकता। यदि कोई तर्क करे कि पूर्वकाल में किसी विरले महात्मा में किसी विशिष्ट गुरु के द्वारा तत्काल ही ऐसा अभूतपूर्व परिवर्तन लाया गया था, तो हमको किसी जादूगर के द्वारा मिट्टी से लड्डू बनानें की घटना को भी स्वीकार करना चाहिये! लड्डू बनाने की घटना में हम जानते हैं कि वह केवल जादू था, दृष्टिभ्रम था और वास्तव में मिट्टी से लड्डू "बनाया नहीं गया था।" इसी प्रकार, जो बुद्धिमान लोग जीवन के विज्ञान को

समझते हैं और गीताचार्य के प्रति जिनके मन में कुछ श्रद्धा भक्ति है, वे ऐसे तर्क को किसी कपोल-कल्पित कथा से अधिक महत्व नहीं देंगे। ऐसी कथा को केवल काव्यात्मक अतिशयोक्ति के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, जो शिष्यों द्वारा अपने गुरु की स्तुति में की जाती है।

"वही भूतग्राम" का अर्थ है, वही वासनायें। जीव अपनी वासनाओं से भिन्न नहीं होता। वासनाक्षय के लिये जीव विभिन्न लोकों में विभिन्न प्रकार के शरीर धारण करता है। इसमें वह अवश है। 'अवश' एक प्रभावशाली शब्द है, जो यह सूचित करता है कि अपनी दृढ़ वासनाओं के फलस्वरूप यह जीव स्वयं को अपने भूतकाल से वियुक्त करने में असमर्थ होता है। जब हम ज्ञान के प्रकाश की ओर पीठ करके चलते हैं, तब हमारा भूतकाल का जीवन हमारे मार्ग को अन्धकारमय करता हुआ हमारे साथ ही चलता है। ज्ञान के प्रकाश की ओर अभिमुख होकर चलने पर वही भूतकाल नम्रतापूर्वक संरक्षक देवदूत के समान आत्मान्वेषण के मार्ग में हमारा साथ देता है।

एक देह को त्यागकर जीव का अस्तित्व उसी प्रकार बना रहता है जैसे नाटक की समाप्ति पर राजा के वेष का त्याग कर अभिनेता का। नाटक के पश्चात् वह अपनी पत्नी का पति और बच्चों के पिता के रूप में रहता है। एक देह विशेष को धारण कर कर्मों के रूप में अपने मन की वासनाओं या विचारों का गीत गाना ही 'सृष्टि' है, और उपाधियों को त्यागने पर विचारों का अव्यक्त होना ही लय है। वीणा-वादक अपने वाद्य के माध्यम से अपने संगीत के ज्ञान को व्यक्त करता है; किन्तु जब वीणा को बन्द कर दिया जाता है, तो उस वादक का संगीत-ज्ञान अव्यक्त अवस्था में रहता है।

मनुष्य का बाह्य जगत् से सम्पर्क होने या उसकी वासनायें अर्थात् अव्यक्त निरन्तर परिवर्तित होता रहता है। यह पहले भी कहा जा चुका है कि यह निरन्तर परिवर्तन एक अपरिवर्तनशील, नित्य अविकारी अधिष्ठान् के बिना ज्ञात नहीं हो सकता। उसी अधिष्ठान् पर इस परिवर्तन का आभास होता है।

वह नित्य अधिष्ठान क्या है, जिस पर इस सृष्टि का नाटक खेला जाता है?

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

परन्तु उस अव्यक्त से परे अन्य जो सनातन अव्यक्त भाव है, वह समस्त भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है ॥२०॥

विद्यालय की कक्षा में एक श्यामपट लगा होता है, जिसका उपयोग एक ही दिन में अनेक अध्यापक विभिन्न विषयों को समझाने के लिये करते हैं। प्रत्येक अध्यापक अपने पूर्व के अध्यापक द्वारा श्यामपट पर लिखे अक्षरों को मिटाकर अपना विषय समझाता है। इस प्रकार गणित का अध्यापक अंकगणित या रेखागणित की आकृतियाँ खींचता है, तो भूगोल पढ़ाने वाले अध्यापक नक्शों को, जिनमें नदी, पर्वत आदि का ज्ञान कराया जाता है। रसायनशास्त्र के शिक्षक रासायनिक क्रियाएँ एवं सूत्र समझाते हैं और इतिहास के शिक्षक पूर्वजों की वंश परम्पराओं का ज्ञान कराते हैं। प्रत्येक अध्यापक विभिन्न प्रकार के अंक आकृति, चिह्न आदि के द्वारा अपने ज्ञान को व्यक्त करता है। यद्यपि सबके विषय, आकृतियां भिन्न-भिन्न थीं परन्तु उन सबके लिए उपयोग किया गया श्यामपट एक ही था।

इसी प्रकार, इस परिवर्तनशील जगत् के लिये भी, जो कि अव्यक्त का व्यक्त रूप है, एक अपरिवर्तनशील अधिष्ठान की आवश्यकता है, "जो सब भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता"। जब, सन्ध्याकाल में सब विद्यार्थी और शिक्षक अपने घर चले जाते हैं, तब भी वह श्यामपट अपने स्थान पर ही स्थित रहता है। यह चैतन्य तत्त्व, जो स्वयं इन्द्रिय, मन और बुद्धि के द्वारा अग्राह्य होने के कारण 'अव्यक्त' कहलाता है, इस जगत् का अधिष्ठान है, जिसे भगवान् श्रीकृष्ण के इस कथन में इंगित किया गया है – "परन्तु इस अव्यक्त से परे अन्य सनातन अव्यक्त भाव है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि यहाँ व्यक्त सृष्टि के कारण को तथा चैतन्य तत्त्व दोनों को ही अव्यक्त कहा गया है। परन्तु, दोनों में भेद यह है कि चैतन्य तत्त्व कभी भी व्यक्त होकर प्रमाणों का विषय नहीं बनता, जबकि सृष्टि की कारणावस्था जो अव्यक्त कहलाती है, कल्प के प्रारम्भ में सूक्ष्म तथा स्थूल रूप में व्यक्त भी होती है।

अव्यक्त (वासनाएँ) व्यक्त सृष्टि की बीजावस्था है, जिसे वेदान्त में 'अविद्या' भी कहते हैं। अविद्या या अज्ञान स्वयं कोई वस्तु नहीं है; किन्तु अज्ञान किसी विद्यमान वस्तु का ही हो सकता है। किसी मनुष्य को अपनी पूँछ का अज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि पूँछ अभावरूप है। इससे एक भावरूप परमार्थ सत्य का अस्तित्व सिद्ध होता है। जैसे कक्षा में पढ़ाये गये विषय ज्ञान के लिये श्यामपट अधिष्ठान है, वैसे ही इस सृष्टि के लिये यह चैयन्य तत्त्व आधार है। इस सत्य को नहीं जानना ही अविद्या है, जो इस परिवर्तनशील नामरूपमय सृष्टि को व्यक्त करती है। पुनः पुनः सर्ग, स्थिति और लय को प्राप्त होने वाली इस अविद्याजनित सृष्टि से परे, जो तत्त्व है उसी का संकेत यहाँ सनातन, अव्यय भाव इन शब्दों द्वारा किया गया है।

क्या यह अव्यक्त ही परम तत्त्व है ? अथवा, इस सनातन अव्यय से परे श्रेष्ठ कोई भाव जीवन का लक्ष्य बनने योग्य है ?

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

जो अव्यक्त अक्षर कहा गया है, वही परम गति (लक्ष्य) है। जिसे प्राप्त होकर (साधकगण) पुनः (संसार को) नहीं लौटते, वह मेरा परम धाम है ॥२१॥

पूर्व श्लोक में जिसे सनातन अव्यय भाव कहा गया है जो अविनाशी रहता है, उसे ही यहाँ अक्षर शब्द से इंगित किया गया है। अध्याय के प्रारम्भ में कहा गया था कि अक्षर तत्त्व ब्रह्म है, जो समस्त विश्व का अधिष्ठान है। ॐ या प्रणव उस ब्रह्म का वाचक या सूचक हैं, जिसपर हमें ध्यान करने का उपदेश दिया गया था। यह अविनाशी चैतन्यस्वरूप आत्मा ही अव्यक्त प्रकृति को सत्ता एवं चेतनता प्रदान करता है, जिसके कारण प्रकृति इस वैचित्र्यपूर्ण सृष्टि को व्यक्त करने में समर्थ होती है। यह सनातन, अव्यक्त, अक्षर आत्मतत्त्व ही मनुष्य के लिये प्राप्त करने योग्य परम लक्ष्य है।

संसार में जो कोई भी स्थिति या लक्ष्य हम प्राप्त करते हैं, उससे बारम्बार लौटना पड़ता है। संसार शब्द का अर्थ ही है 'वह जो निरन्तर बदलता रहता है।' निद्रा कोई जीवन का अन्त नहीं, वरन् दो कर्मप्रधान जाग्रत अवस्थाओं के मध्य का विश्राम काल है; उसी प्रकार मृत्यु भी जीवन की समाप्ति नहीं है। प्रायः वह जीव के दो विभिन्न शरीर धारण करने के मध्य का अव्यक्त अवस्था में विश्राम का क्षण होता है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि ब्रह्मलोक तक के सभी लोक पुनरावर्ती हैं, जहां से जीवों को पुनः अपनी वासनाओं के क्षय के लिए शरीर धारण करने पड़ते हैं। पुनर्जन्म दुःखालय कहा गया है, इसलिये परम आनन्द का लक्ष्य वही होगा, जहां से संसार का पुनरावर्तन नहीं होता।

प्रायः वेदान्त के जिज्ञासु विद्यार्थी प्रश्न पूछते हैं कि, "आत्मसाक्षात्कार के पश्चात् पुनरावर्तन क्यों नहीं होगा ?" यद्यपि ऐसा प्रश्न पूछना स्वाभाविक ही है, तथापि वह क्षण भर के भी परीक्षण के समक्ष टिक नहीं सकता। सामान्यतः, कारण की खोज उसी के सम्बन्ध में की जाती है जो वस्तु उत्पन्न होती है या जो घटना घटित होती हैं, और न कि उसके सम्बन्ध में जो अनुत्पन्न या अघटित है ! कोई मुझे उत्सुकता से यह नहीं पूछता कि मैं अस्पताल में क्यों नहीं हूँ, जबकि अस्पताल में जाने पर उसका कारण जानना उचित हो सकता है। हम यह पूछ सकते हैं कि

अनन्त ब्रह्म परिच्छिन्न कैसे बन गया ; परन्तु इस प्रश्न का कोई औचित्य ही सिद्ध नहीं होता कि अनन्त वस्तु पुन: परिच्छिन्न क्यों नहीं बनेगी ? यह प्रश्न अत्युक्तिक इसलिये है कि यदि वस्तु अनन्तस्वरूप है, तो वह न कभी परिच्छिन्न बनी थी और न कभी भविष्य में बन सकती है ।

एक छोटी-सी बालिका को हम वैवाहिक जीवन के शारीरिक और भावुक पक्ष के सुखों का वर्णन करके नहीं बता सकते हैं और न समझा सकते हैं । उसमें उस विषय को समझने की शारीरिक और मानसिक परिपक्वता नहीं होती । बचपन में वह केवल यह चाहती है कि उसकी मां उसका विवाह करे ! परन्तु वही बालिका युवावस्था में पदार्पण करने पर उस विषय को समझने योग्य बन जाती है । इसी कारण अन्त:करण की अशुद्धि रूप गोबर के ढेर के अशुद्ध वातावरण में पड़ा हुआ व्यक्ति खुले आकाश में मन्द-मन्द प्रवाहित समीर की सुगन्ध को कभी नहीं जान सकता । जब वह व्यक्ति उपदिष्ट ध्यानविधि[1] के अभ्यास से उपाधियों के साथ हुए मिथ्या तादात्म्य को दूर कर देता है, तब वह अपने शुद्ध अनन्तस्वरूप का साक्षात् अनुभव करता है । स्वप्न से जागने पर ही स्वप्न के मिथ्यात्व का बोध होता है, अन्यथा नहीं । और एक बार जाग्रत अवस्था में आने के पश्चात् स्वप्न के सुख और दु:ख के प्रभाव से मनुष्य सर्वथा मुक्त हो जाता है ।

यहाँ शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को महर्षि व्यास जी ने काव्यात्मक शैली द्वारा श्रीकृष्ण के निवास स्थान के रूप में वर्णित किया है, 'तद्धाम परमं मम ।' अनेक स्थलों पर यह स्पष्ट किया गया है कि गीता में भगवान् श्रीकृष्ण 'मैं' शब्द का प्रयोग आत्मस्वरूप की दृष्टि से ही करते हैं । अत: यहां भी धाम शब्द से किसी स्थान विशेष से तात्पर्य नहीं, वरन् उनके 'स्वरूप' से ही है । यह आत्मानुभूति ही साधक का लक्ष्य है, जो उसके लिये सदैव उपलब्ध भी है । ध्यान द्वारा परम दिव्य पुरुष की प्राप्ति के प्रकरण में इसका विस्तृत वर्णन किया जा चुका है ।

अब उस परम धाम की उपलब्धि का साक्षात् उपाय बताते हैं :

पुरुष: स पर: पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्त:स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ।।२२।।

हे पार्थ ! जिस (परमात्मा) के अन्तर्गत समस्त भूत हैं और जिससे यह सम्पूर्ण (जगत्) व्याप्त है, वह परम पुरुष अनन्य भक्ति से ही प्राप्त करने योग्य है ।।२२।।

---

१. गीता अध्याय ८. १२,१३,१४

हिन्दुओं के उपदेष्टा भगवान् श्रीकृष्ण यहां उस साधन मार्ग को बताते हैं, जिसके द्वारा उस परम पुरुष को प्राप्त किया जा सकता है, जिसे अव्यक्त, अक्षर कहा गया था । वह साधन मार्ग है – अनन्य भक्ति । परम पुरुष से भक्ति (निष्काम परम प्रेम) तभी वास्तविक और पूर्ण हो सकती है, जब साधक भक्त स्वयं को शरीर, मन और बुद्धि द्वारा अनुभूयमान जगत् से विरत और वियुक्त करना सीख लेता है। नित्य पारमार्थिक सत्य से प्रेम ही वह साधन है, जिसके द्वारा मिथ्या वस्तु से वैराग्य होता है। प्रखर जिज्ञासा से अनुप्राणित हुई आत्मतत्त्व की खोज और फिर उसके साथ एकत्व की यह अनुभूति कि 'यह आत्मा मैं हूँ', अनन्य भक्ति है जिसके विषय में यहां बताया गया है।

ध्यानावस्थित मन के द्वारा जिस आत्मा की अनुभूति स्वस्वरूप के रूप में होती है उसे कोई परिच्छिन्न चेतन तत्त्व नहीं समझना चाहिए, जो केवल एक व्यष्टि उपाधि में ही स्थित उसे चेतनता प्रदान कर रहा हो। यद्यपि आत्मा की खोज और अनुभव साधक अपने हृदय में करता है, तथापि उनका ज्ञान यह होता है कि यह चैतन्य आत्मा सम्पूर्ण विश्व का अधिष्ठान है। इस हृदयस्थ आत्मा का जगदधिष्ठान सत्य ब्रह्म के साथ एकता का निर्देश भगवान् श्रीकृष्ण इस वाक्य में देते हैं कि 'जिसमें भूतमात्र स्थित है और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है', वह पुरुष है।

मिट्टी से बने सभी घट मिट्टी में ही स्थित होते हैं; और उनके नाम, रूप रंग और आकार विविध होते हुए भी एक ही मिट्टी उन सबमें व्याप्त होती है। सभी, लहरें, तरंगें, फेन आदि समुद्र में स्थित होते हैं, और समुद्र उन्हें व्याप्त किये रहता है। घटों के अन्तर्बाह्य उनका उपादान कारण (मूल स्वरूप) मिट्टी, और लहरों में समुद्र होता है।

शुद्ध चैतन्य स्वरूप ही वह सनातन सत्य है, जिसमें अव्यक्त सृष्टि व्यक्त होती है। किसी वस्त्र पर धागे से बनाये चित्र का अधिष्ठान कपास है, जिसके बिना वह चित्र नहीं बन सकता था। शुद्ध चैतन्य तत्त्व 'वासनाओं के विविध सांचों में ढलकर 'अविद्या' से स्थूल रूप को प्राप्त होकर असंख्य नामरूपमय जगत् के रूप में प्रतीत होता है। तत्पश्चात,, सर्वत्र सब लोग विषयों को देखकर आकर्षित होते हैं, उनकी कामना करते हैं, उन्हें प्राप्त करने के लिये संघर्ष करते हैं। जो पुरुष आत्मस्वरूप का साक्षात् अनुभव कर लेता है, वह यह समझ लेता है कि इस नानाविध सृष्टि का एक ही अधिष्ठान है, जिसके अज्ञान से ही इस जगत् का प्रत्यक्ष हो रहा है। जीव अज्ञान के वश इसे ही सत्य समझ कर संसार के मिथ्या दुखों से पीड़ित रहता है!

व्यक्त से अव्यक्त को लौटने के दो विभिन्न मार्गों को बताने के पश्चात् अब भगवान् अगले प्रकरण में साधकों द्वारा प्राप्त किये जा सकने वाले दो विभिन्न लक्ष्यों

के भिन्न-भिन्न मार्गों का वर्णन करते हैं। कोई साधक उस लक्ष्य को प्राप्त होते हैं, जहां से संसार को पुनरावर्तन होता है तथा अन्य लक्ष्य है, जिसे प्राप्त कर पुनः संसार को नहीं लौटना पड़ता।

वे दो मार्ग कौन से हैं? भगवान् कहते हैं :

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

हे भरत श्रेष्ठ! जिस काल में (मार्ग में) शरीर त्याग कर गये हुए योगीजन अपुनरावृत्ति को, और (या) पुनरावृत्ति को प्राप्त होते हैं, वह काल (मार्ग) मैं तुम्हें बताऊंगा ॥२३॥

अभ्युदय और निःश्रेयस – ये वे दो लक्ष्य हैं जिन्हें प्राप्त करने के लिये मनुष्य अपने जीवन में प्रयत्न करते हैं। अभ्युदय का अर्थ है – लौकिक सम्पदा और भौतिक उन्नति के माध्यम से अधिकाधिक विषयों के उपभोग के द्वारा सुख प्राप्त करना। यह वास्तव में सुख का आभास मात्र है; क्योंकि प्रत्येक उपभोग के गर्भ में दुःख छिपा रहता है। निःश्रेयस का अर्थ है, अनात्मबंध से मोक्ष। इसमें मनुष्य आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है, जो सम्पूर्ण जगत् का अधिष्ठान है। इस स्वरूपानुभूति में संसारी जीव की समाप्ति और परमानन्द की प्राप्ति होती है।

ये दोनों लक्ष्य परस्पर विपरीत धर्मों वाले हैं। भोग अनित्य है और मोक्ष नित्य; एक में संसार को पुनरावर्तन है, तो अन्य में अपुनरावृत्ति। अभ्युदय में जीव-भाव बना रहता है, जबकि ज्ञान में आत्मभाव दृढ़ बनता है। आत्मानुभवी पुरुष अपने आनन्दस्वरूप का अखण्ड अनुभव करता है।

यदि लक्ष्य परस्पर भिन्न-भिन्न हैं, तो उन दोनों की प्राप्ति के दो मार्ग भी भिन्न-भिन्न होने चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण यहां भरतश्रेष्ठ अर्जुन को बचन देते हैं कि वे उन दो – आवृत्ति और अनावृत्ति—मार्गों का वर्णन करेंगे।

यहाँ 'काल' शब्द का द्व्यर्थक प्रयोग किया गया है। काल का अर्थ है 'प्रयाण काल' और उसी प्रकार प्रस्तुत सन्दर्भ में उसका दूसरा अर्थ है 'मार्ग' जिससे साधक-गण देहत्याग के उपरान्त अपने लक्ष्य तक पहुंचते हैं।

प्रथम अपुनरावृत्ति का मार्ग बताते हैं :

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

जो ब्रह्मविद् साधकजन मरणोपरान्त अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः मास वाले मार्ग से जाते हैं, वे ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ॥२४॥

इस श्लोक में क्रममुक्ति के मार्ग को दर्शाया गया है। वेदप्रतिपादित कर्म एवं उपासना के समुच्चय अर्थात् दोनों का साथ-साथ अनुष्ठान करने वाले साधक, और उसी प्रकार, जिन लोगों को वर्तमान जीवन में ही ब्रह्म का साक्षात् अनुभव न हुआ हो, ऐसे ब्रह्म के उपासक इस क्रममुक्ति के अधिकारी होते हैं। उपनिषदों के अनुसार ये साधक जन देहत्याग के पश्चात् देवयान (देवताओं का मार्ग) के द्वारा ब्रह्मलोक अर्थात् सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी के लोक में प्रवेश करते हैं। वहां कल्प की समाप्ति तक दिव्य, अलौकिक विषयों के आनन्द का अनुभव करके प्रलय के समय ब्रह्माजी के साथ वे सर्वथा मुक्त हो जाते हैं। उपनिषदों में प्रयुक्त शब्दों का उपयोग कर भगवान् श्रीकृष्ण यहां देवयान को इंगित करते हैं। ऋषि प्रतिपादित तत्त्व ज्ञान के जिज्ञासुओं के लिये अध्यात्म दृष्टि से यह श्लोक विशेष अर्थपूर्ण है।[1]

अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण के षण्मास–ये सब सूर्य के द्वारा अधिष्ठित देवयान को सूचित करते हैं। प्रश्नोपनिषद् में, परम सत्य से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए इन मार्गों को स्पष्ट रूप से बताया गया है। वहां गुरु बताते हैं कि सृष्टिकर्ता प्रजापति स्वयं सूर्य और चन्द्र बन गये। आकाश में दृश्यमान सूर्य और चन्द्र क्रमशः चेतन और जड़ तत्त्व के प्रतीक स्वरूप हैं।

चेतन तत्त्व के साथ तादात्म्य स्थापित करके, जो सत्य का उपासक अपना जीवन जीता है, वह मरण के समय भी जीवन पर्यन्त की गयी उपासना के उपास्य (ध्येय) का ही चिन्तन और स्मरण करता है; स्वाभाविक है कि, ऐसा उपासक अपने उपास्य के लोक को प्राप्त होगा, क्योंकि 'वृत्ति के अनुरूप व्यक्ति बनता है।' सम्पूर्ण जीवन काल में रचनात्मक, दैवी एवं विकासशील विचारों का ही चिन्तन करते रहने पर मनुष्य निश्चित ही वर्तमान शरीर का त्याग करने पर विकास के मार्ग पर ही अग्रसर होगा। इस मार्ग को अग्नि, ज्योति दिन आदि शब्दों से लक्षित किया गया है। इस प्रकार, उपनिषदों की अपनी विशिष्ट भाषा में ब्रह्म के उपासकों की मुक्ति का मार्ग उत्तरायण कहलाता है। क्रममुक्ति को बताने के लिये ऋषियों द्वारा प्रायः प्रयोग किये जाने वाले इस शब्द 'उत्तरायण' में उपर्युक्त सभी अभिप्राय समाविष्ट हैं।

इस मार्ग के विपरीत वह मार्ग जिसे प्राप्त करने पर पुनः संसार को लौटना

---

१. यहां वर्णित इन दो मार्गों का वर्णन महर्षि व्यास रचित 'ब्रह्मसूत्र' में है तथा उसी प्रकार छान्दोग्य, बृहदारण्यक, प्रश्न और कठ उपनिषदों में भी है।

पड़ता है, उसका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं :

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ।।२५।।

धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन के छः मास वाले मार्ग से चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त कर, योगी (संसार को) लौटता है ।।२५।।

पुनरावृत्ति के मार्ग को पितृयाण (पितरों का मार्ग) कहते हैं । इसका अधिष्ठाता देवता है –चन्द्रमा, जो जड़ पदार्थ जगत् का प्रतीक है । जो लोग उपासना-रहित पुण्य कर्मों को – जिनमें समाज सेवा तथा यज्ञयागादि कर्म सम्मिलित हैं करते हैं, वे मरणोपरान्त पितृलोक को प्राप्त होते हैं, जिसे प्रचलित भाषा में स्वर्ग कहते हैं । पुण्यकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त इस स्वर्गलोक में विषयोपभोग करने पर जब पुण्यकर्म क्षीण हो जाते हैं, तब इन स्वर्ग के निवासियों को अपनी अवशिष्ट वासनाओं के अनुसार उचित शरीर को धारण करने के लिये पुनः संसार में आना पड़ता है । उस देह में ही उनकी वासनाएं व्यक्त एवं तृप्त हो सकती हैं ।

धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन – ये सब पितृलोक प्राप्ति का मार्ग बताने वाले हैं ।[1] चन्द्रमा जड़ पदार्थ का प्रतीक और विषयोपभोग का अधिष्ठाता है । उसके अनुग्रह से कुछ काल तक स्वर्ग सुख भोगने के पश्चात जीव को पुनः मर्त्य-लोक में आना पड़ता है ।

संक्षेप में, इन दो श्लोकों में यह बताया गया है कि निःश्रेयस की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील साधक परम लक्ष्य को प्राप्त होता है और भोग की कामना करने वाला पुरुष भोग के पश्चात् पुनः शरीर को धारण करता है, जहाँ वह चाहे तो अपना उत्थान अथवा पतन कर सकता है ।

विषय का उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं :

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ।।२६।।

जगत् के ये दो प्रकार के शुक्ल और कृष्ण मार्ग सनातन माने गये हैं । इनमें

---

1. वेदों के अनुसार अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष, उत्तरायण तथा यहां बताये हुए धूम, रात्रि आदि इन सबके अभिमानी देवता होते हैं जो जीवन का मार्ग दर्शन करते हुए उसे गन्तव्य लोक तक पहुंचाते हैं ।

एक (शुक्ल) के द्वारा (साधक) अपुनरावृत्ति को तथा अन्य (कृष्ण) के द्वारा पुनरावृत्ति को प्राप्त होता है ।।२६।।

पूर्वोक्त देवयान और पितृयान को ही यहां क्रमशः शुक्लगति और कृष्णगति कहा गया है। लक्ष्य के स्वरूप के अनुसार यह उनका पुनर्नामकरण किया गया है। प्रथम मार्ग साधक को उत्थान के सर्वोच्च शिखर तक पहुँचाता है, तो अन्य मार्ग परिणामस्वरूप पतन की गर्त में ले जाता है। इन्हीं दो मार्गों को क्रमशः 'मोक्ष का मार्ग' और 'संसार का मार्ग' माना जा सकता है।

मानव की प्रत्येक पीढ़ी में जीवन जीने के दो मार्ग या प्रकार होते हैं – भौतिक और आध्यात्मिक। भौतिकवादियों के अनुसार मानव की आवश्यकताएँ केवल भोजन, वस्त्र और गृह हैं। उनके मतानुसार जीवन का परम पुरुषार्थ वैषयिक सुखोपभोग के द्वारा शरीर और मन की उत्तेजनाओं को सन्तुष्ट करना ही है। केवल इतने से ही उसको सन्तोष हो जाता है। इससे उच्चतर तथा दिव्य आदर्श के प्रति उसकी न कोई रुचि होती है और न प्रवृत्ति। परन्तु अध्यात्म के मार्ग पर चलने वाले विवेकीजन अपने समक्ष आकर्षक विषयों को देखकर लुब्ध नहीं हो जाते उनकी बुद्धि अग्निशिखा के समान सदा ऊर्ध्वगामी होती है जो सतहो जीवन से उच्च और श्रेष्ठ लक्ष्य की खोज में रमण करती है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि ये दोनों ही मार्ग सनातन हैं और अनादिकाल से इन पर चलने वाले दो भिन्न प्रवृत्तियों वाले लोग रहे हैं। व्यापक अर्थ की दृष्टि से इन दोनों का सम्मिलित रूप ही संसार है। परन्तु, वेदान्त का सिद्धान्त है कि जीव संसार दुःख से निवृत्त हो सकता है। यह ऋषियों का प्रत्यक्ष अनुभव है।

एक साधक की दृष्टि से विचार करनें पर इस श्लोक में सफल योगी बनने के लिये दिये गये निर्देश का बोध हो सकता है। कभी-कभी साधना काल में मन की बहिर्मुखी प्रवृत्ति के कारण साधक विषयों की ओर आकर्षित होकर उनमें आसक्त हो जाता है। ऐसे क्षणों में हमें न स्वयं को धिक्कारने की आवश्यकता है और न आश्चर्य मुग्ध होने की। भगवान् स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य के मन में उच्च जीवन की महत्वाकांक्षा और निम्न जीवन के प्रति आकर्षण इन दोनों विरोधी प्रवृत्तियों में अनादि काल से कशिश चल रही है। धैर्य से काम लेने पर निम्न प्रवृत्तियों पर हम विजय प्राप्त कर करते हैं।

इन दो मार्गों को तथा उनके सनातन स्वरूप को जाननें का निश्चित फल क्या है ?

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ।।२७।।

हे पार्थ इन दो मार्गों को (तत्त्व से) जानने वाला कोई भी योगी मोहित नहीं होता। इसलिये, हे अर्जुन ! तुम सब काल में योगयुक्त बनो ॥२७॥

शुक्लगति और कृष्णगति इन दोनों के ज्ञान का फल यह है कि इनका ज्ञाता योगी पुरुष कभी मोहित नहीं होता है। मन में उठने वाली निम्न स्तर की प्रवृत्तियों के कारण धैर्य खोकर वह कभी निराश नहीं होता।

भगवान् श्रीकृष्ण अब तक पुनरावृत्ति और अपुनरावृत्ति के मार्गों का वर्णन किया है और अब इस श्लोक में वे ज्ञान और उसके फल को संग्रहीत करके कहते हैं कि "इसलिये हे अर्जुन ! तुम सब काल में योगी बनो।" जिसने अनात्मा से तादात्म्य हटाकर मन को आत्मस्वरूप में एकाग्र करना सीखा हो, वह पुरुष योगी है।

संक्षेप में इस सम्पूर्ण अध्याय के माध्यम से भगवान् द्वारा अर्जुन को उपदेश दिया गया है कि उसको जगत् में कार्य करते हुए भी सदा अक्षर पुरुष के साथ अनन्य भाव से तादात्म्य स्थापित कर आत्मज्ञान में स्थिर होने का प्रयत्न करना चाहिये।

अन्त में इस योग का माहात्म्य बताते हुए भगवान् कहते हैं :

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

योगी पुरुष यह सब (दोनों मार्गों के तत्त्व को) जानकर वेदाध्ययन, यज्ञ, तप और दान करने में जो पुण्यफल कहा गया है, उस सबका उल्लंघन कर जाता है और आद्य (सनातन), परम स्थान को प्राप्त होता है ॥२८॥

यहां भगवान् श्रीकृष्ण इस पर बल देते हैं कि जिस पुरुष में कुछ मात्रा में भी योग्यता है, उसको ध्यान का अभ्यास करना चाहिये; क्योंकि शास्त्रों में वेदाध्ययन, यज्ञ, तप और दान को करने में जो पुण्यफल कहा गया है, उस फल को योगी प्राप्त करता है। इतना ही नहीं, भगवान् विशेष रूप से बल देकर कहते हैं कि 'योगी उन फलों का उल्लंघन कर जाता है', अर्थात् सर्वोच्च फल को प्राप्त होता है। ध्यानाभ्यास द्वारा व्यक्तित्व का संगठन, उपर्युक्त यज्ञादि साधनों की अपेक्षा लक्ष गुना अधिक सरलता एवं शीघ्रता से हो सकता है; किन्तु यहां यह मानकर चलते हैं कि ध्यान के साधक में आवश्यक मात्रा में विवेक और वैराग्य दोनों ही हैं।

सतत नियमपूर्वक ध्यान करने से इनका भी विकास हो सकता है।

इस प्रकार जब योगी ध्यान साधना से निष्काम कर्म एवं उपासना का फल प्राप्त करता है, और ध्यान की निरन्तरता बनाये रखता है तो वह सफलता के उच्चतर शिखर की ओर अग्रसर होता हुआ अन्त में 'इस आद्य, अक्षर, पुरुष स्वरूप मेरे परम धाम को प्राप्त होकर पुनः संसार को नहीं लौटता है।'

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः ॥

इस प्रकार श्रीकृष्णार्जुनसंवाद के रूप में ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र स्वरूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् का अक्षरब्रह्मयोग नामक आठवां अध्याय समाप्त होता है।

''अक्षरब्रह्मयोग' का अर्थ है 'अक्षरब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग।' इस अध्याय के प्रारम्भ में अर्जुन द्वारा किये गये प्रश्नों का उत्तर देने के पश्चात् अपनी दिव्य प्रेरणा से प्रेरित होकर भगवान् श्रीकृष्ण ने, प्रयाणकाल में परम पुरुष का स्मरण करने वालों को अनन्त की प्राप्ति कैसे होती है, इसका वर्णन किया है और अर्जुन को ईश्वर स्मरण करते हुए जीवन-संघर्षों की चुनौतियों का कुशलता से सामना करने का उपदेश दिया है।

स्वाभाविक है कि साधकों के मन को एकाग्र करने के लिये ध्येय का स्वरूप बताना आवश्यक था। इसलिये, ९ और १० इन दोनों श्लोकों में उस अनन्त तत्त्व का स्वरूप जिन सुन्दर शब्दों के द्वारा दर्शाया गया है, वे सब लक्षणावृत्ति से उस तत्त्व का बोध कराते हैं। अनिर्वचनीय का वर्णन करने वाले ये अप्रतिम श्लोक हैं। तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण ने उत्तरायण और दक्षिणायन का वर्णन किया है, जिनके द्वारा क्रमशः ब्रह्म की ओर संसार की प्राप्ति होती है। निश्चय ही, इस अध्याय का "अक्षरब्रह्मयोग" यह नाम अत्यन्त उपयुक्त है।

ॐ

नवम अध्याय

राजविद्याराजगुह्ययोग

हिन्दुओं के लिए नवजीवनदायक शास्त्रीय ग्रन्थ होने के कारण श्रीमद्भगवद्-गीता में सम्पूर्ण सुधारों के बीजों का होना अत्यन्त आवश्यक है। समाज में व्याप्त दोषों के विरुद्ध ऐसे सुधार, प्रायः क्रान्तिकारी स्वरूप क होते हैं। मूलभूत सिद्धान्तों को यथावत् रखते हुए जिस धर्म को परिवर्तनशील जीवन के साथ गति बनाये रखनी होती है, उसे विद्यमान सामाजिक समस्याओं एवं राजनीतिक परि-स्थितियों में अपनी उपयोगिता बनाये रखने के लिये स्वयं में आवश्यक परिवर्तन करना पड़ता है। महाभारत काल में धर्म का लोप नहीं हुआ था, परन्तु, उस युग के जीवन के सन्दर्भ में वैदिक सिद्धान्तों को अपेक्षित परिवर्तनों के साथ पुनर्स्थापित करना आवश्यक था।

उपर्युक्त सुधारों में, यदि धर्म के आधारभूत तत्त्वज्ञान के मूल सिद्धान्तों को रञ्चमात्र उल्लंघन किये बिना यथावत् रखना हो, तो जीवन के विज्ञान रूप धर्म के विस्तार के लिये केवल एक परिवर्तन सम्भव रहता है। वह संभाव्य परिवर्तन है—तत्त्वज्ञान के व्यावहारिक उपयोग के लिए अधिक उपयुक्त साधनों का अन्वेषण करना तथा तत्कालीन जीवनपद्धति के सन्दर्भ में उपलब्ध विरोध और संघर्ष की भाषा में उनका स्पष्टीकरण देना। विकास की प्रारम्भिक अवस्था में ही मनुष्य को अन्ध श्रद्धा का अदम्य आकर्षण हो सकता हैं; परन्तु जब उनकी बुद्धि में परिपक्वता और निश्चय की दृढ़ता तथा कर्मों में पौरुषता आती है, तब उस पीढ़ी के वेग को नियन्त्रित करना और उसे अन्धश्रद्धा की सीमाओं में बांधकर रखना कदापि सम्भव नहीं होता। तत्त्वचिन्तकों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की पुष्टि के लिये वे अकाट्य तर्क और प्रमाण चाहते हैं। ऐसे समय में स्वयं दर्शन प्रणेता की अपेक्षा दर्शनशास्त्र के व्याख्याकारों को अपने युग के जनजीवन और प्रचलित विचारधारा की दिशा एवं प्रवाह को समझकर उसके अनुकूल शास्त्र की व्याख्या करनी होती है।

निःसन्देह इन नवीन, विचारपूर्ण एवं अर्थपूर्ण व्याख्याओं ने समाज के क्षीण-प्राय, प्रभावहीन और अनुपयोगी जीवन मूल्यों में नवीन शक्ति का संचार किया। मरणोन्मुख धर्म के शरीर में पुनः यौवनपूर्ण जीवनी शक्ति को प्रवाहित करके, काल

प्रवाह में अवनतिशील सनातन हिन्दू परम्परा का रक्षण एवं धारण किया। इस सनातन विद्या के कायाकल्प का निकट भूतकाल में सर्वाधिक प्रभावशाली एवं सफल उपचार महर्षि वेदव्यास के करकमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। भगवद्गीता में उस दिव्य शल्यक्रिया का वर्णन है।

सप्तम अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने ज्ञान और विज्ञान का समग्रत: विवेचन किया है। तत्पश्चात्, उन्होंने जिज्ञासुओं के लाभार्थ, एक गणितज्ञ के समान, आध्यात्मिक साधनाओं को क्रमवार समझाना प्रारम्भ किया है। किसी भी स्थान पर उन्होंने अपने उपदेश में अन्धश्रद्धा रखने का आग्रह नहीं किया। इतना ही नहीं, वेदान्त का प्रत्येक सिद्धान्त समझाते समय उसकी पुष्टि के लिये कारण, तर्क और प्रमाण देने में उन्होंने अत्यधिक सावधानी रखी है। अत: वेदान्त के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों की प्रामाणिकता के विषय में किसी को संदेह नहीं रह सकता है।

जीवन के निष्पक्ष वैचारिक मूल्यांकन की वही लय इस अध्याय में भी देखने को मिलती है। अध्याय के प्रारम्भ में ही भगवान् वचन देते हैं कि वे अपने उपदेश में आत्मविकास के केवल सिद्धांत का ही नहीं, वरन् उसकी युक्तियुक्तता का भी वर्णन करेंगे। यहां हमें स्पष्ट दिखाई देता है कि जहाँ तक सम्भव है, भगवान् श्रीकृष्ण वेदांत साहित्य की कठिन पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग नहीं करते हैं। प्रारम्भिक शब्दों का ही उन्होंने यत्र-तत्र प्रयोग किया है।

यहाँ वेदांत ज्ञान को सरल शैली में समझाया गया है, जिससे अपने समय के सामान्य शिक्षित लोगों का प्रतिनिधि अर्जुन उसे सरलता से ग्रहण कर सके। इसी ज्ञान को आगामी तेरहवें अध्याय में पारस्परिक पारिभाषिक शब्दावली – जैसे, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, प्रकृति, पुरुष आदि के द्वारा समझाया गया है।

आधुनिक शिक्षा प्रणाली में किसी विषय के विवेचन की वैज्ञानिक पद्धति निम्नांकित रूप में मानी गयी है :

(क) विवेच्य विषय का मुख्य भागों में वर्गीकरण
(ख) उन भागों का विश्लेषणात्मक स्पष्टीकरण
(ग) प्रत्येक भाग का निश्चयात्मक विवेचन
(घ) विभिन्न भागों के परस्पर सम्बन्धों पर विचार
(ङ) सम्पूर्ण विवेचन का निष्कर्ष।

उपर्युक्त विचार पद्धति की दृष्टि से गीता को कदापि वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। विषय प्रतिपादन में गीता की संभाषणात्मक शैली में अपनी एक विशेष

स्पष्टता एवं सूत्ररूपता है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने इस ज्ञान को 'राजविद्या' और 'राजगुह्य' की संज्ञायें प्रदान की हैं। गीता के प्रत्येक जागरूक विद्यार्थी को यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होगा कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण में तथा नियमबद्ध विवेचन करने में गीता में न कोई कमी है और न उसमें कोई आवश्यक बात अनकही रह गई है।

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।१।।

श्रीभगवान् ने कहा–

तुम अनसूयु (दोष दृष्टि रहित) के लिए मैं इस गुह्यतम ज्ञान को विज्ञान के सहित कहूँगा, जिसको जानकर तुम अशुभ (संसार बन्धन) से मुक्त हो जाओगे ।।१।।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन में एक मुमुक्षु के लक्षण पाते हैं, जो वास्तव में आत्मोन्नति के द्वारा संसार के समस्त बन्धनों का विच्छेदन करना चाहता है। उसे केवल किसी ऐसी सहायता की आवश्यकता है, जिससे कि उसे अपने साधनमार्ग की प्रामाणिकता का दृढ़ निश्चय हो सके। भगवान् कहते हैं कि वे अनुसूयु अर्जुन को विज्ञान के सहित ज्ञान का अर्थात् सैद्धान्तिक ज्ञान तथा उसके अनुभव का उपदेश देंगे। असूया का अर्थ है – गुणों में भी दोष देखना। अतः अनुसूयु का अर्थ है – वह पुरुष जो असूया रहित है अथवा दोष दृष्टि रहित है। इस ज्ञान का प्रयोजन है, "जिसे जानकर तुम अशुभ अर्थात् संसार बन्धनों से मुक्त हो जाओगे।"

जीवन की चुनौतियों का सामना करने में मनुष्य की अक्षमता का कारण यह है कि वह वस्तु और व्यक्ति अर्थात् जगत् का त्रुटिपूर्ण मूल्यांकन करता है। फलतः जीवन–संगीत के सुर और लय को वह खो देता है। अपने तथा बाह्य जगत् के वास्तविक स्वरूप को समझने का अर्थ है – जगत् के साथ स्वस्थ एवं सुखवर्द्धक सम्बन्ध रखने के रहस्य को जानना। जो पुरुष इस प्रकार समष्टि के साथ एकरूपता पाने में सक्षम है, वही जीवन में निश्चित सफलता और पूर्ण विजय का भागीदार होता है।

आन्तरिक विघटन के कारण अपने समय का वीर योद्धा अर्जुन एक विक्षिप्त पुरुष के समान व्यवहार करने लगा था। ऐसे पुरुष को जीवन की समस्यायें अत्यन्त गम्भीर, कर्तव्य महत्, कष्टप्रद और स्वयं जीवन एक बहुत बड़ा भार प्रतीत होने लगता है। वे सभी लोग संसारी कहलाते हैं, जो जीवन–इंजिन को अपने ऊपर से

चलने देकर छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इनके विपरीत, जो पुरुष इस जीवन-इंजिन के चालक के स्थान पर बैठकर मार्ग के सभी विघ्नों को पार करके अपने गन्तव्य तक सुरक्षित पहुंचते हैं, वे आत्मज्ञानी, सन्त और ऋषि कहलाते हैं। यद्यपि आत्मज्ञानी का यह पद मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है, तथापि इस धरोहर का लाभ केवल वह विवेकी पुरुष पाता है, जिसमें अपने जीवन पर विजय पाने का उत्साह और साहस होता है ; और जो इस पृथ्वी पर ईश्वर के समान रहता है – सभी परि-स्थितियों का शासक बनकर और जीवन की दुर्भाग्यपूर्ण स्थितियों में हँसता हुआ।

जीवन जीने की इस कला के प्रति साधक के मन में रुचि और उत्साह उत्पन्न करने के लिए इस ज्ञान की स्तुति करते हुये भगवान् कहते हैं :

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ।।२।।

यह ज्ञान राजविद्या (विद्याओं का राजा) और राजगुह्य (सब गुह्यों का अर्थात् रहस्यों का राजा) एवं पवित्र, उत्तम, प्रत्यक्ष ज्ञानवाला और धर्मयुक्त है, तथा करने में सरल और अव्यय है ।।२।।

धर्म शब्द का प्रचलित अर्थ यह है कि सप्ताह के किसी विशेष दिन, निर्धारित समय के लिए देवालय में जाकर व्रत पालन तथा पूजा करना आदि। इस दृष्टि से वेदान्त कोई धर्म नहीं है ; परन्तु "आदर्श जीवन जीने को कला" को धर्म समझने पर वेदान्त सर्वश्रेष्ठ धर्म है, क्योंकि उसमें आदर्श जीवन का वैज्ञानिक विश्लेषण एवं विवेचन किया गया है। 'राजविद्या, राजगुह्य, पवित्र और उत्तम" कहकर भगवान् श्रीकृष्ण उसकी प्रशंसा करते हैं।

कोई ज्ञान, राजविद्या और गुह्यतम तथा परम पवित्र होते हुये भी यदि अनुभव ग्राह्य नहीं है, तो उसका कोई उपयोग नहीं हो सकता। परन्तु इस ज्ञान में यह दोष नहीं है, क्योंकि यह 'प्रत्यक्षावगमम्' है, अर्थात् इसका आत्मरूप में साक्षात् अनुभव किया जा सकता है।

इसी प्रकार यह ज्ञान 'धर्म्यं' अर्थात् धर्म के अनुकूल है, धर्मयुक्त है। धर्म[1] शब्द का अर्थ अनेक स्थलों पर बताया जा चुका है। आत्मचैतन्य के अभाव में मनुष्य स्थूल और सूक्ष्मरूप जड़तत्त्वों का समूह मात्र है, जो स्वयं कोई भी कार्य करने में समर्थ नहीं है। यह चेतनतत्त्व-आत्मा ही मनुष्य का वास्तविक धर्म है, स्वरूप है। भगवान् यहाँ जो ज्ञान प्रदान करने वाले हैं, वह न भौतिक विज्ञान है और न मनो-विज्ञान ; किन्तु वह आत्मज्ञान अर्थात् मनुष्य के स्वस्वरूप का ज्ञान है।

---
१. देखिए प्रस्तावना।

सुसुखं कर्तुम् – धर्म, कोई बाह्य जगत् में की जाने वाली क्रिया नहीं, वरन् आत्मिक उन्नति का मार्ग है, जिसका अनुसरण प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही करता है। यदि प्रस्तुत ज्ञान को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन हो, तो उसमें किसी की प्रवृत्ति न होने से उसकी विद्यमानता व्यर्थ ही होगी। वैज्ञानिकों की इस घोषणा से कि मंगलग्रह पर सोने का अक्षय भण्डार वितरण के लिए उपलब्ध है, देश की दरिद्रता दूर नहीं होती ! इस ज्ञान के कठिन होने के भय को साधक के मन से निवृत्त करने के लिए भगवान् कहते हैं, 'यह करने में अत्यन्त सरल है।' लगनशील और योग्य विद्यार्थी के लिए चित्तशुद्धि और उसके द्वारा ज्ञान से लक्ष्यप्राप्ति करना अत्यन्त सरल कार्य है।

करने में सरल होते हुये भी यदि इस ज्ञान का फल अनित्य और विनाशी हो, तो कोई भी बुद्धिमान् पुरुष उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न नहीं करेगा। किन्तु स्वयं भगवान् प्रमाणित करते है कि इस ज्ञान का फल 'अव्यय है' आत्म साक्षात्कार का अर्थ है, स्वयं अनादि-अनन्त आत्मा ही बन जाना, जो इस आभासिक दृश्यमान जगत् का एकमेव अद्वितीय अधिष्ठान है। इसलिये कहा गया है कि यह ज्ञान अव्यय है।

ज्ञान के साधकों के विपरीत, जो लोग इस नित्य वस्तु के लिए प्रयत्न नहीं करते, उनके विषय में कहते हैं :

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ।।३।।

हे परन्तप ! इस धर्म में श्रद्धारहित पुरुष मुझे प्राप्त न होकर मृत्यरूपी संसार में रहते हैं (भ्रमण करते हैं) ।।३।।

नित्यसिद्ध आत्मा का अनादर करके जीने वाले लोग निश्चय ही 'नित्यस्वरूप मुझे प्राप्त न होकर संसार को लौटते हैं।' बहिर्मुखी प्रवृत्ति के लोग सदैव विषयों का ही चिन्तन करके अपनी बौद्धिक क्षमता, मानसिक शक्ति और शारीरिक बल का अपव्यय करते हैं। विषयभोग के नित्य नवीन साधन खोजने में लगे हुए ये लोग 'मृत्युरूपी संसार में ही भ्रमण करते रहते हैं।'

जब मनुष्य विषयों का चिन्तन करके उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करता है तब उसे भोग प्राप्त तो हो जाते हैं, परन्तु वे सब अनित्य होने के कारण उनका अन्तिम परिणाम दुःख ही होता है। और विडम्बना यह है कि वह फिर भी उनमें ही और अधिक आसक्त हो जाता है ! परमात्मा की अपरा प्रकृति का वह पूजक बन जाता है। कितना ही विशाल समुद्र क्यों न हो, उसमें से किसी भी स्थान से लिया

गया प्रत्येक बूंद स्वाद में खारा ही होता है। इसी प्रकार, विषय प्रेम के पीछे हमारा कोई भी उद्देश्य क्यों न हो, एक बार विषयलोलुप हो जाने पर हम निश्चय ही दुःख के खारे अश्रु पीने को बाध्य हो जाते हैं, क्योंकि अनित्यता, नश्वरता तो हमारे 'प्रेम के विषय' का स्वरूप ही है।

नामरूपमय यह जगत् परिच्छिन्न और नित्य परिवर्तनशील है। यहां प्रतिक्षण प्रत्येक वस्तु परिवर्तन की प्रक्रिया से गुज़र रही है, और प्रत्येक परिवर्तन वस्तु की पूर्व स्थिति की मृत्यु है। इस प्रकार, यहां भगवान् द्वारा प्रयुक्त 'मृत्यु' शब्द को उसके व्यापक अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। संक्षेप में, विषयलोलुप लोग सदैव दुःखपूर्ण मृत्युलोक को प्राप्त होते हैं।

यद्यपि वेदान्तशास्त्र में 'श्रद्धा' शब्द गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के आशय[1] को भी सूचित करता है, तथापि यह श्रद्धा भावुकता के कोहरे पर निर्मित नहीं, वरन् सिद्धान्त की युक्तियुक्तता के ज्ञान के स्थित प्रकाश पर स्थिर है। श्री शंकराचार्य श्रद्धा की परिभाषा इस प्रकार देते हैं, 'शास्त्र और आचार्य के उपदेश को सत्यबुद्धि से ग्रहण करना श्रद्धा है जिसके द्वारा परमार्थ सत्य वस्तु की प्राप्ति होती है।' श्रद्धा वह दृढ़ विश्वास है, जो हमें मन और बुद्धि के परे तत्त्व की ऊंचाई तक उठाता है, और एक मर्त्य-परिच्छिन्न जीव से अमृत स्वरूप अनन्त सत्य के गढ़ने में सहायक होता है।

किसी वस्तु का धर्म 'वह कुछ' होता है, जिसके बिना उस वस्तु का उस रूप में अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकता, जैसे अग्नि की उष्णता, बर्फ की शीतलता और सूर्य का प्रकाश। जिन लोगों को अपने दिव्य आत्मस्वरूप के अस्तित्व में श्रद्धा नहीं होती वे अपनी भावनाओं के कूजन, बुद्धि के गर्जन और देह की फुंकारों द्वारा बड़ी सरलता से आनन्दस्वरूप से अपहरण कर लिये जाते हैं। वे विकास की सीढ़ी से नीचे गिर कर द्विपाद पशुओं के समान जीवन जीते हैं। जैसे कोई विक्षिप्त (पागल) राजा अपने आप को भूलकर अपनी राजप्रतिष्ठा को धूल में मिला देता है, और फिर एक निराश्रित व्रात्य (आवारा) पुरुष के समान व्यवहार करता हुआ गलियों में नग्नावस्था में घूमता रहता है, वैसे ही यह जीव अज्ञानवश अपने आत्मस्वरूप की

---

१. "Faith is the bird
That feels the light
And sings when
The dawn is still dark."

—Tagore

श्रद्धा एक विहग
जिसका प्रकाश से नाता
तिमिराच्छन्न भोर के क्षण-
में भी जो गाता।

की गरिमा को भूलकर विषयोपभोगों की खुली गलियों में सुख को खोजता हुआ ऐसे घूमता है, मानो वह किसी नाली में रेंगने वाले कीड़े से भी निकृष्ट हो।

सरलता का आभास लिये हुए, यह श्लोक वास्तव में अत्यन्त सारगर्भित है। अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में 'ज्ञान के मार्ग' का 'अज्ञान के मार्ग' से भेद दर्शाकर, भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन की बुद्धि में ज्ञानमार्ग की उपादेयता को बैठा देते हैं। ज्ञानमार्ग अक्षर पुरुष की स्वानुभूति का मार्ग है।

अब भगवान् श्रीकृष्ण ज्ञान का उपदेश देना प्रारम्भ करते हैं :

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥

यह सम्पूर्ण जगत् मुझ (परमात्मा के) अव्यक्त स्वरूप से व्याप्त है; भूतमात्र मुझमें स्थित है, परन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूं ॥४॥

यह सम्पूर्ण जगत् मेरे अव्यक्त स्वरूप के द्वारा व्याप्त है – किसी वस्तु की सूक्ष्मता उसकी व्यापकता से नापी जाती है; और इसलिये सूक्ष्मतम वस्तु का सर्वव्यापक होना अनिवार्य है। देशकाल से परिच्छिन्न (सीमित) सभी वस्तुओं का आकार तथा नाश होता है; अतः सर्वव्यापी वस्तु निराकार और नाशरहित होगी। इस प्रकार आत्मतत्त्व अपने मूल अव्यक्तस्वरूप से सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है, जैसे मिट्टी के बने सभी रूपों और आकारों वाले घटों में मिट्टी व्याप्त होती है।

यदि, इस प्रकार, अनन्त-अपरिच्छिन्न तत्त्व सान्त और परिच्छिन्न जगत् को व्याप्त किये है, तो इन दोनों में निश्चितरूप से क्या संबंध है? क्या यह जगत् अनन्ततत्त्व से प्रकट हुआ है? अथवा क्या अनन्त ने सान्त का 'निर्माण' किया है? या फिर क्या अनन्त वस्तु स्वयं विकार को प्राप्त होकर यह जगत् बन गयी, जैसे दूध दही बनता है? अथवा, क्या इन दोनों में पिता–पुत्र या स्वामी-भृत्य का संबंध है? विश्व के विभिन्न धर्म ऐसे प्रश्नों से भरे हुए हैं। द्वैतवादी लोग ही अनन्त और सान्त, ईश्वर और भक्त के मध्य किसी-न-किसी प्रकार के काल्पनिक संबंध में रम सकते हैं। परन्तु अद्वैती ऐसे किसी भी प्रकार के सम्बन्ध को स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि सम्बन्ध किन्हीं दो वस्तुओं में ही हो सकता है, जब कि उनके सिद्धान्तानुसार केवल आत्मा ही एकमेव अद्वितीय पारमार्थिक सत्य वस्तु है।

इस श्लोक की दूसरी पंक्ति में सत्य और मिथ्या[1] के बीच के इस 'संबंधरहित-

---

१. तीनों कालों में अविकारी रूप से एक जैसी रहने वाली वस्तु 'सत्य' कहलाती

संबंध' का शास्त्रीय वर्णन किया गया है। 'समस्त-भूत मुझ में स्थित हैं, परन्तु मैं उनमें अवस्थित नहीं हूं।' शास्त्रीय पद्धति से अनभिज्ञ उतावले पाठकों को यह कथन एक अनाकलनीय विरोधाभास ही प्रतीत होगा, जिससे अर्थशून्य शब्दों के जमघट के द्वारा व्यक्त किया गया हैं। परन्तु जिसने अध्यास के सिद्धान्त को सम्यक् प्रकार से समझ लिया है, उसके लिये उक्त कथन का अर्थ अत्यन्त सरल है। किसी वस्तु के अज्ञान से उस पर किसी अन्य वस्तु की कल्पना करना अध्यास है; जैसे एक स्तम्भ पर प्रेत की कल्पना। शास्त्रीय भाषा में स्तम्भ को अधिष्ठान और प्रेत को अध्यास कहेंगे। इस दृष्टान्त में स्तम्भ (अधिष्ठान) के बिना प्रेत का आभास नहीं हो सकता था। अब स्तम्भ की दृष्टि से उसमें और उसमें अध्यस्त प्रेत निश्चित रूप से कौन-सा संबंध है ? कल्पना करें कि – स्तम्भ में प्रेत देखकर मोहित हुए व्यक्ति को वह स्तम्भ स्वयं का सम्यक् ज्ञान कराना चाहता है, तो वह किस प्रकार उपदेश देगा ? वह निर्दोष स्तम्भ उस मूढ़ पुरुष के प्रति असीम प्रेम के कारण भगवान् श्रीकृष्ण के समान ही उपदेश देगा। वह कहेगा "निःसन्देह ही वह प्रेत मुझमें स्थित है, परन्तु मैं उसमें नहीं हूं; और इसलिये, मैंने कदापि किसी भी मूढ़ यात्री को भयभीत नहीं किया है।" इसी प्रकार भगवान् यहां कहते है, 'मैं अपने अव्यक्त स्वरूप से इस सम्पूर्ण व्यक्त जगत् का अधिष्ठान हूँ।" यद्यपि परमात्मा इस नामरूपमय सृष्टि का अधिष्ठान है, तथापि वह उनके गुण दोष, सुखदुःख, जन्म-मृत्यु आदि से लिप्त नहीं होता, क्योंकि 'मैं उनमें अवस्थित नहीं हूं।'

इस पंक्ति में पूर्व[1] कथित सिद्धान्त ही प्रतिध्वनित होता है, जहां सम्भवतः और अधिक लहरदार भाषा में इसे व्यक्त किया गया था कि, 'मैं उनमें नहीं हूं, वे मुझमें है।' संक्षेप में, यहां यह सूचित किया गया है कि जड़ उपाधियों से तादात्म्य के कारण आत्मा उनमें 'स्थित हुआ' मानो दुःखी-संसारी जीव बना है; और इस मिथ्या तादात्म्य की निवृत्ति से उसे बोध होता है कि वास्तव में, 'मैं अविनाशी, अव्यक्तस्वरूप आत्मा उनमें स्थित नहीं हूँ।'

उपर्युक्त कथन से मन में यह विचार आ सकता है कि तब अनन्त तत्त्व में परिच्छिन्न का किसी अन्य प्रकार का अस्तित्व हो सकता है; परन्तु भगवान् कहते हैं :

है; और जिस वस्तु की प्रतीति (अनुभव) होती है, परन्तु वास्तव में वह वैसी नहीं होती, उसे 'मिथ्या' कहते हैं। जैसे रस्सी में सर्प दिखाई देने पर रस्सी 'सत्य' और सर्प 'मिथ्या' कहलाता है। यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'मिथ्या' का अर्थ 'अभाव' नहीं है।

१. गीता ७-१२

**न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ।।५।।**

और (वस्तुतः) भूतमात्र मुझ में स्थित नहीं है; मेरे ईश्वरीय योग को देखो कि भूतों को धारण करने वाली और भूतों को उत्पन्न करने वाली मेरी आत्मा उन भूतों में स्थित नहीं है ।।५।।

पूर्व श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि समस्त भूत अर्थात् सम्पूर्ण चराचर सृष्टि उनमें स्थित है, परन्तु वे उसमें नहीं हैं । उसी विषय के तर्क की अगली कड़ी बताते हुए वे अब कहते हैं कि वस्तुतः, 'वे भूत मुझमें स्थित नहीं हैं', अर्थात् अनन्त से सान्त की उत्पत्ति कभी भी नहीं हुई ! स्तम्भ और प्रेत के दृष्टान्त का पुनः उपयोग करते हुए, भगवान् की उक्ति स्तम्भ के इस कथन के तुल्य होगी कि, वास्तव में, मुझ विद्युत स्तम्भ में प्रेत का अस्तित्व कदापि नहीं था ।' अनन्त स्वरूप शुद्ध चैतन्य परमात्मा में इस नानाविध जगत् का अस्तित्व न कभी था, न अब है और न कभी होगा । जाग्रत पुरुष के लिए स्वप्न के भोग कभी भी उपलब्ध नहीं होते । संक्षेप में, आत्मानुभव में इस नानाविध सृष्टि का दर्शन नहीं होता । वर्तमान में इसकी प्रतीति का कारण अज्ञानरूप आत्मविस्मृति है ।

यह आत्मा 'भूतमात्र को उत्पन्न करने वाला और उसका धारक-पोषक है', जैसे, समस्त तरंगों का जन्मदाता और धारण-पोषण करने वाला समुद्र है । और 'फिर भी, मैं उनमें (भूतों में) स्थित नही हूं ।' कैसे ? जैसे, समुद्र तरंगों में नहीं रहता अर्थात् उनके परिच्छेदों से सदा मुक्त रहता है । समस्त घटों की उत्पत्ति, स्थिति और धारण मिट्टी से ही है, तथापि उनमें से कोई एक घट अथवा घटसमुदाय न तो मिट्टी को परिभाषित कर सकता है और न उसके सम्पूर्ण ज्ञान को करा सकता है । दिव्य, सनातन, शुद्ध चैतन्य स्वरूप परमात्मा ही वह अधिष्ठान है, जो इस नित्य परिवर्तनशील विविधरूप सृष्टि के विस्तृत हृदय को धारण और प्रकाशित करता है ।

ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा बाह्य विषयों के ग्रहण से मन में विषयाकार वृत्तियां उत्पन्न होती हैं, जिन्हें सर्वरूपों में स्थित चैतन्य आत्मा प्रकाशित करता है । यदि यह चैतन्य न होता तो हमें अखण्ड अनुभवों की धारा के रूप में जीवन का कभी भान भी नहीं हो सकता था । जैसे कपड़े में कपास है, आभूषणों में स्वर्ण और अग्नि में उष्णता है, वैसे ही क्षर सृष्टि में अक्षर तत्त्व है । जाग्रत-पुरुष के बिना स्वप्न दृष्टा नहीं हो सकता ; जाग्रत पुरुष स्वप्न जगत् को व्याप्त किये रहता है, परन्तु वह स्वप्न से कभी दूषित या लिप्त नहीं होता और,

जाग्रत पुरुष की दृष्टि से स्वप्न का अस्तित्व कभी होता ही नहीं।

भगवान् श्रीकृष्ण यह अनुभव करते हैं कि विरोधाभास की यह भाषा अर्जुन जैसे सामान्य पुरुषों के लिये एक पहेली सिद्ध हो रही है, इसलिए करुणासागर भगवान् अपने शिष्य के लिये एक दृष्टान्त देते हैं :

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ।।६।।

जैसे सर्वत्र विचरण करने वाली महान् वायु सदा आकाश में स्थित रहती हैं, वैसे ही सम्पूर्ण भूत मुझ में स्थित हैं, ऐसा तुम जानो ।।६।।

इस गुत्थी को सुलझाने का प्रयत्न कर रहे भ्रमित राजकुमार अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण एक सुन्दर एवं स्पष्ट दृष्टान्त देकर उसकी सहायता करते हैं। किसी ऐसी वस्तु की कल्पना कर सकना अत्यन्त कठिन है जो सर्वत्र विद्यमान है, जिसमें सबकी स्थिति है और फिर भी, स्वयं उन सब वस्तुओं के दोषों से लिप्त या बद्ध नहीं होती। सामान्य मनुष्य की बुद्धि इस ज्ञान की ऊँचाई तक सरलता से उड़ान नहीं भर सकती। शिष्य की ऐसी बुद्धि को एक टेक या आश्रय के रूप में यहां एक अत्यन्त सुन्दर और आकर्षक उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, जिसकी सहायता से स्वयं को ऊंचा उठाकर वह अपने ही परिच्छेदों के परे दृष्टिपात् करके अनन्त तत्त्व के विस्तार का दर्शन कर सके।

स्थूल कभी सूक्ष्म को सीमित नहीं कर सकता। जैसे किसी कवि नें गाया है, 'पाषाण की दीवारें कारागृह नहीं बनातीं', क्योंकि एक बन्दी के शरीर को वहां बन्दी बना लेने पर भी उसके विचार अपने मित्र और बन्धुओं के पास पहुंचने में नित्य मुक्त हैं, स्वतन्त्र हैं। स्थूल पाषाण की दीवारें उसके सूक्ष्म विचारों की उड़ान पर प्रतिबन्ध नहीं लगा सकतीं। यदि एक बार इस सिद्धान्त को भली भांति समझ लें, तो यह दृष्टान्त अत्यन्त भाव व्यंजक बन कर अपने गूढ़ अभिप्रायों को प्रदर्शित कर देता है।

वायु का बहना, घूर्णन करना और भंवर के रूप में वेग से घूमना यह सब कुछ एक आकाश में होता है। आकाश उन सबको आश्रय देकर उन्हें सर्वत्र व्याप्त किये रहता है, किन्तु वे किसी भी प्रकार से आकाश को सीमित नहीं करते। सामान्य बौद्धिक क्षमता का साधक भी यदि इस दृष्टान्त पर मनन करे, तो वह आत्मा और अनात्मा के बीच के वास्तविक सम्बन्ध को समझ सकता है, उसे पारिभाषित कर

सकता है। सत्य वस्तु मिथ्या का आधार है; मिथ्या तादात्म्य से उत्पन्न असंख्य जीव नित्य और सत्य वस्तु में ही रहते हुए सुख–दु:ख, कष्ट और पीड़ा का जीवन जीते हुए दिखाई देते हैं। परन्तु मिथ्या वस्तु कभी सत्य को सीमित या दोषलिप्त नहीं कर सकती। वायु के विचरण से आकाश में कोई गति नहीं आती आकाश वायु के सब गुण धर्मों से मुक्त रहता है। सर्वव्यापक आकाश की तुलना में, जिसमें कि असंख्य ग्रह नक्षत्र, तारामण्डल अमाप गति से घूम रहे हैं, यह वायुमण्डल और उसके विकार तो पृथ्वी की सतह से केवल कुछ मील की ऊंचाई तक ही होते हैं। अनन्त सत्य की व्यापक विशालता में, अविद्याजनित मिथ्या जगत् के परिवर्तन की रंगभूमि मात्र एक नगण्य क्षेत्र है··· और वहाँ भी सत्य और मिथ्या के बीच संबन्ध वही है, जो चंचल वायु और अनन्त आकाश में है।

यह श्लोक केवल शब्दों के द्वारा सत्य का वर्णन करने के लिये ही नहीं है। व्याख्याकारों का वर्णन कितना ही सत्य क्यों न हो; प्रत्येक जिज्ञासु साधक को इनके अर्थ पर स्वयं चिन्तन-मनन करना होगा।

तब पूर्वाध्याय में आपके बताये हुए पुनर्जन्म के सिद्धान्त और ब्रह्माजी के दिन और रात में होने वाले सृष्टि और प्रलय की कथा की स्थिति क्या होगी? इस पर कहते हैं :

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृज्याम्यहम् ।।७।।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ।।८।।

हे कौन्तेय! (एक) कल्प के अन्त में समस्त भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं; और (दूसरे) कल्प के प्रारम्भ में उनको मैं फिर रचता हूं ।।८।।

प्रकृति को अपने वश में करके (अर्थात् उसे चेतनता प्रदान कर) स्वभाव के वश से परतन्त्र (अवश) हुए इस सम्पूर्ण भूत समुदाय को मैं पुनः-पुनः रचता हूं ।।८।।

समष्टि सूक्ष्म शरीर (मन-बुद्धि) में व्यक्त हो रहे चैतन्य ब्रह्म को ईश्वर – सृष्टिकर्ता कहते हैं; एक व्यष्टि सूक्ष्म शरीर को उपाधि से विशिष्ट वही ब्रह्म, संसारी जीव कहलाता है। एक ही सूर्य विशाल, स्वच्छ और शान्त सरोवर में तथा मटमैले

जल से भरे कुण्ड में भी प्रतिबिम्बित होता है। तथापि दोनों के प्रतिबिम्बों में जो अन्तर होता है उसका कारण दोनों जल का अन्तर है। यह उदाहरण जीव और ईश्वर के भेद को स्पष्ट करता है। जिस प्रकार आकाश में स्थित सूर्य का यह कथन उपयुक्त होगा कि "सरोवर के निश्चल और तेजस्वी प्रतिबिम्ब तथा जलकुण्ड के चंचल और मन्द प्रतिबिम्ब का कारण मैं हूँ", उसी प्रकार ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण घोषणा करते हैं कि "सृष्टिकर्ता और सृष्टप्राणियों की चेतन आत्मा मैं हूँ।"

समष्टि सूक्ष्म शरीर रूपी उपाधि ब्रह्म की अपरा प्रकृति है। कल्प के आदि में, अपरा प्रकृति में विद्यमान वासनायें व्यक्त होती हैं और, "कल्प की समाप्ति पर सब भूत मेरी प्रकृति में लीन हो जाते हैं।"

प्रकृति को चेतना प्रदान करने की क्रिया ब्रह्म की कृपा है, जिससे प्रकृति वृद्धि को प्राप्त होकर संसार वृक्ष का रूप धारण करती है। यदि परम चैतन्यस्वरूप ब्रह्म प्रकृति (माया) से तादात्म्य न करे अथवा उसमें व्यक्त न हो, तो वह प्रकृति स्वयं जड़ होने के कारण, किसी भी जीव की सृष्टि नहीं कर सकती। वासनारूपी इस सम्पूर्ण भूतसमुदाय को, "मैं पुनः-पुनः रचता हूँ।" आत्मा की चेतनता प्राप्त होने के पश्चात् भूतमात्र व्यक्त हुए बिना नहीं रह सकते, क्योंकि वे प्रकृति के वश में हैं, स्वतन्त्र नहीं।

प्रायः वेदान्त-दर्शन में, ऋषिगण विश्व की उत्पत्ति का वर्णन समष्टि के दृष्टिकोण से करते हैं, जिसके कारण वेदान्त के प्रारम्भिक विद्यार्थियों को कुछ कठिनाई होती है। परन्तु जो विद्यार्थी, उनके आशय को व्यक्तिगत (व्यष्टि) दृष्टि से समझने का प्रयत्न करता है, वह इस सृष्टि रचना को सरलता से समझ सकता है। इस प्रकार व्यष्टि की दृष्टि से विचार करने पर भगवान् श्रीकृष्ण का कथन सत्य प्रमाणित होगा। अपरा प्रकृति के अंशरूप मन और बुद्धि से आत्मचैतन्य का तादात्म्य हुए बिना हममें एक विशिष्ट गुणधर्मी जीव की उत्पत्ति नहीं हो सकती, जो अपने संसारी जीवन के दुःखों को भोगता रहता है।

हम पहले भी देख चुके हैं कि निद्रावस्था में मन-बुद्धि के साथ तादात्म्य अभाव में एक अत्यन्त दुष्ट पुरुष और एक महात्मा पुरुष – दोनों एक समान होते हैं। परन्तु जाग्रत अवस्था में दोनों अपने-अपने स्वभाव को व्यक्त करते हैं, जब कि दोनों में वही एक आत्मचैतन्य व्यक्त होता है। दुष्ट मनुष्य साधु के समान क्षणमात्र भी व्यवहार नहीं कर सकता है और न वह साधु ही उस दुष्ट के समान व्यवहार करेगा, क्योंकि दोनों ही अपनी प्रकृति के वशात् अन्यथा व्यवहार करने में असमर्थ हैं। भूत समुदाय की सृष्टि और प्रलय का यह सम्पूर्ण नाटक अपरिवर्तनशील, अक्षर

नित्य आत्मतत्त्व के रंगमंच पर खेला जाता है; "मैं पुन: पुन: उनको रचता हूँ।"

कर्म का सिद्धान्त विवादातीत है। जैसा कर्म वैसा फल। यदि आत्मा भूतमात्र की सृष्टि और प्रलय के कर्म का कर्त्ता हो, तो क्या उसे भी धर्म-अधर्म रूप बन्धन होता है ? इस पर भगवान् कहते हैं :

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥

हे धनंजय ! उन कर्मों में आसक्ति रहित और उदासीन के समान स्थित मुझ (परमात्मा) को वे कर्म नहीं बांधते हैं ॥९॥

एक परिच्छिन्न जीव को उसके अहंकारमूलक कर्म अपने संस्कार उसके अन्त:करण में अंकित करके कालान्तर में फलोन्मुख होकर उसे उत्पीड़ित करते हैं। सभी अहंकार केन्द्रित कर्म, जो कि सदा स्वार्थ से ही प्रेरित होते हैं, अपने कुरूप पदचिन्हों को मनरूपी समुद्र तट पर अंकित करते हैं, निरहंकार और नि:स्वार्थ भाव से किए गये कर्म नहीं ; जैसे, आकाश में विचरण करते हुये पक्षी अपने पदचिन्हों को पीछे नहीं छोड़ते। एक कृतघ्न पुत्र अपने पिता पर ही पदाघात करता है ; इसकी तुलना कीजिये। खेल में मग्न उस निष्पाप शिशु से जो अपने छोटे-छोटे पैरों से अपने पिता को मार रहा हो ! यद्यपि पदाघात की क्रिया में समानता होने पर भी दोनों के अन्तर को समझने के लिए हमें किसी दार्शनिक की सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता नहीं होती। जहां कहीं और जब कभी अहंकार और स्वार्थ से प्रेरित होकर कर्म किये जाते हैं, वे निश्चय ही दु:खदायक वासनाओं को जन्म देते हैं।

प्रकृति को चेतनता प्रदान करने और "भूत समुदाय की पुन: पुन: रचना करने में" परम पुरुष को न कोई राग है और न कोई द्वेष। इस सृष्टि चक्र के चलते रहने मात्र से वह सनातन परम पुरुष कभी प्रभावित नहीं होता। "वे कर्म मुझे बांधते नहीं।" कारण यह है कि बे कर्म न अहंकार मूलक हैं और न स्वार्थ से प्रेरित।

चलचित्रगृह के श्वेत परदे पर दिखाया जाने वाला चलचित्र (सिनेमा) कितना ही दु:खान्त और हत्यापूर्ण क्यों न हो, उसकी कथा कितनी ही अश्रुपूर्ण और उदासी भरी क्यों न हो, कितने ही आंधी और वर्षा के दृश्य उसमें क्यों न दिखाये गये हों – सिनेमा की समाप्ति पर वह श्वेतपट न रक्तरञ्जित होता है और न अश्रुओं से भीगा ही होता है, और न तूफानों से वह क्षतिग्रस्त ही होता है। तथापि हम जानते हैं कि उस स्थिर अपरिवर्तित पट के बिना, छाया और प्रकाश के

माध्यम से चित्रपट की कथा प्रदर्शित नहीं की जा सकती थी। उसी प्रकार, नित्य-शुद्ध अनन्त आत्मा वह चिरस्थायी रंगमंच हैं, जिस पर दु:खपूर्ण जीवन का नाटक अनेकत्व की भाषा में असंख्य जीवों के द्वारा निरन्तर अभिनीत होता रहता है, जो अपनी पूर्वार्जित वासनाओं से विवश हुये निर्धारित भूमिकाओं को करते रहते हैं।

रेल के पटरी से उतरने के कारण होनीवाली भयंकर दुर्घटना के लिए इंजिन की वाष्प को दण्डित नहीं किया जाता, और न ही गन्तव्य तक अपने समय पर सुरक्षित पहुँचनें पर उसका अभिनन्दन ही किया जाता है। यह सत्य है कि उस वाष्प के बिना दुर्घटना नहीं हो सकती थी और न ही गन्तव्य की प्राप्ति ; क्योंकि उसके बिना इंजिन केवल निष्क्रिय, भारी लोहा ही होता है। रचनात्मक या विध्वंसात्मक कार्य करने की शक्ति इंजिन को वाष्प से ही प्राप्त होती है। इन सब घटनाओं में, उस वाष्प को इंजिन को चलाने के प्रति न राग है और न द्वेष, इसलिए इन घटनाओं का उत्तरदायित्व उस पर थोपकर उसे बन्धन में नहीं डाला जाता। कर्म का प्रेरक उद्देश्य ही कर्म के फल को निश्चित करता है।

सम्पूर्ण शक्ति का स्रोत आत्मा है। वह मन को शक्ति प्रदान करता है। प्रत्येक मन वासनाओं का संचय मात्र है। शुभ वासनाओं से संस्कारित मन आनन्द और सामञ्जस्य का गीत गाता है, जबकि अशुभ वासनायें मन को दु:ख से कराहने को बाध्य करती हैं। ग्रामोफोन की सुई रेकार्ड से बज रहे संगीत के लिए उत्तरदायी नहीं होती। जैसा रेकार्ड, वैसा संगीत। इसी प्रकार, आत्मा सनातन है, जिसे इसकी चिन्ता नहीं होती कि किस प्रकार का जगत् उत्पन्न हुआ है। जगत् परिवर्तन के प्रति उसे किसी प्रकार की व्याकुलता नहीं होती। जगत् में जो कुछ हो रहा हो – चाहे हत्या हो या प्राणोत्सर्ग – सूर्यप्रकाश उसे प्रकाशित करता है। सूर्य का सम्बन्ध न हत्यारे के अपराध से है और न बलिदानी पुरुष के गौरव से ही है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा वासनारूपी प्रकृति को व्यक्त करने की क्षमता प्रदान करता है, फिर वे वासनायें नरक-यातना के लिए हों या गौरव-ख्याति के लिये। उन कर्मों में असक्त और उदासीन के समान स्थित आत्मा को वे कर्म नहीं बांधते हैं।

अनन्त और सान्त में निश्चित रूप से वह अद्भुत सम्बन्ध कौन–सा है ? ऐसा कहा गया है कि सान्त प्रकृति अनन्त आत्मा के कारण कार्य करती है और फिर भी आत्मा उदासीन रहता है, वह कैसे ?

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

हे कौन्तेय ! मुझ अध्यक्ष के कारण (अर्थात् मेरी अध्यक्षता में) प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है ; इस कारण से यह जगत् घूमता रहता है ।।१०।।

वेदान्त में, अकर्म आत्मा और क्रियाशील अनात्मा के सम्बन्ध को अनेक उपमाओं के द्वारा स्पष्ट किया गया है । प्रत्येक उपमा इस 'सम्बंध रहित सम्बंध' के किसी एक पक्ष पर विशेष रूप से प्रकाश डालती है ।

सूर्य की किरणें जिन वस्तुओं पर पड़ती हैं, उन्हें उष्ण कर देती हैं, परन्तु बीच के उस माध्यम को नहीं, जिसमें से निकलकर वह वस्तु तक पहुंचती हैं । आत्मा भी अपने अनन्त वैभव में स्थित रहता है और उसके सान्निध्य से अनात्मा चेतनवत् व्यवहार करने में सक्षम हो जाता है । अनात्मा और प्रकृति पर्यायवाची शब्द हैं ।

किसी राजा के मन में संकल्प उठा कि आगामी माह की पूर्णिमा के दिन उसको एक विशेष तीर्थ क्षेत्र को दर्शन के लिये जाना चाहिये । अपने मन्त्री को अपना संकल्प बताकर राजा उस विषय को भूल जाता है । किन्तु पूर्णिमा के एक दिन पूर्व वह मन्त्री राजा के पास पहुँचकर उसे तीर्थ दर्शन का स्मरण कराता है । दूसरे दिन जब राजा राजप्रासाद के बाहर आकर यात्रा प्रारम्भ करता है, तब देखता है कि सम्पूर्ण मार्ग में उसकी प्रजा एकत्र हुई है और स्थान-स्थान पर स्वागतद्वार बनाये गये हैं । राजा के इस तीर्थदर्शन और वापसी के लिए विस्तृत व्यवस्था की योजना बनाकर उसे सफलतापूर्वक और उत्साह सहित कार्यान्वित किया गया है । समस्त राजकीय अधिकारियों तथा प्रजाजनों ने अपनी सम्पूर्ण क्षमता और प्रयत्न को उंडेल दिया है, जिससे राजा की तीर्थयात्रा सफल हो सके ।

इन समस्त उत्तेजनापूर्ण कर्मों में प्रत्येक व्यक्ति को कर्म का अधिकार और शक्ति राजा के कारण ही थी, परन्तु स्वयं राजा इन सब कार्यों में कहीं भी विद्यमान नहीं था । राजा की अनुमति प्राप्त होने से मन्त्री की आज्ञाओं का सबने निष्ठा से पालन किया । यदि केवल सामान्य नागरिक के रूप में वही मन्त्री यह प्रदर्शन आयोजित करना चाहता, तो वह कभी सफल नहीं हो सकता था । इसी प्रकार, आत्मा की सत्ता मात्र से प्रकृति कार्यक्षमता प्राप्त कर सृष्टि रचना की योजना एवं उसका कार्यान्वियन करने में समर्थ होती है ।

व्यष्टि की दृष्टि से विचार करने पर यह सिद्धान्त और अधिक स्पष्ट हो जाता है । आत्मा केवल अपनी 'विद्यमानता' से ही मन और बुद्धि को प्रकाशित कर उनमें स्थित वासनाओं की अभिव्यक्ति एवं पूर्ति के लिये बाह्य भौतिक जगत् और उसके अनुभव के लिये आवश्यक ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को रचता है । 'मेरी

अध्यक्षता में प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है।' यहां प्रकृति का अर्थ है – अव्यक्त।

नानाविध जगत् का यह नृत्य परिवर्तन एवं विनाश की लय के साथ आत्मा की सत्तामात्र से ही चलता रहता है। "इसी कारण संसार चक्र घूमता रहता है।" उपर्युक्त विचार का अन्तिम निष्कर्ष यही निकलता है कि आत्मा सदा अकर्ता ही रहता है। आत्मा के सान्निध्य से प्रकृति चेतनता प्राप्त कर सृष्टि का प्रक्षेपण करती है। उसकी सत्ता और चेतनता आत्मा के निमित्त से है, स्वयं की नहीं। आत्मा और अनात्मा, पुरुष और प्रकृति के मध्य यही सम्बन्ध है।

स्तम्भ के ऊपर अध्यस्त प्रेत के दृष्टान्त में स्तम्भ और प्रेत के सम्बन्ध पर विचार करने से जिज्ञासु को पुरुष और प्रकृति का संबंध अधिक स्पष्टतया ज्ञात होगा।

यदि, इस प्रकार, सम्पूर्ण जगत् का मूल स्वरूप नित्यमुक्त आत्मा ही है तो क्या कारण है कि समस्त जीव उसे अपने आत्मस्वरूप से नहीं जान पाते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं:

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

समस्त भूतों के महान् ईश्वर रूप मेरे परम भाव को नहीं जानते हुए मूढ़ लोग मनुष्य शरीरधारी मुझ परमात्मा का अनादर करते हैं ॥११॥

सातवें अध्याय में ब्रह्म की परा और अपरा प्रकृति का वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने यह घोषित किया था कि मूढ़ लोग, 'मेरे अव्यय और परम भाव को नहीं जानते हैं। और परमार्थत: अव्यक्तस्वरूप मुझको व्यक्त मानते हैं।' इस अध्याय में स्वयं को सबकी आत्मा बताते हुए श्रीकृष्ण पुन: उसी कठोर शब्द 'मूढ़' का प्रयोग उन लोगों की निन्दा के लिये करते हैं, जो तत्त्व को छोड़ कर केवल रूप को ही पकड़े रहते हैं। "मेरे परम स्वरूप को नहीं जानते हुए मूढ़ लोग मुझे किसी देहविशेष में ही स्थित मानते हैं!"

प्रतिमा को ही भगवान् मानना या गुरु के शरीर को ही अनन्त परमात्मा

---

१. इसका आशय यह भी है कि वे लोग मूढ़ हैं, जो मुझ ईश्वर को समस्त मनुष्यों में पहचान नहीं पाते; मेरे भक्त सबका आदर-सम्मान इस प्रकार करेंगे मानो सभी भगवत्स्वरूप हैं।

समझना उसी प्रकार की त्रुटि या विपरीत ज्ञान है, जैसे घट को ही उसमें निहित वस्तु मान लेना है। मूर्ति तो उस इन्द्रिय अगोचर सूक्ष्म सत्य का मात्र प्रतीक है। भूखे या प्यासे होने पर केवल दूध की बोतल से खेलने से ही ताजगी अनुभव नहीं होती; वास्तव में भूखे होने पर थाली पर चम्मच बजाने से कोई सन्तोष नहीं मिलता। प्रतीक को ही ध्येय समझनें का अर्थ है – साधन को ही साध्य माननें की गलती करना। ऐसी विपरीत धारणाएं धार्मिक कट्टरता एवं असहिष्णुता को जन्म देती है जो लोगों में शत्रुता और ईर्ष्या के बीज बोती हैं। इन बीजों से, समय आने पर, केवल विपत्ति और नाश की फसल ही प्राप्त होती है! यह सब कुछ विभिन्न धर्मावलम्बियों के अपने-अपने पाषाण के देवता, काष्ठ के बने प्रतीक और पीपल के बने भगवान् के नाम पर होता है! खादी का तिरंगा कपड़ा राष्ट्रध्वज हो सकता है, परन्तु वह स्वयं मेरी मातृभूमि नहीं है; परन्तु जब ध्वजारोहण के समय मैं अपना शीश झुकाता हूं तो मैं राष्ट्र के प्रति अपना सम्मान प्रकट करता हूँ; वह ध्वज मेरे राष्ट्र की संस्कृति एवं महत्त्वाकांक्षाओं का पवित्र प्रतीक है।

इस सिद्धान्त को ध्यान में रखकर इस श्लोक का अध्ययन करने पर वह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। भगवान् कहते हैं कि 'साधारण भक्तजन मुझे भूतमात्र के महेश्वर के रूप में नहीं जानते हैं और मनुष्य शरीर धारण करने पर मेरा अनादर करते हैं।'

क्यों ये मूढ़ लोग आत्मा का सम्यक् परिचय प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं? उत्तर में कहते हैं:

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ।।१२।।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ।।१३।।

वृथा आशा, वृथा कर्म और वृथा ज्ञान वाले अविचारीजन राक्षसों के और असुरों के मोहित करने वाले स्वभाव को धारण किये रहते हैं ।।१२।।

हे पार्थ! परन्तु दैवी प्रकृति के आश्रित महात्मा पुरुष मुझे समस्त भूतों का आदिकारण और अव्ययस्वरूप जानकर अनन्यमन से युक्त होकर मुझे भजते हैं ।।१३।।

किसी तर्क को समझाने के लिए प्रायः भगवान् श्रीकृष्ण दो परस्पर विरोधी तथ्यों को एक स्थान पर ही बताने की शैली अपनाते हैं, जिससे एक दूसरे की पृष्ठ-भूमि में दोनों का स्पष्ट ज्ञान हो सके। प्रथम श्लोक में उन मोहित पुरुषों का वर्णन है, जो अपनी निम्न स्तर की प्रवृत्तियों का अनुकरण करते हैं।' दूसरे श्लोक में उन महात्मा पुरुषों का चित्रण किया गया है, जो समस्त दिव्य गुणों से सम्पन्न होते हैं। झूठी आशाओं से मोहित होकर उनकी पूर्ति के लिये वृथा के निकृष्ट कर्मों से थके हुए मूढ़ लोग विचार करने में सर्वथा भ्रमित और विचलित हो जाते हैं। ऐसे लोग जगत् की ओर देखने के दैवी दृष्टिकोण को खोकर अपने कर्मों में राक्षसी बन जाते हैं, और समस्त कालों में अपने कामुक एवं आसुरी स्वभाव का ही प्रदर्शन करते हैं। रावण की परम्परा वाले इन लोगों को ही यहां राक्षस और असुर कहा गया है।

वर्तमान में किये गये कर्म मनुष्य के मन में अपनी वासनाएं उत्पन्न करते हैं, जिसके अनुरूप ही उस मनुष्य की इच्छाएं और विचार होते हैं। वृथा और निषिद्ध कर्मों से नकारात्मक वासनाओं की ही वृद्धि होती है जो मन्दबुद्धि पुरुष की बुद्धि की जड़ता को और अधिक स्थूल कर देती हैं। ज्ञानी की दृष्टि में, मिथ्यात्व और अशुद्धता की इस खाई में रहने वाला मनुष्य एक दैत्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।

राक्षसी संस्कृति के इन लोगों से विपरीत, दैवी स्वभाव के महात्मा पुरुष होते हैं। दूसरा श्लोक हमें दर्शाता है कि इन ज्ञानी पुरुषों का अनुभव और कर्म किस प्रकार का होता है। इन दोनों के दर्शाये अन्तर से आत्मोन्नति के साधक को चाहिये कि वे कर्मों में सही भावना और जगत् की ओर देखनें के सही दृष्टिकोण को अपनायें।

दैवी गुणों से सम्पन्न महात्मा पुरुष अनन्यभाव से मुझ अनन्त अमृतस्वरूप का ही साक्षात्कार चाहते हैं।' वे जानते हैं कि मैं भूतमात्र का आदिकारण हूँ; जो लोग मिट्टी को जानते हैं, वे मिट्टी के बने सभी घटों में मिट्टी को देख पाते हैं। इसी प्रकार, हिन्दू संस्कृति के वे सच्चे सुपुत्र जो इस चैतन्य आत्मा को जगत् के आदि कारण के रूप में जानते हैं, समाज के अन्य व्यक्तियों को अपने समान ही देखते और उनका आदर करते हैं। सम्पूर्ण विश्व में इससे अधिक महान् और प्रभावशाली समाजवाद न कभी पढ़ाया गया है और न प्रचारित ही किया गया है। यदि वर्तमान पीढ़ी इस आध्यात्मिक समाजवाद को समझ नहीं पाती या पसंद नहीं करती हैं, जो कि वास्तव में विश्व की समस्त व्याधियों और बुराइयों की, एकमात्र रामबाण औषधि है, तो उसका कारण पूर्व के श्लोक में ही वर्णित है कि, "लोग आसुरी और राक्षसी प्रकृति के वशात् मोहित हुए हैं।"

महात्मा पुरुष अनन्य भाव से आपको किस प्रकार भजते हैं ?

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ।।१४।।

सतत मेरा कीर्तन करते हुए, प्रयत्नशील, दृढ़व्रती पुरुष मुझे नमस्कार करते हुए, नित्ययुक्त होकर भक्तिपूर्वक मेरी उपासना करते हैं ।।१४।।

पूर्व श्लोक में महात्माओं का वर्णन करते समय, 'ज्ञानमार्ग' का संकेत किया गया था ।[1] अब यहां, आत्मसंगठन एवं आत्मविकास के दो अन्य मुख्य मार्ग बताये गये हैं : अनन्य भक्ति और यज्ञ भावना से किये जाने वाले निष्काम कर्म ।

सतत मेरी कीर्ति का गान करते हुए – सामान्यतः कीर्तन के नाम पर बेसुरे वाद्यों के साथ समान रूप से बेसुरी आवाज में लोग उच्च स्वर से भजन कीर्तन करते हैं! यह कीर्तन का अत्यन्त विकृत रूप है । कीर्तन का आशय इससे कहीं अधिक पवित्र है। वास्तव में, श्रद्धा-भक्ति पूर्वक अपने आदर्श ईश्वर की पूजा करना और उनके यश-कीर्ति-प्रताप का गान करना, उस मन की मौन क्रिया है जो विकसित होकर अपने आदर्श को सम्यक् रूप से समझता है तथा जिसका गौरव गान करना उसने सीखा हैं । अनेक लोग दिनभर संदिग्ध कार्यों में व्यस्त रहते हुये रात्रि में किसी स्थान पर एकत्रित होकर उच्च स्वर में कुछ समय तक भजन–कीर्तन करते हैं और तत्पश्चात् उन्हीं अवगुणों के कार्य क्षेत्रों में पुनः लौट जाते हैं । इन लोगों के कीर्तन की अपेक्षा सामाजिक कार्यकर्ताओं की समाज सेवा और ज्ञानी पुरुष के हृदय में प्राणिमात्र के लिये उमड़ता हुआ प्रेम ईश्वर का अधिक श्रेष्ठ और प्रभावशाली कीर्तन है ।

यतन्तश्च दृढव्रताः (दृढ़निश्चय से प्रयत्न करते हुए) – ये कुछ सरल एवं सामान्य तर्कसंगत तथ्य हैं जिन पर साधारणतः ध्यान नहीं दिया जाता और परिमाण स्वरूप साधक गण अपने ही हाथों अपनी आध्यात्मिक सफलता का शवागर्त खोदते हैं । अधिकतर लोगों की धारणा यह होती है कि सप्ताह में किसी एक दिन केवल शरीर से यन्त्र के समान पूजन-अर्चन, व्रत–उपवास आदि करने मात्र से धर्म के प्रति उनका उत्तरदायित्व समाप्त हो जाता है । उन्हें इतना करना ही पर्याप्त प्रतीत होता है । फिर शेष कार्य उनके काल्पनिक देवताओं का है, जो साधना के फल को तैयार करके इनके सामने लायें, जिससे ये लोग उसका भोग कर सकें ! इस विवेक-

---

१. 'मुझे जगत् का आदि कारण और अव्यय स्वरूप जानकर वे मुझे भजते हैं ।'

हीन, अन्धश्रद्धाजनित धारणा का आत्मोन्नति के विज्ञान से किञ्चित् मात्र संबन्ध नहीं है। वास्तव में धर्म तो तत्त्वज्ञान का व्यावहारिक पक्ष है।

यदि कोई व्यक्ति वर्तमान जीवन एवं रहन-सहन सम्बन्धी गलत विचारधारा और झूठे मूल्यांकन की लीक से हटकर आत्मोन्नति के मार्ग पर अग्रसर होना चाहता हो, तो उसके लिये सतत और सजग प्रयत्न अपरिहार्य है। जीवन में जो असामंजस्य वह अनुभव करता है, और उसके मन की वीणा पर जीवन की परिस्थितियां जिन वर्जित स्वरों की झंकार करती हैं – इस सब का कारण उसके अनुभव के उपकरणों (इन्द्रियां, मनबुद्धि) की अव्यवस्था है। उन्हें पुनर्व्यवस्थित करने के लिए अखण्ड सावधानी, निरन्तर प्रयत्न और दृढ़ लगन की आवश्यकता है। इस प्रकार आत्मोद्धार के लिए प्रयत्न करते समय, शारीरिक कामवासनाओं को उद्दीप्त करने वाले प्रलोभन साधक के पास आकर कानाफूसी करके उसे 'निषिद्ध फल' को खाने के लिए प्रेरित करते हैं, परन्तु ऐसे प्रबल प्रलोभनों के क्षणों में उसे मिथ्या का त्याग करने का और सत्य के मार्ग पर स्थिरता से चलने का दृढ़ निश्चय करना चाहिए।

विशुद्ध प्रेम ही वास्तविक भक्ति है। प्रेमी का प्रेमिका अथवा अपने प्रेम के विषय के साथ हुआ तादात्म्य प्रेम का मापदण्ड है। 'भूत मात्र के आदि कारण और अव्यय स्वरूप मुझ से भक्ति' ही वह मार्ग है, जिसके द्वारा मोहित जीव अपने आत्मस्वरूप के साथ तादात्म्य प्राप्त कर सकता है। इसकी सफल परिसमाप्ति अनात्मउपाधियों से वैराग्य प्राप्त होने से ही होगी। अनात्मा से मन को परावृत्त करने की साधना को यहां 'मुझे नमस्कार करते हुए' शब्द के द्वारा सूचित किया गया है। आत्मसाक्षात्कार की विधेयात्मक साधना यह है कि साधक एकाग्र मन से आत्मस्वरूप का ही चिन्तन करके अन्त में स्वस्वरूपानुभूति में स्थित हो जाता है। इस विधेयात्मक पक्ष को 'भक्त्या' शब्द के द्वारा बताया गया है। मिथ्या उपाधियों से मन को निवृत्त करके आत्मचिन्तन के द्वारा आत्मसाक्षात्कार केवल उन लोगों को उपलब्ध होता है जो 'मुझ से नित्ययुक्त हैं और मेरी उपासना करते हैं। ज्ञानमार्ग में, कर्मकाण्ड की पूजा के समान न पुष्पार्पण करना है और न चन्दन चर्चित करना है। मन में आत्मचिन्तन की अखण्ड सजग वृत्ति बनाये रखना ही उस परमात्मा की – जो समस्त जगत् का अधिष्ठान और भूतमात्र की आत्मा है – वास्तविक पूजा है। यह पूजा हमारे अहंकारमय जीवन की कलियों को विकसित करके ईश्वरीय पुरुष के फूल रूप में खिला सकती है, और उनकी पूर्णता की सुगन्ध सर्वत्र प्रवाहित करके ले जा सकती है।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

कोई मुझे ज्ञानयज्ञ के द्वारा पूजन करते हुए एकत्वभाव से उपासते हैं, कोई पृथक भाव से, कोई बहुत प्रकार से मुझ विराट स्वरूप (विश्वतो मुखम्) को उपासते हैं ।।१५।।

ज्ञानयज्ञ में कोई कर्मकाण्ड नहीं होता । इस यज्ञ के यजमान साधक का यह सतत प्रयत्न होता है कि दृश्यमान विविध नामरूपों में एकमेव् चैतन्य स्वरूप आत्मा की अभिव्यक्ति और चेतनता को वह देखे और अनुभव करे । यह साधना वे साधक ही कर सकते हैं, जिन्होंने वेदान्त के इस प्रतिपादन को समझा है कि अव्यय आत्मा सर्वत्र व्याप्त है और अपने सत्स्वरूप में इस दृश्यमान बहुलता तथा उनकी परस्पर वैचित्र्यपूर्ण क्रियाओं को धारण किये हुये है ।

विभिन्न व्यावसायिक प्रतिष्ठानों द्वारा निर्मित चॉकलेटों के आकार, रंग, स्वाद, मूल्य आदि भिन्न–भिन्न होते हुए भी सब चॉकलेट ही हैं, और इसलिये उन सबका वास्तविक धर्म–मधुरता, सभी में एक समान होता है । उस मधुरता को चाहने वाले बालक सभी प्रकार के चाकलेटों को प्रसन्नता से खाते हैं ।

इसी प्रकार आत्मज्ञान का साधक सभी नाम और रूपों में, सभी परिस्थितियों और दशाओं में एक ही आत्मा की अभिव्यक्ति का अवलोकन करता है, निरीक्षण करता है और पहचानता है । जिस किसी आभूषण विशेष में हीरे जड़े हुए हों, हीरे के व्यापारी के लिये वे सब प्रकाश और आभा के बिन्दु ही हैं । वह उनकी आभा के अनुसार उनका मूल्यांकन करता है, न कि उस आभूषण की रचनाकृति या सौन्दर्य को देखकर ।

आत्मानुभवी पुरुष अपने आत्मस्वरूप को सब प्रकार के कर्मों, शब्दों और विचारों में व्यक्त देखते हुए जगत् में विचरण करता है । जिस प्रकार सहस्र दर्पणों के मध्य स्थित दीपज्योति के करोड़ों प्रतिबिम्ब सर्वत्र दिखाई देते हैं, उसी प्रकार, आत्मस्वरूप में स्थित ज्ञानी पुरुष जब जगत् में विचरण करता है, तब वह सर्वत्र अपनी आत्मा को ही नृत्य करते हुए देखता है, जो उस पर सब ओर से कटाक्ष करती हुई उसे सदैव पूर्णत्व के आनन्द से हर्षविभोर करती रहती है ।

नेत्रों की दीप्ति में, मित्र की मन्दस्मिति और शत्रु के कृत्रिम हास्य में, ईर्ष्या के कठोर शब्दों में और प्रेम के कोमल स्वरों में, शीत और ऊष्ण में, जय और पराजय में, समस्त मनुष्यों, पशुओं, वृक्ष लताओं में और जड़ वस्तुओं के संग में सर्वत्र वह सच्चिदानन्द परमात्मा का ही मंगल दर्शन करता है !! यही अर्थ है ईश्वर दर्शन अथवा आत्मदर्शन का, जिसका विश्व के समस्त धर्मशास्त्रों में गौरव से गान किया गया है । असंख्य नामरूपों में ईश्वर की मन्द स्मिति को देखना और पहचानने का

अर्थ ही निरन्तर ज्ञानयज्ञ की भावना में रमना और जीना है ।

समस्त रूपों में 'उसकी' पूजा करना, समस्त परिस्थितियों में 'उसका' ध्यान रखना, मन की समस्त वृत्तियों के साथ 'उसका' अनुभव करना ही आत्मा के अखण्ड स्मरण में जीना है । ऐसे पुरुष 'ज्ञानयज्ञ के द्वारा मेरी उपासना करते हैं ।'

प्रारम्भिक अवस्था में सर्वत्र आत्मदर्शन की साधना प्रयत्न साध्य होने के कारण उसमें साधक को कष्ट और तनाव का अनुभव होता है । परन्तु जैसे-जैसे साधक की अध्यात्म दृष्टि विकसित होती जाती है, वैसे–वैसे उसके लिए यह साधना सरल बनती जाती है, और वह एक ही आत्मा को इसके ज्योतिमय वैभव के असंख्य रूपों में छिटक कर फैली हुई देखता है । यही है 'विश्वतो मुखम्' ईश्वर का विराट स्वरूप ।

ज्ञानी पुरुष न केवल यह ज्ञानता है कि नानाविध उपाधियों से आत्मा सदा असंस्पर्शित है, अलिप्त है, वरन् वह यह भी अनुभव करता है कि विश्व की समस्त उपाधियों में वही एक आत्मा क्रीड़ा कर रही है । एक बार आकाश में स्थित जगत् से अलिप्त सूर्य को पहचान लेने पर, यदि हम उसके असंख्य प्रतिबिम्ब भी दर्पणों या जल में देखें, तब भी एक सूर्य होनें का हमारा ज्ञान लुप्त नहीं हो जाता । सर्वत्र हम उस एक सूर्य को ही देखते और पहचानते हैं ।

यदि कोई पुरुष अपनें मन की शान्ति और समता को किसी एकान्त और शान्त स्थान में ही बनाये रख सकता है, तो वेदान्त के अनुसार, उसका आत्मानुभव कदापि पूर्ण नहीं कहा जा सकता है । यदि केवल समाधि स्थिति के विरले क्षणों में ही उसे आत्मानुभूति होती है, तो ऐसा पुरुष, वह तत्त्वदर्शी नहीं है, जिसकी उपनिषद् के ऋषियों ने प्रशंसा की है । यह तो हठयोगियों का मार्ग है । अन्तर्बाह्य सर्वत्र एक ही आत्मतत्त्व को पहचानने वाला ही वास्तविक ज्ञानी पुरुष है । 'एक तत्त्व सबको व्याप्त करता है परन्तु उसे कोई व्याप्त नहीं कर सकता ।' ऐसे अनुभवी पुरुष के लिये किसी व्यापारिक केन्द्र का अत्यन्त व्यस्त एवं तनावपूर्ण वातावरण आत्मदर्शन के लिये उतना ही उपयुक्त है जितना हिमालय की घाटियों की अत्यन्त शान्त और एकान्त कन्दराओं का । वह चर्मचक्षुओं से नहीं, वरन् ज्ञान के अन्तःचक्षुओं से सर्वत्र एकमेव अद्वितीय आत्मा का ही दर्शन करता है ।

मेरे हाथों और पैरों में, मैं सदा एक समान व्याप्त रहता हूं । मैं जानता हूं कि मैं उन सब में हूँ । क्या इस ज्ञान से मेरे हाथ पैर लुप्त हो जाते हैं, जैसे सूर्योदय पर कोहरा ? यदि कोई ऐसा कहता है, तो वह खिल्ली उड़ाकर जाने वाला पागलपन ही है, कोई वैज्ञानिक कथन नहीं । जैसे एक ही समय में अपने शरीर के अंग-

प्रत्यंग में स्थित हुआ जाग्रत अवस्था में जगत् का अनुभव करता हूं, वैसे ही, आत्मज्ञानी पुरुष जानता है कि उसकी आत्मा ही अपने अनन्त साम्राज्य में सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त किये हुए है – एक रूप में, पृथक रूप में और विविध रूप में ।

वेदान्त प्रतिपादित दिव्यत्व की पहचान और अनन्त का अनुभव अन्तर्बाह्य जीवन में है । कोई संयोगवश प्राप्त यह क्षणिक अनुभव नहीं है । यह कोई ऐसा अवसर नहीं है कि जिसे लड्डू वितरित कर मनाने के पश्चात् सदा के लिये उस अनुभव से निवृत्ति हो जाय । जिस प्रकार विद्यालयी शिक्षा से मनुष्य द्वारा प्राप्त किया गया ज्ञान समस्त कालों और परिस्थितियों में – यहां तक कि स्वप्न में भी उसके साथ रहता है, उससे भी कहीं अधिक शक्तिशाली, कहीं अधिक अन्तरंग और कहीं अधिक दृढ़ ज्ञानी पुरुष का आत्मानुभव होता है । आत्मवित् आत्मा ही बन जाता है । इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं है । वेदान्त के द्वारा प्रतिपादित इस सत्य की पुष्टि दूसरी पंक्ति में की गयी है कि "मुझ विराट स्वरूप परमात्मा को वे एकत्व भाव से, पृथक् भाव से और अन्य कई प्रकार से उपासते हैं ।"

अब तक हमने जो विवेचन किया है उसे यहां प्रमाणित किया गया है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब ध्यानाभ्यास के द्वारा मन प्रशान्त हो जाता है, तब एकमेव अद्वितीय आत्मा का उसके शुद्ध स्वरूप में अनुभव होता है । मिट्टी का ज्ञाता मिट्टी के बने विभिन्न प्रकार के घंटों में एक ही मिट्टी को सरलता से देख सकता है; घटों के रूप, रंग ओर आकार उसके मिट्टी के ज्ञान को नष्ट नहीं कर सकते । इसी प्रकार पारमार्थिक सत्य पर जो आभासिक और मोहक नाम और रूप अध्यस्त हैं, वे ज्ञानी पुरुष की दृष्टि से सत्य को न कभी आच्छादित कर सकते हैं और न वे ऐसा करते ही है । सत्य के द्रष्टा ऋषि आत्मा को न केवल प्रत्येक व्यक्ति में पृथक्-पृथक् रूप से पहचानते हैं, वरन् जैसा कि यहां वेदान्त के समर्थक भगवान् श्रीकृष्ण उद्घोष करते हैं 'ज्ञानीजन सत्य को प्रत्येक रूप में पहचानते हैं, जो विश्वतोमुख है अर्थात् जिसके मुख सर्वत्र हैं ।' यह कहना सर्वथा असंगत है कि मिट्टी का ज्ञाता मिट्टी को घट के केवल दक्षिण या वाम भाग में ही पहचानता है ! मिट्टी उस घट में सर्वत्र व्याप्त है और जहाँ मिट्टी नहीं वहां घट भी नहीं है । यदि आत्मा का अभाव हो, तो सृष्टि की विविधता की प्रतीति या दर्शन कदापि सम्भव नहीं हो सकता ।

यदि विविध रूपों में, विभिन्न प्रकार से पूजा और उपासना की जाती हो, तो वे सब एक ही परमात्मा की पूजा कैसे हो सकती है ?

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

मैं क्रतु हूँ; मैं यज्ञ हूं; स्वधा और औषध मैं हूं, मैं मन्त्र हूं, घी हूं, मैं अग्नि हूं और हुतं अर्थात् हवन कर्म मैं हूं ॥१६॥

इस श्लोक में उक्त विचार को इसके पूर्व भी एक प्रसिद्ध श्लोक में व्यक्त किया गया था। हवन क्रिया तथा उसमें प्रयुक्त विविध सामग्रियों के रूपक के द्वारा इस श्लोक में आत्मा की सर्वरूपता एवं सर्वात्मकता का बोध कराया गया है। कर्मकाण्ड में वर्णित कर्मानुष्ठान ही पूजाविधि है। वेदों में उपदिष्ट यज्ञकर्म को क्रतु तथा स्मृति-ग्रन्थों में कथित कर्म को यज्ञ कहा जाता है, जिनका अनुष्ठान महाभारत काल में किया जाता था। पितरों को दिया जाने वाला अन्न स्वधा कहलाता है। अर्जुन को यहां उपदेश में बताया गया है कि उपर्युक्त ये सब क्रतु आदि "मैं ही हूँ।"

इतना ही नहीं वरन् यज्ञकर्म में प्रयुक्त औषधि, अग्नि में आहुति के रूप में अर्पित किया जाने वाला घी (आज्यम्), अग्नि, कर्म में उच्चारित मन्त्र और हवन क्रिया ये सब विविध रूपों में आत्मा की ही अभिव्यक्ति हैं। जब स्वर्ण से अनेक आभूषण बनाये जाते हैं, तब स्वर्ण निश्चय ही यह कह सकता है कि 'मैं कुण्डल हूं, मैं अंगूठी हूं, मैं कण्ठी हूं, मैं इन सब की चमक हूँ' आदि। इसी प्रकार, आत्मा ही सब रूपों का, घटनाओं आदि का सारतत्त्व होने के कारण भगवान् श्रीकृष्ण का उक्त कथन दार्शनिक बुद्धि के सभी पाठकों को स्वीकार्य होगा।

और :

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

मैं ही इस जगत् का पिता, माता, धाता (धारण करने वाला) और पितामह हूं; मैं वेद्य (जानने योग्य) वस्तु हूं, पवित्र ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूं ॥१७॥

आत्मा कोई अस्पष्ट, अगोचर सत् तत्त्व नहीं कि जो भावरहित, संबंध रहित और गुण रहित हो। यह दर्शाने के लिये कि यही आत्मा ईश्वर के रूप में परम प्रेमस्वरूप है, परिच्छिन्न जगत् के साथ उसके सम्बन्धों को यहां दर्शाया गया है। 'मैं जगत् का पिता, माता, धाता और पितामह हूँ।' माता, पिता और धाता इन तीनों से अभिप्रायः यह है कि वह जगत् का एक मात्र कारण है; और उसका कोई कारण नहीं है। यह तथ्य 'पितामह' शब्द से दर्शाया गया है। परमात्मा स्वयं सिद्ध है।

यहां विशेष बल देकर कहा गया है कि 'जानने योग्य एकमेव वस्तु (वेद्य) मैं हूं ।' इस बात को सभी धर्मशास्त्रों में बारम्बार कहा गया है । आत्मा 'वह तत्त्व है जिसे जान लेने पर, अन्य सब कुछ ज्ञात हो जाता है ।' आत्मबोध से अपूर्णता का, सांसारिक जीवन का और मर्मवेधी दुःखों का अन्त हो जाता है । देहधारी जीव के रूप में जीने का अर्थ है, अपनी दैवी सामर्थ्य से निष्कासित जीवन को जीना । वास्तव में हम तो दैवी सामर्थ्य के उत्तराधिकारी हैं: परन्तु अज्ञानवश जीव भाव को प्राप्त हो गये हैं । अपने इस परमानन्द स्वरूप का साक्षात्कार करना ही वह परम-पुरुषार्थ है, जो मनुष्य को पूर्णतया सन्तुष्ट कर सकता है ।

सम्पूर्ण विश्व के अधिष्ठान आत्मा को वेदों में ओंकार के द्वारा सूचित किया गया है । हम अपने जीवन में अनुभवों की तीन अवस्थाओं में से गुजरते हैं – जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति । इन तीनों अवस्थाओं का अधिष्ठान और ज्ञाता (अनुभव करने वाला) इन तीनों से भिन्न होना चाहिए, क्योंकि ज्ञाता ज्ञेय वस्तु से और अधिष्ठान अध्यस्त से भिन्न होता है ।

इन तीनों अवस्थाओं से भिन्न उस तत्त्व को; जो इन को धारण किये हुए है, उपनिषद् के ऋषियों ने तुरीय अर्थात् चतुर्थ कहा है । इन चारों को जिस एक शब्द के द्वारा वेदों में सूचित किया गया है वह शब्द है "ॐ" । ओम् ही आत्मा है, जिसकी उपासना के लिये भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा श्रीमद्भागवत में वर्णित है ।

प्रणव के द्वारा लक्षित आत्मा ही वह वेद्य वस्तु है, जो पारमार्थिक सत्य है, जिसको कभी प्रत्यक्ष तो कभी अप्रत्यक्ष अथवा मौनरूप से वेदों में निर्देशित किया गया है । इसलिये यहाँ कहा गया है कि 'मैं ऋग्वेद, सामवेद, और यजुर्वेद हूं ।'

आगे कहते हैं :

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ।।१८।।

गति (लक्ष्य), भरण-पोषण करने वाला, प्रभु (स्वामी), साक्षी, निवास, शरणस्थान तथा मित्र और उत्पत्ति, प्रलय रूप तथा स्थान (आधार), निधान और अव्यय कारण भी मैं हूं ।।१८।।

आत्मस्वरूप का वर्णन करने वाले प्रसंग का ही यहां विस्तार है । आत्मा अधिष्ठान है इस सम्पूर्ण दृश्यमान नानाविध जगत् का, जो हमें आत्मअज्ञान की दशा में प्रतीत हो रहा है । वास्तव में यह परम सत्य पर अध्यारोपित है । आत्मस्वरूप से

तादात्म्य कर भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं का वर्णन अनेक सांकेतिक शब्दों के द्वारा करते हैं। ऐसे इन सारगर्भित शब्दों से निर्मित मालारूपी यह एक अत्युत्तम श्लोक है, जिस पर सभी साधकों को मनन करना चाहिये।

मैं गति हूं – पूर्णत्व के अनुभव में हमारी समस्त अपूर्णताएं नष्ट हो जाती हैं और उसके साथ ही अनादिकाल से चली आ रही परम आनन्द की हमारी खोज भी समाप्त हो जाती है। रज्जु (रस्सी) में मिथ्या सर्प को देखकर भयभीत हुए पुरुष को सांत्वना और सन्तोष तभी मिलता है, जब रस्सी के ज्ञान से सर्प भ्रम की निवृत्ति हो जाती है। दुःखपूर्ण प्रतीत होने वाले इस जगत् का अधिष्ठान आत्मा है। उस आत्मा का साक्षात्कार करने का अर्थ है समस्त श्वासरोधक बन्धनों के परे चले जाना। वह पारमार्थिक ज्ञान जिसे जानकर अन्य सब कुछ ज्ञात हो जाता है, उसे यहां आत्मा के रूप में दर्शाया गया है।

मैं भर्ता हूं – जैसे रेगिस्तान उस मृगजल का आधार है – धारण करने वाला है, जिसे एक प्यासा व्यक्ति भ्रान्ति से देखता है, वैसे ही, आत्मा सबको धारण करने वाला है। अपने सत्स्वरूप से वह इन्द्रियगोचर वस्तुओं को सत्ता प्रदान करता है, और समस्त परिवर्तनों के प्रवाह को एक धारा में बांधकर रखता है। इसके कारण ही अनुभवों की अखण्ड धारा रूप जीवन का हमें अनुभव होता है।

मैं प्रभु हूं – यद्यपि समस्त कर्म उपाधियों के द्वारा किये जाते हैं, परन्तु वे स्वयं जड़ होने के कारण यह स्पष्ट होता है कि उन्हें चेतनता किसी अन्य से प्राप्त हुई है। वह चेतन तत्त्व आत्मा है। उसके अभाव में उपाधियां कर्म में असमर्थ होती हैं; इसलिये यह आत्मा ही उनका प्रभु अर्थात् स्वामी है।

मैं साक्षी हूं – यद्यपि आत्मा चैतन्य स्वरूप होने के कारण जड़ उपाधियों को चेतनता प्रदान करता है, तथापि वह स्वयं संसार के आभासिक और भ्रान्तिजन्य सुखों एवं दुःखों के परे होता है। इस दृश्य जगत् को आत्मा से ही अस्तित्व प्राप्त हुआ है, परन्तु स्वयं आत्मा मात्र साक्षी है। साक्षी उसे कहते हैं 'जो किसी घटना को घटित होते हुए समीप से देखता है, परन्तु उसका घटना से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता है। बिना किसी राग या द्वेष के वह उस घटना को देखता है।' जब किसी व्यक्ति की उपस्थिति में कोई घटना स्वतः हो जाती है, तब वह व्यक्ति उसका साक्षी कहलाता है। अनन्त आत्मा साक्षी है, क्योंकि वह स्वयं अलिप्त रहकर बुद्धि के अन्तःपुर, मन की रंगभूमि, शरीर के आंगन और बाह्य जगत् के विस्तार को प्रकाशित करता है।

मैं निवास हूं – समस्त चराचर जगत का निवास स्थान आत्मा है। सड़क के किनारे खड़े किसी स्तम्भ पर किन्हीं यात्रियों ने दाँत निकाले हुए भूत को देखा,

कुछ अन्य लोगों ने मन्दस्मित भूत को देखा, तो दूसरों ने वहीं पर एक नग्न विकराल भूत को देखा, जिसका मुँह रक्त से सना हुआ था और आंखें चमक रहीं थीं. उसी प्रकार कुछ अन्य लोग भी थे, जिन्होंने आमन्त्रित करते हुए से श्वेत वस्त्र धारण किये हुए भूत को देखा, जो प्रेमपूर्वक उन्हें सही मार्ग को दर्शा रहा था। एक ही स्तम्भ पर उन सभी लोगों ने अपनी-अपनी भ्रामक कल्पनाओं का प्रक्षेपण किया था। स्वाभाविक है कि, वह स्थाणु उन समस्त प्रकार के भूतों का 'निवास' कहलायेगा। इसी प्रकार जहां कहीं भी हमारी इन्द्रियां और मन को बहुविध दृश्यजगत् का आभास होता है, उन सबके लिये आत्मा ही अस्तित्व और सुरक्षा का 'निवास' है।

शरणम् – मोह, शोक को जन्म देता है, जबकि ज्ञान आनन्द का जनक है। मोहजनित होने के कारण यह संसार दुःखपूर्ण है। विक्षुब्ध संसार सागर की पर्वताकार उत्ताल तरंगों पर दुःख पा रहे भ्रमित जीव के लिये जगत् के अधिष्ठान आत्मा का बोध शांति का शरणस्थल है। एक बार जब आत्मा शरीर, मन और बुद्धि के साथ तादात्म्य कर व्यष्टि जीव भाव को प्राप्त होकर बाह्य जगत् में क्रीड़ा करने जाता है, तब वह सागर तट की सुरक्षा से दूर तूफानी समुद्र में भटक जाता है। जीव की इस जर्जर नाव को जब सब ओर से भयभीत और प्रताड़ित किया जाता है ऊपर घिरती हुई काली घटाएं, नीचे उछलता हुआ क्रुद्ध समुद्र, और चारों ओर भयंकर गर्जन करता हुआ तूफान – तब नाविक के लिये केवल एक ही शरण–स्थल रह जाता है, और वह शान्त पोत-स्थान है–आत्मा !

आत्मा का उपर्युक्त वर्णन सत्य के विषय में ऐसी धारणा को जन्म देता है मानो वह सत्य निष्ठुर है या एक अत्यन्त प्रतिष्ठित देवता है, या एक अप्राप्य पूर्णत्व है। अर्जुन जैसे भावुक साधकों के कोमल हृदय से इस प्रकार की धारणा को मिटा देने के लिये वह सनातन सत्य, मनुष्य के प्रिय मित्र श्रीकृष्ण के रूप में स्वयं का परिचय देते हुए अब मानवोचित शब्दों का प्रयोग करते हैं।

मैं मित्र हूँ – अनन्त परमात्मा परिच्छिन्न जीव का मित्र है। उसकी यह मित्रता नमस्कार तक ही सीमित नहीं, वरन् उसकी आतुरता अपने मित्र की सुरक्षा और कल्याण के लिये होती है। प्रत्युपकार की अपेक्षा किये बिना मित्र पर उपकार करने वाला मनुष्य 'सुहृत्' कहलाता है।

मैं प्रभव, प्रलय, स्थान और निधान हूँ – जैसे आभूषणों में स्वर्ण और घटों में मिट्टी है, वैसे ही आत्मा सम्पूर्ण विश्व में है। इसलिए सभी का उत्पत्ति, स्थिति और लय स्थान वही हो सकता है। इसी कारण से उसे यहां 'निधान' कहा गया है, क्योंकि सभी नाम, रूप एवं गुण इसी में निहित रहते हैं।

मैं अव्यय बीज हूं – सामान्य बीज अंकुरित होकर और वृक्ष को जन्म देकर

स्वयं नष्ट हो जाते हैं, परन्तु यह बीज सामान्य से सर्वथा भिन्न है। आत्मा निःसन्देह ही इस संसार वृक्ष का बीज है, परन्तु इस वृक्ष की उत्पत्ति में स्वयं आत्मा परिणाम को नहीं प्राप्त होता, क्योंकि वह अव्ययस्वरूप है। यह धारणा कि सनातन सत्य परिणाम को प्राप्त होकर यह सृष्ट जगत् बन गया है, मनुष्य की तर्क बुद्धि को एक कलंक है; और वेदान्त ऐसी दोषपूर्ण अयुक्तिक धारणा को अस्वीकार करता है, परन्तु द्वैतवादी इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं, अन्यथा उनका तर्कों का महल ही धराशायी होकर चूर-चूर हो जायेगा, जैसे शरद ऋतु के आकाश में निर्मित मेघों का किला छिन्न-भिन्न हो जाता है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, यह श्लोक सरल किन्तु सारगर्भित शब्दों से पूर्ण है, जिसमें प्रत्येक शब्द साधक के मनन के लिये छायावृत मार्ग है, जिस पर आनन्दपूर्वक टहलते हुए सत्य के द्वार तक पहुंचा जा सकता है।

भगवान् आगे कहते हैं :

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

हे अर्जुन ! मैं ही (सूर्य रूप में) तपता हूं; मैं वर्षा का निग्रह और उत्सर्जन करता हूं। मैं ही अमृत और मृत्यु एवं सत् और असत् हूं ॥१९॥

मैं तपता हूं – विद्युत् का यह कहना उपयुक्त होगा कि वह उष्णक (हीटर) में उष्णता, बल्ब में प्रकाश और शीतक (फ्रीज) में शीतलता देती है; क्यों इन उपकरणों के द्वारा विद्युत् ही उष्णता आदि के रूप में व्यक्त होती है। इसी प्रकार, एक सत्स्वरूप आत्मा दृश्य प्रकृति की एक वस्तु सूर्य के साथ तादात्म्य कर समस्त जगत् के लिये उष्णता का स्रोत बन जाता है।

मैं वर्षा का निग्रह और उत्सर्जन करता हूं – ऐसी बात नहीं है कि केवल आधुनिक मौसम विज्ञान के विशेषज्ञों ने ही जगत् में जलवायु की स्थिति पर सूर्य के प्रभाव को समझा है। प्राचीन ऋषियों को भी प्रकृति के स्वभाव एवं व्यवहार का पूर्ण ज्ञान था। वे जानते थे कि सूर्य की स्थिति, दशा एवं स्वरूप जलवायु को निश्चित करता है, जो जगत् के लिये कभी वरदान या अभिशाप बनकर आता है। पृथ्वी के प्रत्येक प्राणी के अनुभव-क्षेत्र को सूर्य नियन्त्रित और प्रभावित करता है, क्योंकि वह जलवायु का नियामक है। यदि सूर्य की उष्णता में कुछ अंशों में वृद्धि हो जाय, तो विश्व के सम्पूर्ण वनस्पति और पशु जीवन में परिवर्तन हो जायेगा। उसी प्रकार, यदि सूर्य अपनी कलोरी उष्णता को देना कम कर दे, उससे होने वाला परिवर्तन

इनता अधिक होगा कि वर्तमान जगत् का रूप ही सर्वथा परिवर्तित हो जायेगा। तत्काल ही, उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव से गति भूमध्य रेखा की ओर होगी और प्राणीमात्र को बलात् पृथ्वी के मध्य भाग में खींच कर ले आयेगी, जहाँ अत्यधिक जनसंख्या के दबाव और पर्याप्त अन्न के अभाव में दुःख ही दुःख होगा !

मैं अमृत और मृत्यु हूँ – मृत्यु का अर्थ है परिवर्तन। चैतन्य के बिना इस परिवर्तनशील जगत् की न सत्ता है और न भान। अतः यहाँ कहा गया है कि 'मैं' मृत्यु हूँ।" पुनः, इन परिवर्तनों का जो प्रकाशक आत्मा है, उसको अपरिवर्तनशील होना ही चाहिये। वह आत्मा 'अमृत' है। आत्मा स्वयं 'अमृत' रहते हुये 'मृत्यु' को प्रकाशित करती है।

मैं सत् और असत् हूँ – कोई वस्तु 'है' और कोई 'नहीं' है इन दोनों सत् (है) और असत् (नहीं हैं) का एक भावस्वरूप प्रकाशक होना अनिवार्य है। उसके बिना इनका अनुभव नहीं हो सकता। आत्यन्तिक अभाव को जानना या अनुभव करना असंभव है, जहाँ कहीं हमें अभाव का ज्ञान होता है वह इसी रूप में होता है कि "अमुक वस्तु का अभाव 'है' !"

इस अत्यन्त सूक्ष्य दार्शनिक व्याख्या के अतिरिक्त इन दो शब्दों – सत् और असत् का सरल अभिप्राय भी है। इन्द्रियगोचर, स्थूल व्यक्त वस्तु को 'सत्' तथा सूक्ष्म, अव्यक्त वस्तु को 'असत्' कहा जाता है। अथवा सत् और असत् शब्द से क्रमशः कार्य और कारण को भी वेदान्त में सूचित किया जाता है। प्रकाशक चैतन्य आत्मा के बिना सत् (बाह्य विषय) और असत् (मन की विचार वृत्ति) का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः यहाँ कहा गया है कि इन दोनों का मूल स्वरूप आत्मा है। मिट्टी के बिना घटों का कोई अस्तित्व नहीं होता, अतः मिट्टी यह दावा कर सकती है कि "सभी आकारों, रंगों और रूपों वाले घट मैं ही हूँ।"

ध्यान के आसन पर साधकों के लिये यह श्लोक जीवन पर्यन्त प्रेरणादायक बन सकता है।

जो अज्ञानी लोग सकाम भावना से ईश्वर की पूजा करते हैं, वे अपने इष्टफल को प्राप्त करते हैं। कैसे ?

भगवान् कहते हैं :

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकम्
अश्नन्ति दिव्यान्दिवि देव भोगान् ॥२०॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्म्यमनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ।।२१।।

तीनों वेदों के ज्ञाता (वेदोक्त सकाम कर्म करने वाले), सोमपान करने वाले एवं पापों से पवित्र हुए पुरुष मुझे यज्ञों के द्वारा पूजकर स्वर्गप्राप्ति चाहते हैं ; वे पुरुष अपने पुण्यों के फलरूप इन्द्रलोक को प्राप्त कर स्वर्ग में दिव्य देवताओं के भोग भोगते हैं ।।२०।।

वे उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर, पुण्यक्षीण होने पर, मृत्युलोक को प्राप्त होते हैं । इस प्रकार तीनों वेदों में कहे गए कर्म के शरण हुये और भोगों की कामना वाले पुरुष आवागमन (गतागत) को प्राप्त होते हैं ।।२१।।

जिन्होंने तीनों वेदों के कर्मकाण्ड का अध्ययन किया हो और जो स्वर्गादि फल के प्रापक यज्ञयागादि के विधिविधान भी जानते हों, ऐसे लोग यदि सकाम भावना से श्रद्धापूर्वक उन कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, तो वे–"स्वर्ग लोक को प्राप्त होकर वहां दिव्य देवताओं के भोगों को भोगते हैं ।"

सोम नामक एक लता होती है, जिसका दूधिया रस यज्ञ कर्म में प्रयोग किया जाता है और यज्ञ की समाप्ति पर अल्प मात्रा में तीर्थपान के समान इसे ग्रहण किया जाता है । इस प्रकार 'सोमपाः' शब्द से अभिप्राय यज्ञकर्म की समाप्ति से समझना चाहिये । सकाम भावना से किये गये ये यज्ञकर्म अनित्य फल देने वाले होते हैं । भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं कि स्वर्ग को प्राप्त जीव "पुण्य समाप्त होने पर मृत्युलोक में प्रवेश करते हैं ।"

ऐसे अविवेकी कामी लोगों के प्रति भगवान् की अरुचि उनके इन शब्दों में स्पष्ट होती है कि "वेदोक्त कर्म का अनुष्ठान कर, भोगों की कामना करने वाले, बारम्बार (स्वर्ग को) जाते और (संसार को) आते हैं ।"

परन्तु जो पुरुष निष्काम और तत्त्वदर्शी हैं, उनके विषय में भगवान् कहते हैं :

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।२२।।

अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हुए जो भक्तजन मेरी ही उपासना करते हैं, उन नित्ययुक्त पुरुषों का योगक्षेम मैं वहन करता हूँ ॥२२॥

यह श्लोक उस रहस्य को अनावृत करता है, जिसे जानकर आध्यात्मिक और भौतिक क्षेत्र में भी निश्चित रूप से महान् सफलता प्राप्त की जा सकती है। यहाँ ध्यान देनें योग्य बात है कि यह श्लोक लगभग गीता का मध्यबिन्दु[1] है। हम क्रमशः आध्यात्मिक और भौतिक दृष्टि से इसके अर्थ पर विचार करेंगे।

जो लोग यह जानकर कि एकमात्र आत्मा ही सम्पूर्ण विश्व का अधिष्ठान और पारमार्थिक सत्य है, अनन्यभाव से 'मेरा' अर्थात् आत्मस्वरूप का ध्यान करते हैं, श्रीकृष्ण वचन देते हैं कि ' उन नित्ययुक्त भक्तजनों का योगक्षेम मैं वहन करता हूँ।" योग का अर्थ है अधिक से अधिक आध्यात्मिक शक्ति, और क्षेम का अर्थ है अध्यात्म का चरम लक्ष्य – परमानन्द की प्राप्ति, जो योग का फल है। इन योग और क्षेम को भगवान् ही पूर्ण करते हैं।

अब, यदि इसे, व्यावहारिक जगत् के विभिन्न कार्य क्षेत्रों में दिनरात परिश्रम करने वाले लोगों के लिए सफलता का भेद बताने वाला मानें, तब भी यही श्लोक उस रहस्य को बताता हैं, जिसके द्वारा संसारी लोग अपने जीवन में पूर्ण सफलता प्राप्त कर सकते हैं। हाथ में लिये हुए किसी भी कार्य में, यदि मनुष्य एक ही लक्ष्य को ध्यान में रखकर अपनी संकल्प शक्ति का उपयोग कर एक ही संकल्प को बनाये रख सकता है, तो उसकी सफलता निश्चित समझनी चाहिये। परन्तु दुर्भाग्य है कि सामान्य जन एक ही संकल्प को बनाये नहीं रख पाते हैं। इसलिये, उनका लक्ष्य सदैव परिवर्तित होता रहता है और उनसे दूर और दूर होता जाता है। इस स्थिति में उनका संकल्प दृढ़ कैसे रह सकता है ? ऐसे आकस्मिक और क्षणिक निश्चय वाले लोगों के लिए जीवन में किसी भी कार्य क्षेत्र में उन्नति करना सम्भव नहीं है।

हमारे युग की सबसे बड़ी त्रासदी (दुःख की बात) यह प्रतीत होती है कि हम इस एक अत्यन्त स्पष्ट एवं सुबोध तथ्य की उपेक्षा करते हैं कि विचारों से ही निर्माण कार्य होता है। संकल्पशक्ति से ही कर्मबल प्राप्त करते हैं। जब शक्तिदायक स्रोत ही श्वासरुद्ध हो जाता है या बिखर जाता है, तब बाह्य कर्मों में कार्यान्वियन की शक्ति क्षीण और प्रभावहीन हो जाती है। सफलता के लिये आवश्यक है कि

---

१. यह प्रचलित धारणा है कि यह श्लोक गीता का गणितीय केन्द्रबिन्दु है परन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि गीता के ७०१ श्लोकों में यह ३६०वां श्लोक है। तथापि यह धारणा प्रचलित हो गई है।

मनुष्य एकाग्र चित्त से, निश्चित किये हुये अपने जीवन के लक्ष्य के विषय में ही सतत स्फूर्ति, उत्साह और सामर्थ्य के साथ चिन्तन करे।

केवल विचार करना अपने आप में पर्याप्त नहीं है और कर्मों की आवश्यकता के विषय में भी दो मत नहीं हो सकते हैं। वर्तमान पीढ़ी के अनेक नवयुवक यद्यपि एक लक्ष्य को निरन्तर बनाये रखनें में सक्षम हैं, परन्तु कार्यक्षेत्र में प्रवेश करके सफलता के लिए सर्व सम्भव प्रयत्न करने के लिये जिस तत्परता की आवश्यकता होती है, उसका उनमें अभाव रहता है। उपासना शब्द का अर्थ है पूजा। पूजा के द्वारा हम देवता का आह्वान करते हैं; देवता माने "किसी भी क्षेत्र की फल प्रदायक सामर्थ्य।"[1] यहां 'उपासते' क्रियापद को 'परि' उपसर्ग लगाया है, जिसका आशय है 'सम्पूर्ण प्रयत्न'। अपने चुने हुये कार्य में सफलता की निर्मिति के लिये सम्पूर्ण प्रयत्न की आवश्यकता है, जिसमें कोई भी सम्भव प्रयत्न नहीं छोड़ा गया हो।

अब तक, सफलता के रहस्य की दो कुञ्जियाँ बताई गयीं हैं, जिनके अभाव में कोई भी कार्य यशस्वी नहीं हो सकता, और वे हैं: (क) संकल्प का सातत्य, और (ख) एक निश्चित लक्ष्य के लिए अपने सर्वस्व को अर्पण करना। तीसरी मुख्य कुञ्जी है-(ग) नित्ययुक्तता अर्थात् आत्मसंयम। जीवन में दर्शनीय व गौरवमय सफलता पाने के लिए आत्मसंयम आवश्यक है।

जब जीवन में किसी महत्त्वाकांक्षा को लेकर मनुष्य अपनें मार्ग पर अग्रसर होता है, तब उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उसके लक्ष्य से भिन्न, अनेक आकर्षक और प्रलोभित करने वाली योजनायें उसके समक्ष प्रस्तुत की जाती हैं, जिनके चिन्तन में अपनी शक्ति का अपव्यय करके वह थक जाता है। और इस प्रकार अपने चुने हुए कार्य को भी सफलतापूर्वक करने में असमर्थ हो जाता है। उन्नति में बाधक ऐसे विघ्न से सुरक्षित रहने के लिये आत्मसंयम अत्यावश्यक है।

श्री शंकराचार्य योगक्षेम के अर्थ इस प्रकार बताते हैं, "अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करना योग और प्राप्त का रक्षण क्षेम कहलाता है।" प्रस्तुत विवेचन के संदर्भ में ये अर्थ भी उपयुक्त हैं और प्रयोज्य हैं। जीवन में, जिन किसी भी रूप में विरोध और स्पर्धा, संघर्ष और दुःख आते हैं, वे प्रत्येक व्यक्ति के लिये स्थान-स्थान पर और समय-समय पर भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। मनुष्य के इस संघर्ष को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, (क) अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिये संघर्ष, और (ख) प्राप्त वस्तु के रक्षण के लिये प्रयत्न। इन दोनों से उत्पन्न तनाव

---

१. देखिए गीता अध्याय-४

२. 'योगोऽप्राप्तस्य प्रापणं क्षेमस्तद्रक्षणम्'।

जीवन की शान्ति और आनन्द को छिन्न-भिन्न कर देता है। जो व्यक्ति इन दो चिन्ताओं से मुक्त है, वह सबसे भाग्यवान् व्यक्ति है, क्योंकि वह कृतकृत्य है। इन दोनों के अभाव में उस पुरुष के जीवन में दु:ख की गन्धमात्र भी नहीं होती और वह अक्षय सुख को प्राप्त हो जाता है।

यहां भगवान् श्रीकृष्ण वचन देते हैं कि जो कोई व्यक्ति उपर्युक्त सफलता की तीन कुञ्जियों को समझकर उद्यमता से उसका पालन करेगा उसे, योग और क्षेम की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसको पूर्ण करने का उत्तरदायित्व 'स्वयं भगवान्' स्वेच्छापूर्वक निभाते हैं। यहाँ 'भगवान्' शब्द से तात्पर्य इस जगत् और उसमें होने वाली घटनाओं के पीछे जो 'शाश्वत नियम' कार्य कर रहा है, उससे समझना चाहिये। सिंचाई कार्य के लिए जब जल को उच्च से निम्न धरातल की ओर प्रवाहित किया जाता है, तो इच्छित क्षेत्र में उसके प्रवाह के लिए हमें केवल उसकी दिशा ही सही करनी होती है। तत्पश्चात् प्राकृतिक नियम के अनुसार वह जल स्वत: ही उच्च से निम्न धरातल की ओर प्रवाहित होगा। इसी प्रकार, जो कोई पुरुष अपने कार्यक्षेत्र में यहां वर्णित शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक स्तर पर पालन करने योग्य नियमों के अनुसार कार्य करेगा, सफलता ऐसी परिस्थितियों के सजग शासक के चरणों को चूमेगी।

अब, एक अन्य प्रकरण का प्रारम्भ किया जाता है, जिसमें उन साधकों के विषय में विचार किया गया है, जो विपरीत मार्गदर्शन के कारण परिच्छिन्न शक्ति एवं अनित्य फल के अधिष्ठाता देवताओं की पूजा करते हैं :

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

हे कौन्तेय ! श्रद्धा से युक्त जो भक्त अन्य देवताओं को पूजते हैं, वे भी मुझे ही अविधि पूर्वक पूजते हैं ॥२३॥

विश्व के सभी लोग एक ही पूजास्थल पर पूजा नहीं करते। न केवल शारीरिक दृष्टि से यह असम्भव है, वरन् मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि सब लोगों की अभिरुचियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं।

भक्तगण जब भिन्न-भिन्न देवस्थानों पर पूजा करते हैं, तब ये एक ही चेतन सत्य की आराधना करते हैं, जो इस परिवर्तनशील सृष्ट जगत् का अधिष्ठान है। जब वे विभिन्न देवताओं की पूजा करते हैं, तब भी वे उस एक सनातन सत्य का ही

आह्वान करते हैं, जो उनके इष्ट देवता के रूप में व्यक्त हो रहा है। जब हम यह स्वीकार करते हैं कि अनन्त सत्य एकमेव अद्वितीय है, जो भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों काल में एक समान रहता है, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी ऋषि-मुनियों साधु-सन्तों, पैगम्बरों और अवतारों की उपाधियों में व्यक्त होने वाला आत्मचैतन्य एक ही है।

सहिष्णुता हिन्दू धर्म का प्राण है। हम पहले भी विचार कर चुके हैं कि परमार्थ सत्य को अनन्तस्वरूप में स्वीकार करने वाले अद्वैती किस प्रकार सहिष्णु होने के अतिरिक्त कुछ और नहीं हो सकते हैं। असहिष्णुता उस धर्म में पायी जाती है, जिसमें किसी देवदूत विशेष को ही ईश्वर के रूप में स्वीकारा जाता है। हिन्दुओं में भी प्राय: भिन्न-भिन्न पंथों एवं सम्प्रदायों के मतावलम्बी निर्दयता की सीमा तक कट्टर पाये जाते हैं। असभ्यता के कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जिनमें एक भक्त की यह धारणा होती है कि अन्य लोगों के देवताओं की निन्दा करना, अपने इष्ट देवता की स्तुति और भक्ति करना है! परन्तु इस प्रकार के मत विकृत, घृणित और अशिष्ट हैं, जिन्हें हिन्दू धर्मशास्त्र में कोई स्वीकृति नहीं है, और न ही ऋषियों द्वारा प्रवर्तित सांस्कृतिक परम्परा में उन्हें कोई स्थान प्राप्त है।

उदार हृदय, करुणासागर, प्रेमस्वरूप भगवान श्रीकृष्ण घोषणा करते हैं, "ये भक्त भी वास्तव में मुझे ही पूजते हैं, यद्यपि वह पूजन अविधिपूर्वक है।"

बाह्य जगत् में व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि परमानन्दस्वरूप आत्मा की प्राप्ति को त्यागकर जो लोग सांसारिक विषयों की प्राप्ति के लिये ही प्रयत्न करते हैं, वे भी आत्मकृपा का ही आह्वान करते हैं, परन्तु अविधिपूर्वक।

अत्यन्त विषयोपभोगी पुरुष भी जब धन के अर्जन, रक्षण और व्यय की योजनायें बनाता है, जिससे कि वह नित्य नवीन विषयों को प्राप्त कर उनको भोग सके, तब वह भी स्वयं में स्थित अव्यक्त क्षमताओं का ही आह्वान करता है। आत्मा के बिना कोई भी व्यक्ति न पापकर्म कर सकता है और न पुण्य कर्म। आत्महत्या जैसे कार्य में भी जीवनी शक्ति की आवश्यकता होती है, परन्तु शस्त्र उठाने में वह पुरुष आत्म चेतना का दुरुपयोग कर रहा होता है।

इस सन्दर्भ में 'अविधिपूर्वक' का अर्थ 'अज्ञानपूर्वक' है, जिसका अन्तिम परिणाम दु:ख और विषाद्, होता है, तथा साधक आत्मा के परम आनन्द से वंचित रह जाता है।

इन भक्तों के पूजन को अविधिपूर्वक क्यों कहा गया है? इसके उत्तर में कहते हैं:

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ।।२४।।

क्योंकि सब यज्ञों का भोक्ता और स्वामी मैं ही हूँ, परन्तु वे मुझे तत्त्वतः नहीं जानते हैं, इसलिए वे गिरते हैं, अर्थात् संसार को प्राप्त होते हैं ।।२४।।

सभी यज्ञों का भोक्ता और स्वामी एक आत्मा ही है । आत्मा ही विभिन्न देवता शरीरों में व्यक्त हुआ है, जिसके कारण उन देवनाओं को अपनी-अपनी सामर्थ्य प्राप्त हुई है । उनका कृपाप्रसाद प्राप्त करने के लिए भक्तजन उनकी आराधना करते हैं । भगवान् यहाँ कहते हैं कि श्रद्धाभक्तिपूर्वक इन पूजकों द्वारा जिन देवताओं का यज्ञादि में आह्वान किया जाता है, उनका मूल अव्ययस्वरूप 'मैं ही हूँ' । यह पूजा चाहे मन्दिर में हो या मस्जिद में, गिरजाघर में हो या गुरुद्वारे में । परन्तु क्योंकि वे "मेरी परिच्छिन्न शक्तियों के अधिष्ठाता देवताओं की ही पूजा करते हैं", इसलिये "वे मुझे अपने आत्मरूप में नहीं जानते, जो कि अनन्तस्वरूप हैं" । परिणाम यह होता है कि पुनः संसार के शोक-मोह और असंख्य बन्धनों में गिर जाते हैं ।

इसी सिद्धान्त को व्यावहारिक जीवन में लागू करें, तो ज्ञात होगा कि उन सभी कार्यक्षेत्रों में जहाँ लोग परिश्रम (यज्ञ) करते हैं, वह सदैव किसी न किसी अनित्य लाभ या फल (देवता) को प्राप्त करने के लिये ही होता है । वे आध्यात्मिक विकास के लिए परिश्रम नहीं करते, जिससे कि वे अपनें शुद्ध आत्मस्वरूप को पहचान सकें । कामुकता की फिसलन भरी ढलान पर चलते हुए वे क्रूर पाशविकता के स्तर तक गिर जाते हैं, जो कि मानव के पद और प्रतिष्ठा पर एक बड़ा कलंक है ।

पूर्ण सुख और सन्तोष, परम शान्ति और समाधान हृदय के अन्तरतम भाग में स्थित हैं, न कि बाह्य जगत् के लाभ और सफलता में, यश और कीर्ति में । हृदय में स्थित इस शाश्वत लाभ की ओर ध्यान न देकर, कामनाओं के बिच्छुओं से दंशित अविवेकी मनुष्य इतस्ततः दौड़ते हैं, और इस प्रकार अपने साथ-साथ उस मार्ग पर चलने वाले अन्य लोगों के लिए भी दुर्व्यवस्था और दुःख उत्पन्न करते हैं । जब ऐसे मोहित लोगों की पीढ़ी स्वच्छन्दता को प्रोत्साहित कर उपभोग का ही जीवन जीती है, और एक क्षण भी रुककर अपने कर्मों का मूल्यांकन करने पर कदापि ध्यान नहीं देती, तब अवश्य ही, उस पीढ़ी का इतिहास विस्फोटित जगत् के मुख पर, उसी विस्फोट से मृत और अपंग हुए लोगों के उस रक्त से लिखा जाता हैं, जो पुत्रों और पत्नियों से वियुक्त हुई माताओं और विधवाओं के अश्रुओं से मिश्रित होता है । निश्चय ही, वे मर्त्यलोक के दुःखों को पुनः लौटते हैं ।

हम यह कैसे कह सकते हैं कि अविधिपूर्वक पूजन करने पर भी वे भक्तजन किसी फल को प्राप्त करते हैं? इस पर कहते हैं :

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।।२५।।

देवताओं के पूजक देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरपूजक पितरों को जाते हैं, भूतों का यजन करने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मुझे पूजने वाले भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं ।।२५

जीवन का यह नियम है कि जैसे तुम विचार करोगे वैसे तुम बनोगे। जैसी वृत्ति वैसा व्यक्ति। समय-समय पर किये गए विचारों के अनुसार व्यक्ति के भावी चरित्र का रेखाचित्र अन्तःकरण में खिच जाता है। यह एक ऐसा तथ्य है, जिसकी सत्यता का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में हो सकता है। मनोविज्ञान के इस नियम को आत्मविकास के आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रयुक्त करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, "देवताओं के पूजक देवताओं को प्राप्त होते हैं।" इत्यादि। देवता, पितर, भूतों के पूजक लोग जब दीर्घकाल तक एकाग्र चित्त से अपने इष्ट की पूजा और भक्ति करते हैं, तब उसके परिणामस्वरूप उनकी इच्छाएँ पूर्ण होती हैं।

देवता ज्ञानेन्द्रियों के अधिष्ठाता हैं। हमें जगत् का अनुभव ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ही होता है। यहाँ देवताओं से आशय इन्द्रियों द्वारा अनुभूत सम्पूर्ण भौतिक जगत् से है। जो लोग निरन्तर बाह्य जगत् के सुख और यश की कामना एवं तत्प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं, वे अपने इच्छित अनुभवों के विषय और क्षेत्र को प्राप्त होते हैं।

'पितृव्रताः' शब्द का अर्थ है, "वे लोग जो अपने पितरों की सांस्कृतिक शुद्धता और परम्परा के प्रति जागरूक हैं, तथा जो उन्हीं आदर्शों के अनुरूप जीवन जीने का उत्साहपूर्वक प्रयत्न करते है।" जो व्यक्ति आध्यात्मिक भारत की प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा के अनुसार जीने का सतत प्रयत्न करता है, वह, फलतः, इस शुद्धता एवं पूर्णता के अत्युत्तम जीवन की सुन्दरता और आभा प्राप्त करता है।

हमारी भारत भूमि के प्राचीन ऋषियों ने इस तथ्य की कभी उपेक्षा नहीं की कि किसी भी समाज में, आध्यात्मिक आदर्शों के अतिरिक्त, वैज्ञानिक अन्वेषण तथा प्रकृति के गर्भ में निहित अनेक नियमों एवं वस्तुओं का आविष्कार भी होता रहता है। "भौतिक विज्ञानों" के क्षेत्र में होने वाले अन्वेषण और अनुसंधान मानव मन की जिज्ञासा का ही एक अंग है। अतः 'भूतों के पूजक' से तात्पर्य उन वैज्ञानिकों

से है, जो प्रकृति का निरीक्षण करते हैं और निरीक्षित नियमों का वर्गीकरण कर उस ज्ञान को सुव्यवस्थित रूप देते हैं। आधुनिक युग में प्रकृति, वस्तु, व्यक्ति, एवं प्राणियों का अध्ययन ज्ञान की जिन शाखाओं के अन्तर्गत किया जाता है, वे भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, यान्त्रिकी, कृषि, राजनीति, समाजशास्त्र, भूगोल, इतिहास, भूगर्भशास्त्र आदि हैं। इन शास्त्रों में भी अनेक शाखाएं होती हैं, जिनका विशेषरूप से अध्ययन करके लोग उस शाखा के विशेषज्ञ बनते हैं। अथर्ववेद के एक बहुत बड़े भाग में उस काल के ऋषियों को अवगत प्रकृति के स्वभाव एवं व्यवहार के सिद्धान्त दिये गये हैं। भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा यहां कथित मनोविज्ञान का नियम मनुष्य के सभी कर्मों के क्षेत्रों में लागू होता है। वह नियम है – किसी भी क्षेत्र में मनुष्य द्वारा किये गये प्रयत्नों के समान अनुपात में उसे सफलता प्राप्त होती है।

इस प्रकार, यदि देवता, पितर और भूतों की पूजा करने से अर्थात् उनका निरन्तर चिन्तन करने से क्रमशः देवता, पैतृक परम्परा और प्रकृति के रहस्यों को जानकर भौतिक जगत् में सफलता प्राप्त होती है, तो उसी सिद्धान्त के अनुसार हमें वचन दिया गया है कि, 'मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं।' एकाग्रचित्त से आत्मस्वरूप पर सतत दीर्घकाल तक ध्यान करने पर साधक अपने सनातन, अव्यय आत्मस्वरूप का सफलतापूर्वक साक्षात् अनुभव कर सकता है। सतत आत्मानुसन्धान के फलस्वरूप अन्त में जीव की आत्मस्वरूप में ही परिणति को वेदान्त के प्रकरण ग्रन्थों में भ्रमरकीट न्याय[1] द्वारा दर्शाया गया है।

गीता का प्रयोजन और प्रयत्न ज्ञान के साथ विज्ञान अर्थात् अनुभव को भी प्रदान करता है। इस श्लोक का प्रयोजन साधक को यह विश्वास दिलाना है कि यहां कथिक प्रारम्भिक साधना के द्वारा परम पुरुषार्थ की भी प्राप्ति हो सकती है। जिस प्रकार समर्पित होकर भौतिक जगत् में कार्य करने पर भौतिक सफलता मिलती है, वही नियम आन्तरिक जगत् के सम्बंध में भी सत्य प्रमाणित होता है। इसका पर्यवसान आध्यात्मिक सफलता में होता है। 'सतत ध्यान अवश्य ही फलदायक होगा।' भगवान् के इस आश्वासन का तर्कसंगत कारण इस श्लोक में दिया गया है।

क्या भक्ति पूर्वक की गई पूजा मात्र से ऐसे परमार्थ की प्राप्ति हो सकती है? क्या हमको वेदोक्त कर्मकाण्ड के अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है, जिसके पालन के लिये प्रायः वेदों में आग्रह किया गया है? इस पर भगवान् कहते हैं:

---

१. इस न्याय के अनुसार एक कीट भ्रमर पर सतत ध्यान करने से स्वयं भ्रमर बन जाता है।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

जो कोई भी भक्त मेरे लिये पत्र, पुष्प, फल, जल आदि भक्ति से अर्पण करता है, उस शुद्ध मन के भक्त का वह भक्तिपूर्वक अर्पण किया हुआ (पत्र पुष्पादि) मैं भोगता हूं अर्थात् स्वीकार करता हूं ॥२६॥

विश्व में ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो भक्तों के द्वारा ईश्वर को उपहार देने को मान्यता और प्रोत्साहन न देता हो। आधुनिक शिक्षित पुरुष को वास्तव में आश्चर्य होता है कि आखिर अनन्त परमात्मा को अपने दीपक के लिये तेल या एक मोमबत्ती या रहने के लिये मन्दिर या मस्जिद के रूप में एक घर जैसी क्षुद्र वस्तुओं की आवश्यकता क्यों होती है ? विपरीत धारणाओं के विष से विषाक्त हुई शुष्क व आनन्दहीन बुद्धि के लोग निर्लज्जतापूर्वक इसका भी आग्रह करने लगे हैं कि ईश्वर के इन घरों को अस्पताल, विद्यालय, मानसिक चिकित्सालय और प्रसूति गृहों में परिवर्तित कर देना चाहिये ।[1]

परन्तु मेरा विश्वास है कि मैं ऐसे समाज को संबोधित कर रहा हूं, जो कम-से-कम अभी तो नैतिक पतन के अधोबिन्दु तक नहीं पहुंचा है। जिस समाज में अभी भी भावनापूर्ण स्वस्थ हृदय के विवेकशील लोग रहते हैं, वहां निश्चय ही मन्दिरों और पूजा की आवश्यकता है। यह भी ध्यान में रखने की बात है कि इन मन्दिरों में उनकी कलाकौशल पूर्ण रचना, कर्मकाण्ड का आडम्बर या स्वर्णभूषणों की चमक और धन का प्रदर्शन उनकी सफलता के मूल कारण नहीं है। यहां तक कि प्रतिदिन वहां आने वाले दर्शनार्थियों की संख्या पर भी उनकी सफलता निर्भर नहीं करती।

इस श्लोक की प्रत्यक्ष भाषा और शैली ही यह स्पष्ट करती है कि विश्वपति भगवान् को इन भौतिक वस्तुओं का कोई मूल्य और महत्व नहीं है। वे अपने भक्त

---

१. वास्तव में व्यक्तिगत रूप से मुझे उनके साथ सहानुभूति है। ऐसे समाज में, जहां स्वस्थ लोगों की अपेक्षा रोगियों की संख्या अधिक हो, जन्म वृद्धि की दर कल्पनातीत हो, अशिक्षित की अपेक्षा कुशिक्षित लोग अधिक हों और समझदारों से अधिक पागल लोग हों, तो इन लोगों की अधिक अस्पताल आदि की इच्छा न्यायसंगत ही है। पशुओं से भी निम्नतर वृत्ति के इन लोगों के युग में मन्दिरों की कोई आवश्यकता नहीं है। निश्चित रूप से उन्हें अस्पताल, विद्यालय और प्रसूतिगृहों की अधिक आवश्यकता है !

का वह प्रेम और भक्ति स्वीकार करते हैं जिससे प्रेरित होकर वह अल्प उपहार भगवान् को अर्पण करता है फिर अर्पित की हुई वह वस्तु चाहे पत्र, पुष्प, फल, या स्वर्ण मन्दिर हो, उसका महत्त्व नहीं; भगवान् कहते हैं, 'शुद्धचित्त के उस भक्त के द्वारा भक्तिपूर्वक अर्पित वह उपहार मैं स्वीकार करता हूँ।'

इस श्लोक में विशेष रूप से चुनकर कुछ शब्दों का प्रयोग किया गया है जो त्याग और अर्पण के उस सिद्धान्त को स्पष्ट करता है, जिस पर सभी धर्मों का आग्रह होता है। इसमें सन्देह नहीं है कि परमात्मा को अपना पूर्णत्व पूर्ण करने के लिये अथवा अनन्त वैभव को बनाये रखने के लिये भक्तों के उपहारों की आवश्यकता नहीं होती। भक्तगण अपने इष्ट देवता को कुछ-न-कुछ अर्पण करना चाहते हैं, जो वास्तव में भगवान् के द्वारा निर्मित जगत् रूप उपवन की ही एक वस्तु होती है, जिसका भक्तजन उपयोग कर रहे थे। एक सार्वजनिक उपवन में भी कोई प्रेमी वहीं से फूल तोड़कर अपनी प्रेमिका को भेंट देता है। इसी प्रकार, भक्त भी भगवान के ही उपवन से वस्तु चुराकर उन्हें ही पुनः अर्पित करता है। विचार करने से ज्ञात होता है कि वास्तव में, भगवान् को कुछ भेंट देने का हमारा अभिमान कितना वृथा और खोखला है।

फिर भी, ईश्वर की सब प्रकार की पूजाओं में उन्हें कुछ अर्पण करने का महत्वपूर्ण विधान है, जिसके पालन पर विशेष बल भी दिया जाता है। पत्र-पुष्पादि अर्पण करते समय यदि भक्त यह समझता है कि वह उन वस्तुओं को ही समर्पित कर रहा है, तो वह इस विधान का ही दुरुपयोग कर रहा है। वह अर्पण के सिद्धान्त को नहीं जानता है। यहां पुष्प आदि का प्रयोजन एक चम्मच के समान है। भोजन के समय हम चम्मच का उपयोग किसी खाद्य पदार्थ को मुँह तक ले जाने में करते हैं परन्तु भोजनोपरान्त चम्मच थाली में ही रखा रहता है। बगीचे में या मन्दिर में फूल-फल आदि रहते ही हैं परन्तु जब एक भक्त उन्हें तोड़कर भगवान् को अर्पण करता है तब वे उसके प्रेम और समर्पण को व्यक्त करने के माध्यम बन जाते हैं।

यही बात यहां भगवान् स्पष्ट करते हैं कि, 'शुद्ध-बुद्धि के भक्त द्वारा भक्ति-पूर्वक अर्पित वस्तु को मैं स्वीकार करता हूं।'

इसलिये, भगवान् को कुछ अर्पण करने की क्रिया प्रभाव पूर्ण होने के लिये दो बातों की आवश्यकता है : (क) 'वह उपहार भक्तिपूर्वक अर्पण किया गया हो तथा (ख) 'वह शुद्ध बुद्धि के भक्त द्वारा अर्पित किया गया हो।' इन दोनों के बिना अर्पण केवल आर्थिक अपव्यय है और अन्धश्रद्धा तथा मिथ्या-विश्वास है। यदि उसका उचित अनुकरण किया जाय तो आत्मविकास के आध्यात्मिक मार्ग के लिये वह उपयुक्त वाहन बन जाता है।

इसलिये :

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।२७।।

हे कौन्तेय ! तुम जो कुछ कर्म करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ हवन करते हो, जो कुछ दान देते हो और जो कुछ तप करते हो, वह सब तुम मुझे अर्पण करो ।।२७।।

जीवन में सब प्रकार के कर्म करते हुए हम ईश्वरार्पण की भावना से रह सकते हैं। सम्पूर्ण गीता में असंख्य बार इस पर बल दिया गया है कि केवल शारीरिक कर्म की अपेक्षा ईश्वरार्पण की भावना सर्वाधिक महत्त्व की है। और यह एक ऐसा तथ्य है, जिसका प्राय: साधकों को विस्मरण हो जाता है ।

शरीर, मन और बुद्धि के स्तर पर होनें वाले विषय ग्रहण और उनके प्रति हमारी प्रतिक्रिया रूप जितने भी कर्म हैं, उन सब को 'भक्तिपूर्वक मुझे अर्पण करें।' यह मात्र मानने की बात नहीं है और न ही कोई अतिशयोक्ति है। यह भी नहीं कि इसका पालम करना मनुष्य के लिये किसी प्रकार से बहुत कठिन हो। एक ही आत्मा ईश्वर, गुरु और भक्त में और सर्वत्र रम रहा है। हम अपने व्यावहारिक जीवन में असंख्य नाम और रूपों के साथ व्यवहार करते हैं । हम जानते हैं कि इन सबको धारण करने के लिये आत्मसत्ता की आवश्यकता हैं। यदि हम अपने समस्त व्यवहार में इस आत्मतत्त्व का स्मरण रख सकें तो वह जगत् के अधिष्ठान का ही स्मरण होगा। यदि किसी वस्त्र की दुकान में विभिन्न रूप, रंग, बुनावट और कीमतों के सूती वस्त्र हों, तो दूकानदार को सलाह दी जाती है कि उसको सदा इस बात का स्मरण रखना चाहिये कि वह सूती कपड़ों का व्यापार कर रहा है। किसी भी समझदार व्यापारी को यह करना कठिन नहीं हो सकता। वास्तव में देखा जाय तो इस प्रकार का स्मरण रखना उसके लिये अधिक सुरक्षित और लाभदायक है; अन्यथा वह कहीं किसी कपड़े का मूल्य ऊनी वस्त्र के हिसाब से अत्यधिक बता देगा अथवा अपने माल को टाट के बोरे जैसे सस्ते दामों में बेच देगा ! यदि किसी स्वर्णकार को यह स्मरण रखने की सलाह दी जाय कि वह सोने पर कार्य कर रहा है, तो वह सलाह उसके लाभ के लिये ही है ।

जैसे आभूषणों में स्वर्ण और कपड़े में सूत है वैसे ही विश्व के सभी नाम और रूपों में आत्मा हा मूल तत्त्व है। जो भक्त अपने जीवन के समस्त व्यवहार में इस दिव्य तत्त्व का स्मरण रख सकता है, वही पुरुष जीवन को वह आदर और

सम्मान दे सकता है, जिसके योग्य जीवन है। यह नियम है कि जीवन को जो तुम दोगे वही तुम जीवन से पाओगे। तुम हंसोगे तो भीवन हंसेगा और तुम चिढ़ोगे तो जीवन भी चिढ़ेगा; उसके पास आत्म ज्ञान से उत्पन्न आदर और सम्मान के साथ जाओगे, तो जीवन में तुम्हें भी आदर और सम्मान प्राप्त होगा।

समर्पण की भावना से समस्त कर्मों को करने पर न केवल परमात्मा के प्रति हमारा प्रेम बढ़ता है, वल्कि आदर्श प्रयोजन और दिव्य लक्ष्य के कारण हमारा जीवन भी पवित्र बन जाता है। गीता में अनन्य भाव और सतत आत्मानुसन्धान पर विशेष बल दिया गया है। इस श्लोक में हम देख सकते हैं कि एक ऐसे उपाय का वर्णन किया गया है, जिसके पालन से अनजाने ही साधक को ईश्वर का अखण्ड स्मरण बना रहेगा। इसके लिये कहीं किसी निर्जन सघन बन में या गुप्त गुफाओं में जाने की आवश्यकता नहीं है; इसका पालन तो हम अपने नित्य के कार्य क्षेत्र में ही कर सकते हैं।

इस प्रकार समर्पण की भावना का जीवन जीने से क्या लाभ होगा उसे अब बताते हैं।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ।।२८।।

इस प्रकार तुम शुभाशुभ फलस्वरूप कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाओगे; और संन्यासयोग से युक्तचित्त हुए तुम विमुक्त होकर मुझे ही प्राप्त हो जाओगे।।२८।।

यद्यपि आध्यात्मिक लक्ष्य एक ही होता है, किन्तु उसकी प्राप्ति के साधन मार्ग अनेक हैं। इन मार्गों का सतही अध्ययन करने पर वे परस्पर सर्वथा विपरीत दिखाई पड़ते है, तथापि उन सब का वैज्ञानिक आधार एक ही है, जो उन सब की उपयोगिता एवं औचित्य को न्याय संगत प्रमाणित करता है। गीता में अनेक स्थलों पर इस मूलभूत आधार को स्पष्टतः दर्शाया गया है, तो किन्हीं अन्य स्थानों पर केवल उनका संकेत किया गया है। फिर भी गीता के सावधान और सजग विद्यार्थी उसे पहचान सकते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में इस पर विचार किया गया है कि किस प्रकार 'अर्पण की भावना' से जीवन जीते हुए, मनुष्य परम पुरुषार्थ को प्राप्त कर सकता है, जो कि निदिध्यासन और यज्ञ भावना का निश्चित फल है।

यह सर्वविदित तथ्य है कि जो कर्म का कर्त्ता होता है, वही कर्मफल का भोक्ता भी होता है। अतः यदि हम कर्तृत्वाभिमान से कर्म करें, तो फलोपभोग के लिये भी हमें बाध्य होना पड़ेगा। इसलिये वेदान्त का सिद्धान्त है कि निरंहकार भाव

से कर्म किये जाने पर उनसे शुभ या अशुभ दोनों ही प्रकार की वासनाएं उत्पन्न नहीं होतीं।

भगवान् श्रीकृष्ण यहां कहते हैं, 'तुम शुभ-अशुभ रूप कर्म के बन्धनों से मुक्त हो जाओगे।' कारण यह है कि अहंकार के अभाव में साधक के किये नये कर्मों से वासनाओं में वृद्धि नहीं होती और साथ-ही-साथ पूर्व संचित वासनाओं का शनैः शनैः क्षय हो जाता है। संक्षेप में, उस साधक का चित्त अधिकाधिक शुद्ध होता जाता है। शास्त्रीय भाषा में इसे चित्तशुद्धि कहते हैं। मन के शुद्ध होने पर उसकी एकाग्रता की शक्ति में वृद्धि हो जाती है।

विकास की अगली सीढ़ी यह है कि इस चित्तशुद्धि के फलस्वरूप साधक की आत्मानात्मविवेक की सामर्थ्य में अभिवृद्धि होती है। फिर वह 'संन्यास' और 'योग' के जीवन का आचरण करता है। इन दो शब्दों का विस्तृत विवेचन पूर्व में किया जा चुका है, जिन्हें गीता में वर्णित अर्थ की दृष्टि से समझना चाहिये। संन्यास का अर्थ भौतिक जगत् का त्याग नहीं, वरन् गीता की भाषा में, संन्यास का अर्थ है– (क) अहंकार से प्रेरित सब कर्मों का त्याग, और (ख) कर्मफल के साथ आसक्ति का त्याग। जो पुरुष परिश्रम और उत्साह के साथ अपनी भक्ति की अभिव्यक्ति के रूप में 'अर्पण का जीवन' जीता है, उसके लिये ये दोनों त्याग स्वाभाविक हो जाते हैं। अन्त में वह समस्त फलों को ईश्वर को अर्पण कर देता है।

इस प्रकार, संन्यास का जीवन जीते हुए जिस साधक ने विवेक के द्वारा पूर्ण चित्तशुद्धि प्राप्त कर ली है, उसे आत्मानुसंधानरूप योग सरल हो जाता है। इसका कारण यह है कि वह अपने दैनिक कार्यकलापों में भी अनन्त आत्मस्वरूप का स्मरण बनाये रखता है।

स्वभावतः, ऐसा साधन सम्पन्न योग्य अधिकारी पाता है कि उसका अज्ञान दशा का मिथ्या उपाधियों के साथ तादात्म्य और तज्जनित परिच्छिन्नता एवं मृत्यु के दुःख सर्वथा समाप्त हो गये हैं। स्वस्वरूपानुभूति उसके लिये सहज सिद्ध हो जाती है। 'संन्यास और योग से युक्त हुए तुम मुक्त होकर मुझे प्राप्त हो जाओगे।'

जिस आत्मस्वरूप की प्राप्ति साधक को होगी, उस आत्मा का स्वरूप क्या है? उसे अगले श्लोक में बताते हैं:

---

१. वासनाओं की कमी का अर्थ है, विक्षेपों का घटना। और न्यूनतम विक्षेप होने पर वह मन अधिक शुद्ध कहलाता है, जिसकी ध्यान में एकाग्रता और स्थिरता अधिक होती है।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥२९॥

मैं समस्त भूतों में सम हूं; न कोई मुझे अप्रिय है और न प्रिय; परन्तु जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं, वे मुझ में और मैं भी उनमें हूं ॥२९॥

भूतमात्र में व्याप्त आत्मा एक ही है; वही एक चैतन्य तत्त्व प्राणिमात्र के अन्तःकरण की भावनाओं एवं विचारों को प्रकाशित करता है। 'मैं समस्त भूतों में सम हूं।'' एक सूर्य जगत् की सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है और उसकी किरणें सभी वस्तुओं की सतहों पर से परावर्तित होती हैं – चाहे वह सतह पाषाण की हो या किसी रत्न की।

मुझे न कोई अप्रिय है और न कोई प्रिय – यदि एक ही आत्मा, श्रीकृष्ण और बुद्ध में, आचार्य शंकर और ईसा मसीह में, एक पागल और हत्यारे में तथा साधु और दुष्ट में रमती है, तो क्या कारण है कि कोई-कोई पुरुष तो इस आत्मा को पहचान पाते हैं, जबकि अन्य लोग कृत्रिम कीटों के समान जीवन जीते हैं? भक्ति मार्ग की विवेचना करने वाले भावना प्रधान साहित्य में उपर्युक्त वैषम्य का भावुक स्पष्टीकरण दिया जाता है। उसके अनुसार ईश्वर की कृपा के कारण किन्हीं किन्हीं पुरुषों में दिव्यता अधिक मात्रा में अभिव्यक्त होती है। यह स्पष्टीकरण उन लोगों के लिये पर्याप्त या सन्तोषजनक हो सकता है, जो धर्मविषयक चर्चा में अपनी बौद्धिक क्षमता का अधिक उपयोग नहीं करते हैं। परन्तु बुद्धिमान् विचारी पुरुषों को यह स्पष्टीकरण असंगत जान पड़ेगा, क्योंकि उस स्थिति में यह मानना पड़ेगा कि परमात्मा कुछ लोगों के प्रति पक्षपात करते हैं। इस प्रकार की दोषपूर्ण व्याख्या का खण्डन और शुद्ध तर्कसंगत सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि आत्मा भूतमात्र में सदा एक समान भाव से स्थित है। उसके लिये शुभ और अशुभ का भेद भाव नहीं है; आत्मा को किसी प्राणी के प्रति न प्रेम विशेष है और न किसी अन्य के प्रति द्वेष।

इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि आत्मा कोई शक्तिहीन जड़ तत्त्व है। सूर्य की उपमा के द्वारा इस श्लोक का आशय सम्यक् प्रकार से समझा जा सकता है। यद्यपि एक ही सूर्य जगत् की विविध प्रकार की वस्तुओं पर प्रतिबिम्बत या परावर्तित होता है, तथापि यह भी सत्य है कि परावर्तित प्रकाश की स्पष्टता एवं प्रखरता परावर्तन के माध्यम की सतह के गुणों पर निर्भर करेंगी। एक खुरदरे पाषाण पर प्रकाश की न्यूनतम मात्रा परिवर्तित होगी, जबकि स्वच्छ चमकीले दर्पण पर सम्भवतः सर्वाधिक होगी।

इस भेद के कारण सूर्य पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि उसे दर्पण के प्रति विशेष प्रेम है और पाषाण के प्रति घृणा। इस उपमा को आन्तरिक जीवन में लागू करके देखें, तो यह स्पष्ट होगा कि यदि स्वर्णिम-हृदय के कुछ बिरले लोगों में आध्यात्मिक सौन्दर्य एवं सामर्थ्य अधिक मात्रा में व्यक्त होती है और अनेक पाषाणी-हृदयों के व्यक्तियों में रंचमात्र भी नहीं, तो इसका कारण विभिन्न उपाधियां हैं, और न कि आत्मा। आत्मा न किसी को वरीयता देता है और न किसी के प्रति उसका कोई पूर्वाग्रह ही है। हमें जो विषमता अनुभव होती है, वह सर्वथा प्रकृति के नियमानुसार ही है।

प्रथम पंक्ति में परमात्मा का पक्षपातरहित स्वरूप दिखाया, और फिर कहते हैं कि, 'परन्तु जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं, वे मुझे में और मैं भी उनमें हूं।" इन दोनों पंक्तियों में विरोधाभास प्रत्यक्ष होते हुए भी वास्तविकता ऐसी नहीं है। यह सत्य है कि परमात्मा को किसी से राग या द्वेष नहीं है, किन्तु लोगों का उनके प्रति अवश्य ही राग या द्वेष हो सकता है। जिन्हें ईश्वर से प्रेम है, वे लोग उनके समीप पहुँचना चाहते हैं और अन्य लोग उनसे दूर ही रहते हैं। इस प्रकार जो भक्तिपूर्वक परमात्मा की पूजा करते हैं वें अन्त में अपने पूज्य और ध्येय को आत्मस्वरूप में साक्षात् अनुभव करते हैं, अर्थात् उन्हें यह ज्ञान होता है कि वास्तव में वे परमात्मस्वरूप से एक ही हैं, भिन्न नहीं।

जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं – प्रारम्भ में इस वाक्य का अर्थ कर्मकाण्डीय पूजा के विविध विधान से समझा जा सकता है। उसके आध्यात्मिक अभिप्राय को समझने के लिये सूक्ष्म और गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता है। मूलतः पूजा वह साधन प्रक्रिया है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण 'वृत्तिरूपी सैन्य' को संगठित करके उन्हें ध्यान के दिव्य ध्येय की ओर प्रवृत्त किया जाता है। इसमें प्रयत्न यह होता है कि ध्येय सत्य के साथ पूर्ण तादात्म्य, पूर्ण एकत्व स्थापित हो जाय। यह साधना भक्तिपूर्वक करनें से भक्त भगवान् से, ध्याता ध्येय से तद्रूप हो जाता है।

इस अभिप्राय को ध्यान में रखकर इस श्लोक का पुनः अध्ययन करने पर भगवान् के सैद्धान्तिक कथन का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि सत्स्वरूप आत्मा को किसी से कोई पक्षपात नहीं है, परन्तु किन्हीं-किन्हीं शुद्धान्तःकरण के भक्त-जनों में अपने परमात्मस्वरूप की पहचान के कारण इस दिव्यत्व की अभिव्यक्ति होतीं है।

---

१. यह बताया जा चुका है कि प्रेमी का प्रेमास्पद के साथ तादात्म्य ही प्रेम है।

अनात्म उपाधियों के साथ आत्मबुद्धि से अत्यधिक आसक्ति के कारण जीव पूर्णत्व के आनन्द का अनुभव नहीं कर पाता है। परन्तु जब इस आसक्ति और बहिर्मुखी प्रवृत्तियों का वह परित्याग कर देता है, तब ज्ञान प्राप्ति का अधिकारी बन कर अपने आत्मस्वरूप के साथ एकरूप हो जाता है। मनुष्य के मन की स्थिति उसके बद्धत्व या मुक्तत्व का द्योतक है। बहिर्मुखी मन अनित्य विषयों में सुख की खोज करते हुए उनसे बन्ध जाता है और सदा दुःख और निराशा के कारण कराहता रहता हैं; जबकि वही मन अन्तर्मुखी होकर आत्मचिन्तन के द्वारा आत्मानुभव को प्राप्त करता है।

शीतकाल में अपने कमरे के अन्दर बैठकर कोई व्यक्ति अत्यधिक शीत का अनुभव करता है, जब कि अन्य व्यक्ति बाहर सूर्य की खुली धूप में बैठकर सूर्य की उष्णता का आनन्द लेता है। सूर्य को बाहर बैठे व्यक्ति से न प्रेम है और न कमरे में बैठे व्यक्ति से कोई द्वेष। इस श्लोक की भाषा में हम कह सकते हैं कि बाहर धूप में बैठे लोग सूर्य से अनुग्रहीत हैं और अन्य लोग उसकी कृपा से वंचित हैं।

किसी भी स्थान पर गीता मनुष्य को परिस्थितियों के सामने अथवा अपनी दुर्बलता और अयोग्यता के समक्ष आत्मसमर्पण करने को प्रेरित नहीं करती है। यह गीताशास्त्र कर्तव्य कर्म और आशावादी प्रयत्नों को प्रोत्साहित करने वाला है जो इस पर बल देता है कि मनुष्य अपनी दुर्बलताओं एवं परिस्थितियों का स्वामी है, दास नहीं।

क्या आत्मसाक्षात्कार का मार्ग केवल साधु पुरुषों के लिये ही उपलब्ध है? भगवान् इस भक्ति के माहात्म्य को बताते हुए कहते हैं:

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥३०॥

यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभाव से मेरा भक्त होकर मुझे भजता है, वह साधु ही मानने योग्य है, क्यों कि वह यथार्थ निश्चय वाला है॥३०॥

जिस विशेष अर्थ में भक्ति शब्द गीता में प्रयुक्त है उसकी यहाँ गौरवमय प्रशंसा की गई है। भक्ति में प्रत्येक साधक पर होने वाले प्रभाव को दर्शाकर भक्ति का महात्म्य यहाँ बताया गया है। गीता में वर्णित भक्ति का अर्थ है एकाग्रचित्त से अद्वैत स्वरूप ब्रह्म का आत्मरूप से अर्थात् एकत्वभाव से ध्यान करना। इस भक्ति

साधना का अभ्यास दीर्घकाल तक आवश्यक तीव्रता और लगन से करने पर साधक के होने वाले विकास का क्रम यहाँ दर्शाया गया है ।

साधारणतः, लोगों के मन में कुछ ऐसी धारणा बन गई है कि एक दुष्ट पापी या हतोत्साहित अपराधी वह बहिष्कृत व्यक्ति है, जो कदापि स्वर्ग के आंगन में प्रवेश करने का साहस नहीं कर सकता है। भ्रष्ट या अनैतिक पापी पुरुष की ऐसी निन्दा करना वैदिक साहित्य के तात्पर्य और मर्म को विपरीत समझना है। यह वास्तव में दुर्भाग्यपूर्ण है। वेद पाप की निन्दा करते हैं, पापी की नहीं। पापी के पापपूर्ण कर्म उसके मन में स्थित अशुभ विचारों की केवल अभिव्यक्ति हैं। अतः, यदि उसके विचारों की रचना और दिशा को बदला जा सके, तो उसके व्यवहार में भी निश्चित रूप से परिवर्तन होगा। जो व्यक्ति, समृद्ध होती हुई भक्ति के वातावरण में, अपने मन में सतत ईश्वर चिन्तन को बनाए रखने में सफल हो गया है, उसके मानसिक जीवन का पुनर्वास इस प्रकार सम्पन्न होता है कि तत्पश्चात् वह पुनः पापाचरण में प्रवृत्त नहीं हो सकता ।

यदि अतिशय दुराचारी भी मुझे भजता है–

गीता न केवल पापियों के लिए अपने द्वार खुले रखती है, वरन् ऐसा प्रतीत होता है कि इस दिव्य गान के गायक भगवान् श्रीकृष्ण एक धर्मप्रचारक के उत्साह के साथ समस्त पापियों को मुक्त करके उन्हें सुखी बनाना चाहते हैं। केवल जीवन की अशुद्धता और हीन कर्मों के कारण पापकर्मियों का आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश निषेध नहीं किया गया है। आग्रह केवल इस बात का है कि उस भक्त को अनन्य भाव से आत्मा की पूजा और चिन्तन करना चाहिये। यहां अनन्य शब्द का अर्थ 'साधक के मन' से तथा 'ध्येय के स्वरूप' से भी सम्बन्धित है। इसका समग्र अर्थ यह होगा कि भक्ति का निर्दिष्ट फल तभी प्राप्त होगा जब भक्त एकाग्रचित्त से अद्वैत और नित्य स्वरूप परमात्मा का ध्यान आत्मरूप से करेगा। इस अद्वैत आत्मा को भक्त के मूल स्वरूप से भिन्न नहीं समझना चाहिये। यही अनन्यभाव है ।

वह साधु ही मानने योग्य है – भक्ति साधना को ग्रहण करने के पूर्व तक कोई व्यक्ति कितना ही दुष्ट और क्रूर क्यों न रहा हो, या उसका जीवन कितना ही अनियन्त्रित कामुकतापूर्ण क्यों न हो, जिस क्षण वह भक्तिपूर्वक आत्मचिन्तन के मार्ग पर प्रथम चरण रखता है, उसी क्षण से "वह साधु ही मानने योग्य है," यह भगवान् श्रीकृष्ण का कथन है। इस प्रकार का पूर्वानुमानित कथन का प्रयोग सभी भाषाओं में किया जाता है। जैसे – "रोटी बनाना", या "चाय बनाना"। वास्तव में केवल आटा गूँथा जा रहा था, या पानी गरम हो रहा था ; परन्तु फिर भी निकट भविष्य

में इन क्रियाओं की पूर्णता रोटी बनने या चाय बनने में होती है, इसलिए उक्त प्रकार के वाक्य कहे जाते हैं। इसी प्रकार यहां भी जिस क्षण वह पापी पुरुष भक्ति मार्ग का आश्रय लेता है, उसी क्षण से वह साधु कहलाने योग्य हो जाता है, क्योंकि शीघ्र ही वह अपने अवगुणों से मुक्त होकर आध्यात्मिक वैभव के क्षेत्र में विकास और उन्नति को प्राप्त करने वाला होता है। यह पूर्वानुमानित कथन है।

ऐसे पुरुष को साधु मानने का कारण यह है कि "उसने यथार्थ निश्चय किया है।" इस दिव्य जीवन में केवल दिनचर्या की अपेक्षा यथार्थ शुभ निश्चय अधिक महत्वपूर्ण है। बहुसंख्यक साधक उदास भाव से चिन्तित हुए अपने मार्ग पर केवल श्रमपूर्वक ऐसे चलते हैं, जैसे भूखे मर रहे पशु कसाईखाने की ओर बढ़ रहे हों! ऐसा खिन्न उदास जुलूस कसाई के कुन्दे के अतिरिक्त कहीं और नहीं पहुँच सकता, जहां काल उन्हें टुकड़े-टुकड़े कर देता है! जो पुरुष स्थिर एवं दृढ़ निश्चयपूर्वक, सजगता और उत्साह, प्रसन्नता और वीरता के साथ इस मार्ग पर अग्रसर होता है, वही निश्चित सफलता के गौरव को प्राप्त करता है। इसलिये, मुरली-मनोहर भगवान् श्रीकृष्ण विशेष बल देकर कहते हैं कि सम्यक् निश्चय कर लेने पर उसी क्षण से अतिशय दुराचारी पुरुष भी साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि शीघ्र ही वह सफल ज्ञानी पुरुष बनने वाला है।

आपके कथन में हम कैसे विश्वास कर लें? इस अनन्यभक्ति का निश्चित प्रभाव क्या होता है? इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं:

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।।३१।।

हे कौन्तेय, वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और शाश्वत शान्ति को प्राप्त होता है। तुम निश्चयपूर्वक सत्य जानो कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता ।।३१।।

पूर्व श्लोक में दृढ़तापूर्वक किये गए पूर्वानुमानित कथन की युक्तियुक्तता को इस श्लोक में स्पष्ट किया गया है। जब एक दुराचारी पुरुष अपने दृढ़ निश्चय से प्रेरित होकर अनन्य-भक्ति का आश्रय लेता है, तब वह "शीघ्र ही धर्मात्मा" बन जाता है। "वस्तु के अस्तित्व का कारण" उस वस्तु का धर्म कहलाता है; जैसे अग्नि की उष्णता अग्नि का धर्म है, जिसके बिना उसका अस्तित्व ही नहीं हो सकता। इसी, प्रकार, मनुष्य का धर्म या स्वरूप चैतन्यस्वरूप आत्मा है, जिसके बिना उसकी कोई भी उपाधियाँ कार्य नहीं कर सकती हैं। इसलिये धर्मात्मा शब्द का अनुवाद केवल 'साधु पुरुष' करनें से उसका अर्थ पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं होता है।

अनन्य भक्ति और पुरुषार्थ से एकाग्रता का बिकास होता है, जिसका फल है मन की सूक्ष्मदर्शिता में अभिवृद्धि। ऐसा सम्पन्न मन ध्यान की सर्वोच्च उड़ान में भी अपनी समता बनाये रखता है। शीघ्र ही वह अनन्तानुभव की झलक पाता है और, इस प्रकार, अधिकाधिक प्रभावशाली सन्त का जीवन जीते हुए अपने आदर्शों, विचारों, एवं कर्मों के द्वारा अपने दिव्यत्व की सुगन्ध को दशो दिशाओं में बिखेरता है।

साधारणत:, हमारा मन विषयों की कामनाओं और भोग की उत्तेजनाओं में ही रमता है। उसका यह रमना जब शान्त हो जाता है, तब हम उस परम शान्ति का साक्षात् अनुभव करते हैं, जो हमारे जीवन को सुरक्षित एवं शक्तिशाली बनाती है। यह शाश्वत शान्ति ही हमारा मूल स्वरूप है। विश्व का कोई धर्म ऐसा नहीं है, जिसमें यह लक्ष्य न बताया गया हो। स्थिर और शान्त मन वह खुली खिड़की है, जिसमें से झांककर मनुष्य स्वयं को ही सत्य के दर्पण में प्रतिबिम्बित हुआ देखता हैं। यहां आश्वासन दिया गया है कि, "वह शाश्वत शान्ति को प्राप्त करता है"; परन्तु इसका अर्थ ऐसा नहीं समझना चाहिए कि यह शान्ति हमसे कहीं सुदूर स्थित है; यह तो अपने नित्यसिद्ध स्वस्वरूप की पहचान मात्र है।

वेदान्त में निर्दिष्ट पूर्णत्व हम से उतना ही दूर है, जितनी हमारी जाग्रत अवस्था हमारे स्वप्न से। यहाँ मन को केवल एकाग्र करनें की ही आवश्यकता है। यदि कैमरे को ठीक से केन्द्रीभूत (फोकस) नहीं किया जाता, तो सामने के सुन्दर दृश्य का केवल धुंधला चित्र ही प्राप्त होता है; और यदि उसी कैमरे को सम्यक् प्रकार से फोकस किया जाय तो उसी से हमें सम्पूर्ण दृश्य का उसके विस्तार एवं भव्य सौन्दर्य के साथ चित्र प्राप्त होता है। दुर्व्यवस्थित मन और बुद्धि, जो निरन्तर इच्छा और कामना की उठती हूई तरंगों के मध्य थपेड़े खाती रहती है, आत्मदर्शन के लिये उपयुक्त साधन नहीं है।

इस श्लोक की दूसरी पंक्ति भगवान् श्रीकृष्ण के अतुलनीय धर्मप्रचारक व्यक्तित्व को उजागर करती है। यह बताने के पश्चात् कि अतिशय दुराचारी पुरुष भी भक्ति और सम्यक् निश्चय के द्वारा शाश्वत शान्ति को प्राप्त होता है, श्रीकृष्ण मानो अर्जुन की पीठ थपथपाते हुये घोषित करते हैं, "मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता।"

ऋषियों का अनुकरण करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि उसे इस निर्बाध सत्य का सर्वत्र उद्घोष करना चाहिये कि (प्रतिजानीहि) आदर्श मूल्यों का जीवन जीनेवाला साधक कभी नष्ट नहीं होता है और यदि उसका निश्चय दृढ़ और प्रयत्न निष्ठापूर्वक है तो वह असफल नहीं होता है। भगवान् श्रीकृष्ण

अर्जुन को दी गयी सम्मति के लिए जिस विशेष शब्द 'प्रतिजानीहि' का प्रयोग यहाँ किया है, उसकी अपनी ही प्रतिपादन की क्षमता है और वह शब्द आदेशात्मक परमावश्यकता या शीघ्रता को व्यक्त करता है। संस्कृत के विद्यार्थी इस भाव को सरलता से देख सकेंगे, और जो इस भाषा से अनभिज्ञ हैं, वे इस शब्द पर विशेष ध्यान दें।

संक्षेप में, इन दोनों श्लोकों का सार यह है कि जो व्यक्ति अपने मन के किसी एक भाग में भी ईश्वर का भान बनाए रखता है, तो उसके ही प्रभाव से उस व्यक्ति का संपूर्ण जीवन परिवर्तित होकर वह अपने अन्तर्बाह्य जीवन में प्रगति और विकास के योग्य बन जाता है। जैसे सड़क पर लगे नीले रंग के प्रकाश के नीचे से जो कोई व्यक्ति किसी भी रंग के वस्त्र पहने हुए निकलता है, तो उसके वस्त्रों को नीलवर्ण की आभा प्राप्त होती है, उसी प्रकार हृदय में आत्मचैतन्य का भान रहने पर मन में उठने वाली अपराधी और पापपूर्ण प्रवृत्तियाँ भी उसके ईश्वरीय पूर्णत्व की स्वर्णिम आभा से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकतीं : जैसे वस्त्र रखने की आलमारी में रखी नेफ्थलिन की गोलियाँ वहाँ रखे हुए सभी वस्त्रों की रक्षा करती हैं और कृमियों को उनसे दूर रखती हैं, उसी प्रकार आत्मा का अखण्ड स्मरण मानव व्यक्तित्व को विनाशकारी आन्तरिक दुष्प्रवृत्तियों के कृमियों से सुरक्षित रखता है।

आगे कहते हैं :

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

हे पार्थ ! स्त्री, वैश्य और शूद्र ये जो कोई पापयोनि वाले हों, वे भी मुझ पर आश्रित (मेरे शरण) होकर परम गति को प्राप्त होते हैं ॥३२॥

पूर्व के श्लोकद्वय की व्याख्या और परिशिष्ट के रूप में, भगवान् आगे कहते हैं कि बाह्य जगत् की प्रतिकूल परिस्थितियों के दुष्प्रभाव के वशीभूत हुए केवल दुराचारी लोग ही ईश्वर के अखण्ड स्मरण से बन्धमुक्त हो जाते हों, ऐसी बात नहीं है। जो लोग जन्म से ही मानसिक और बौद्धिक क्षमताओं की कमी एवं आंतरिक दुर्व्यवस्था के शिकार हैं, वे भी आत्मा के अखण्ड स्मरण की इस साधना से अन्तःकरण को शुद्ध एवं सुगठित कर सकते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रुति, स्मृति और पुराणों में ऐसी उक्तियां हैं, जो

इस श्लोक की भाषा के समान ही प्रतीत होती हैं। स्त्रियों, वैश्यों और शूद्रों को पापयोनि में जन्मे हुए कहकर उनकी निन्दा करने का अर्थ यह होगा कि धर्म का इष्ट प्रभाव समाज के केवल कुछ मुट्ठी भर लोगों पर ही है। ऐसा समझना माने प्रारम्भ से भगवान् श्रीकृष्ण जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन बारम्बार बल देकर कर रहे हैं उस सबको नकारना हैं। इसलिये, यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण के शब्दों के वास्तविक अभिप्राय को हमें समझना होगा।

धर्म की साधना न शारीरिक विकास के लिये है और न ही शरीर के द्वारा पूर्ण करने योग्य है। विकास की जिस उन्नति को धर्म लक्ष्य के रूप में इंगित करता है, उसमें शरीर के लिंग, जाति आदि से किञ्चिन्मात्र प्रयोजन नहीं है। आध्यात्मिक साधनाओं का प्रयोजन मन और बुद्धि को सुगठित करना है, जो विकास की अपनी परिपक्व अवस्था में स्वयं स्थिर हो जाती है, और, फिर, आत्मा सर्वोपाधिविनिर्मुक्त होकर स्वमहिमा में प्रतिष्ठित रहता है। अतः यहाँ प्रयुक्त स्त्रियादि शब्दों से तात्पर्य अन्तःकरण के कुछ विशेष गुणों से समझना चाहिये जो समय-समय पर विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न तारतम्य में व्यक्त होते हैं।

स्त्रियों से तात्पर्य "स्त्री के समान मन" से है। ऐसे मन के लोग अत्यन्त भावुक प्रकृति के होते हैं तथा जगत् की वस्तुओं में उनकी अत्यधिक आसक्ति होती है।

इसी प्रकार, समाज में अनेक लोग अपने विचारों एवं कर्मों में 'व्यापारिक वृत्ति' के होते हैं। ये लोग अपने आन्तरिक मानसिक जीवन में वैश्व के समान रहते हैं; वे सदा इसकी ही गणना और चिन्ता करते रहते हैं कि ईश्वर स्मरण आदि में वे मन की जो पूँजी लगा रहे हैं, उससे उन्हें क्या लाभ होगा। ऐसी गणना करने वाला और सदा अधिकाधिक लाभ की आशा लगाये रहने वाला मन 'ध्यानयोग' के द्वारा विकसित होने के योग्य नहीं होता है। मन को स्थिर करके क्षणभर के सारभूत अनन्तस्वरूप में जीवन्त रहने का एकमात्र उपाय है – सब कर्मफलों को ईश्वरार्पण कर देना। इस प्रकार, जब अध्यात्मशास्त्र में वैश्यों की निन्दा की जाती है, तो, वास्तव में, यह हमारे मन की वैश्य वृत्ति की निन्दा समझनी चाहिये। ऐसी वृत्ति का पुरुष इस दिव्य मार्ग पर प्रगति की आशा नहीं कर सकता है।

अन्त में, शूद्र शब्द के द्वारा आलस्य, निद्रा और प्रमाद जैसी मन की वृत्तियों को दर्शाया गया है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने युग में सर्वपरिचित शब्दों के उपयोग के द्वारा अन्तःकरण के विशेष गुणों को इंगित किया है। इन शब्दों को उपर्युक्त अर्थ में जब हम समझते हैं, तभी इस श्लोक का वास्तविक तात्पर्य समझ में आता है। उनके

विपरीत अर्थ करके, गीता को अपनी योग्यता के आधार पर प्राप्त मानव मात्र के धर्मशास्त्र होनें की प्रतिष्ठा से नीचे गिराने की आवश्यकता नहीं है।

इस श्लोक के द्वारा भगवान् वचन देते हैं कि अनन्य भक्ति तथा आत्मस्वरूप के सतत् निदिध्यासन से न केवल दुराचारी लोग, वरन् जन्म से ही किसी प्रकार की मानसिक और बौद्धिक हीनता के शिकार हुए लोग भी सफलतापूर्वक आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं।

पापयोनि से जन्मे हुए – वेदान्त के अनुसार, पाप मन की वह दूषित प्रवृत्ति है, जो उसके भूतकाल के नकारात्मक और दोषपूर्ण जीवन के कारण मन में उत्पन्न हो जाती है। मन की ये कुवासनायें दुर्निवार होती हैं और मनुष्य को बलपूर्वक झूठे आदर्शों का जीवन व्यतीत करने को बाध्य करती हैं। फलतः उस व्यक्ति के अपने तथा अन्यों के जीवन में भी भ्रम, अशान्ति और दुर्व्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। ये वासनायें ही उपर्युक्त स्त्री. वैश्य और शूद्र वृत्तियों का मूल स्रोत हैं। केवल एक मन्द बुद्धि पण्डित में ही वह धृष्टता होगी जो शास्त्रों के वाच्यार्थ के प्रति दृढ़ निष्ठा रखते हुए इस श्लोक की व्याख्या उसी के अनुसार करने की मूर्खता करेगा। ऐसा करने में वह, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा पारिभाषित वर्णाश्रम[1] धर्म के अर्थ को आराम से भूल जाएगा।

संक्षेप में, जब मन इन दुष्प्रवृत्तियों से भरा होता है, तब ऐसे मन वाले व्यक्ति का वेदाध्ययन करना निरर्थक होता है। इस कारण, केवल करुणावश ऋषियों ने उनके लिए वेदाध्ययन का निषेध किया है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं था कि ऐसे व्यक्तियों को सदा के लिये अध्ययन से वंचित रखा जाय। इस पवित्र ब्रह्मविद्या का सफल अध्ययन करने हेतु आवश्यक योग्यताओं की प्राप्ति के लिए ही आध्यात्मिक साधनाओं का विधान किया गया है। ऐसी सभी साधनाओं में सबसे अधिक प्रभावशाली साधना है – उपासना अर्थात् भक्तिपूर्ण हृदय से ईश्वर का अखण्ड स्मरण करना। वेदान्त की यह घोषणा है कि उपासना के द्वारा मन की शुद्धि होती है। मन की अशुद्धियों अथवा कमजोरियों को यहाँ "स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः" इन शब्दों के द्वारा सूचित किया गया है।

एक बार जब ये नकारात्मक प्रवृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं, तब मन में एकाग्रता, अनन्यता और ध्यान की ऊँची उड़ान में समता आ जाती है। इस प्रकार यदि, यात्रा के लिये वाहन पूर्णरूप से तैयार हो जाय, तो गन्तव्य की प्राप्ति शीघ्र हो ही जाएगी। इसलिये भगवान् वचन देते है, "वे भी परम गति को प्राप्त होते हैं।"

---

१. गीता ४–१३ ; चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः ॥

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को आत्मसाक्षात्कार के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करते हैं।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

फिर क्या कहना है कि पुण्यशील ब्राह्मण और राजर्षि भक्तजन (परम गति को प्राप्त होते हैं); (इसलिए) इस अनित्य और सुखरहित लोक को प्राप्त होकर (अब) तुम भक्तिपूर्वक मेरी ही पूजा करो ॥६३॥

यदि पूर्व श्लोक में वर्णित गुणहीन और साधनहीन लोग भी भक्ति के द्वारा ईश्वर को प्राप्त हो सकते हैं, तो फिर साधन सम्पन्न व्यक्तियों के लिए परमार्थ की प्राप्ति कितनी सरल होगी, यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। ये साधन-सम्पन्न लोग हैं – ब्राह्मण अर्थात् शुद्धान्तःकरण का व्यक्ति, तथा राजर्षि माने उदार हृदय और दूर दृष्टि का बुद्धिमान व्यक्ति। जिस राजा ने बुद्धिमत्तापूर्वक अपनी राजसत्ता एवं धन वैभव का उपभोग किया हो, और तत्पश्चात् विवेक के द्वारा उनसे पूर्ण वैराग्य को प्राप्त हुआ हो, वह आत्मानुसंधान के द्वारा वास्तविक शान्ति का अनुभव प्राप्त करता है। ऐसे राजा को ही राजर्षि कहते हैं।

सब प्रकार के सम्भावित 'बुद्धि और हृदय' के लोगों का वर्णन करके, और आत्मज्ञान के लिये सबको उपयुक्त साधना का विधान करने के पश्चात्, अब, भगवान् इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए कहते हैं, "इस अनित्य और सुखरहित लोक को प्राप्त करके अब तुम मेरा ही भजन करो।" अर्जुन के निमित्त दिया गया उपदेश हम सबके लिये ही है; क्योंकि यदि श्रीकृष्ण आत्मा का प्रतिनिधित्व करते हैं, तो अर्जुन उस मनुष्य का प्रतिनिधि है, जो जीवन संघर्षों की चुनौतियों का सामना करने में अपने आप को असमर्थ पाता है।

असंख्य विषय, इन्द्रियाँ और मन के भाव – इनसे युक्त जगत् में ही हमें जीवन जीना होता है। ये तीनों ही सदा बदलते रहते हैं। स्वाभाविक ही, इन्द्रियों के द्वारा विषयोपभोग का सुख अनित्य ही होगा। और दो सुखों के बीच का अन्तराल केवल दुःखपूर्ण ही होगा।

आशावाद का जो विधेयात्मक और शक्तिप्रद ज्ञान गीता सिखाती है, उसी स्वर में, भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ कहते हैं कि यह जगत् केवल दुःख का गर्त या निराशा की खाई या एक सुखरहित क्षेत्र है।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं कि इस अनित्य और सुखरहित लोक को प्राप्त होकर अब उसको नित्य और आनन्दस्वरूप आत्मा की पूजा में प्रवृत्त होना चाहिये। इस साधना में अर्जुन को प्रोत्साहित करने के लिए ही भगवान् ने यह कहा है कि गुणहीन[1] लोगों के विपरीत जिस व्यक्ति में ब्राह्मण और राजर्षि के गुण हैं, उसके लिए सफलता सरल और निश्चित होती है। इसलिये "भक्तिपूर्वक मेरी पूजा करो।"

"हे मेरे प्रभु! जब मुझे युद्धभूमि पर शत्रु का सामना करना हो, तब मैं आपकी पूजा किस प्रकार कर सकता हूँ?" इस पर भगवान् कहते हैं :

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

(तुम) मुझमें स्थिर मनवाले बनो; मेरे भक्त और मेरे पूजन करने वाले बनो; मुझे नमस्कार करो; इस प्रकार मत्परायण (अर्थात् मैं ही जिसका परम लक्ष्य हूँ ऐसे) होकर आत्मा को मुझसे युक्त करके तुम मुझे ही प्राप्त होओगे ॥३४॥

यह श्लोक सम्पूर्ण अध्याय का सुन्दर सारांश है, क्योंकि इस अध्याय के कई अन्य श्लोकों पर यह काफी प्रकाश डालता है। हम कह सकते हैं कि यह श्लोक अनेक श्लोकों[2] की व्याख्या का कार्य करता है।

वेदान्त के प्रकरण ग्रन्थों में आत्मविकास एवं आत्मसाक्षात्कार के लिये सम्यक् ज्ञान और ध्यान का उपदेश दिया गया है। ध्यान के स्वरूप की परिभाषा इस प्रकार दी गई है कि, "उस (सत्य) का ही चिन्तन, उसके विषय में ही कथन, परस्पर उसकी चर्चा करके मन का तत्पर या तत्स्वरूप बन जाने को ही, ज्ञानी पुरुष ब्रह्माभ्यास समझते हैं।"[3] ब्रह्माभ्यासकी यह परिभाषा ध्यान में रखकर ही महर्षि व्यास इस श्लोक में दृढ़तापूर्वक अपने सुन्दर भक्तिमार्ग का चित्रण करते हैं। यही विचार इसी अध्याय में एक से अधिक अवसरों पर व्यक्त किया गया है।

सब काल में किसी भी कार्य में व्यस्त रहते हुए भी "मन को मुझमें स्थिर

---

१. जिन्हें स्त्री, वैश्य और शूद्र शब्दों से सूचित किया है।

२. श्लोक १४ और २७

३. तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥ —पञ्चदशी

करके, मेरा भक्त मेरा पूजन करता है और मुझे नमस्कार करता है।" संक्षेपत:, जीवन में आध्यात्मिक सुधार के लिए मन का विकास एक मूलभूत आवश्यकता है। यदि वास्तव में हम आध्यात्मिक विकास करना चाहें तो बाह्य दशा या परिस्थिति, हमारी आदतें, हमारा भूतकालीन या वर्तमान जीवन कोई भी बाधक नहीं हो सकता है।

प्रयत्नपूर्वक ईश्वर स्मरण या आत्मचिन्तन ही सफलता का रहस्य है।

इस प्रकार जब "तुम मुझे परम लक्ष्य समझोगे तब तुम मुझे प्राप्त होओगे", यह श्रीकृष्ण का अर्जुन को आश्वासन है। वर्तमान में हम जो कुछ हैं, वह हमारे संस्कारों के कारण है। शुभ और दैवी संस्कारों के होने पर हम उन्हीं के अनुरूप बन जाते हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥

इस प्रकार श्रीकृष्णार्जुनसंवाद के रूप में ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रस्वरूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् का राजविद्याराजगुह्ययोग नामक नवां अध्याय समाप्त होता है।

इस अध्याय के लिए दिया गया नाम उपयुक्त है। राजविद्या और राजगुह्य इन दो शब्दों का विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। अध्याय के प्रारम्भ[1] में हमने देखा कि शुद्ध चैतन्य ही वह ज्ञान है, जिसके प्रकाश में सभी औपाधिक या वृत्तिज्ञान सम्भव है। अत: उस पारमार्थिक तत्त्व का बोध कराने वाली इस विद्या को राजविद्या कहना अत्यन्त समीचीन है। उपनिषदों में इसे "सर्वविद्या प्रतिष्ठा" कहा गया है, क्योंकि "इसे जानकर और कोई जानने योग्य शेष नहीं रह जाता है" – यही मुण्डकोपनिषद् की भी घोषणा है।

ॐ

---

१. श्लोक–२

दशम अध्याय

विभूतियोग

किसी विषय का क्रमबद्ध पद्धति से विवेचन करने वाले ग्रन्थों के अध्यायों में संगति होती है। पश्चात् के अध्यायों का मूल या उनकी संगति पूर्व अध्यायों से होती है। इस प्रकार के विवेचनों में विषय प्रतिपादन की अविच्छिन्नता और विचारों के क्रम में संगति होना आवश्यक है। यद्यपि गीता के समस्त अध्यायों का भिन्न-भिन्न नामकरण किया गया है, इसलिए उसका प्रत्येक अध्याय सर्वथा स्वतन्त्र प्रतीत होता है, तथापि उनको एक सूत्र में धारण किये हुए विचारों का एक अदृश्य सांचा उसमें निहित है। इस दृष्टि से, इस अध्याय का मूल पूर्व अध्यायों के विभिन्न श्लोकों में हमें मिलेगा। उन सब में, सबसे प्रमुख और ध्यान आकर्षित करने वाला मूल सातवें अध्याय के दो श्लोकों[1] में है। उस अध्याय में अपनी अपरा और परा प्रकृतियों का वर्णन करने के पश्चात भगवान् श्रीकृष्ण निष्कर्ष बताते हैं, 'मैं ही सम्पूर्ण जगत् का प्रभव और प्रलय स्थान हूं'; और इसलिये 'मुझसे परे कुछ नहीं है। यह सब मुझमें ऐसे पिरोये हुए हैं, जैसे सूत्र में मणियां।'

यह सत्य है कि भगवान् श्रीकृष्ण अपने सनातन और सर्वव्यापी आत्मस्वरूप में इस समस्त नामरूपमय सृष्टि के प्रभवस्थान हैं, तथापि वे अर्जुन को इस चराचर विश्व में अपना निश्चित स्थान और महत्त्व दर्शाना चाहते हैं।

इस अध्याय का नाम है – विभूतियोग, क्योंकि यह अध्याय परमात्मा के (क) ऐश्वर्य एवं (ख) उनकी सर्वव्यापकता का वर्णन करता है। इस अध्याय के वर्णनानुसार आत्मा इस बहुविध सृष्टि का सारतत्त्व है। इसलिये, यहां हम देखते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं का परिचय निम्न दो प्रकार से कराते हैं: (क) प्राणियों के सभी वर्गों अथवा जातियों में वे सर्वश्रेष्ठ और प्रमुख तत्त्व हैं; तथा (ख) उनके बिना किसी भी वर्ग के प्राणी अपना अस्तित्व नहीं बनाये रख सकते हैं। प्रत्येक श्लोक के सूक्ष्म अध्ययन के समय हम उसमें इन दो तथ्यों को पायेंगे।

भगवान् श्रीकृष्ण के ओजस्वी एवं प्रभावशाली उपदेश के फलस्वरूप, इस

---

१. गीता ७-६, ७.

अध्याय में वैदिक ज्ञान में पुनर्शिक्षित अर्जुन को हम अत्यन्त उत्साहित और अनुप्राणित पाते हैं। गीताचार्य श्रीकृष्ण यह स्वीकार करते हैं कि अर्जुन की प्रसन्नता को देखकर उन्हें भी परम सन्तोष और उत्साह का अनुभव हो रहा है, और इसलिये, वे इस अध्याय का प्रारम्भ करते हैं।

इस अध्याय में अर्जुन अपनी जिज्ञासा प्रकट[1] करता है कि इस नानाविध सृष्टि को देखते हुए और सबसे व्यवहार करते समय भी कोई साधक सनातन सत्य का स्मरण और चिन्तन किस प्रकार कर सकता है? इस प्रश्न विशेष का उत्तर ही यह सम्पूर्ण अध्याय है। सुखरहित अनित्य वस्तुओं में ही स्थित आनन्दस्वरूप अनन्त तत्त्व को दर्शाने वाले संकेतों से यह अध्याय परिपूर्ण है।

इस अध्याय की समाप्ति भगवान् श्रीकृष्ण के एक ऐसे वाक्य से होती है, जिसमें वे समस्त विभूतियों का वर्णन करने में अपनी असमर्थता व्यक्त करते हैं। परन्तु उनके इस वाक्य से अर्जुन यह बात भली-भांति समझ लेता है कि जगत् की समस्त वस्तुओं और प्राणियों का वर्णन करना तथा प्रत्येक वस्तु में स्थित उस महान् आत्मा का निर्देश करना असंभव है; क्योंकि वह आत्मा जड़ पदार्थ से भिन्न है, और अभिन्न भी। क्या कोई विद्युत अभियन्ता विश्व के समस्त विद्युत् उपकरणों का क्रम से वर्णन करके दिखा सकता है कि किस प्रकार उपकरण और उसमें प्रवाहित हो रही विद्युत् धारा परस्पर भिन्न है? यह कदापि संभव नहीं है। यह अध्याय भगवान् के इस कथन के साथ समाप्त होता है, 'इस विस्तार को जानने से तुम्हारा क्या प्रयोजन है? मैं इस सम्पूर्ण जगत् को एक अंश मात्र से धारण करके स्थित हूं।'

वेदान्त के अनुसार, एक व्यष्टि मन और बुद्धि की उपाधि से 'मानो' अवच्छिन्न (सीमित, मर्यादित) या प्रतिबिंबित अथबा कार्य कर रहा आत्मा ही जीव कहलाता है। यह जीव परिच्छिन्न और अपने ही दोषों से पीड़ित रहता है। जबकि, यही सनातन आत्मा समष्टि मन और बुद्धि उपाधि से अवच्छिन्न या उसमें प्रतिबिम्बित होता है तब ईश्वर कहलाता है, जो अपरिच्छिन्न और सदा अपने पूर्णत्व का स्वामी बना रहता है। यदि एक बार, इस व्यष्टि और समष्टि की दृष्टि से आत्मा को प्राप्त हुए जीव और ईश्वर भाव को हमने भली-भांति समझ लिया, तो ये दोनों दसवां और ग्यारहवां अध्याय स्वतः स्पष्ट हो जाते हैं।

ईश्वर के सम्बन्ध में प्रतिपादित प्राचीन वैदिक सिद्धान्त को किसी सीमा तक समझने के लिये प्रजातान्त्रिक शासनपद्धति से कार्य कर रही किसी राष्ट्र की सरकार

---

१. गीता १०-१७.

का दृष्टान्त उपयुक्त और उपयोगी है। प्रजातन्त्र में वयस्क मताधिकार की पद्धति होती है, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के पास अपनी इच्छा को व्यक्त करने के लिए एक मत का अधिकार होता है। परन्तु देश पर शासन करने का अधिकारी केवल वही व्यक्ति होता है, जिसे सर्वाधिक मत प्राप्त होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वह बहुसंख्यक लोगों के विश्वास का पात्र है और वह उनका प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार किसी कालविशेष में जब कोई व्यक्ति सरकार बनाने के किये चुना जाता है, तब उसे जनता की मांगों और आकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिये उपयुक्त पद्धति से शासन करना होता है। राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति अपनी–अपनी शक्ति और अधिकार को एक केन्द्र स्थान में समर्पित कर देता है जिससे सरकार का निर्माण होता है। जब एक बार सरकार बन जाती है, तब वही सरकार शासित जनता से कितनी अधिक शक्तिशाली होती है–यह तो सर्वविदित ही है !

आत्मस्वरूप 'मैं' एक परिच्छिन्न व्यष्टि मन बुद्धि के साथ तादात्म्य कर मर्त्य और बद्ध जीवभाव को प्राप्त होता हूं; और यही 'मैं' आत्मा समष्टि मन-बुद्धि के साथ तादात्म्य कर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सृष्टिकर्ता (ब्रह्मा), धर्ता (विष्णु) और संहारकर्ता (महेश) ईश्वर बन जाता है।

यह सामान्य अनुभव की बात है कि हमारा जगत् हमारी मनोदशा से प्रभावित और रंजित होता है। मन के प्रसन्न होने पर हमें यह जगत् प्रकाश और आनंद हर्ष और सुख की नृत्यशाला के रूप में प्रतीत होता है। और जब हमारी मनोदशा परिवर्तित होती है तब यही जगत् हमें यातनाओं और अश्रुओं से पूर्ण दयनीय कारावास प्रतीत होता है। एक और भी अनुभव यह है कि निद्रावस्था में जब मन और बुद्धि लीन हो जाते हैं, तब हमारे लिये सफलता और आनन्द, दुर्भाग्य और दुःख मय जगत् भी तिरोभूत हो जाता है। इन अनुभवों के निरीक्षणों का वर्गीकरण करके यह सिद्धान्त स्थापित किया जा सकता है कि, 'मन के अनुरूप जगत् होता है, और मन के अभाव में जगत् का भी अभाव हो जाता है।'

इस प्रकार, मैं, तुम और वह व्यक्ति अपने-अपने मन के संस्कारों के अनुसार सृष्टि निर्माण करते हैं। निःसन्देह इस प्रक्रिया में, मेरी सृष्टि में कुछ अंश कुछ काल के लिए अन्य की सृष्टि के भी उपलब्ध हो सकते हैं। दर्शनशास्त्र की दृष्टि से, नाम और रूपों तथा वस्तुओं और प्राणियों के इस सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय उन समस्त मनों के कुल योग पर निर्भर करती है, जो इसे देखने और अनुभव करने के लिये उपलब्ध होते हैं। इसे ही समष्टि मन कहते हैं, जिसमें न केवल मनुष्यों के मन, वरन, सम्पूर्ण वनस्पति और पशु जगत् के प्राणियों के मन भी समाविष्ट हैं। इन विभिन्न प्राणियों के विकास में न्यूनाधिक्य अवश्य है। जब हम वेदान्त में

प्रतिपादित ईश्वर के सिद्धान्त को पूर्णतया समझ लेते हैं, तब वह सिद्धान्त हमें स्वीकार्य हो जाता है, अन्यथा उसके विषय में सन्देह बना रहता है।

इस सिद्धान्त के आशय अत्यन्त व्यापक हैं। यह न केवल ईश्वर की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता को सिद्ध करता है, वरन् ईश्वर के लिए प्रयुक्त 'सर्वलोकमहेश्वर' इस विशेषण को भी सर्वग्राह्य अर्थ प्रदान करता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् के प्रवचन का श्रवण करते हुए, अर्जुन सर्वोच्च परतत्व को स्पर्श करने वाले अनुभव में अपना भान भी खो बैठा है। परन्तु मन की यह ऊंचाई केवल पूर्व तैयारी है, जिसके बिना अर्जुन के लिये दिव्य दृष्टि प्राप्त कर अगले अध्याय में वर्णित विश्वरूप का दर्शन करना संभव नहीं हो सकता था।

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो श्रृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१॥

श्रीभगवान् ने कहा–

हे महाबाहो! पुनः तुम मेरे परम वचन का श्रवण करो, जो कि मैं तुझ अतिशय प्रेम रखने वाले के लिये हित की इच्छा से कहूंगा ॥१॥

प्रथम अध्याय के अनिश्चय की स्थिति में देखे गये कम्पित अर्जुन नें अब तक एक अतुलनीय आन्तरिक सन्तुलन प्राप्त कर लिया था। हिन्दू दर्शन के बुद्धिमत्तापूर्वक किये गये अध्ययन से, जो आन्तरिक शान्ति प्राप्त होती है, उसे भगवान् इस अध्याय के प्रारम्भ में ही अपने शिष्य अर्जुन को प्रीयमाण कहकर स्पष्ट करते हैं। प्रीयमाण का अर्थ है 'जो प्रसन्न हो।' यहां अर्जुन की प्रसन्नता का कारण भगवान् के उपदेश का श्रवण है।

शिष्यों के उत्साह एवं रुचिपूर्वक श्रवण से गुरु का उत्साह भी द्विगुणित हो जाता है। वेदान्त दर्शन के गूढ अभिप्रायों को अधिकाधिक समझने पर आन्तरिक शान्ति और सन्तोष का अनुभव हुए बिना नहीं रह सकता। गीताचार्य श्रीकृष्ण पुनः उत्साह से भरकर इस ज्ञान का विस्तार से वर्णन करते हैं।' पुनः तुम मेरे परम वचन को सुनो, जो मैं तुम्हारे हित की इच्छा से कहूंगा।'

यहां अर्जुन को 'महाबाहो' कहकर संबोधित किया गया है। यह सम्बोधन अर्जुन को इस बात का स्मरण कराता है कि उसको अपने आन्तरिक जीवन में भी

एक वीर पुरुष के समान प्राप्त परिस्थिति में से ही एक दिव्य आनन्द के राज्य का निर्माण करना चाहिये, जो कि उसकी वास्तविक धरोहर है ! यह स्पष्ट है कि भगवान् का प्रवचन किसी लौकिक विषय पर न होकर मनुष्य में ही निहित आध्यात्मिक श्रेष्ठता की संभावनाओं तथा उन्हें उजागर करने के उपायों पर है; क्योंकि यहां कहा गया है कि 'तुम मेरे परम वचन को सुनो, जो मैं तुम्हारे (आध्यात्मिक) हित की इच्छा से कहूंगा ।'

पुन: प्रवचन प्रारम्भ करने का क्या प्रयोजन है, इसे वे अब बताते हैं :

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ।।२।।

मेरी उत्पत्ति (प्रभव) को न देवतागण जानते हैं और न महर्षिजन; क्यों कि मैं सब प्रकार से देवताओं और महर्षियों का भी आदिकारण हूं ।।२।।

जब कभी हम प्रत्यक्ष प्रमाण या अनुभव के द्वारा कोई ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते हैं, तब हम उसे उस विषय के ज्ञाता पुरुषों से समझना चाहते हैं । उन्हें आप्त पुरुष कहा जाता है । किन्तु ब्रह्मविद्या के क्षेत्र में आत्मप्रशिक्षण की यह अप्रत्यक्ष विधि भी कठिन है, क्योंकि, भगवान् कहते हैं, ''मेरी उत्पत्ति को न देवतागण जानते हैं और न महर्षिजन ।'

बाद में[1], भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही स्पष्ट करेंगे कि महर्षि शब्द से उनका निश्चित अभिप्राय क्या है । ये महर्षिगण पुराणों में बताये हुए भृगु आदि सप्त ऋषि नहीं है ।

सप्त ऋषियों का दार्शनिक अर्थ निम्न प्रकार से है ।

जब अनन्तस्वरूप ब्रह्म केवल आभासिक रूप से समष्टि बुद्धि (महत् तत्त्व) के साथ तादात्म्य को प्राप्त कर अपना एक व्यक्तित्व प्रकट (अहंकार) करता है, तब वह स्वयं ही स्वयं को, स्वयं के आनन्द के लिये इस विषयात्मक जगत् में प्रपेक्षित करता है अथवा व्यक्त करता है । वास्तव में, ये भोग के विषय सूक्ष्म होते हैं, जिन्हें तन्मात्रा[2] कहते हैं । इन सबको पुराणों में सप्त ऋषि कह कर विभिन्न नाम भी दिये

---

१. गीता १०–६.

२. तन्मात्रा का अर्थ हैं पंचमहाभूतों का सूक्ष्म रूप । प्रत्येक तत्त्व में जो गुण हैं, वही तन्मात्रा कहलाती है । जैसे – आकाश में शब्द, वायु में स्पर्श, अग्नि में रूप, जल में रस (स्वाद) और पृथ्वी में गन्ध । ये गुण ही पंचविषय या पंचतन्मात्राएं हैं ।

गये हैं – वे सप्तर्षि हैं महत् तत्त्व, अहंकार और पंचतन्मात्राएं। पुराणों में इन्हें मानवीय रूप दे दिया गया है। संयुक्त रूप में ये सप्तर्षि मनुष्य के बौद्धिक और मानसिक जीवन के तथा सृष्टि के निमित्त और उपादान कारण के प्रतीक हैं।[१]

देव (सुर) शब्द का वाच्यार्थ – स्वर्ग के निवासी – यहां अभिप्रेत नहीं है, यद्यपि वह अर्थ भी संभव है। देव शब्द द्यु धातु से बनता है, जिसका अर्थ है 'प्रकाशित करना'। अत: हमारी ज्ञानेन्द्रियां ही वे देव हैं, जो हमारे असंख्य अनुभवों के लिये विषयों को प्रकाशित करते हैं।

इसलिये यह कथन उचित ही है कि चिन्मय स्वरूप 'मैं, सब देवगणों तथा महर्षिजनों का आदिकरण हूं।' अर्थात् आत्मा हमारे स्थूल और सूक्ष्म, शारीरिक और मानसिक जीवन का अधिष्ठान है। यद्यपि वे इस सत्य आत्मा में ही स्थित रहते हैं, किन्तु वे 'मेरे प्रभव को नहीं जान सकते।'

चैतन्य आत्मा हमारे हृदय में द्रष्टा के रूप में स्थित है, इसलिये वह इन्द्रियों का दृश्य विषय, या मन की भावना अथवा बुद्धि के ज्ञान का विषय कदापि नहीं बन सकता।

तब क्या यह सत्य है कि सम्पूर्ण जगत् के आदिकारण इस आत्मा का ज्ञान और अनुभव किसी को भी नहीं हो सकता है? ऐसी आशंका को दूर करने के लिये भगवान् कहते हैं:

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥

जो मुझे अजन्मा, अनादि और लोकों के महान् ईश्वर के रूप में जानता है, मर्त्य मनुष्यों में ऐसा संमोहरहित (ज्ञानी) पुरुष सब पापों से मुक्त हो जाता है ॥३॥

जो मुझे जानता है – यह जानना केवल भावना के प्रवाह में अथवा बुद्धि के विचारों से जानना नहीं है, वरन् यह पूर्ण और वास्तविक आत्मानुभूति है, जो आत्मा के साथ घनिष्ठ तादात्म्य के क्षणों में होती है। आत्मा को किसी दृश्य के समान नहीं किन्तु स्वस्वरूप से इस प्रकार जानना है कि वह 'अजन्मा, अनादि और सर्वलोक महेश्वर है।' जो लोग वेदान्त दर्शन की प्राचीन परम्परा से कुछ परिचित हैं, उनके

१. निर्माता निमित्त कारण कहलाता है और जिस पदार्थ से वस्तु बनायी जाती है, उसे उपादान कारण कहते हैं।

लिये उपर्युक्त ये तीन विशेषण अत्यन्त सारगर्भित हैं, जबकि उससे अनभिज्ञ लोगों को ये विशेषण निरर्थक ही प्रतीत होंगे। अनात्म जड़ जगत् परिच्छिन्न है, जहां कि प्रत्येक वस्तु प्राणी, या अनुभव अनित्य हैं, अर्थात् समस्त वस्तुएं आदि (जन्म) और अन्त (मृत्यु) से युक्त हैं।

असीम अनन्त परमात्मा का कभी जन्म नहीं हो सकता, क्योंकि जो उत्पन्न हुआ है, वह परिच्छिन्न है; और किसी भी परिच्छिन्न वस्तु में अनन्त तत्त्व कभी अपने अनन्त स्वरूप में व्यक्त नहीं हो सकता है। स्थाणु (स्तम्भ) में जब–भ्रान्ति से पुरुष (या प्रेत) की प्रतीति होती है, तब पुरुष का नाश (अप्रतीति) हो सकता है, क्योंकि वह 'उत्पन्न' हुआ था। परन्तु, वास्तव में यह नहीं कहा जा सकता कि स्थाणु ने प्रेत को जन्म दिया, अथवा स्तम्भ से प्रेत की उत्पत्ति हुई। स्थाणु तो वहां पहले भी था, है और रहेगा। आत्मा नित्य सनातन है, इसलिए वह जन्मरहित है। अन्य वस्तुओं का जन्म, स्थिति और नाश इस आत्मा में ही होता है। तरंगे समुद्र से उत्पन्न होती हैं, परन्तु स्वयं समुद्र अजन्मा है। प्रत्येक तरंग का आदि है, मध्य है और अन्त भी। किन्तु उन सबका सारतत्त्व इन समस्त विकारों से सर्वथा मुक्त है और इसलिये, इस श्लोक में आत्मा को 'अनादि' विशेषण दिया गया है।

लोकमहेश्वर – 'लोक' शब्द का अर्थ 'जगत्' करने से इस संस्कृत शब्द के व्यापक आशय की उपेक्षा हो जाती है। लोक शब्द जिस धातु से बनता है उसका अर्थ है – देखना, अनुभव करना। अत: इसका सम्पूर्ण अर्थ होगा – 'अनुभव का क्षेत्र।' हमारे दैनिक व्यवहार में भी इसी अर्थ में लोक शब्द का प्रयोग किया जाता है, जैसे धनवानों का लोक, अपराधियों का लोक, विद्यार्थी लोक, कवियों का लोक आदि। इसलिए, उसके व्यापक अर्थ में लोक शब्द से मात्र भौतिक जगत् ही नहीं, बल्कि भावनाओं एवं विचारों के जगत् का बोध भी होता है।

इस प्रकार, मेरा लोक वह है, जो मैं अपने शरीर, मन और बुद्धि के द्वारा अनुभव करता हूँ। यह तो स्पष्ट है कि जब तक मुझे इनका निरन्तर भान नहीं होता तब तक ये अनुभव मेरे नहीं हो सकते हैं। यह चैतन्य तत्त्व, जिसके कारण ही मैं जीता हूं और जगत् का अनुभव करता हूं, वास्तव में मेरे लोक का ईश्वर होना ही चाहिए।

जो मेरे व्यष्टि के विषय में सत्य है, वही जगत् के समस्त प्राणियों के विषय में भी सत्य है, क्योंकि आत्मा सर्वत्र एक ही है। इस समष्टि लोक का शासक, महान् ईश्वर स्वयं परमात्मा ही हो सकता है। यह 'लोक महेश्वर' शब्द का वास्तविक अर्थ है। ईश्वर कोई निरंकुश एवं क्रूर शासक अथवा आकाश में बैठा कोई सुल्तान नहीं। आत्मा हमारे लोक का ईश्वर ऐसे ही है, जैसे, दिन के समय सूर्य इस बाह्य

जगत् का स्वामी है, क्योंकि वही जगत् को प्रकाशित करता है।

'जो मुझे अजन्मा, अनादि और लोक महेश्वर के रूप में जानता है, वह संमोहरहित हो जाता है।' स्थाणु में प्रेत देखकर भयभीत व्यक्ति जैसे ही उस स्थाणु को पहचानता है, वैसे ही वह मोह और भ्रान्ति से मुक्त हो जाता है। हिन्दू धर्म में पाप की कल्पना किसी विकराल अवश्यंभाविता का भयंकर चित्र नहीं है। मनुष्य अपने "पापों के लिये" दण्डित नहीं, वरन् अपने 'पापों के द्वारा' ही दण्डित होता है। पाप वह स्व-अपमानजनक कर्म है, जिसका कारण है मनुष्य को अपने वास्तविक स्वरूप का अज्ञान।

जब कोई व्यक्ति अपने शुद्ध आत्मस्वरूप से भटक कर दूर चला जता है, तब वह जगत् की घटनाओं के साथ तादात्म्य कर सुख–दुःख का अनुभव करता है। वह जगत् में इस प्रकार व्यवहार करता है, मानो वह एक घृणित मांसपिण्ड ही है, अथवा स्पन्दनशील भावनाओं की गठरी अथवा विचारों का समूह मात्र है। उसका यह व्यवहार अपनी एकमेव अद्वितीय ईश्वरीय, दिव्य प्रतिष्ठा का अपमान ही है। ऐसे कर्म और विचार मनुष्य को निम्न ,स्तर के भोगों में आसक्त कर बाँध देते हैं, जिसके कारण वह उनसे ऊपर उठकर वास्तविक पूर्णत्व के शिखर तक कभी नहीं पहुंच पाता।

आत्मस्वरूप को पहचान कर उसमें दृढ़ निष्ठा प्राप्त कर लेने पर वह व्यक्ति पुनः कभी पापकर्म में प्रवृत्त नहीं होता। पापवृत्तियां वे विषैले फोड़े हैं, जिनके कारण हम अपनी परिच्छिन्नताओं की पीड़ा और बन्धनों का दुःख सहते रहते हैं। जिस क्षण हम अपनें आत्मस्वरूप को पहचानते हैं कि वह 'अजन्मा' और 'अनादि' है तथा उसका विकारी और विनाशी उपाधियों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, उस समय हम वह सब कुछ प्राप्त कर लेते हैं जो जीवन में प्राप्तव्य है, और वह सब कुछ जान लेते हैं जो ज्ञातव्य है। ऐसा सम्यक् तत्त्वदर्शी पुरुष स्वयं ही 'लोकमहेश्वर' बन जाता है।

निम्न कारण से भी आत्मा लोकमहेश्वर है :

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ।।४।।

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ।।५।।

बुद्धि, ज्ञान, मोह का अभाव, क्षमा, सत्य, दम (इन्द्रिय संयम), शम (मनः संयम), सुख, दुःख, जन्म और मृत्यु, भय और अभय ।।४।।

अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश, और अपयश ऐसे ये प्राणियों के नानाविध भाव मुझ से ही प्रकट होते हैं ।।५।।

प्रस्तुत प्रकरण के विचार को ही आगे बढ़ाते हुए कि परमात्मा ही इस संपूर्ण विश्व का उपादान और निमित्त कारण है, भगवान् श्रीकृष्ण इन दो श्लोकों में उन विविध गुणों को गिनाते हैं, जो मनुष्य के मन और बुद्धि में व्यक्त होते हैं ।

साधारणतः, सृष्टि शब्द से हम केवल भौतिक जगत् ही समझते हैं । परन्तु उपर्युक्त समस्त गुण उसके व्यापक एवं सर्वग्राहक अर्थ को सूचित करते हैं । उनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जगत् शब्द के अर्थ में हमारे मानसिक और बौद्धिक जीवन भी सम्मिलित हैं ।

पुनः सभी मनुष्यों और प्राणियों का वर्गीकरण इन्हीं गुणों के आधार पर किया जाता है । प्रत्येक व्यक्ति अपने गुण या स्वभाव के वशीभूत है । यथा मन तथा मनुष्य । ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहां केवल शुभ दैवी गुणों की ही गणना की गयी है । संस्कृत व्याख्याकारों की पारम्परिक शैली का अनुकरण करते हुए, श्लोक में प्रयुक्त 'च' शब्द की व्याख्या यह की जा सकती है कि उसके द्वारा विरोधी अशुभ गुणों को भी यहां सूचित किया गया है । तथापि भगवान् केवल शुभ गुणों को ही स्पष्टतः बताते हैं, क्योंकि जिस व्यक्ति में इन गुणों की अधिकता होती है, उसमें आत्मा की शुद्धता एवं दिव्यता के दर्शन होते हैं ।

इन विभिन्न प्रकार की भावनाओं एवं विचारों से प्रेरित होकर प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने संस्कारों के अनुसार कर्म में प्रवृत्त होता है । इस प्रकार यहां विविध प्रकार के जीवन दृष्टिगोचर होते हैं । ये समस्त गुण, 'मुझसे ही प्रकट होते हैं ।' स्तम्भ में प्रतीत हुआ प्रेत चाहे प्रेम से मन्दस्मित करे या क्रोध से खिसियाये अथवा प्रतिशोध की भावना से धमकाये, उसका मन्द स्मित या धमकाना इत्यादि गुणों का केवल एक अधिष्ठान है – स्तम्भ । आत्मचैतन्य के बिना बुद्धि, ज्ञान आदि गुणों का न अस्तित्व है और न भान ।

इन गुणों के द्वारा सम्पूर्ण प्राणियों का तथा उनके अनुभवों का प्रायः पूर्ण वर्गीकरण किया गया है । इसलिये जैसा कि श्री शंकराचार्य कहते हैं, ये दो श्लोक आत्मा का सर्वलोकमहेश्वर होना सिद्ध करते हैं ।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ।।६।।

सात महर्षिजन, पूर्वकाल के चार (सनकादि) तथा (चौदह) मनु ये मेरे प्रभाव वाले मेरे संकल्प से उत्पन्न हुए हैं, जिनकी संसार (लोक) में यह प्रजा है ॥६॥

इस अध्याय के दूसरे श्लोक में जिस सिद्धान्त का संकेत मात्र किया गया था, उसका यहां विस्तार करते हुए यह सिद्ध किया गया है कि किस प्रकार सप्तर्षि, सनकादि चार कुमार और चौदह मनु, परमेश्वर के मन से उत्पन्न हुए हैं। ये सभी मिलकर जगत् के उपादान और निमित्त कारण हैं, क्योंकि यहां कहा गया है, 'इनसे यह सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न हुई है।'

सप्तर्षि–जिन्हें पुराणों में मानवीय रूप में चित्रित किया गया है, वे सप्तर्षि अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से महत् तत्त्व, अहंकार और पंच तन्मात्राएं हैं। इन सब के संयुक्त रूप को ही जगत् कहते हैं।

व्यक्तिगत दृष्टि से, सप्तर्षियों के रूपक का आशय समझना बहुत सरल है। हम जानते हैं कि जब हमारे मन में कोई संकल्प उठता है, तब वह स्वयं हमें किसी भी प्रकार से विचलित करने में समर्थ नहीं होता। परन्तु, किसी एक विषय के प्रति जब यह संकल्प केन्द्रीभूत होकर कामना का रूप ले लेता है, तब कामना में परिणत वही संकल्प अत्यन्त शक्तिशाली बन कर हमारी शान्ति और सन्तुलन को नष्टकर देता है। ये संकल्प ही बाहर प्रक्षेपित होकर पंच विषयों का ग्रहण और उनके प्रति हमारी प्रतिक्रियाएं व्यक्त कराते हैं। यह संकल्पधारा और इसका प्रक्षेपण ये दोनों मिलकर हमारे सुख-दुःख पूर्ण यश-अपयश तथा प्रयत्न और प्राप्ति के छोटे से जगत् के निमित्त और उपादान कारण बन जाते हैं।

पूर्वकाल के चार (सनकादि) और मनु – श्री शंकराचार्य अपनें भाष्य में इस प्रकार पदच्छेद करते हैं कि 'पूर्व काल सम्बन्धी और चार मनु''[१]। यहां इसका आध्यात्मिक विश्लेषण करना उचित है जिसके लिए हमें दूसरी पंक्ति में आधार भी मिलता है। भगवान् कहते हैं, ''ये सब मेरे मन से अर्थात् संकल्प से ही प्रकट हुए हैं।''

पुराणों में ऐसा वर्णन किया गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में ही सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी से चार मानस पुत्रों सनत्कुमार, सनक, सनातन और सनन्दन का जन्म हुआ।

---

१. श्री शंकराचार्य स्पष्ट करते हैं कि कुल चौदह मनुओं में से चार को यहां बताया गया है। इन मनुओं ने ही मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के लिए आचार संहिता बनाई थी, जिसके पालन से हम अपने पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में श्रेष्ठ पुरुष बन सकते हैं।

हममें से प्रत्येक (व्यष्टि) व्यक्ति में निहित 'सृजन शक्ति' अथवा 'सृजन की प्रवृत्ति' के माध्यम से व्यक्त चैतन्य ही व्यष्टि सृष्टि का निर्माता है। यह सृजन की प्रवृत्ति अन्तःकरण के चार भागो में व्यक्त होती है तभी किसी प्रकार का निर्माण कार्य होता है। वे चार भाग हैं : संकल्प (मन), निश्चय (बुद्धि), पूर्वज्ञान का स्मरण (चित्त) और कर्तृत्वाभिमान (अहंकार)। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चारों को उपर्युक्त चार मानसपुत्रों के द्वारा इंगित किया गया है।

इस प्रकार एक ही श्लोक में समष्टि और व्यष्टि की सृष्टि के कारण बताए गए हैं। समष्टि सृष्टि की उत्पत्ति एवं स्थिति के लिए महत् तत्त्व, अहंकार और पंच तन्मात्रायें कारण हैं, जबकि व्यष्टि सृष्टि का निर्माण मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार की क्रियाओं से होता है।

संक्षेप में, सप्तर्षि समष्टि सृष्टि के तथा चार मानस पुत्र व्यष्टि सृष्टि के निमित्त और उपादान कारण हैं।

व्यष्टि और समष्टि की दृष्टि से, सृष्टि के अभिप्राय को समझनें की क्या आवश्यकता है ? सुनो–

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

जो पुरुष इस मेरी विभूति और योग को तत्त्व से जानता है, वह पुरुष अविकम्प योग (अर्थात् निश्चल ध्यान योग) से युक्त हो जाता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥७॥

"जो इस मेरी विभूति और योग को तत्त्व से जानता है", वह ब्रह्मज्ञान में निष्ठा प्राप्त करता है। इस श्लोक में प्रयुक्त इन दो शब्दों – विभूति और योग – का जो अर्थ सदैव बताया जाता है वह क्रमश: 'भूतमात्र का विस्तार' और 'ऐश्वर्य सामर्थ्य' है।

यद्यपि ये अर्थ सही हैं, तथापि वे इतने प्रभावी नहीं हैं कि पूर्व श्लोक में वर्णित सिद्धान्त और इस श्लोक के साथ की उसकी सूक्ष्म और सुन्दर संगति को वे व्यक्त कर सकें। सप्तर्षियों के माध्यम से समष्टि विश्व की अभिव्यक्ति ही परमात्मा की 'विभूति' है जबकि चार मानस पुत्रों द्वारा सृष्ट जीव (व्यष्टि) के अनुभव का जगत् आत्मा का दिव्य 'योग' है। व्यष्टि जीव के जगत् का अधिष्ठान आत्मा ही परमात्मा (ब्रह्म) है, जो सम्पूर्ण विश्व का आधार है। अतः, यहाँ कहा गया है कि,

जो पुरुष विभूति और योग इन दोनों को ही परमात्मा की दिव्य अभिव्यक्ति के रूप में साक्षात् जानता है, वही पुरुष अनन्त ब्रह्म का अपरोक्ष अनुभव करता है।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा पूर्व श्लोक में कथित सप्तर्षि तथा चार कुमारों की ब्रह्माजी के मन से हुई उत्पत्ति की उपयुक्तता को समझने में कठिनाई नहीं रह जाती। जब परमात्मा व्यष्टि और समष्टि मनों से अपने तादात्म्य को त्याग देता है, तब वह अपनी स्वमहिमा में ही प्रतिष्ठित होकर रमता है। समष्टि उपाधि के साथ तादात्म्य से वह ब्रह्म ईश्वर बन जाता है, और व्यष्टि के साथ सम्बन्ध से जीव भाव को प्राप्त हो जाता है। वेदान्त के इस अभिप्राय को समझना और उसी अनुभव में जीना ही 'अविकम्प योग' है। इस योग से ही आत्मानुभूति में दृढ़ और स्थायी निष्ठा प्राप्त होती है। योग शब्द से कुछ ऐसा अर्थ समाज में प्रचलित हो गया था कि लोगों के मन में उसके प्रति भय व्याप्त हो गया था। गीता में, महर्षि व्यास, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से इस परिचित शब्द 'योग' का अर्थ नए सन्दर्भ में इस प्रकार स्पष्ट करते हैं कि उसके प्रति व्याप्त आशंका निर्मूल हो जाती है और वह सबके लिए कल्याणकारक भी सिद्ध होता है। 'अविकम्प योग' उतना ही अपूर्व है जितनी कि योग शब्द की विविध परिभाषायें हैं, जो गीता के पूर्वाध्यायों के विभिन्न श्लोकों में[1] दी गयी हैं। गीता हिन्दू-पुनरुत्थान की रचनात्मक क्रांति का वह एकमात्र धर्मग्रन्थ है, जिसका स्थान अन्य कोई ग्रन्थ नहीं ले सकता है।

आत्मस्वरूप के अखण्ड अनुभव में दृढ़ और स्थायी निष्ठा प्राप्त करने के लिये कौन सा निश्चित साधन है? भगवान् श्रीकृष्ण अगले श्लोक में बताते हैं:

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥

मैं ही सबका प्रभव स्थान हूँ; मुझसे ही सब (जगत्) विकास को प्राप्त होता है, इस प्रकार जानकर बुधजन भक्ति भाव से युक्त होकर मुझे ही भजते हैं ॥८॥

व्यष्टि और समष्टि में जो भेद है वह उन उपाधियों के कारण है, जिनके माध्यम से एक ही सनातन, परिपूर्ण सत्य प्रकट होता है। इन दो उपाधियों के कारण ब्रह्म को हा क्रमशः जीव और ईश्वर भाव प्राप्त होते हैं; जैसे एक ही विद्युत शक्ति

---

१. (अ) समत्वं योग उच्यते। अ० २-४८
(ब) योगः कर्मसु कौशलम्। अ० २-५०
(स) दुःखसंयोगवियोग योग। अ० ६-२३ (कृपया इन सबकी व्याख्यायें पढ़िए)

बल्ब और हीटर में क्रमशः प्रकाश और ताप के रूप में व्यक्त होती है। स्वयं विद्युत में न प्रकाश है और न उष्णता। इसी प्रकार स्वयं परमात्मा में न ईश्वर भाव है और न जीव भाव। जो पुरुष इसे तत्वतः जानता है वह "अविकम्प योग"[1] के द्वारा ब्रह्मनिष्ठता को प्राप्त होता है।

एक कुम्भकार कुम्भ बनाने के लिए सर्वप्रथम घट के निर्माण के उपयुक्त लचीली मिट्टी तैयार करता है। तत्पश्चात् उस मिट्टी के गोले को चक्रपर रखकर घटाकृति में परिवर्तित करता हैं। तीसरी अवस्था में घट को सुखाकर उसे चमकीला किया जाता है। और चौथी अवस्था में उस तैयार घट को पकाकर उस पर रंग लगाया जाता है। घट निर्माण की इस प्रक्रिया में मिट्टी निश्चय ही कह सकती है कि वह घट का 'प्रभव स्थान' है। चार अवस्थाओं में घट का जो विकास होता है, उसका भी अधिष्ठान मिट्टी ही थी, न कि अन्य कोई वस्तु। यह बात सर्वकालीन घटों के सम्बन्ध में भी सत्य है। किसी भी घट की उत्पत्ति, वृद्धि और विकास उसके उपादान कारणभूत मिट्टी के बिना नहीं हो सकता। इसी प्रकार एक ही चैतन्य-स्वरूप परमात्मा, ईश्वर और जीव के रूप में प्रतीत होता है।

जिस पुरुष नें विवेक के द्वारा व्यष्टि और समष्टि के इस सूक्ष्म भेद को समझ लिया है, वही पुरुष अपने मन को बाह्य जगत् से निवृत्त करके इन दोनों के अधिष्ठानस्वरूप आत्मा में स्थिर कर सकता है। मन के इस भाव को ही यहाँ इस अर्थपूर्ण शब्द 'भावसमन्विता:' के द्वारा दर्शाया गया है।

प्रेम या भक्ति का मापदण्ड है पुरुष की अपनी प्रिय वस्तु के साथ तादात्म्य करने की क्षमता। संक्षेपत:, प्रेम की परिपूर्णता इस तादात्म्य की पूर्णता में है। जब एक भक्त स्वयं यह अनुभव कर लेता है कि एक परमात्मा ही समष्टि और व्यष्टि की अन्त:करण की उपाधियों के माध्यम से मानो ईश्वर और जीव बन गया है, तब वह पराभक्ति को प्राप्त भक्त कहा जाता है।

जिस भक्ति के विषय में पूर्व श्लोक में केवल एक संकेत ही किया गया था, उसी को यहां क्रमबद्ध करके एक साधना का रूप दिया गया है, जिसके अभ्यास से उपर्युक्त ज्ञान प्रत्येक साधक का अपना निजी और घनिष्ट अनुभव बन सकता है।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥

---

१. यह योग शास्त्रों में 'समाधियोग' के नाम से भी प्रसिद्ध है।

मुझ में ही चित्त को स्थिर करने वाले और मुझमें ही प्राणों (इन्द्रियों) को अर्पित करने वाले भक्तजन, सदैव परस्पर मेरा बोध कराते हुये, मेरे ही विषय में कथन करते हुए सन्तुष्ट होते हैं और रमते हैं ।।९।।

जब मन सुगठित और एकाग्र होता है, तभी साधक उस मन के द्वारा परमात्मा का ध्यान सफलतापूर्वक कर सकता है। ध्येय से भिन्न विषय का विचार उठने पर यह एकाग्रता भंग हो जाती है। विद्युत के सभी उपकरणों में विद्युत शक्ति को देखने, अथवा मिट्टी से बने घटों में मिट्टी को पहचानने में हमें कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती अथवा कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता, क्योंकि उनका हमें दृढ़ ज्ञान होता है। इसी प्रकार, एक बार निश्चयात्मक रूप से यह जान लेने पर कि ईश्वर और जीव का वास्तविक स्वरूप एक चैतन्य आत्मा ही है, मन में किसी भी प्रकार की वृत्ति के उठने पर भी सत्य के साधक को इस आत्मा का भान बनाये रखने में कोई कठिनाई नहीं होती। इस आशय को यहाँ 'मच्चित्ताः' इस शब्द से स्पष्ट किया गया है।

समस्त प्राणों अर्थात् इन्द्रियों को मुझमें अर्पित करके (मद्गतप्राणाः)– 'प्राण' शब्द से केवल प्राणवायु से ही तात्पर्य नहीं समझना चाहिए। प्राणियों के शरीर में होने वाली पाचनादि क्रियाओं को प्राण शब्द से दर्शाया जाता है। किन्तु यहाँ इस शब्द का प्रयोग मुख्यतः पांच ज्ञानेन्द्रियों को सूचित करने के लिये किया गया है। ये इन्द्रियाँ ही वे पांच द्वार या वातायान हैं, जिनके द्वारा मन बाह्य विषयों में विचरण करता है और इनके माध्यम से ही जगत् के विषय मन में प्रवेश करते हैं। वेदान्त कभी भी इन विषयों से पलायन करने का उपदेश नहीं देता। इस जगत् में जीते हुये विषयों से पलायन कदापि सम्भव नहीं हो सकता। ज्ञानमार्ग विवेकपूर्ण विचार का मार्ग है। इसमें विवेक के द्वारा मन को इस प्रकार संयमित और प्रशिक्षित किया जाता है कि जब कभी-भी बाह्य विषय अपना प्रभाव मन पर डालते हैं, तत्काल ही साधक को अपने उस आत्मस्वरूप का स्मरण हो जाता है, जिसके बिना वे विषय कभी प्रकाशित ही नहीं हो सकते थे।

परस्पर चर्चा करते हुये – किसी एक विषय में समान बौद्धिक रुचि के विद्यार्थीगण जब आपस में उस विषय की चर्चा करते हैं, तब न केवल वे अपने ज्ञान को स्पष्टतः व्यक्त करते हैं, वरन् प्रायः इस प्रक्रिया में उनका ज्ञान दृढ़ निश्चयात्मक रूप भी ले लेता है जो प्रारम्भ में केवल पुस्तकीय ज्ञान ही था। परिसंबाद की इस सर्वविदित पद्धति का वेदान्त में अथक रूप से अनुमोदन एवं उपदेश दिया गया है। वेदान्त में इसका नाम है – ब्रह्माभ्यास[1] जो साधना का एक महत्वपूर्ण अंग है।

---

१. देखिए अ० ९ के श्लोक ३४ की टिप्पणी में पंचदशी का उद्धृत श्लोक।

अध्यात्मक का सच्चा साधक वही है, जो अपने मन और इन्द्रियों की सभी प्रकार की क्रियाओं में आत्मा का स्मरण बनाये रखता है। इसका एक उपाय है – आत्म विषय में अन्य साधक जनों के साथ चर्चा एवं निदिध्यासन। ऐसे साधक साधना के फलस्वरूप उस परम आनन्द को प्राप्त करते हैं, जो उनके जीवन रथ के चक्रों के लिये पथरीले मार्ग पर सरलता से अग्रसर होने के लिये चिकने तेल का काम करता है और यात्रा को सुगम बना देता है। तुष्यन्ति और रमन्ति के भाव को ही उपनिषदों में सुन्दर प्रकार से कीडन्ति और रमन्ति शब्दों के द्वारा इंगित किया गया है।

भगवान् श्रीकृष्ण यहां आश्वासन देते हैं कि पूर्णत्व का साधक जब विचार मार्ग पर अग्रसर होता है तब उसी समय उसे सन्तोष और रमण का अनुभव होता है। सन्तोष और आनन्द से मन में ऐसा सुन्दर वातावरण निर्मित होता है, जो आध्यात्मिक प्रगति के अत्यन्त अनुकूल बनकर साधक की सफलता निश्चित कर देता है। सदैव असतुष्ट शोक मनाने वाले मानसिक स्तब्धता और बौधिक दरिद्रता का चित्र प्रस्तुत करने वाले साधक कदापि अपने इस परम आनन्द स्वरूप में प्रवेश नहीं कर सकते हैं।

प्रगति की इस सीमा तक पहुँचने पर साधकों को कहां से मार्ग दर्शन और बल मिलता है जिससे वे अपनी यात्रा के लक्ष्य तक पहुंचते हैं ? इसका उत्तर है :

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।१०।।

उन (मुझ से) नित्य युक्त हुए और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करने वाले भक्तों को, मैं वह 'बुद्धियोग' देता हूं जिससे वे मुझे प्राप्त होते हैं ।।१०।।

जब तक सबसे श्रेष्ठ आनन्ददायक वस्तु या लक्ष्य को नहीं पाया गया है जिसमें हमारा मन पूर्णतया रम सके, तब तक बाह्य विषयों, भावनाओं तथा विचारों के जगत् के साथ हुए तादात्म्य से हमारी सफलतापूर्वक निवृत्ति नहीं हो सकती। आनन्दस्वरूप आत्मा में ध्यानाकर्षण करने की ऐसी सामर्थ्य है; और इसलिये, जिस मात्रा या सीमा तक इस आत्मस्वरूप में मन स्थित होता है, उसी मात्रा में वह दुःख-दायी मिथ्या बन्धनों की पकड़ से मुक्त हो जाता है। इस वेदान्तिक सत्य का भगवान् श्रीकृष्ण इस वाक्य में वर्णन करते हैं, 'जो मेरा भक्तिपूर्वक भजन करते हैं।'

प्रिय के साथ तादात्म्य का ही अर्थ है प्रेम। आत्मा के साथ हुए तादात्म्य के अनुपात में ही जीव भक्त कहलाता है। और जब वह सततयुक्त हो जाता है, वह

वास्तविक रूप में हृदय-स्थित अपनी अव्यक्त दिव्यता को अभिव्यक्त कर पाता है।

ऐसे भक्त जो नित्य निरन्तर भक्ति, सन्तोष और आनन्द के वातावरण में सतत आत्मा का चिन्तन करते हैं उन भक्तों को स्वयं भगवान् ही वह 'बुद्धियोग' देते हैं, जिसके द्वारा वे भगवान् को ही प्राप्त होते हैं।

बुद्धियोग का पहले[1] भी वर्णन किया जा चुका है। 'आत्मा के अनन्त स्वरूप पर निदिध्यासन से सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना' ही बुद्धियोग है। प्रस्तुत सन्दर्भ में उसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि उपर्युक्त पद्धति से साधनाभ्यास करने वाले साधक को 'सत्य का बौद्धिक ग्रहण' होता है। निःसन्देह हमारा वह अभिप्राय कदापि नहीं है कि परिच्छिन्न बुद्धि के द्वारा कभी अनन्त वस्तु का ग्रहण किया जा सकता है। हम केवल लौकिक जगत् के एक सुपरिचित वाक्प्रचार का उपयोग ही कर रहे हैं। जब तक बुद्धि से ग्रहण किया गया एक अनुभव किसी अन्य अनुभव से बाधित नहीं होता, जब तक उस पूर्व अनुभव को प्रामाणिक और संदेहरहित माना जाता है। आत्मा का अनुभव कदापि बाधित नहीं हो सकता, क्योंकि वह अनुभवकर्ता का ही स्वरूप है। ऐसा दृढ़ ज्ञान केवल उन साधकों को ही प्राप्त होता है जिनमें आत्मानुसन्धान की परिपक्वता एवं स्थिरता आ जाती है।

इस प्रकार,, उक्त साधनाभ्यास के द्वारा सत्य पर पड़े आवरण और तज्जनित विक्षेपों की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है, तब वह साधक समाधि का साक्षात् अनुभव करता है, जो बुद्धियोग की परिसमाप्ति और पूर्णता है।

इस बुद्धियोग के द्वारा भगवान् अपने भक्तों के लिये निश्चित रूप से क्या करते हैं, इसका बर्णन अगले श्लोक में है :

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।।११।।

उनके ऊपर अनुग्रह करने के लिये मैं उनके अन्तःकरण में स्थित होकर, अज्ञानजनित अन्धकार को प्रकाशमय ज्ञान के दीपक द्वारा नष्ट करता हूं ।।११।।

कभी-कभी कोई वस्तु विद्यमान होते हुए भी हमारी दृष्टि के लिये आच्छादित रहती है, क्योंकि उसे देखने के लिये कुछ अनुकूल परिस्थितियों की आवश्यकता होती है। ध्वनि सुनने के लिए उसमें आवश्यक स्पन्दन होने चाहिये तथा यह भी आवश्यक है कि वे ध्वनि तरंगे हमारे कानों तक पहुंचें। इसी प्रकार, अपेक्षित प्रकाश

१. गीता २-४९

के अभाव में वस्तु के समक्ष होने पर भी उसका नेत्रों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता ।

यदि हम अन्धकार में मेज पर पड़ी अपनी कुंजी (चाभी) को टटोलकर खोज रहे हों और उसी समय कोई व्यक्ति स्वीच दबाकर कमरे को प्रकाशित कर देता है, तो हमें अपनी कुंजी दिखाई पड़ती है । हम कह सकते हैं कि उस व्यक्ति के इस दयापूर्ण कार्य ने हमें कुंजी की प्राप्ति करायी, परन्तु यह कहना सर्वथा असंगत होगा कि प्रकाश ने उस कुंजी को 'उत्पन्न' किया ।

इस दृष्टान्त के द्वारा वेदान्त में यह ज्ञान कराया जाता है कि आत्मा तो सदा हमारे हृदय में विद्यमान ही है, किन्तु प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण यथार्थ अनुभव के लिये उपलब्ध नहीं है । उन प्रतिकूल तत्त्वों की निवृत्ति होने पर वह आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप से अनुभव किया जा सकता है । आत्मा को आच्छादित करने वाला वह आवरण है – 'अज्ञानजनित अंधकार ।' स्मरण रहे कि इस अज्ञान अवस्था में भी आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप से विद्यमान रहता है, परन्तु हमारे साक्षात् अनुभव के लिये उपलब्ध नहीं होता । जो साधक बुद्धियोग में दृढ़ स्थिति प्राप्त कर लेते हैं, वे आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान के पात्र बन जाते हैं ।

बुद्धियोग की साधना अवस्था में ध्याता और ध्येय का भेद होता है, जिसे सविकल्प समाधि कहते हैं । इस श्लोक में यह कहा गया है कि इस सविकल्प अवस्था से वह साधक, मानो किसी ईश्वरीय कृपा से पूर्ण निर्विकल्प समाधि की स्थिति में स्थानान्तरिक किया जाता है। वस्तुतः, सविकल्प समाधि की स्थिति तक ही साधक अपने पुरुषार्थ के द्वारा पहुँच सकता है । यह बुद्धियोग भी मानो किसी 'अन्य स्थान' से प्राप्त होता है, तात्पर्य यह है कि वह कोई सावधानी पूर्वक किये गये किसी प्रयत्न का फल नहीं, वरन् सहज स्वाभाविक 'आंशिक दैवी प्रेरणा' है । अहंकार और शुद्ध आत्मा के मध्य का सघन कुहासा जब विरल हो जाता है, तब इस दैवी प्रेरणा का अनुभव होता है । जब यह कोहरा पूर्णतया नष्ट हो जाता है, तब पूर्ण आत्म साक्षात्कार अपने स्वयंप्रकाश स्वरूप में होता है ।

एक अन्धेरे कमरे में मेज पर रेडियम के डायल की एक घड़ी रखी हुई है, जिस पर कागज, पुस्तक आदि पड़े हुए होने से वह दिखाई नहीं देती । जब कोई व्यक्ति अन्धेरे में ही उसे खोजता हुआ उन कागजों आदि को हटा देता है, तो वह घड़ी स्वयं ही चमकती हुई दिखाई पड़ती है । उसकी चमक ही उसकी परिचायक होती है । सनातन सत्य भी अज्ञान से आवृत्त हुआ अभाव रूप प्रतीत हो सकता है, किन्तु अज्ञान की निवृत्ति होने पर, वह स्वयं अपने प्रकाश से ही प्रकाशित होता है, और उसे जानने के लिये अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती है ।

जब 'अज्ञान का अन्धःकार, प्रकाशमय ज्ञान के दीपक से नष्ट हो जाता है' तब आत्मा अपने एकमेव अद्वितीय, सर्वव्यापी और परिपूर्ण स्वरूप में स्वतः प्रकट होता है। अपने भक्तों के हृदय में स्थित स्वयं भगवान् इस आत्मा के प्रकटीकरण की क्रिया को उनके ऊपर अनुग्रह करने के भाव से सम्पन्न करते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि यह अनुग्रह स्वयं के ऊपर ही है। जब मैं चलते-चलते थक जाता हूं तब मैं किसी स्थान पर बैठ जाता हूं – केवल अपने ही प्रति अनुकम्पा के कारण।

इस अनुकम्पा के लिये उचित मूल्य चुकाये बिना साधक को सीधे ही इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। दिन के समय, मेरे कमरे की खिड़कियां खोल देने पर, सूर्य प्रकाश 'अनुकम्पावशात्' मेरे लिये कमरे को प्रकाशित करता है। जैसा कि हम जानते हैं कि जब तक वे खिड़कियां खुली रहती हैं, तब तक सूर्य को यह स्वतन्त्रता नहीं है कि वह अपनी दया का द्वार बन्द कर ले। उसी प्रकार उसकी दया तब तक प्रकट भी नहीं होगी, जब तक मैं अपने कमरे की खिड़कियाँ नहीं खोल देता हूँ। संक्षेपतः, सूर्य प्रकाश का आह्वान उसी क्षण होता है, जब उसके मार्ग का अवरोधक दूर हो जाता है।

इसी प्रकार, प्रारम्भिक साधनाओं के अभ्यास से साधक बुद्धियोग का पात्र बनता है। तत्पश्चात् इसके निरन्तर प्रयत्नपूर्वक किये गये अभ्यास से वह अज्ञान तथा तज्जनित विक्षेपों के आवरण को सर्वथा नष्ट कर देता है। तत्काल ही आत्मा अपने स्वयं के प्रकाश में ही प्रकाशस्वरूप से प्रकाशित होता है। मेघों को चीरकर जाती हुई विद्युत् को देखने के लिये किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती।

जीवन के सर्वोच्च व्यवसाय अथवा लक्ष्य – चित्तशुद्धि और आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति के लिये दिये गये उपदेश का खण्ड यहां पर समाप्त हो जाता है, तथापि अर्जुन को इससे सन्तोष नहीं होता, और इसलिये वह अपनी शंका को व्यक्त करते हुए भगवान् से सहायता के लिये अनुरोध करता है, जिससे कि साक्षात् अनुभव के द्वारा वह स्वयं सत्य की पुष्टि कर सके।

भगवान् के मुख से उनकी विभूति और योग के विषय में श्रवण कर, अर्जुन अपनी जिज्ञासा प्रकट करता है :

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥१२॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

अर्जुन ने कहा–

आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं; सनातन दिव्य पुरुष, देवों के भी आदि देव, जन्म रहित और सर्वव्यापी ॥१२॥

ऐसा आपको समस्त ऋषिजन कहते हैं; वैसे ही देवर्षि नारद, असित, देवल ऋषि तथा व्यास और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं ॥१३॥

अर्जुन वैदिक साहित्य से परिचित था । वह यहां कहता है कि प्राचीन ऋषियों ने अनन्त सनातन सत्य को जिन शब्दों के द्वारा सूचित किया है, उससे वह परिचित है, जैसे परं ब्रह्म, परं धाम, परम पवित्र आदि । परन्तु उसने अब तक यही समझा था कि ये सब परम सत्य के गुण हैं । इसलिये, जब वह भगवान् को इन्हीं शब्दों का प्रयोग स्वयं के लिये करते हुये सुनता है, तब वह कुन्तीपुत्र आश्चर्यचकित रह जाता है । उसे समझ में नहीं आता कि वह अपने रथ-सारथि श्रीकृष्ण को विश्व के आदिकारण के रूप में किस प्रकार जानें ?

व्यावहारिक बुद्धि का व्यक्ति होने के नाते अर्जुन को श्रीकृष्ण के स्वरूप को समझने के लिये अधिक तथ्यों की जानकारी की आवश्यकता थी । हम देखेंगे कि उसकी मांग को पूर्ण करने हेतु इसी अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने पर्याप्त सूचनाएं और तथ्य प्रस्तुत किये हैं । परन्तु, अर्जुन को सन्तुष्ट करने के स्थान पर वह जानकारी उसकी उत्सुकता को द्विगुणित कर देती है, और वह बाध्य होकर भगवान् से उनके विश्वरूप को दिखाने की माँग प्रस्तुत करता है; भक्तवत्सल करुणासागर भगवान् श्रीकृष्ण अगले अध्याय में अपने विश्वरूप को दर्शाकर अर्जुन को कृतार्थ कर देते हैं ।

यद्यपि अर्जुन ने इसके पूर्व भी परम पुरुष आदि शब्दों को ऋषियों से सुना था, किन्तु उसे वे अर्थशून्य और निष्प्रयोजन ही प्रतीत हुए थे । उसका आश्चर्य इन शब्दों में स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है कि, 'आप भी मेरे प्रति ऐसा ही कहते हैं।' यहाँ उनके कुछ आश्चर्यचकित एवं भ्रमित होनें का अवसर इसलिये था कि वह समझ नहीं पाया कि उसके समकालीन श्रीकृष्ण – जो उसके समक्ष खड़े थे, जिन्हें वह कई वर्षों से जानता था और जो उसके सम्बंधी भी थे – किस प्रकार अनन्त, परम, जन्म-रहित और सर्वव्यापी हो सकते हैं ।

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण को अपने चर्म चक्षुओं से देखता है और इसलिये उसे उनका केवल शरीर ही दिखाई देता है । सम्पूर्ण गीता में श्रीकृष्ण स्वयं को आत्म-

स्वरूप में ही प्रकट करते हैं, और न कि समाज के एक सदस्य के रूप में। गीता के उपदेष्टा 'श्रीकृष्ण परमात्मा', हैं, वसुदेव के पुत्र या गोपियों के प्रियतम नहीं। श्रीकृष्ण को सदैव मित्र या प्रेमी अथवा एक विश्वसनीय बुद्धिमान्, कूटनीतिज्ञ के रूप में देखते रहने से अर्जुन 'आत्मस्वरूप श्रीकृष्ण' को पहचान नहीं पाया। यही उसके आश्चर्य और भ्रम का कारण था।

अगला श्लोक अर्जुन में स्थिति एक जिज्ञासु साधक के भाव को स्पष्ट करता है :

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

हे केशव ! जो कुछ भी आप मेरे प्रति कहते हैं, इस सब को मैं सत्य मानता हूं। हे भगवन्, आपके (वास्तविक) स्वरूप को न देवता जानते हैं और न दानव ॥१४॥

यहां अर्जुन अपने मन के भावों को स्पष्ट करते हुए गुरु के प्रति अपनी अटूट श्रद्धा को भी व्यक्त करता है 'जो कुछ भी आप मेरे प्रति कहते हैं उसे मैं सत्य मानता हूं।" केशव शब्द का अर्थ है 'जिनके केश सुन्दर हैं' अथवा 'केशि नामक असुर का वध करनें वाले।' यद्यपि वह श्रीकृष्ण के कथन को सत्य मानता है, परन्तु वह उनके सम्पूर्ण आशय को ग्रहण नहीं कर पाता है। तात्पर्य यह है कि उसे हृदय से भगवान् के वचनों में पूर्ण विश्वास है, किन्तु उसकी बुद्धि अभी भी असन्तुष्ट ही है।

ज्ञान-पिपासा के वशीभूत अर्जुन का असन्तुष्ट व्यक्तित्व मानो कराहता है। यह ज्ञान-पिपासा दूसरी पंक्ति में प्रतिध्वनित होती है जहां वह कहता है 'आपके व्यक्तित्व को न देवता जानते हैं और न दानव।' दानव दनु के पुत्र थे, जो प्रायः स्वर्ग पर आक्रमण करते रहते थे, यज्ञयागादि में बाधा पहुंचाते थे और आसुरी जीवन जीते थे। इनके विपरीत, पुराणों के वर्णनानुसार, देवतागण स्वर्ग के निवासी हैं जो मर्त्य मानवों की अपेक्षा शारीरिक मानसिक और बौद्धिक क्षमताओं में अधिक शक्तिशाली होते हैं।

वैयक्तिक दृष्टि से, देव और दानव हमारे मन की क्रमशः शुभ और अशुभ प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं। जब अर्जुन कहता है कि आत्मा के स्वरूप का निर्धारण न तो सूक्ष्म और शुभ के दर्शन के समान हो सकता है, और न ही दानवी प्रवृत्ति के समान, तब उसकी निराशा स्पष्ट झलकती है। न तो हमारी दैवी प्रवृत्तियां सत्य का आलिंगन कर सकती हैं, और न ही दानवी गुण उसको युद्ध के लिये आह्वान

करके शत्रु के रूप में हमारे सामने ला सकते हैं। जगत् में हम वस्तुओं या व्यक्तियों को केवल दो प्रकार से मिलते हैं; प्रिय और अप्रिय अथवा मित्र और शत्रु के रूप में। आत्मा के व्यक्तित्व की पहचान इन दोनों ही प्रकारों से नहीं हो सकती, क्योंकि वह योग और विभूति की अभिव्यक्तियों में द्रष्टा है।

यदि सत्य को कोई नहीं जान सकता है, तो फिर अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से उसका वर्णन करने का अनुरोध क्यों करता है? उनमें ऐसा कौन सा विशेष गुण है, जिसके कारण वे उस वस्तु का वर्णन करने में समर्थ हैं, जिसे अन्य कोई जान भी नहीं पाता है?

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ।।१५।।

हे पुरुषोत्तम! हे भूतभावन! हे भूतेश! हे देवों के देव! हे जगत् के स्वामी! आप स्वयं ही अपने से आपको जानते हैं।।१५।।

यह श्लोक दर्शाता है कि किस प्रकार श्रीकृष्ण उस परम सत्य का वर्णन करने में सक्षम हैं, जिसे न स्वर्ग के देवता जान सकते हैं और न ही दानवगण। आत्मा को कभी भी प्रमाणों (इन्द्रियों) के द्वारा 'दृश्य पदार्थ' के रूप में नहीं जाना जा सकता है, और न वह हमारी शुभ और अशुभ प्रवृत्तियों के द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है। परन्तु, आत्मा चैतन्य स्वरूप होने से स्वयं ज्ञानमय है – और 'ज्ञान' को जानने के लिये किसी अन्य प्रमाण (ज्ञान का साधन) की आवश्यकता नहीं होती। इसलिये अर्जुन यहां कहता है, 'आप स्वयं अपने से आप को जानते हैं।'

सांख्यदर्शन के अनुसार प्रतिदेह में स्थित चैतन्य, पुरुष कहलाता है। यहां श्रीकृष्ण को 'पुरुषोत्तम' नाम से सम्बोधित किया गया है, जिसका अर्थ है, 'वह एकमेव अद्वितीय तत्त्व जो भूतमात्र की आत्मा है।' पुरुषोत्तम शब्द का लौकिक अर्थ है 'पुरुषों में उत्तम' तथा अध्यात्मशास्त्र के अनुसार अर्थ है 'परमात्मा।'

अब अर्जुन, भगवान् श्रीकृष्ण के शुद्ध ब्रह्म के रूप में स्वीकार करके उनका गौरव गान करते हुए उन्हें इन नामों से सम्बोधित करता है, 'हे भूतभावन (भूतों की उत्पत्ति करने वाले)! हे भूतेश! हे देवों के देव! हे जगत् के शासक स्वामी।' किसी भी वस्तु का सारतत्त्व उस वस्तु के गुणों का शासक और धारक होता है। स्वर्ण आभूषणों के आकार, आभा आदि गुणों का शासक होता है। परन्तु चैतन्य की नियमन एवं शासन की शक्ति अन्य की अपेक्षा अधिक है, क्योंकि उसके बिना हम

न कुछ जान सकते हैं और न कुछ कर्म ही कर सकते हैं। वस्तुओं और घटनाओं का भान या ज्ञान तभी संभव होता है जब इनके द्वारा अन्तःकरण में उत्पन्न वृत्तियां इस शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा से प्रकाशित होती हैं।

अपने आश्चर्य, आदर और भक्ति को व्यक्त करने वाले इस कथन के बाद, अब अर्जुन सीधे ही भगवान् के समक्ष अपनी बौद्धिक जिज्ञासा को प्रकट करता है :

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ।।१६।।

आप ही उन अपनी दिव्य विभूतियों को अशेषतः कहने के लिये योग्य हैं, जिन विभूतियों के द्वारा इन समस्त लोकों आपको व्याप्त करके स्थित हैं ।।१६।।

राजपुत्र अर्जुन को इस बात का निश्चय हो गया है कि भगवान् ही विश्व के अधिष्ठान हैं, जिनके बिना विश्व का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है। परन्तु जब वह अपने उपलब्ध और परिचित प्रमाणों – इन्द्रियों, मन और बुद्धि – के द्वारा बाह्य जगत् को देखता है, तब उसे केवल विषयों, भावनाओं और विचारों का ही अनुभभ होता है – जिन्हें किसी भी दृष्टि से दिव्य नहीं कहा जा सकता हैं।

जब किसी उत्सव के अवसर पर किसी इमारत पर विद्युत् की दीपसज्जा की जाती है, तब वहां विविध रंगों के तथा विभिन्न विद्युत् क्षमताओं के बल्बों से प्रकाश फूटकर निकल पड़ता प्रतीत होता है। परन्तु जब हमें बताया जाता है कि एक ही विद्युत् इन सब में व्यक्त होकर इन्हें धारण कर रही है, तो कोई अनपढ़ अज्ञानी पुरुष, स्वाभाविक ही, प्रत्येक बल्ब में व्यक्त हुई विद्युत को देखने की इच्छा प्रकट करेगा ! विराट् ईश्वर के रूप में भगवान् ही इस नामरूपमय संसार की समष्टि सृष्टि (विभूति) और व्यष्टि सृष्टि (योग) बने हुए हैं। यद्यपि श्रद्धा से परिपूर्ण हृदय के द्वारा इसे अनुभव किया जा सकता है, परन्तु बुद्धि के तीक्ष्ण होने पर भी उसके द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसलिये, स्वाभाविक ही, अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से उन विभूतियों का वर्णन करने का अनुरोध करता है, जिनके द्वारा वे इस जगत् को व्याप्त करके स्थित हैं। कर्मशील होने के कारण अर्जुन अत्यन्त व्यावहारिक बुद्धि का पुरुष था; इसलिए वह और अधिक पर्याप्त तथ्यों को एकत्रित करना चाहता था, जिन पर वह विचार करके और उनका वर्गीकरण करके उन्हें समझ सके।

क्या अर्जुन की यह केवल बौद्धिक जिज्ञासा ही है, जिसके कारण वह ऐसा प्रश्न करता है ? वह स्वयं स्पष्ट करते हुए कहता है :

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ।।१७।।

हे योगेश्वर ! मैं किस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ, और हे भगवन् ! आप किन-किन भावों में मेरे द्वारा चिन्तन करने योग्य हैं ।।१७।।

किस प्रकार मैं आपका चिन्तन या ध्यान करूँ जिससे कि मैं आपको जान सकूँ ? – साधक का लक्ष्य है एकत्व भाव से आत्मा को साक्षात् जानना । अब तक के अध्यायों में कहीं भी गीता ने ध्यानाभ्यास के लिए किसी नदी के तट पर या एकान्त गुफा में जाकर संन्यास का जीवन व्यतीत करने का समर्थन नहीं किया है । श्रीकृष्ण का मनुष्य को आह्वान कर्तव्य कर्म करने के लिये है और अपने इसी व्यावहारिक जीवन में ईश्वरानुभूति में जीने के लिये है । हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि गीताशास्त्र का उद्घोष महाभारत के समरांगण में उस क्षण हुआ था, जब तत्कालीन समस्त राष्ट्र अपने समय की सबसे बड़ी ऐतिहासिक क्रांति वेला का सामना करने के लिये उद्यत थे । यह क्रांतिवेला लौकिक और आध्यात्मिक दोनों ही मूल्यों की निर्णायक थी ।

अर्जुन कर्तव्य पालन के गीताधर्म में पूर्णतया परिवर्तित हो गया था । उसका यह परिवर्तन श्रीकृष्ण को सम्बोधित किये 'योगिन्' शब्द से विशेष रूप से दर्शाया गया है । श्रीकृष्ण ऐसे सर्वश्रेष्ठ कर्म योगी थे, जिन्होंने विविध घटनाओं से परिपूर्ण जीवन में अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी कभी अपने शुद्ध दिव्यस्वरूप का विस्मरण नहीं होने दिया ।

इस श्लोक में अर्जुन अपने अनुरोध का कारण भी बताते हुए कहता है, "आप किन-किन भावों में मेरे दारा चिन्तन करने योग्य हैं ?" व्यावहारिक जीवन जीते हुए और उसकी चुनौतियों का सामना करते हुये, यदि सर्वत्र व्याप्त आत्मा का अखण्ड स्मरण बनाये रखना हो, तो साधक को निश्चित रूप से यह जानना आवश्यक होगा कि वह उस तत्त्व को प्रत्येक वस्तु, वस्तुओं के समूह और मनुष्यों के समाज में कहाँ और कैसे देखे ।

अर्जुन अपनी इच्छा को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहता है कि यदि भगवान् का उत्तर विस्तृत भी हो, तब भी उन्हें सुनने और समझने में वह थकान नहीं अनुभव करेगा :

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ।।१८।।

हे जनार्दन ! अपनी योगशक्ति एवं विभूति को पुनः विस्तारपूर्वक कहिये, क्योंकि आपके अमृतमय वचनों को सुनते हुये मुझे तृप्ति नहीं होती है ॥१८॥

दर्शनशास्त्र के तथा अन्य किसी विषय के विद्यार्थी में भी, सर्वप्रथम प्रखर जिज्ञासा का होना अत्यावश्यक है। विषय को जानने और समझने की इस जिज्ञासा के बिना कोई भी ज्ञान दृढ़ नहीं होता है और न विद्यार्थी के लिये वह लाभदायक ही हो सकता है। आत्मविकास के आध्यात्मिक ज्ञान में यह बात विशेष रूप से लागू होती है; क्योंकि अन्य ज्ञानों के समान, न केवल इसे ग्रहण और धारण ही करना है, वरन् यह आत्मज्ञान होने पर उसे अपने जीवन में दृढ़ता से जीना भी होता है। इसलिये श्रवण की इच्छा को एक श्रेष्ठ और आदर्श गुण माना गया है, जो वेदान्त के उत्तम अधिकारी के लिये अनिवार्य है। इस गुण के होने से ज्ञानमार्ग में प्रगति तीव्र गति से होती है।

पाण्डुपुत्र अर्जुन इस श्रेष्ठ गुण से सम्पन्न था जो कि उसके इस कथन से स्पष्ट होता है कि "आपके अमृतमय वचनों को सुनकर मेरी तृप्ति नहीं होती हैं।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि वेदान्त का शुद्धिकारी प्रभाव रुचिपूर्वक श्रवण करने वाले सभी बुद्धिमान् विद्यार्थियों पर पड़ता है। एक सच्चे ज्ञानी गुरु के मुख से आत्म तत्व का उपदेश सुनकर प्रारम्भ में शिष्य को होनें वाला आनन्द क्षणिक उल्लास ही देता है, जो स्थिर नहीं रह पाता। जब वह शिष्य प्रवचन के पश्चात् अकेला रह जाता है, तब उसका मन पुन. अनेक कारणों से अशान्त हो सकता है।

और फिर भी, कितना ही क्षणिक वह आनन्द क्यों न हो, उसमें अर्जुन के समान नवदीक्षित विद्यार्थियों को आकर्षित करने की सामर्थ्य होती है, जिसके कारण उनकी उस विषय के प्रति रुचि एक व्यसन के समान बढ़ती ही जाती है। वेदान्त प्रवचनों के श्रवणार्थ इस अधिकाधिक अभिरुचि को यहाँ स्पष्ट दर्शाया गया है। यद्यपि यह साधना है, साध्य नहीं, तथापि, निःसन्देह यह एक शुभ प्रारम्भ है। जिन लोगों को तत्वज्ञान के बौद्धिक अध्ययन से ही सन्तोष का अनुभव होता हो, वे भी निश्चय ही उन सहस्रों लोगों से श्रेष्ठतर हैं, जो दिव्य आत्मस्वरूप को दर्शाने वाले एक भी आध्यात्मिक प्रवचन को सुन नहीं सकते हैं, या सह नहीं सकते हैं !!

एक अथक धर्म प्रचारक के रूप में भगवान् श्रीकृष्ण अत्यन्त धैर्य के साथ, अर्जुन से कहते हैं :

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥

श्रीभगवान् ने कहा–

हन्त अब मैं तुम्हें अपनी दिव्य विभूतियों को प्रधानता से कहूँगा। हे कुरुश्रेष्ठ मेरे विस्तार का अन्त नहीं है ॥१९॥

प्रस्तुत अध्याय को बृहत् आकार देने वाला भगवान् श्रीकृष्ण का यह विस्तृत एवं व्याख्यापूर्ण उत्तर, एक-एक वस्तु और व्यक्ति में तथा उनके समूह में आत्मा की वास्तविक पहचान का वर्णन करता है। यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि अपनी विभूति और योग का वर्णन करते समय भगवान् श्रीकृष्ण निम्नलिखित दो बातों को बताने का विशेष ध्यान रखते हैं। (क) प्रत्येक वस्तु में अपना सर्वोच्च महत्व, (ख) उनके बिना किसी भी एक वस्तु या समूह का सामञ्जस्यपूर्ण अस्तित्व सम्भव नहीं हो सकता है।

इस खण्ड का प्रारम्भ जिस 'हन्त' शब्द से होता है, वह अर्जुन के प्रति गीताचार्य की प्रेमपूर्ण सहानुभूति को दर्शाता है, तथा उससे अर्जुन में प्रतीत होने वाली अक्षमता के प्रति भगवान् की चिन्ता भी व्यक्त होती है, क्योंकि उस अक्षमता के कारण वह उस तत्त्व को नहीं अनुभव कर पा रहा था जो उसके अत्यन्त समीप है, उसका स्वरूप ही है। 'हन्त' शब्द को इस खण्ड के प्रारम्भ का केवल सूचक माननें से उसमें निहित इस गूढ़ अभिप्राय का लोप हो जाने के कारण वह अर्थ स्वीकार्य नहीं हो सकता।

समष्टि और व्यष्टि उपाधियों के द्वारा इस बहुविध सृष्टि के रूप में व्यक्त हुए आत्मा के विस्तार का अन्त नहीं हो सकता है। इसलिए उसका वर्णन करना असंभव है, तथापि करुणासागर भगवान् श्रीकृष्ण अपने शरणागत शिष्य अर्जुन के प्रति अपनी असीम अनुकम्पा के कारण इस असंभव कार्य को अपने हाथ में लेते हैं। वे स्वीकार करते हैं कि उनके विस्तार का कोई अन्त नहीं है फिर भी वे अर्जुन को अपनी प्रधान विभूतियाँ बतायेंगे।

भौतिक जगत् में यह एक अनुभूत सत्य है कि सूर्यप्रकाश सभी वस्तुओं की सतह पर से परावर्तित होता है – चाहे वह पाषाण हो या दर्पण ; किन्तु दर्पण में उसका प्रतिबिम्ब या परावर्तन अधिक स्पष्ट और तेजस्वी होता है। भगवान् वचन

देते हैं कि वे ऐसे दृष्टांत देंगे जिनमें दिव्यता की अभिव्यक्ति के साक्षात् दर्शन हो सकते हैं।

परन्तु, उन विभूतियों के वर्णन में प्रवेश करने के पूर्व वे एक मूलभूत सत्य को बताते हैं :

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

हे गुडाकेश (निद्राजित्) ! मैं समस्त भूतों के हृदय में स्थित सबकी आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ ॥२०॥

भूतमात्र के हृदय में स्थित आत्मा मैं हूँ – इस सामान्य कथन के साथ श्री कृष्ण इस प्रकरण का प्रारम्भ करते हैं। वैज्ञानिक विचारपद्धति से शोधकार्य करने का एक सुप्रशिक्षित प्राध्यापक, अनुसन्धान के अपने प्रिय विषय की चर्चा का प्रारम्भ एक संक्षिप्त व सारपूर्ण कथन के साथ करता है। तत्पश्चात् वह उस विषय का विस्तार से विचार करके युक्तियुक्त विवेचन द्वारा अन्त में उसी प्रारम्भिक कथन के निष्कर्ष पर पहुँचता है। यहाँ पर भी हम देखेंगे कि इस अध्याय की समाप्ति पर भगवान् इसी विचार को और अधिक प्रभावशाली ढंग से दोहराते हैं कि "मैं इस सम्पूर्ण जगत् को अपने एक अंशमात्र से धारण करके स्थित हूँ।"

इस श्लोक की पहली पंक्ति में भगवान् अपनी सर्वात्मकता दर्शाते हैं और दूसरी पंक्ति में इसी भाव को प्रकारान्तर से बताते हैं कि "मैं समस्त भूतों का आदि मध्य और अन्त हूँ।" वस्तुतः बाह्य चराचर जगत् मन की प्रक्षेपित सृष्टि है; दूसरे शब्दों में बाह्य जगत् परिच्छिन्नमन के द्वारा किया गया अनन्त का अन्यथा दर्शन है। यह तथ्य आन्तरिक वैचारिक जगत् से सम्बन्धित भी समझा जा सकता है। प्रत्येक बुद्धिवृत्ति चैतन्य में प्रकट होकर उसी में लीन हो जाती है। चैतन्य के अभाव में वृत्ति की उत्पत्ति नहीं हो सकती। आगे भी इसी विचार को दोहराया[1] गया है। भगवान् श्रीकृष्ण इस महान् सत्य को दोहराते कभी नहीं थकते हैं।

इस चराचर जगत् में रहते हुये ईश्वरोपासना की साधनाओं को या पद्धति को अब बताते हैं।

---

१. गीता अ० १०-३२

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ।।२१।।

मैं (बारह) आदित्यों में विष्णु और ज्योतियों में अंशुमान् सूर्य हूँ; मैं (उनचास) मरुतों (वायु देवताओं) में मरीचि हूँ और नक्षत्रों में शशी (चन्द्रमा) हूँ ।।२१।।

"मैं आदित्यों में विष्णु हूँ"—वैदिक परम्परा में आदित्यों की संख्या कहीं पाँच तो कहीं छः बतायी गई हैं । ये अदिति के पुत्र थे । तत्पश्चात् पारम्परिक विश्वास के अनुसार इनकी संख्या बारह मानी गई, जो बारह मासों के सूचक हैं। विष्णुपुराण के अनुसार विष्णु नामक एक आदित्य है, जो अन्य आदित्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण है ।'

"मैं ज्योतियों में सूर्य हूँ"--आधुनिक भौतिक विज्ञान भी सूर्य को समस्त ऊर्जाओं के स्रोत के रूप में स्वीकार करता है । अत: भगवान् के कथन का अभिप्राय स्वतः स्पष्ट हो जाता है । जहाँ कहीं भी कोई ऊर्जा व्यक्त होती हैं, उसका स्रोत आत्मा ही है ।

"मैं वायु देवताओं में मरीचि हूँ"—वायु के अधिष्ठाता देवता मरुत् कहलाते हैं, जिनकी संख्या उनचास कही गई है । इनमें मरीचि नामक मरुत "मैं हूँ ।" मरुत् गण रुद्रपुत्र माने गये हैं। ऋग्वेद के अनुसार मरीचि उनमें प्रमुख हैं ।

"मैं नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ"--भारतीय खगोलशास्त्र में जिस अर्थ में 'नक्षत्र' शब्द प्रयुक्त किया जाता है, वह चन्द्रमा के मार्ग के तीन तारों का सूचक है । इस दृष्टि से, विश्व में चन्द्रमा का यह मार्ग भगवान् की विभूति की ही एक अभिव्यक्ति है और चन्द्रमा उनमें सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि वह नियन्त्रक और नियामक है तथा तेज में भी अपूर्व है ।

परन्तु हम 'नक्षत्र' शब्द के सामान्य प्रचलित अर्थ को भी स्वीकार कर सकते हैं, जिसके अनुसार रात्रि के समय आकाश में जड़े हुए छोटे-छोटे चमकते हुये असंख्य तारे ही नक्षत्र हैं । कुछ व्याख्याकार एक पग आगे जाकर कहते हैं कि 'नक्षत्र' शब्द 'रात्रि के समस्त प्रकाशों' का सूचक है । चिन्तन के लिये उपयोगी होने से यह अर्थ भी स्वीकार्य हो सकता है । रात्रि के समय एक छोटी सी कुटिया से लेकर संसद भवन तक को चमकानें वाले चन्द्रमा का प्रकाश शीतल शान्तिप्रद और गौरवमय होता है । ठीक उसी प्रकार आत्मा का प्रकाश भी अतुलनीय हैं ।

यहां बाइस श्लोकों की इस मालिका में, भगवान् श्रीकृष्ण कुल पचहत्तर

उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। उनका उद्देश्य ज्ञानयाग के मार्ग पर चलने वाले साधक को सहायता करना है। यहां उक्त उपासनाओं के द्वारा साधकगण अपने मन-बुद्धि को सुगठित करके चित्त की एकाग्रता प्राप्त कर सकते हैं। ध्यान के लिये उपयोगी ये पचहत्तर अभ्यास हैं :

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

मैं वेदों में सामवेद हूँ, देवों में वासव (इन्द्र) हूँ ; मैं इन्द्रियों में मन और भूतप्राणियों में चेतना (ज्ञानशक्ति) हूँ ॥२२॥

'मैं वेदों में सामवेद हूँ'--ऋग्वेद का सार ही सामवेद है। चारों वेदों में ऋग्वेद का स्थान सबसे प्रमुख है। सामवेद को छान्दोग्योपनिषद् में सुन्दरता से गौरवान्वित किया गया है। और, सामवेद में संगीत का विशेष आनन्द भी जुड़ा हुआ है, क्योंकि साम मन्त्रों को सुन्दर राग, सुर और लय में गाया जाता है, जो इस बात के प्रमाण हैं कि संगीत की इस सुन्दर और शक्तिशाली कला को हमारे पूर्वजों ने इतना अधिक विकसित किया था। इस उपमा के सौन्दर्य के द्वारा हम कह सकते हैं कि श्रीकृष्ण संगीत की आत्मा हैं, जैसे ऋग्वेद का सार सामवेद है।

'मैं देवों में इन्द्र हूँ'—स्वर्ग के निवासी देवों का राजा वासव – इन्द्र है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि वैदिक सिद्धान्त के अनुसार यद्यपि रहन-सहन का सर्वोच्च स्तर स्वर्ग में है, परन्तु वहाँ भी देवताओं के पदों में श्रेष्ठता और हीनता का तारतम्य होता है। स्वर्ग की प्राप्ति इह लोक में किये गये पुण्यकर्मों के फलस्वरूप होती है ; और इस कारण जिस पुरुष ने 'यहाँ' अधिक पुण्य अर्जित किया होगा, उसे 'वहाँ' श्रेष्ठतर भोगों की प्राप्ति होगी। इस नियम के अनुसार, उन सब देवों के जीवन की अपेक्षा इन्द्र का जीवन अधिक वैभव, एवं विलासपूर्ण तथा शक्तिशाली और समर्थ होना स्वाभाविक है। देवताओं में इन्द्र 'मैं हूँ' जो अन्य देवों का शासक और नियन्ता है, जिससे कि उनका जीवन सुखी एवं समृद्धशाली होता है।

'मैं इन्द्रियों में मन हूँ'--आधिदैविक दृष्टि से जिसे इन्द्र कहते हैं, आध्यात्मिक दृष्टि से वही मन कहलाता है, क्योंकि देव शब्द का अर्थ इन्द्रिय होता है। जैसे इन्द्र देवताओं का राजा है, वैसे ही मन इन्द्रियों का राजा है। मन के बिना इन्द्रियाँ स्वतन्त्र रूप से अपना व्यापार नहीं कर सकती हैं। इसलिये यहां कहा गया है कि 'मैं इन्द्रियों में मन हूँ।"

जगत् की समस्त सृष्ट वस्तुओं में सर्वाधिक शोभन और अद्भुत वस्तु है 'बुद्धिमत्ता'। यह एक ऐसी रहस्यमयी शक्ति है, जिसके विषय में आधुनिक वैज्ञानिक एक अस्पष्ट और काल्पनिक धारणा बनाने के अतिरिक्त कुछ विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं कर सके हैं।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ।।२३।।

मैं (ग्यारह) रुद्रों में शंकर हूँ और यक्ष तथा राक्षसों में धनपति कुबेर (वित्तेश) हूँ; (आठ) वसुओं में मैं अग्नि हूँ तथा शिखर वाले पर्वतों में मेरु हूँ ।।२३।।

"मैं रुद्रों में शंकर हूँ"--जीवन का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को नाश के अधिष्ठाता देवता के रूप में रुद्र की कल्पना को भलीभाँति समझना चाहिये। प्रत्येक परवर्ती (आगामी) रचना के पूर्व नाश होना आवश्यक है। फल को स्थान देने के लिए फूल को नष्ट होना पड़ता है और बीज को प्राप्त करने के लिए फल का विनाश आवश्यक है। ये बीज पुन: नष्ट होकर पौधे को जन्म देते हैं। इस प्रकार, प्रत्येक प्रगति और विकास के पूर्व रचनात्मक विनाश की अखण्ड एक श्रृंखला बनी रहती है। इस तथ्य को सूक्ष्मदर्शी तत्त्वचिन्तक ऋषियों ने पहचाना, और ज्ञान की परिपक्वता में निर्भय होकर उन्होंने रचनात्मक विनाश के सुखदायक देवता-शंकर[1] को सम्मान दिया और उनका पूजार्चन किया।

"मैं यक्ष और राक्षसों में कुबेर हूँ"स्वर्ग के धन के कोषाध्यक्ष कुबेर कहे जाते हैं। कुबेर शब्द का अर्थ है कुत्सित शरीर वाला। पुराणों में इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है – कुबेर अत्यन्त कुत्सित राक्षसी प्राणी है, स्थूल एवं ह्रस्व काय, (त्रिपाद) तीन पैरों वाले, विशाल उदर के; लघु मस्तक वाले और जिसके आठ दांत बाहर निकले हुये हैं। स्वर्ग के इस कोषाध्यक्ष की सहायता के लिये उसी के समान कुरूप, भोगवादी और क्रूरचिन्तक यक्ष और राक्षसों की नियुक्ति होती है, जो कोष रक्षा में कुबेर की सहायता करते हैं। यह उल्लेखनीय है कि भारतीय ऋषिगण पूँजीवाद के कितने विरोधी थे कि उन्होंने धनपति कुबेर को अत्यन्त हास्यास्पद और विकृत आकृति वाला इतना कुरूप चित्रित किया है कि हमें हँसी भी नहीं आ सकती।

"मैं वसुओं में अग्नि हूँ"--वेदों में आठ वसुओं का वर्णन किया गया है, जो ऋतुओं के अधिष्ठाता देवता हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि इन

---

१. शंकरोति इति शंकर: अर्थात् जो सबका कल्याण करने वाला है।

वसुओं का मुख अग्नि है। वहाँ, 'मुख' से तात्पर्य अनुभव और भोग के साधन से है। अतः, आत्मा ही वह स्रोत है, जहाँ से हमें समस्त ऋतुओं के अनुभव प्राप्त होते हैं।

बाह्य प्रकृति में छः ऋतुएँ हैं, तथा दो ऋतुएँ मन की हैं – सुख और दुःख। इस प्रकार यहाँ आठ ऋतुओं का निर्देश है। वसन्त ऋतु में यदि वियोग के कारण हम दुःखी हों, तो उस ऋतु के फूल भी हमारे लिये अश्रुधार बहाते प्रतीत होते हैं ; जबकि मन में सफलता का पूर्ण आनन्द उमड़ रहा हो तो शरद् ऋतु के पर्णहीन वृक्ष भी हमें आनन्द का नृत्य करते प्रतीत होते हैं – इस कारण ये दो आन्तरिक ऋतुएँ हैं। इन सबका अनुभव आत्म चैतन्य की उपस्थिति में ही हो सकता है, अन्यथा नहीं।

"मैं समस्त पर्वतों में मेरु पर्वत हूँ"--मेरु एक पौराणिक पर्वत है, जिसका प्राचीन हिन्दू भूगोल शास्त्र में विश्व के मध्य बिन्दु के रूप में वर्णन किया गया है। इस पर्वत के ऊपर देवता बास करते हैं और इसके नीचे सप्तद्वीप फैले हुए हैं, जिनसे यह जगत् बना हैं। मेरु पर्वत की ऊँचाई सात से आठ हजार मील मानी गई है, जिसके शिखर से गंगा सभी दिशाओं में बहती है। इस वर्णन से अनेक विद्वानों का यह मत बना कि यह हिमालय का वर्णन है, जो, निःसन्देह ही, अस्वीकार्य नहीं हो सकता। परन्तु हम उसे वस्तुतः गूढ़ सांकेतिक भाषा में किया गया तत्त्व का वर्णन मानेंगे। मेरु पर्वत ऐसे 'प्रभावी स्थान' का सूचक है जिसका आधार जम्बुद्वीप में है। जिसके उच्च शिखर से अध्यात्म ज्ञान की गंगा[1] समस्त द्वीपों का कल्याण करने के लिए प्रवाहित होती है।

परिचित जगत् की वस्तुओं में आत्मा की प्रतिष्ठा को बताते हुए आगे कहते हैं :

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

हे पार्थ ! पुरोहितों में मुझे मुख्य बृहस्पति जानो ; मैं सेनापतियों में स्कन्द और जलाशयों में समुद्र हूँ ॥२४॥

"मैं पुरोहितों में बृहस्पति हूँ"--गुरु ग्रह के अधिष्ठाता बृहस्पति को ऋग्वेद में 'ब्रह्मणस्पति' कहा गया है, जो स्वर्ग के अन्य देवों में उनके पद को स्वतः स्पष्ट

---

1. जिसे शास्त्रों में गंगा, ज्ञानगंगा, आकाशगंगा, गंगामाता आदि नामों से सूचित किया गया है।

कर देता है। देवताओं के वे आध्यात्मिक गुरु माने जाते हैं।

"मैं सेनापतियों में स्कन्द हूँ"—स्कन्द को ही कार्तिक स्वामी के नाम से जाना जाता है, जो भगवान् शिव के पुत्र हैं, उनका बाहन मयूर है तथा हाथ में वे भाला (बरछा) धारण किये रहते हैं।

"मैं जलाशयों में सागर हूँ"--इन समस्त उदाहरणों में एक बात स्पष्ट होती है कि भगवान् न केवल स्वयं के समष्टि या सर्वातीत स्वरूप को ही बता रहे हैं, वरन् अपने व्यष्टि या वस्तु व्यापक स्वरूप को भी। विशेषत:, इस श्लोक में निर्दिष्ट उदाहरण देखिए। नि:सन्देह ही, गंगाजल का समुद्र के जल से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है। यमुना,गोदावरी, नर्मदा, सिन्धु या कावेरी, नील, टेम्स या अमेजन – जगत् के विभिन्न सरोवरों का जल, ग्रामों के तालाबों का जल और सिंचाई नहरों का जल, व्यक्तिगत रूप से, स्वतन्त्र हैं, जिनका उस समुद्र से कोई सम्बन्ध नहीं है, जो जगत् को आलिंगनबद्ध किए हुये हैं। और फिर भी, यह एक सुविदित तथ्य हैं कि इस विशाल समुद्र के बिना ये समस्त नदियाँ तथा जलाशय बहुत पहले ही सूख गये होते। इसी प्रकार चर प्राणी और अचर वस्तुओं का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व प्रतीत होता है, जिसका सत्य के असीम समुद्र से सतही दृष्टि से कोई सम्बन्ध प्रतीत न हो, किन्तु भगवान् सूचित करते हैं कि इस सत्य के बिना यह दृश्य जगत् बहुत पहले ही अपने अस्तित्व को मिटा चुका होता।

इसी विचार का विस्तार करते हुये कहते है :

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

मैं महर्षियों में भृगु और वाणी (शब्दों) में एकाक्षर ओंकार हूँ। में यज्ञों में जपयज्ञ और स्थावरों (अचलों) में हिमालय हूँ ॥२३॥

"मैं महर्षियों में भृगु हूँ"--इसी अध्याय में[1] बताये हुये सप्तर्षियों में भृगु ऋषि प्रमुख हैं। भृगु मनु के पुत्र माने गये हैं जो मानव धर्मशास्त्र का वर्णन करते हैं।

"मैं शब्दों में एकाक्षर ओंकार हूँ"--शब्द अपने विचारों को व्यक्त करनें के लिये ध्वनि के संकेतक हैं। एक वक्ता अपने मन के भावों को शब्दों के द्वारा व्यक्त

१. गीता १०-२; ५

कर उन्हीं भावों को श्रोताओं के मन में उत्पन्न करता है। इस प्रकार, 'टमाटर' शब्द एक पदार्थ का संकेतक है, जिसके उच्चारण से टमाटर से परिचित लोगों के मन में समान आकार की वृत्ति की उत्पन्न होती है। यदि वक्ता यह पाता है कि इस शब्द के उच्चारण से श्रोताओं को अर्थ बोध नहीं हुआ है, तो फिर वह अनेक वाक्यों के द्वारा उस वस्तु का वर्णन करके अर्थ बोध कराता है। जिस सीमा तक वह वक्ता, टमाटर के रूप, रंग स्वाद और अन्य गुणों के सम्बन्ध में श्रोता के मन में चित्र को स्पष्ट करेगा, उस सीमा तक श्रोताओं को उसके प्रतिपाद्य विषय का ज्ञान होगा। इस प्रकार, सामान्यत: कोई भी भाषा ऐसे शब्दों से पूर्ण होती है, जो हमारे अनुभवों एवं विचारों को व्यक्त कर सकती है और अन्यों को बोध कराने में सहायक होती है।

यदि सामान्य शब्द किसी लौकिक परिच्छिन्न वस्तु को दर्शाता है, तो ऋषियों ने एक ऐसे शब्द की कल्पना की जो नित्य वस्तु का सूचक या वाचक हो। वह शब्द है ॐ,[1] जिसे ओंकार या प्रणव भी कहते हैं। वेदमन्त्रों में प्रणव-मन्त्र महानतम है तथा आध्यात्मिक जगत् में आज तक साधकों के ध्यान के लिये आलम्बन के रूप में इस शब्द प्रतीक का उपयोग किया जाता है।

'मैं यज्ञों में जपयज्ञ हूं' – जप एक सार्वभौमिक आध्यात्मिक साधना है। किसी एक मन्त्र के जप की सहायता से साधक अपने मन में इष्ट देवता की एक अखण्ड वृत्ति बनाये रखता है। कर्म भक्ति या ज्ञान के मार्ग में भी साधक का प्रयत्न यही होता है कि मन में एक सजातीय वृत्ति प्रवाह बना रहे – चाहे वह कर्मकाण्ड की पूजा के द्वारा हो या ध्यान साधना से। इस प्रकार, सभी साधनाओं में, किसी-न-किसी रूप में, सजातीय 'वृत्ति की पुनरावृत्ति' का अभ्यास किया जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मन्त्र जप अपने आप में एक स्वतन्त्र साधना है, किन्तु किसी-न-किसी रूप में वह अन्य साधन मार्गों का भी अन्तरतम केन्द्र है।

इस प्रकार, यहां जपयज्ञ की प्रशंसा की गई है, क्योंकि वह सभी साधनों का केन्द्र होने के साथ-साथ अपने आप में स्वतन्त्र साधन मार्ग भी है। अखण्ड आत्मस्मरण[2] ही पूर्णत्व का अनुभव और बुद्धि की परम शान्ति-समाधि का क्षण है।

---

१. ओंकार के विस्तृत विवेचन के लिये पढ़िये 'स्वामीजी के माण्डूक्योपनिषद् और कारिका का प्रवचन।' अ, उ, म् इन तीन अक्षरों से ओम् शब्द बनता है। ये तीन मात्राएं क्रमश: जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं की सूचक हैं, और अमात्रा तुरीयावस्था के नित्य अनन्त तत्त्व की।

२. 'नित्यनिरन्तरअनवच्छिन्नब्रह्मात्मेति स्मरणमेव आत्मसाक्षात्कारः।'

'मैं स्थावरों में हिमालय हूं' – स्थावर का अर्थ है जड़ अचेतन वस्तु। पर्वत किसे कहते हैं ? मिट्टी और चट्टानें, पेड़ और पौधे, पशु और पक्षी जो प्राकृतिक शक्तियों के वैभव के साथ मिले होते हैं। जैसे सूं-सूं आवाज करता हुआ तूफान, मेघों को चीरकर जाती हुई विद्युत्, शान्त घाटियों से गरजकर बहती जाती नदियां, शान्त झील और सरोवर, नील वर्ण आकाश व गिरिशिखरों को स्नेह पूर्वक अपने हृदयों में प्रतिबिम्बत करते निःस्तब्ध जलाशय – इन सब का संयुक्तरूप है पर्वत। भगवान कहते हैं, 'समस्त पर्वतों में हिमालय मैं हूं।' निश्चय ही वे हिमालय को उसके विशेष गुण के कारण अधिक गौरव और दिव्य प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं। जगत् के सभी पर्वतों से सर्वथा विपरीत, भारत में, हिमालय के ऐसे गुप्त शिखर हैं, जहां बैठकर मनुष्य ने अपने विचारों की उड़ानों के द्वारा बुद्धि के परे तत्त्व का अनुभव करने के लिये अपने प्रयोग में वह सफलता पायी है, जो प्राणियों के इतिहास में उसके पूर्व किसी ने नहीं पायी थी।

इससे भी सन्तुष्ट न होकर, भगवान् श्रीकृष्ण और अधिक उत्साह के साथ, अन्य सुन्दर उदाहरणों के द्वारा, अपने अनन्त वैभव को, सांसारिक बुद्धि के योद्धा मित्र अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं :

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गंधर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

मैं समस्त वृक्षों में अश्वत्थ (पीपल) हूं और देवर्षियों में नारद हूं; मैं गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्ध पुरुषों में कपिल मुनि हूं ॥२६॥

'मैं समस्त वृक्षों में अश्वत्थ वृक्ष हूं' – परिमाण और आयुमर्यादा दोनों की दृष्टि से अश्वत्थ अर्थात् पीपल-वृक्ष को 'सर्वव्यापक और नित्य' माना जा सकता है, क्योंकि वह प्रायः कई शताब्दियों तक जीवित रहता है। हिन्दू लोग उसकी पूजा करते हैं। उसके साथ दिव्यता और पवित्रता की भावना जुड़ी हुई है। वैदिक परम्परा से परिचित लोगों को 'अश्वत्थ' शब्द उपनिषदों[1] में वर्णित संसार वृक्ष के रूपक का स्मरण भी कराता है। गीता के भी आगे आने वाले एक अध्याय[2] में अश्वत्थ वृक्ष का वर्णन मिलता है, जो इस दृश्यमान मिथ्या जगत् का प्रतीक रूप है।

'मैं देवर्षियों में नारद हूं' – देवर्षि नारद हमारी पौराणिक कथाओं के एक प्रिय

---

१. कठोपनिषद् अध्याय २, वल्ली ६–१,

२. गीता १५–१

पात्र हैं। नारद का वर्णन हरिभक्त के रूप में किया गया है। वे न केवल देवर्षियों में महान् हैं, वरन् वे प्राय: इस पृथ्वीलोक पर अवतरित होकर लोगों के मन के गर्व. अभिमान दूर करने के लिये जान बूझकर उनकी आपस में कलह करवाते हैं और अन्त में सबको भक्ति का मार्ग दर्शाकर स्वर्ग सुख की प्राप्ति कराते हैं। सम्भवत:, श्रीकृष्ण स्वयं धर्मोद्धारक और धर्मप्रचारक होने के नाते नारद जी के प्रति उनके प्रचार के उत्साह के कारण आदर भाव रखते हैं पौराणिक कथाओं के अनुसार अनेक अधर्मियों को धर्म मार्ग में परिवर्तित कर नारद जी ने उन्हें मोक्ष दिलाया है। भगवान् श्रीकृष्ण और नारद दोनों की ही समान महत्वाकांक्षा होने से दोनों के मध्य स्नेह होना स्वाभाविक ही है।

मैं गन्धर्वों में चित्ररथ हूँ'– गन्धर्वगण स्वर्ग के गायक वृन्द हैं, जो कला और संगीत के द्वारा देवताओं का मनोरंजन करते हैं। स्वर्ग के मनोरंजन के वे 'सितारे' हैं। उन गन्धर्वों में सर्वश्रेष्ठ हैं – चित्ररथ।

'मैं सिद्धों में कपिल मुनि हूँ' – ये सिद्ध पुरुष जादूगर नहीं हैं। इस संस्कृत शब्द का अर्थ है 'जिस पुरुष ने अपने लक्ष्य (साध्य) को सिद्ध (प्राप्त)कर लिया है।' अत: आत्मानुभवी पुरुष ही सिद्ध कहलाता है। ऐसे सिद्ध पुरुषों में, भगवान् कहते हैं कि, 'मैं कपिल मुनि हूं।' मुनि शब्द से उस पारम्परिक धारणा को बनाने की आवश्यकता नहीं है, जिसमें मुनि को एक बृद्ध, पक्व केश वाले, प्राय: निर्वस्त्र और साधारणत: अगम्य स्थानों में विचरण करने वाले पुरुष के रूप में अज्ञानी चित्रकारों के द्वारा चित्रित किया जाता है। उसके विषय में ऐसी धारणा प्रचलित हो गयी है कि वह एक सामान्य नागरिक के समान न होकर जंगलों का कोई विचित्र प्राणी है, जो विचित्र आहार पर जीता है। वस्तुत: मुनि का अर्थ है मननशील अर्थात् तत्त्वचिन्तक पुरुष। वह शास्त्रीय कथनों के गूढ़ अभिप्रायों पर सूक्ष्म, गम्भीर मनन करता है। ऐसे विचारकों में 'मैं कपिल मुनि हूं।'

सांख्य दर्शन के प्रणेता के रूप में कपिल मुनि सुविख्यात हैं, जिनका संकेत यहां किया गया है। अनेक सिद्धान्तों पर गीता का सांख्य दर्शन के साथ मतैक्य है। अत: भगवान यहां कपिल मुनि को अपनी विभूति की सम्मानित प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं।

पुन:,

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥२७॥

अश्वों में अमृत से उत्पन्न हुए उच्चैःश्रवा नामक अश्व, हाथियों में ऐरावत और मनुष्यों में राजा मुझे ही जानो ।।२७।।

सुर और असुरों के द्वारा क्षीरसागर का मन्थन करके अमृत प्राप्त करने की पौराणिक कथा सुप्रसिद्ध है । इस मन्थन की प्रक्रिया के समय पंखयुक्त शक्तिशाली और समर्थ ऐसा एक अश्व प्रकट हुआ था, जिसका नाम उच्चैःश्रवा था, तथा ऐरावत नामक एक श्वेत गज भी प्रकट हुआ था । इन दोनों को देवताओं के राजा इन्द्र को उपहार के रूप में भेंट किया गया था । पौराणिक वर्णन के अनुसार इस प्रकार की कुल तेरह आकर्षक वस्तुएं उस मन्थन से प्रकट हुई थीं ।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ।।२८।।

मैं शस्त्रों में वज्र और धेनुओं (गायों) में कामधेनु हूं, प्रजा उत्पत्ति का हेतु कन्दर्प (कामदेव) मैं हूं और सर्पों में वासुकि हूं ।।२८।।

'मैं शस्त्रों में वज्र हूं' – दिव्यास्त्रों में प्रमुख वज्रास्त्र अमोघ है । वृत्रासुर प्रायः स्वर्ग पर आक्रमण करके वहां की शांति भंग करता था । अपनी प्रचण्ड शक्ति के कारण वह अवध्य बन गया था । उस समय दधीचि नामक एक महान् तपस्वी ऋषि ने उसके नाश हेतु एक दिव्य शस्त्र बनाने के लिये अपनी अस्थियों का दान किया था, जिससे इस शस्त्र का निर्माण करके वृत्रासुर का बध किया गया ।

'मैं धेनुओं में कामधेनु हूँ' – कामधेनु की प्राप्ति भी अमृत-मन्थन से हुई थी। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह एक ऐसी अनूठी गाय है, जिसके द्वारा हम अपनी समस्त इच्छाओं की पूर्ति कर सकते हैं ।[1]

'प्रजोत्पत्ति के कारणों में कामदेव मैं हूं' – भारतीय धारणा के अनुसार काम का देवता कन्दर्प (कामदेव, मदन) है, जो एक कुटिल हृष्ट-पुष्ट युवक के रूप में चित्रित किया गया है । यह कामदेव अपने मन्दस्मिति के धनुष के द्वारा पांच सुपुष्पित बाणों से मनुष्य की एक-एक इन्द्रिय को आहत करता है !! यह जीव विज्ञान से सम्बन्धित एक सत्य है । प्रजोत्पत्ति माने केवल गर्भाधान की क्रिया या वव-

---

१. अध्यात्म दृष्टि से, मनुष्य की संकल्पशक्ति ही कामधेनु है । यदि एकाग्रता हो और आन्तरिक व्यक्तित्व सुगठित हो, तो संकल्पशक्ति प्रभावशाली होने से इच्छा की पूर्ति होती ही है ।

स्पति जगत् में होने वाली सेचन क्रिया ही नहीं समझी जानी चाहिये। भारतीय कामशास्त्र के अनुसार इसका अर्थ उन समस्त कामुक प्रवृतियों की शान्ति है, जो सभी इन्द्रियों के माध्यम से व्यक्त होती हैं। एक दार्शनिक सच्चा वैज्ञानिक होता है; और इस कारण उसमें वह मिथ्या लज्जा या संकोच नहीं होता, जो प्राय: स्वभाव से अनैतिक किन्तु दिखावे के लिये कट्टर नैतिकतावादी व तिलकधारी पाखण्डी लोगों को होता है। वेदान्त के आचार्य काम वासना के सम्बन्ध में विश्लेषण करते समय इस प्रकार निर्मम होते हैं, जैसे चिकित्साशास्त्र के महाविद्यालय में कोई प्राध्यापक।

भगवान् घोषणा करते हैं कि 'प्रजोत्पत्ति के सब कारणों में कन्दर्प मैं हूं।' वैषयिक भोग के क्षेत्र में कामदेव मनुष्य के शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक व्यक्तित्व के पूर्ण सन्तोष का प्रतीक है।

'मैं सर्पों में वासुकि हूं' – पुराणों में किये गये वर्णन के अनुसार वासुकि भगवान शिव की अंगुली पर लिपटा रहता है। यद्यपि यह सर्प शिवजी की अंगूठी का आकार लेने योग्य छोटा है, परन्तु क्षीरसागर के मन्थन के लिये वह रज्जु (रस्सी) का कार्य करने को सिद्ध होता है। स्वाभाविक ही, वासुकि शब्द से उपनिषद्[1] के उस कथन का स्मरण हो आता है जिसमें कहा गया है कि आत्मतत्त्व 'अणु से भी सूक्ष्म है' और 'बृहत्तम वस्तु से भी अधिक बृहत् है।' अत: सर्पों में वासुकि को भगवान् की विभूति बताना उपयुक्त ही है। सर्प और नाग में भेद है। सर्प एक फण वाला होता है, जबकि नाग के अनेक फण होते हैं।

गीता के दिव्य गायक अपने सुन्दर राग में अपनी गानपूर्ण विभूतियों को और भी बताते हैं :

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

मैं नागों में अनन्त (शेषनाग) हूं और जल देवताओं में वरुण हूं; मैं पितरों में अर्यमा हूं और नियमन करने वालों में यम हूं ॥२९॥

'मैं नागों में शेषनाग (अनन्त) हूं' – अनेक फणों वाले सर्प नाग कहलाते हैं। उन नागों में सहस्र फनों वाले शेषनाग को भगवान् विष्णु की शय्या कहा गया है जिस पर वे अपनी योगनिद्रा में विश्राम या शयन करते हैं। यहां श्रीकृष्ण कहते हैं

१. देखिये स्वामी जी के 'कठोपनिषद् पर प्रवचन'–अध्याय १. वल्ली २-२०

कि, अनेक फणों वाले नागों में, वे सर्वाधिक शक्तिशाली और दिव्य नाग हैं, क्योंकि वे एक मात्र अधिष्ठान है जिस पर स्थित सृष्टकर्ता ब्रह्मा और पालनकर्ता विष्णु विश्राम और कार्य करते हैं।

'मैं जल देवताओं में वरुण हूं' – पंच महाभूतों में चौथे तत्त्व जल का अधिष्ठाता देवता वरुण है। वैदिक काल में दृश्य जगत् की प्राकृतिक शक्तियों को दैवी आकृति प्रदान कर उनकी पूजा और उपासना की जाती थी। यह तो काफी समय पश्चात् हमने देवताओं के मानवीकरण की पौराणिक परम्परा प्रारम्भ की और फिर हम धार्मिक मतभेदों की कीचड़ और सांप्रदायिक पूर्वाग्रहों में फँस गये। जेरुसलम के मसीहा, वृन्दावन के गोपबाल और मक्का के पैगम्बर के अज्ञानी भक्त आपस में लड़ने लगे। वरुण का शरीर अर्धमत्स्य और अर्धमनुष्य का वर्णन किया गया है जो प्रायः 'अरनाल्ड' के 'मरमन' (मत्स्यपुरुष) के समान है! वरुण समुद्र का शासक और जल का अधिष्ठाता देवता है।

'मैं पितरों में अर्यमा हूं' – हिन्दू धर्म में, मृत्यु भी, जीवन का ही एक अनुभव है। इसमें सूक्ष्म शरीर[1] सदैव के लिए अपने वर्तमान निवास स्थान रूपी देह को त्याग कर चला जाता है। इस सूक्ष्म शरीर (या जीव) का अपना अलग अस्तित्व बना रहता है, जिसे पितर कहते हैं।

ये पितर (अथवा प्रेतात्माएं) एक साथ किसी लोक विशेष में रहते हैं, जिसे पितृलोक कहा जाता है। इसके पूर्व हम बारह आदित्यों के सम्बन्ध में वैदिक सिद्धांत को देख चुके हैं, जो बारह महिनों के अधिष्ठाता हैं। उनमें से एक अर्यमा नामक आदित्य को इस पितृलोक का शासक कहा गया है।

'मैं नियामकों में यम हूं' – यमराज मृत्यु के देवता हैं। भारत में, हम भयंकरता उदासी और दुःखान्त को भी पूजते हैं, क्योंकि हम जानते हैं कि ईश्वर शुभ और अशुभ, आनन्दप्रद और दुःखप्रद सभी वस्तुओं का अधिष्ठान है। हम समझौते के किसी ऐसे सिद्धान्त से सन्तुष्ट नहीं होते, जिसमें हम ईश्वर का उन वस्तुओं से कोई सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते, जो हमें अप्रिय हों।

हमें प्रिय प्रतीत हो या न हो, मृत्युतत्त्व ही हमारे जीवन का वियन्त्रक और नियामक है। मृत्यु ही, प्रत्येक क्षण, सर्वत्र रचनात्मक विकास के लिये प्रगतिशील क्षेत्र तैयार करती है। युवावस्था की अभिव्यक्ति के लिए बाल्यावस्था का अन्त होना आवश्यक है। महाविद्यालय में प्रवेश पाने के लिये उच्चतर माध्यमिक विद्यालय

---

१. वेदान्त में सूक्ष्म शरीर से मुख्यतः तात्पर्य मन और बुद्धि अर्थात् अन्तःकरण से होता है।

को त्यागना पड़ता है। प्रगति अपने आप में जीवन का मात्र आंशिक चित्र और जीवन की सम्पूर्ण गति का एकांगी दर्शन है। प्रत्येक विकास के पूर्व नाश अवश्य होता है। इस प्रकार, नाश का रचनात्मक प्रगति में योगदान "मृत्यु की सृजनात्मक कला" कहलाती है।

किसी वस्तु की वर्तमान अवस्था का नाश किये बिना नवीन वस्तु की निर्मिति नहीं की जा सकती। भौतिक जगत् के नियम को समझने से ही हम इस युक्तिसंगत निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। निरीक्षित नियम यह है कि "कोई दो वस्तुएँ एक ही समय एक ही स्थान पर साथ-साथ नहीं रह सकती हैं"। जब एक चित्रकार पट पर फूल का चित्र बना रहा होता है, तब वह न केवल विभिन्न रंगों का प्रयोग ही करता है, वरन् उसकी रचनात्मक कला निरन्तर उस पट के सतह की पूर्वावस्था को नष्ट भी करती जाती है।

इस प्रकार, जब जीवन को उसकी सम्पूर्णता में देखा जाता है, तब ज्ञात होता है कि 'मृत्यु के देवता' का भी उतना ही महत्व है, जितना कि 'सृष्टि के देवता' का।

सृष्टि के साथ-साथ उसी गति से यदि मृत्यु बुद्धिमत्तापूर्वक कार्य नहीं कर रही होती, तो जगत् में वस्तुओं की असीम और अनियन्त्रित बाढ़ आ गई होती। उस स्थिति में मात्र वस्तुओं की संख्या एवं परिमाण के कारण ही जीवन असंभव हो गया होता। यदि मृत्यु नहीं होती, तो हमारे पूर्व की असंख्य पीढ़ियों के प्रपितामह आदि अभी भी हमारे दो कमरों वाले घरों में रह रहे होते!! जब कुछ ही मात्रा में जन्मसंख्या की वृद्धि होने पर प्रकृति का सन्तुलन और जगत् की राजनीतिक शान्ति अस्त-व्यस्त हो जाती है, यदि सृष्टिकर्त्ता के समान मृत्यु देवता भी कार्य नहीं कर रहे होते, तो जगत् की क्या स्थिति होती? निश्चय ही, सभी नियामकों में यमराज प्रमुख हैं और यह दिया हुआ उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त एवं अनन्य है।

भगवान् आगे कहते हैं :

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

मैं दैत्यों में प्रह्लाद और गणना करने वालों में काल हूं, मैं 'पशुओं' में सिंह (मृगेन्द्र) और पक्षियों में गरुड़ हूं ॥३०॥

'मैं दैत्यों में प्रह्लाद हूँ'—हिन्दुओं में बालक भक्त प्रह्लाद की कथा अत्यन्त प्रसिद्ध है। प्रह्लाद हिरण्यकशिपु नामक दैत्य राजा का पुत्र था, जिसे

भगवान् हरि में अटूट श्रद्धा और दृढ़ भक्ति थी। इसके लिये उसे ईश्वरद्वेषी हिरण्यकशियपु ने अनेक प्रकार की यातनायें दीं, जिन सबको प्रह्लाद ने सहन किया, परन्तु भक्ति को नहीं त्यागा।

'मैं गणना करने वालों में काल हूँ'--भारत के दार्शनिकों में नैय्यायिकों का अपना विशेष स्थान है। वे सृष्टि की विविधता को सत्य स्वीकार करते हुये ईश्वर के अस्तित्व का निषेध करते हैं। केवल बौद्धिक तर्कों के द्वारा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'काल' ही नित्य तत्त्व है। व्यष्टि मन और बुद्धि ही काल के विभाजक हैं, जो उसमें भूत, वर्तमान और भविष्य की कल्पनायें करते हैं। उनके मत के अनुसार 'मन का यह खेल' ही काल का विभाजन इस प्रकार करता है कि मानो काल कोई खण्डित और परिच्छिन्न तत्त्व हो। संभवतः, इसी सिद्धान्त को ध्यान में रख कर, महर्षि व्यास ने बहुविध सृष्टि के अनन्त अधिष्ठान को दर्शाने के लिये इस उदाहरण को यहाँ दिया है।

कुछ व्याख्याकार हैं, जो प्रायः इसे एक सरल कथन के रूप में स्वीकार करते हैं ; उनके अनुसार, अनादि अनन्त काल ही इस जगत् की वस्तुओं की अन्तिम गति है।

सिंह अपनी महानता, प्रतिष्ठा एवं पौरुषता के कारण मृगराज कहलाता है। गरुड़ को पक्षियों का राजपद मिलने का कारण है, उसकी सूक्ष्मदर्शिता एवं सर्वाधिक ऊँचाई तक उड़ान भरने की क्षमता। गरुड़ को भगवान् विष्णु का वाहन कहा गया है।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

मैं पवित्र करने वालों में वायु हूँ और शस्त्रधारियों में राम हूँ ; तथा मत्स्यों (जलचरों) में मैं मगरमच्छ और नदियों में गंगा हूँ ॥३१॥

'मैं पवित्र कर्त्ताओं में वायु हूँ'--किसी स्थान की स्वच्छता के लिये सूर्य और वायु के समान प्रभावशाली अन्य कोई स्वास्थ्यकर और अपूतिक (घाव को सड़ने से रोकने वाली औषधि) साधन उपलब्ध नहीं है। यदि यहाँ केवल वायु का ही उल्लेख किया गया है, तो उसका कारण यह है कि सदैव महर्षि व्यास जानते थे कि सूर्य की उष्णता में ही वायु की गति हो सकती है। जहाँ सदा वायु बहती है, वहाँ सूर्य का होना भी सिद्ध होता है। किसी गुफा में न सूर्य का प्रकाश होता है और न वायु का स्पन्दन।

'मैं शस्त्रधारियों में राम हूँ'--भारत के आदि कवि महर्षि बाल्मीकि ने एक सम्पूर्ण काव्य की छन्दबद्ध रचना के लिए रामायण के नायक मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्री रामचन्द्र का चित्रण किया है। यह चित्रण अत्यन्त विस्तृत एवं विशुद्ध है, जिसमें श्री राम को जीवन के समस्त क्षेत्रों में एक 'पूर्ण पुरुष' के रूप में चित्रित किया गया है। श्रीराम एक पूर्ण एवं आदर्श पुत्र, पति, भ्राता, मित्र , योद्धा, गुरु शासक और पिता थे। सामान्य जनता के दोषों तथा अत्यन्त उत्तेजना और भ्रम उत्पन्न करनेवाली परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में श्रीराम की सार्वपाक्षिक पूर्णता और भी अधिक चमक उठती है। ऐसे सर्वश्रेष्ठ आदर्श पुरुष के हाथ में ही वह योग्यता है, जो उस धनुष को धारण करे, जिसमें से सदैव अमोघ बाणों की ही वर्षा होती है।

'मैं मत्स्यों में मकर तथा नदियों में जाह्नवी हूँ'--जह्नु ऋषि की पुत्री जाह्नवी कहलाती है, जो गंगानदी का एक नाम है। आख्यायिका यह है कि एक बार जह्नु-ऋषि ने सम्पूर्ण गंगा नदी का पान कर उसे सुखा दिया, और तत्पश्चात्, लोककल्याण के लिये उसे अपने कानों के द्वार से बाहर बहा दिया ! हम पहले भी देख चुके हैं कि गंगा नदी का यह रूपक सांकेतिक है। हिन्दू लोग गंगा को 'अध्यात्म ज्ञान' अथवा भारत की 'आध्यात्मिक संस्कृति' का प्रतीक मानते हैं। अपने गुरु से प्राप्त ऋषियों की ज्ञान सम्पदा को, साधक शिष्य ध्यानाभ्यास के द्वारा आत्मसात् कर लेता है ; यही नदी का आचमन है। "ज्ञान के झरने से पान कर ज्ञानपिपासा को शान्त करना" आदि वाक्यों का प्रयोग प्राय: सभी भाषाओं में होता है, जिनका मूल संस्कृत भाषा है।

आख्यायिका में कहा गया है कि इस नदी का पुन: उद्‌गम ऋषि के कानों से हुआ। वास्तव में, यह अत्यन्त सुन्दर काव्यात्मक कल्पना है, जो कान का सम्बन्ध श्रुति से स्थापित करती है। उपनिषद् ही श्रुति हैं, जिसमें गुरु शिष्य के संवाद द्वारा आत्मज्ञान का बोध कराया गया है। भारत में, समय-समय पर आचार्यो का अवतरण होता है, जो अपने युग के सन्दर्भ से प्राचीन ज्ञान की पुनर्व्याख्या करते हैं ; परन्तु यह प्रचार कार्य वे तभी प्रारम्भ करते हैं, जब उन्होंने स्वयं वैदिक सत्य का साक्षात् अनुभव कर लिया हो। इस स्वानुभूति के बिना कोई भी श्रेष्ठ आचार्य जगत् में आकर इस प्राचीन सत्य का नवीन भाषा में प्रचार करने का साहस नहीं करेगा।

गंगा के अनेक पर्यायवाची नामों में से जाह्नवी का यहां उल्लेख उपर्युक्त विशेष अभिप्राय को दर्शाने के लिये ही किया गया है।

समुद्री मत्स्यों में मकर सर्वाधिक भयंकर होने के कारण यहाँ भगवान् ने उसे अपनी विभूति कहा है।

आगे कहते :

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

हे अर्जुन ! सृष्टियों का आदि, अन्त और मध्य भी मैं ही हूँ, मैं विद्याओं में अध्यात्मविद्या और विवाद करने वालो में (अर्थात् विवाद के प्रकारो में) मैं वाद हूँ ॥३२॥

'मैं सृष्टियों का आदि, अन्त और मध्य भी हूँ'--अपनी विभूतियों का वर्णन प्रारम्भ करने के पूर्व भगवान् श्रीकृष्ण का सामान्य कथन[1] ही यहां प्रतिध्वनित होता है। वहां उन्होंने यह बताया है कि वे किस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति वस्तु और प्राणी के आत्मा हैं ; जबकि यहाँ वे सम्पूर्ण सुष्टि के अधिष्ठान के रूप में स्वयं का परिचय करा रहे हैं।

कोई भी पदार्थ अपने मूल उपादानस्वरूप का त्याग करके नहीं रह सकता। स्वर्ण के बिना आभूषण, समुद्र के बिना तरंग और मिट्टी के बिना घट का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। समस्त नाम और रूपों में उनके उपादान कारण का होना अपरिहार्य है। उपर्युक्त कथन के द्वारा भगवान् अपने सर्वभूतात्म भाव की दृष्टि से कहते हैं कि वे सुष्टियों के आदि, मध्य और अवसान हैं। विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय ये सब उनमें ही होते हैं।

जिस 'ज्ञानस्वरूप' (चित्स्वरूप) के बिना अन्य 'वस्तुओं के ज्ञान' कदापि सम्भव नहीं हा सकते, उस चैतन्यस्वरूप का ज्ञान सब ज्ञानों का राजा होना उपयुक्त ही है। सूर्यप्रकाश में ही समस्त वस्तुयें प्रकाशित होती हैं। वस्तुओं पर सूर्यप्रकाश के परावर्तित होने से ही वे दर्शन के योग्य बन जाती हैं। स्वाभाविक ही, भौतिक वस्तुओं के दर्शन में सूर्य 'सब नेत्रों का नेत्र' है। उसी प्रकार, सब विद्याओं में अध्यात्मविद्या को 'राजविद्या' या 'सर्वविद्याप्रतिष्ठा' कहा गया है।

'मैं विवाद करने वालों में वाद हूँ'--श्री शंकराचार्य के अनुसार, यहाँ प्रयुक्त 'प्रवदताम्' (विवाद करने वालों में) शब्द से तात्पर्य विवाद के प्रकारों से है, व्यक्तियों से नहीं। जीवन के सभी क्षेत्रों में विवाद के तीन प्रकार हैं – जल्प, वितण्डा और वाद। जल्प में, एक व्यक्ति प्रमाण और तर्क के द्वारा अपने पक्ष की

---

१. गीता १०–२०

स्थापना तथा विरोधी पक्ष का छल आदि प्रकारों से खण्डन करता है। जब कोई एक व्यक्ति अपने पक्ष को स्थापित करता है, और अन्य व्यक्ति छल आदि से केवल उसका खण्डन ही करता रहता है, परन्तु अपना कोई पक्ष स्थापित नहीं करता, तब उसे वितण्डा कहते हैं। गुरु शिष्य के मध्य अथवा अन्यों के मध्य तत्त्वनिर्णय के लिये जो युक्तियुक्त विवाद होता है उसे वाद कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जल्प और वितण्डा में उभय पक्ष का लक्ष्य केवल जय-पराजय अथवा शक्ति परीक्षा मात्र होता है, जब कि वाद का लक्ष्य तथा फल तत्त्व निर्णय है। अतः, भगवान् कहते हैं कि, 'मैं विवाद के प्रकारों में वाद हूं।'

आगे :

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

मैं अक्षरों (वर्णमाला) में अकार और समासों में द्वन्द्व (नामक समास) हूं; मैं अक्षय काल और विश्वतोमुख (विराट् स्वरूप) धाता हूं ॥३३॥

'मैं अक्षरों में अकार हूँ' – यह सर्वविदित है कि भाषा में स्वरों की सहायता के बिना शब्दों का उच्चारण नहीं किया जा सकता। सभी भाषाओं में संस्कृत की विशेष मधुरता उसमें किये जाने वाले अकार के प्रयोग की प्रचुरता के कारण है। वस्तुतः, प्रत्येक व्यंजन में 'अ' जोड़कर ही उसका उच्चारण किया जाता है। यह 'अ' मानो उसमें स्निग्ध पदार्थ का काम करता है, जिसके कारण नाद की कर्कशता दूर हो जाती है। इस 'अ' के सहज प्रवाह के कारण शब्दों के मध्य एक राग और वाक्यों में एक प्रतिध्वनि सी आ जाती है। किसी सभागृह में संस्कृत मन्त्रों के दीर्घकालीन पाठ के उपरान्त, संवेदनशील लोगों के लिये एक ऐसे संगीतमय वातावरण का अनुभव होता है, जो मानव मन के समस्त विक्षेपों को शान्त कर सकता है।

प्रत्येक अक्षर का सारतत्त्व अकार है; वह शब्दों और वाक्यों की सीमाओं को लांघकर वातावरण में गूंजता है, और सभी भाषाओं की वर्णमालाओं में वह प्रथम स्थान पर प्रतिष्ठित है। अकार के इस महत्त्व को पहचान कर ही उपनिषदों में इसे समस्त वाणी का सार कहा गया है।[1]

'मैं समासों में द्वन्द्व हूं' – संस्कृत व्याकरण में दो या अधिक पदों (शब्दों) को

१. 'अकारो वै सर्वावाक्।'

संयुक्त करने वाला विधान विशेष समास कहलाता है, जिसके अनेक प्रकार हैं। समास के दो पदों के संयोग का एक नया ही रूप होता है। द्वन्द्व समास में दोनों ही पदों का समान महत्व होता है, जबकि अन्य समासों में पूर्वपद अथवा उत्तरपद का।[1] यहां भगवान श्रीकृष्ण द्वन्द्व समास को अपनी विभूति बताते हैं, क्योंकि इसमें उभय पदों का समान महत्व है, और इसकी रचना भी सरल है। अध्यात्म ज्ञान के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि आत्मा और अनात्मा दोनों इस प्रकार मिले हैं कि हमें वे एक रूप में ही अनुभव में आते हैं और उनका भेद स्पष्ट ज्ञात नहीं होता, परन्तु विवेकी पुरुष के लिये वे दोनों उतने ही विलग होते हैं जितने कि एक वैय्याकरण के लिए द्वन्द्व समास के दो पद।

'मैं अक्षय काल हूं' – पहले भी[2] यह उल्लेख आ चुका है कि 'गणना करने वालों में काल मैं हूं।' वहां सापेक्षिक काल का निर्देश था, जबकि यहां अनन्त पारमार्थिक काल को इंगित किया गया है। अक्षय काल को ही महाकाल कहते हैं। संक्षेपतः दोनों कथनों का तात्पर्य यह है कि मन के द्वारा परिच्छिन्न रूप में अनुभव किया जाने वाला काल तथा अनन्त काल – इन दोनों का अधिष्ठान आत्मा है। प्रत्येक क्षणिक काल के भान के बिना सम्पूर्ण काल का ज्ञान असंभव है। अतः "मैं प्रत्येक कालखण्ड में हूं, तथा उसी प्रकार, सम्पूर्ण काल का भी अधिष्ठान हूं।"

'मैं धाता हूं' – श्री शंकराचार्य अपने भाष्य में इस शब्द की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि ईश्वर धाता अर्थात् कर्मफलविधाता[3] है। संस्कारों के अनुसार मनुष्य कर्म करता है जिसका नियमानुसार उसे फल प्राप्त होता है।

विश्वतोमुखः – इस शब्द की विस्तृत व्याख्या पहले भी की जा चुकी है, जहां यह कहा गया था कि आत्मा न केवल 'सब में एक है, किन्तु सबसे विलक्षण भी है, और वह प्रत्येक प्राणी में स्थित हुआ, सर्वत्र देखता है।' इस सम्पूर्ण भाव को केवल एक शब्द 'विश्वतोमुखः' में व्यक्त किया गया है। सभी ऐन्द्रिक मानसिक और बौद्धिक ग्रहणों के लिये चैतन्य आत्मा की कृपा आवश्यक है, और इसलिये, यह शब्द अर्थाभिव्यंजक है।

भगवान् कहते हैं :

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृति क्षमा ॥३४॥

---

१. रामश्च लक्ष्मणश्च रामलक्ष्मणौ अर्थात् राम और लक्ष्मण।
२. गीता १०–३०.
३. 'कर्मफलस्य विधाता।'

मैं सर्वभक्षक मृत्यु और भविष्य में होने वालों की उत्पत्ति का कारण हूं; स्त्रियों में कीर्ति, श्री, वाक् (वाणी), स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूं ।।३४।।

'मैं सर्वभक्षक मृत्यु हूं' – समानता की समर्थक मृत्यु, शासक के राजदण्ड और मुकुट को भी भिक्षु के भिक्षापात्र और दण्ड के स्तर तक ले आती है। प्रत्येक प्राणी केवल अपने जीवन काल में ही अनेक वस्तुओं और व्यक्तियों के सम्बन्धों के द्वारा अपना एक भिन्न अस्तित्व बनाये रखता है। मृत्यु के पश्चात् विद्वान् और मूढ़, पुण्यात्मा और पापात्मा, बलवान् और दुर्बल, शासक और शासित — ये सब धूलि में मिल जाते हैं, एक समानरूप बन जाते हैं जिनमें किसी प्रकार का भेद नहीं किया जा सकता।

'भविष्य में होने वालों का मैं उत्पत्ति कारण हूं' – परमात्मा केवल सर्वभक्षक ही नहीं, सर्वसृष्टिकर्ता भी है। हम देख चुके हैं कि वस्तुतः एक अवस्था के नाश के बिना अन्य अवस्था का जन्म नहीं हो सकता है। किसी एक पक्ष को ही देखना माने जीवन का एकांगी दर्शन करना ही है। वस्तु के नाश से शून्यता नहीं शेष रहती, वरन् अन्य वस्तु की उत्पत्ति होती है। समुद्र में उठती लहरों को अलग-अलग देखें तो सदा नाश ही होता दिखाई देगा, परन्तु एक के लय के साथ ही समुद्र में कितनी ही लहरें उत्पन्न होती रहती हैं, जिसका हमें ध्यान भी नहीं रहता है।

इस सम्पूर्ण विवेचन का बल इसी पर है कि अनन्त परमात्मा अपने में ही रचना और संहार की क्रीड़ा निरन्तर कर रहा है जिस क्रीड़ा को हम विश्व कहते हैं।

'मैं स्त्रियों में कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूं' – ये सात देवताओं की स्त्रियां और स्त्रीवाचक नामवाले गुण के रूप में भी प्रसिद्ध हैं, इसलिए दोनों प्रकार से ही ये भगवान् की विभूतियां हैं, दार्शनिक दृष्टिकोण से इस कथन का अर्थ सब आलोचनाओं के परे है। यहां यह नहीं कहा गया है कि इन गुणों से सम्पन्न पुरुष दिव्य है। तात्पर्य यह है कि जिस किसी पुरुष में – जिसका भूतकाल का जीवन कैसा भी हो[1] – जब कभी इन में से किसी गुण के दर्शन होते हैं, तब हम उसके माध्यम से ईश्वर की विभूति के स्पष्ट दर्शन कर सकते हैं। गुण के प्रत्यारोपण की भाषा में भगवान कहते हैं, 'स्त्रियों में मैं कीर्ति, श्री आदि गुण हूं।'

अपने परिचय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए अगले श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण चार और दृष्टान्त देते हैं :

---

१. गीता ९-३१.

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ।।३५।।

सामों (गेय मन्त्रों) में मैं बृहत्साम और छन्दों में गायत्री छन्द हूं; मैं मासों में मार्गशीर्ष (दिसम्बर-जनवरी के भाग) और ऋतुओं में वसन्त हूं ।।३५।।

'मैं सामों में बृहत्साम हूं' – भगवान् ने पहले कहा था कि, 'वेदों में सामवेद मैं हूं ।' अब यहां सामवेद में भी विशेषता बताते हैं कि 'मैं सामों में बृहत्साम हूं ।' ऋग्वेद की जिन ऋचाओं को सामवेद में गाया जाता है, उन्हें साम कहते हैं । उनमें एक साम वह है, जिसमें इन्द्र की सर्वेश्वर के रूप में स्तुति की गई है, जिसे 'बृहत्साम' कहते हैं, जिसका उल्लेख भगवान् ने यहां किया है । साममन्त्रों का गायन विशिष्ट पद्धति का होने के कारण अत्यन्त कठिन है, जिन्हें सीखने के लिए वर्षों तक गुरु के पास रहकर साधना करनी पड़ती है ।

'मैं छन्दों में गायत्री हूं' – वेद मन्त्रों की रचना विविध छन्दों में की गयी है। इन छन्दों में 'गायत्री छन्द मैं हूं ।' जन्मतः सभी मनुष्य संस्काररहीन होते हैं। हिन्दू धर्म में बालक का उपनयन संस्कार गायत्री मन्त्र के द्वारा होता है, जिसकी रचना गायत्री छन्द में है । अतः इस छन्द को विशेष महत्व प्राप्त है । गायत्री में चौबीस अक्षर हैं और इस मन्त्र के द्वारा सविता देवता की उपासना की जाती है । ब्राह्मण लोग प्रातःकाल और सायंकाल संध्यावन्दन के समय इस मन्त्रोच्चार के द्वारा सूर्य को अर्घ्य प्रदान करते हैं ।

विश्व के किसी भी धर्म में किसी एक मन्त्र का जप इतने अधिक भक्तों द्वारा निरन्तर इतने अधिक काल से नहीं किया गया है जितना कि गायत्री छन्द में बद्ध गायत्री मन्त्र का । यह मन्त्र अत्यन्त शक्तिशाली एवं प्रभावशाली माना जाता है ।

'मैं मासों में मार्गशीर्ष हूं' – अंग्रेजी महीनों के अनुसार दिसम्बर और जनवरी के भाग मार्गशीर्ष मास है । भारत में, इस मास को पवित्र माना गया है । जलवायु की दृष्टि से भी यह सुखप्रद होता है, क्योंकि इस मास में न वर्षा की आर्द्रता या सांद्रता होती है और न ग्रीष्म ऋतु की उष्णत ।

'मैं ऋतुओं में बसन्त हूं' – प्रकृति को सुसुमति करने वाली वसन्त ऋतु मैं हूं । समस्त सृष्टि की दृश्यावलियों को अपने सतरंगी सन्देश और सुरभित संगीत से हर्ष विभोर करने वाला ऋतुराज ! पर्वत पुष्पों के परिधान पहनते हैं । भूमि हरितवसना होती है । सरोवर एवं जलाशय उत्फुल्ल कमलों की हंसी से खिलखिला उठते हैं । मैदानों में हरीतिमा के गलीचे बिछ जाते हैं । सभी हृदय किसी उत्सव की उमंग

से परिपूर्ण हो जाते हैं। सृष्टि के हर्षातिरेक को राजतिलक करने के लिए चन्द्रिका स्वयं को और अधिक सावधानी से सँवारती है।

मुझे न केवल भव्य और दिव्य में ही देखना है और न केवल सुन्दर और आकर्षक में, वरन् हीनतम से भी हीन में मुझे पहचानना है; मैं हूं, जो हूं; सुनो–

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥

मैं छल करने वालों मे द्यूत हूं और तेजस्वियों का तेज हूं, मैं विजय हूं; मैं व्यवसाय (उद्यमशीलता) हूं और सात्विक पुरुषों का सात्विक भाव हूं ॥३६॥

'मैं द्यूत हूं'–गीता का उपदेश अपने समय के एक क्षत्रिय राजा योद्धा अर्जुन को दिया गया था। इसका उपदेश भगवान् श्रीकृष्ण ने, धर्मप्रचारक के महान् उत्साह के साथ, अर्जुन को उसके अपने ही धर्म का बोध कराने के लिये किया था इसलिए गीता का प्रयत्न हिन्दूओं को ही हिन्दू बनाने का है, उन्हें स्वधर्म का पुनर्बोध कराने का है। यह पुनर्बोध का कार्य तब तक सफलतापूर्वक नहीं किया जा सकता जब तक हमारे धर्मशास्त्रों का मर्म सामान्य जनता को उनकी ही भाषा में समझाया नहीं जाता। यहां दिया हुआ उदाहरण अर्जुन को तत्क्षण ही समझ में आने जैसा है। कारण यह है कि उसका सम्पूर्ण जीवन दुःखों की एक शृंखला थी, जिसे उसे सहन करना पड़ा था, केवल अपनें ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर की द्यूत खेलनें के व्यसन के कारण। कोई अन्य दृष्टान्त अर्जुन के लिए इतना सुबोध नहीं हो सकता था।

आधुनिक पीढ़ी को सम्भवतः यह उदाहरण इतना अधिक सुबोध न प्रतीत होता हो, क्योंकि अब द्यूत का खेल अधिक लोकप्रिय नहीं रहा है। किन्तु उसके स्थान पर अन्य उदाहरण सरलता से पहचाने जा सकते हैं।[1]

'मैं तेजस्वियों का तेज हूं' – विभूति के इस दृष्टान्त का उपयोग जो साधक ध्यानाभ्यास के लिए करना चाहेगा, उसे ज्ञात होगा कि यहाँ शास्त्र ने कुछ कहा ही नहीं है। तेजस्वी वस्तु का जो तेज है, उसमें उस वस्तु के गुण नहीं होते हैं। उस तेज में अपने स्वयं के भी गुण नहीं होते – तेज केवल एक अनुभव है। इस अनुभव को सहज सुगम बनाने के लिये, मन उस वस्तु के परिमाण और वैभव को प्रकाशित करता है, परन्तु अनुभूति तेज में उस वस्तु के उपादान भूत पदार्थ के कुछ भी गुण

1. जुएं के समस्त खेलों में मैं 'वर्ग पहेली' हूं; मैं सब अस्त्रों में 'अणु बम' हूं; मैं सामाजिक अपराधों में, 'जालसाजी' हूं इत्यादि। सम्भवतः, ये उदाहरण हम सरलता से समझ सकते हैं।

नहीं होते है। संक्षेप में जैसा कि श्रीरामकृष्ण परमहंस ने एक बार कहा था 'निःसंदेह सत्य एक प्रकाश है, परन्तु वह गुणरहित प्रकाश है।'

'मैं विजय हूं; उद्यमशीलता हूं और मैं साधुओं की साधुता हूं' – जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, यहां भी ये गुण मन की उस स्थिति या दशा को बताते हैं, जो इस प्रकार के निरन्तर चिन्तन से निर्मित होती है। जब उद्यमशीलता और साधुता जैसे गुणों को बनाये रखा जाता है, तब मन अत्यन्त शान्त और स्थिर हो जाता है, जिसमें चैतन्य आत्मा का प्रतिबिम्बित वैभव इतना स्पष्ट और तेजस्वी होता है कि मानों वही स्वयं सत्य है। अतः पूर्वकथित गुणों की प्रत्यारोपण की भाषा में भगवान् कहते हैं कि ये गुण ही "मैं हूं", जब कि वस्तुतः ये अन्तःकरण के धर्म हैं।

हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि यहां अनेकता में 'एक परमात्मा की विद्यमानता' दर्शाने के लिए जो ५४ उदाहरण दिये गये हैं, वे सब एक निष्ठावान साधक को ध्यान के लिए बताये हुए अभ्यास हैं। यह कोई दृश्य पदार्थ का वर्णन नहीं समझना चाहिए। इन श्लोकों के तात्पर्यार्थ को जब तक साधक अपने निज के अनुभव से नहीं समझता, तब तक उसकी शिक्षा पूर्ण हुई नहीं कही जा सकती।

भगवान् और भी दृष्टान्त देते हुए कहते हैं:

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥३७॥

मैं वृष्णियों में वासुदेव हूँ और पाण्डवों में धनंजय, मैं मुनियों में व्यास और कवियों में उशना कवि हूं॥३७॥

'मैं वृष्णियों में वासुदेव हूं' – यादवों के पूर्वज यदु के वृष्णि नामक एक पुत्र था। इन वृष्णियों के वंश में वसुदेव का जन्म हुआ था। उनका विवाह मथुरा के क्रूर कंस की बहन देवकी के साथ सम्पन्न हुआ। इनके पुत्र थे श्रीकृष्ण। वसुदेव के पुत्र होने के कारण वे वासुदेव नाम से विख्यात हुए।

'मैं पाण्डवों में धनंजय हूं' – जिस प्रकार श्रीकृष्ण के पराक्रम से यादव कुल और वृष्णि वंश कृतार्थ और विख्यात होकर मनुष्य की स्मृति में बने रहें, उसी प्रकार पाण्डवों में धनंजय अर्जुन का स्थान था, जिसके बिना पाण्डवों को कुछ भी उपलब्धि नहीं हो सकती थी। धनंजय का वाच्यार्थ है – धन को जीतने वाला। अर्जुन को अपने पराक्रम के कारण यह नाम उपाधि स्वरूप प्राप्त हुआ था।

'मैं मुनियों में व्यास हूं' – गीता के रचयिता स्वयं व्यास जी होने के कारण कोई इसे आत्मप्रशंसा का भाग नहीं समझे। व्यास एक उपाधि अथवा धारण किया हुआ नाम है। उस युग में दार्शनिक एवं धार्मिक लेखन के क्षेत्र में जो एक नई शैली का आविष्कार तथा प्रारम्भ किया गया उसे व्यास नाम से ही जाना जाने लगा अर्थात् 'व्यास' शब्द उस शैली का संकेतक बन गया। यह नवीन शैली क्रान्तिकारी सिद्ध हुई, क्योंकि उस काल तक दार्शनिक साहित्य सूत्र रूप मन्त्रों में लिखा हुआ था पुराणों की रचना के साथ एक नवीन पद्धति का आरम्भ और विकास हुआ, जिसमें सिद्धान्तों को विस्तृत रूप में समझाने का उद्देश्य था। इसके साथ ही उसमें मूलभूत सिद्धान्तों को बारम्बार दोहरा कर उस पर विशेष बल दिया जाता था। इस पद्धति का प्रारम्भ और विकास कृष्ण द्वैपायन जी ने 'व्यास' नाम धारण करके किया। व्यास शब्द का वाच्यार्थ है, विस्तार।[1]

इस प्रकार समस्त मुनियों में अपने को व्यास कहने में भगवान् का अभिप्राय यह है कि सभी मननशील पुरुषों में, भगवान् वे हैं जो पुराणों की अपूर्व और अति-विशाल रचना के रचयिता हैं।

'मैं कवियों में उशना कवि हूं' – उशना शुक्र का नाम है। शुक्र वेदों में विख्यात हैं। कवि का अर्थ है क्रान्तदर्शी अर्थात् सर्वज्ञ।

उपनिषदों में कवि शब्द का अर्थ 'मन्त्रद्रष्टा' भी है। आत्मानुभूति से अनुप्राणित हुए जो ज्ञानी पुरुष अहंकार के रंचमात्र भान के बिना, अपने स्वानुभवों को उद्घोषित करते थे, वे कवि कहलाते थे। कालान्तर में इस शब्द के मुख्यार्थ का शनैः शनैः लोप होकर वर्तमान में कविता के रचयिता को ही कवि कहा जाने लगा। ये कवि भी भव्य एवं आश्चर्यपूर्ण विश्व को देखकर लौकिक स्तर से ऊपर उठकर अपने उत्स्फूर्त तेजस्वी भावनाओं या विचारों के जगत् में प्रवेश कर जाते हैं, और अपने हृदय की अन्तरतम गहराई से काव्य का सस्वर गान करते हैं। यहां कवि शब्द उसके मुख्यार्थ में प्रयुक्त है।

अपनी विभूतियों के विस्तार को बताते हुए भगवान् कहते हैं :

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥

मैं दमन करने वालों का दण्ड हूं और विजयेच्छुओं की नीति हूं; मैं गुह्यों में मौन हूं और ज्ञानवानों का ज्ञान हूं ॥३८॥

---

१. व्यसनात् व्यासः 'जो अपने विचार का विस्तार करता है, वह व्यास है।'

'मैं दमन करने वालों का दण्ड हूं' – शासक राजा और शासित प्रजा इन दोनों को ही अपने राज्य के विभिन्न जन समुदायों के रहन-सहन के स्तर को ऊंचा उठाने के लिए साथ साथ परिश्रम करना होता है। शासक को यह देखना चाहिए कि वह विधिनियमों को लागू करके उनके द्वारा शासन करे। इस प्रकार के शासन कार्य में उन असामाजिक तत्त्वों को दण्डित करना भी आवश्यक होता हैं, जो अपने स्वार्थ के वश समाज के विद्यमान नियमों की अवहेलना करते हैं। सामान्य प्रजा शासन के प्रति आदर और निष्ठा होने के कारण शासकों के नियमों और दण्ड के अधीन रहती है। परन्तु प्रश्न यह है कि वह कौन है, जो दुराचारियों को दण्डित करने का अधिकार राजा अथवा राष्ट्रपति को प्रदान करता है ? आधुनिक शासन प्रणालियों में व्यक्तियों को अपने हाथों में कानून लेने का कोई अधिकार नहीं है।

राजा राजदण्ड को धारण करता है, जो उसकी सत्ता और दमन के अधिकार का चिह्न है। प्रजातन्त्रीय शासन प्रणाली में राष्ट्रपति या प्रधानमन्त्री को यह अधिकार जनता का बहुमत प्राप्त होने से मिलता है। मार्ग में खड़े हुए आरक्षी (पुलिस मेन) का गणवेश अपराधियों को गिरफ्तार करने को उसके अधिकार का सूचक होता है। राजदण्ड से रहित राजा, जनमत के बिना राष्ट्रपति और एक निलम्बित आरक्षी अपने पूर्व के अधिकारों से वंचित हो जाते हैं। अत: यहां भगवान् कहते हैं कि 'मैं दमन करने वालों का दण्ड हूं।' समाज अनुमति सूचक चिह्न के बिना किसी भी एक व्यक्ति का समाज पर कोई अधिकार नहीं होता। क्योंकि, आखिर, राजा या राष्ट्रपति पुलिस या न्यायधीश ये सभी वस्तुत: समाज के ही सदस्य होते हैं, परन्तु वे समाज के संरक्षक के रूप में जो कार्य करते हैं, वह विशेष अधिकार उन्हें अपने पद के कारण प्राप्त होता है।

'मैं विजयेच्छुओं की नीति हूं' – यहाँ नीति शब्द का अर्थ राजनीति से है। इतिहास के ग्रन्थों में यह तथ्य बारम्बार दोहराया गया है कि केवल शारीरिक शक्ति से शत्रु पर प्राप्त की गयी विजय वास्तविक विजय कदापि नहीं होती। वस्तुत: किसी भी राष्ट्र, समाज, समुदाय या व्यक्ति को केवल इसलिये विजयी नहीं मानना चाहिए कि उसने अपने सैनिक अथवा शारीरिक शक्ति से शत्रुओं को परास्त कर दिया है। वास्तविक व पूर्ण विजय वही है जिसमें विजेता पक्ष बुद्धिमत्तापूर्वक लागू की गयी शासन की नीतियों के द्वारा पराजित पक्ष को अपनी संस्कृति एवं विचारधारा में परिवर्तित कर लेता है। यदि विजेता, पराजित लोगों का सांस्कृतिक परिवर्तन कराने में अथवा स्वयं उनकी संस्कृतिक को ग्रहण करनें में समर्थ नहीं है, तो उसकी विजय कदापि पूर्ण नहीं कही जा सकती है। इतिहास के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए यह एक खुला रहस्य है। सैनिक विजय के पश्चात् कुशल राजनीतिज्ञता के

द्वारा ही पराजित पक्ष का वास्तविक धर्मान्तरण हो सकता है, और केवल तभी पराजित पक्ष पूर्णत: विजेता के वश में हुआ कहा जा सकता है। अत: यहां कहा गया है कि, 'विजयेच्छुओं की नीति मैं हूं।'

'मैं गोपनीयों में मौन हूँ' – किसी तथ्य की गोपनीयता बनाये रखने का एक मात्र उपाय है – मौन। किसी तथ्य के विषय में खुली चर्चा करने पर उसकी गोपनीयता ही समाप्त हो जाती है। इस प्रकार, किसी रहस्य का सारतत्त्व ही मौन है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि अध्यात्मशास्त्र में आत्मज्ञान का वर्णन भी 'गुह्यतम' अथवा 'राजगुह्य' के रूप में किया गया है, क्योंकि सामान्यत: यह ज्ञात नहीं है। इस महान् सत्य की अनुभूति गहरी आन्तरिक शान्ति के मौन क्षणों में होती है और उस आनन्दानुभूति की निरन्तरता बनाये रखने का उपाय भी आन्तरिक मौन ही है। सब गुह्यों में, भगवान् गहन गम्भीर और अखण्ड मौन हैं!

'ज्ञानवान का ज्ञान मैं हूं' – बुद्धिमानों की बुद्धिमत्ता ही स्वयं बुद्धिमान् नहीं हैं, किन्तु वह उनसे भिन्न भी नहीं है। आत्मा यह देह नहीं, परन्तु हम यह भी नहीं कह सकते हैं कि देह सर्वव्यापी आत्मा से कोई भिन्न वस्तु है। जड़ उपाधियां और उनके अनुभव – ये सब विभूति की आभा हैं, जो आत्मा के आसपास आलोकवलय में चमकती रहती हैं। ज्ञाता का ज्ञान या बुद्धिमान् की बुद्धिमत्ता परमात्मा की विभूति की अभिव्यक्ति है, जो उन पुरुषों के संस्कारों का परिणाम है।

अब तक विवेचन किये गये विषय का अत्यन्त सुन्दर उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं:

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

हे अर्जुन! जो समस्त भूतों की उत्पत्ति का बीज (कारण) है, वह भी मैं ही हूं, क्योंकि ऐसा कोई चर और अचर भूत नहीं है, जो मुझसे रहित है ॥३९॥

'मैं समस्त भूतों का बीज हूँ' – स्थूल विषयों तथा सूक्ष्म भावनाओं और विचारों के अनुभूयमान जगत् में आत्मा के स्वरूप, स्थान एवं कार्य को दर्शाने वाले उपर्युक्त वर्णनात्मक वाक्यों तथा उपमाओं के द्वारा निरन्तर यह सूचित किया गया है कि आत्मा ही 'सम्पूर्ण सृष्टि का स्रोत है।' भगवान् श्रीकृष्ण के मुख से, महर्षि व्यास, इस सारभूत सत्य को बारम्बार विविध प्रकारों से प्रतिपादित कराते हैं, जिससे कि गीता का कोई मन्दबुद्धि विद्यार्थी भी इसकी उपेक्षा न कर सके।

साधकों को मनन-चिन्तन करने के लिए बीज और वृक्ष का दृष्टान्त एक

अक्षय विषय है। भूमि में बीजारोपण करने के पश्चात् अनुकूल परिस्थितियों में बीज में स्थित अव्यक्त जीवन तत्त्व स्वत: व्यक्त हो सकता है। वह अंकुरित बीज शीघ्र ही विकसित होकर कल्पनातीत ऊंचाई का वृक्ष बन जाता है, और तत्पश्चात् ऐसा प्रतीत हो सकता है, मानो उस वृक्ष का अपने कारणभूत बीज से कोई सम्बन्ध ही न हो। निरन्तर होने वाले परिवर्तन रूपी घन के प्रहारों से शोकाकुल हुए, केवल अनित्य जगत् को देखने वाले पुरुषों को ही, सम्भवत:, इस संसार में सृष्टि के कारण-भूत दिव्य, अनन्त आनन्द स्वरूप सत्य का स्मरण कराने वाली कोई वस्तु ही दिखाई नहीं देती है।

'विश्व की बीजावस्था', बीज में वृक्ष की अव्यक्त अवस्था के तुल्य है। अनुकूल परिस्थितियों को पाकर बीज से अंकुर फूटकर ऊपर की ओर तने का रूप लेते हैं, और उसी प्रकार भूमि के अन्दर उसका मूल उतनी गहराई तक पहुँचता है। नाम और रूपमय यह सम्पूर्ण विश्व जब अपनी अव्यक्त अवस्था में होता है, तब वह उपनिषदों के अनुसार, 'प्रलय की स्थिति' कहलाती है। यह समष्टि प्रलय का सिद्धांत व्यष्टि की दृष्टि से विचार करने पर बुद्धिगम्य हो जाता है। हमारी सुषुप्ति अवस्था में, हमारे व्यक्तिगत स्वभाव, चरित्र, क्षमता, शिक्षा, संस्कृति, सद्व्यवहार आदि सब अव्यक्त स्थिति में विद्यमान रहते हैं। संक्षेप में, निद्रावस्था में हमारे व्यक्तित्व की विशेषताएं बीजावस्था में रहती हैं। विश्राम काल के अन्तराल के बाद, जब ये वासनाएँ स्वयं को व्यक्त करने के लिये अधीर हो उठती हैं, तब यदि अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त हो जायें, तो वे पूर्णरूप से व्यक्त होती हैं।

इसी प्रकार, समष्टि मन की विश्राम की अवस्था में सम्पूर्ण जीवों की वासनाओं के साथ यह विश्व बीजावस्था में विद्यमान रहता है। यह एक अत्यन्त सुन्दर एवं तत्वबोधक उदाहरण हमारे प्राचीन ऋषियों नें दिया है। गर्भावस्था से, कालान्तर में अनुकूल परिस्थितिनों में, यह अव्यक्त सृष्टि व्यक्त होती है और उसकी इस प्रथम अभिव्यक्ति को ऋषियों ने सुन्दर नाम दिया है – हिरण्यगर्भ। इस अपूर्व और अद्भुत शब्द का पाश्चात्य विद्वानों ने 'गोल्डन एग' अर्थात् 'स्वर्णअण्ड' कहकर अनुवाद करके अनजाने ही हमारे धर्मशास्त्र की निन्दा की है और, इस प्रकार, उसके सौन्दर्य को भी कलुषित कर दिया है। वस्तुत:, इस शब्द का अर्थ है "चराचर जगत् का गर्भ।"

यहां भगवान् श्रीकृष्ण समष्टि कारण शरीर अर्थात् समस्त प्राणियों की वासनाओं के साथ तादात्म्य करके, सर्वज्ञ ईश्वर के रूप में कहते हैं कि वे वह महान् बीज हैं, जिससे यह संसार वृक्ष फलीभूत हुआ है तथा भविष्य में भी असंख्य बार ऐसा ही होता रहेगा।

लौकिक अनुभव यह है कि बीज से वृक्ष की उत्पत्ति होने की प्रक्रिया में स्वत: बीज का नाश हो जाता है। अत:, भगवान् के कथन से गीता का कोई विद्यार्थी यह न समझ ले कि इस विश्व की उत्पत्ति में स्वयं भगवान् नष्ट हो जाते हैं! इस प्रकार की विपरीत धारणा की निवृत्ति के लिये, श्रीकृष्ण कहते हैं, "ऐसा कोई चर या अचर भूत नहीं है, जो मेरे बिना रहता है।"

परमात्मा का बीजत्व ऐसे ही हैं, जैसे समुद्र तरंगों का बीज है। तरंगों की उत्पत्ति और विकास समुद्र से भिन्न स्थान पर नहीं होते। जहाँ समुद्र नहीं, वहाँ तरंगों का भी अस्तित्व नहीं हो सकता। उसी प्रकार, असंख्य तरंगों की उत्पत्ति में स्वयं समुद्र कभी नष्ट नहीं होता।

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उस अविद्या से प्रकट होता है, जो मानों सत्य को आच्छादित कर देती है। इस अविद्या का अस्तित्व और उसकी भ्रमोत्पादक शक्ति ये दोनों ही प्रक्षेपित जगत् के स्रोतभूत ब्रह्म में ही स्थित होते हैं। यह आत्म अज्ञान ही सृष्टि का कारण है। चैतन्य आत्मा के बिना यह अविद्या और अविद्या-जनित हमारे संसार के दु:ख प्रकाशित नहीं होते और हमें उनका भान तक नहीं होता है।

जैसे तरंगों का जनक, धारक और पोषक जल ही है, वैसे ही चैतन्य आत्मा इस संसार वृक्ष का जनक और पोषक है।

यदि हमसे यह कहा जाता है कि कोई दस आभूषण स्वर्ण से बने हैं तथा स्वर्ण के बिना उनका अस्तित्व नहीं हो सकता है, तो स्पष्ट है कि वर्तमान में भी वे आभूषण स्वर्ण रूप ही हैं। इसी प्रकार, भगवान् यहाँ कहते हैं कि वे इस संसार वृक्ष के बीज हैं; इस आंशिक कथन में वे इस वाक्य को भी जोड़ते हैं कि "मेरे बिना कोई भूतवस्तु नहीं रह सकती।" इसलिये यह विश्व भगवत्स्वरूप ही है।

अब तक किये गये सम्पूर्ण विवेचन का उपसंहार, भगवान् अगले तीन श्लोकों में करते हैं:

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

हे परन्तप! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है; अपनी विभूतियों का यह विस्तार मैंने एक देश से अर्थात् संक्षेप में कहा है ॥४०॥

'मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है'—अपनी विभूतियों के वर्णन के प्रारम्भ

में ही भगवान् श्रीकृष्ण ने इस विशाल कार्य को सम्पन्न करने में भाषा की असमर्थता प्रकट की थी। किन्तु, फिर भी, शिष्य के लिये केवल स्नेहवश भगवान् श्रीकृष्ण ने इस असम्भव कार्य को यथासंभव सम्पन्न करने के लिये अपने हाथों में लिया। कोई भी घटकार किसी जिज्ञासु व्यक्ति को समस्त घटों में व्याप्त उनके 'सारतत्त्व मिट्टी' को नहीं दर्शा सकता और न अन्त में यह कहकर स्वयं का अभिनन्दन कर सकता है कि उसने समस्त भूत, वर्तमान और भविष्य के घटों को बता दिया है। ऐसा करना न सम्भव है और न आवश्य ही। योग्य अधिकारी पुरुष को कुछ वस्तुएं दिखाकर उनके 'सारतत्त्व' का ज्ञान करा दिया जाये, तो वह पुरुष उसी तत्त्व की अन्य वस्तुओं को देखकर उस तत्त्व को पहचान सकता है।

इस अध्याय में, भगवान् ने अर्जुन को तथा उसके निमित्त से समस्त भावी पीढ़ियों के जिज्ञासुओं के लिए, इन ५४ विभूतियों के द्वारा, असंख्य उपाधियों के आवरण या परिधान में गुप्त वास कर रहे, अनन्त परमात्मा की क्रीड़ा को दर्शाया है। जो साधक इन विभूतियों का ध्यान करके अपने मन को पूर्णत: प्रशिक्षित कर लेगा, वह इस बहुविध सृष्टि के पीछे स्थित एक अनन्त परमात्मा को सरलता से सर्वत्र पहचानेगा।

दृश्य जगत् की अनन्त विभूतियों के विस्तार का वर्णन करने में अपनी असमर्थता को व्यक्त करते हुए भगवान् कहते हैं, "सूर्यस्थानीय मुझ स्वयंप्रकाश, स्वस्वरूप की पूर्णता में स्थित परमात्मा की असख्य रश्मिरूपी विभूतियों का कोई अन्त नहीं है।"

यदि भगवान् श्रीकृष्ण इस असमर्थता को पहले से जानते थे, तो क्यों उन्होंने एक गुरु होने के नाते, व्यर्थ ही अपने शिष्य को विभूतियों के द्वारा स्वयं का दर्शन कराने का आश्वासन दिया? यह ऐसा छल भगवान् ने क्यों किया? दीर्घकाल तक शिष्य को थकाकर अन्त में उसे निराश करना क्या उचित है? क्या यह सभी धार्मिक गुरुओं, ऋषियों और मुनियों का सामान्य स्वभाव ही है?

आध्यात्मिक साधनाओं पर लगाये जाने वाले इन सभी आरोपों का केवल एक ही उत्तर है कि "इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है।" शल्य चिकित्सा के विद्यार्थियों को, सर्वप्रथम एक सप्ताह के मृत देह पर शल्यक्रिया करने को कहा जाता है!! यह कोई असत्य नहीं है; यह सत्य है कि कितनी ही कुशलता से शल्य क्रिया करने पर भी वह मृत 'रोगी' पुनर्जीवित होने वाला नहीं है। परन्तु इस प्रकार के अभ्यास का प्रयोजन विद्यार्थी को उस अनुभव को कराना है, जो अपना स्वतन्त्र व्यवसाय करने के लिए जीवन में आवश्यक होता है। इसी प्रकार, भगवान् यहाँ

अर्जुन को "दृश्य के द्वारा अदृश्य का दर्शन करने की कला" को सिखाने के लिये अपनी कुछ विशेष विभूतियों का वर्णन करते हैं।

उनका यह उद्देश्य उनकी इस स्वीकारोक्ति में स्पष्ट होता है, "किन्तु मैंने अपनी विभूतियों का विस्तार संक्षेप से कहा है।" भगवान् द्वारा किया गया यह वर्णन पूर्ण नहीं कहा जा सकता। साधकों को प्रशिक्षित करने के लिए उन्होंने कुछ विशेष उदाहरण ही चुनकर दिये हैं। जिन्होंने इन विभूतियों पर उत्साहपूर्वक ध्यान किया है, वे अनित्य रूपों में क्रीड़ा कर रहे स्वयं प्रकाश स्वरूप को सरलता से पहचान सकते हैं।

संक्षेप में, भगवान् के कथन का सार यह है कि :

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥४१॥

जो कोई भी विभूतियुक्त, कान्तियुक्त अथवा शक्तियुक्त वस्तु (या प्राणी) है, उसको तुम मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुई जानो ॥४१॥

इस अध्याय में कथित उदाहरणों के द्वारा भगवान् की विभूतियों को दर्शानें का अल्प-सा प्रयत्न किया गया है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने सत्य को पूर्णतया परिभाषित किया है। हमें यह बताया गया है कि हम विवेक के द्वारा इसी अनित्य जगत् में नित्य और दिव्य तत्त्व को पहचाव सकते हैं। उपर्युक्त दृष्टान्तों से यह स्पष्ट होता है कि जगत् की चराचर वस्तुओं में स्वयं भगवान् अपने को ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त अथवा शक्तियुक्त रूप में अभिव्यक्त करते हैं। वे समस्त नाम और रूपों में विद्यमान हैं।

यहाँ श्रीकृष्ण अत्यन्त स्पष्ट रूप से यह बताते हैं कि बहुविध जगत् में 'दिव्य उपस्थिति' क्या है, तथा उसे पहचानने की परीक्षा क्या है। जहाँ कहीं भी महानता, कान्ति या शक्ति की अभिव्यक्ति है, वह परमात्मा के असीम तेज की एक रश्मि ही है। इस कोई सन्देह नहीं कि उपर्युक्त विस्तृत विवेचन का यह सारांश अपूर्व है। इन समस्त उदाहरणों में भगवान् का या तो ऐश्वर्य झलकता है, या कान्ति ; या फिर शक्ति।

सर्वत्र परमात्मदर्शन करने के लिए अर्जुन को दिए गए इस संकेतक का उपयोग गीता के सभी विद्यार्थियों के लिए समान रूप से लाभप्रद होगा।

अब, अन्त में भगवान् कहते हैं :

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।।४२।।

अथवा हे अर्जुन ! बहुत जानने से तुम्हारा क्या प्रयोजन है ? मैं इस सम्पूर्ण जगत् को अपने एक अंशमात्र से धारण करके स्थित हूँ ।।४२।।

यद्यपि मित्रता और स्नेह के उत्स्फूर्त भावावेश में, श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपनी विभूति (समष्टि रूप) और योग (व्यष्टि रूप) को वर्णन करने का वचन दिया था, परन्तु एक-एक उदाहरण देते समय उन्होंने अपने को इस कार्य के लिये सर्वथा असमर्थ पाया। अनन्त तत्त्व के अनन्त विस्तार का वर्णन कैसे सम्भव हो सकता है ? असमर्थता के कारण उन्हें विषाद है, किन्तु पुनः अपने शिष्य के प्रति अत्यन्त प्रेम के कारण, भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण अध्याय का सार इस अन्तिम श्लोक में बताते हैं।

'इस बहुत जानने से तुम्हारा क्या प्रयोजन है'––वास्तव में देखा जाए, तो अनन्त तत्त्व को प्रत्येक परिच्छिन्न रूप में दर्शाने का प्रयत्न व्यर्थ ही है, क्योंकि वह असम्भव है। मिट्टी को समस्त विद्यमान घटों में तथा जल को सम्पूर्ण तरंगों में एक–एक करके दिखाना असंभव है। केवल इतना ही किया जा सकता है कि कुछ उदाहरणों के द्वारा विद्यार्थियों को तत्त्व का दर्शन करने की कला को सिखाया जाये। गणित के अध्यापन में इसी पद्धति का उपयोग किया जाता है।

'मैं इस सम्पूर्ण जगत् को अपने एक अंशमात्र से धारण करके स्थित हूँ' – वेदान्त में जगत् शब्द में वे समस्त अनुभव समाविष्ट हैं, जो हम अपनी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि के द्वारा प्राप्त करते हैं। संक्षेप में जिन वस्तुओं को हम दृश्य रूप में जानते है, वे सभी जगत् शब्द की परिभाषा में आती हैं। इसमें दृश्य पदाथ, भावनाएँ, विचार और उनको ग्रहण करने वाली इन्द्रियादि उपाधियाँ भी सम्मिलित हैं।

इस श्लोक की दूसरी पंक्ति में भगवान् श्रीकृष्ण आत्मस्वरूप की दृष्टि से कहते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत् उनके एक अंशमात्र में धारण किया हुआ है। इस कथन का एक और दार्शनिक अभिप्राय यह है कि सत्य का अधिकांश भाग इस जगत् तथा उसके विकारों से सर्वथा निर्लिप्त है। यद्यपि सर्वत्र समान रूप से व्याप्त अखण्ड सत्य में इस प्रकार अंशों का भेद नहीं किया जा सकता है, तथापि लौकिक परिच्छिन्न

भाषा के शब्दों के द्वारा पारमार्थिक सत्य को निर्देशित करने की यह एक औपनिषदीय पद्धति है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः॥

इस प्रकार श्रीकृष्णार्जुनसंवाद के रूप में ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रस्वरूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् का विभूतियोग नामक नवां अध्याय समाप्त होता है।

इस अध्याय की व्याख्या में 'विभूति' शब्द का अर्थ हम विस्तार से देख चुके हैं। यह योग बन जाता है, क्योंकि जो साधक निष्ठापूर्वक इस साधन मार्ग का अनुसरण करता है उसे मन तथा बुद्धि की सूक्ष्मग्राही क्षमता प्राप्त होती है। फलतः, वह साधक जगत् की वस्तुओं तथा प्राणियों में परमात्मा के ऐश्वर्य, या कान्ति या शक्ति को पहचान पाता है, और वह यह भी जानता है कि ये समस्त विभूतियाँ उस स्वयंप्रकाशस्वरूप परमात्मा की रश्मियाँ हैं, जो परिच्छिन्न उपाधियों के माध्यम से व्यक्त हो रही हैं।

ॐ

एकादश अध्याय

विश्वरूपदर्शनयोग

प्रतिपाद्य विषयवस्तु के विस्तृत विवेचन की विचार-श्रृंखला में एक कड़ी और जोड़ते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने समष्टि सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में अपनी व्यापकता दर्शायी। समस्त वस्तुओं और प्राणियों में दृष्टिगोचर एक 'दिव्य उपस्थिति' के रूप में, भगवान् ने, अपने इस विस्तार का विभूतियोग नामक पूर्वाध्याय में, विस्तृत वर्णन किया।

इस विचार-श्रृंखला को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत अध्याय का अध्ययन करने पर हमें ज्ञात होगा कि यहां पूर्ण आधुनिक एवं वैज्ञानिक विचार पद्धति का उपयोग किया गया है। एक बुद्धिमान् जिज्ञासु पुरुष, सर्वप्रथम, किसी परिकल्पना अथवा सिद्धान्त की पुष्टि के लिये 'पर्याप्त तथ्य' एकत्र करता है, और तत्पश्चात्, वह उसी सिद्धान्त का 'प्रात्यक्षिक प्रयोग' करके देखना चाहता है, जिसके बिना उस सिद्धांत की सत्यता प्रमाणित नहीं हो सकती। इसलिये, यदि पूर्व अध्याय में भगवान् नें, आत्मा के विश्वाधिष्ठानत्व को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त तथ्य प्रस्तुत किये हैं तो इस अध्याय में अर्जुन के लिये उसका प्रत्यक्षीकरण करके दिखलाया है। यहां दर्शाया गया है कि प्राणीमात्र एक आत्मतत्त्व में ही स्थित हैं।

मिट्टी से निर्मित समस्त घटों में मिट्टी की व्यापकता दर्शाने मात्र से इस कथन की सिद्धि नहीं होती कि 'समस्त घटों का सारतत्त्व मिट्टी है', परन्तु इसके साथ ही यह भी सिद्ध करना आवश्यक है कि मिट्टी में ही सदैव सभी आकारों एवं परिमाणों के घट अव्यक्त सम्भावना के रूप में विद्यमान रहते हैं। मिट्टी को समस्त घटों में देखने के लिये मनुष्य को केवल अपनी दृष्टि को इस योग्य बनाना होता है कि वह नाम और रूप से भिन्न मिट्टी को देख सके। यह प्रशिक्षण अधिक कठिन नहीं है, परन्तु समस्त घटों के सम्भावित अस्तित्व को मिट्टी में देख पाने के लिए उसे एक 'विशेष दृष्टि' या 'विशेष नेत्र' की आवश्यकता होगी। घट जगत् को मिट्टी में देख सकने के लिये उसे पर्याप्त वैराग्य अर्थात् वस्तुनिष्ठ दर्शन करने की क्षमता तथा एक विद्वान् की कल्पना शक्ति की आवश्यकता होगी, जिसके बिना यह घट दर्शन कर पाना असम्भव है।

इसी प्रकार, जैसा कि पूर्व अध्याय में वर्णन किया गया है, आत्मा की अभिव्यक्ति को व्यष्टि उपाधि में देखना अपेक्षाकृत सरल कार्य है; परन्तु एक जीव के लिए एक क्षण में ही समस्त विश्व को एकमेव सत्य में स्थिति देख पाना, वास्तव में कठिन है। तथापि 'ज्ञानचक्षु' के द्वारा यह सम्भव है। विवेक की कला और वैराग्य का भाव–इन दोनों का संयुक्त व विकसित रूप ही ज्ञानचक्षु है। इस ज्ञान दृष्टि से सम्पन्न जिज्ञासु पुरुष क्षण भर के लिए अपनी समस्त आशक्तियों को त्याग कर स्वयं के समक्ष प्रस्तुत प्रत्यक्ष दृश्य को निश्चल प्रतीक्षा और रोमाँचित आश्चर्य के भाव के साथ देखता रह सकता है।

वह तत्त्व क्या है, जिसके कारण जगत् की वस्तुएं परस्पर विलग स्थित रहती हैं ? मेरा शरीर, निश्चय ही, पुस्तक के रूप और पदार्थ से भिन्न है; और उसी प्रकार मैं, कुर्सी और मेज से भी भिन्न हूं। मैं सबसे भिन्न हूँ और ये वस्तुएं भी परस्पर विलग ही बनी रहती हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से, जगत् में समस्त वस्तुओं का भौतिक अस्तित्व सिद्ध करने वाला तत्त्व एक ही है; परन्तु फिर भी, हम सबके साथ एकत्व का अनुभव नहीं कर पाते हैं। सबका अपना–अपना स्वतन्त्र अस्तित्व प्रतीत होता है। वे तत्त्व क्या हैं, जिसके कारण दो शरीरों के मध्य अथवा दो वस्तुओं के मध्य यह भेद उत्पन्न हुआ है ?

सावधानीपूर्वक विश्लेषण करने पर तत्त्वचिन्तक पुरुषों को यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि वह तत्त्व 'आकाश' है, जो भौतिक रूपों या आकारों को भिन्न–भिन्न स्वतन्त्र द्वीपों में विभाजित करता है। मेरी भुजा की कुहनी से लेकर कलाई तक निश्चित ही एकत्त्व भाव होता है, क्योंकि उनको विभाजित करने के लिये उनके मध्य आकाश नहीं है, जबकि मेरी अंगुलियों के मध्य आकाश (रिक्त स्थान) होने के कारण वे परस्पर विलग रहती हैं। यदि काल की कल्पना पूर्णतया सूख जाय, तो स्वाभाविक है कि सभी वस्तुएं तत्काल आपस में सुखपूर्ण आलिंगन में बँध जायेंगी और वे एक समरूप संवेदनशील पूर्ण की प्रतीक होंगी। वस्तुओं के इस एक पूर्ण रूप में, एक ही काल और एक ही देश अर्थात् स्थान पर जगत् की विभिन्न आकारों एवं परिमाणों की समस्त वस्तुएं उपलब्ध होनी चाहिए। यह विराट् पुरुष की संकल्पना है–यह दर्शन है सम्पूर्ण विश्व का, एक ऐसे मन के द्वारा जिसमें देश और काल की कल्पनाएं अंशत: सूख गई हों !

कल्पना कीजिये कि खिलौने बनाने वाला कोई व्यक्ति मोम से अनेक आकारों एवं रूपों के खिलौने बनाता है, जैसे पशु, पक्षी आदि। उन खिलौनों को वह कांच लगी हुई एक आलमारी में रख देता है। यदि उस कांच में से देखें, तो सब खिलौने एक दूसरे से भिन्न प्रतीत होंगे – बन्दर गाय से भिन्न होगा और वे दोनों ही भिन्न

होंगे एक गुड़िया से। परन्तु यदि मान लिया जाय कि उस व्यक्ति का विचार बदल जाता है और वह उस सब आकारों को नष्ट करके कोई अन्य अधिक लाभदायक वस्तु बनाना चाहता है। आलमारी में रखे खिलौने, उसके मध्य के आकाश के कारण अभी परस्पर विलग स्थिति में हैं फिर वह खिलौना बनाने वाला व्यक्ति उन सबको एक साथ दबाकर मोम के एक गोले में परिवर्तित कर देता है। उसकी इस क्रिया के कारण उन वस्तुओं के मध्य का आकाश समाप्त होकर समस्त खिलौने मात्र एक मोमपिण्ड बन जाते हैं। परन्तु उस पिण्ड की सतह पर प्रायः सभी खिलौनों के चिन्ह दिखाई देंगे, जैसे बन्दर की पूंछ, गाय का मुँह, शिशु की मन्द मुस्कान और कुत्ते के कान !

इसी प्रकार, यदि भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के मन से 'देश की कल्पना' को हटा दें, तो वह सम्पूर्ण विश्व को अपनी हथेली पर स्थित देख सकता है। परन्तु, हम यहाँ देखते हैं कि भगवान के विराट् स्वरूप में मन को विचरण करने के लिए अर्जुन को पर्याप्त स्वतन्त्रता दी गयी थी। इसलिये, वह उस विश्वरूप में सम्पूर्ण विश्व को ऐसे देखता है, मानो विश्व को दबाकर लघुरूप में एक स्थान पर रख दिया गया हो।

गीता का विराट् पुरुष का यह सिद्धान्त तथा उसका प्रात्यक्षिक दर्शन किसी भी युग के बुद्धिमान् जिज्ञासु पुरुष को सन्तुष्ट कर सकता है। इस रूप का दर्शन करने के पश्चात् अर्जुन अपनी श्रद्धा और ज्ञान दोनों में ही पूर्णतया परिवर्तित हो जाता है।

इस अध्याय में, हम देखते हैं कि एक सर्वोत्तम नाटककार के रूप में व्यासजी ने अपनी सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक रचना के सौंदर्य पोषण के लिए मानो संस्कृत भाषा को निचोड़कर सुखा दिया है। चुने हुए शब्दों तथा मधुर वाक्यों के अतिरिक्त, इस अध्याय की नाटकीय परिस्थिति को चरम बिन्दु तक पहुंचाने के लिये और अर्जुन के मन में उठने वाली कौतूहल, विस्मय, भय, आदर, भक्ति आदि की भावनाओं का स्पष्ट चित्रण करने के लिये, व्यासजी नें यहां साहित्य के प्रत्येक छन्द-कौशल का प्रयोग किया है। सिद्धान्त की गरिमा, शब्दशैली की सुन्दरता, चित्रण की कलात्मकता और नाटक की आन्तरिक धारा की दृष्टि से विश्व के अध्यात्मशास्त्र के पवित्र ग्रन्थों के निधिगृह में इस अध्याय को सर्वोच्च दार्शनिक काव्य के रूप में जो प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है, वह समीचीन है।

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

अर्जुन ने कहा–

मेरे पर अनुग्रह करने के लिये जो परम गोपनीय, अध्यात्मविषयक वचन (उपदेश) आपके द्वारा कहा गया, उससे मेरा यह मोह दूर हो गया है ।।१।।

पूर्व अध्याय में वर्णित भगवान् की विभूतियों को जानने से हुए अपने परम सन्तोष को, अर्जुन इस प्रारम्भिक श्लोक में व्यक्त करता है । अपने शिष्य पर केवल अनुग्रह करने और उसे मोहदशा से बाहर निकालने के लिये भगवान् ने जो इतना अधिक परिश्रम किया, अर्जुन उसकी भी प्रशंसा करता है । अनेकता में एकता का दर्शन करने का अर्थ संसार के दुःख से सुरक्षित रहने के लिए रोग निरोधक टीका लगवाना है । अर्जुन की इस स्वीकारोक्ति से कि, 'मेरा यह मोह दूर हो गया है', व्यासजी, एक उत्तम विद्यार्थी पर पड़ने वाले पूर्व अध्याय के प्रभाव को बड़ी सुन्दरता से हमारे ध्यान में लाते हैं ।

मोह निवृत्ति, सत्य के ज्ञान का एक पक्ष है, न कि वह अपने आप में ज्ञान की प्राप्ति । अर्जुन अज्ञान के कारण नामरूपमय इस सृष्टि में अपना अलग और स्वतन्त्र अस्तित्व अनुभव कर रहा था । वह अब इस भेद के मोह से मुक्त हो चुका था । उसे वह दृष्टि मिल गयी, जिसके द्वारा वह इस भेदात्मक दृश्य जगत् में ही व्याप्त एक सत्ता को देख पाने में समर्थ हो जाता है । परन्तु फिर भी उसने 'अनेकता में एकता' का प्रात्यक्षिक दर्शन नहीं किया था । यद्यपि सिद्धान्ततः उसे इस एकत्व का ज्ञान स्वीकार्य था ।

राजपुत्र अर्जुन यह भली-भांति जानता है कि श्रीकृष्ण ने विभूतियोग का इतना विस्तृत वर्णन केवल उसके ऊपर अनुग्रह करने के लिये ही किया था । यह हमें इस बात का स्मरण कराता है कि किस प्रकार भगवान् अपने भक्तों के हृदय में स्थित उनके अज्ञानजनित अंधकार को नष्ट कर देते हैं ।[1]

वे अध्यात्मविषयक वचन क्या थे ? अर्जुन कहता है :

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ।।२।।

हे कमलनयन ! मैंने भूतों की उत्पत्ति और प्रलय आपसे विस्तारपूर्वक सुने हैं तथा आपका अव्यय माहात्म्य (प्रभाव) भी सुना है ।।२।।

---

१. गीता १०–११

गुरु और शिष्य के संवाद में, यह स्वाभाविक है कि किसी कठिन विषय की समाप्ति पर शिष्य के मन में कुछ शंका या प्रश्न उठें। उस शंका की निवृत्ति के लिये वह गुरु के पास जा सकता है, परन्तु प्रश्न करने के पूर्व उसे यह सिद्ध करना होगा कि वह विवेचित विषय को स्पष्टतः समझ चुका है। तत्पश्चात्, उसे अपनी नवीन शंका का समाधान कराने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस पारम्परिक पद्धति का अनुसरण करते हुए अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण को यह बताने का प्रयत्न करता है कि वह पूर्व अध्याय का विषय समझ चुका है। उसने श्रवण के द्वारा भूतों की उत्पत्ति और प्रलय तथा भगवान् की असंख्य विभूतियों को समझ लिया है।

और फिर भी, एक सन्देह रह ही जाता है, जिसका निवारण तभी होगा जब प्रात्यक्षिक दर्शन से उसकी बुद्धि को तत्त्व का निश्चयात्मक ज्ञान हो जायेगा। यह श्लोक विश्वरूप दर्शन की इच्छा को प्रकट करने की पूर्व तैयारी है। जब शिष्य अपनी योग्यता सिद्ध करने के पश्चात् कोई युक्तिसंगत प्रश्न पूछता है अथवा किसी संभावित विघ्न की निवृत्ति का उपाय जानना चाहता है, तो गुरु को उसकी सभी सम्भव सहायता करनी चाहिये। हम देखेंगे कि योगेश्वर श्रीकृष्ण यहां अपनी वरिष्ठता को भी त्याग कर केवल असीम अनुकम्पावशात् अर्जुन को अपना विराट् रूप दर्शाते हैं, केवल इसलिये कि उनके शिष्य ने उसे देखने का आग्रह किया था।

अर्जुन अपनी इच्छा को अगले श्लोक में व्यक्त करता है।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥

हे परमेश्वर ! आप अपने को जैसा कहते हो, यह ठीक ऐसा ही है। (परन्तु) हे पुरुषोत्तम ! मैं आपके ईश्वरीय रूप को प्रत्यक्ष देखना चाहता हूं ॥३॥

संस्कृत से वाक्प्रचार 'एवमेतत्' (यह ठीक ऐसा ही है) के द्वारा अर्जुन तत्त्वज्ञान के सैद्धान्तिक पक्ष को स्वीकार करता है। समस्त नाम और रूपों में ईश्वर की व्यापकता की सिद्धि बौद्धिक दृष्टि से सन्तोषजनक थी। फिर भी बुद्धि को अभी भी प्रत्यक्षीकरण की प्रतीक्षा थी। इसलिए अर्जुन कहता है, 'मैं आपके ईश्वरीय रूप को देखना चाहता हूँ।" हमारे शास्त्रों में ईश्वर का वर्णन इस प्रकार किया गया है है कि वह ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज इन छः गुणों से सम्पन्न है।

इस अवसर पर भगवान् ने अर्जुन को यह दर्शाने का निश्चय किया कि वे न केवल समस्त व्यष्टि रूपों में व्याप्त हैं वरन् वे वह समष्टिरूपी पात्र हैं, जिसमें

ही समस्त नाम और रूपों का अस्तित्व है। भगवान् सर्वव्यापक होने के साथ-ही-साथ सर्वातीत भी हैं।

यद्यपि कट्टर बुद्धिवाद के अत्युत्साह में आकर अर्जुन ने विश्वरूप दर्शन की अपनी मांग भगवान के समक्ष रखी, किन्तु तत्काल ही उसे यह भान हुआ कि उसकी यह धृष्टता है और उसने सद्व्यवहार की मर्यादा का उल्लंघन किया है।

अगले श्लोक में वह अधिक नम्रता से कहता है :

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

हे प्रभो! यदि आप मानते हैं कि मेरे द्वारा वह आपका रूप देखा जाना सम्भव है, तो हे योगेश्वर! आप अपने अव्यय रूप का दर्शन कराइये ॥४॥

पूर्व श्लोक में व्यक्त की गई इच्छा को ही यहां पूर्ण नम्रता एवं सम्मान के साथ दोहराया गया है। अपने सामान्य व्यावहारिक जीवन में भी हम सम्मान पूर्वक प्रार्थना अथवा नम्र अनुरोध करते समय इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करते हैं, जैसे 'यदि मुझे कुछ कहने की अनुमति दी जाये', 'मुझ पर बड़ी कृपा होगी', 'मुझे प्रस्तुत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है' इत्यादि। पाण्डव राजपुत्र अर्जुन, मानो, पुर्नविचार के फलस्वरूप पूर्व प्रयुक्त अपनी सैनिकी भाषा को त्यागकर नम्रभाव से अनुरोध करता है कि, 'यदि आप मुझे योग्य समझें, तो अपने अव्यय रूप का मुझे दर्शन कराइये।'

यहां बतायी गयी नम्रता एवं सम्मान किसी निम्न स्तर की इच्छा को पूर्ण कराने के लिये झूठी भावनाओं का प्रदर्शन नहीं है। भगवान् को सम्बोधित किये गये विशेषणों से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है। प्रथम पंक्ति में अर्जुन भगवान् को 'प्रभो' कहकर और फिर, 'योगेश्वर' के नाम से सम्बोधित करता है। यह इस बात का सूचक है कि अर्जुन को अब यह विश्वास होने लगा था कि श्रीकृष्ण केवल कोई मनुष्य नहीं हैं, जो अपने शिष्य को मात्र बौद्धिक सन्तोष अथवा आध्यात्मिक प्रवचन देने में ही समर्थ हों। वह समझ गया है कि श्रीकृष्ण तो स्वयं प्रभु अर्थात् परमात्मा और योगेश्वर हैं। इसलिये यदि वे यह समझते हैं कि उनका शिष्य अर्जुन विराट् के दर्शन से लाभान्वित हो, तो वे उसकी इच्छा को पूर्ण करने में सर्वथा समर्थ हैं।

यदि कोई उत्तम अधिकारी शिष्य एक सच्चे गुरु से कोई नम्र अनुरोध करता

है, तो वह कभी भी गुरु के द्वारा अनसुना नहीं किया जाता है; अतः

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ।।५।।

श्रीभगवान् ने कहा–

हे पार्थ ! मेरे सैकड़ों तथा सहस्रों नाना प्रकार के और नाना वर्ण तथा आकृति वाले दिव्य रूपों को देखो ।।५।।

यदि समस्त आभूषण का मूल तत्त्व स्वर्ण है, तो विश्व का प्रत्येक आभूषण समष्टि स्वर्ण में उपलब्ध होना चाहिए । आभूषण में स्वर्ण को देखना अपेक्षतः सरल है, क्योंकि वह 'इन्द्रियों के द्वारा किया जाने वाला दर्शन' है अर्थात् वह इन्द्रियगोचर है । परन्तु नाना आकार, प्रकार तथा वर्णों के समस्त आभूषणों को समष्टि स्वर्ण में देख पाना अधिक कठिन है, क्योंकि वह 'बुद्धि द्वारा किया जाने वाला दर्शन' है अर्थात् बुद्धिगम्य दर्शन है ।

इस बात को ध्यान में रखकर भगवान के कथन को पढ़ने पर उनका अभिप्राय स्वतः स्पष्ट हो जाता है ।' मेरे शतशः और सहस्रशः नाना प्रकार आकार तथा वर्णों के अलौकिक रूपों को देखो ।' भगवान् श्रीकृष्ण को अपना विराट् स्वरूप धारण करने की आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि अर्जुन को केवल इतना ही करना था कि अपने समक्ष स्थित रूप को वह देखे । परन्तु दुर्भाग्य से, द्रष्टव्य रूप को देखने के लिये उपयुक्त दर्शन का उपकरण उसके पास नहीं था, और इसलिये, अर्जुन उन सबको नहीं देख सका, जो भगवान् श्रीकृष्ण में पहले से ही विद्य-मान था ।

सुदूर स्थित कोई नक्षत्र या किसी अन्य वस्तु को देखने के लिये दूरदर्शी यन्त्र का उपयोग किया जाता है । परन्तु उस यन्त्र की अक्षरेखा पर होने मात्र से वह वस्तु दिखाई नहीं दे सकती । उसे देखने के लिए दूरदर्शीयन्त्र को समायोजित करना पड़ता है, जिससे कि वह वस्तु निरीक्षक के दृष्टिपथ में आ जाये । इसी प्रकार श्रीकृष्ण ने स्वयं को विराट् रूप में परिवर्तित नहीं किया, परन्तु अर्जुन को केवल आन्तरिक समायोजन करने में सहायता प्रदान की जिससे कीं वह भगवान् श्रीकृष्ण में विद्यमान विश्वरूप का अवलोकन कर सके । इसीलिये, भगवान कहते हैं कि, 'देखो' । वे इस श्लोक में उन दर्शनीय वस्तुओं को गिनाते हैं ।

वे दिव्य रूप कौन-से हैं ? अगले श्लोक में बताते हैं :

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याऽश्चर्याणि भारत ।।६।।

हे भारत ! (मुझमें) आदित्यों, वसुओं, रुद्रों तथा अश्विनी कुमारों और मरुद्गणों को देखो, तथा और भी अनेक इसके पूर्व कभी न देखे हुए आश्चर्यों को देखो ।।६।।

द्रष्टव्य रूपों में भगवान् केवल महत्त्वपूर्ण देवताओं की ही गणना करते हैं । लौकिक जगत् में भी किसी जनसमुदाय का वर्णन करने में उसमें उपस्थित समाज के उन कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों का ही नाम निर्देश किया जाता है, जो उस समुदाय का प्रतिनिधित्व करते हैं ।

यहाँ भी भगवान् के शब्दों में इस विश्वरूप का वर्णन करने में अपनी असमर्थता के प्रति कुछ निराशा छलकती है, जब वे कहते हैं कि, 'और भी अनेक अदृष्ट-पूर्व (पूर्व न देखे हों) आश्चर्यों को तुम देखो' । यहां उल्लिखित अनेक नामों का वर्णन पूर्व अध्यायों में किया जा चुका है ।[1] यहाँ नवीन नाम केवल अश्विनी कुमारों का है । ये सूर्य के दो पुत्र माने गये हैं, जिनके मुख अश्व के हैं तथा ये अश्वनीकुमार के नाम से प्रसिद्ध दो बन्धु देवताओं के वैद्य कहे जाते हैं । किसी स्थान पर वे उषः-काल और सन्ध्याकाल के प्रतीक माने गये हैं, तो किसी अन्य स्थल पर इन्हें इन दो समयों के तारों का प्रतीक कहा गया है ।

विराट् रूप में द्रष्टव्य रूपों का सारांश में निर्देश करके भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने शिष्य अर्जुन की जिज्ञासा को और अधिक बढ़ा दिया । इसलिए वह जानना चाहता है कि इन रूपों को वह कहां देखे ? इस पर कहते हैं :

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ।।७।।

हे गुडाकेश ! आज (अब) इस मेरे शरीर में एक स्थान पर स्थित हुए चराचर सहित सम्पूर्ण जगत् को देखो तथा और भी जो कुछ तुम देखना चाहते हो, उसे भी देखो ।।७।।

---

१. बारह आदित्य और उनचास मरुत् – श्लोक २१.
आठ वसु और ग्यारह रुद्र – श्लोक २३.

प्रथम तो भगवान् उत्साही साधक के साहसी मन को इसके लिए प्रशिक्षित करते हैं कि उसमें 'जानने की उत्सुकता' रूपी अक्षय धन का विकास हो। तत्पश्चात् उनका प्रयत्न है कि यह उत्सुकता तीव्र उत्कण्ठा या जिज्ञासा में परिवर्तित हो जाये। इसके लिये ही वे विश्वरूप में दर्शनीय रूपों का उल्लेख करते हैं। इस युक्ति से साधक का मन पूर्ण उत्कटता से एक ही स्थान पर केन्द्रित हो जाता है। यही इस श्लोक का प्रयोजन है। ध्यान पूर्वक इस श्लोक पर विचार करने से ज्ञात होगा कि यहां व्यास जी ने भक्तिशास्त्र में वर्णित भक्ति की रूपरेखा दी है।

इहैकस्थम् का अर्थ है 'यहाँ इसी एक स्थान पर।' इन शब्दों के द्वारा श्रीकृष्ण सम्पूर्ण चराचर (जड़ चेतन) जगत् को अपने शरीर में दर्शाते हैं। श्रीकृष्ण स्वयं ही 'इह' शब्द को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, 'मेरे शरीर में'। सम्पूर्ण चराचर सहित भौतिक जगत् को दबाकर श्रीकृष्ण की देहाकृति में स्थित हुआ दिखलाना था। जैसा कि हम इस अध्याय की प्रस्तावना में देख चुके हैं कि अर्जुन के मन से देश की कल्पना को सर्वथा मुक्त नहीं किया गया था, किन्तु केवल भगवान् श्रीकृष्ण के परिच्छिन्न देह के तुल्य समष्टि आकाश कि कल्पना को उसके मन में शेष रखा था। इस मन के द्वारा जब अर्जुन बाहर देखता है, तो उसे भगवान् के शरीर में ही सम्पूर्ण विश्व अपने विविध विस्तार को यथावत् रखते हुए लघु रूप में दिखाई देता है।

यद्यपि चराचर शब्द का अर्थ इतना व्यापक है कि उसके उल्लेख से सम्पूर्ण विश्व का निर्देश हो जाता है, किन्तु फिर भी अर्जुन का उत्साह बढ़ाने के लिये वे कहते हैं, 'और भी जो कुछ तुम देखना चाहते हो, उसे भी देखो।' मानव के विशिष्ट स्वभाव के अनुसार अर्जुन का मन अपनी तात्कालिक समस्याओं से चिन्तातुर था, अतः स्वाभाविक ही है कि उसकी उत्सुकता भविष्य की घटनाओं को जानने की थी। प्रारम्भ में उसका प्रयत्न समस्या के समाधान को देखने के लिये अधिक था और अनेकता में व्याप्त एकत्व का साक्षात्कार करने के लिये कम।

विभूतियोग के अध्याय में 'एक परमात्मा को सब में' दिखाया था, और यहां 'सब को एक परमात्मा में' दिखाया जानेवाला है:

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

परन्तु तुम अपने इन्हीं (प्राकृत) नेत्रों के द्वारा मुझे देखने में समर्थ नहीं

हो: (इसलिये) मैं तुम्हें दिव्यचक्षु देता हूं, जिससे तुम मेरे ईश्वरीय 'योग' को देखो ।।८।।

हम पहले ही वर्णन कर चुके हैं कि एक सारतत्व को उससे बनी विभिन्न वस्तुओं में देख पाना अपेक्षतः सरल कार्य है, किन्तु इसके विपरीत अनेक को एक तत्त्व में देखने के लिये दर्शनशास्त्र के सम्यक् ज्ञान से सम्पन्न सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता होती है। किसी कविता को पढ़ने मात्र के लिये केवल वर्णमाला का ज्ञान होना आवश्यक है; परन्तु उसके सूक्ष्म सौंदर्य को समझने के लिए तथा उसी के समान अन्य कविताओं के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन करने के लिये एक ऐसे प्रवीण मन की आवश्यकता होती है, जिसनें सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक रचनाओं के रसास्वादन के आनन्द में अपने आप को डुबो दिया हो। इसी प्रकार, 'एक को अनेक में देखना' श्रद्धा से परिपूर्ण हृदय का कार्य है; परन्तु 'अनेक को एक' में 'अनुभव' करने के लिए हृदय के अतिरिक्त ऐसी शिक्षित बुद्धि की आवश्यकता होती है, जिसे दार्शनिकों की युक्तियों को समझने की योग्यता प्राप्त हुई हो। जानने और अनुभव करने की क्षमता का विकास होने पर ही एक शिक्षित बुद्धि को असाधारण का दर्शन करने की विशिष्ट सामर्थ्य प्राप्त होती है।

एक सर्वविदित प्रत्यक्ष तथ्य को बताते हुए भगवान् कहते हैं, 'तुम मुझे अपने इन्हीं नेत्रों के द्वारा नहीं देख सकते; मैं तुम्हें दिव्यचक्षु देता हूं।' अनेक समालोचक या व्याख्याकार हैं, जो इस दिव्यचक्षु का वर्णन अनेक हास्यास्पद कल्पनाओं तथा असंभव सिद्धान्तों के द्वारा करने का प्रयत्न करते हैं। इससे प्रतीत होता है कि इन व्याख्याकारों ने हिन्दू शास्त्रों-उपनिषदों की शैली का भली भाँति अध्ययन नहीं किया है। सभी उपनिषदों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बारम्बार इस बात पर बल दिया गया है कि मनुष्य अपनी ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा सूक्ष्म वस्तुओं का अवलोकन नहीं कर सकता है। इन्द्रियां केवल बाह्य जगत् की स्थूल वस्तुओं को ही ग्रहण कर सकती हैं। सामान्य व्यवहार में भी जब हम कहते हैं, 'इस विचार को देखो' तो यह देखना इन दो नेत्रों से नहीं होता है। वहां 'देखने' से तात्पर्य बौद्धिक ग्रहण से है तथा ऐसे सूक्ष्म विषय का ग्रहण करने की बौद्धिक क्षमता को ही 'दिव्यचक्षु' कहा गया है।

अर्जुन को यह 'दिव्य चक्षु' भगवान् के ईश्वरीय योग को देखने के लिये प्रदान किया गया है। इस योग के द्वारा सम्पूर्ण विश्व भगवान् के रूप में धारण किया गया है। इसके पूर्व भी इस योगशक्ति का उल्लेख प्रायः समान शब्दों में दो विभिन्न स्थानों पर आ चुका है।[1]

---

१. गीता अ. ७-२५. और अ. ९-५.

अब दृश्य परिवर्तन होता है। हस्तिनापुर के राजमहल में बैठा संजय धृतराष्ट्र से कहता है :

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।।९।।

संजय ने कहा—

हे राजन् ! महायोगेश्वर हरि ने इस प्रकार कहकर फिर अर्जुन के लिये परम ऐश्वर्ययुक्त रूप को दर्शाया ।।९।।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी महर्षि व्यासजी ने साहित्य के जिस किसी पक्ष को स्पर्श किया उसे पूर्णत्व के सर्वोत्कृष्ट शिखर तक उठाये बिना नहीं छोड़ा। व्यासजी की प्रतिभा का वर्णन कौन कर सकता है ? उनमें अतुलनीय काव्य रचना की कल्पनातीत क्षमता, अनुपम गद्यशैली, विशुद्ध वर्णन, कलात्मक साहित्यिक रचना, आकृति और विचार – दोनों में ही मौलिक नव निर्माण की सामर्थ्य, ये सब गुण पूर्ण मात्रा में थे। तेजस्वी दार्शनिक, पूर्ण ज्ञानी और व्यावहारिक ज्ञान में कुशल व्यासजी कभी राजभवनों में तो कभी युद्धभूमि पर दिखाई देते, कभी बद्रीनाथ में तो कभी पुनः शान्त एकान्त हिमशिखरों का मार्ग तय करते विशाल मूर्ति महर्षि व्यास, हिन्दू परम्परा और आर्य संस्कृति में जो कुछ सर्वश्रेष्ठ है, उस सबके साक्षात् मूर्तरूप थे। ऐसा सर्वगुण सम्पन्न प्रतिभाशाली पुरुष विश्व के इतिहास में किसी अन्य काल में नहीं जन्मा होगा, जिसने अपने जीवन काल में व्यासजी के समान इतनी अधिक उपलब्धियां प्राप्त की हों।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को संकेत किया कि विश्वरूप में वह क्या देखने की अपेक्षा रख सकता है तथा विराट् स्वरूप का यह दर्शन उसे कहां होगा। अब, व्यासजी एक अत्यन्त अल्प से प्रकरण का उल्लेख करते हैं, जिसमें संजय, दुष्ट कौरवों के अंध पिता धृतराष्ट्र के लिये युद्धभूमि के वृत्तान्त का वर्णन करता है।

साहित्य की दृष्टि से इस श्लोक का प्रयोजन केवल यह बताना है कि श्रीकृष्ण ने अपने दिये हुए वचन के अनुसार, वास्तव में, अर्जुन को अपना विश्वरूप दर्शाया। परन्तु इसके साथ ही, महाभारत के कुशल रचयिता व्यासजी, हमारे लिए, संजय के मन के भावों का तथा पाण्डवों के प्रति उसकी सहानुभूति का चित्रण भी करना चाहते हैं। हम पहले ही कह चुके हैं कि संजय हमारा 'विशेष संवाददाता' है। स्पष्ट है कि उसकी सहानुभूति भगवान् के मित्र पाण्डवों के साथ है। उसकी यह प्रवृत्ति

नि:संशय रूप से यहां स्पष्ट झलकती है, जब वह धृतराष्ट्र को केवल 'राजन्' शब्द से सम्बोधित करता है जब कि श्रीकृष्ण को 'महायोगेश्वर' तथा 'हरि' के नाम से। 'हरण करने वाला' हरि कहलाता है, अर्थात् 'जो मिथ्या का नाश करके सत्य की स्थापना करने वाला है।'

संजय के इन शब्दों के साथ श्रोतृसमुदाय तथा गीता के अध्येतृ वर्ग का ध्यान युद्ध की भूमि से हटाकर राजप्रासाद की ओर आकर्षित किया जाता है। पाठकों को यह स्मरण कराने के लिए कि गीता के तत्वज्ञान का व्यावहारिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा उसकी जीवन में उपयोगिता भी है, सम्भवत: ऐसे दृश्य परिवर्तन की आवश्यकता है। संजय धृतराष्ट्र को सूचना देता है कि महायोगेश्वर हरि ने अर्जुन को अपना ईश्वरीय रूप दिखाया। संजय के मन में अभी भी कहीं क्षीण आशा है है कि यह सुनकर कि विश्वविधाता भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवों के साथ हैं, सम्भवत: अन्धराजा अपने पुत्रों की भावी पराजय को देखें, और विवेक से काम लेकर, विनाशकारी युद्ध को रोक दें।

अगले श्लोकों में संजय विश्वरूप में दर्शनीय वस्तुओं का वर्णन करने का प्रयत्न करता है :

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुत दर्शनम् ।
अनेक दिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ।।१०।।
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ।।११।।

उस अनेक मुख और नेत्रों से युक्त तथा अनेक अद्भुत दर्शनों वाले एवं बहुत से दिव्य भूषणों से युक्त और बहुत से दिव्य शस्त्रों को हाथों में उठाये हुए ।।११।।

दिव्य माला और वस्त्रों को धारण किये हुए और दिव्य गन्ध का लेपन किये हुए एवं समस्त प्रकार के आश्चर्यों से युक्त अनन्त, विश्वतोमुख (विराट् स्वरूप) परम देव (को अर्जुन ने देखा) ।।११।।

जब कोई चित्रकार अपने कलात्मक विचार को रंगों के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयत्न करता है, तो वह प्रारम्भ में एक पट्ट पर अपने विषयवस्तु की एक अस्पष्ट रूपरेखा खींचता है। तत्पश्चात्, एक-एक इंच में वह रंगों को भर कर चित्र को और अधिक स्पष्ट करता जाता है। अन्त में वह चित्र उस चित्रकार के सन्देश का गीत गाते हुए प्रतीत होता है। इसी प्रकार, साहित्य के कुशल चित्रकार

व्यासजी के द्वारा चित्रित इस शब्दचित्र का यह श्लोक संजय के शब्दों में भगवान् के विश्वरूप की रूपरेखा खींचता है।

संजय के समक्ष जो दृश्य उपस्थित हुआ है, वह सामान्य बुद्धि के पुरुष के द्वारा सरलता से ग्रहण करने योग्य कदापि नहीं कहा जा सकता। इस वैभवपूर्ण एवं शक्तिशाली दृश्य को देखकर सामान्य पुरुष तो भय और विस्मय से भौचक्का ही रह जायेगा। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड कोई मन के द्वारा कल्पना किया जाने योग्य विषय नहीं है और न ही बुद्धि उसको ग्रहण कर सकती है। और इसलिये, जब गीतोपदेश के मध्य यह दृश्य उपस्थित हो जाता है, तब संजय भी वर्णन करते हुये कुछ हकलाने लगता है।

"दिव्य माला और वस्त्रों को धारण किये हुए", "दिव्य गन्ध का लेपन किए हुये", "सर्वाश्चर्यमय, विश्वतोमुख भगवान्" – इत्यादि शब्द चित्रकार के उन वक्र चिन्हों के प्रतीक हैं जिनके लगाने पर विराट् रूप का चित्र उसकी रूपरेखा में पूर्ण होता है।

संजय आगे वर्णन करता है:

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥

आकाश में सहस्र सूर्यों के एकसाथ उदय होने से उत्पन्न जो प्रकाश होगा, वह उस (विश्वरूप) परमात्मा के प्रकाश के सदृश होगा ॥२२॥

अन्ध राजा धृतराष्ट्र को शीघ्रता में विश्वरूप की रूपरेखा का वर्णन करने के पश्चात्, अब संजय उस विराट पुरुष की महिमा का वर्णन करता है। अपने विराट् रूप में भगवान् अपने ही दिव्य प्रकाश से चमक रहे थे और उनका यह तेजस्वी वैभव नेत्रों को चकाचौंध कर रहा था; और सम्भवतः, इस एक और कारण से संजय पूर्व के दो श्लोकों में अधिक विस्तृत जानकारी नहीं दे पाया। भगवान् के इस प्रकाश का वर्णन करने के लिए संजय, एक विचित्र किन्तु प्रभावशाली उपमा यहाँ देता है।

विराट् पुरुष को उस गौरवमय प्रकाश का तेज ऐसा था, मानो, आकाश में एक साथ सहस्रसूर्य प्रकाशित हो रहे हों। उपनिषदों में भी आत्मा का वर्णन कुछ इसी प्रकार किया गया है। परन्तु, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि संजय के मुख से, और विशेषकर जब वह भगवान् श्रीकृष्ण के ईश्वरीय रूप का वर्णन कर रहा है, इस उपमा को विशेष ही आकर्षण और गौरव प्राप्त होता है।

और अधिक विवरण देकर इस दृश्य को और अधिक सुन्दर बनाते हुए संजय कहता है :

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ।।१३।।

पाण्डुपुत्र अर्जुन ने उस समय अनेक प्रकार से विभक्त हुए सम्पूर्ण जगत् को देवों के देव श्रीकृष्ण के शरीर में एक स्थान पर स्थित देखा ।।१३।।

अर्जुन ने भगवान् के उस ईश्वरीय रूप में देखा कि किस प्रकार सम्पूर्ण जगत् अपनी विविधता के साथ लाकर एक स्थान पर स्थित कर दिया गया था । हम देख चुके हैं कि विराट् पुरुष की संकल्पना ऐसे मन के द्वारा देखा गया दृश्य है जो देश और काल के माध्यम में कार्य नहीं कर रहा है अर्थात् देश और काल की कल्पना लोप हो चुकी है ।

'अनेक को एक में' देखने का जो दृश्य है, वह उतना इन्द्रियगोचर नहीं है जितना कि बुद्धिग्राह्य है । यह नहीं कि सम्पूर्ण विश्व संकुचित होकर भगवान् श्री कृष्ण के देह परिमाण का हो गया है । यदि अर्जुन को जगत् के एकत्व का अपेक्षित बोध हो और यदि वह उस ज्ञान की दृष्टि से विश्व को देख सके, तो यही पर्याप्त है ।

आधुनिक विज्ञान से भी इसके समान दृष्टांत उद्धृत किया जा सकता है । रसायनशास्त्र में द्रव्यों का वर्गीकरण करके उनका अध्ययन किया जाता है । जगत् की वस्तुओं का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि जगत् में लगभग एक सौ तीन तत्त्व हैं । और अधिक सूक्ष्म अध्ययन से वैज्ञानिक लोग परमाणु तक पहुँचें, अब इसका भी विभाजन करके पाया गया कि परमाणु भी इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन और न्यूट्रॉन से बना है । परमाणु के इस स्वरूप से सुपरिचित वैज्ञानिक जब बहुविध जगत् की ओर देखता है, तब उसे यह जानना अत्यन्त सरल होता है कि ये सभी पदार्थ परमाणुओं से बने हैं । इसी प्रकार, यहाँ जब अर्जुन को श्रीकृष्ण की अहैतुकी कृपाप्रसाद से यह विशेष ज्ञान प्राप्त हुआ, तब वह भगवान् के शरीर में ही सम्पूर्ण विश्व को देखने में समर्थ हो गया ।

इस दृश्य को देखकर अर्जुन के शरीर और मन पर होने वाली प्रतिक्रियाओं को संजय ने ध्यानपूर्वक देखा और उनका विवरण सुनाते हुए वह कहता है–

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ।।१४।।

उसके उपरान्त वह आश्चर्यचकित हुआ हर्षित रोमों वाला (जिसे रोमांच का अनुभव हो रहा हो) धनंजय अर्जुन विश्वरूप देव को (श्रद्धा भक्ति सहित) शिर से प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोला ।।१४।।

इस सर्वोत्कृष्ट भव्य दृश्य को देखकर अर्जुन के मन में विस्मय की भावना और शरीर पर हो रहे रोमांच स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। यद्यपि संजय घटनास्थल से दूर है, फिर भी अपनी दिव्य दृष्टि से न केवल समस्त योद्धाओं के शरीर ही, वरन् उनकी मन:स्थिति को भी जानने में सक्षम प्रतीत होता है। अर्जुन की विस्मय की भावना उसे उतनी ही स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही है, जितने कि उसके रोमांच। शिर से प्रणाम करते हुए दोनों हाथ जोड़कर अर्जुन कुछ कहने के लिये अपना मुख खोलता है। अब तक अर्जुन कुछ भी नहीं बोला था, जो उसके कण्ठावरोध का स्पष्ट सूचक है। प्रथम बार जब उसने उस दृश्य को देखा, जो मधुरतापूर्वक साहस तोड़ने वाला प्रतीत होता था, तब भावावेश के कारण अर्जुन का कण्ठ अवरुद्ध हो गया था।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेष संघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थम्
ऋषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ।।१५।।

अर्जुन ने कहा–

हे देव ! मैं आपके शरीर में समस्त देवों को तथा अनेक भूतविशेषों के समुदायों को और कमलासन पर स्थित सृष्टि के स्वामी ब्रह्माजी को, ऋषियों को और दिव्य सर्पों को देख रहा हूँ ।।१५।।

जब अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण को 'देव' (प्रकाशस्वरूप) शब्द से सम्बोधित करता है, तब वह संजय की दी हुई उपमा की ही पुष्टि करता है, जिसमें कहा गया था कि सहस्र सूर्यों के प्रकाश के समान विराट् पुरुष का तेज है। विश्वरूप में दृष्ट वस्तुओं को गिनाते हुए अर्जुन कहता है, "मैं आपके शरीर में समस्त देवताओं और अनेक भूतविशेषों के समुदायों को देख रहा हूँ।" इन सबका उल्लेख संजय भी पहले कर चुका है।

दोनों के किये गये वर्णनों से ज्ञात होता है कि उस विराट् रूप में न केवल

लौकिक वस्तुयें, वरन् अलौकिक दिव्य देवताओं को भी पहचाना जा सकता था। अर्जुन को उसमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश के भी दर्शन होते हैं। और इन सबके साथ अनेक ऋषिगण भी हैं।

अर्जुन दिव्य सर्पों को भी देखता है। काव्य की यह एक शैली है कि प्राय: श्रेष्ठ महान् कविजन सर्वोत्कृष्ट का वर्णन करते समय अचानक किसी विद्रूप व उपहासास्पद के स्तर की वस्तुओं का वर्णन करने लगते हैं। इसका एकमात्र प्रयोजन यह होता है कि पाठकों को कुछ चौंकाकर उनका ध्यान विषय वस्तु की ओर आकर्षित किया जाय। इस विश्वरूप में ब्रह्माजी से लेकर सर्पों तक को प्रतिनिधित्व मिला है। वेदान्त का सिद्धान्त है कि जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है, अथवा व्यष्टि ही समष्टि है। विश्व के महान् तत्त्वचिन्तकों ने इसी का वर्णन किया और अनुभव भी किया है। परन्तु इसके पूर्व किसी ने भी इस दार्शनिक सिद्धान्त का स्पष्ट एवं वस्तुनिष्ठ प्रदर्शन नहीं किया था। इस कला के अग्रणी व्यासजी थे और अब तक इस कठिन कार्य में उनका अनुकरण करने का साहस किसी को नहीं हुआ है।

अर्जुन, अब ऐसे रूप का वर्णन करता है जिसके विवरण से अत्यन्त साहसी पुरुष को भी अपना साहस खोते हुए अनुभव होगा–

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

हे विश्वेश्वर! मैं आपको अनेक बाहु, उदर,, मुख और नेत्रों से युक्त तथा सब ओर से अनन्त रूपों वाला देखता हूँ। हे विश्वरूप! मैं आपके न अन्त को देखता हूँ और न मध्य को और न आदि को ॥१६॥

विश्वरूप के अनन्त वैभव को एक ही दृष्टिक्षेप में देख पाने के लिए मानव की परिच्छिन्न बुद्धि उपयुक्त साधन नहीं है। इस रूप के परिमाण की विशालता और उसके गूढ़ अभिप्राय से ही मनुष्य की बुद्धि, निश्चय ही, लड़खड़ाकर रह जाती है। भगवान् ही वह एकमेव सत्य तत्त्व हैं जो सभी प्राणियों के कर्मेन्द्रियों के पीछे चैतन्य रूप से विद्यमान है। अर्जुन इसे इन शब्दों में सूचित करता है कि "मैं आपको अनेक बाहु, उदर, मुख और नेत्रों से युक्त सवत्र अनन्तरूप में देखता हूँ।" इसे सत्य का व्यंगचित्र नहीं समझ लेना चाहिये। सावधानी की सूचना उन शीघ्रता में काम

आने वाले चित्रकारों के लिये आवश्यक है, जो इस विषयवस्तु से स्फूर्ति और प्रेरणा पाकर इस विराट् रूप को अपने रंगों और तूलिका के द्वारा चित्रित करना चाहते हैं और अपने प्रयत्न में अत्यन्त दयनीय रूप से असफल होते हैं।

विश्व की एकता कोई दृष्टिगोचर वस्तु नहीं है ; यह साक्षात्कार के योग्य एक सत्य तथ्य है। इस तथ्य की पुष्टि अर्जुन के इन शब्दों से होती है कि "मैं न आपके अन्त को देखता हूँ, और न मध्य को और न आदि को।" विराट् पुरुष का वर्णन इससे और अधिक अच्छे प्रकार से नहीं किया जा सकता था।

उपर्युक्त ये श्लोक सभी परिच्छिन्न वस्तुओं और मरणशील प्राणियों में सूत्र-रूप से व्याप्त उस एकत्व का दर्शन कराते हैं, जिसने उन्हें इस विश्वरूपी माला के रूप में धारण किया हुआ है !!

अर्जुन आगे कहता है :

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्तात्
दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

मैं आपका मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्र धारण किये हुए तथा सब ओर से प्रकाशमान् तेज का पुंज, दीप्ति अग्नि और सूर्य के समान ज्योतिर्मय, देखने में अति कठिन और अप्रमेयस्वरूप सब ओर से देखता हूँ ॥१७॥

विश्वरूप का और अधिक वर्णन करते हुए अर्जुन बताता है कि उस अचिन्त्य अग्राह्य दिव्य रूप में उसने क्या देखा। उसने वहाँ मुकुट धारण किये शंखचक्रगदाधारी भगवान् विष्णु को देखा। पुराणों में किये गये वर्णन के अनुसार शंख, चक्र आदि भगवान् विष्णु के पदक या प्रतीक हैं।

हिन्दू शास्त्रों में देवताओं को कुछ विशेष शस्त्रास्त्रयुक्त या चिह्नयुक्त बताया गया है जिनका विशेष अर्थ भी है। ये विशेष पदक जगत् पर उनके शासकत्व एवं प्रभुत्व को दर्शाने वाले हैं। जो व्यक्ति बाह्य परिस्थितियों का स्वामी तथा मन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का शासक है, वही वास्तव में, प्रभु या ईश्वर कहलाने योग्य होता है। जो व्यक्ति अपने मन का और बाह्य आकर्षणों का दास बना होता है, वह दुर्बल है ; यदि वह राजमुकुट भी धारण किये हुये है तब भी उसका राजत्व उतना ही अनित्य है जितना कि रंगमंच पर बनावटी मुकुट धारण कर राजा की भूमिका

कर रहे अभिनेता का होता है। सत्तारूढ़ पुरुष को इन्द्रिय संयम और मन:संयम के बिना वास्तविक अधिकार या प्रभावशीलता प्राप्त नहीं हो सकती है। निम्न स्तर की कामुक प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त कर अपने मनरूपी राज्य पर स्वयं ही स्वयं का राजतिलक किए बिना कोई भी व्यक्ति सुखी और शक्तिशाली जीवन नहीं जी सकता है। संयमी पुरुष ही बिष्णु है और वही राजमुकुट का अधिकारी है।

चतुर्भुज विष्णु अपने हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म (कमल) धारण किये रहते हैं। यह एक सांकेतिक रूपक है। भारत में कमलपुष्प शान्ति, आनन्द, शुभ और सुख का प्रतीक है। शंखनाद मनुष्य को अपने कर्तव्य के लिये आह्वान करता है। यदि मनुष्यों की कोई पीढ़ी अपने हृदय के इस उच्च आह्वान को नहीं सुनती है, तब सर्वत्र अशान्ति, युद्ध, महामारी, अकाल, तूफान और साम्प्रदायिक विद्वेष तथा सामाजिक दुर्व्यवस्था फैल जाती है। यही उस पीढ़ी पर गदा का आघात है जो उसे सुव्यवस्थित और अनुशासित करने के लिये उसपर किया जाता है। यदि कोई ऐसी पीढ़ी हो, जो इतना दण्ड पाकर भी उससे कोई पाठ नहीं सीखती है, तो फिर उसके लिए आता है चक्र – कालचक्र जो सुधार के अयोग्य उस पीढ़ी को नष्ट कर देता है।

अर्जुन द्वारा किये गए वर्णन से यह ज्ञात होता है कि एक ही परम सत्य ब्रह्मादि पिपीलिका तक के लिये अधिष्ठान है। वह सत्य सदा, सर्वत्र एक ही है ; केवल उसकी अभिव्यक्ति ही विविध प्रकार की है। उसकी दिव्यता की अभिव्यक्ति में तारतम्य का कारण विभिन्नस्थूल और सूक्ष्म उपाधियां हैं जिनके माध्य से वह सत्य व्यक्त होता है।

यह विश्वरूप "सब ओर से प्रकाशमान तेज का पुञ्ज, प्रदीप्त अग्नि और सूर्य के समान ज्योतिर्मय और देखने में अति कठिन है।" इस श्लोक में किये गये वर्णन में यह पंक्ति सर्वाधिक अभिव्यंजक है जो हमें शुद्ध चैतन्यस्वरूप पुरुष का स्पष्ट बोध कराती है। इसे भौतिक 'प्रकाश' नहीं समझना चाहिये। यद्यपि लौकिक भाषा से यह शब्द लिया गया है, तथापि उसका प्रयोग साभिप्राय है। चैतन्य ही वह प्रकाश है, जिसमें हम अपने मन की भावनाओं और बुद्धि के विचारों को स्पष्ट देखते हैं। यही चैतन्य, चक्षु और श्रोत्र के द्वारा क्रमश: रूप वर्ण और शब्द को 'प्रकाशित' करता है। इसलिये स्वाभाविक ही है कि अनन्त चैतन्यस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण के विश्वरूप का वर्णन, अर्जुन की लड़खड़ाती भाषा में इसी प्रकार करना पड़ा कि वह विश्वरूप तेजपुञ्ज है, जो इन्द्रिय मन और बुद्धि को अन्ध बना दे रहा है, अर्थात् ये उपाधियां उसका ग्रहण नहीं कर पा रही हैं।

अप्रमेय (अज्ञेय) – यद्यपि अब तक अर्जुन ने अपनी ओर से सर्वसंभव प्रयत्न

करके विराट्स्वरूप का तथा उसके दर्शन से उत्पन्न हुई मन की भावनाओं का वर्णन किया है, परन्तु इन समस्त श्लोकों में निराशा की एक क्षीण धारा प्रवाहित हो रही प्रतीत होती है। अर्जुन यह अनुभव करता है कि वह विषयवस्तु की पूर्णता को भाषा की मर्यादा में व्यक्त नहीं कर पाया है। भाषा केवल उस वस्तु का वर्णन कर सकती है, जो इन्द्रियों द्वारा देखी गयी हों, या मन के द्वारा अनुभूत हो अथवा बुद्धि से समझी गयी हों। यहाँ अर्जुन के समक्ष ऐसा दृश्य उपस्थित है, जिसे वह अनुभव कर रहा है। देख रहा है। और स्वयं बुद्धि से समझ पा रहा है। और फिर भी, कैसा विचित्र है अनुभव है कि जब उसे वह भाषा की बोतल में बन्द करने का प्रयत्न करता है, तो वह मानो वाष्परूप में उड़ जाता है! अर्जुन, इन्द्रियगोचर वस्तुओं के अनुभव की तथा भावनाओं की भाषा में वर्णन करने का प्रयत्न करता है, किन्तु उस वर्णन से स्वयं ही सन्तुष्ट नहीं होता है।

आश्चर्यचकित मानव उस वैभव का गान अपनी बुद्धि की भाषा में करने का प्रयत्न कर रहा है। परन्तु यहाँ भी वह केवल निराश होकर यही कह सकता है कि, "हे प्रभो! आप सर्वदा अप्रमेय हैं – अज्ञेय हैं।" यद्यपि कवि ने विराट् स्वरूप का चित्रण 'दृश्यरूप में किया है, तथापि वे हमें यह समझाना चाहते हैं कि सत्स्वरूप आत्मा, वास्तव में, द्रष्टा है, और वह बुद्धि का भी ज्ञेय विषय नहीं बन सकता है। आत्मा द्रष्टा और प्रमाता है, और न कि दृश्य और प्रमेय वस्तु।

आपके इस ईश्वरीय योग के दर्शन से मैं अनुमान करता हूँ कि :

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८

आप ही जानने योग्य (वेदितव्यम्) परम अक्षर हैं; आप ही इस विश्व के परम आश्रय (निधान) हैं! आपही शाश्वत धर्म के रक्षक हैं और आप ही सनातन पुरुष हैं, ऐसा मेरा मत है॥१८॥

सभी बुद्धिमान् पुरुष अपने प्रत्येक अनुभव से किसी निष्कर्ष तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं, जो उनका ज्ञान कहलाता है। अर्जुन को भी ऐसा ही एक अनुभव हो रहा था, जो अपनी सम्पूर्णता में बुद्धि से अग्राह्य और शब्दों से अनिर्वचनीय था। परन्तु उसने जो कुछ देखा, उससे वह कुछ निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करता है।

इस अनुभव को समझकर वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इस विराट्–स्वरूप के पीछे जो शक्ति या चैतन्य है, वही अविनाशी परम सत्य है।

समुद्र में उत्पत्ति, स्थिति और लय को प्राप्त होने वाली समस्त तरंगों का प्रभव या स्रोत समुद्र होता है। वही उन तरंगों का 'निधान' है। निधान का अर्थ है 'जिसमें वस्तुएं निहित हों' अर्थात् उनका आश्रय। इसी प्रकार अर्जुन भी इस बुद्धिमत्तापूर्ण निष्कर्ष पर पहुंचता है कि विराट् पुरुष ही सम्पूर्ण विश्व का निधान अर्थात् अधिष्ठान है। विश्व शब्द से केवल यह दृष्ट भौतिक जगत् ही नहीं समझना चाहिए। वेदान्त के अनुसार जो वस्तु दृष्ट अनुभूत या ज्ञात है, वह सब विश्व शब्द की परिभाषा में आती है। इस परिभाषा के अनुसार विषय तथा उनके ग्राहक करण इन्द्रिय, मन आदि सब विश्व है और पुरुष उसका निधान है।

विकारी वस्तुओं के विकारों अर्थात् परिवर्तनों के लिए एक अविकारी अधिष्ठान की आवश्यकता होती है। यह परिवर्तनशील जगत् सदैव देश और काल की धुन पर नृत्य करता रहता है। परन्तु, घटनाओं की निरन्तरता का अनुभव कर उनका एक सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक नित्य अपरिवर्तनशील 'ज्ञाता' का होना अत्यावश्यक है। वह 'ज्ञाता' किसी भी प्रकार से स्वयं उन घटनाओं में लिप्त होता है। ऐसा यह अविकारी चेतन तत्त्व ही वह सत्य आत्मा है, जो इतने विशाल विश्वरूप को धारण कर सकता है। इन विचारों को ध्यान में रखकर अर्जुन यह घोषणा करता है कि वह चेतन तत्त्व, जिसने स्वयं को इस आश्चर्यमय रूप में परिवर्तित कर लिया है, वही एकमेव अविनाशी अपरिवर्तनशील सत्य है, जो इस विकारी जगत् में सर्वत्र व्याप्त है।

हिन्दुओं के मत के अनुसार धर्म का रक्षक स्वयं परमेश्वर है, और न कि एक मर्त्य राजा या पुरोहित वर्ग। हिन्दू लोग किसी ऐसे आकस्मिक देवदूत के अनुयायी नहीं हैं, जिसका क्षणिक ऐतिहासिक अस्तित्व था और जिसके जीवन का कार्य तत्कालीन पीढ़ी की यथासंभव, सेवा करना था। हिन्दुओं के लिए सनातन सत्य पुरुष ही लक्ष्य है, गुरु है और मार्ग भी है। धर्म की रक्षा के लिऐ हमें विषैली गैस अथवा अणुबम जैसी किसी लौकिक शक्ति की आवश्यकता नहीं है।

,आप ही सनातन पुरुष हैं, ऐसा मेरा मत है' – वेदान्त के एक रूपक के अनुसार स्थूल शरीर को एक राजनगरी के समान माना गया है जिसके नौ द्वार[1] हैं। प्रत्येक का नियन्त्रण तथा रक्षण एक-एक अधिष्ठाता देवता के द्वारा किया जाता है। इस नवद्वारपुरी में निवास करने वाला चैतन्य तत्त्व 'पुरुष'[2] कहलाता है। इस श्लोक

---

१. दो नेत्र दो श्रोत्र, दो नासिकाछिद्र, मुख, जननेन्द्रिय और गुदेन्द्रिय।
२. पुरिशयनात् पुरुषः।

के सन्दर्भ में इसका अभिप्राय यह है कि हमारे जीवन की पहेली का समाधान इस सनातन पुरुष की प्राप्ति में ही है, न कि बाह्य जगत् के विषयों में । यह पुरुष ही विश्व का अधिष्ठान है, जो विश्वरूप को धारण कर सकता है, जिसको अर्जुन विस्मयभरी दृष्टि से देख रहा है ।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यम्
अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ।।१९।।

मैं आपको आदि, अन्त और मध्य से रहित तथा अनन्त सामर्थ्य से युक्त और अनन्त बाहुओं वाला तथा चन्द्रसूर्यरूपी नेत्रों वाला और दीप्त अग्निरूपी मुख वाला तथा अपने तेज से इस विश्व को तपाते हुए देखता हूँ ।।१९।।

अर्जुन की सूक्ष्म दृष्टि ने जैसा देखा और बुद्धि ने जैसा समझा, उसे वह जगत् की वस्तुओं की भाषा में वर्णन करने का प्रयत्न करता है । 'मैं आपको आदि, अन्त और मध्य से रहित, अनन्त सामर्थ्य से युक्त, अनन्त बाहुओं वाला देखता हूं ।' व्यासजी के प्रभावशाली काव्य द्वारा चित्रित यह शब्दचित्र ऐसा आभास निर्माण करता है कि मानों इस कविता की विषय वस्तु बाह्य जगत् की कोई दृश्य वस्तु हैं । अनेक चित्रकार उसे कागज पर रंगों के द्वारा चित्रित करना चाहते हैं । परन्तु वेदान्त के बुद्धिमान् विद्यार्थी को उनका अज्ञान स्पष्ट दिखाई देता है । आदि, मध्य और अन्तरहित ऐसी अनन्तवस्तु कभी सीमित फलकवाले चित्र की मर्यादा में व्यक्त नहीं की जा सकती । परन्तु, 'अनन्तबाहु' इस शब्द को सुनकर प्रेरित हुए चित्रकार उसे तत्काल चित्रित करने का प्रयत्न करते हैं । वस्तुतः, कवि के इन्द्रियातीत अनुभव की दृष्टि के समक्ष जगत् की सभी दृश्यावलियों से सर्वथा भिन्न और अनुपम जो विराट दृश्य उपस्थित है, वास्तव में उसे केवल गम्भीर अध्ययनकर्ता सूक्ष्मदर्शी विद्यार्थी ही समझ सकते हैं ।

यहां 'अनन्तबाहु' का अर्थ केवल यह है कि परमात्मा ही वह चेतन तत्त्व है, जो समस्त बाहुओं को कार्य करने और सफलता पाने की आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करता है ।

जो 'प्रकाश तत्त्व' बाह्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है वही हमारे नेत्रों पर अनुग्रह करता हुआ उन्हें वस्तु के दर्शन करने की योग्यता प्रदान करता है । यहां किया गया वर्णन समष्टि की दृष्टि से है, क्योंकि जगत् में हम सूर्य या चन्द्रमा के

प्रकाश में वस्तुओं को देखते हैं, उन्हें यहां वेदान्त की शास्त्रीय भाषा में विराट-पुरुष के नेत्र कहा गया है ।

'हुताशवक्त्रम्' (दीप्त अग्निरूपी मुखवाला) – हुताश[1]का अर्थ है अग्नि । वाणी का अधिष्ठाता देवता अग्नि है । इसीलिये, सभी भाषाओं में इस प्रकार के वाक्प्रचार प्रसिद्ध हैं कि 'उनमें 'गरमागरम' बहस हुई', 'उसके उस वाक्य ने 'चिनगारी' का काम किया' इत्यादि । मुख ही भक्षण का तथा वाणी का स्थान होने से यहां अग्नि को विराट-पुरुष का मुख कहा गया है ।

'अपने तेज से विश्व को तपाते हुए' – आत्मा चैतन्य स्वरूप ही हो सकता है, क्योंकि प्राणिमात्र के समस्त अनुभवों को सर्वदा चैतन्य ही प्रकाशित करता है । यह चैतन्य न केवल वस्तुओंको प्रकाशित करता है, वरन् सूर्य के द्वारा समस्त विश्व के जीवन के लिए आवश्यक उष्णता भी प्रदान करता है । इस कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि बाह्य जगत् का निरीक्षण और अध्ययन करने के पश्चात् ही हिन्दू ऋषियों ने अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी बनाया था । ऐसा प्रतीत होता है कि वे यह जानते थे कि किसी एक विशेष तापमान पर ही पृथ्वी पर जीवन संभव है; उससे न्यून या अधिक तापमान होने पर जीवन लुप्त हो जायेगा ।

सत्य का यह प्रकाश उसका स्वस्वरूप है, और न कि किसी अन्य स्रोत से प्राप्त किया हुआ है । 'स्वतेजसा' शब्द से यह बात स्पष्ट की गई है । उसी से जीवन धारण किया हुआ है ।

अर्जुन आगे कहता है :

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

हे महात्मन् ! स्वर्ग और पृथ्वी के मध्य का यह आकाश तथा समस्त दिशाएं अकेले आप से ही व्याप्त हैं; आप के इस अद्भुत और उग्र रूप को देख कर तीनों लोक अतिव्यथा (भय) को प्राप्त हो रहे हैं ॥२०॥

विराट् पुरुष समस्त जगत् को व्याप्त किए हुए है, और देश-काल का भी अपना

---

१. हुत+अश=हुताश अर्थात् 'दी हुई आहुति का भक्षण करने वाला ।'

स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वे भी इस सत्य पर ही आश्रित हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यहां वर्णित विषयवस्तु अनन्त है, सनातन है। इसीलिए यहां अर्जुन कहता है, 'अकेले आपके द्वारा स्वर्ग और पृथ्वी के मध्य का आकाश और समस्त दिशाएं व्याप्त हैं।'

विश्व की एकता को सरलता से ग्रहण नहीं किया जा सकता। जो जितना ही अधिक उसे समझता है, उसका वर्णन करने में उतना ही अधिक वह लड़खड़ाता है। इतने विशाल और भव्य सत्य को देखकर परिच्छिन्न बुद्धि का कम्पित हो जाना स्वाभाविक ही है।

अर्जुन कहता है, 'इस अद्भुत और भयंकर रूप को देखकर तीनों लोक भय-कम्पित हो रहे हैं।' यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि प्रत्येक मनुष्य जगत् को उसी रूप में देखता है जैसा कि वह स्वयं होता है। यथा दृष्टि तथा सृष्टि। विराट का दर्शन करके अर्जुन भयभीत हुआ और उस मनःस्थिति में जब वह जगत् को देखता है, तो तीनों लोक भी उसे विस्मित और भय कम्पित दिखाई देते हैं। व्यासजी की यह विशेषता है कि विशाल और गम्भीर विषयवस्तु के वर्णन में व्यस्त होते हुए भी वे मनुष्य के मूलभूत आचरण को भूलते नहीं हैं। और उनके ये सूक्ष्म निरीक्षण ही इस अतुलनीय सौंदर्य और अपरिमेय गम्भीर चित्र को वास्तविकता की आभा प्रदान करते हैं।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

ये समस्त देवताओं के समूह आप में ही प्रवेश कर रहे हैं और कई एक भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आप की स्तुति करते हैं; महर्षि और सिद्धों के समुदाय 'कल्याण होवे' (स्वस्तिवाचन करते हुए) ऐसा कहकर, उत्तम (या सम्पूर्ण) स्रोतों द्वारा आपकी स्तुति करते हैं ॥२१॥

अब तक अर्जुन ने विश्व रूप का जो वर्णन किया वह स्थिर था और एक साथ 'अद्भुत और उग्र' भी था। यहां अर्जुन विश्वरूप में दिखाई दे रही गति और क्रिया का वर्णन करता है। ये 'सुरसंघ' विराट पुरुष में प्रवेश करके तिरोभूत हो रहे हैं।

यदि सुधार के अयोग्य हुए कई लोग बलात् विश्वरूप की ओर खींचे चले जाकर उसमें लुप्त हो जा रहे हों, और अन्य लोग प्रतीक्षा करते हुए इस प्रक्रिया को देख रहे हों, तो अवश्य ही वे भय से आतंकित हो जायेंगे। किसी निश्चित आपत्ति से आशंकित पुरुष, जब सुरक्षा का कोई उपाय नहीं देखता है, तब निराशा के उन क्षणों में वह सदा प्रार्थना की ओर ही प्रवृत्त होता है। इन मनोवैज्ञानिक सत्य को बड़ी ही सुन्दरता से यहाँ इन शब्दों में व्यक्त किया गया है कि 'कई एक भयभीत हो कर हाथ जोड़ कर आपकी स्तुति करते हैं।'

और यही सब कुछ नहीं है। महर्षियों और सिद्ध पुरुषों[1] के समूह, अपने 'ज्ञान' की परिपक्वता से प्राप्त दैवी और आन्तरिक शान्ति के कारण, इस विराट के दर्शन से अविचलित रह कर इस विविध रूपमय विराट पुरुष का उत्तम (बहुल[2]) स्तोत्रों के द्वारा स्तुतिगान करते हैं। वे सदा स्वस्तिवाचन अर्थात् सब के कल्याण की कामना करते हैं। अपने पूर्ण ज्ञान के कारण वे जानते हैं कि ईश्वर इस प्रकार का अति उग्र भयंकर रूप केवल उसी समय धारण करता है जब वह विश्व का सम्पूर्ण पुनर्निर्माण करना चाहता है। सिद्ध पुरुष यह भी जानते हैं कि 'विनाश के द्वारा निर्माण' करने की इस योजना में किसी प्रकार की हानि नहीं होती है। इसलिये, वे इस विनाश की प्रक्रिया का स्वागत करते हुए जगत् के लिए स्वर्णयुग की कामना करते हैं, जो इस सम्पूर्ण विनाश के पश्चात निश्चय ही आयेगा।

इस श्लोक में जगत् के प्राणियों का वर्गीकरण तीन भागों में किया गया है– उत्तम, मध्यम और अधम। 'अधम' प्राणी ऐसे ही नष्ट हो जाते हैं। वे मृत्यु की प्रक्रिया के सर्वप्रथम शिकार होते हैं और दुर्भाग्य से उन्हें इस प्रक्रिया का भान तक नहीं होता कि वे उसका किसी प्रकार से विरोध कर सकें। 'मध्यम' प्रकार के लोग विचारपूर्वक इस क्षय और नाश की प्रक्रिया को देखते हैं और उसके प्रति जागरूक भी होते हैं। वे अपने भाग्य के विषय में सोचकर आशंकित हो जाते हैं। वे यह नहीं जानते कि विनाश से वस्तुतः कोई हानि नहीं होती, और समस्त प्राणियों के अपरिहार्य अन्त से भयकम्पित हो जाते हैं।

परन्तु, इनसे भिन्न 'उत्तम' पुरुषों का एक वर्ग और भी है, जिन्हें समष्टि के

---

१. सिद्ध पुरुषों की संख्या १८००० मानी जाती है और यह विश्वास किया जाता है कि ये पुरुष सदा ईश्वर का कार्य संपादन करते हुए सूक्ष्म रूप से साधकों का पूर्ण लक्ष्य की ओर मार्ग दर्शन करते हैं।

२. श्रीशंकराचार्य 'बहुल' शब्द का अर्थ 'सम्पूर्ण' बताते हैं। यह दोनों ही अर्थ – उत्तम और सम्पूर्ण – उपयुक्त हैं।

स्वरूप एवं व्यवहार अर्थात् कार्यप्रणाली का पूर्ण ज्ञान होता है। उन्हें इस बात का भय कभी स्पर्श नहीं करता कि दैनिक जीवन में होने वाली घटनाएं उनके साथ भी घट सकती हैं। समुद्र के स्वरूप को पहचानने वालों को तरंगों के नाश से चिन्तित होने का कारण नहीं रहता है। इसी प्रकार, जब सिद्ध पुरुष उस महान् विनाश को देखते हैं, जो एक मरणासन्न संस्कृति के पुनर्निर्माण के पूर्व होता है, तब वे सत्य की इस महान् शक्ति को पहचान कर ईश्वर निर्मित भावी जगत् के लिये शान्ति और कल्याण की कामना करते हैं।

जिस किसी भी दृष्टि से हम इस काव्य का अध्ययन करते हैं, हम पाते हैं कि स्वयं व्यास जी कितने महान् मनोवैज्ञानिक हैं और उन्होंने कितनी सुन्दरता से यहां मानवीय व्यवहार के ज्ञान को एकत्र किया है, जिससे कि मनुष्य शीघ्र विकास करके अपने पूर्णत्व के लक्ष्य तक पहुंच सके।

इस दर्शनीय दृश्य को देखकर स्वर्ग के देवताओं की क्या प्रतिक्रिया हुई? अर्जुन उसे बताते हुए कहता है:

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

रुद्रगण, आदित्य, वसु और साध्यगण, विश्वेदेव तथा दो अश्विनी कुमार, मरुद्गण और ऊष्मपा, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धगणों के समुदाय – ये सब ही विस्मत हुए आपको देखते हैं ॥२२॥

अर्जुन और आगे वर्णन करता हुआ कहता है कि इस ईश्वरीय रूप को देखने वालों में प्राकृतिक नियमों या शक्तियों के वे सब अधिष्ठातृ देवतागण भी सम्मिलित हैं, जिनकी वैदिककाल में पूजा और उपासना की जाती थी। वे सभी विस्मयचकित होकर इस रूप को देख रहे थे।

इस श्लोक में उल्लिखित प्रायः सभी देवताओं के विषय में हम पूर्व अध्याय वर्णन कर चुके हैं। जिन नवीन नामों का यहां उल्लेख किया गया है, वे हैं: साध्या[1],

---

1. साध्याः – ऋग्वेद के अनुसार ये धार्मिक विधियों के मानवीय रूप हैं अर्थात् वे दिव्य 'मध्यस्थ पुरुष' का कार्य करते हुए भक्तों की प्रार्थनाओं को उनके इष्ट

विश्वेदेवा:[1] और ऊष्मपा:[2] ।

इन शब्दों के अर्थों से आज हम अनभिज्ञ होने के कारण, यह श्लोक सम्भवत: हमें अर्थपू ' प्रतीत नहीं होगा । परन्तु, अर्जुन वैदिक युग का पुरुष तथा वेदों का अध्येयता होने के कारण इन सबसे सुपरिचित था, अत: उसकी भाषा भी यही हो सकती थी । हमें केवल यही देखना है कि इस विराट पुरुष के दर्शन से अर्जुन पर क्या प्रभाव पड़ा और विभिन्न प्रकार के देवताओं, ऋषियों, आदि की प्रतिक्रिया क्या हुई । इस आकाररहित आकार के विशाल विश्वरूप को प्रत्येक ने अपने-अपने मन की क्षमता के अनुसार देखा और समझा ।

अधिकाधिक विवरण देकर अर्जुन श्रोताओं के मन:पटल पर विराट पुरुष के चित्र को स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है :

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ।।२३।।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ।।२४।।

देवताओं को निवेदन करते हैं, और तत्पश्चात् भक्तों की कामनाओं को सफल करते हैं ।

१. विश्वेदेवा: – सामान्य स्तर के देवताओं के लिए ऋग्वेद में प्रयुक्त यह समूहवाचक नाम है । पुराणों में इनकी संख्या दस बतायी गयी है । इनमें भाववाचक गुण सम्मिलित हैं, जैसे सत्य, धृति आदि ।

२. ऊष्मपा – उष्ण अन्न का भोग करने वालों को ऊष्मपा कहते हैं । यह पितरों के लिए प्रयुक्त एक नाम है । ऐसा विश्वास किया जाता है कि श्राद्धकाल में जब तक भोजन उष्ण रहता है तब तक ही वे उसका भोग करते हैं । सम्भवत: सूक्ष्म शरीर धारण किये होने के कारण केवल सूक्ष्म गन्ध से ही उनकी तृप्ति हो जाती है ।

हे महाबाहो ! आपके बहुत मुख तथा नेत्रों वाले, बहुत बाहु, उरु (जंघा) तथा पैरों वाले, बहुत उदरों वाले तथा बहुत-सी विकराल दाढ़ों वाले महान् रूप को देखकर सब लोक व्यथित हो रहे हैं और उसी प्रकार मैं भी (व्याकुल हो रहा हूँ) ।।२३।।

हे विष्णो ! आकाश के साथ स्पर्श किए हुये देदीप्यमान अनेक रूपों से युक्त तथा विस्तरित मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रों से युक्त आपको देखकर भयभीत हुआ मैं धैर्य और शान्ति को नहीं प्राप्त हो रहा हूँ ।।२४।।

अर्जुन द्वारा अनुभव किया गया यह असाधारण "अद्भुत और उग्र" दृश्य किसी एक स्थान पर केन्द्रित नहीं किया जा सकता था । वस्तुतः, वह सर्वव्यापकता की सीमा तक फैला हुआ था । परन्तु, अर्जुन ने अपनी आन्तरिक दृष्टि में उसे एक परिच्छिन्न रूप और निश्चित आकार में देखा । अरूप गुणों – (जैसे स्वतन्त्रता, प्रेम राष्ट्रीयता इत्यादि) को जब भी हम बौद्धिक दृष्टि से समझते हैं, तब हम उसे एक निश्चित आकार प्रदान करते हैं, जो स्वयं के ज्ञान के लिये ही होता है, परन्तु कदापि इन्द्रियगोचर नहीं होता । इसी प्रकार, यद्यपि विराट् रूप तो विश्वव्यापी है, परन्तु अर्जुन को ऐसा अनुभव होता है. मानो, उसका कोई आकार विशेष है । किन्तु, पुनः जब वह इस अनुभूत दृश्य का वर्णन करने का प्रयत्न करता है, तो उसके वचन उसकी ही भावनाओं को व्यक्त नहीं कर पाते और उसका अपना प्रयोजन ही सिद्ध नहीं हो पाता है ।

अर्जुन देखता है कि समस्त लोक उस विराट् पुरुष को देखकर भयभीत हो रहे हैं, जिसमें, "बहुत मुख, और नेत्र, बहुत बाहु, उरु और पैरों वाले, बहुत उदरों वाले आदि रूप हैं" और वह कहता है, "मैं भी भयभीत हो रहा हूँ ।" यह भी सबने अनुभव किया होगा कि यदि हम किसी उत्तेजित जनसमुदाय के मध्य अथवा सत्संग में होते हैं, तब वहाँ के वातावरण का हमारे मन पर भी उसी प्रकार का प्रभाव पड़ता है । "सब लोक भयभीत हुये हैं", और अर्जुन स्वीकार करता है कि, "मैं भी व्याकुल हो रहा हूं ।"

अपनी ही स्वीकारोक्ति के बाद उसे यह भय लगना एक क्षत्रिय पुरुष के लिए अपमानजनक और कायरता का लक्षण जान पड़ा । इसलिए, अपने भय को उचित सिद्ध करने के लिए वह उस भयंकर रूप को अनन्तरूप अर्थात रूपविहीन बताते हुये कहता है कि विश्वरूप अपने में सबको समेटे हुए है । यह विराट् रूप आकाश को स्पर्श कर रहा है । असंख्य वर्णों से वह दीप्तिमान हो रहा है । उसके विशाल आग्नेय नेत्र चमक रहे हैं । उसका मुख सबका भक्षण कर रहा है । यह सब सम्मिलित रूप में देवताओं के साहस को भी डगमगा देने वाला है । अर्जुन यह भी स्वीकार करता है

कि इस रूप के दर्शन से "मैं भयभीत हूं ; मुझे न धैर्य प्राप्त हो रहा है और न शान्ति।" यहां ध्यान देने की बात है कि इस प्रकार के संवेदनाशून्य भय की स्थिति में वह विश्वरूप को, 'हे विष्णो'[1] कहकर सम्बोधित करता है।

जैसा कि मैंने प्रारम्भ में कहा है अर्जुन की अन्तर्दृष्टि में अत्यन्त स्पष्ट अनुभव हो रहा विराट् रूप, वस्तुत: अनन्त परमात्मा का इस विश्व के नाम और रूपों के असीम विस्तार की दृष्टि से किया गया वर्णन है। गीता के विद्यार्थियों को इन सूक्ष्म विचारधाराओं का विस्मरण नहीं होने देना चाहिये जिन्हें व्यासजी ने परिश्रमी और लगनशील साधकों के लाभ के लिये गुप्त रख छोड़ा है :

अपने भय का कारण बताते हुए अर्जुन कहता है :

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि।
दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

आपके विकराल दाढ़ों वाले और प्रलयाग्नि के समान प्रज्वलित मुखों को देख कर, मैं न दिशाओं को जान पा रहा हूँ और न शान्ति को प्राप्त हो रहा हूँ; इसलिये हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न हो जाइए॥२५॥

जैसा कि इस श्लोक में वर्णन किया गया है, अर्जुन ऐसे भयंकर रूप को देख कर अपना धैर्य और सुख खो रहा है। सर्वभक्षी, सबको एक रूप कर देने वाले काल का यह चित्र है। जब दृष्टि के समक्ष ऐसा विशाल दृश्य उपस्थित हो जाता है, और वह भी इतने आकस्मिक रूप से, तो विशालता का उसका परिमाण ही विवेकशक्ति का मानो गला घोंट देता है और क्षणभर के लिये वह व्यक्ति संवेदना शून्य हो जाता है। भ्रांतिजन्य दुर्व्यवस्था की दशा को यहां इन शब्दों में व्यक्त किया गया है कि, "मैं दिशाओं को नहीं जान पा रहा हूँ।" बात यहीं पर नहीं समाप्त होती। "मैं न धैर्य को रख पा रहा हूँ और न शांति को भी।"

आत्यन्तिक विस्मय की इस स्थिति में आश्चर्यचकित मानव यह अनुभव करता है कि उसकी शारीरिक शक्ति, मानसिक क्षमतायें और बुद्धि की सूक्ष्मदर्शिता अपने भिन्न-भिन्न रूप में तथा सामूहिक रूप में भी वस्तुतः महत्त्वशून्य साधन हैं।

---

१. व्यापनशीलः विष्णुः, अर्थात् सर्वव्यापी तत्त्व विष्णु कहलाता है।

छोटा-सा अहंकार अपने मिथ्या अभिमान के आवरण और मिथ्या शक्ति के कवच को त्यागकर पूर्ण विवस्त्र हुआ स्वयं को नम्र भाव से समष्टि की शक्ति के समक्ष समर्पित कर देता है। परम दिव्य, समष्टि शक्ति के जिस व्यक्ति ने पूर्णरूप से अपने खोखले अभिमानों की अर्थशून्यता समझ ली है, उसके लिये केवल एक आश्रय रह जाता है, और वह है – प्रार्थना।

इस श्लोक के अन्त में अर्जुन प्रार्थना करता है, "हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न हो जाइये।" इस प्रार्थना के द्वारा व्यासजी यह दर्शाते हैं कि मान और दम्भ से पूर्ण हृदय वाले व्यक्ति के द्वारा कभी भी वास्तविक प्रार्थना नहीं की जा सकती है। जब व्यक्ति इस विशाल समष्टि विश्व में अपनी तुच्छता समझता है, केवल तभी वह सच्चे हृदय से स्वत: प्रार्थना करता है।

अर्जुन इस युद्ध में अपनी विजय के प्रति सशंक था। २१वें श्लोक से प्रारम्भ किये गये इस प्रकरण का मुख्य उद्देश्य अर्जुन को भावी घटनाओं का कुछ बोध कराना है। उसे युद्ध के परिणाम के प्रति आश्वस्त करते हुये, अब भगवान् सीधे ही सेनाओं के योद्धाओं को "काल के मुख" में प्रवेश करते हुये दिखाते हैं :

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

और ये समस्त धृतराष्ट्र के पुत्र राजाओं के समुदाय सहित आप में प्रवेश करते हैं। भीष्म, द्रोण तथा यह कर्ण और हमारे पक्ष के भी प्रधान योद्धाओं के सहित ...... ॥२६॥

तीव्र वेग से आपके विकराल दाढ़ों वाले भयानक मुखों में प्रवेश करते हैं और कई एक चूर्णित शिरों सहित आपके दांतों के बीच में फँसे हुए दिख रहे हैं ॥२७॥

सत्य के अन्वेषण के अपने उद्देश्य के प्रति दृढ़ रहकर जो दर्शनशास्त्र, समष्टि

को बिना किसी भय या पक्षपात के समझना चाहता है, वह प्रकृति के विनाशकारी पक्ष की उपेक्षा नहीं कर सकता। उपादान (कच्चे माल) के विनाश अर्थात् विकार के बिना किसी भी नवीन वस्तु का निर्माण नहीं हो सकता है। विश्व में जहाँ कहीं कोई 'अस्तित्व' हैं वह परिवर्तन की पुनरावृत्ति मात्र है ; और इस परिवर्तन को 'निर्मित वस्तु' की दृष्टि से देखने पर सृष्टि कहा जाता है और 'उपादान' की दृष्टि से उसे ही विनाश कहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू धर्म के साहसी आर्य ऋषियों नें परम सत्य के सौन्दर्य की स्तुति करते समय, केवल उसे सर्वज्ञ सृष्टिकर्ता या सर्वशक्तिमान् पालन-कर्त्ता के रूप में ही नहीं देखा, वरन् समस्त नामरूपों के सर्व समर्थ संहारकर्त्ता के रूप में भी उसका दर्शन और स्तुतिगान किया है। जिन धार्मिक मतों में अभी तक जीवन का उसकी सम्पूर्णता में निरीक्षण और विश्लेषण नहीं किया गया है, उन्हें उपर्युक्त कथन भयंकर प्रतीत हो सकता है।

अर्जुन के वचन अर्थपूर्ण हैं। वह विश्वरूप को समस्त नामरूपों को स्वाहा करते हुए नहीं देखता, बल्कि उन नामरूपों को शीघ्रता से विराट् पुरुष के मुख में प्रवेश करते हुये देखता है। समुद्र को यदि हम देखें तो ज्ञात होगा कि तरंगों को अपने में समा लेने के लिये समुद्र स्वस्थान से ऊपर नहीं उठता, किन्तु वे तरंगें ही क्षणभर की क्रीड़ा के पश्चात् स्वतः ही शीघ्रता से समुद्र में लुप्त हो जाती हैं। इसी प्रकार सत्य से व्यक्त हुई यह विविधता की सृष्टि सत्य की सतह पर अपनी क्रीड़ा के पश्चात् अवश्य ही, अपने प्रभव-स्थान – पूर्ण पुरुष में शीघ्रगति से लीन हो जायेगी।

अर्जुन, प्रकृति के विनाशकारी तत्त्व के जम्हाई लेते हुए मुख में भीष्मद्रोणादि कौरवपक्षीय योद्धागणों तथा स्वपक्ष के भी प्रमुख योद्धाओं को वेग से प्रवेश करते हुये देखता है। यह दृश्य न केवल अर्जुन को उसके साहस को तोड़ते हुए भयभीत ही करता है, अपितु उसे भविष्य में झांककर देखने का आत्मविश्वास भी प्रदान करता है। यद्यपि सैनिक संख्या तथा शस्त्रास्त्रों की आपूर्ति की दृष्टि से कौरव अधिक शक्तिशाली थे, किन्तु उनका विनाश देखकर अर्जुन को धैर्य प्राप्त होता है। यह भावी घटनाओं का संकेत ही था। जब भगवान् विश्वरूप में प्रकट होते हैं, तब उस एकत्व की संकल्पना में न केवल आकाश (देश) संकुचित हो जाता है, बल्कि काल भी हमारे निरीक्षण का विषय बन जाता है।

इसलिए, यदि अर्जुन ने उस विराट् रूप में, भूतकाल को वर्तमान से मिल कर भविष्य की ओर अग्रसर होते हुए देखा हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। सम्पूर्ण गीता ग्रन्थ में से प्रथम दो पृष्ठ पढ़ना अथवा उन्हें छोड़कर तीसरा पृष्ठ पढ़ना मेरी इच्छा पर निर्भर करता है। इसी प्रकार, जब अर्जुन के समक्ष सम्पूर्ण

विश्वरूप ही उपस्थित था, तो वह एक दृष्टि में "यत्र-तत्र-सर्वत्र" देख सकता था और "भूत-वर्तमान-भविष्य" को भी। आधुनिक वैज्ञानिक भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि वस्तुत: देश काल एक ही हैं, और वे परस्पर की दृष्टि से व्यक्त होते हैं।'

सत्यनिष्ठ एवं सत्य के साधक पुरुषों को इस बात का भय नहीं होता कि उनका सत्यान्वेषण उन्हें कौन-से सत्य तक पहुँचायेगा। यदि वह सत्य भयंकर है, तो वे उसे भी स्वीकार करते हैं। यह जगत् दो विरुद्ध धर्मियों का एक मिश्रण है। इसमें सुरूपता और कुरूपता, शुभ और अशुभ, कोमल और कठोर तथा मधुर और कटु सब कुछ विद्यमान है। इन समस्त रूपों में परमात्मा ही व्यक्त हो रहा है। अत:, यदि हम अपनी रुचि के अनुसार परमात्मा के केवल सुन्दर, शुभ कोमल और मधुर भावों को ही स्वीकार करते हैं, तो ईश्वर की यह पूजा अथवा सत्य का यह मूल्यांकन पूर्ण नहीं कहा जा सकता। पूर्वाग्रहरहित और अनासक्त व्यक्ति को ईश्वर के कुरूप, अशुभ, कठोर और कटु भावों को भी मान्यता देनी ही होगी। वह दर्शन-शास्त्र ही पूर्ण है, जो यह बोध कराए कि यद्यपि परमात्मा ही इन सब नाम, रूप और गुणों में व्यक्त हो रहा है, तथापि वह अपने पारमार्थिक स्वरूप से, इन सब गुणों के सर्वथा अतीत है।

इसलिये, शुद्ध वैज्ञानिक पद्धति से अर्जुन को विश्वरूप का विस्तृत विवरण देना पड़ता है, फिर वह विवरण कितना ही भयंकर और रक्त को जमाने वाला ही क्यों न हो। नि:सन्देह गीता में वास्तविकता का बोध है। काल के मुख को यहाँ 'भयानक' और 'विकराल दाढ़ों वाला' कहकर उसका यथार्थ चित्रण किया गया है।

वे किस प्रकार प्रवेश कर रहे है ? अर्जुन कहता है :

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः।
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

जैसे नदियों के बहुत से जलप्रवाह समुद्र की ओर वेग से बहते हैं, वैसे ही मनुष्यलोक के ये वीर योद्धागण आपके प्रज्वलित मुखों में प्रवेश करते हैं ॥२८॥

समुद्र के मिलन के लिए आतुर, उसकी ओर वेग से बहने वाली नदियों की उपमा इस श्लोक में दी गई है। जिस स्रोत से नदी का उद्गम होता है, वहीं से उसे अपना विशेष व्यक्तित्व प्राप्त हो जाता है। किसी भी एक बिन्दु पर वह नदी न

रुकती है और न आगे बढ़ने से कतराती ही है। अल्पमति का पुरुष यह कह सकता है कि नदी का प्रत्येक बूंद समीप ही किसी स्थान विशेष की ओर बढ़ रहा है। परन्तु यथार्थदर्शी पुरुष जानता है कि सभी नदियां समुद्र की ओर ही बहती जाती हैं, और वे जब तक समुद्र से मिल नहीं जाती तब तक मार्ग के मध्य न कहीं रुक सकती हैं और न रुकेंगी। समुद्र के साथ एकरूप हो जाने पर विभिन्न नदियों के समस्त भेद समाप्त हो जाते हैं।

नदी को जल की प्रत्येक बूंद समुद्र से ही आयी है। प्रथम मेघ के रूप में वह ऊपर पर्वत-शिखरों तक पहुंची और वहाँ वर्षा के रूप में प्रकट हुई; 'नदी तट के क्षेत्रों को जल प्रदान करके खेतों को जीवन और पोषण देकर वे बूंदें वेग युक्त प्रवाह के साथ अपने उस प्रभव स्थान में ही मिल जाती हैं, जहां से उन्होंने यह 'करुणा की उड़ान' भरी थी। इसी प्रकार अपने समाज की सेवा और संस्कृति का पोषण करने तथा विश्व के सौन्दर्य की वृद्धि में अपना योगदान देने के लिए समष्टि से ही सभी व्यष्टि जीव प्रकट हुए हैं, परन्तु उनमें से कोई भी व्यक्ति अपनी इस तीर्थयात्रा के मध्य में नहीं रुक सकता है। सभी को अपने मूल स्रोत की ओर शीघ्रता से बढ़ना होगा समुद्र को प्राप्त होने से नदी की कोई हानि नहीं होती है। यद्यपि मार्ग में उसे कुछ विशेष गुण प्राप्त होते हैं, जिनके कारण उसे एक विशेष नाम और आकार प्राप्त हो जाता है, तथापि उसका यह स्वरूप क्षणिक है। यह 'समुद्र के जल' द्वारा शुष्क भूमि को बहुलता से समृद्ध करने के लिये लिया गया सुविधाजनक रूप है।

इस श्लोक पर हम जितना अधिक विचार करेंगे उतना अधिक उसमें निहित आनन्द हमें प्राप्त होगा।

किसलिये वे प्रवेश करते हैं ? अर्जुन बताता है कि :

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

जैसे पतंग अपने नाश के लिये प्रज्वलित अग्नि में अतिवेग से प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये लोग भी अपने नाश के लिए आपके मुखों में अतिवेग से प्रवेश करते हैं ॥२९॥

अव्यक्त से व्यक्त हुई सृष्टि के बीच की एकता को, समुद्र से उत्पन्न हुई नदियों

की उपमा के द्वारा अत्यन्त सुन्दर शैली द्वारा पूर्व श्लोक दर्शाया गया है। समुद्र से उत्पन्न होकर समस्त नदियां पुनः उसी में समा जाती हैं।

कोई भी उपमा अपने आप में पूर्ण नहीं हो सकती है। नदियों के दृष्टान्त में एक अपूर्णता यह रह जाती है कि नदी को स्वयं की चेतना नहीं होने के कारण समुद्र मिलन में उसकी स्वेच्छा नहीं प्रदर्शित होती। कोई शंका कर सकता है कि सम्भवतः चेतन प्राणी अपने स्वतन्त्र विवेक के कारण अचेतन जल के समान व्यवहार नहीं करेंगे। यहां यह दर्शाने के लिये कि जीवधारी प्राणी भी अपने स्वभाव से विवश हुए मृत्यु के मुख की ओर बरबस खिचे चले जाते हैं, यह दृष्टान्त दिया गया है कि 'जैसे पतंगे अत्यन्त वेग से स्वनाश के लिए प्रज्वलित अग्नि के मुख में प्रवेश करते हैं।' व्यासजी को सम्पूर्ण प्रकृति ही धर्मशास्त्र की खुली पुस्तक प्रतीत होती है। वे अनेक घटनाओं एवं उदाहरणों के द्वारा इन्हीं मूलभूत तथ्यों को समझाते हैं कि 'अव्यक्त का व्यक्त अवस्था में प्रक्षेपण ही सृष्टि की प्रक्रिया है, और 'व्यक्त का अपनें अव्यक्त स्वरूप में मिल जाना ही नाश या मृत्यु है।' जब हम इस भयं-कर व राक्षसी प्रतीत होनें वाली मृत्यु को यथार्थ दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न करते हैं, तब वह छद्मवेष को त्यागकर अपने प्रसन्न और प्रफुल्ल मुख को प्रकट करती है।

अर्जुन के मानसिक तनाव का मुख्य कारण यह था कि उसने कुरुक्षेत्र की युद्ध भूमि पर होने वाले बहुत बड़े नाश का शीघ्रतावश त्रुटिपूर्ण मूल्यांकन कर लिया था। उसके उपचार का एक मात्र उपाय यही था कि उसकी दृष्टि उस ऊंचाई तक उठायी जाये, जहां से वह, एक ही दृष्टिक्षेप में, मृत्यु की इस अपरिहार्य प्राकृतिक घटना को देख और समझ सके। श्रीकृष्ण ने उसका यही उपचार किया। किसी भी घटना का समीप से पूर्ण अध्ययन करने पर उसके भयानक फनों के विषदन्त दूर हो जाते हैं! जब मनुष्य की विवेकशील बुद्धि अज्ञान से आवृत हो जाती है, केवल तभी उसके आसपास होने वाली घटनाएँ उसका गला घोंटकर उसे धराशायी कर देती हैं। जैसे नदियां समुद्र में तथा पतंग अग्नि के मुख में तेजी से प्रवेश करते हैं, वैसे ही सभी रूप अव्यक्त में विलीन हो जाते हैं। मृत्यु की घटना को इस प्रकार समझ लेने पर मनुष्य उससे भय मुक्त होकर अपनें जीवन का सामना कर सकता है, क्योंकि उसके लिये सम्पूर्ण जीवन का अर्थ परिवर्तनों की एक अखण्ड धारा हो जाती है।

इसलिए, काल की क्रीड़ा के रूप में मृत्यु एक डंकरहित घटना बन जाती है। अगले श्लोक में इस मृत्यु को उसके सम्पूर्ण भयंकर सौन्दर्य के साथ गौरवान्वित किया गया है :

लेलिह्यसे ग्रसमानं समन्तात्
लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

हे विष्णो ! आप प्रज्वलित मुखों के द्वारा इन समस्त लोकों का ग्रसन करते हुए आस्वाद ले रहे हैं; आपका उग्र प्रकाश सम्पूर्ण जगत् को तेज के द्वारा परिपूर्ण करके तपा रहा है ॥३०॥

महाऊर्मि के कुछ श्लोकों की रचना के बाद व्यासजी पुन: अपने पूर्व के विषय को प्रारम्भ करते हैं। जगत् के समस्त प्राणी वर्ग काल के मुख में प्रवेश करके नष्ट हुए जा रहे हैं। इस काल तत्त्व की क्षुधा कभी न शान्त होने वाली है।' समस्त लोकों का ग्रसन करते हुए आप उनका आस्वाद ले रहे हैं।'

वस्तुत:, यह श्लोक सृष्टि, स्थिति और संहार के तीन कर्ताओं के पीछे के सिद्धान्त को स्पष्ट करता है। यद्यपि हम इन तीनों की भिन्न-भिन्न रूप से कल्पना करते हैं, किन्तु वास्तव में ये तीनों एक ही प्रक्रिया के तीन पहलू मात्र हैं। हम पहले भी विस्तार से देख चुके हैं कि सर्वत्र विद्यमान अस्तित्व का मूल रहस्य है 'रचनात्मक विध्वंस।'

चलचित्र गृह में विभिन्न चित्रों की एक रील को प्रकाशवृत्त के सामने चलाया जाता है। उसके सामने से दूर हुए चित्र को हम मृत कह सकते हैं और सम्मुख उपस्थित हुए को जन्मा हुआ मान सकते हैं। निरन्तर हो रही जन्म-मृत्यु की इस धारा के कारण सामने के परदे पर एक अखण्ड कथानक का आभास निर्माण होता है। देश और काल से अवच्छिन्न होकर वस्तुएं, प्राणीमात्र, घटनाएं और परिस्थितियां हमारे अनुभव में आकर चली जाती हैं और उनके इस आवागमन के सातत्य को हम 'अस्तित्व' या 'जीवन' कहते हैं।

उपर्युक्त विचार को ही पारस्परिक त्रिमूर्ति – ब्रह्मा, विष्णु और महेश – की भाषा में पुराणों में व्यक्त किया गया है।

इस ज्ञान की दृष्टि से जब अर्जुन उस प्रकाश स्वरूप देदीप्यमान समष्टि रूप को देखता है, तब वह उस विराट के उग्र प्रकाश से प्राय: अन्धवत् हो जाता है।

क्योंकि आप उग्ररूप हैं, इसलिये :

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यम्
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ।।३१।।

(कृपया) मेरे प्रति कहिए, कि उग्ररूप वाले आप कौन हैं ? हे देवों में श्रेष्ठ ! आपको नमस्कार है, आप प्रसन्न होइये । आदि स्वरूप आपको मैं (तत्त्व से) जानना चाहता हूं, क्यों कि आप की प्रवृत्ति (अर्थात् प्रयोजन) को मैं नहीं समझ पा रहा हूं ।।३१।।

इस अवसर पर अर्जुन, भगवान् श्रीकृष्ण की शक्ति की पवित्रता एवं दिव्यता को समझ पाता है उससे अनुप्राणित हुआ सम्मान के साथ नतमस्तक होकर उन्हें प्रणाम करता है, जिन्हें अब तक वह केवल वृन्दावन के गोपाल के रूप में ही पहचानता था । यद्यपि वह बुद्धिमान् था, परन्तु उसके समक्ष उपस्थित हुआ यह दृश्य उसके लिए बहुत अधिक विशाल था । उसे पूर्णरूप से देखना और उसका विश्लेषण करके उसे आत्मसात् करना अत्यन्त कठिन था । अब वह केवल यही कर सकता है कि अपने आप को भगवान् के चरणों में समर्पित करके उन्हीं से यह विनती करे कि, 'आप मुझे बताइये कि आप कौन हैं ?'

अपनी जिज्ञासा को और अधिक ठोस आकार देकर अर्जुन सूचित करता है कि वह अपने प्रश्न का उत्तर शीघ्र ही चाहता है, 'मैं आपको जानना चाहता हूं ।" यह सुविदित तथ्य है कि अध्यातमशास्त्र के ग्रन्थों में सत्य के ज्ञान के लिए 'प्रखर जिज्ञासा' को अत्यन्त महत्व का स्थान दिया गया है, क्योंकि वही वास्तव में साधकों की प्रेरणा होती है । परन्तु यहां अर्जुन का मन अपनी तात्कालिक समस्या या चुनौती के कारण व्याकुल था, इसलिए ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि वह, वास्तव में, इस दृश्य के वास्तविक दिव्य सत्य को जानना चाहता है । उसकी यह जिज्ञासा अपनी भावनाओं से अतिरंजित है और उसके साथ ही उसमें युद्ध के परिणाम को जानने की व्याकुलता भी है । यह बात उसके इन शब्दों में स्पष्ट होती है कि, 'मैं आपके प्रयोजन को नहीं जान पा रहा हूं ।' उसकी जिज्ञासा का अभिप्राय यह है कि, 'इस भयंकर उग्ररूप को धारण करके अर्जुन को कौरवों का विनाश दिखाने में भगवान् का क्या उद्देश्य है ?' जब वह किसी घटना के घटित होने की तीव्रता से कामना कर रहा है और उसके समक्ष ऐसे लक्षण उपस्थित होते हैं, जो युद्ध में उसकी निश्चित विजय की भविष्यवाणी कर रहे हैं, तो वह दूसरों से इसकी पुष्टि चाहता है । यहां

अर्जुन उसी घटना को देख रहा है, जिसे वह घटित होते देखना चाहता है; अतः वह स्वयं भगवान् के मुख से ही इसकी पुष्टि चाहता है। इसलिये उसका यह प्रश्न है।

सत्य की ही एक अभिव्यक्ति है-विनाश। भगवान उसी रूप में अपना परिचय कराते हुए घोषणा करते हैं कि :

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

श्रीभगवान् ने कहा–

मैं लोकों का नाश करने वाला प्रवृद्ध काल हूं। इस समय, मैं इन लोकों का संहार करने में प्रवृत्त हूं। जो प्रतिपक्षियों की सेना में स्थित योद्धा हैं, वे सब तुम्हारे बिना भी नहीं रहेंगे ॥३१॥

किसी वस्तु की एक अवस्था का नाश किये बिना उसका नव निर्माण नहीं हो सकता। निरन्तर नाश की प्रक्रिया से ही जगत् का निर्माण होता है। बीते हुए काल के शवागर्त से ही वर्तमान आज की उत्पत्ति हुई है। इस रचनात्मक विनाश के पीछे जो शक्ति दृश्य रूप में कार्य कर रही है, वही वह मूलभूत शक्ति है जो प्राणियों के जीवन के ऊपर शासन कर रही है। भगवान् श्रीकृष्ण यहां स्वयं का परिचय 'लोक संहारक महाकाल' के रूप में कराते हैं। इस रूप को धारण करने का उनका प्रयोजन इस पीढ़ी को नष्ट करना है, जो अपने जीवन के लक्ष्य के सम्बन्ध में विपरीत धारणाएं तथा दोषपूर्ण जीवन मूल्यों को रखने के कारण जीर्णशीर्ण हो गयी है।

भगवान् का लोकसंहारकारी भाव उनके लोकल्याणकारी भाव का विरोधी नहीं है। कभी-कभी विनाश करने में भी दया ही होती है। एक टूटे हुए पुल को, या जीर्ण बांध को अथवा प्राचीन इमारत को तोड़ना उक्त बात के उदाहरण हैं। उन्हें तोड़कर गिराना दया का ही एक कार्य है, जो कोई भी विचारशील शासन समाज के लिए कर सकता है। यही सिद्धान्त यहां पर लागू होता है।

इस उग्र रूप को धारण करने में भगवान् का उद्देश्य उन समस्त नकारात्मक शक्तियों का नाश करना है जो राष्ट्र के सांस्कृतिक जीवन को नष्ट करने पर तुली हुई हैं। भगवान् के इस कथन से अर्जुन की विजय की आशा विश्वास में परिवर्तित हो जाती है। परन्तु, भगवान् इस बात को भी स्पष्ट कर देते हैं कि पुनर्निर्माण के इस कार्य को करने के लिये वे किसी एक व्यक्ति या किसी समुदाय पर आश्रित नहीं है। इस कार्य को सम्पन्न करने में एक अकेला काल ही समर्थ है। वही समाज में इस पुनरुत्थान और पुनर्जीवन को लायेगा। सार्वभौमिक पुनर्वास के इस अति-विशाल कार्य में व्यष्टि जीव मात्र भाग्य के प्राणी हैं। उनके होने या नहीं होने पर भी काल की योजना निश्चित ही कार्यान्वित होकर रहेगी। राष्ट्र के लिये यह पुन-र्जीवन आवश्यक है; मानव के पुनर्वास की मांग जगत् की है। भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि, 'तुम्हारे बिना भी' इन भौतिकवादी योद्धाओं में से कोई भी इस निश्चित विनाश में जीवित नहीं रह पायेगा।

महाभारत की कथा के सन्दर्भ में, भगवान् के कथन का यह तात्पर्य स्पष्ट होता है कि कौरव सेना तो काल के द्वारा पहले ही मारी जा चुकी है, और पुनरुत्थान की सेना के साथ सहयोग करके अर्जुन, निश्चित सफलता का केवल साथ ही दे रहा है।

इसलिए सर्वकालीन मनुष्य के प्रतिनिधि अर्जुन को यह उपदेश दिया जाता है कि वह निर्भय होकर अपने जीवन में कर्तव्य का पालन करे।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥३३॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥३४॥

इसलिए तुम उठ खड़े हो जाओ और यश को प्राप्त करो; शत्रुओं को जीत कर समृद्ध राज्य को भोगो। ये सब पहले से ही मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं। हे

सव्यसाचिन् ![1] तुम केवल निमित्त ही बनो ।।३३।।

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा और भी बहुत से मेरे द्वारा मारे गये वीर योद्धाओं को तुम मारो; भय मत करो; युद्ध करो; तुम युद्ध में शत्रुओं को जीतोगे ।।३४।।

यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को सीधे और स्पष्ट शब्दों में आश्वस्त करते हैं कि उसको उठ खड़े होकर काल के आश्रय से सफलता और वैभव को प्राप्त करना चाहिये। अधर्मियों की शक्ति और सामर्थ्य कितनी ही अधिक क्यों न हो, लोक क्षय कारी महाकाल की शक्ति ने उन्हें पहले ही मार दिया है। अर्जुन को केवल आगे बढ़कर एक वीर पुरुष की भूमिका निभाते हुए विजय के मुकुट को प्राप्त कर लेना है। हे सव्यसाचिन् 'मेरे द्वारा ये मारे हुए ही हैं, तुम केवल निमित्त बनो।'

वस्तुत:, प्रत्येक विचारशील पुरुष को इस तथ्य का स्पष्ट ज्ञान होता है कि जीवन में वह ईश्वर के हाथों में केवल एक निमित्त ही है। परन्तु, सामान्यत: हम इस तथ्य को स्वीकार करने को तैयार नहीं होते, क्योंकि हमारा गर्वभरा अभिमान इतनी सरलता से निवृत्ति नहीं होता कि हमारा शुद्ध दिव्य स्वरूप अपनी सर्वशक्ति से हमारे द्वारा कार्य कर सके। जीवन के सभी कार्य क्षेत्रों में प्राप्त की गयी उपलब्धियों पर यदि हम विचार करें, तो हमें ज्ञात होगा कि प्रत्येक उपलब्धि में प्रकृति के योयदान की तुलना में हमारा योगदान अत्यन्त क्षुद्र और नगण्य है। अधिक-से-अधिक हम केवल उन वस्तुओं का संयोग या मिश्रण कर सकते हैं, जो पहले से ही विद्यमान हैं, और इस संयोग के फलस्वरूप उनमें पूर्व निहित गुणों को व्यक्त करा सकते हैं। फिर भी हमारा अभिमान यह होता है कि हमने उस फल को उत्पन्न किया है !

रेडियो, वायुयान, इंजिन, जीवन संरक्षक औषधियां, संक्षेप में, यह सम्पूर्ण 'नवीन जगत्', और प्रगति में इसकी उपलब्धियां – ये सब ईश्वर की गोद में बैठे बच्चों के खेल के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। ईश्वर ने ही हमारे लिये विद्युत्, लोहा, आकाश, वायु, इत्यादि उपलब्ध कराये और हमें उसका उपयोग करने की स्वीकृत और स्वतन्त्रता प्रदान की। इन मूलभूत वस्तुओं के बिना कोई भी उपलब्धि संभव नहीं हो सकती; और उपलब्धि का अर्थ है, ईश्वर प्रदत्त वस्तुओं का बुद्धिमत्तापूर्वक समायोजन करना।

शरणागति तथा ईश्वर का अखण्ड स्मरण करते हुए जगत् की सेवा करने

१. बायें हाथ से भी बाण चलाने का अभ्यास होने से अर्जुन का नाम 'सव्यसाची' हुआ था।

के सिद्धान्तों को ऐसी व्यर्थ की कल्पनाएं नहीं समझना चाहिए जो जगत् की भौतिक सत्यता से पलायन करने के लिये विधान की गयी हों। जगत् में कुशलतापूर्वक कार्य करके सफलता पाने के लिए मनुष्य को अपनी योग्यता और स्वभाव को ऊँचा उठाना आवश्यक है। अखण्ड ईश्वर स्मरण वह साधन है, जिसके द्वारा हम अपने मन को सदा अथक उत्साह और आनन्दपूर्ण प्रेरणा के भाव में रख सकते हैं।

अहंकार के लिये यह जगत् एक बोझ या समस्या बना होता है। जिस सीमा तक अहंकार स्वयं को किसी महान् और श्रेष्ठ आदर्श के प्रति समर्पित कर देता है, उसी सीमा में यह जगत् और उसकी उपलब्धियां प्राप्त करना सरल और निश्चित सफलता का खेल बन जाता है। इसके पूर्व भी गीता में अनेक स्थलों पर स्पष्टत: सूचित किया गया है कि अहंकार के समर्पण से हममें स्थित महानतर क्षमताओं को व्यक्त किया जा सकता है। उसी विचार को यहां दोहराया गया है। सम्पूर्ण सेना को यहां अपनी वीरता की भूमिका निभाने के लिये आमन्त्रित किया गया है। ईश्वर के हाथों में वे निमित्त बने और राजमुकुट तथा वैभव को वेतन के रूप में प्राप्त करें।

अर्जुन को कौरव पक्ष के कुछ प्रधान और श्रेष्ठ पुरुषों से विशेष भय था। यहां भगवान् उनका नामोल्लेख करके बताते हैं कि ये वीर पुरुष भी सर्वभक्षक काल के द्वारा मारे जा चुके हैं।

द्रोणाचार्य अर्जुन के गुरु थे, जिन्हों ने उसे धनुर्विद्या सिखायी थी। उसके पास कुछ विशेष शस्त्रास्त्र थे और अर्जुन उनका विशेष रूप से आदर और सम्मान करता था। भीष्मपितामह को स्वेच्छा से मरण प्राप्ति का वरदान मिला हुआ था, तथा उनके पास भी अत्यन्त शक्तिशाली दिव्यास्त्र थे। एक बार उन्होंने वीर परशुराम तक को धूल चटा दी थी। जयद्रथ की अजेयता का कारण उसके पिता के द्वारा किया जा रहा तप था। उन्होंने यह दृढ़ निश्चय किया था कि 'जो कोई भी व्यक्ति मेरे पुत्र जयद्रथ का शिर पृथ्वी पर गिरायेगा, उस व्यक्ति का भी शिर नीचे गिर पड़ेगा।' कर्ण से भय का कारण यह था कि उसे भी इन्द्र से दिव्यास्त्र प्राप्त हुआ था। उपर्युक्त कारणों से स्पष्ट होता है कि भगवान् ने इन चार पुरुषों का ही विशेषत: उल्लेख क्यों किया है। ये महारथी लोग भी काल का ग्रास बन चुके थे, अत: अर्जुन को चाहिए कि वह राजसिंहासन की ओर अग्रसर हो और सम्पूर्ण वैभव का स्वामी बन जाये।

यह स्वाभाविक है कि जब मनुष्य की कोई तीव्र इच्छा को पूर्ण कर दिया जाता है, तो वह अकस्मात् अपने दयालु संरक्षक की स्तुति और प्रशंसा करनें लगता है:

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ।।३५।।

संजय ने कहा–

केशव भगवान् के इस वचन को सुनकर मुकुटधारी अर्जुन हाथ जोड़े हुए, कांपता हुआ नमस्कार करके पुनः भयभीत हुआ श्रीकृष्ण के प्रति गद्गद् वाणी से बोला ।।३५।।

नाटककार के रूप में व्यासजी अपनी सहज स्वाभाविक कलाकुशलता से दृश्य को युद्धभूमि से शान्त और मौन राजप्रासाद में ले जाते हैं, जहां संजय अन्ध धृतराष्ट्र को युद्धभूमि का वृत्तान्त सुना रहा था । इसी अध्याय में तीन बार पाठक को कुरुक्षेत्र के भयोत्पादक वातावरण से दूर ले जा कर, व्यासजी न केवल इस दृश्यों की प्रभावी गति को बढ़ाते हैं, वरन् पाठकों के मन को आवश्यक विश्राम भी देते हैं, जो निरन्तर भयंकर सौन्दर्य के सूक्ष्म विषय में तनाव अनुभव करने लगता है ।

यह कदापि नहीं भूलना चाहिये कि गीता में संजय हमारा 'विशेष संवाददाता' है जिसे पाण्डवों के न्यायपक्ष से पूर्ण सहानुभूति है । स्वाभाविक ही है कि जैसे ही वह भगवान् के शब्दों द्वारा भीष्म द्रोणादि के नाश का वृत्तान्त सुनाता है, वैसे ही वह उस अन्ध, वृद्ध व्यक्ति को आसन्न घोर विध्वंस के प्रति जागरूक कराना चाहता है । जैसा कि हम पहले भी देख चुके हैं कि केवल धृतराष्ट्र ही इस समय भी युद्ध को रोक सकता था । और संजय यह देखने को अत्यन्त उत्सुक है कि किसी प्रकार यह युद्ध रुक जाये । इस प्रकार, इस श्लोक में प्रयुक्त भाषा से ही संजय का मन्तव्य स्पष्ट हो जाता है ।

अकस्मात् यहां संजय अर्जुन को किरीटी अर्थात् 'मुकुटधारी' कहता है । सम्भवतः यह एक साहसपूर्ण भविष्यवाणी है, जिसके द्वारा संजय यह अपेक्षा करता है कि धृष्टराष्ट्र इस विनाशकारी युद्ध की निरर्थकता देखे । परन्तु एक अन्ध पुरुष कदापि 'देख' नहीं सकता, और यदि उसकी बुद्धि पर भी मोह का आवरण पड़ा हो, तो देखने का प्रश्न ही नहीं उठता है ।

अत्यधिक पुत्राशक्ति के कारण यदि राजा धृतराष्ट्र की सद्बुद्धि को वहीं

जगाया जा सकता है, तो संजय एक मनोवैज्ञानिक उपचार का प्रयोग करके देखना चाहता है। यदि इस बात का विस्तृत वर्णन किया जाये कि किसी दृश्य को देखकर सब लोग किस प्रकार भय से काँप रहे हैं, तो निश्चित ही सामान्यतः साहसी पुरुषों के मन में भी आतंक फैल जाता है। यदि कृष्ण का घनिष्ठ मित्र अर्जुन भी 'भय से कांपता हुआ गद्गद् वाणी में भगवान् से कहता है', तो इस वर्णन से संजय यह अपेक्षा करता है कि कोई भी विवेकी पुरुष आसन्न युद्ध की भयानकता को तथा पराजित पक्ष के लोगों को प्राप्त होने वाले भयंकर परिणामों को भी पहचान सकेगा। परन्तु संजय के इन शब्दों का भी धृतराष्ट्र के मन पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा, जो अपनें पुत्रों के प्रति मूढ़ प्रेम के अतिरिक्त अन्य सब के प्रति पूर्ण अन्ध हो गया था।

अर्जुन विश्वरूप भगवान् को सम्बोधित करके कहता है।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥

अर्जुन ने कहा–

यह योग्य ही है कि आपके कीर्तन से जगत् अति हर्षित होता है और अनुराग को भी प्राप्त होता है। भयभीत राक्षस लोग समस्त दिशाओं में भागते हैं और समस्त सिद्धगणों के समुदाय आपको नमस्कार करते हैं ॥३६॥

कविता के भावव्यंजक आकर्षण के द्वारा, एक बार पुनः, हमें सम्पत्ति और वैभव से सम्पन्न सुखद राजप्रासाद से उठाकर युद्धभूमि के कोलाहल और आश्चर्यमय विराट-रूप की ओर ले जाया जाता है। दृश्य यह है कि अर्जुन दोनों हाथ जोड़े हुए, भयकम्पित और विस्मय से अवरुद्ध कण्ठ से भगवान् की स्तुति कर रहा है। यह चित्र अर्जुन की मनःस्थित का स्पष्ट परिचायक है। ग्यारह श्लोकों के स्तुतिगान का यह खण्ड हिन्दू धर्म में उपलब्ध्र सर्वोत्तम प्रार्थनाओं का प्रतिनिधित्व करता है। वस्तुतः सामान्य लोगों को विदित है कि संकलपना, सुन्दरता, लय और अर्थ की गम्भीरता की दृष्टि से इससे अधिक श्रेष्ठ किसी सार्वभौमिक प्रार्थना की कल्पना नहीं की जा सकती है।

इस खण्ड में, हम देखते हैं कि अर्जुन की तत्त्वदर्शन की क्षमता शनैः-शनैः इस विराट रूप के पीछे दिव्य अनन्त सत्य को पहचान रही है। जब कोई व्यक्ति दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देख रहा होता है, तब सामान्यतः उसे दर्पण की सतह का भान भी नहीं होता है, परन्तु यदि वह अपना ध्यान उस सतह पर केन्द्रित करे तो उसके लिये वह प्रतिबिम्ब प्रायः लुप्त-सा ही हो जाता है। यहां भी, जब तक अर्जुन उस विश्वरूप के प्रत्येक रूप को ही देखने में व्यस्त रहा, तब तक इस विशाल रूप के सारतत्त्व अनन्त स्वरूप को वह नहीं पहचान सका। अब इस खण्ड से यह स्पष्ट होता है कि अर्जुन नें विराट रूप के वास्तविक सत्य और अर्थ को पहचानना प्रारम्भ कर दिया था।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

हे महात्मन्! ब्रह्मा के भी आदि कर्ता और सबसे श्रेष्ठ आपके लिये वे कैसे नमस्कार नहीं करें? (क्योंकि) हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! जो सत्, असत् और इन दोनों से परे अक्षरतत्त्व है, वह आप ही हैं ॥३७॥

वे सिद्ध संघ आपको कैसे नमस्कार नहीं करें? क्योंकि आप तो सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी के भी आदिकर्त्ता हैं। आदिकारण वह है जो सम्पूर्ण कार्य जगत् को व्याप्त करके समस्त नाम और रूपों को धारण करता है, जैसे – घटों का कारण मिट्टी और आभूषणों का कारण स्वर्ण है। अनन्तस्वरूप परमात्मा न केवल यह विश्व है, बल्कि समस्त देवों का भी ईश्वर है, क्योंकि उसी सर्वशक्तिमान् परमात्मा से समस्त देवताओं को तथा प्राकृतिक शक्तियों को सामर्थ्य प्राप्त होती है।

इस चराचर जगत् को दो भागों – सत् और असत् में विभाजित किया जा सकता है। यहां सत् शब्द से अर्थ उन वस्तुओं से है, जो इन्द्रिय, मन और बुद्धि के द्वारा जानी जा सकती हैं, अर्थात् जो स्थूल और सूक्ष्म रूप में व्यक्त हैं। स्थूल विषय, भावनाएं और विचार व्यक्त (सत्) कहलाते हैं। इस व्यक्त का जो कारण है, उसे असत् अर्थात् अव्यक्त कहते हैं। व्यक्ति की जीवन की पद्धति को नियन्त्रित करने वाला यह अव्यक्त कारण उस व्यक्ति के संस्कार या वासनाएं ही हैं। यहां परमात्मा की दी हुई परिभाषा के अनुसार वह सत् और असत् दोनों ही है। और

वह इन दोनों से परे भी है ।

'आप इनसे परे भी है' – नाट्यगृह के रंगमंच पर हो रहा नाटक सुखान्त अथवा दुःखान्त हो सकता है, परन्तु उन्हें प्रकाशित करने वाला प्रकाश उन दोनों से परे होता है । अंगूठी और कण्ठी ये दोनों, निःसन्देह स्वर्ण के ही बने हैं, किन्तु स्वर्ण की परिभाषा यह नहीं दी जा सकती है कि वह अंगूठी या कण्ठी है । वह ये दोनों आभूषण तो है ही, परन्तु इन दोनों से परे भी है । इस दृष्टि से, समस्त नामरूपों का सारतत्त्व होने से परमात्मा व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही है, और अपने स्वरूप की दृष्टि से इन दोनों से परे अक्षर स्वरूप है । वह, अक्षरतत्त्व चैतन्य स्वरूप है, जो स्थूल और सूक्ष्म दोनों का प्रकाशक है । इसी अक्षर ने यह विराट–रूप धारण किया है, जिसकी स्तुति अर्जुन कर रहा है ।

प्रस्तुत खण्ड, विश्व के सभी धर्मों में उपलब्ध सार्वभौमिक प्रार्थनाओं का प्रतिनिधित्व करता है । किसी भी धर्म या जाति के लोगों को इसके प्रति कोई आक्षेप नहीं हो सकता, क्योंकि सनातन सत्य के विषय में जो कुछ भी प्रतिपादित सिद्धान्त है, उसका ही सार यह खण्ड है । यह भक्त के हृदय को प्रायः अप्रमेय की सीमा तक ऊँचा उठा सकता है । भक्त उसे साक्षात् अनुभव कर सकता है । अर्जुन भगवान् की स्तुति करते हुए कहता है :

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

आप आदिदेव और पुराण (सनातन) पुरुष हैं । आप इस जगत् के परम आश्रय, ज्ञाता, ज्ञेय, (जानने योग्य) और परम धाम हैं । हे अनन्तरूप आपसे ही यह विश्व व्याप्त है ॥३८॥

'आदिदेव' – आत्मा ही आदिकर्ता है । चैतन्य स्वरूप आत्मा से ही सृष्टि-कर्ता ब्रह्माजी जी उत्पत्ति हुई है । समष्टि मन और बुद्धि से अवच्छिन्न (मर्यादित, सीमित) आत्मा ही ब्रह्माजी कहलाता है ।

'विश्व के परम आश्रय' – सम्पूर्ण विश्व परमात्मा में निवास करता है, इसलिये उसे यहां विश्व का परम आश्रय कहा गया है । जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, 'विश्व' शब्द से केवल स्थूल जगत नहीं समझना चाहिए, वरन् पूर्व श्लोक

में वर्णित सत् और असत् (व्यक्त और अव्यक्त) का सम्मिलित रूप ही विश्व कहलाता है ।

विश्व शब्द को इस प्रकार समझ लेने पर वेदान्त के विद्यार्थियों को इस जीवन का सम्पूर्ण अर्थ समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी । हम शरीर, मन और बुद्धि, की जड़ उपाधियों के द्वारा जगत् का अनुभव करते हैं । ये स्वतः जड़ होने के कारण उनमें अपना चैतन्य नहीं है । आत्म चैतन्य के सम्बन्ध से ही वे चेतनवत् व्यवहार करने में सक्षम होती हैं ।

वस्तुतः, इन जड़ पदार्थों अथवा उपाधियों की उत्पत्ति आत्मा से नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मा अविकारी है । हम यह भी नहीं कह सकते कि जड़ जगत् की उत्पत्ति किसी अन्य स्वतन्त्र कारण से हुई है, क्योंकि आत्मा ही सर्वव्यापी, एक-मेव अद्वितीय सत्य है । इसलिये, वेदान्त में कहा गया है कि यह विश्व परम सत्य ब्रह्म पर अध्यस्त (अध्यारोपित) है, जैसे भ्रांतिकाल में प्रेत स्तम्भ में अध्यस्त होता है । इस प्रकार की भ्रान्ति में, वह स्तम्भ ही प्रेत और उसकी गति का तथा उससे उत्पन्न हुई प्रतिक्रियाओं का विधान कहलायेगा । वस्तुतः, स्तम्भ के अतिरिक्त भूत का कोई अस्तित्व या सत्यत्व नहीं है । इसी प्रकार यहां अर्जुन परमात्मा का निर्देश अत्यन्त सुन्दर प्रकार से 'विश्व के विधान' कहकर करता है ।

'आप ज्ञाता और ज्ञेय हैं' – चैतन्य ही वह तत्त्व है, जो हमारे अनुभवों को सत्यत्व प्रदान करता है । चैतन्य से प्रकाशित हुए बिना इस जड़ जगत का ज्ञान सम्भव नहीं होता, इसलिए यहां चैतन्यस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण को ज्ञाता कहा गया है । आत्म साक्षात्कार हेतु उपदिष्ट सभी साधनाओं की प्रक्रिया यह है कि इन्द्रियादि के द्वारा विचरित होने वाले मन का ध्यान बाह्य विषयों से निवृत कर उसे आत्म-स्वरूप में स्थिर किया जाय । जब यह मन वृत्तिशून्य हो जाता है, तब शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा का "साक्षात् अनुभवगम्य बोध" होता है । इसलिये आत्मा को यहां 'वेद्य' अर्थात् जानने योग्य तत्त्व कहा गया है ।

'सम्पूर्ण विश्व आपके द्वारा व्याप्त है' – जैसे समस्त मिष्ठान्नों में मधुरता व्याप्त है या तरंगों में जल व्याप्त है, वैसे ही विश्व में परमात्मा व्याप्त है । अभी कहा गया था कि अधिष्ठान के अतिरिक्त अध्यस्त वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं होता है । आत्मा ही वह अधिष्ठान है, जिस पर यह नानाविश्व सृष्टि की प्रतीति हो रही है । इसलिए यहाँ उचित ही कहा गया है कि "आपके द्वारा यह विश्व व्याप्त है ।" यह केवल उपनिषद् प्रतिपादित उस सत्य की ही पुनरुक्ति है कि "अनन्त ब्रह्म सबको व्याप्त करता है, परन्तु उसे कोई व्याप्त नहीं कर सकता है ।"

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ।।३९।।

आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति (ब्रह्मा) और प्रपितामह (ब्रह्मा के भी कारण) हैं; आपके लिए सहस्र बार नमस्कार, नमस्कार है, पुनः आपको बारम्बार नमस्कार, नमस्कार है ।।३९।।

अब तक अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण के पर, अक्षर और निर्गुण स्वरूप का स्तुतिगान कर रहा था । एक उपासक के मन में यह प्रश्न आ सकता है कि इस सर्वातीत निर्गुण स्वरूप सत्य का उसके अपने इष्ट देवता (उपास्य) के साथ निश्चित रूप से क्या सम्बन्ध है । प्राचीनकाल में प्रायः प्राकृतिक शक्तियों के अधिष्ठातृ देवताओं की श्रद्धाभक्तिपूर्वक आराधना, प्रार्थना और उपासना की जाती थी ।

वेदकालीन साधकगण अन्तःकरण की शुद्धि तथा एकाग्रता के लिये जिन देवताओं की उपासना करते थे, उनमें प्रमुख थे वायु, यम, अग्नि, वरुण (जल का देवता), शशाङ्क (चन्द्रमा), और सृष्टिकर्ता प्रजापति । इन देवताओं का आह्वान स्तोत्रगान, पूजा तथा यज्ञयागादि के द्वारा किया जाता था । उस काल के शिक्षित वर्ग के लोगों के मन को -भी ईश्वर के यही रूप इष्ट थे। प्रायः सर्वत्र, लोग 'साधन' को ही 'साध्य' (लक्ष्य) समझने की गलती करते हैं । परन्तु, यहां अर्जुन प्रामाणिक ज्ञान के आधार पर यह दर्शाता है कि वस्तुतः अनन्त तत्त्व ही समस्त देवताओं का मूल स्वरूप है । तथापि उस अनन्त को अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में देखता है ।

वेदान्त का यह सिद्धान्त है कि एक ही परमात्मा विविध उपाधियों के द्वारा व्यक्त होकर इन देवताओं के रूप को प्राप्त होता है । वर्तमान काल में भी भक्तगण अपने इष्ट देवता के रूप में परमेश्वर का आह्वान कर अपने इष्ट को ही देवाधिदेव कहते हैं । इस देवेश को ही अर्जुन प्रणाम करता है ।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामित विक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ।।४०।।

हे अनन्तसामर्थ्य वाले भगवन् ! आपके लिये अग्रतः और पृष्ठतः नमस्कार है, हे सर्वात्मन् ! आपको सब ओर से ही नमस्कार है। आप अमित विक्रमशाली हैं और आप सबको व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप सर्वरूप हैं ॥४०॥

परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है – अन्तर्बाह्य, अध-ऊर्ध्व, समस्त दिशाओं में व्याप्त है। उससे रिक्त कोई स्थान नहीं है। यह कोई अकेले अर्जुन का मौलिक विचार नहीं है। उपनिषद् के महान् ऋषिगण तो इस अनुभव में अखण्ड वास करते थे।

जिस परमात्मा को अर्जुन अपने मन से सब दिशाओं में प्रणाम करता है, वह परमात्मा न केवल आकाश के समान सर्वव्यापक ही है, वरन वह सम्पूर्ण सामर्थ्य एवं विक्रम का भी स्रोत है। जहाँ कहीं भी कार्य करने की प्रेरणा या सफलता पाने की क्षमता दृष्टिगोचर होती हैं, वह सब अनन्तवीर्य और अमितविक्रम परमात्मा की ही एक झलक है, किरण है। परमात्मा सत्स्वरूप से सर्वत्र समस्त वस्तुओं और प्राणियों में विद्यमान है। क्योंकि सत् के बिना किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता, इसलिए, वस्तुतः परमात्मा ही सर्वरूप है। जल ही सब तरंगें हैं और मिट्टी ही सब घट है।

क्योंकि आपके माहात्म्य के अज्ञान के कारण, पूर्व में मैंने आपके प्रति अपराध किया है, इसलिए :

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहार शैय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षम्
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

हे भगवन् ! आपको सखा मानकर आपकी इस महिमा को न जानते हुए मेरे द्वारा प्रमाद से अथवा प्रेम से भी "हे कृष्ण ! ह यादव ! हे सखे !" इस प्रकार जो कुछ बलात् कहा गया है ॥४२॥

और, हे अच्युत ! जो आप मेरे द्वारा हँसी के लिए बिहार, शय्या, आसन और भोजन के समय अकेले में अथवा अन्यों के समक्ष भी अपमानित किए गए हैं, उन सबके लिए अप्रमेय स्वरूप आप से मैं क्षमा याचना करता हूं ।।४२।।

जब कोई सामान्य व्यक्ति अकस्मात् ही परमात्मा के माहात्म्य का परिचय पाता है, तब उसके मन में जिन भावनाओं का निश्चित रूप से उदय होता है, उन्हें इन दो सुन्दर श्लोकों के द्वारा नाटकीय यथार्थता के साथ सामने लाया गया है। अब तक अर्जुन, भगवान् श्रीकृष्ण को एक बुद्धिमान् गोपाल से अधिक कुछ नहीं समझता था, जिसे उसने बड़ी उदारता से अपनी राजमैत्री का आश्रय लाभ दिया था। परन्तु, अब श्रीकृष्ण के अनन्तस्वरूप का वास्तविक परिचय पाकर अर्जुन में स्थित जीवभाव उनके समक्ष दृढ़ निष्ठा एवं सम्मान के साथ प्रणिपात करके उनसे दया और क्षमा की याचना करता है।

इन दो श्लोकों में अत्यन्त घनिष्टता का स्पर्श है। यहां बौद्धिक दार्शनिक चिन्तन का घनिष्ठ परिचय के भावुक पक्ष के साथ सुन्दर संयोग हुआ है। गीता का प्रयोजन ही यह है कि वेद प्रतिपादित सत्यों की सुमधुर ध्वनि का व्यावहारिक जगत् की सुखद लय के साथ मिलन कराया जाये। घनिष्ठ परिचय के इन भावुक स्पर्शों के द्वारा व्यास जी की कुशल लेखनी, वेदान्त के विचारोत्तेजक महान् सत्यों को, अचानक, अपने घर की बैठक में होनेवाले वार्तालाप के परिचित वातावरण में ले आती है। एक घनिष्ट मित्र के रूप में प्रमाद या प्रेमवश अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण की महिमा को न जानते हुये उन्हें प्रिय नामों से सम्बोधित किया होगा, जिसके लिये उनसे अब वह क्षमा याचना करता है।

क्योंकि :

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ।।४३।।

आप इस चराचर जगत् के पिता, पूजनीय और सर्वश्रेष्ठ गुरु हैं। हे अप्रतिम प्रभाव वाले भगवन् ! तीनों लोकों में आपके समान भी कोई नहीं है, तो फिर आपसे अधिक श्रेष्ठ कैसे होगा ? ।।४३।।

हम यहां देखते हैं कि भावावेश के कारण अवरुद्ध कण्ठ से अर्जुन श्रीकृष्ण के

प्रति अत्यादर के साथ कहता है कि "आप इस चराचर जगत् के पिता हैं।" निःसन्देह ही, जाग्रत स्वप्न, और सुषुप्ति अवस्थाओं के अनुभव लोक भी, आत्मतत्त्व की स्थूल, सूक्ष्म और कारण उपाधियों के द्वारा अभिव्यक्ति से ही विद्यमान प्रतीत होते हैं। उन सबका प्रकाशक आत्मचैतन्य सर्वत्र एक ही है।

स्वाभाविक है कि अर्जुन के कथन के अनुसार भगवान् अप्रतिम प्रभाव से सम्पन्न हैं और उनके समान भी जब कोई नहीं है, तो उनसे अधिक श्रेष्ठ कौन हो सकता है?

क्योंकि वास्तविकता ऐसी है :

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः पियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

इसलिए हे भगवन्! मैं शरीर के द्वारा साष्टांग प्रणिपात करके स्तुति के योग्य आप ईश्वर को प्रसन्न होने के लिए प्रार्थना करता हूँ। हे देव! जैसे पिता पुत्र के, मित्र अपने मित्र के और प्रिय अपनी प्रिया के (अपराध को क्षमा करता है), वैसे ही आप भी मेरे अपराधों को क्षमा कीजिये ॥४४॥

अर्जुन स्वयं को सर्वशक्तिमान् भगवान् के समक्ष पाकर अपने में वाक्कौशल और तर्क करने की सूक्ष्म क्षमता को व्यक्त हुआ पाता है। यद्यपि हिन्दुओं में पूजनीय व्यक्ति का चरणस्पर्श करके अभिवादन किया जाता है, जो कि शारीरिक कर्म है; किन्तु उसका जो वास्तविक अभिप्राय है उसे हृदय के आन्तरिक भाव के रूप में प्राप्त करना होता है। अहंकार के समर्पण के द्वारा आध्यात्मिक उन्नति को प्राप्त करना ही वास्तविक प्रणाम या साष्टांग प्रणिपात है। अनात्म जड़ उपाधियों के साथ 'तादात्म्य से उत्पन्न अहंकार और तत्केन्द्रित मिथ्या कल्पनाओं के कारण अपने ही हृदयस्थ आत्मा का हमें साक्षात् अनुभव नहीं हो पाता है। जिस मात्रा में ये मिथ्या धारणाएँ नष्ट हो जाती हैं, उसी मात्रा में निश्चित ही, हम आत्मा के शान्त सौन्दर्य का अनुभव कर सकते हैं जो कि हमारा शुद्ध स्वरूप ही है। वास्तव में देखा जाये, तो अहंकार के इस समर्पण में हम अपनी अशुद्ध पाशविक वासनाओं की उस गठरी को ही अर्पित कर रहे होते हैं, जो हमारी मूढ़ता और कामुकता के कारण दुर्गन्धित होती है! अतः स्वाभाविक है कि, जब कोई भक्त, भक्ति और प्रपत्ति की भावना से

भगवान् के चरणों के समीप पहुंचता है, तो अपनी अशुद्धियों के लिए क्षमा याचना करता है।

यहाँ अर्जुन भगवान् से अनुरोध करता है कि वे उसके किए अपराधों को ऐसे ही सहन करे, जैसे 'पिता पुत्र के', 'मित्र अपने मित्र के', और 'प्रिय अपने प्रिया के' अपराधों को सहन करता है। इन तीन उदाहरणों में वे सब घृष्टतापूर्ण अपराध सम्मिलित हो जाते हैं, जो एक मनुष्य अज्ञानवश अपने प्रभु भगवान् के प्रति कर सकता है।

अर्जुन भगवान् से सामान्य रूप धारण करने तथा इस सर्वातीत, सार्वभौमिक भयंकर रूप का त्याग करने के लिए प्रार्थना करता है :

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

मैं आपके इस अदृष्टपूर्व रूप को देखकर हर्षित हो रहा हूँ और मेरा मन भय से अतिव्याकुल भी हो रहा हैं। इसलिये हे देव ! आप उस अपने पूर्वकाल को ही मुझे दिखाइये। हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न होइये ॥४ ॥

प्रत्येक भक्त अपने इष्ट देवता के रूप में भगवान् से प्रेम करता है। जब उस 'आकार' के द्वारा वह भगवान् के अनन्त, परात्पर, 'निराकार' स्वरूप का साक्षात्कार करता है, तब निःसन्देह वह परमानन्द का अनुभव करता है, किन्तु उसी क्षण वह भय से भी अभिभूत हो जाता है।अध्यात्म साधना करने वाले सभी साधकों का प्रारम्भिक अवस्था में यही अनुभव होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, साधना के फलस्वरूप प्राप्त आन्तरिक शान्ति परमानन्द दायक होती है, परन्तु अचानक साधक के मन में विचित्र भय समा जाता है, जो उसे पुनः देहभाव को प्राप्त कराकर मन के विक्षेपों का कारण बनता है।

आत्मानुभव के उदय पर यह परिच्छिन्न जीव अपने बन्धनों से मुक्त होकर, 'अदृष्टपूर्व' आनन्दलोक में प्रवेश करता है, जहां वह अपनी ही विशालता और प्रभाव का अनुभव कर प्रसन्न हो जाता है। इसी बात को अर्जुन दर्शाता है कि "ऐसे रूप को देखकर, जो मैंने पूर्व कभी देखा नहीं था, मैं हर्षित हो रहा हूँ।" परन्तु प्रारम्भिक प्रयत्नों में एक साधक में यह सामर्थ्य नहीं होती कि वह अपने मन को दीर्घकाल तक वृत्तिशून्य स्थिति में रख सके। ध्यान में निश्चल प्रतीत हो रहा उसका मन पुनः

जागृत होकर क्रियाशील हो जाता है। साधकों का यह अनुभव है कि ऐसे समय मन में जो सर्वप्रथम वृत्ति उठती है वह 'भय' की ही होती है। निराकार अनुभव से भयभीत होकर मन पुनः शरीरभाव में स्थित हो जाता है। ऐसे अवसरों पर भक्तजन प्रेम और भक्ति के साथ अपने साकार इष्टदेव को अपने चंचल मन्दस्मित के रूप में व्यक्त होने के लिए प्रार्थना करते हैं। वे अपने इष्ट को पुनः सस्मित और कोमल तथा प्रेमपूर्ण दृष्टि और संगीतमय शब्दों के साथ देखना चाहते हैं।

अर्जुन श्रीकृष्ण को जिस रूप में देखना चाहता था, उसका वर्णन वह अगले श्लोक में करता है :

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तम्
इच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ।।४६।।

मैं आपको उसी प्रकार मुकुटधारी, गदा और चक्र हाथ में लिए हुए देखना चाहता हूँ। हे विश्वमूर्ते ! हे सहस्रबाहो ! आप उस चतुर्भुजरूप के ही बन जाइए ।।४६।।

यहां अर्जुन अपनी इच्छा को स्पष्ट शब्दों में प्रदर्शित करता है कि, "मैं आपको पूर्ववत् देखना चाहता हूँ।" वह भगवान् के विराट् रूप को देखकर भयभीत हो गया है, जो उन्होंने सम्पूर्ण विश्व के साथ अपने एकत्व को दर्शाने के लिए धारण किया था।

वेदान्त द्वारा प्रतिपादित निर्गुण, निराकार तत्त्व या समष्टि के सिद्धान्त का जब प्रत्यक्ष अनुभव किया जाता है, तो विरले लोगों में ही वह बौद्धिक धारणा शक्ति होती है कि वे उस सत्य को उसकी पूर्णता में समझकर उसका ध्यान कर सकते हैं। यदि कभी बुद्धि उसे धारण कर भी पाती है, तो प्रायः भक्त का हृदय उसके साथ अधिक काल तक तादात्म्य नहीं बनाये रख पाता है। मन के स्तर पर सत्य को केवल रूपकों के द्वारा ही समझकर उसका आनन्द अनुभव किया जा सकता है, सीधे ही उसके पूर्ण वैभव के द्वारा कभी नहीं।

इस श्लोक में अर्जुन भगवान् वासुदेव के सौम्य रूप को बताता है, जो भागवत के भगवान् विष्णु का पारम्परिक रूप है। सब पुराणों में ईश्वर का वर्णन रूपक की भाषा में करते हुये उसे चतुर्भुज के रूप में चित्रित किया गया है। शरीर

शास्त्र के विद्यार्थियों को यह कोई प्रकृति की असाधारण निर्मिति प्रतीत हो सकती है। हम यह भूल जाते हैं कि वास्तव में यह सत्य का केवल सांकेतिक रूपक है।

भगवान् की ये चार भुजाएं अन्तःकरण चतुष्टय अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के प्रतीक हैं।

पुराणों में ही चतुर्भुजधारी भगवान् का वर्ण नील कहा गया है तथा वे पीताम्बरधारी हैं अर्थात् वे पीत वस्त्र धारण किये हुए हैं। नीलवर्ण से अभिप्राय: उनकी अनन्तता से है; असीम वस्तु सदा नीलवर्ण प्रतीत होती है, जैसे ग्रीष्म ऋतु का निरभ्र आकाश अथवा गहरा सागर। पृथ्वी का वर्ण है पीत। इस प्रकार भगवान् विष्णु के रूप का अर्थ यह हुआ कि अनन्त परमात्मा परिच्छिन्नता को धारण कर अन्तः-करण चतुष्टय के द्वारा जीवन का खेल खेलता है।

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि सभी धर्मों में ईश्वर का वर्णन एक ही प्रकार से किया गया है। वह परमेश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। ईश्वर के बाहुबल से ही मनुष्य सफलता प्राप्त करता है, इसलिये सर्वशक्तिमान् भगवान् का निर्देश चतुर्भुजधारी के रूप में ही किया जा सकता है। भगवान् विष्णु शंखचक्र-गदापद्मधारी हैं। शंखनाद के द्वारा भगवान् सब को अपने समीप आने का आह्वान करते हैं। यदि मनुष्य अपने हृदय के श्रेष्ठ भावना रूपी शंखनाद को अनसुना कर देता है, तो दुःख के रूप में उस पर गदा का आघात होता है। इतने पर भी यदि मनुष्य अपने में सुधार नहीं लाता है, तो अन्तिम परिणाम है चक्र के द्वारा शिरच्छेद अर्थात् परमपुरुषार्थ की अप्राप्ति रूप नाश। इसके विपरीत, यदि कोई मनुष्य दिव्य जीवन का आह्वान सुनकर उसका पूर्ण अनुकरण करता है, तो उसे पद्म अर्थात् कमल की प्राप्ति होती है। हिन्दू धर्म में कमल पुष्प आध्यात्मिक पूर्ण एवं शान्ति का प्रतीक है। भारतीय संस्कृति में यह सुख-समृद्धि का भी प्रतीक है। पाश्चात्य देशों में शान्ति का प्रतीक शुभ्र कपोत माना जाता है।

संक्षेप में, अर्जुन चाहता है कि भगवान् अपने सौम्यरूप और शान्त भाव में प्रकट हों। वेदान्त के प्रारम्भिक और नवदीक्षित विद्यार्थियों के लिये सतत सूक्ष्म दार्शनिक विचारों की गति बनाये रख पाना कठिन होता है। बुद्धि की ऐसी थकान भरी अवस्था में, उत्साही साधकों के लिए ऐसे विश्वसनीय विश्राम-स्थल की आव-श्यकता होती है, जहां विश्राम करकें वे पुनः नवचैतन्य से युक्त हो सकते हों। यह शान्ति-की शय्या है-भगवान् का सगुण, साकार और सौम्यरूप।

अर्जुन को भयभीत देखकर, भगवान् अपने विराट रूप का उपसंहार करके मधुर वचनों से उसे आश्वस्त करते हुए कहते हैं :

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

हे अर्जुन ! तुम पर प्रसन्न होकर मैंने अपनी योगशक्ति (आत्मयोगात्) के प्रभाव से यह अपना परम तेजोमय, सबका आदि और अनन्त विश्वरूप तुझे दर्शाय है, जिसे तुम्हारे पूर्व किसी ने नहीं देखा है ॥४७॥

स्वयं भगवान् यहां स्वीकार करते हैं कि उनके विश्वरूप का दर्शन कर पाना कोई सभी भक्तों का विशेषाधिकार नहीं है । असीम कृपा के सागर भगवान् श्रीकृष्ण के विशेष अनुग्रह के रूप में अर्जुन इस विरले लाभ का आनन्द अनुभव कर सका है । वे यह भी विशेष रूप से कहते हैं कि, "यह मेरा तेजोमय अनन्त विश्वरूप तुम्हारे पूर्व किसी ने नहीं देखा है ।"

इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि गीता के रचयिता महर्षि व्यास, यहां किसी नये दर्शन की स्थापना और व्याख्या कर रहे हैं, जिसकी सहायता वे भगवान् से प्रमाणित कराना चाहते हैं । इस कथन का अभिप्राय: केवल इतना ही है कि सार्वभौमिक एकता का यह बौद्धिक परिचय या अनुभव किसी व्यक्ति को उन परिस्थितियों में नहीं हुआ, जैसे कि अर्जुन को युद्ध भूमि पर हुआ था । बिखरा हुआ मन, थका हुआ शरीर और मानसिक रूप से पूर्णतया विचलित – यह थी अर्जुन की विषादपूर्ण दयनीय दशा । विविध नामरूपमय सृष्टि की अनेकता में एकता को देख समझ सकने के लिये बुद्धि की एकाग्रता की जो अनुकूल स्थिति आवश्यक होती है, उससे अर्जुन मीलों दूर था । परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण ने अलौकिक योग शक्ति के प्रभाव से उसे आवश्यक 'दिव्यचक्षु' प्रदान करके, संयोग के एक शान्त क्षण में, उसे विश्वरूप का दर्शन करा दिया ।

भगवान् अपने अभिप्राय: को अगले श्लोक में स्पष्ट करते हैं :

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैः
न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

हे कुरुप्रवीर ! तुम्हारे अतिरिक्त इस मनुष्य लोक में किसी अन्य के द्वारा मैं इस रूप में, न वेदाध्ययन और न यज्ञ, न दान और न (धार्मिक) क्रियाओं के द्वारा और न उग्र तपों के द्वारा ही देखा जा सकता हूँ ।।४८।।

यहां भगवान् यह स्पष्ट करते हैं कि किस कारण से अर्जुन इस असाधारण अनुभव को प्राप्त करने में विशेष अभिनन्दन का पात्र है। वे कहते हैं कि केवल वेदों का अध्ययन या यज्ञादि के अनुष्ठान से ही किसी में इस विश्वरूप को देख सकने की पात्रता नहीं आती। उसी प्रकार, दान धर्म या तप के आचरण से प्राप्त पुण्य भी इस दर्शन का अधिकार प्रदान नहीं करता है। संक्षेप में, कठिन, साधनाओं के अभ्यास से भी जिसे पाना दुर्लभ है, उसे अर्जुन ने प्राप्त कर लिया, और इस कारण वह विशेष अभिनन्दन का पात्र है।

भगवान् द्वारा यहां कहे गये वचनों का विपरीत अर्थ करके कोई यह नहीं समझे कि उन्होंने वेदाध्ययनादि की निन्दा की है अथवा ये समस्त साधन अनुपयोगी होने के कारण त्याज्य हैं। तात्पर्य यह है कि अध्ययन, यज्ञ, दान और तप ये सब अन्तःकरण की शुद्धि तथा एकाग्रता प्राप्ति के साधन हैं, जो अनेकता में एकता के दर्शन करने के लिये अत्यावश्यक है। परन्तु कोई भी यह नहीं समझे कि यज्ञदानादि साधन अपने आप में ही पूर्ण हैं या वे ही साध्य हैं। केवल वेदाध्ययन आदि से ही एकत्व का बोध और साक्षात् अनुभव नहीं हो सकता। जब साधन सम्पन्न मन वृत्तिशून्य हो जाता है केवल तभी उसकी उस अन्तर्मुखी स्थिति में यह 'दर्शन' सम्भव होता है। तात्पर्य यह है कि भोजन पाक सिद्धि अपने आप में क्षुधा की शान्ति नहीं कर सकती, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि पाकसिद्धि अनावश्यक है। इस दृष्टि से हमें इस श्लोक का अर्थ समझना चाहिए।

भगवान् आगे कहते हैं :

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ।।४९।।

इस प्रकार मेरे इस घोर रूप को देखकर तुम व्यथा और मूढ़भाव को मत प्राप्त हो। निर्भय और प्रसन्नचित्त होकर तुम पुनः मेरे उसी (पूर्व के) रूप को देखो।।४९।।

जब कभी अवसर प्राप्त होता है, व्यासजी की नाट्यप्रतिभा अपनी पूर्णता को पाने में कभी विफल नहीं होती। यहां ऐसा ही एक कलात्मक चित्र का उदाहरण प्रस्तुत है, जो गीतारूपी पटल पर व्यासजी ने शब्दों के द्वारा चित्रित किया है। अर्जुन के मानसिक विक्षेपों को यहाँ नाटकीय ढंग से भगवान् के इन शब्दों में दर्शाते हैं कि, 'तुम मेरे इस घोर रूप को देखकर भय और मोह को मत प्राप्त हो।'

भगवान् अपने मधुर वचनों एवं व्यवहार से अर्जुन को सांत्वना देते हुए उसके मनः को पुनः शान्त और प्रसन्न करते हैं। भगवान् पुनः अपने मूल रूप को धारण करते हैं, जिसकी सूचना देते हुए वे कहते हैं कि, "पुनः मेरे उसी रूप को देखो।"

यह खण्ड जो भगवान् का अपने पूर्व के सौम्य और शान्त रूप में पुनर्प्रवेश का वर्णन करता है, उससे वेदान्त के विद्यार्थियों को किसी एक महावाक्य[1] का तो स्मरण होना ही चाहिए। समष्टि के घोर विश्वरूप तथा श्रीकृष्ण के सौम्य दिव्य व्यष्टि रूप का एकत्व इस वाक्य द्वारा कि "मेरा वही यह रूप है"[2] अत्यन्त सुन्दर प्रकार से दर्शाया गया है। वस्तुतः जो परम सत्य श्रीकृष्ण की व्यष्टि उपाधि में व्यक्त हो रहा है, वही सत्य विराट-रूप में भी है, जहां वह समस्त नामरूपों के अधिष्ठान के रूप में स्थित है। तरंगों का अधिष्ठान समुद्र है। यदि समुद्र शक्तिशाली और भयंकर घोर और विशाल है। तो स्वयं तरंग लज्जालु और सौम्य, प्रिय तथा आकर्षक होती है।

एक बार फिर दृश्य है हस्तिनापुर का, जहां राजभवन में अन्ध बृद्ध धृतराष्ट्र को संजय बताता है कि :

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

संजय ने कहा–

भगवान् वासुदेव ने अर्जुन से इस प्रकार कहकर, पुनः अपने (पूर्व) रूप

---

१. तत्त्वमसि (वह तुम हो); या अहं ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूं); या अयमात्मा ब्रह्म (यह आत्मा ब्रह्म है); या प्रज्ञानं ब्रह्म (प्रज्ञान ब्रह्म है)।

२. तवेद मे रूपमिदम् – मेरा वही यह रूप है।

को दर्शाया, और फिर, सौम्यरूप महात्मा श्रीकृष्ण ने इस भयभीत अर्जुन को आश्वस्त किया ।।५०।।

यहां संजय अन्ध वृद्ध राजा से इस बात की पुष्टि करता है कि भगवान् ने अपने दिये हुए वचन के अनुसार पुनः सौम्य रूप को धारण किया । वासुदेव शब्द से यह स्पष्ट करते हैं कि वह पूर्व का रूप कौन सा था; – "वह रूप जिसमें श्रीकृष्ण ने वसुदेव के घर जन्म लिया था ।"[1] भगवान् ने पुनः, अर्जुन के परिचित मित्र और गोपियों के घनश्याम कृष्ण का सौम्य और प्रिय रूप धारण किया । भयभीत अर्जुन को वे मधुर वचनों से आश्वस्त करते हैं ।

यहां फिर एक बार हम संजय के शब्दों में उसकी व्याकुलता देखते हैं । वह चाहता है कि धृतराष्ट्र यह देखें कि श्रीकृष्ण ही विश्वेश्वर हैं और वे पाण्डवों के साथ हैं । किन्तु कैसे ? क्या कभी एक अन्धा व्यक्ति 'देख' सकता है ?

फिर रणभूमि का दृश्य है । संजय अर्जुन के शब्दों में सूचित करता है कि :

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ।।५१।।

अर्जुन ने कहा–

हे जनार्दन ! आपके इस सौम्य मनुष्य रूप को देखकर अब मैं शांतचित्त हुआ अपने स्वभाव को प्राप्त हो गया हूं ।।५१।।

देशकालातीत वस्तु को ग्रहण तथा अनुभव करने के लिए आवश्यक पूर्व तैयारी के अभाव के कारण अकस्मात् समष्टि के इतने विशाल विराट् रूप को देखकर स्वाभाविक है कि अर्जुन भय और मोह से ग्रस्त हो गया था । परन्तु यहां वह स्वीकार करता है कि भगवान् के शान्त, सौम्य मनुष्य रूप को देखकर वह शान्तचित्त होकर अपने स्वभाव को प्राप्त हो गया है ।

अब भगवान् स्वयं ही ईश्वर की भक्ति का वर्णन अगले श्लोक में करते हैं ।

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ।।५२।।

---

१. श्री शंकराचार्य अपने भाष्य में स्पष्ट करते हैं कि, 'वसुदेवगृहे जातंरूपम् ।'

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।।५३।।

श्रीभगवान् ने कहा—

मेरा यह रूप देखने को मिलना अति दुर्लभ है, जिसको कि तुमने देखा है। देवतागण भी सदा इस रूप के दर्शन के इच्छुक रहते हैं ।।५२।।

न वेदों से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से ही मैं इस प्रकार देखा जा सकता हूं, जैसा कि तुमने मुझे देखा है ।।५३।।

भगवान् के विश्वरूप का दर्शन मिलना किसी के लिए भी सुलभ नहीं है। दर्शन का यह अनुभव न वेदाध्ययन से और न तप से, न दान से और न यज्ञ से ही प्राप्त हो सकता है। यहां तक कि स्वर्ग के निवासी देवतागण भी अपनी विशाल बुद्धि, दीर्घ जीवन और कठिन साधना के द्वारा भी इस रूप को नहीं देख पाते और सदा उसके लिये लालायित रहते हैं। ऐसा होने पर भी भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने इस विराट् और आश्चर्यमय रूप को अपने मित्र अर्जुन को केवल अनुग्रह करके दर्शाया जैसा कि स्वयं उन्होंने ही स्वीकार किया था।

हम इस बात पर आश्चर्य करेंगे कि किस कारण से भगवान् अपनी कृपा की वर्षा किसी एक व्यक्ति पर तो करते हैं और अन्य पर नहीं ? निश्चय ही यह एक सर्वशक्तिमान् द्वारा किया गया आकस्मिक वितरण नहीं हो सकता, जो स्वच्छन्दता-पूर्वक, निरंकुश होकर बिना किसी नियम या कारण के कार्य करता रहता हो ! क्योंकि उस स्थिति में भगवान् पक्षपात तथा निरंकुशता के दोषी कहे जायेंगे, जो कि उपयुक्त नहीं है।

श्लोक में इसका युक्तियुक्त स्पष्टीकरण किया गया है कि किस कारण से बाध्य होकर भगवान् अपनी विशेष कृपा की वर्षा कभी किसी व्यक्ति पर करते हैं, और सदा सब के ऊपर नहीं :

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ।।५४।।

परन्तु हे परन्तप अर्जुन ! अनन्य भक्ति के द्वारा मैं तत्त्वतः 'जानने', 'देखने' और 'प्रवेश' करने के लिए (एकी भाव से प्राप्त होने के लिए) भी, शक्य हूँ ! ।।५४।।

भक्ति के विषय में आचार्य शंकर कहते हैं कि, 'सभी मोक्ष साधनों में भक्ति ही श्रेष्ठ है; और यह भक्ति स्वस्वरूप के अनुसन्धान के द्वारा आत्मस्वरूप बन जाता है।'

प्रिय के साथ तादात्म्य ही प्रेम का वास्तविक मापदण्ड है। भक्त अपने व्यक्तिगत जीवभाव के अस्तित्व को विस्मृत कर, जब प्रेम में अपने प्रिय भगवान् के साथ तादात्म्य को प्राप्त हो जाता है, तब उस प्रेम की परिसमाप्ति पराभक्ति या अनन्य भक्ति कहलाती है। आत्मज्ञान का जिज्ञासु आध्यात्मिक विधान के अनुसार उपाधियों के साथ अपने निम्नस्तर के तादात्म्य को त्यागने के लिए बाध्य होता है। अनात्मा के तादात्म्य को त्यागने पर ही शुद्ध आत्मस्वरूप की पहचान हो सकती है।

केवल वे साधकगण, जो इस जगत् को एक सूत्र में धारण करने वाले सत्य के साथ तादात्म्य कर सकते हैं, वे ही मुझे 'इस रूप में' अर्थात् विराट-रूप में अनुभव कर सकते हैं।

जिन तीन क्रमिक सोपानों में सत्य का साक्षात्कार होता है, उसका निर्देश भगवान् इन तीन शब्दों से करते हैं – जानना, देखना और प्रवेश करना। सर्व प्रथम एक साधक को अपने साध्य तथा साधन का बौद्धिक ज्ञान आवश्यक होता है, जिसे यहां 'जानना' शब्द से सूचित किया गया है; और इसका साधन है 'श्रवण'। इस प्रकार कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेने पर मन में सन्देह उत्पन्न होते हैं इन सन्देहों की निवृत्ति के लिए प्राप्त ज्ञान पर युक्तिपूर्वक 'मनन' करना अत्यावश्यक होता है। सन्देहों की निवृत्ति होने पर तत्त्व का 'दर्शन' (देखना) होता है। तत्पश्चात् निदिध्यासन के अभ्यास से मिथ्या उपाधियों के साथ तादात्म्य को सर्वथा त्यागकर आत्मस्वरूप के साथ एक रूप हो जाना ही उसमें 'प्रवेश' करना है। आत्मा का यह अनुभव स्वयं से भिन्न किसी वस्तु का नहीं, वरन् अपने स्वस्वरूप का है। 'प्रवेश' शब्द से साधक और साध्य के एकत्व का बोध कराया गया है। स्वप्नद्रष्टा के स्वाप्निक दुःखों का तब अन्त हो जाता है, जब वह जाग्रत पुरुष में 'प्रवेश' करके स्वयं जाग्रत पुरुष बन जाता है।

स्वयं भगवान् ही अपनी प्राप्ति का उपाय बताते हैं :

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

हे पाण्डव ! जो पुरुष मेरे लिए ही कर्म करने वाला है, और मुझे ही परम लक्ष्य मानता है, जो मेरा भक्त है तथा संगरहित है, जो भूतमात्र के प्रति निर्वैर है, वह मुझे प्राप्त होता है ॥५५॥

अर्जुन ने यह सुना कि अनन्यभक्ति के द्वारा कोई भी भक्त, भगवान् के समष्टि वैभव को न केवल पहचान ही सकता है, वरन् स्वयं में ही उसका साक्षात् अनुभव भी कर सकता है। तब पाण्डव राजपुत्र के मुख पर उस अनुभव या पद को प्राप्त करने की उत्सुकता दिखाई दी। यद्यपि उसने स्पष्ट प्रश्न नहीं किया तथापि उसके मुख के भाव से ही उसे समझकर भगवान श्रीकृष्ण यहां वर्णन करते हैं कि कोई साधक जीवन में इस पूर्णत्व को कैसे प्राप्त कर सकता है।

किसी जीव को ईश्वरत्व प्राप्त करने की श्रीकृष्ण द्वारा उपदिष्ट योजना के पांच अंग हैं। उन पांच अंगों या आवश्यक गुणों को इस श्लोक में बताया गया है। वे गुण हैं – (१) जो ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करता है, (२) जिसका परम लक्ष्य ईश्वर ही है, (३) जो ईश्वर का भक्त है, (४) जो आसक्तियों से रहित है, तथा (५) जो भूतमात्र के प्रति वैरभाव से रहित है।

इन पांच आवश्यक गुणों में आत्मसंयम की सम्पूर्ण साधना का सारांश दिया गया है। ईश्वर के अखण्ड स्मरण से ही समस्त उपाधियों के कर्मों में अनासक्ति का भाव दृढ़ होता है। किसी व्यक्ति के प्रति वैरभाव तभी होता है, जब हम उसे पराया समझते हैं। मेरे ही दोनों हाथों के मध्य कोई वैरभाव नहीं हो सकता है। आत्मैकत्व के बोध से जब सर्वत्र एकता का दर्शन और अनुभव होता है, केवल तभी समस्त भूतों के प्रति पूर्ण निर्वैरभाव प्राप्त हो सकता है।

मन और बुद्धि के स्तर पर सर्वथा अनाशक्ति होना असंभव है। मन और बुद्धि किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति आसक्ति के बिना नहीं रह सकते हैं। इसलिये एक साधक, सर्वप्रथम, ईश्वरार्पण की भावना के द्वारा विषयाशक्ति को त्यागना सीखता है, और तत्पश्चात् अपने मन को भक्ति के साथ ईश्वर में स्थिर कर देता है। इस अंग की पूर्णता के लिए पूर्व कथिक गुण निश्चय ही सहायक होते हैं।

इस प्रकार, सम्पूर्ण योजना का पुनरावलोकन करने पर ज्ञात होगा कि वह पूर्ण मनोवैज्ञानिक होने के कारण सर्वथा स्वीकार्य है। प्रत्येक उत्तर अंग अपने पूर्व अंग से पोषित होता है। इस श्लोक से यह भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि अध्यात्म के साधक की महान् पवित्र तीर्थयात्रा ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने से प्रारम्भ होती है। तत्पश्चात् स्वयं ईश्वर ही उसके जीवन का परम लक्ष्य बन जाता है। इसका परिणाम होगा ईश्वर के प्रति परम प्रेम। स्वाभाविक है कि जगत् की अनित्य, परिच्छिन्न वस्तुओं के साथ उसकी आसक्ति समाप्त हो जायेगी और वह आत्मा का दर्शन कर सकेगा। जब स्वयं आत्मस्वरूप ही बनकर वह स्वय को सर्वत्र, सब भूतों में पहचानेगा, तब उसका किसी भी प्राणी से किसी प्रकार का भी वैर नहीं होगा।

गीता के अनुसार साधना के द्वारा प्राप्त आत्मसाक्षात्कार की पूर्णता की

कसौटी है – सबसे प्रेम और किसी से द्वेष नहीं होना।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नाम एकादशोऽध्यायः ॥

इस प्रकार श्रीकृष्णार्जुनसंवाद के रूप में ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रस्वरूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् का विश्वरूपदर्शनयोग नामक ग्यारहवां अध्याय समाप्त होता है।

इस अध्याय का "विश्वरूपदर्शनयोग" यह नाम सार्थक है। वेदान्तशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली के अनुसार यहां प्रयुक्त 'विश्वरूप' शब्द का वास्तविक अर्थ 'विराट्-रूप' है। आत्मा एक 'व्यष्टि स्थूल देह' के साथ तादात्म्य को प्राप्त होकर जाग्रत अवस्था की घटनाओं का अनुभव करता है। इस अवस्था में स्थित आत्मा को वेदान्त में 'विश्व' कहा जाता है। वही आत्मा समष्टि स्थूल देह' – अर्थात् ब्रह्माण्ड के साथ तादात्म्य प्राप्त कर 'विराट्' कहलाता है। यद्यपि यहां भगवान् ने अपना विराट्-रूप दिखाया है, तथापि इस अध्याय का नाम विश्वरूपदर्शनयोग है। इससे विश्व और विराट् के परमार्थिक एकत्व का बोध होता है।

ॐ

द्वादश अध्याय

भक्तियोग

एक क्षत्रिय वीर पुरुष के रूप में अर्जुन के मूल स्वभाव को पूर्णतया जानते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने, पूर्व अध्याय के अन्तिम भाग में[1] उसकी राजकीय महत्त्वाकांक्षा को जागृत किया था। एक सच्चे वीर राजा के लिये श्रेष्ठतर वैभव को पाने के मोह का संवरण करना अत्यन्त कठिन होता है। जहां कहीं राज्य विस्तार के उपयुक्त क्षेत्र को अथवा अधिक वैभवशाली लाभ को वह देखता है, तो वह अपने लोभ का संवरण नहीं कर पाता है। वह युद्ध द्वारा उस पर विजय प्राप्त करके अपने अधीन करना चाहता है। उसकी कामना एकछत्र साम्राज्य की स्थापना करने की होती है। अमित पराक्रम के अपने क्षत्रिय मित्र से ऐसी ही प्रतिक्रिया की अपेक्षा करते हुए भगवान् ने न केवल अपनी दिव्य विभूतियों और विराट्-रूप को ही दर्शाया वरन् उन्होंने यह भी कहा कि 'अनन्यभक्ति के द्वारा कोई भी भक्त मुझे जानने, देखने और मुझमें प्रवेश करने में समर्थ हो सकता है।' इस कथन का अर्जुन के मन पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है, और वह इस आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करने का निश्चय करता है।

मानसिक दृष्टि से अर्जुन को इस प्रकार की महत्वाकांक्षा के लिये पहिले से ही तैयार किया गया था और उसे वह दैवी प्रेरणा भी प्राप्त थी, जिसके द्वारा इस परम पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये वह कोई भी त्याग करने और प्रत्येक संभव प्रयत्न करने के लिये तत्पर था। हमने पूर्व के दो अध्यायों में देखा कि किस प्रकार अर्जुन को अपने रथ-सारथि श्रीकृष्ण को परमेश्वर मानने में संकोच हो रहा था। भगवान् ने नवें अध्याय में जो यह दार्शनिक सिद्धान्त कहा था कि, 'मैं उनमें नहीं हूं, वे मुझ में स्थित हैं', अर्जुन इसका विश्लेषणात्मक स्पष्टीकरण चाहता था। अतः श्रीकृष्ण ने उसे अपनी दिव्य विभूतियों का अर्थात् एक आत्मा का व्यष्टि उपाधियों में विद्यमान अस्तित्व का बोध कराया। परन्तु इस वर्णन मात्र से बुद्धिमान अर्जुन के मन में स्थित संशय की सर्वथा निवृत्ति नहीं हो सकी।

---

१. गीता अध्याय ११–५४.

स्वाभाविक ही है कि अर्जुन ने उन विभूतियों को एक विश्वरूप में देखने की इच्छा प्रकट की, जिसे भगवान् ने अनुग्रहपूर्वक पूर्ण भी किया। जब वस्तुज्ञान की दोनों प्रक्रियाओं – विश्लेषण और संश्लेषण अथवा सैद्धान्तिक विवेचन और उसके प्रत्यक्ष प्रदर्शन – के द्वारा अर्जुन को तत्त्व का पूर्ण निश्चय हो गया, तब उसनें स्वयं को भगवान् के चरणों में समर्पित कर दिया । अब उसकी एक ही महत्त्वाकांक्षा है कि वह आत्मा को पूर्णतया जानकर स्वयं आत्मस्वरूप बन जाये ।

प्रत्येक व्यक्ति अपने निश्चित आदर्श के अनुरूप बनना और जीना चाहता है। जैसे विचार होते हैं वैसा ही मनुष्य होता है। दृढ़ निश्चय का साधक उस व्यक्ति से श्रेष्ठ होता है, जो केवल अन्धश्रद्धा पूर्वक अपने पुराने व्यसनों के कंटकाकीर्ण मार्ग पर शनैः-शनैः आगे बढ़ता रहता है ।

यह एक तथ्य है कि व्यक्तित्व के स्थूल पक्ष के सन्तुष्ट होने पर ही सूक्ष्म पक्ष अपना प्रभाव दर्शा पाता है। क्षुधा से व्याकुल व्यक्ति का भावुक स्वभाव उसके हृदय को अवरुद्ध कर देता है। क्षुधा शान्त होने पर ही हृदय को वह स्वतन्त्रता प्राप्त होती है कि वह अपने प्रेम और स्नेह को व्यक्त कर सके तथा उनकी सन्तुष्टि की इच्छा करे। शरीर और मन के सन्तुष्ट होने पर ही बुद्धि अपने पूर्ण प्रभाव को दर्शा सकती है। शारीरिक या भाव पक्ष के असन्तुष्ट रहनें पर व्यक्ति की बौद्धिक क्षमताएं न व्यक्त हो पाती हैं, और न विकसित ही हो पाती हैं ।

इन तीनों – शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक पक्षों की सन्तुष्टि होने पर ही मनुष्य के हृदय में स्थित आत्मज्ञान की जिज्ञासा जागृत होकर प्रकट होती है । इस सत्य को 'भक्तियोग' नामक प्रस्तुत अध्याय में बड़ी सुन्दरता से समझाया गया है। जब अर्जुन को बुद्धि से निश्चय और मन से सन्तोष हो जाता है कि गोकुल के गोपाल श्रीकृष्ण वस्तुतः परमेश्वर के लीला अवतार हैं, तब उसका अविश्वास सर्वथा निवृत्त हो जाता है। अब वह आत्मसाम्राज्य को प्राप्त करने की इच्छा को स्वयं में पाता है, जिसके लिए समस्त प्रयतन करने कि लिये वह तत्पर है ।

भगवान् के भयंकर विराट रूप में अर्जुन ने 'भूतकाल' के असंख्य दासों को 'वर्तमान' के छायावृत मार्ग से गुजरते हुए 'भविष्य' के आंगन में पहुचकर महाकाल' से मिलते हुए देखा था — और वह महाकाल स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् ही थे। उसी प्रकार, उस अनन्तरूप में उसने 'यहां' और 'वहाँ' को परस्पर मिलते देखा, और सुदूर के क्षितिजों को 'यहाँ' की गोद में प्रेम से खेलते हुए भी देखा था ! अर्जुन का यह प्रश्न पूछना स्वाभाविक ही है कि वह उस अनन्त स्वरूप निराकार की भक्ति और ध्यान करे अथवा श्रीकृष्ण के विश्वरूप में व्यक्त हुई सगुण, साकार दिव्यता की उपासना करे ।

दसवें और ग्यारहवें अध्यायों में किये गये क्रमशः 'विवेचन और 'प्रदर्शन' से अर्जुन का अविश्वास दूर हो गया था। नवपरिवर्तित राजपुत्र अर्जुन, अब, स्वयं में स्थित आत्मसाम्राज्य पर विजय पाने के लिए अत्यधिक उत्सुक हो जाता है। उसकी महत्त्वाकांक्षा दुर्निवार है। इस साम्राज्य पर निश्चित विजय पाने के लिए गुप्त युद्ध नीति का निर्देश पूर्व अध्याय के अन्तिम श्लोक में दिया गया था। ईश्वरार्पण कर्म, भक्ति और अनासक्ति गीता में वर्णित अधिकृत मार्ग है। इस मार्ग का अनुसरण करने वाले साधक को आश्वासन दिया गया है कि 'वह मुझे ही प्राप्त होगा।'

क्रियाशील पुरुष होने के कारण अर्जुन एक निष्क्रिय दार्शनिक नहीं हो सकता था कि जिसे केवल पुस्तकीय पांडित्य और अर्थहीन विद्वत्ता से ही सतोष हो जाये। केवल बौद्धिक सिद्धान्त का उसे कोई आकर्षण नहीं था। वह वीर योद्धा संघर्ष के क्षेत्र में प्रवेश करके भगवान श्रीकृष्ण द्वारा प्रदर्शित किये गये आत्मवैभव को प्राप्त करने के लिये अधीर हो रहा था। इसलिये, यह अध्याय एक उचित प्रश्न द्वारा प्रारम्भ होता है, जो निश्चयात्मक उत्तर की अपेक्षा रखता है।

वेदों के विद्यार्थी होने के नाते, बाल्यकाल से ही अर्जुन को यह बताया गया था कि परमार्थ सत्यवस्तु नाम और रूप से रहित है और वह इन्द्रिय, मन और बुद्धि की विषय ग्रहण की क्षमताओं के परे है। परन्तु, अर्जुन ने स्वयं ही श्रीकृष्ण का उनके विराट रूप में साक्षात् अनुभव किया था। इस स्थिति में, उसका यह प्रश्न करना स्वाभाविक है कि सत्य के अव्यक्त स्वरूप का ध्यान करना श्रेष्ठ है अथवा व्यक्त रूप का – जो कि भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे दर्शाया था।

अर्जुन का यह प्रश्न धर्म से सम्बन्धित एक विवादास्पद विषय को उठाता है। समय-समय पर ऐसे धर्म संस्थापक और धर्मोपदेशक यहां अवतरित हुए हैं, जिन्होंने सगुण, साकार के द्वारा ईश्वर की पूजा का समर्थन या विरोध किया है। किसी ने उसे उचित सिद्ध किया, तो किसी ने उसे अनुचित कहा। क्या तरंगों के ज्ञान के द्वारा समुद्र को पूर्णतया जाना जा सकता है? अथवा, क्या तरंगों का ज्ञान समुद्र को पहचानने में बाधक बन सकता है? संक्षेप में क्या मूर्तिपूजा युक्तिसंगत है? क्या यह मन को ध्यान काल में अनन्त की ऊंचाई तक उड़ान भरने में सहायता दे सकती है? यदि हाँ तो उसकी निश्चित प्रक्रिया क्या है? प्रस्तुत अध्याय इन सभी प्रश्नों का उत्तर देता है।

विषय का युक्तियुक्त विवेचन करने तथा विस्तृत तथ्य प्रस्तुत करने में गीता शास्त्र किसी भी लौकिक विज्ञान के आधुनिक ग्रन्थों की तुलना में श्रेष्ठ सिद्ध हो सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण को पूर्ण भान है कि वे एक बुद्धिमान अविश्वासी और क्रियाशील स्वभाव के व्यक्ति अर्जुन को उपदेश दे रहे हैं।

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

अर्जुन ने कहा–

जो भक्त, सतत युक्त होकर इस (पूर्वोक्त) प्रकार से आपकी उपासना करते हैं और जो भक्त अक्षर, और अव्यक्त की उपासना हैं करते , उन दोनों में कौन उत्तम, योगवित् हैं ? ॥१॥

यद्यपि भगवद्गीता के दार्शनिक प्रवचन संवाद की शैली में लिखे गये हैं, तथापि उनमें विचारों के क्रमिक विकास की कभी भी उपेक्षा नहीं की गई है । उसमें न केवल एक अध्याय के अन्तर्गत विचारों में संगति है, वरन् एक अध्याय से अन्य अध्यायों के मध्य भी यही संगति देखनें को मिलती है । पूर्व अध्याय की समाप्ति भगवान् के इस आश्वासन के साथ हुई थी कि कोई भी साधक भक्त अनन्यभक्ति के द्वारा ईश्वर के विराट वैभव का स्वयं में साक्षात् अनुभव कर सकता है । इस चुनौती भरे वाक्य ने क्षत्रिय राजपुत्र अर्जुन की महत्त्वाकांक्षा को जगा दिया । जगत् के एक व्यावहारिक पुरुष के रूप में वह जानना चाहता है कि वह परमात्मा के कौन से रूप की उपासना करे ।

यहां प्रश्न बड़ी बुद्धिमत्ता पूर्वक रखा गया है । यह सुविदित है कि जगत् में दो प्रकार के साधक होते हैं, जो वस्तुतः एक ही साध्य को प्राप्त करने के लिए साधनारत होते हैं । कोई साधक परमात्मा के सगुण, साकार व्यक्त रूप की आराधना – उपासना करते हैं, जबकि अन्य साधक निर्गुण, निराकार अव्यक्त का ध्यान करते हैं । दोनों ही निष्ठावान् हैं और अपने-अपने मार्ग पर प्रगति की ओर अग्रसर होते हैं । परन्तु, प्रश्न यह है कि इन दोनों में कौन उत्तम योगवित् या योग–निष्ठ है ।

दर्शनशास्त्र में इन्द्रियगोचर वस्तु को व्यक्त कहते हैं तथा जो वस्तु प्रमाण गोचर नहीं होती, उसे अव्यक्त कहा जाता है । विद्यार्थी दशा में अर्जुन को यह बताया गया था कि परमात्मा अव्यक्त और सर्वव्यापी है । परन्तु, पूर्व अध्याय में ही उसने ईश्वरी विराट रूप का साक्षात् दर्शन किया था । वह उसका व्यक्तिगत अनुभव था । स्वाभाविक ही है कि आध्यात्मिक विकास के लिए मार्गदर्शन का इच्छुक अर्जुन एक उचित प्रश्न पूछता है कि सगुण और निगुण के इन दो उपासकों में कौन साधक श्रेष्ठ है ?

सगुण और निर्गुण में श्रेष्ठता का प्रश्न आज भी विवाद का विषय बना हुआ

है। क्या मूर्तिपूजा के द्वारा ईश्वर का ध्यान और साक्षात्कार किया जा सकता है? क्या कोई भी प्रतीक परमात्मा का सूचक हो सकता है? क्या एक तरंग समुद्र का प्रतीक या प्रतिनिधि बन सकती है?

प्रथम, भगवान् श्रीकृष्ण सगुणोपासना का वर्णन करते हुए कहते हैं :

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ।।२।।

श्रीभगवान् ने कहा--

मुझमें मन को एकाग्र करके नित्ययुक्त हुए जो भक्तजन परम श्रद्धा से युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं, वे, मेरे मत से, युक्ततम हैं अर्थात् श्रेष्ठ हैं ।।२।।

अपने उत्तर के प्रारम्भ में ही भगवान् उन तीन अत्यावश्यक गुणों को बताते हैं, जिनके होने पर ही ईश्वर की भक्ति का निश्चत लाभ मिल सकता है। सामान्यत:, लोगों की यह धारणा है कि 'भक्तिमार्ग' अत्यन्त सरल है। परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि जो साधक अपना मार्ग स्वयं चुनता है, उसके लिये वह मार्ग कठिन नहीं होता है। मार्गों की भिन्नता केवल प्रयुक्त साधनों अर्थात् उपाधियों के कारण ही है। एक नौका के द्वारा ग्रांड-ट्रंक रोड् की यात्रा नहीं की जा सकती है और न हवाई जहाज के द्वारा समुद्र यात्रा, और न ही सायकिल से साठ मील प्रति घंटे की गति से मार्ग तय किया जा सकता है! प्रत्येक वाहन की अपनी सीमाएं हैं। परन्तु किसी भी साधन का बुद्धिमत्ता तथा सावधानीपूर्वक उपयोग करने से गन्तव्य तक पहुंचा जा सकता है। इसी प्रकार आत्मविकास के लिए भी प्रत्येक साधक उपलब्ध शरीर, मन और बुद्धि की उपाधियों में से किसी एक की प्रधानता से 'कर्मयोग' या 'भक्तियोग' या 'ज्ञानयोग' के मार्ग को चुनता है। प्रत्येक साधक को अपना चुना हुआ मार्ग सबसे सरल प्रतीत होता है।

'मन को मुझमें एकाग्र करके' – मन और बुद्धि दोनों ही वृत्तिरूप हैं, जिन्हें सूक्ष्म शरीर कहा जाता है। यह पर्याप्त नहीं है कि मन की वृत्तियां आराम से भगवान् के रूप के आसपास विचरण करती रहें। उन्हें वास्तव में, उस रूप का भेदन करके, गहराई में प्रवेश कर अन्त में, पूर्णत्व के आदर्श के साथ एक रूप हो जाना चाहिए। वह रूप तो पूर्णत्व का केवल प्रतीक होता है। इस प्रक्रिया को यहां 'आवेश्य' शब्द से सूचित किया गया है। इसका अर्थ रूप के साथ 'वृत्ति का स्पर्श'

मात्र नहीं, वरन् रूप का 'भेदन' है। वस्तुतः मनुष्य का मन अपने ध्येय विषय का आकार, सुगन्ध और गुणों की आभा भी धारण करता है, इस प्रकार जब कोई भक्त पूर्ण लगन और प्रेम के साथ भगवान् का ध्यान करता है, तब वह एक व्यक्ति के रूप में क्षणभर के लिए लुप्त हो जाता है और अपने हृदय-के-इष्ट भगवान् की सुन्दरता और आभा को प्राप्त होता है।

'नित्ययुक्त हुए मेरी पूजा (उपासना) करते हैं' – भक्तिमार्ग के द्वारा आत्मविकास के सम्पादन के लिये जो दूसरा गुण भक्त में होना आवश्यक है, वह नित्ययुक्तता है। नित्ययुक्त होने का अर्थ है – नित्य नियमित उपासना के समय आत्मसंयम का होना। मन अपनी बहिर्मुखी प्रवृत्ति के कारण ध्येय को त्यागकर अन्य विषयों में ही विचरण करने लगता हैं। ऐसे मन का ध्यान ध्येय में ही स्थिर करने की कला का ही नाम है, आत्मसंयम। यद्यपि संस्कृत शब्द 'उपासना' का अनुवाद 'पूजा' किया जा सकता है, तथापि उससे अत्यन्त सतही अर्थ नहीं लेना चाहिए। उस शब्द से हम सामान्यतः यन्त्रवत् कर्मकाण्डीय पूजा समझते हैं। वास्तविक उपासना तो परमात्मा के साथ तादात्म्य करनें की आन्तरिक क्रिया है, जिसके द्वारा हम परमात्मस्वरूप बन जाते हैं।

'परा श्रद्धा के साथ युक्त हुए' – साधारणतः श्रद्धा शब्द का अर्थ 'अन्धविश्वास' समझा जाता है, परन्तु वह अनुचित है। श्रद्धा का अर्थ हैं 'किसी अज्ञात वस्तु में मेरा वह विश्वास जिसके द्वारा मुझे वह वस्तु यथार्थ रूप से ज्ञात होती है, जिसमें पहले मेरा केवल विश्वास ही था।' ऐसी श्रद्धा के बिना साधक भक्त, वर्षों के अभ्यास के बाद भी पर्याप्त मात्रा में चित्तशुद्धि और स्वयं का दैवीकरण सम्पादिन नहीं कर सकता है।

इस प्रकार, एक सच्चा भक्त बनने के लिये इस श्लोक में जिन तीन आवश्यक एवं अपरिहार्य गुणों को बताया गया है, वे हैं – (१) परम श्रद्धा (२) उपासना में नित्ययुक्तता और (३) ध्येयस्वरूप में मन की एकाग्रता। इन तीन गुणों से सम्पन्न व्यक्ति को भगवान् युक्ततम मानते हैं।

तो क्या अन्य भक्त युक्ततम नहीं हैं? ऐसी बात नहीं है, किन्तु उनके विषय में जो कहना है, उसे सुनो :

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहितेरताः ॥४॥

परन्तु जो भक्त अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वगत, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और ध्रुव की उपासना करते हैं ।।३।।

इन्द्रिय समुदाय को सम्यक् प्रकार से नियमित करके, सर्वत्र समभाव वाले, भूतमात्र के हित में रत वे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं ।।४।।

पूर्व श्लोकों में सगुणोपासक भक्तों के लिए आवश्यक गुणों का वर्णन करने के पश्चात् अब भगवान् श्रीकृष्ण निर्गुण के उपासकों का वर्णन उपर्युक्त दो श्लोकों में करते हैं ।

'अक्षर' – रूप और गुणों से युक्त सभी वस्तुएं द्रव्य हैं और सभी द्रव्य क्षर अर्थात् नाशवान होते हैं । इन्द्रियों के द्वारा केवल इन द्रव्यों का ही ज्ञान हो सकता है । अत: 'अक्षर' शब्द से यह सूचित किया गया है कि इन्द्रियों के द्वारा परमतत्त्व का ज्ञान कदापि संभव नहीं है ।

'अनिर्देश्य' – जो परिभाषित नहीं किया जा सकता है उसे 'अनिर्देश्य' कहते हैं । सभी परिभाषाएं दृश्य वस्तु के सन्दर्भ में ही दी जाती हैं । अत: जो इन्द्रियों का दृश्य नहीं होता, उसकी न परिभाषा दी जा सकती है और न ही उसे अन्य वस्तुओं से भिन्न करके जाना जा सकता है ।

'सर्वत्रगम्' – जो अनन्त तत्त्व गुण रहित होने से व्यक्त नहीं है, और इसी कारण अनिर्देश्य है, उसको सर्वव्यापी होना आवश्यक है । यदि परमात्मा से कोई स्थान रिक्त हो, तो परमात्मा को आकार विशेष प्राप्त हो जायेगा । और साकार वस्तु विनाशी भी होगी ।

'अचिन्त्यम्' – मन के द्वारा जिस वस्तु का चिन्तन किया जा सकता है, वह दृश्य पदार्थ होने के कारण नाशवान् होगी । इसलिये अविनाशी तत्त्व निश्चित ही अकल्पनीय, अग्राह्य और अचिन्त्य होगा ।

'कूटस्थम् (अविकारी)' – यद्यपि चैतन्यस्वरूप आत्मा वह अधिष्ठान है, जिसके ऊपर सब विकार और परिवर्तन होते रहते हैं, परन्तु वह स्वयं अपरिवर्तनशील और अविकारी ही रहना है । कूट शब्द का अर्थ है निहाई । एक लुहार की दुकान में निहाई पर अन्य लौह खण्डों को रखकर उन पर आघात करके उन्हें विभिन्न आकार दिये जाते हैं, परन्तु निहाई स्वयं अपरिवर्तित ही रहती है । उसी प्रकार चैतन्य के सम्बन्ध से उपाधियों तथा व्यक्तित्व में विकार होता है, किन्तु चैतन्य तत्व कूट के समान अविकारी रहता है ।

'अचलम्' – चलन का अर्थ है वस्तु का देश और काल की मर्यादा में परिवर्तन

होना। कोई वस्तु अपने में ही चल नहीं सकती; उसका चलन वहीं पर संभव है, जहां पर पहिले से विद्यमान नहीं है। यहां, इस क्षण मैं कुर्सी पर बैठा हूं। मैं दूसरे क्षण दूसरा स्थान ग्रहण करने जा सकता हूं। परन्तु, यहीं और इसी क्षण अपनी कुर्सी पर बैठा मैं अपने में ही चल फिर नहीं सकता, क्योंकि मैं स्वयं को पूर्णत: व्याप्त किये हुए हूं। परमात्मा सर्वव्यापी है, और इसलिये, देश या काल में ऐसा कोई स्थान या क्षण नहीं है, जहां वह विद्यमान न हो, अत: वह 'अचल' कहलाता है। वह यत्र, तत्र, सर्वत्र है; उसमें ही भूत, वर्तमान और भविष्य का अस्तित्व है।

'ध्रुवम्' (शाश्वत, सनातन) – विकारी वस्तु देश और काल से अवच्छिन्न होती है। परन्तु जो देश और काल का भी अधिष्ठान है, वह परमात्मा इन दोनों से परिच्छिन्न नहीं हो सकता है। अनन्त स्वरूप चैतन्य आत्मा सर्वत्र, सब काल में एक ही है। शैशव, यौवन और वृद्धावस्था में, सर्वत्र, सब काल और सुख-दुःख, लाभ-हानि की समस्त परिस्थितियों में आत्मा एक समान ही रहता है। जब हम अपने शरीर, मन और बुद्धि के स्तर पर आते हैं, केवल तभी हम आइन्स्टीन के द्वारा वर्णित देश और काल की सापेक्षता के जगत् में प्रवेश करते हैं। परमात्मा कालावच्छिन्न नहीं है; वह काल का भी शासक है। वह 'ध्रुव' है।

यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन दो श्लोकों में प्रयुक्त शब्द उपनिषदों से ही लिये गये हैं। इन शब्दों के द्वारा उस परमात्मा का निर्देश किया जाता है, जो इस नित्य परिवर्तनशील नाम और रूपों, कर्म और घटनाओं, विषय ग्रहण और भावनाओं, विचारों तथा अनुभवों के जगत् का एकमेव सनातन अधिठान है। सभी उपासकों में निम्नलिखित तीन गुणों का होना आवश्यक है।

'इन्द्रियसंयम' – इन्द्रियों के द्वारा अपनी शक्तियों का अपव्यय करना अविचारी एवं निम्न स्तर की रुचि वाले मनुष्यों का कार्य होता है। पूर्णत्व के शिखर पर पहुंचकर परमानन्द का अनुभव करने की जिस साधक की महत्त्वाकांक्षा है, उसको चाहिए कि वह इस अपव्यय में कटौती करे, और इस प्रकार उपार्जित शक्तियों का सदुपयोग ध्यान में आत्मानुभव को प्राप्त करने के लिए करे। पांच ज्ञानेन्द्रियां ही वे द्वार हैं, जिनके माध्यम से मन को विचलित करने वाले बाह्य जगत् के विषय चोरी छिपे मन में प्रवेश करके हमारी आन्तरिक शान्ति को नष्ट कर देते हैं। और फिर हमारा मन कर्मेन्द्रियों के द्वारा बाह्य जगत् में अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त करने को दौड़ पड़ता है। इस प्रकार, विषयग्रहण और प्रतिक्रिया रूप यह व्यवहार मन के सामंजस्य और सन्तुलन को तोड़ देता है। इसलिये, यहाँ श्रीकृष्ण का इन्द्रियसंयम पर बल देना उचित ही है. क्योंकि 'ध्यानमार्ग' की सफलता इसी पर निर्भर करती है।

'सर्वत्र समबुद्धि' – सफलता के लिए आवश्यक यह दूसरा गुण है । समस्त प्रकार की परिस्थितियों और अनुभवों में बुद्धि की समता होनी चाहिए । बाह्यविक्षेपरहित दशा की आशा और प्रतीक्षा करना मूर्खता का लक्षण ही है । ऐसी आदर्श परिस्थिति का होना असम्भव है । जगत् की वस्तुएं अपने में ही तथा विशिष्ट संरचनाओं के रूप में भी निरन्तर परिवर्तित होती रहती हैं । इसलिये ऐसे नित्य परिवर्तनशील रचना वाले जगत् में किसी ऐसी इष्ट स्थिति की अपेक्षा रखना जो साधक के ध्यानाभ्यास के लाभ के लिये निरन्तर एक समान बनी रहे, वास्तव में अविवेकपूर्ण ही कहा जा सकता है । यह सर्वथा असंभव है । इसलिये, ऐसे परिवर्तनशील जगत् में साधक को ही चाहिए कि वह अपने बौद्धिक मूल्यांकनों, मन की आसक्तियों तथा बाह्य जगत् के साथ होने वाले सम्पर्कों को विवेकपूर्वक संयमित करके बुद्धि की समता और मन का संतुलन बनाये रखे । दृष्टि के समक्ष मन में विकार या विक्षेप उत्पन्न करने वाले विषयों या परिस्थितियों के होने पर भी जो पुरुष अपना सन्तुलन नहीं खोता है, वही 'समबुद्धि' कहलाता है । जिस पुरुष ने अपनी विवेक शक्ति का विकास किया है, वह बड़ी सरलता से 'सौंदर्य के उस स्वर्णिम तार' को देख और पहचान सकता है, जो इस जगत् की उन समस्त वस्तुओं को धारण किये हुए है, जो सुन्दर और आकर्षक तथा कुरूप और प्रतिकर्षक हैं । इस क्षमता से सम्पन्न साधक को ही यहाँ 'समबुद्धि' कहा गया है ।

किसी व्यक्ति का शिशु पुत्र किसी समय मैला है तो दूसरे समय अत्यन्त चंचल; प्रातः रुदन कर रहा होता है, तो दोपहर में हंसता है; सन्ध्याकाल में तंग करता है और रात में उन्मत्त ! और फिर भी, उसकी इन सभी दशाओं में उसके पिता एक पुत्र को ही देखते हैं, और इसलिये उसके भिन्न-भिन्न रूपों में भी उसके समान रूप से ही प्रेम करते हैं । यह उस प्रेमपूर्ण पिता की 'समबुद्धि' है । इसी प्रकार एक सच्चा साधक अपने जीवन के भयानक दुःखान्तों और आनन्ददायक सुखान्तों में तथा अभूतपूर्व सफलताओं और निराशाजनक विफलताओं में भी अपने हृदय के इष्ट देवता को पहचानना सीखता है । इसलिये, वह बौद्धिक समता को प्राप्त हो जाता है ।

'भूतमात्र के हित में रत होते हैं' – सफलता के लिये आवश्यक तीसरे गुण को बताते हुए भगवान् कहते हैं कि साधक को अर्पण की भावना से सदैव यथाशक्ति भूतमात्र की सेवा में रत रहना चाहिये । जब तक मनुष्य इस शरीर को धारण किये जीवित रहता है, तक तक उसके लिए यह सर्वथा असंभव है कि नित्य निरन्तर प्रत्येक समय अपने मन और बुद्धि को आत्मचिन्तन में ही स्थिर कर सके । जगत के साथ उसे सामान्य व्यवहार करना ही होगा । इस प्रकार के व्यवहारों में उसे निरन्तर

अथक प्रयत्न करके प्राणीमात्र की सेवा करनी चाहिए। यह तो इस ज्ञान का स्वरूप ही है। भूतमात्र को प्रेम करना तो उसका धर्म ही है।

इस प्रकार, उक्त तीन गुणों से सम्पन्न होकर जो साधकगण अक्षर और अव्यक्त की उपासना करते हैं, वे भी 'मुझे ही प्राप्त होते हैं' – यह भगवान् श्रीकृष्ण की घोषणा है।

अर्जुन द्वारा पूछा गया प्रश्न वास्तव में विवादास्पद है, जबकि भगवान् द्वारा दिया गया उसका उत्तर एक अविवादास्पद सत्य की घोषणा है। यहाँ महान् दार्शनिक भगवान् श्रीकृष्ण यह बताते हैं कि किस प्रकार दोनों ही उपासक एक ही लक्ष्य को प्राप्त करते हैं। दोनों में ही सफलता के लिये कौन से समान गुणों का होना आवश्यक है। यहाँ वर्णित साधना पद्धतियों का निष्ठापूर्वक और पूर्णतया पालन करने पर सगुण–साकार अथवा निर्गुण-निराकार की उपासना के द्वारा एक ही परमात्मा की प्राप्ति होगी।

परन्तु, सामान्यतः, बहुसंख्य साधकों के विषय में वे कहते हैं :

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।।५।।

परन्तु उन अव्यक्त में आसक्त हुए चित्त वाले पुरुषों को क्लेश अधिक होता है, क्योंकि देहधारियों से अव्यक्त की गति कठिनाई पूर्वक प्राप्त की जाती है ।।५।।

सगुण और निर्गुण दोनों के ही उपासकों को एक ही लक्ष्य की प्राप्ति बताने के पश्चात् भगवान श्रीकृष्ण दोनों मार्गों की तुलना करने का प्रयत्न करते हैं, जबकि वास्तव में वे अतुलनीय हैं तथा समान प्रभाव और गुण वाले हैं। भगवान् कहते हैं, 'अव्यक्त के उपासकों को सगुणोपासकों की अपेक्षा अधिक कष्ट होता है।' इस कथन को इतना ही और इसी रूप में समझने पर ऐसा प्रतीत होगा कि यह कथन, न केवल सगुणोपासना का समर्थन ही करता है, बल्कि निर्गुणोपासना की निश्चयात्मक रूप से निन्दा भी करता है। इस प्रकार की त्रुटिपूर्ण और पथभ्रष्टक व्याख्या गीता को उपनिषत्प्रतिपादित 'सनातन ज्ञान' का खण्डन करने वाला शास्त्र बना देगी। भक्ति-मार्ग के कुछ वाचाल समर्थक ऐसे हैं, जो श्रद्धालु धर्मप्राण जनता को छलने के लिये इस श्लोकार्ध को ही उद्धृत करते हैं !

स्वयं भगवान् ही प्रथम पंक्ति के तात्पर्य को दूसरी पंक्ति में स्पष्ट करते हैं। अव्यक्त के उपासकों को अधिक क्लेश क्यों होता है ? भगवान् बताते हैं कि 'देहधारियों के द्वारा अव्यक्त की गति कठिनाई से प्राप्त की जाती है।' इस श्लोक में

परीक्षणीय शब्द है 'देहवद्भिः' अर्थात् देहधारियों के द्वारा। प्रायः इस शब्द का यही वाच्यार्थ स्वीकार किया जाता है। परन्तु यदि हम इस प्रकार की व्याख्या के दूसरे स्वाभाविक पक्ष को देखें, तो ऐसे अर्थ की असंगति स्पष्ट हो जायेगी। यदि सभी देहधारी मनुष्य केवल सगुण-साकार की ही उपासना कर सकते हैं, तो इसका अर्थ यह होगा कि निराकार का ध्यान करना केवल देहत्याग के बाद ही संभव होगा।

इसलिये, श्रीशंकराचार्य इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि देहवद्भिः का अर्थ है देहाभिमानवद्भिः अर्थात् देहधारी से तात्पर्य उन लोगों से है, जिन्हें देहाभिमान बहुत दृढ़ है। जो देह को ही अपना स्वरूप समझते हैं, वे लोग उसमें आसक्त होकर सदा विषयोभोग का ही जीवन जीते हैं। ऐसे विषयासक्त पुरुषों के लिये अनन्त निराकार और सर्वव्यापी तत्त्व का ध्यान करना प्रायः असंभव होता है। जिसकी दृष्टि मन्द हो और हाथ काँपते हों, ऐसे वृद्ध व्यक्ति को सुई में धागा डालने में बड़ी कठिनाई हो सकती है। इसी प्रकार, जो मन और बुद्धि क्षुब्ध हैं, चंचल और विषय-भोगों में लालायित रहती हैं, ऐसे अन्तःकरण से युक्त पुरुष समस्त नाम और रूपों के अतीत अनन्त आत्मवैभव को कदापि प्राप्त नहीं कर सकता है। तात्पर्य यह है कि स्वयं अव्यक्तोपासना में कष्ट नहीं है, वरन् देहाभिमानियों के लिये वह कष्टप्रद प्रतीत होती है।

संक्षेप में बहुसंख्यक साधकों के लिये विश्व में व्यक्त भगवान् के सगुण साकार रूप का ध्यान करना अधिक सरल और लाभदायक है। यदि मनुष्य जगत् की सेवा को ही ईश्वर की पूजा समझकर करे, तो शनैः-शनैः उसकी देहासक्ति तथा विषयभोग की तृष्णा समाप्त हो जाती है और मन इतना शुद्ध और सूक्ष्म हो जाता है कि फिर वह निराकार, अव्यक्त और अविनासी तत्त्व का ध्यान करने में समर्थ हो जाता है।

अक्षरोपासकों के जीवन-वर्तन के विषय को इसी अध्याय के अन्तिम भाग में वर्णन किया जायेगा। तथापि अब, सगुण की उपासना करने वालों के लिये उपयोगी साधनाओं का वर्णन किया जा रहा है :

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

परन्तु जो भक्तजन मुझे ही परम लक्ष्य समझते हुए सब कर्मों को मुझे अर्पण करके अनन्ययोग के द्वारा मेरा (सगुण का) ही ध्यान करते हैं ॥६॥

हे पार्थ ! जिनका चित्त मुझमें ही स्थिर हुआ है ऐसे भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार सागर से उद्धार करने वाला होता हूं ॥७॥

यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण सगुणोपासकों के लिए श्रद्धापूर्वक अनुष्ठेय गुणों अथवा नियमों का वर्णन करते हुए यह आश्वासन देते हैं कि निष्ठावान् साधकों का, इस संसार-सागर से, उद्धार स्वयं भगवान् ही करेंगे। इन नियमों का सावधानीपूर्वक अध्ययन करने पर यह ज्ञात होगा कि किस प्रकार साधक के मन का शनैः-शनैः विकास होकर वह दिव्य और श्रेष्ठ पद को प्राप्त होता है, जिसके पश्चात्, उसे किसी प्रकार की बाह्य सहायता की अपेक्षा नहीं रह जाती है। प्रारम्भ में, साधक को साधनाभ्यास करने के लिये आवश्यक आत्मविश्वास को पाने के लिये अपने गुरु से आश्वासन तथा प्रोत्साहन की आवश्यकता होती है।

'जो समस्त कर्मों को मुझे अर्पण करते हैं' – किसी संस्था, या आदर्श अथवा राजसत्ता के लिये समस्त कर्मों को अर्पण करने या संन्यास करने का अर्थ है, अपनी व्यक्तिगत सीमाओं को नष्ट करना तथा अपने आदर्श से तादात्म्य रखना। इस प्रकार, एक अन्य नागरिक, विदेशों में स्वराष्ट्र के राजदूत के रूप में एक शक्तिशाली व्यक्तित्व रखता है. क्योंकि वह अपने भाषण, कर्म और विचारों के द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है। इसी प्रकार, जब कोई भक्त अपने आप को पूर्णतः ईश्वर के चरणों में समर्पित कर देता है, और फिर ईश्वर के दूत अथवा ईश्वरी संकल्प के प्रतिनिधित्व के रूप में कार्य करता है, तब वह दैवी शक्ति से सम्पन्न हो जाता है। उसे अपने प्रत्येक कार्य में ही परमात्मा की उपस्थिति और अनुग्रह का भान बना रहता है।

'जो मुझे ही परम लक्ष्य समझता है' – एक नर्तकी को कभी साथ के मृदंग के ताल और लय का विस्मरण नहीं होता। एक संगीतज्ञ को तानपूरे की श्रुति का भान सदा बना रहता है। इसी प्रकार, एक भक्त को उपदेश दिया जाता है कि वह ईश्वर को ही अपने जीवन का परम लक्ष्य माने और जीवन में सदैव उसे ही प्राप्त करने का प्रयत्न करे। धर्म को अतिरिक्त-समय का एक मनोरंजन अथवा दैनिक कार्यों से क्षणभर की मुक्ति का साधन नहीं समझना चाहिये। सारांश में, हमें यह उपदेश दिया जाता है कि सांस्कृतिक पूर्णत्व के उच्चतर शिखरों पर आरोहण करने के लिये आवश्यक है कि हम अपने जीवन के सम्पर्कों, व्यवहारों एवं अनुभवों का उपयोग उस परमात्मा की उपलब्धि के लिये करें; जिसकी उपासना हम उसके सगुण साकार रूप में करते हैं।

'अनन्ययोग के द्वारा' – वे सभी प्रयत्न योग कहलाते हैं, जिनके द्वारा हम अपने मन का तादात्म्य अपने पूर्णत्व के लक्ष्य के साथ स्थापित कर सकते हैं। अपने मन को उसके वर्तमान विक्षेपों तथा अपव्ययी प्रवृत्तियों से ऊँचा उठाकर विशाल आनन्द और पूर्ण ज्ञान के श्रेष्ठतर लक्ष्य की ओर प्रवृत्त करना ही योग है। यह शक्ति हम सब में निहित है और उसका सदैव हम उपयोग भी कर रहे हैं। परन्तु योग का परिणाम इस बात पर निर्भर करता है कि कौन-से लक्ष्य की ओर हम अग्रसर हो रहे हैं। दुर्भाग्य से, प्रायः हमारा लक्ष्य दिव्य नहीं होता है; केवल वैषयिक-आनन्द के लिये ही प्रयत्न करना भोग है, योग नहीं।

सामान्यतः, हमारा लक्ष्य निरन्तर परिवर्तित होता रहता है, और इस कारण सतत संघर्षरत होने पर भी हम किसी भी निश्चित स्थान को नहीं पहुंचते हैं। यदि छुट्टियां बिताने के लिये किसी व्यक्ति के मन में दो स्थान हैं, परन्तु वह अपना गन्तव्य ही निश्चित नहीं कर पाता है, तो वह कहीं भी नहीं पहुंच सकता है। वह व्यर्थ ही अपनी शक्ति और समय का अव्यय करेगा। यहां प्रयुक्त 'अनन्ययोग' शब्द का तात्पर्य यह है कि जिसमें साधक का लक्ष्य निश्चित और स्थिर है तथा उसके मन में लक्ष्य के प्रति अन्य भाव नहीं है अर्थात् जिसमें साधक और साध्य का एकत्व है।

यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि हमारे मन का विघटन लक्ष्य के प्रति अन्य भाव के कारण हो सकता है, और ध्येय को त्यागकर अन्य विषयों में मन के विचरण के कारण भी हो सकता है।

इस प्रकार जो भक्तजन (क) सब कर्मों का संन्यास मुझमें करते हैं, (ख) जो मुझे ही परम लक्ष्य मानते हैं, और (ग) जो अनन्ययोग से उपासना ध्यान करते हैं, वे मेरे उत्तम भक्त हैं। यह पहले भी कहा जा चुका है कि उपासना का वास्तविक अर्थ है लक्ष्य के साथ तादात्म्य करने का प्रयत्न करके तत्स्वरूप ही बन जाना। यही साधक का लक्ष्य है और इसी में उसकी कृतकृत्यता है।

भगवान् श्रीकृष्ण आश्वासन देते हैं कि उक्त गुणों से सम्पन्न साधकों को ध्यानाभ्यास के समय इस बात की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है कि किस प्रकार वे अपने दुःख विक्षेप और अपूर्णताओं के परे जा सकते हैं; क्योंकि, मैं उनका उद्धार कर्ता बनूंगा।' यह स्वयं भगवान का दिया हुआ वचन है। यह सम्भव है कि वर्षों की दीर्घकालीन साधना के पश्चात् भी यदि साधक आत्मानुभव के कहीं समीप भी नहीं पहुंचे, तो वे अधीर हो जायेंगे। अतः भगवान् का आश्वासन आवश्यक है। भगवान् यहां यह भी वचन देते हैं कि 'शीघ्र ही मैं उनका उद्धारकर्ता बनूंगा।'

'जिनका मन मुझमें स्थित है' – सामान्यत: मन अपने ध्येय वस्तु का आकार ग्रहण करता है : जब निरन्तर साधना के फलस्वरूप विजातीय प्रवृत्तियों का सर्वथा त्यागकर ध्येय विषयक सजातीय वृत्ति प्रवाह को बनाये रखने की क्षमता साधक में आ जाती है, तब उसका मन अनन्त ब्रह्मस्वरूप ही बन जाता है। यह मन ही है, जो हमारे जीवभाव के परिच्छेदों का आभास निर्माण करता है, और यही मन अपने अनन्तत्व का आत्मरूप से साक्षात् अनुभव भी करता है। बन्धन और मोक्ष दोनों मन के ही हैं। आत्मा तो नित्यमुक्त है, कदापि बद्ध नहीं।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

तुम अपने मन और बुद्धि को मुझमें ही स्थिर करो, तदुपरान्त तुम मुझमें ही निवास करोगे, इसमें कोई संशय नहीं है ॥८॥

ध्यान कोई शारीरिक क्रिया नहीं, वरन् मनुष्य के आन्तरिक व्यक्तित्व के द्वारा विकसित की गयी एक सूक्ष्म कला है। प्रत्येक साधक का यह अनुभव होता है कि उसकी बुद्धि जिसे स्वीकार करती है, उसका हृदय उसे समझ नहीं पाता या उसमें रुचि नहीं लेता ; और जिसके प्रति हृदय लालायित रहता है, बुद्धि उस पर हँसती है। अत: बुद्धि और हृदय इन दोनों को परम आनन्द के उसी एक आकर्षक रूप में स्थिर करना ही आन्तरिक व्यक्तित्व को आध्यात्मिक प्रयत्न के साथ युक्त करने का रहस्य है। इस श्लोक में इस कला की साधना का सुन्दरता से वर्णन किया गया है।

'अपने मन को मुझमें ही स्थिर करो' – हमारा मन इन्द्रिय अगोचर वस्तु का ध्यान कदापि नहीं कर सकता है। इसलिए, मुरलीधर गोपाल के आकर्षक रूप पर ध्यान करके मन को सरलता से भगवान् के चरणों में लीन किया जा सकता है। भगबान् सर्वव्यापी होने के कारण एक ही समय में समस्त नाम और रूपों का दिव्य अधिष्ठान है। अत: भक्त का ध्यान किसी ऐसे स्थान पर भटक ही नहीं सकता जो उसे मयूरपंख का मुकुट धारण किए गोपालकृष्ण की मन्द स्मित का स्मरण न कराये।

बालकृष्ण की विभूषित संगमरमर की मूर्ति का ही चिन्तन करते रहना मात्र मनुष्य के आन्तरिक व्यक्ति के लिए पर्याप्त नहीं है। यद्यपि भगवान् के चरण-कमलों के समीप बैठने से हृदय तो संतुष्ट हो जाता है, परन्तु बुद्धि की जिज्ञासा शान्त नहीं होती। किसी एक अङ्गविशेष का ही विकास होना कुरूपता को ही जन्म देता है ; समन्वय और एक समान विकास ही पूर्णता है। इसलिए, शास्त्रीय दृष्टि

से गीता का यह उपदेश उचित है कि भक्त को चाहिये कि वह अपनी विवेकबती बुद्धि के द्वारा पाषाण की मूर्ति का भेदन करके उस चैतन्य तत्त्व का साक्षात्कार करे जिसकी प्रतीक वह मूर्ति है।

'अपनी बुद्धि को मुझमें स्थापित करो' – इसका अर्थ यह है कि अपनी व्यष्टि बुद्धि का तादात्म्य समष्टि बुद्धि के साथ करो, जो भगवान् की उपाधि है।

हममें से प्रत्येक व्यक्ति, किसी एक क्षण विशेष में, अपनी समस्त भावनाओं एवं विचारों का कुल योग रूप होता है। यदि हमारा मन भगवान् में स्थिर हुआ है तथा बुद्धि अनन्त की गहराइयों में प्रवेश कर जाती है, तो हमारा व्यक्तिगत अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है और हम सर्वव्यापी, अनन्त परमात्मा में विलीन होकर तत्स्वरूप बन जाते हैं। इसलिए, भगवान् ने कहा है कि, "तदुपरान्त, तुम मुझमें ही निवास करोगे।"

सत्य-के-मन्दिर के द्वार पर मन में विक्षेप और संकोच के साथ खड़े हुये एक मर्त्य जीव को भगवान् का यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत हो सकता है। उसका तो अपना नित्य का अनुभव यह है कि वह एक परिच्छिन्न मर्त्य व्यक्ति है, जो सहस्त्रों मर्यादाओं से घिरा, असंख्य दोषों से दुःखी और निराशाओं की सेना के द्वारा उत्पीड़ित किया जा रहा जीव है। इसलिये, उसे विश्वास नहीं होता कि वास्तव में वह कभी अपने ईश्वरत्व के स्वरूप का साक्षात्कार भी कर सकता है। अतः, एक दयालु गुरु के रूप में, भगवान् श्रीकृष्ण स्पष्ट आश्वासन देते हैं कि, "इसमें संशय की कोई बात नहीं है।"

यदि यह साधना कठिन प्रतीत हो तो उपायान्तर बताते हुये भगबान् कहते हैं :

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यास योगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥९॥

हे धनंजय ! यदि तुम अपने मन को मुझमें स्थिर स्थापन करने में समर्थ नहीं हो, तो अभ्यासयोग के द्वारा तुम मुझे प्राप्त करने की इच्छा (अर्थात् प्रयत्न) करो ॥९॥

आत्म विकास की जो साधना भगवान् ने पूर्व श्लोक में बतायी है वह अपरिवर्तनीय है। साधक को अपना मन भगवान् के चरणों में स्थिर करके बुद्धि के द्वारा उस सगुण रूप के पारमार्थिक स्वरूप को पहचानना चाहिये। इन दोनों

प्रक्रियाओं का सम्पादन करने के लिए अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि और मन की एकाग्रता की आवश्यकता होती है। सम्भवतः एक सामान्य पुरुष के समान अर्जुन को यह अनुभव हुआ कि इस मार्ग का सफलतापूर्वक अनुकरण करना उसके लिए असंभव ही है। करुणासागर भगवान् श्रीकृष्ण अपने शिष्य के मुख के भावों को समझकर यहाँ एक अन्य उपाय का वर्णन करते हैं।

यदि तुम स्थिरतापूर्वक अपने चित्त को मुझमें समाहित नहीं कर सकते हो, तब एक उपाय यह है कि तुम अभ्यासयोग का पालन करो। इस अभ्यास योग को पूर्व में[1] इस प्रकार बताया गया था कि, "जहाँ कहीं यह चंचल और अस्थिर मन बिचरण करता है, उसे वहीं संयमित करके आत्मा के ही वश में लाना चाहिये।" संक्षेप में, जब कभी कोई साधक अपने मन को चुने हुए ध्येय विषय में समाहित करना चाहता है, तो उसका चंचल मन ध्येय से हटकर विजातीय प्रवृत्तियों के प्रवाह में विचरण करने लगता है। यहाँ उपदेश यह दिया गया है कि जब कभी मन इस प्रकार विचरण करना प्रारम्भ करे साधक उसीं क्षण उसके ध्यान को एकत्र कर पुनः भगवान् के दिव्य रूप में स्थिर करने का प्रयत्न करे।

प्रत्येक साधक को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ध्यानाभ्यास के समय, किसी एक अवधि तक भी, मन सर्वथा ध्येय वस्तु का ही चिन्तन करने में सफल नहीं होता है। कुछ ही क्षणों में मन का अपने कल्पना जगत् में विहार करना प्रारम्भ हो जाता है। उसका यह विहार अपने आप में इतनी बड़ी समस्या नहीं है, जितनी बड़ी वह बन जाती है, जब यह साधक भी मन के द्वारा अपहृत हुआ उसी कल्पना लोक में ले जाया जाता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण केवल यहीं उपदेश देते हैं कि हमको अपने दिव्य पथ को त्याकर मन के लुभाने में नहीं आना चाहिये।

यत्र-तत्र विचरण करने वाले उपद्रवी मन का ध्यान ध्येय बिन्दु में समाहित करने के लिये साधक में मन से अलग रहकर उसे साक्षीभाव से देखते रहने की क्षमता होनी चाहिये। मन के साथ तादात्म्य हो जाने पर तो "जहाँ मन वहाँ हम", ऐसी स्थिति हो ही जायेगी। इसलिए, मन को संयमित करने के लिये साधक को मन से अलग होकर अपने में ही निहित उस क्षमता के साथ तादात्म्य करना चाहिए, जो मन से भी श्रेष्ठ है और उस पर शासन करके उसे अनुशासित कर सकती है। मन से श्रेष्ठ उसका शासक है, विवेक अर्थात् बुद्धि। बुद्धि की विवेक सामर्थ्य के द्वारा ही हम उससे निम्नतर मन को अनुशासित कर सकते हैं।

यह उपाय उन लोगों के लिए बताया गया है जो पूर्व श्लोक में वर्णित

---

१. गीता अ० ६-२७

'विहंगम मार्ग' का अनुसरण नहीं कर सकते हैं। दीर्घकाल तक 'अभ्यासयोग' की साधना करने पर हमारा मन इस प्रकार अनुशासित हो जायेगा कि हम आत्मविकास के साक्षात् साधन का अभ्यास करने में समर्थ हो जायेंगे, जिसका वर्णन पूर्व के श्लोक में किया गया है।

यदि यह भी सम्भव न हो तो :

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

यदि तुम अभ्यास में भी असमर्थ हो तो मत्कर्म परायण बनो; इस प्रकार मेरे लिये कर्मों को करते हुए भी तुम सिद्धि को प्राप्त करोगे ॥१०॥

आत्मविकास के विविध और विस्तृत उपायों का वर्णन करने के कारण ही हिन्दू धर्मशास्त्रों में पूर्णता है। उनमें बतायी गई साधनाओं का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, जो कोई पुरुष जितना ही अधिक अध्ययन करेगा वह उतना ही इस अध्यात्म मार्ग की उपादेयता को दृढ़ विश्वास के साथ स्वीकार करेगा। हमारे महान् धर्म ग्रन्थों में कहीं भी इस प्रकार की धमकी नहीं दी गयी है कि, 'इसे स्वीकार करो, अन्यथा नरक में जाओ।' जो कोई भी पुरुष बौद्धिक निश्चय और वैज्ञानिक मूल्यांकन के लिए तत्पर है, वह हिन्दू जीवन पद्धति की श्रेष्ठता के प्रति पूर्णतया आश्वस्त हो जायेगा।

यदि कोई साधक मानसिक दृष्टि से विक्षुब्ध और असंयमित है, तो वह अभ्यासयोग का पालन करने में समर्थ नहीं हो सकता। यहां भगवान् श्रीकृष्ण का यह उपदेश है कि ऐसे साधकों को ध्यानाभ्यास में व्यर्थ संघर्ष नहीं करते रहना चाहिये। बलपूर्वक मन को शान्त करने के कारण वे मानसिक दमन और निग्रह के शिकार हो सकते हैं। मनुष्य का आन्तरिक व्यक्तित्व फूल की एक अनखिली कली की अपेक्षा लक्षगुना अधिक कोमल है। उसके खिलने में शीघ्रता करने का अर्थ है उसकी सुन्दरता और सुरभि का नाश करना। निदिध्यासन में हमारा प्रयत्न तो केवल ऐसे अनुकूल वातावरण को निर्मित करने के लिये है, जिसमें हमारा आन्तरिक व्यक्तित्व शीघ्र किन्तु स्वतः खिल उठे। स्वाभाविक है कि यदि कोई व्यक्ति एक प्रकार की साधना करने में असमर्थ है, तो उसके विकास के लिए अन्य उपाय बताना आवश्यक होता है।

यदि साधक का मन पूर्वार्जित वासनाओं के कारण यदाकदा ही तुच्छ विषयों की ओर जाता है, तो उसे संयमित करना कुछ सरल कार्य है। परन्तु यदि किसी

पुरुषका मन इन विषयवासनाओं से पूर्ण है तथा अत्यन्त बहिर्मुखी है, तो उसका ध्यानाभ्यास केवल ध्यानाभास ही होगा ! भगवान् कहते हैं कि ऐसे पुरुष को ध्यान छोड़कर कर्म करने चाहिये । परन्तु वे कर्म ईश्वर के लिये अर्पण की भावना से होने चाहिये । यही, 'मत्कर्मपरमो भव' वाक्य का अर्थ है । इस प्रकार के कर्मानुष्ठान से, अत्यन्त बहिर्मुखी प्रवृत्ति के पुरुष को भी अपने समस्त दैनिक कर्मों में ईश्वर का अखण्ड स्मरण बना रह सकता है ।

सभी पिता अपने नवजात शिशु के प्रति इसी पद्धति को ग्रहण कर उसका पालन करते हैं । प्रत्येक पुत्र का जन्म पिता के लिये एक अपरिचित शिशु के रूप में ही होता है । परन्तु कुछ ही दिनों में उस पिता का अपने शिशु के प्रति प्रेम बढ़ता जाता है । व्यतीत होते हुए समय के साथ उस प्रेम का परिणाम इतना विशाल हो जाता है कि वह पिता शब्दशः अपने पुत्र में ही जीता है । इसका कारण यह है कि पुत्र के जन्म के पश्चात्, वह पिता जब कभी कोई कर्म करता है या अनुभव प्राप्त करता है, तो वे सब मन की पार्श्वभूमि में स्थित पुत्र की स्मृति से भयभीत होते रहते हैं, और यही है पुत्र के प्रति अर्पण की भावना ।

योगेश्वर श्रीकृष्ण यहां सामान्य पुरुषों के लिये अत्यन्त व्यावहारिक उपाय का उपदेश देते हैं । उनका उपदेश हममें से अत्यधिक बहिर्मुखी पुरुष के लिए भी आशा का संदेश देने वाला है । बहुसंख्यक साधकों के लिये यह, निश्चित ही, राजमार्ग है । जिस प्रकार, किसी व्यवसाय संस्था प्रतिष्ठान का प्रतिनिधि व्यवहार में कहता है कि, 'हम वस्तु पूर्ति का प्रयत्न करेंगे, हम इन वस्तुओं का निर्माण कर रहे हैं, हम इसके लिए उत्तरदायी नहीं हैं' इत्यादि । वह अपने प्रतिष्ठान के साथ तादात्म्य करके ऐसे व्यवहार करता है, मानो वह प्रतिष्ठान का प्रबन्धकर्ता या संचालक हो, जबकि वास्तव में वह एक प्रतिनिधि मात्र होता है । इसी प्रकार यदि हममें से भी कोई व्यक्ति निश्चयात्मक रूप से स्वयं को ईश्वर का प्रतिनिधि मानकर ईश्वर के ही संकल्प को अपने कर्मों के द्वारा पूर्ण करने का प्रयत्न करे, तो उसे सदैव ईश्वर का स्मरण बना रहेगा; और वह स्वयं में कर्म-कुशलता की अलौकिक शक्ति, संगठन-सामर्थ्य और आत्मविश्वासपूर्ण साहस को पायेगा ।

प्राचीन वैदिक विद्या के विद्यार्थी को, जैसा कि अर्जुन था, इस सरल से प्रतीत होने वाले उपदेश को सुनकर उसके वास्तविक प्रभाव के विषय में संदेह हो सकता है । रूढ़िवादी लोग किसी मौलिक विचार को सन्देह की दृष्टि से ही देखते हैं, भले ही वह विचार उस युग के सबसे महान् जीवित पुरुष के द्वारा अथवा ईश्वर के अवतार के द्वारा ही क्यों न प्रतिपादित किया गया हो । इस कारण से, यहां भगवान् श्रीकृष्ण साधकों को इस मार्ग के प्रभाव के प्रति आश्वस्त करते हुए कहते

हैं कि, "मेरे लिये कर्म करते हुए भी तुम सिद्धि को प्राप्त होओगे।"

लोकव्यवहार में भी जब हम चाय बनाने के उद्देश्य से जल को उबलने के लिये रखते हैं, तब किसी के प्रश्न करने पर हम यही कहते हैं कि, 'मैं चाय बना रहा हूं।' वस्तुस्थिति की दृष्टि से यह कथन असत्य हैं, परन्तु लक्ष्य की दृष्टि से पूर्ण सत्य है, क्योंकि एक बार जल के उबल जाने पर चाय बनाने में न परिश्रम की आवश्यकता होती है और न अधिक समय की। इसी प्रकार, ईश्वर को समस्त कर्म अर्पण करने की कला के द्वारा, हम अपने दैनिक, व्यावहारिक कर्म करते हुए भी मन में दैवी संस्कारों का विकास करते रहेंगे। इसी प्रक्रिया में हमारी पूर्वार्जित वासनाओं का क्षय भी होता रहेगा। इस प्रकार चित्त की शुद्धि प्राप्त हो जाने पर हम 'अभ्यास-योग' के अधिकारी हो जायेंगे और शीघ्र ही पर्याप्त समता और सन्तुलन को प्राप्त कर सत्य आत्मा का ध्यान कर तत्स्वरूप बन जायेंगे।

यदि कोई व्यक्ति इसे भी करने में असमर्थ हो, तो उसके लिए भी एक उपाय अगले श्लोक में बताते हैं :

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

और यदि इसको भी करने के लिए तुम असमर्थ हो, तो आत्मसंयम से युक्त होकर मेरी प्राप्ति रूप योग का आश्रय लेकर, तुम समस्त कर्मों के फलों का त्याग करो ॥११॥

पूर्व श्लोक में, हमें अहंकार का सर्वथा त्याग करके जगत् में कर्म करने का उपदेश दिया गया था। अत्यन्त अहंकारी और मानी पुरुष के लिये यह कार्य इतना सरल नहीं है। ऐसा पुरुष रजोगुण के कारण अत्यन्त क्षुब्ध रहता है तथा तमोगुण की निम्नस्तरीय प्रवृत्तियों के कारण उसका व्यक्तित्व विषाक्त रहता है। ऐसे निम्न स्तर के व्यक्ति के लिए भी गीता में साधन मार्ग बताया गया है। सामान्यतः ऐसा पुरुष सभी धर्मों के लिए निराशा का ही विषय बन जाता है। परन्तु, गीता में ऐसे दीर्घस्थायी रोग से पीड़ित रोगियों के लिये भी विचार पूर्वक उपचार बताया गया है। वह उपचार सरल किन्तु ऐसा प्रभावी है कि उसके द्वारा उस रोगी को रोग से सर्वथा मुक्त कर उसे सर्वोच्च व्यक्तित्व की आभा तथा कार्यकुशलता प्रदान की जा सकती है।

यदि समस्त कर्मों को ईश्वरार्पण बुद्धि से कर पाना असंभव है, तो उस साधक के लिये उतना ही प्रभावी अन्य उपाय यहां बताया गया है कि, "आत्मसंयम

से युक्त होकर, मेरी प्राप्ति रूप योग का आश्रय लेकर, तुम समस्त कर्मों के फलों का त्याग करो ।[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण को वे लोग अप्रिय हैं, जो 'केवल' वेतनार्थी होते हैं। परन्तु उनका यह द्वेष मध्यमवर्गीय अथवा उच्चवर्गीय लोगों के मन में पसीना बहाने वाले मजदूरों के प्रति तिरस्कार नहीं समझना चाहिये। समाजवाद की प्रणाली वाले राष्ट्र में प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति के मन में 'श्रीकृष्ण की यह अधीरता' उठती रहती है । वे अपने राष्ट्र में ऐसे लोगों को नहीं सहन कर सकते, जो केवल वेतन या व्यक्तिगत लाभ के लिये ही कर्म करते हैं । ऐसे समाजवादी राष्ट्र में ऐसा प्रत्येक कर्मचारी दण्ड के योग्य अपराधी माना जायेगा जो 'अधिकतम अकुशलता से किये गये, न्यूनतम समय के कार्य के लिए उच्चतम वेतन की मांग करता है ।' इस प्रकार के वेतनार्थियों के प्रति भगवान् श्रीकृष्ण की अप्रियता उनके उपदेशों में स्पष्ट दिखाई देती है ।

वर्तमान क्षण में किया गया कर्म ही परिपक्व होकर भविष्य के क्षण में फल के रूप में प्रकट होता है । आज, यदि कोई कृषक भूमि को जोतकर बीज बोता है, तो उसे वह फसल दो-तीन महीनों के पश्चात् ही प्राप्त होगी । और यदि वह कृषक वर्तमान में करने योग्य कार्य को त्यागकर भविष्य में आने वाले फल की ही चिन्ता करने में समय का अव्यय करे, तो निश्चय ही उसे कभी लाभ नहीं प्राप्त हो सकता । यद्यपि यह एक सुविदित तथ्य है, तथापि बहुसंख्य लोग वर्तमान में प्राप्त अवसरों को केवल भविष्य की चिन्ता करने में ही खो देते हैं । भविष्य की चिन्ता एवं भय के कारण हमारी समस्त क्षमताएं नष्ट हो जाती है, और वह मनःकल्पित 'अन्धकारमय भविष्य तो अभी आया ही नहीं हैं, और सम्भवतः कभी आये भी नहीं ! यहां भगवान् श्रीकृष्ण हमें केवल इस बात के लिये प्रेरित करते हैं कि हम भविष्य विषयक इन व्यर्थ की कल्पनाओं को त्याग दें और वर्तमानकाल में ही सजग परिपूर्ण और प्रभावी जीवन जियें । इस प्रकार का जीवन जीने से भी हमारा व्यक्तित्व सुगठित तथा मन एकाग्र और समर्थ बन सकता है ।

उपर्युक्त तीन श्लोकों में तीन प्रकार के साधकों के लिए उपयुक्त तीन भिन्न-भिन्न साधनाएं बतायी गई हैं । सभी मनुष्य किसी सीमा तक बहिर्मुखी होते ही हैं ।

---

१. पूर्व श्लोक और इस श्लोक के उपदेश में अन्तर केवल इतना ही है कि पहिले कर्तृत्व के अभिमान का त्याग करके ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने को कहा गया है, जबकि यहां कर्मफलों की आसक्ति का त्याग करने के लिये कहा गया है । संक्षेप में, भोक्तृत्व के अभिमान का त्याग यहां उपदिष्ट है ।

दो मनुष्यों के बीच जो अन्तर होता है, वह उन दोनों के अन्तःकरण में स्थित वासनाओं की परतों की मोटाई के कारण होता है। यदि एक पीतल का पात्र हल्का-सा मैला हुआ हो, तो उसे चमकाने के लिए केवल 'राख से मांजना' ही पर्याप्त होता है; यदि वह मैल अधिक घना हो तो उसकी स्वच्छता के लिये कुछ 'अम्ल की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार, यदि मन में वासनाओं की पतली परत ही है तो उससे उत्पन्न होने वाले विक्षेपों को 'अभ्यासयोग' के द्वारा नियन्त्रित किया जा सकता है। परन्तु वासनाधिक्य होने पर 'कर्मयोग' की आवश्यकता होगी, जिसमें साधक को समस्त कर्म ईश्वर को अर्पण करने का उपदेश दिया गया है। यदि किसी पुरुष के अन्तःकरण में वासनाओं की परतें और भी अधिक घनी हों, तो उसे 'कर्मफल का त्याग' करने को कहा जाता है। यहां कर्मफल त्याग' का अर्थ यह है कि भविष्य में आने वाले फलों के विषय में व्यर्थ की चिन्ताओं और कल्पनाओं का सर्वथा त्याग कर देना और वर्तमान में कर्म करते रहना। जैसा कि मैंने पहले भी कहा है, विश्व के किसी भी आध्यात्मिक ग्रन्थ में आत्मविकास के लिये इतने द्विविध और विस्तृत 'मार्गों' का विवेचन नहीं किया गया है, जितना भगवद्गीता में हैं।

उपर्युक्त तीन साधनों का अभ्यास एक साथ नहीं हो सकता है। उन्हें क्रमवार करना है। इस बात को दर्शाते हुए, अगले श्लोक में, भगवान् सर्वकर्मफल त्याग की प्रशंसा करते हैं :

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है; ज्ञान के श्रेष्ठ ध्यान है और ध्यान से भी श्रेष्ठ कर्मफल त्याग है; त्याग से तत्काल ही शान्ति मिलती है ॥१२॥

भ्रमित शिष्य को उपदेश देते समय गुरु के लिए यह पर्याप्त नहीं है कि वह केवल दार्शनिक सत्यों का नामनिर्देश कर उनकी गणना करें। आवश्यकता होती है उन विचारों की एक ऐसी सुन्दर संयोजना की, जिससे विद्यार्थी को सभी विचार पुष्पगुच्छ के समान एक ही स्थान पर प्राप्त हो जायें। इससे तत्त्व को समझने में सहायता मिलती है। भगवान् श्रीकृष्ण के प्रवचन का विचाराधीन श्लोक एक ऐसा ही उदाहरण विशेष है, जिसमें अब तक किये सैद्धान्तिक विवेचन को एक सुसंयोजित विचार पद्धति से प्रस्तुत किया गया है।

इस श्लोक में सैद्धान्तिक विचारों को उनके महत्व की दृष्टि से उतरते क्रम में रखा गया है। एक बार यदि साधना के इस सोपान को साधक भली भांति समझ

लेता है और इस सोपान पर आरोहण व अवरोहण की कला भी सीख लेता ह, तो यह माना जा सकता है कि उसने इस अध्याय के विवेचित सभी महत्वपूर्ण विषयों को पूर्णरूप से समझ लिया है।

'अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है' – आध्यात्मिक साधनायें केवल शारीरिक क्रियायें नहीं हैं, वरन् उनका प्रयोजन हमारे मन और बुद्धि को अर्थात् हमारे आन्तरिक व्यक्तित्व को सुगठित करना है। शरीर से की जाने वाली भक्ति साधना को अन्तः-करण का सहयोग तब तक नहीं मिलेगा, जब तक कि साधक को उसके द्वारा की जा रही साधना का सम्यक् ज्ञान नहीं होता है। शारीरिक क्रियाओं को मन का भक्तिभावनापूर्ण सहयोग प्राप्त कराने के पूर्व बुद्धि का परिवर्तन अत्यावश्यक होता है। हम किसका अभ्यास कर रहे हैं और उसका प्रयोजन क्या है, इसका पूर्ण ज्ञान होना योग को सफल बनाने के लिये अपरिहार्य है। इसलिए यहाँ कहा गया है कि केवल यन्त्रवत् साधनाभ्यास करने की अपेक्षा उसके मनोवैज्ञानिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक आशयों का ज्ञान होना अधिक श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण है।

'ज्ञान से श्रेष्ठ ध्यान है' – श्रवणादि साधनों से प्राप्त किए गये ज्ञान पर ध्यान करना उस ज्ञान से अधिक श्रेष्ठ है। आध्यात्मिक साधनाओं की प्रक्रिया और प्रयोजन के शास्त्रीय ज्ञान को समझने की अपेक्षा उन्हें सीखना अधिक सरल होता है। श्रवण से प्राप्त ज्ञान को आत्मसात् करने के लिये उस पर विचारपूर्वक मनन और ध्यान की आवश्यकता होती है। शास्त्रवाक्यों के केवल शाब्दिक अर्थ को जानने से यह कार्य सम्पादन नहीं हो सकता है। इसलिए मनन और निदिध्यासन अपरिहार्य होते हैं। केवल श्रवण किये गए 'ज्ञान' से आत्मसात् किया हुआ ज्ञान निश्चित ही अधिक श्रेष्ठ होता है; उसे आत्मसात् करने का साधन 'ध्यान' है, इसलिए महत्व के अनुक्रम में ध्यान को ज्ञान की अपेक्षा श्रेष्ठ कहा गया है।

'ध्यान से भी श्रेष्ठ कर्मफल त्याग है' – वर्तमान में प्राप्त ज्ञान की परिसीमा के परे सुदूर स्थित श्रेष्ठतर ज्ञान को प्राप्त करने के लिये उड़ान भरने का बुद्धि का प्रयत्न ही 'ध्यान' कहलाता है। इस उड़ान के लिये बुद्धि के पास शक्ति और सन्तुलन का होना आवश्यक है। उस व्यक्ति के लिए ध्यान का अभ्यास असंभव है, जिस मन की शक्ति और स्थिरता, भावी फलों की चिन्ता व कल्पना के कारण छिन्न-भिन्न हो गयी होती हैं। पूर्व श्लोक की व्याख्या में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार भविष्य के प्रति हमारी चिन्ता और व्याकुलता, वर्तमान में कार्य करने की हमारी क्षमता को नष्ट कर देती हैं। सभी कर्मफल भविष्य में ही आते हैं और इनकी चिन्ता करने का अर्थ है, असंख्य मानसिक विक्षेपों को आमन्त्रित करना। इस प्रकार विक्षुब्ध अन्तःकरण से कोई भी साधक शास्त्र प्रतिपादित सत्य पर न मनन कर

सकता है और न ध्यान। इसलिये, यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण कर्मफल त्याग को श्रेष्ठ स्थान प्रदान करते हैं।

अपने कथन पर टिप्पणी को जोड़ते हुए भगवान् कहते हैं कि, "त्याग से तत्काल शान्ति मिलती है." हिन्दू धर्म में संन्यास का वास्तविक अर्थ यह है कि "इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्पर्क होने से उत्पन्न होने वाले सुख भोग की बन्धन कारक आसक्तियों को त्याग देना।"

इस त्याग के परिणामस्वरूप साधक को अन्तःकरण की प्रभावशाली शान्ति और स्थिरता प्राप्त होती है। ऐसे शान्त वातावरण में बुद्धि शास्त्र के ज्ञान पर मनन करके उसमें वर्णित आत्मविकास के साधनों को सम्यक् प्रकार से समझ पाती है। और इस प्रकार ज्ञानपूर्वक ध्यान का अभ्यास करने पर साधक को निश्चित ही सफलता मिलती है।

अब, अक्षर और अव्यक्त की उपासना करने वाले ज्ञानी भक्तजनों के आंतरिक लक्षण, अगले श्लोकों में बताये जा रहे हैं, जो साधकों के लिये पूर्णत्व प्राप्ति के उपायभूत साक्षात् साधन हैं:

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।
मय्यर्पित मनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

भूतमात्र के प्रति जो द्वेष रहित है तथा सबका मित्र तथा करुणावान् है; जो ममता और अहंकार से रहित, सुख और दुःख में सम तथा क्षमावान् है ॥१३॥

जो संयतात्मा, दृढ़निश्चयी योगी सदा सन्तुष्ट है, जो अपने मन और बुद्धि को मुझमें अर्पण किए हुए है, जो ऐसा मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है ॥१४॥

प्रस्तुत अध्याय के इस अन्तिम प्रकरण में, भगवान् श्रीकृष्ण, छः खण्डों में ज्ञानी भक्त के लक्षण बताते हैं, जो साधकों के लिये सम्यक् आचरण एवं जीवन पद्धति के साधन हैं। अर्जुन की समझ के लिए एक सच्चे भक्त का चित्रण करने में योगेश्वर श्रीकृष्ण पूर्णतया सफल हुए हैं। जिस प्रकार एक कुशल चित्रकार स्वयं के द्वारा बनाये जा रहे चित्र को बार-बार विभिन्न कोणों से देखते हुए उसे और अधिक स्पष्ट एवं सुन्दर बनाने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार इन सात श्लोकों के खण्ड में भगवान् श्रीकृष्ण, एक ज्ञानी भक्त के मन की सुन्दरता, बुद्धि की समता

और जगत् में उसके व्यवहार का अत्यन्त स्पष्ट और सुन्दर चित्रण करते हैं। इस दृष्टि से, सम्भवतः द्वितीय अध्याय में वर्णित स्थितप्रज्ञ पुरुष के लक्षणों के प्रकरण के अतिरिक्त, सम्पूर्ण गीता में प्रस्तुत खण्ड के तुल्य अन्य कोई भाग नहीं है।

हिन्दू धर्म के अनुयायियों पर सदाचार और नीतिशास्त्र के नियमों को ईश्वर के किसी पुत्र अथवा पैगम्बर ने अपनी स्वैच्छिक आज्ञाओं के रूप में नहीं थोपा है। इन आचारों एवं नीतियों की नियमावली को उन ईश्वरीय ज्ञानी, संत पुरुषों के व्यवहार को देखकर बनाया गया है, जिन्होंने आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त की थी और समाज में वैसा ही जीवन वास्तव में जिया था। ज्ञानी पुरुषों का सद्व्यवहार उनका स्वभाव बन चुका होता है, जो साधकों को अपनाने के लिए एक सूचक साधन बन जाता है। सर्वप्रथम, ज्ञानी भक्त के बाह्याचरण का अनुकरण करने से एक निष्ठावान साधक को उसकी आन्तरिक दिव्यता का भी अनुभव प्राप्त हो सकता है। इन भक्तजनों के लक्षण ही हमारे धर्म में विधान किये गये सदाचार और नीति के नियम हैं।

इस खण्ड के प्रारम्भिक दो श्लोकों में ग्यारह आदर्श गुणों का वर्णन किया गया है। उनमें से प्रत्येक गुण उत्तम भक्त के नैतिक पक्ष को उजागर करता है। जिस भक्त ने यह पहचान लिया है कि भूतमात्र में एक ही आत्मा व्याप्त है, जो उसका स्वयं का ही स्वरूप है, तो ऐसा आत्मैकत्वदर्शी पुरुष किसी से भी द्वेष नहीं कर सकता है, क्योंकि उसकी ज्ञान दृष्टि में कोई वस्तु परमात्मा से भिन्न है ही नहीं! कोई भी जीवित पुरुष अपने ही दाहिने हाथ से द्वेष नहीं कर सकता, क्योंकि वह उसमें भी व्याप्त है। कोई भी व्यक्ति अपने से ही द्वेष या घृणा नहीं करता है।

प्राणीमात्र के प्रति उसका भाव मैत्रीपूर्ण होता है, और सबके लिये उसके लिए उसके मन में करुणा होती है। सबको वह अभय प्रदान करता है। वह, अहंकार और वस्तुओं में ममत्व भाव से रहित होता है। सुख और दुःख से सम तथा किसी के द्वारा अपशब्द कहे जाने अथवा पीड़ित किए जाने पर भी अविकारी भाव से रहता है। शरीर धारणमात्र के लिए भी वस्तुओं के न होने पर वह सदा सन्तुष्ट एवं निजानन्द में मग्न रहता है। वह आत्मसंयमी तथा तत्त्व के स्वरूप के विषय में दृढ़ निश्चय वाला होता है। भगवान् कहते हैं कि, "अपने मन और बुद्धि को मुझमें ही अर्पित करने वाला मेरा भक्त, मुझे प्रिय है।"

भगवान् ने पहले भी सातवें अध्याय में कहा था कि, "ज्ञानी को मैं और मुझे ज्ञानी भक्त अत्यन्त प्रिय है।" उसी कथन को यहां और अधिक विस्तार से स्पष्ट किया गया है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।।१५।।

जिससे कोई लोक (अर्थात् जीव, व्यक्ति) उद्वेग को प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी व्यक्ति से उद्वेग अनुभव नहीं करता है तथा जो हर्ष, अमर्ष (असहिष्णुता) भय और उद्वेगों से मुक्त है, वह भक्त मुझे प्रिय है ।।१५।।

इस प्रकरण के द्वितीय भागरूप इस श्लोक में ज्ञानी भक्त के तीन और लक्षण बताये गए हैं ।

'जिस पुरुष से इस लोक को उद्वेग नहीं होता' – ज्ञानी पुरुष वह है, जो लोक में किसी प्रकार का विक्षेप या उद्वेग उत्पन्न नहीं करता है । जहाँ सूर्य है वहाँ अन्धकार नहीं रह सकता ; वैसे ही, जहाँ शान्त और आनन्दस्वरूप में स्थित ज्ञानी भक्त होगा, वहाँ अशान्ति और उदासी का प्रश्न ही नहीं उठता है। उसके आस-पास शान्ति, प्रेम और आनन्द का ही ऐसा वातावरण निर्मित होता है कि वहाँ पहुँचने पर एक क्षुब्ध और दु:खी पुरुष भी उस महात्मा पुरुष से प्रभावित होकर अपने दु:ख को भूलकर शान्ति का अनुभव करता है। वास्तविकता यो यह है कि सारा जगत् उस सन्त के समीप विवश हुआ सा दौड़ पड़ता है – केवल उसके ज्ञान और आनन्द को स्वयं में अनुभव करने के लिए !

'जो स्वयं भी किसी से उद्विग्न नहीं होता है' – न केवल वह सबको शान्ति प्रदान करता है बल्कि स्वयं अपनी शान्ति और आनन्द को किसी प्रकार से भी नहीं खोता है । जगत् की कोई भी स्थिति उसे उद्विग्न नहीं कर सकती। बाह्य दुर्व्यवस्था विरोध और प्रतिशोध की भावना से पूर्ण उपद्रवी लोगों के होने पर भी उसके मन में विक्षेप नहीं होता । भौतिक वस्तुओं का यह जगत् सदैव परिवर्तित होता रहता है, और सामान्यत: सबको विमूढ़ और दु:खी कर देने वाला मृत्यु का यह ताण्डव सन्त पुरुष की मन:शान्ति को रंचमात्र भी विचलित नहीं कर सकता है। मानो वह अधिक शक्तिशाली धातु का बना होता है और उसका जीवन सुदृढ़ नीव पर निर्मित होता है।

समुद्र की सतह पर अनेक लकड़ियाँ इतस्तत: बहती और भटकती रहती हैं, किन्तु समुद्री चट्टानों की दृढ़ नींव पर निर्मित दीपस्तम्भ समुद्र में उठने वाले ज्वार-भाटे का अवलोकन करते हुये निश्चल और सीधा खड़ा रहता है ; ज्ञानी पुरुष का व्यक्तित्व जीवन के अधिष्ठानस्वरूप सत्य वस्तु की अनुभूति में स्थित होने के कारण जीवन की सतही परिस्थितियों से कभी विचलित नहीं होता, क्योंकि

उसके मन में किसी वस्तु से कोई आसक्ति नहीं होती है। संघर्षमय परिस्थितियों के अन्तर्बाह्य भी वह एक नित्य अपरिवर्तनशील अधिष्ठान को देखता है. और प्रकृति के शुद्ध संगीत में मनुष्य से द्वारा उत्पन्न किये जा रहे बर्जित स्वरों में भी वह एक अचल और शुद्ध स्वर का ही श्रवण करता है।

वह हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेग[1] से मुक्त होता है। इस प्रकार जो भक्त अपने स्वयं के साथ तथा जगत् के साथ भी सदा शान्ति का अनुभव करता है, और जो परिस्थितियों पर शासन करता है, और उनका शिकार नहीं बनता है, जिसने सामान्य मनुष्यों के अवगुणों और प्रतिक्रियाओं को पार कर लिया है, ऐसा भक्त 'मुझे प्रिय है।'

इसी विषय में भगवान् आगे कहते हैं:

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥१६॥

जो अपेक्षा रहित, शुद्ध, दक्ष, उदासीन, व्यथा रहित और सर्व कर्मों का संन्यास करने वाला मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है॥१६॥

यह तीसरा भाग है। ज्ञानी भक्त के चरित्र पर यह श्लोक और अधिक प्रकाश डालता है। पूर्व के दो भागों में उसके चौदह लक्षण बताये जा चुके हैं, और अब इन छः गुणों को बताकर भक्त के चित्र को और अधिक स्पष्ट किया जा रहा है।

'जो अनपेक्ष (अपेक्षारहित) है' – सामान्य पुरुष अपने सुख और शान्ति के के लिये बाह्य, देश, काल, वस्तु व्यक्ति और परिस्थितियों पर आश्रित होता है। इनमें से प्रिय की प्राप्ति होने पर वह क्षण भर रोमांचित कर देने वाले हर्षोल्लास का अनुभव करता है। परन्तु एक सच्चा भक्त अपने सुख के लिए बाह्य जगत् की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि उसकी प्रेरणा, समता और प्रसन्नता का स्रोत हृदयस्थ आत्मा ही होता है।

---

१. इष्ट वस्तु की प्राप्ति पर 'हर्ष' होता है; उसके नहीं मिलने पर उससे सम्पन्न लोगों से 'अमर्ष' अर्थात् ईर्ष्या होती है; वस्तु की प्राप्ति हो जाने पर उसके खोने या नष्ट होने का 'भय' लगा रहता है; उसके खो जाने पर 'उद्वेग' होता है। जो व्यक्ति निष्काम हो जाता है, उसके मन में ये विक्षेप उत्पन्न नहीं होते हैं।

'जो शुचि अर्थात् शुद्ध है' – एक सच्चा भक्त शारीरिक शुद्धि तथा उसी प्रकार आन्तरिक शुद्धि से भी सम्पन्न होता है। जो भक्त साधक की स्थिति में भी शरीर मन और जगत् के साथ अपने सम्बन्धों में शुद्धि रखने के प्रति जागरूक रहता है वही फिर सिद्ध भक्त की शुचि को प्राप्त होता है। यह एक सुविदित तथ्य है कि कोई पुरुष जिस वातावरण में रहता है, उसे देखकर तथा उसकी वस्तुओं, वस्त्रों आदि की दशा देखर उस पुरुष के स्वभाव, अनुशासन तथा संस्कृति का अनुमान किया जा सकता है। शारीरिक शुचिता तथा व्यवहार में भी पवित्रता रखने पर भारत में अत्यधिक बल दिया गया है। बाह्य शुद्धि के बिना आन्तरिक शुद्धि मात्र दिवास्वप्न, या व्यर्थ की आशा ही सिद्ध होगी।

'दक्ष (कुशल)' – सदा सजगता तो सुगठित पुरुष का स्वभाव ही बन जाता है। किसी भी कार्य की सफलता की कुंजी उत्साह है। कुशल और समर्थ व्यक्ति वह नहीं है, जो अपने व्यवहार और कार्य में त्रुटियां करता रहता है। दक्ष भक्त मन से सजग और बुद्धि से समर्थ होता है। उसमें मन की शक्ति का अपव्यय नहीं होता; अत: एक बार किसी कार्य का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर लेने के पश्चात् वह उस कार्य की सिद्धि के लिये सदा तत्पर रहता है। जैसा कि हम देख रहे हैं, यदि धार्मिक कहे जाने वाले लोग अपने कार्य में आलसी, असावधान और अशिष्ट हो गये हैं, तो हम समझ सकते हैं कि हिन्दू धर्म अपने प्राचीन वैभव से कितना दूर भटक गया है।

'उदासीन' – समाज में ऐसे अनेक भक्त कहे जाने वाले लोगों का मिलना कठिन नहीं है, जिन्होंने अपने आपको एक अनभिव्यक्त दु:खपूर्ण स्थिति में समर्पित कर दिया है ! और उसका कारण केवल यह है कि किसी ने उनके साथ विश्वासघात अथवा दुर्व्यवहार किया था। ऐसे मूढ़ भक्त सोचते हैं कि समाज के इन अपराधों के प्रति वे उदासीन रहेंगे। बाद में उनकी भक्ति ही उन्हें एक दुर्भाग्यपूर्ण दायित्व प्रतीत होने लगती है, न कि एक वास्तविक लाभ ! दर्शनशास्त्र को विपरीत समझने पर उसकी समाप्ति समाज के आत्मघात में ही होती है।

'उदासीन भाव' का प्रयोजन केवल अपनी मन की शक्तियों का अपव्यय रोकने के लिये ही है। मनुष्य के जीवन में, छोटी-छोटी कठिनाइयाँ, सामान्य बीमारियां सुखसुविधा का अभाव आदि का होना तो स्वाभाविक और सामान्य बात है। उनको ही अत्यधिक महत्व देना और उनकी निवृत्ति के लिये दिन रात प्रयत्न करते रहने का अर्थ जीवन पर्यन्त परिस्थितियों को अनुकूल बनाने के संघर्ष में ही डूबे रहना है। यहां साधक को यह उपदेश दिया गया है कि जीवन की इन साधारण परिस्थितियों में वह अपनी मानसिक शक्ति को व्यर्थ ही नहीं खोने दे, बल्कि इन घटनाओं

में उदासीन भाव से रहकर शक्ति का संचय करे। छोटे-मोटे दुःख और कष्ट अनित्य होने के कारण स्वतः ही निवृत्त हो जाते हैं, अतः उनके लिये चिन्ता और संघर्ष करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

'व्यथारहित (भयरहित)' – जब मनुष्य किसी वस्तु विशेष की कामना से अभिभूत हो जाता है, तब उसे मन में यह भय लगा रहता है कि कहीं उसकी इच्छा अतृप्त ही नहीं रह जाये। परन्तु ज्ञानी भक्त सब कामनाओं से मुक्त होने के कारण निर्भय होता है।

'सर्वारम्भ परित्यागी' – संस्कृत में 'आरम्भ' शब्द का अर्थ कर्म भी होता है। अतः 'सर्वारम्भ परित्यागी' शब्द का अर्थ कोई यह नहीं समझे कि भक्त वह है, जो सब कर्मों को त्याग देता है! इस प्रकार के शाब्दिक अर्थ के कारण बहुसंख्यक हिन्दू लोग कर्म करने में अकुशल और आलसी हो गये हैं। इन लोगों को देखकर ही अन्य लोग हमारी आलोचना करते हुए कहते हैं कि हिन्दू धर्म में आलस्य को ही दैवी आदर्श के रूप में गौरवान्वित किया गया है! परन्तु यह अनुचित है, क्योंकि इस शब्द के आशय की सर्वथा उपेक्षा की गयी है। यदि कोई व्यक्ति किसी कर्म में निश्चित प्रारम्भ देखता है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह स्वयं को उस कर्म का आरम्भकर्ता मानता है। उसके मन में यह भाव दृढ़ होना चाहिए कि उसने ही यह कर्म विशेष किसी विशेष फल को प्राप्त करने के लिये प्रारम्भ किया है, जिसे प्राप्त कर वह कोई निश्चित लाभ या सुख प्राप्त करेगा। जो पुरुष भगवान् का भक्त है, और साँस्कृतिक पूर्णत्व को प्राप्त करना चाहता है, उसको इस प्रकार के मान और कर्तृत्व के अभिमान को सर्वथा त्याग कर निरहंकार भाव से जगत् में कर्म करने चाहिये।

वास्तविकता यह है कि हमारे जीवन में कोई भी कर्म नया नहीं है, जिसका अपना स्वतन्त्र प्रारम्भ और समाप्ति हो। सम्पूर्ण जगत् के सनातन कर्म व्यापार में ही सभी कर्मों का समावेश हो जाता है। यदि भलीभांति विचार किया जाये तो ज्ञात होगा कि हमारे सभी कर्म जगत् में उपलब्ध वस्तुओं और स्थितियों से नियन्त्रित नियमित, शासित और प्रेरित होते हैं। ईश्वर के भक्त को विश्व की इस एकता का सदैव भान बना रहता है, और इसलिये, वह जगत् में सदा ईश्वर के हाथों में एक करण या निमित्त के रूप में कर्म करता है, न कि किसी कर्म के स्वतन्त्र कर्ता के रूप में।

उपर्युक्त सद्गुणों से सम्पन्न भक्त 'मुझे प्रिय है।'

भक्त के कुछ और लक्षण बताते हुए भगवान् कहते हैं :

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

जो न हर्षित होता है और न द्वेष करता है; न शोक करता है और न आकांक्षा; तथा जो शुभ और अशुभ को त्याग देता है, वह भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है ॥१७॥

वह पुरुष परम भक्त कहलाता है जिसने मन और बुद्धि की अनात्म उपाधियों तथा जगत् से अपने तादात्म्य को त्याग कर आनन्दस्वरूप आत्मा में दृढ़ स्थिति प्राप्त कर ली है। अतः स्वाभाविक ही है कि अनात्म जगत् से होने वाले सुख-दुःखादिक अनुभव उसे किसी भी प्रकार से न आकर्षित कर सकते हैं और न विचलित। इसे ही इस श्लोक में बताया गया है।

सामान्य मनुष्य जगत् की सभी वस्तुओं को वे जैसी हैं, वैसी ही नहीं देखता है। उसे कोई वस्तु प्रिय होती है, तो कोई अप्रिय। तत्पश्चात् वह प्रिय वस्तु की 'आकांक्षा' या इच्छा करता है और अप्रिय से 'द्वेष'। इसके पश्चात, तीसरा द्वन्द्व उत्पन्न होता हैं प्रवृत्ति और निवृत्ति का। अर्थात् इच्छित वस्तु को प्राप्त करने के लिए और द्वेष्य वस्तु को त्यागने के लिए वह प्रयत्न करता है। इसके परिणाम-स्वरूप इष्ट की प्राप्ति होने पर वह 'हर्षित' होता है, अन्यथा 'शोक' करता है। ज्ञानी भक्त में इन समस्त विकारों और प्रतिक्रियाओं का यहां अभाव बताया गया है। इसका कारण यह है कि वह अपने परम आनन्दस्वरूप में स्थिति होने के कारण बाह्य मिथ्या वस्तुओं में सुख और दुःख की कल्पना करके उनसे राग या द्वेष नहीं करता है। राग और द्वेष के द्वन्द्व के अभाव में हर्ष और शोक का स्वतः अभाव हो जाता है। वह भक्त जगत् को अपनी कल्पना की दृष्टि से न देख कर यथार्थ रूप में देखता हैं।

'शुभाशुभपरित्यागी' – जब मनुष्य अपने आन्दस्वरूप को नहीं जानता हैं तब बाह्य जगत् में वह सुख और शांति की खोज करता रहता है। उस स्थिति में, अपने राग और द्वेष के कारण वस्तुओं की प्राप्ति के लिए शुभ और अशुभ (पुण्य और पाप) दोनों ही प्रकार के कर्म करता है। परन्तु, भक्त के मन में राग और द्वेष नहीं होने के कारण वह शुभ और अशुभ दोनों से ही मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते है कि उपर्युक्त श्लोक में प्रयुक्त सभी शब्दों का एक विशेष गूढ़ अभिप्राय है। अन्यथा केवल वाच्यार्थ को ही स्वीकार करने पर ऐसा प्रतीत होगा कि ज्ञानी भक्त कोई शव अथवा पाषाण मात्र है, क्यों कि 'वह न इच्छा

करता है और न द्वेष; न हर्षित होता है और न दुःखी' – अर्थात् वह मृत पड़ा रहता है !! यह श्लोक इस बात का अत्यन्त प्रभावी उदाहरण है कि धर्म शास्त्रों के शब्दों का वाच्यार्थ उसके मर्म या प्रयोजन को स्पष्ट नहीं करता है। अतः उनके लक्ष्यार्थ पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

इस श्लोक में वर्णित गुणों से युक्त भक्त भगवान् को प्रिय होता है। यह श्लोक प्रस्तुत प्रकरण का चतुर्थ भाग है, जिसमें ज्ञानी भक्त के और छः लक्षण बताये गये हैं। इस प्रकार अब तक छब्बीस गुणों को बताया गया है, जो भक्त के 'स्वाभाविक लक्षण' होते हैं।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

जो पुरुष शत्रु और मित्र में तथा मान और अपमान में सम है; जो शीत-उष्ण व सुखदुःखादिक द्वन्द्वों में सम है और आसक्ति रहित है ॥१८॥

जिसको निन्दा और स्तुति दोनों ही तुल्य है, जो मौनी है, जो किसी अल्प वस्तु से भी सन्तुष्ट है, जो अनिकेत है, वह स्थिर बुद्धि का भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है ॥१९॥

'जो शत्रु और मित्र में सम है' – किसी व्यक्ति को शत्रु या मित्र के रूप में देखना 'मन' का काम या खेल है। यद्यपि ज्ञानी पुरुष किसी से शत्रुता नहीं रखता, परन्तु अन्य लोग उसके प्रति शत्रु या मित्र का भाव रख सकते हैं। उन दोनों के साथ एक भक्त समान रूप से व्यवहार करता है।

'जो मान और अपमान में सम है' – स्वयं को सम्मानित या अपमानित अनुभव करना 'बुद्धि' का धर्म हैं। बुद्धि अपने ही मापदण्ड निर्धारित करके लोगों के व्यवहार का मूल्यांकन करती रहती है। जिस किसी प्रकार के व्यवहार से मनुष्य सम्मानित अनुभव करता है, वही उसे अपमान प्रतीत होता है, जब उसके जीवन मूल्य परिवर्तित हो जाते हैं। जो पुरुष बुद्धि के स्तर पर रहता है, उसे ही मान और अपमान प्रभावित कर सकते हैं, आत्मस्वरूप में स्थित भक्त को नहीं।

'जो शीत और उष्ण में सम रहता है' – शीत और उष्ण का अनुभव 'शरीर'

द्वारा होता है और उसका प्रभाव भी शरीर पर ही पड़ता है। अम्ल, अग्नि या बर्फ का विचार करने मात्र से भावनायें अथवा विचार उष्ण या शीत नहीं हो जाते ! वे केवल स्थूल शरीर को ही प्रभावित कर सकते हैं। अत: संस्कृत का यह वाक्प्रचार जब वेदान्त में प्रयोग किया जाता है, तब उससे तात्पर्य उन समस्त अनुभवों से होता है, जो स्थूल शरीर के स्तर पर प्राप्त किये जाते हैं और जिनका उत्तरदायी शरीर ही होता है।

उपर्युक्त तीन प्रकार के अनुभवों में, वस्तुतः, जीवन में शरीर, मन और बुद्धि के स्तर पर होने वाले समस्त अनुभवों का समावेश हो जाता है। इन सबमें परम भक्त पुरुष अक्षुब्ध रहता है, क्योंकि वह 'आसक्तिरहित' होता है। अनात्म उपाधियों से आसक्ति होने के कारण ही हम अपने जीवन में होने वाली प्रत्येक अल्प-सी घटना से भी अत्यधिक विचलित हो जाते हैं ; जब कि संगरहित पुरुष उन सबका शासक बन कर रहता है।

'तुल्यनिन्दास्तुतिः' – इस विशेषण से यह नहीं समझें कि भक्त अपने अपमान निन्दा या स्तुति के प्रति संवेदनाशून्य हो जाता है, और उसमें इतनी भी बुद्धिमत्ता नहीं होती कि वह उन्हें ठीक से समझ पाये। एक महान् भक्त जो अपने सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त सच्चिदानन्द स्वरूप की रसानुभूति में मग्न रहता है, उसे संसारी पुरुषों द्वारा की गई निन्दा और स्तुति अत्यन्त तुच्छ और अर्थहीन प्रतीत होती है। वह भलीभाँति जानता है कि जिस पुरुष की आज समाज में स्तुति और प्रशंसा की जा रही है, उसी पुरुष को यही समाज कल अपमानित भी करेगा ; और आज का निन्दित पुरुष कल का स्तुत्य नेता भी बनेगा ! निन्दा और स्तुति ये दोनों ही संसारी लोगों के मन की क्षणिक तरंग मात्र होती है !

'मौनी' – ज्ञानी भक्त मौनी होता है। इसका अर्थ है कि वह अतिवादी नहीं होता। मौन का वास्तविक अर्थ है मननशीलता। अत: केवल वाचिक मौन वास्तविक मौन नहीं कहा जा सकता है। केवल वाणी के मौन से पुरुष का मन तो वाचाल बना रहता है, और उसका परिणाम गम्भीर रूप भी धारण कर सकता है। मौन होकर देखें, तो ज्ञात होगा कि मौन कितना शान्त हो सकता है !

'किसी भी अल्प वस्तु से वह सन्तुष्ट हो जाता है' – आन्तरिक विकास के निष्ठावान् साधकों का यह सिद्धान्त या आदर्श होता है कि उन्हें जो कोई वस्तु संयोग से, बिना मांगे और अनपेक्षित रूप से प्राप्त हो जाती है, उसी से वे सन्तुष्ट रहते हैं। जीवन में अनेक इच्छायें करके उन्हें पूर्ण करने के लिए दिनरात प्रयत्न करते रहना, एक कभी न समाप्त होने वाला खेल है, क्योंकि निरन्तर तीव्र गति से इच्छाओं को उत्पन्न करते रहने की कला में मनुष्य का मन निपुण होता है। समस्त

लगनशील साधकों के लिए सन्तोष की नीति अपनाना ही बुद्धिमत्ता की लाभदायक बात है ; अन्यथा जीवन के दिव्य लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये उसके पास कभी समय ही नहीं रहेगा । निष्ठा एवं सावधानीपूर्वक की गई साधना का फल व्यक्तित्व का सुगठन और आत्मानुभूति है । महाभारत में[1] कहा गया है कि "जिस किसी भी वस्त्र से आवृत, जिस किसी के भी द्वारा भोजन कराये हुये तथा जहाँ कहीं भी शयन करने वाले पुरुष को देवतागण ब्राह्मण समझते हैं ।"

'अनिकेत' – इस शब्द का अर्थ है "वह पुरुष जो गृहरहित है ।" सामान्यत: गृह उसे कहते हैं, जो उसमें निवास करने वाले लोगों की बाह्य जलवायु की प्रचण्डताओं से रक्षा करता है । आत्मज्ञान का साधक पुरुष सभी उपाधियों से तादात्म्य को तोड़कर उनके साथ के ममत्वरूपी बन्धनों से विमुक्त होने का प्रयत्न करता है ।

किसी एक छत के नीचे रहने मात्र से वह गृह नहीं कहलाता । रेलवे स्टेशन पर अथवा विमान स्थल के विश्रामगृह में रात भर निवास करने से वह अपना घर नहीं बन जाता । परन्तु जिस छत के नीचे के निवास स्थान में ममत्व का अभिमान तथा वहाँ रहने से सुख और आराम का अनुभव होता है वह स्थान अपना घर बन जाता है । भक्त का आश्रय और निवास स्थान तो सर्वव्यापी परमात्मा ही होने के कारण इन लौकिक गृहों में वह ममत्व भाव से रहित रोता है । उसके मन की स्थिति या भाव को यहाँ इस सरल किन्तु अत्यन्त उपयुक्त शब्द 'अनिकेत:' के द्वारा दर्शाया गया है ।

भगवत्स्वरूप के विषय में जिसकी मति स्थिर हो गयी है, अर्थात् उसे कोई संशय नहीं रह गया है, ऐसा भक्तिमान पुरुष (नर) "मुझे प्रिय है ।" "नर" शब्द से यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि जो पुरुष कम-से-कम इस भक्तिमार्ग पर चलने का प्रयत्न करता है, वही गीताचार्य की दृष्टि से विकसित मनुष्य कहलाने योग्य है ।

इन दो श्लोकों को मिलाकर यह पांचवा भाग है जिसमें भक्त के दश लक्षण बताये गए हैं । इस प्रकार अब तक छत्तीस गुणों का वर्णन करके भगवान् श्रीकृष्ण ने एक ज्ञानी भक्त का सम्पूर्ण शब्दचित्र चित्रित कर दिया है । इस चित्र में हमें

---

१. येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः ।
यत्र क्वचन शायी स्यात्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥
(महाभारत, शान्तिपर्व २४५–१२)

भक्त का व्यवहार, उसका मानसिक जीवन और जगत् के प्राणियों एवं घटनाओं के प्रति उसका बौद्धिक मूल्यांकन – आदि का दर्शन होता है।

एक उत्तम भक्त के नैतिक एवं सदाचार के गुणों का वर्णन करने वाले इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं :

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

जो भक्त श्रद्धावान् तथा मुझे ही परम लक्ष्य समझने वाले हैं और इस यथोक्त धर्ममय अमृत का अर्थात् धर्ममय जीवन का पालन करते हैं, वे मुझे अतिशय प्रिय हैं ॥२०॥

'यथोक्त अमृत धर्म' – उपर्युक्त पंक्तियों में सनातन धर्म का सार दिया गया है। वस्तुतः हिन्दू धर्म के अनुयायियों के जीवन का लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार करके उसी जीवन को अपने व्यक्तित्व के सभी स्तरों – शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक-पर जीने का है। उसके लिए केवल इतना पर्याप्त नहीं है कि वह इस ज्ञान को बौद्धिक स्तर पर समझता है अथवा नियमित रूप से शास्त्रग्रंथ का पाठ करता है, या उन्हें अच्छी प्रकार दूसरों को समझा भी सकता है। उसे चाहिये कि वह शास्त्रीय ज्ञान को आत्मसात् करके स्वयं पूर्ण पुरुष बन जाये। इसलिए, भगवान् कहते हैं कि उसे श्रद्धावान् होना चाहिये ; यहाँ श्रद्धा शब्द का अर्थ है "स्वयं के अनुभव के द्वारा शास्त्र प्रतिपादित आत्मज्ञान को आत्मसात् करने की क्षमता।"

'ऐसे भक्त मुझे अतिशय प्रिय हैं' – इस श्लोक के साथ भक्त के लक्षणों का वर्णन करने वाले इस प्रकरण का षष्ठ भाग तथा यह अध्याय भी समाप्त होता है। यद्यपि इसमें और कोई नया लक्षण नहीं बताया गया है, तथापि इसमें भगवान् का समस्त साधकों को दिया हुआ पुनराश्वासन है कि उक्त गुणों से सम्पन्न साधकों को भगवान् की परा भक्ति प्राप्त होगी।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे भक्तियोगोनाम द्वादशोऽध्यायः ॥

इस प्रकार श्रीकृष्णार्जुन संवाद के रूप में ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रस्वरूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् का भक्तियोग नामक बारहवां अध्याय समाप्त होता है।

इस अध्याय का नाम भक्तियोग है। इसका अध्ययन करके सम्यक् प्रकार से समझने से भगवान् के प्रति हमारा प्रेम वास्तविक और पोषित होगा। इस प्रकार भक्ति साधना के विषय में हमारे मन में जो भी विपरीत धारणायें हैं वे भी दूर हो जायेंगी। भक्ति का मार्ग कोई मनोवेगों का विस्फोट या अत्यधिक भावुकता का प्रदर्शन करना नहीं है। यह कोई तुच्छ, निरर्थक उन्माद नहीं है। यह तो मनुष्य के व्यक्तित्व का खिल जाना है या निखर जाना है ; और इसका उपाय है अपने जीव भाव को ईश्वर के चरणों में समर्पित करना तथा गहन ध्यान से अनुप्राणित क्षणों द्वारा नव चैतन्य प्राप्त करना। यही मानव का परम पुरुषार्थ है।

ॐ

त्रयोदश अध्याय

क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

गीता के सुप्रसिद्ध अध्यायों में से यह एक अध्याय है। इसमें आत्मज्ञान के जिज्ञासुओं को उनके उस द्रष्टास्वरूप आत्मा का ज्ञान और अनुभव कराया गया है, जो सर्व अनात्म जड़ उपाधियों तथा उनके द्वारा ग्रहण किये जाने वाले इस जगत् से सर्वथा मुक्त है। यहां अक्षर और अव्यक्त आत्मतत्त्व के साक्षात् ध्यान का भी विस्तृत विवेचन किया गया है।

गीता एक दार्शनिक काव्य होने के कारण, अपने तापस सौन्दर्य को, कृष्ण के प्रेम और अर्जुन की दुर्बलताओं के मानवीय स्पर्शों से सुरभित अपने ही भावव्यंजक गीत के मनमोहक परिधान में आवृत्त करने का कितना ही प्रयत्न क्यों न करे, वह ऋषियों के ज्ञान की गरजती हुई अधिकारिक घोषणा ही है, जिसे आवृत कर पाना सर्वथा असंभव है। इस कारण, इस दार्शनिक काव्य में विषयवस्तु का विवेचन निर्मम तर्कनिष्ठ एवं विशुद्ध वैज्ञानिक पद्धति का है। उसी प्रकार, इसमें विचारों के क्रमिक विकास की निरन्तरता भी अन्त तक बनी हुई है।

इस अध्याय के विषय वस्तु का मूल ज्ञानविज्ञानयोग' नामक सातवें अध्याय में तथा 'अक्षरब्रह्मयोग' नामक आठवें अध्याय में निहित है। तत्पश्चात् चार अध्यायों की आवश्यकता तथा औचित्य अर्जुन के बौद्धिक संकोच तथा मन की शंका के कारण है। परन्तु एक दार्शनिक के रूप में भगवान् श्रीकृष्ण को 'अक्षरब्रह्म' के अपने मूल विषय का कदापि विस्मरण नहीं होता है। अतः, जब एक बार वे अपने शिष्य को आश्वस्त करते हैं तथा उसकी तात्कालिक शंका का निवारण कर देते हैं तब वे पुनः शान्तिपूर्वक मूल विवेचन का सूत्र अपने हाथ में ले लेते हैं।

गीता के कुछ व्याख्याकारों ने इसके अष्टादश अध्यायों को तीन भागों में वर्गीकृत किया है, जिसके प्रत्येक भाग में छः अध्याय हैं।[1] इनमें से प्रत्येक भाग 'तत्त्वमसि' महावाक्य के एक-एक पद का निरूपण करता है। प्रथम छः अध्यायों

१. देखिये सातवें अध्याय की प्रस्तावना।

के भाग में 'त्वम्' (तुम) पद का तथा द्वितीय षडाध्यायी में 'तत्' (वह) पद का विवेचन मिलता है। 'तत्' और 'त्वम्' का वाच्यार्थ क्रमशः ईश्वर और जीव है। अब, इस अन्तिम षडाध्यायी में, इन दोनों के सम्बन्ध के परिचायक शब्द 'असि' (हो) क्रिया पद का विवेचन किया गया है। तत्त्वमसि का अर्थ है 'वह तुम हो।'

शरीरादि जड़ उपाधियों से अवच्छिन्न–सा हुआ आत्मा ही जीव है। उपाधियों का परिधान धारण किए हुए 'वह' ही अभिमानी 'तुम' है। इसलिये, उपाधिविनिर्मुक्त जीव ही नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा है।

उपाधियों के तादात्म्य को दूर करने के लिये, हमें, सर्वप्रथम उन समस्त उपाधियों का स्पष्ट ज्ञान होना अनिवार्य है। इसी आत्मानात्मविवेक को इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है, जिसका 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग'[1] नाम अत्यन्त उपयुक्त है।

निदिध्यासन में उपाधियों के इस तादात्म्य की निवृत्त का ही अभ्यास किया जाता है। 'ध्यानयोग का शास्त्रीय विवेचन[2] इसके पूर्व किया जा चुका है, जिसमें आसन, ध्यानविधि, मन का भाव इत्यादि का विस्तृत वर्णन किया गया है। परन्तु ध्यानाभ्यास के लिये आसीन होने के पश्चात् निश्चित रूप से हमें अपने सुगठित मन और बुद्धि के द्वारा क्या करना है ? क्या हम स्वयं ही अपने द्वारा अपने अनन्त आत्मस्वरूप के साथ तादात्म्य कर सकते हैं ? इसका विस्तारपूर्वक वर्णन इस अध्याय में किया गया है।

शरीर, इन्द्रिय, मन आदि जड़ उपाधियां तथा उनके द्वारा दृश्य रूप में अनुभव किया जाने वाला जगत् – ये दोनों क्षेत्र कहलाते है; और जो चैतन्यस्वरूप परमात्मा इस क्षेत्र को प्रकाशित करता है, वह इन्द्रियादि उपाधियों की दृष्टि से 'क्षेत्रज्ञ' अर्थात् 'क्षेत्र का ज्ञाता' कहलाता है। जब वह क्षेत्र को प्रकाशित करता है, तभी उसे क्षेत्रज्ञ नाम मिलता है। इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा का क्षेत्रज्ञत्व औपाधिक है, स्वाभाविक नहीं।

वाहन को चलाने पर व्यक्ति चालक कहलाता है और अश्व पर बैठा अश्वारुढ़ तथा नदी में तैरते हुए तैराक कहलाता है। वाहन, अश्व और नदी से विलग होने पर अर्थात् इन उपाधियों के न होने पर वह व्यक्ति न चालक है, न आरुढ़ और न ही तैराक; वह केवल एक साधारण मनुष्य ही रह जाता है। वेदान्त की भाषा में हम कहेंगे कि उस व्यक्ति का चालकत्व आदि औपाधिक (उपाधियों के कारण) है, स्वाभाविक नहीं।

---

१. क्षेत्र अनात्मा और क्षेत्रज्ञ ही आत्मा है।

२. गीता अ. ६.

इसी प्रकार, चैतन्य स्वरूप आत्मा जब इन्द्रिय, मन और बुद्धि की उपाधियों द्वारा इस नामरूपमय सृष्टि को जानता है तब वह 'क्षेत्रज्ञ' कहलाता है, और फिर यह क्षेत्रज्ञ सुख-दुःख, सफलता-विफलता, शांति-विक्षेप, राग-द्वेष अदि असंख्य क्षुब्ध करने वाली वृत्तियों का तथा अनुभवों का भोक्ता बन जाता है। इस प्रकार, संसार दुःख की व्यक्तिगत सम्पत्ति इस क्षेत्रज्ञ–जीव की ही है।

यदि विवेक के द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को विभक्त किया जाये, तो फिर ध्यानाभ्यास के द्वारा साधक अनात्मा से तादात्म्य को दूर कर आत्मस्वरूप में स्थित हो सकता है। उस स्थिति में स्वाभाविक ही है कि वह क्षेत्र के दुःखपूर्ण अनुभवों से मुक्त हो जायेगा। क्षेत्र के अभाव में उसका क्षेत्रज्ञत्व भी समाप्त होकर वह शुद्ध ज्ञप्ति-स्वरूप या ज्ञानस्वरूप ही रह जाता है। इस अध्याय का सावधानीपूर्वक किया गया अध्ययन हमारे हृदय में स्थित आध्यात्मिक दृष्टि की विशाल रंगभूमि के अनेक गुप्त वातायनों को अनावृत कर देगा।

अर्जुन उवाच

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥१॥

अर्जुन ने कहा–

हे केशव ! मैं, प्रकृति और पुरुष, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ तथा ज्ञान और ज्ञेय को जानना चाहता हूँ ॥१॥

गीता की अनेक पाण्डुलिपियों में यह श्लोक नहीं मिलता है, जबकि कुछ अन्य हस्तलिपियों में यह अर्जुन की जिज्ञासा के रूप में दिया हुआ है।

'प्रकृति और पुरुष' भारतीय सांख्य दर्शन के प्रणेता कपिल मुनि जी ने जड़ और चेतन तत्त्वों का निर्देश क्रमशः प्रकृति और पुरुष इन दो शब्दों से किया है। इन दोनों के संयोग से ही उस सृष्टि का निर्माण हुआ है इन्हें अर्जुन जानना चाहता है।

'क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ' – इन दो शब्दों का अर्थ इस अध्याय की प्रस्तावना में स्पष्ट किया गया है।

'ज्ञान और ज्ञेय' – इस अध्याय में 'ज्ञान'[1] शब्द से तात्पर्य उस शुद्धान्तःकरण

---

१. ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम् – अर्थात् "जिसके द्वारा वस्तु को जाना जाता है, वह 'ज्ञान' है।'

से हैं, जिसके द्वारा ही आत्मतत्त्व का अनुभव किया जा सकता है यह आत्मा ही 'ज्ञेय' अर्थात् 'जानने योग्य वस्तु' है ।

अर्जुन की इस जिज्ञासा के उत्तर को जानना सभी साधकों को लाभदायक होगा ।

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।।२।।

श्रीभगवान् ने कहा–

हे कौन्तेय ! यह शरीर क्षेत्र कहा जाता है और इसको जो जानता है, उसे तत्वज्ञ जन, क्षेत्रज्ञ कहते हैं ।।२।।

पूर्णत्व का अनुभव आत्मस्वरूप से होता है, न कि दृश्य रूप से । हिन्दू ऋषियों का इस विषय में एकमत है कि अन्तर्मुखी होकर आत्मविचार करना ही आत्मबोध तथा उसके साक्षात् अनुभव का 'साधन मार्ग' है । इस अध्याय में आत्मा और उसकी उपायियों का सुन्दर दार्शनिक पद्धति से विभाजन किया गया है । आत्मा-नात्मविवेक जनित बोध ही साधक को यह दर्शायेगा कि किस प्रकार पारमार्थिक सत्य की दृष्टि से जड़ अनात्मा का आत्यन्तिक (सर्वथा) अभाव है ।

जाग्रत पुरुष ही अपनी किसी एक विशेष मनःस्थिति से स्वप्नद्रष्टा बन जाता हैं, और जब तक स्वप्न बना रहता है तब तक उस स्वप्नद्रष्टा के लिए वह अत्यन्त सत्य प्रतीत होता है । परन्तु जाग जाने पर उस स्वप्न का अभाव हो जाता है, और जाग्रत पुरुष यह जानता है कि वह स्वप्न उसके ही मन का एक विभ्रम मात्र था । इसी प्रकार आत्मानुभूति की वास्तविक जागृति में इस दृश्य प्रपंच का अभाव होता है । साधक अपने आत्मस्वरूप से ही आत्मा का अनुभव करता है, जिसमें यह 'छाया-रूप' जगत् का कोई अस्तित्व ही नहीं है ।

इस प्रकार, वेदान्त दर्शन के अनुसार विचार करने पर ज्ञात होता है कि समस्त प्राणी दो तत्त्वों से बने हैं । एक तत्त्व है जड़–अचेतन और दूसरा है चेतन तत्त्व । प्रस्तुत श्लोक में इन दोनों को पारिभाषित किया गया है ।

'यह शरीर क्षेत्र कहलाता हैं' – इस यान्त्रिक युग में यह समझना सरल है कि ऊर्जा को व्यक्त होने अथवा कार्य करने के लिये उपयुक्त 'क्षेत्र' की आवश्यकता होती

है। केवल तभी वह व्यक्त होकर मानव की सेवा कर सकती है। इंजन के बिना वाष्पशक्ति तथा पंखे के बिना विद्युत् शक्ति हमें क्रमशः गति और मन्द समीर प्रदान नहीं कर सकती। इसी प्रकार, जिन शरीरादि उपाधियों के माध्यम से आत्मचैतन्य व्यक्त होता है, उन्हें ही यहां 'क्षेत्र' कहा गया है।

'इसको जो जानता है उसे 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं' – यह क्षेत्र जड़ पदार्थों से बना हुआ है। तथापि, इसमें चैतन्य की अभिव्यक्ति होने से यह कार्य करता है और विषयों को जानता है। वास्तव में, यह चेतन तत्त्व जो इन उपाधियों से व्यक्त होकर विषयों को प्रकाशित कर रहा है वह 'क्षेत्रज्ञ' है। शास्त्रीय भाषा में कहेंगे कि उपाधि से अवच्छिन्न चैतन्य ही क्षेत्रज्ञ अथवा जीव कहलाता है।

जब तक जीव शरीर धारण किए रहता है, उसकी उपस्थिति 'जानने की प्रवृत्ति' से स्पष्ट ज्ञात होती है। इस जिज्ञासा की प्रवृत्ति की मात्रा विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न तारतम्य में हो सकती है। परन्तु, इसके व्यक्त होने को ही हम जीवन का लक्षण मानते हैं। प्राणी की विषयं ग्रहण की तथा उनके प्रति अपनी प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करने की क्षमता ही जीवन का व्यवहार है, और जब यह 'ज्ञाता', शरीर का त्याग करके चला जाता हैं तब हम उस शरीर को मृत घोषित करते हैं। यह ज्ञाता ही क्षेत्रज्ञ है।

'तद्विदः (तत्वज्ञजन)' – यहां, भगवान् श्रीकृष्ण हमें आश्वस्त करते हैं कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की ये परिभाषाएं उनकी स्वच्छन्द घोषणा नहीं हैं और न ही ये केवल परिकल्पित अनुमान है, अपितु स्वयं ब्रह्मनिष्ठ ऋषियों द्वारा ही ये प्रमाणित की गई हैं। संक्षेप में, सम्पूर्ण जड़ जगत् क्षेत्र है और चैतन्य स्वरूप आत्मा क्षेत्रज्ञ कहा जाता है।

क्या इस विषय में केवल इतना ही जानना है? नहीं, आगे सुनो :

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥३॥

हे भारत! तुम समस्त क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मुझे ही जानो। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वही (वास्तव में) ज्ञान है, ऐसा मेरा मत है ॥३॥

पूर्व श्लोक में यह कहा गया है कि जड़ उपाधियां क्षेत्र हैं और इनका अधिष्ठान चैतन्य स्वरूप आत्मा क्षेत्रज्ञ है। यहां सबको चकित कर देने वाला कथन है कि 'समस्त क्षत्रों में क्षेत्रज्ञ मुझे ही जानो।' यदि, सब क्षेत्रों में 'ज्ञाता' एक ही है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि बहुलता और विविधता केवल जड़ उपाधियों में ही है

और उनमें व्यक्त चैतन्य सर्वत्र एक ही है। इस सर्वश्रेष्ठ, सर्वातीत एक सत्य को यहां उत्तम पुरुष एक वचन के रूप में निर्देशित किया गया है, "क्षेत्रज्ञ मैं हूँ", क्योंकि सभी साधकों को यह इसी रूप में अनुभव करना है कि, "वह मैं हूं" (सोऽहम्)।

हम पहले भी इंगित कर चुके हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण गीता का उपदेश योगारूढ़[1] की स्थिति के विरले क्षणों में कर रहे हैं। वे सर्वव्यापी आत्मस्वरूप से तादात्म्य किये हुये हैं। इस श्लोक का उनका कथन विद्युत के इस कथन के समान है कि, "मैं ही विश्वभर के बल्बों में प्रकाशित हो रही ऊर्जा हूं।"

इस सम्पूर्ण विविध नामरूपमय सृष्टि के पीछे विद्यमान एकमेव सत्य का निर्देश करने के पश्चात् भगवान् अपना मत बताते हुए कहते हैं कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विवेकजनित ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान कहलाने योग्य है, क्योंकि यही ज्ञान हमें अपने सांसारिक बन्धनों से मुक्त कराने में समर्थ है। इस ज्ञान के अभाव में ही हम जीव-भाव के समस्त दु:खों को भोग रहे हैं।

ज्ञानमार्ग के निष्ठावान् साधकों के लिए यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान उपयोगी और आवश्यक होने के कारण उन्हें उनका विस्तृत अध्ययन करना होगा।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥४॥

इसलिए, वह क्षेत्र जो है और जैसा है तथा जिन विकारों वाला है, और जिस (कारण) से जो (कार्य) हुआ है तथा वह (क्षेत्रज्ञ) भी जो है और जिस प्रभाव वाला है, वह संक्षेप में मुझसे सुनो ॥४॥

भगवान् श्रीकृष्ण न केवल क्षेत्र की वस्तुओं का उल्लेख ही करेंगे, वरन् क्षेत्र के गुण धर्म, उसके विकार तथा कौन से कारण से कौन सा कार्य उत्पन्न हुआ है, इसका भी वर्णन करेंगे। उसी प्रकार, क्षेत्रज्ञ का स्वरूप तथा उपाधियों से सम्बद्ध उसके प्रभाव को भी वे इस अध्याय में बतायेंगे। ये सब, "मुझ से संक्षेप में सुनो।"

अनन्त आत्मा के स्वरूप को दर्शाने वाले विशेषणों को पुन: दोहराने मात्र से अथवा उस पर विशेष बल देकर कहने से एक निष्ठावान् साधक को कोई विशेष

---

१. महाभारत युद्ध के पश्चात् हस्तिनापुर में अर्जुन ने पुन: एक बार गीतोपदेश सुनाने का भगवान् को अनुरोध किया, तब स्वयं भगवान् ने उसे दोहराने में अपनी असमर्थता प्रकट की। उन्होंने कहा, "उस समय मैं पूर्ण योगारूढ़ की स्थिति में था।"

लाभ भी नहीं होता और न उसके विकास में कोई सहायता मिलती है। जिन कारणों में हमारे जीवन में समस्यायें उत्पन्न होती हैं उनकी ओर से दृष्टि फेर लेने का अर्थ है, समस्या को नहीं सुलझाना। हमारे आसपास का यह जगत्, जिसे हमने ही प्रेक्षित किया है, तथा वे प्रक्रियायें जिनके द्वारा हम कार्य करते हुए असंख्य विषयों, भावनाओं और विचारों की विविधता को देखते हैं – इन सब का हमें सूक्ष्म निरीक्षण तथा अध्ययन करना चाहिए। इसकी उपेक्षा करने का अर्थ स्वयं को विशाल "आवश्यक सारभूत ज्ञान" से वंचित रखना है। यह अपनी ही प्रवंचना है।

शत्रुओं के विरुद्ध युद्धनीति सम्बन्धी योजना बनाने के लिये शत्रुपक्ष की रणनीति का कम से कम सामान्य ज्ञान का होना आवश्यक होता है। इसी प्रकार, क्षेत्र से युद्ध करके उसपर विजय पाकर उसके बन्धनों से स्वयं को मुक्त करने के लिये यह जानना आवश्यक है कि क्षेत्र क्या है तथा परिस्थिति विशेष में ये उपाधियाँ किस प्रकार कार्य और व्यवहार करती हैं।

इस प्रकार, शरीरशास्त्र, जीवशास्त्र, मनोविज्ञान तथा अन्य प्राकृतिक विज्ञान की शाखायें भी जीवन को समझने में अपना योगदान देती हैं। अध्यात्म का ज्ञानमार्ग समस्त लौकिक विज्ञानों का चरम विन्दु है और उसकी पूर्तिस्वरूप है। इस बात की पुष्टि इसी तथ्य से होती है कि, युद्धभूमि पर भी अर्जुन को इस ज्ञान का उपदेश देते समय, भगवान् इस बात पर बल देने के लिए भूलते नहीं कि इस क्षेत्र का सम्पूर्ण ज्ञान होना महत्व की बात है। इसका हमें सूक्ष्म अध्ययन करना चाहिये।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के याथात्म्य को देखने, अध्ययन करने और समझने में शिष्य की अभिरुचि उत्पन्न करने के लिए भगवान् इस विषय वस्तु की स्तुति करते हुये कहते हैं :

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्र पदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ।।५।।

(क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विषय में) ऋषियों द्वारा विभिन्न और विविध छन्दों में बहुत प्रकार से गाया गया है, तथा सम्यक् प्रकार से निश्चित किए हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्र के पदों द्वारा (अर्थात् ब्रह्म के सूचक शब्दों के द्वारा) भी (वैसे ही कहा गया है।) ।।५।।

प्रस्तुत अध्याय में जो विवेचन किया जा रहा है वह कोई व्यर्थ का भाषण अथवा श्रीकृष्ण की बुद्धि की कल्पनामात्र नहीं है। यहाँ भगवान् स्वयं ही यह स्पष्ट कहते हैं कि ऋषियों द्वारा अनुभूत और प्रतिपादित सत्य की ही वे पुनर्घोषणा कर रहे हैं। संक्षेप में, उपनिषदों के प्रतिपाद्य ब्रह्मतत्त्व का ही निरूपण इस अध्याय का विषय है।

कोई व्यक्ति प्रश्न कर सकता है कि क्यों हम उपनिषद् के ऋषियों के कथनों को तत्परता से स्वीकार करें ? ऐसा प्रश्न केवल वे ही लोग कर सकते हैं, जिन्हें ऋषियों के प्रति अन्धश्रद्धा है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि हमें ऋषियों के प्रति महान् आदर और सम्मान नहीं भी हो, तब भी हमें उनके द्वारा प्रतिपादित सत्य को स्वीकार करना ही होगा, क्योंकि वे उपनिषद् के, "निश्चित किये हुए युक्तियुक्त कथन हैं।" उनके कथन कोई बौद्धिक आलेख अथवा दैवी आज्ञायें नहीं हैं, जो साधारण असहाय जनता पर विशेष दैवी अधिकार प्राप्त किसी देवदूत ने थोप दी हों।

जब प्रमाण तर्क एवं अनुभव के द्वारा किसी सत्य को सिद्ध किया जाता है, तब किसी भी बुद्धिमान पुरुष को उसे युक्तिसंगत होने के कारण स्वीकार करना ही पड़ता है।

अर्जुन के मन में रुचि उत्पन्न कराने के पश्चात् भगवान् कहते हैं :

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रिय गोचराः ॥६॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥७॥

पंच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त (प्रकृति), दस इन्द्रियां, एक मन, इन्द्रियों के पांच विषय ॥६॥

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात (स्थूल देह), चेतना (अन्तःकरण की चेतन वृत्ति) तथा धृति - इस प्रकार यह क्षेत्र विकारों के सहित संक्षेप में कहा गया है ॥७॥

अब यहाँ मुख्य विषय का प्रारम्भ होता है जिसे भगवान् ने पहले केवल 'यह शरीर कहकर निर्देशित किया था, उस क्षेत्र के तत्त्वों का यहाँ नामोल्लेख करके गणना की गयी है।

'महाभूतानि' – आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पंचमहाभूत हैं· ये महाभूत अपने सूक्ष्म रूप में 'तन्मात्रा' कहलाते हैं। इन्हीं तन्मात्राओं के परस्पर मिलन से पांच स्थूल महाभूत उत्पन्न होते हैं, जिनका निर्देश यहां इन्द्रियों के पांच विषय कहकर किया गया है।

'अहंकार' – चैतन्य का उपाधियों के साथ सम्बन्ध होने पर अहंभाव या अहंकार की उत्पत्ति होती है। यही उपाधियों द्वारा कर्मों का 'कर्त्ता' और फलों का 'भोक्ता' बनता है। संसार के सुखदुःखादिक इसी के लिए होते हैं।

'बुद्धि' – समष्टि की दृष्टि से यहाँ बुद्धि शब्द प्रयुक्त है, जिसे सांख्य दर्शन में महत्तत्त्व कहते हैं। अन्तःकरण की 'निश्चयात्मिका' वृत्ति बुद्धि कहलाती है। जीवन में वस्तु की यथार्थता, अनुभवों की शुभ और अशुभ रूप में निर्धारण करना बुद्धि का ही कार्य है।

'अव्यक्त' – मनुष्य के मन और बुद्धि जिससे प्रेरित और शासित होते हैं, वह 'अव्यक्त' – वासनाएँ हैं। जगत् में हम जो कर्म करते हैं तथा फल भोगते हैं, उनसे हमारे मन में संस्कार उत्पन्न होते हैं, जो हमारे भावी कर्म, विचार एवं भावनाओं को दिशा प्रदान करते हैं।

एक व्यष्टि जीव के समस्त कर्मों का स्रोत उसकी वासनाएँ होती हैं। इसलिए स्वाभाविक है कि समष्टि की दृष्टि से सम्पूर्ण चराचर सृष्टि का स्रोत समष्टि वासनाएँ ही होनी चाहिये। इसी समष्टि वासना को सांख्यदर्शन में 'मूलप्रकृति' कहा गया है, तो वेदान्त ने इसे 'माया' कहा है। माया या मूलप्रकृति की उपाधि से विशिष्ट परमात्मा ही सृष्टिकर्ता ईश्वर है; और वही परमात्मा व्यष्टि वासना की उपाधि (अविद्या) से विशिष्ट हुआ जीव बनता है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि अव्यक्त ही वह 'अदृष्ट' कारण है, जिससे यह दृश्य जगत् कार्यरूप में व्यक्त हुआ है।

'दस इन्द्रियां' -- पांच ज्ञानेन्द्रियां और पाँच कर्मेन्द्रियां ही वे कारण हैं, जिनके द्वारा प्रत्येक मनुष्य क्रमशः विषय ग्रहण करके अपनी प्रतिक्रियायें व्यक्त करता है।

'एक' (मन) – प्रस्तुत प्रकरण के सन्दर्भ में 'एक' शब्द से निर्दिष्ट वस्तु मन है। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय केवल एक ही विषय का ग्रहण करती है। पांचों इन्द्रियों से सम्बद्ध मन समस्त विषय संवेदनाओं को एकत्रित कर बुद्धि के समक्ष निर्णय के लिये प्रस्तुत करता है। तत्पश्चात् उस निर्णय को वह पांच कर्मेन्द्रियों के द्वारा कार्यान्वित करता है। इस प्रकार, विषय ग्रहण तथा प्रतिक्रिया का व्यक्त होना इन दोनों का कार्य एक मन ही करता है, इसलिए उसे यहां 'एक' शब्द से इङ्गित करते हैं।

'पांच इन्द्रियगोचर विषय' – पंच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किए जाने वाले पंच विषय हैं – शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। यही सम्पूर्ण जगत् है।

इस प्रकार, इस श्लोक में सांख्य दर्शन के प्रसिद्ध चौबीस तत्त्वों की गणना की गयी है।

क्षेत्र के तत्त्वों को बताने के पश्चात्, भगवान् उसके विकारों को बताते हैं। वे विकार हैं – इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख, स्थूल देह, अन्त:करण वृत्ति तथा धृति अर्थात् धैर्य। संक्षेपत: केवल शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ही क्षेत्र नहीं है, वरन् उसमें इन उपाधियों द्वारा अनुभूत विषय, भावनायें और विचार भी समाविष्ट हैं।

द्रष्टा से भिन्न जो कुछ भी है, वह सब दृश्य है, क्षेत्र है। इस द्रष्टा आत्म-चैतन्य की दृष्टि से जो कुछ भी दृश्य, ज्ञात तथा अनुभूत वस्तु है, वह सब 'क्षेत्र' है। इसे गीता में अत्यन्त संक्षिप्त वाक्य – "यह शरीर" – के द्वारा दर्शाया गया है।

इस सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करने वाला चैतन्यस्वरूप आत्मा क्षेत्रज्ञ कहलाता है। अविद्या दशा में यह जीव, शरीर आदि क्षेत्र को ही अपना स्वरूप अर्थात् क्षेत्रज्ञ समझता है, इस कारण उसे अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का बोध कराने के लिए, सर्वप्रथम, जड़ और चेतन का विवेक कराना आवश्यक है। इसीलिए, यहां क्षेत्र को इतने विस्तारपूर्वक बताया गया है।

अब अगले पांच श्लोकीय प्रकरण में 'ज्ञान' को बताया गया है जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, यहां 'ज्ञान' शब्द से तात्पर्य उस अन्त:करण से है, जो आत्मज्ञान के लिये आवश्यक गुणों से सम्पन्न हो, क्योंकि शुद्ध अन्त:करण के द्वारा ही आत्मा का अनुभव सम्भव होता है। अत:, अब प्रस्तुत प्रकरण में भगवान् श्रीकृष्ण बीस गुणों को बताते हैं, जो सदाचार और नैतिक नियम हैं।

वे गुण हैं :

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥८॥

अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षमा, आर्जव, आचार्य की सेवा, शुद्धि, स्थिरता और आत्मसंयम ॥८॥

'अमानित्व' – स्वयं को पूजनीय व्यक्ति समझना मान कहलाता है। उसका अभाव अमानित्व है।

'अदम्भित्व' – अपनी श्रेष्ठता का प्रदर्शन न करने का स्वभाव।

'अहिंसा' – शरीर, मन और वाणी से किसी को पीड़ा न पहुँचाना।

'क्षान्ति' – किसी के अपराध किए जाने पर भी मन में विकार का न होना क्षान्ति अर्थात् सहनशक्ति है।

'आर्जव' – हृदय का सरल भाव, अकुटिलता।

'आचार्योपासना' – गुरु की केवल शारीरिक सेवा ही नहीं, वरन् उनके हृदय की पवित्रता और बुद्धि के तत्त्वनिश्चय के साथ तादात्म्य करने का प्रयत्न ही वास्तविक आचार्योपासना है।

'शौचम्' -- शरीर, वस्त्र, बाह्य वातावरण तथा मन की भावनाओं, विचारों, उद्देश्यों तथा अन्य वृत्तियों की शुद्धि भी इस शब्द से अभिप्रेत है।

'स्थिरता' – जीवन के सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए दृढ़ निश्चय और एकनिष्ठ प्रयत्न।

'आत्मसंयम' – जगत् के साथ व्यवहार करते समय इन्द्रियों तथा मन पर संयम होना।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥९॥

इन्द्रियों के विषयों के प्रति वैराग्य, अहंकार का अभाव, जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था, व्याधि और दुःख में दोष का दर्शन · · ॥९॥

'इन्द्रियों के विषयों के प्रति वैराग्य' – इसका अर्थ जगत् से पलायन करना नहीं है। विषयों के साथ रहते हुए भी मन से उनका चिन्तन न करना तथा उनमें आसक्त न होना, यह वैराग्य का अर्थ है। जो व्यक्ति विषयों से दूर भागकर कहीं जंगलों में बैठकर मन से उनका चिन्तन करता रहता है, वह तो अपनी वासनाओं का केवल दमन कर रहा होता है, और ऐसे पुरुष को भगवान् ने मिथ्याचारी कहा है।[१]

'अहंकार का अभाव' – व्यष्टिगत जीवभाव का उदय केवल तभी होता है, जब हम शरीरादि उपाधियों के साथ तथा उनके अनुभवों के साथ तादात्म्य करते हैं। अपने शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थित होने के लिए आवश्यक पूर्व गुण यह है कि हम

१–गीता अ०-३.६

इस मिथ्या तादात्म्य को विचार के द्वारा नष्ट कर दें। यह प्रक्रिया भूमि जोतने के पूर्व घासपात को दूर करने के तुल्य ही है।

'दु:खदोषानुदर्शनम्' -- वर्तमान दशा से असन्तुष्टि ही हमें नवीन, श्रेष्ठतर और सुखद स्थिति को प्राप्त करने के लिए प्रेरित कर सकती है। जब तक किसी राष्ट्र या समाज के लोगों में इस बात की जागरूकता नहीं आती है कि उनकी वर्तमान दशा अत्यन्त घृणित और दु:खपूर्ण है, तब तक वे अपने दु:खों को भूलकर अपने आप को उसी दशा में जीने के अनुकूल बना लेते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक राजनीतिक नेता या समाज सेवक, सर्वप्रथम, लोगों को उनकी पतित और दरिद्रता की दशा का बोध कराता है। जब लोगों में इस बात की जागरूकता आ जाती है, तब वे उत्साह के साथ, श्रेष्ठतर आनन्द और समृद्ध जीवन के लिए प्रयत्न करने को तत्पर हो जाते हैं।

यही पद्धति सांस्कृतिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में भी प्रयोज्य है। जब तक साधक को अपने आन्तरिक व्यक्तित्व के बन्धनों का पूर्णतया भान नहीं होता है, तब तक वह स्वनिर्मित दु:ख के गर्त में पड़ा रहता है, और उससे बाहर आने के लिये कदापि प्रयत्न नहीं करता है। मानव शरीर और मन में अपने आप को परिस्थिति के अनुकूल बना लेने की अद्भुत् क्षमता है। वे अत्यन्त घृणित अवस्था को भी स्वीकार कर लेते हैं और यहाँ तक कि उसी में सुख भी अनुभव करने लगते हैं।

इसलिये, यहाँ साधक को अपनी वर्तमान दशा के दोषों को विचारपूर्वक देखने का उपदेश दिया गया है। एक बार जब वह अपनी बद्धावस्था को पूर्णत: समझ लेगा, तब उसमें आवश्यक आध्यात्मिक जिज्ञासा, बौद्धिक सामर्थ्य, मानसिक उत्साह और शारीरिक साहस आदि समस्त गुण आ जायेंगे, जिनके द्वारा वह आध्यात्मिक पूर्णता की उपलब्धि सरलता से कर सकेगा।

'जन्ममृत्युजराव्याधि में दोष का दर्शन' -- प्रत्येक शरीर को ये विकार प्राप्त होते हैं। इनमें से प्रत्येक विकार नये-नये दु:खों का स्रोत है। इन समस्त विकारों से प्राप्त होने वाले दु:खों के प्रति जागरूकता आ जाने पर वह पुरुष उनसे मुक्ति पाने के लिए अधीर हो जाता है। दु:ख के विरुद्ध विद्रोह का यह भाव ही वह प्रेरक तत्त्व है, जो साधकों को पूर्णत्व के शिखर तक शीघ्रता से पहुँचने के लिए प्रेरित करता रहता है।

आगे कहते हैं :

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ।।१०।।

असक्ति तथा पुत्र, पत्नी, गृह आदि में अनभिष्वङ्ग (तादात्म्य का अभाव); और इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति में समचित्तता ॥१०॥

'असक्ति' – अर्जित की हुई वस्तुओं से होने वाली सामान्य प्रीति को सक्ति अर्थात् संग कहते हैं। उसका अभाव असक्ति कहलाता है। हमें जो दुःख होता है, वह विषयों के कारण नहीं, वरन् हमारे उसके साथ के मानसिक संग के कारण होता है। जैसे, अग्नि स्वयं किसी को जला नहीं सकती, जब तक कि कोई उसे स्पर्श न करे।

'पुत्र, भार्या और गृहादिक में अनभिष्वंग' – अति स्नेह को अभिष्वंग कहते हैं। अतः उसका अभाव ही 'अनभिष्वंग' कहलाता है। जब किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति सामान्य प्रीति बढ़कर आसक्ति का रूप लेती है, तब उसे अभिष्वंग कहते हैं। इस आसक्ति का लक्षण यह है कि मनुष्य को अपनी प्रिय वस्तु या व्यक्ति के साथ इतना अधिक तादात्म्य हो जाता है कि उनके सुख-दुःख उसे अपने ही अनुभव होते हैं। इसका स्पष्ट उदाहरण है पुत्र के प्रति माता की आसक्ति का। इस प्रकार की आसक्ति के कारण व्यक्ति के मन में सदा विक्षेप बना रहता है और वह कार्य करने में भी अकुशल हो जाता है।

हमें अपने आन्तरिक व्यक्तित्व के चारों ओर विवेक की ऐसी दीवार खड़ी करनी चाहिए कि ये सभी विक्षेप हमसे दूर रहें और मन का सन्तुलन सदा बने रहे जिसके बिना किसी प्रकार की प्रगति या समृद्धि कदापि संभव नहीं होती।

प्रिय और अप्रिय परिस्थितियों में चित्त की समता को सतत अभ्यास करते रहने से प्राप्त किया जा सकता है। यदि मनुष्य अपनी मूढ़ प्रीति और आसक्ति के बन्धनों से मुक्त हो जाये, तो उसे अपने में ही अतिरिक्त शक्ति का भण्डार प्राप्त होता है, जिसका उसे सही दिशा में सदुपयोग करना चाहिये, अन्यथा वही शक्ति आत्मघातक सिद्ध हो सकती है।

वह सही दिशा क्या है? इसे अगले श्लोक में बताते हैं:

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥११॥

अनन्ययोग के द्वारा मुझमें अव्यभिचारिणी भक्ति; एकान्त स्थान में रहने का स्वभाव और (असंस्कृत) जनों के समुदाय में अरुचि ॥११॥

संभवतः अर्जुन के क्रियाशील स्वभाव से बाध्य होकर या फिर भगवान्

श्रीकृष्ण के समाज सुधारक होने से, जो कुछ भी हो, भगवद्गीता हमें जिस रूप में उपलब्ध है, वह आत्मोपलब्धि के विषय का अत्यन्त व्यावहारिक शास्त्रग्रन्थ हैं। जब कभी भी गीताचार्य अपने शिष्य को किसी मानसिक या बौद्धिक गुणविशेष को विकसित करने का उपदेश देते हैं नव तत्काल ही वे उसके सम्पादन का व्यावहारिक अभ्यसनीय उपाय भी बताते हैं।

यदि कोई साधक पूर्व के तीन श्लोकों में वर्णित गुणों का स्वयं में विकास करता है, तो निश्चित ही वह अपने आन्तरिक और बाह्य जीवन व्यवहार में बहुत अधिक शक्ति का संचय कर सकता है। यह श्लोक बताता है कि किस प्रकार इस अतिरिक्त शक्ति का वह सही दिशा में सदुपयोग करे, जिससे कि आत्मविकास में उसका लाभ मिल सके।

'अनन्ययोग से मुझ में अव्यभिचारिणी भक्ति' – अनन्यता का अर्थ है मन का ध्येय विषय में एकाग्र हो जाना। इसके लिए विजातीय वृत्तियों का सर्वथा त्याग करके ध्येयविषयक वृत्ति को ही बनाये रखनें का अभ्यास आवश्यक होता है। ध्यान या भक्ति में इस स्थिरता के नष्ट होने के लिए दो कारण ही सकते हैं – या तो साधक के मन की अस्थिरता या फिर ध्येय का ही निश्चित नहीं होना ! जब तक ये दोनों ही स्थिर नहीं होते, भक्ति या ध्यान सफल नहीं हो सकता है। यदि हमारी भक्ति एक मूर्ति से अन्य मूर्ति में परिवर्तित होती रहती है तो एकाग्रता कैसे सम्भव हो सकती है ? इसलिये, यहां कहा गया है कि योग में प्रगति और विकास के लिये अनन्य योग से परमात्मा की भक्ति आवश्यक है। यहां लक्ष्य की स्थिरता के विषय में कहा गया है।

अविभाजित ध्यान तथा मन में उत्साह के होने पर भक्ति में एकाग्रता आना सरल कार्य हो जाता है। अन्यथा मन ही विद्रोह करके स्वकल्पित मिथ्या आकर्षणों में भटता रह सकता है।

ध्यानाभ्यास के समय मन के अत्यन्त निम्न और घृणित कोटि के विषयों में विचरण करने के विषय में जिस प्रतीकात्मक वाक्य का प्रयोग भगवान् ने किया है उससे ही ज्ञात होता है कि वे मन के इस विचरण की कितनी कठोरता से निन्दा करना चाहते हैं। वे कहते हैं कि साधक की परम्परा में 'अव्यभिचारी' भक्ति होनी चाहिये। व्यभिचार का अर्थ है किसी तुच्छ लाभ के लिये अपनी क्षमताओं एवं सुन्दरता का विक्रय करना। ईश्वर में समाहित चित्त ही ध्यान में, एकनिष्ठ हो सकता है। यहां 'अव्यभिचारी' शब्द से साधक को यह चेतावनी दी जाती है कि उसका ध्यान अनेक देवी-देवताओं अथवा विचारों में न भटके, वरन् चुने हुए ध्येय के साथ एकनिष्ठ रहे।

इस प्रकार का सुगठित जीवन, तथा ध्यान की स्थिरता तब सम्भव होती है, जब साधक उसके अनुकूल वातावरण में रहता है । इस बात को इन दो गुणों से दर्शाया गया है (क) – एकान्तवास का सेवन, तथा (ख) जनसमुदाय में अरुचि । मनुष्य का मन जितना अधिक शुद्ध एवं भोगों से विरत होता जाता है, उसकी ज्ञान की जिज्ञासा उतनी ही अधिक बढ़ती जाती है । स्वाभाविक ही है कि फिर वह ज्ञान की पिपासा को शान्त करने के लिये लोगों के समुदायों से दूर जहां ज्ञान उपलब्ध हो वहां चला जाता है । यह बात कवि, लेखक, वैज्ञानिक आदि लोगों के विषय में भी सत्य है । इन सबको फिर एक ही लक्ष्य दिखाई देता है और इन्हें लौकिक बातों में कोई रुचि नहीं रह जाती ।

यहां जिस समुदाय में अरुचि रखने को कहा गया है वह असंस्कृत, असभ्य, भोगों में आसक्त जनों के समुदाय के सम्बन्ध में कहा गया है, न कि सन्त पुरुषों के संग से । सत्संगत तो ज्ञान का साधक होता है, बाधक नहीं । एकान्तवास, तथा जनसमुदाय से अरुचि का कोई व्यक्ति यह विपरीत अर्थ न समझे कि यहाँ जगत् से पलायन या समाज से द्वेष करने को कहा गया है ।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ।।१२।।

अध्यात्मज्ञान में नित्यत्व अर्थात् स्थिरता तथा तत्वज्ञान के अर्थ रूप परमात्मा का दर्शन, यह सब तो ज्ञान कहा गया है, और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान है ।।२।।

'ज्ञान' को दर्शाने वाले इस प्रकरण के इस अन्तिम श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण दो और गुणों को बताते हैं - 'अध्यात्म ज्ञान में स्थिरता', तथा "तत्वज्ञानार्थ का दर्शन ।"

'आत्मज्ञान में स्थिरता' – आत्मज्ञान जीवन में अनुभव करके जीने का विषय है, केवल बुद्धि से सीखने का नहीं । यदि आत्मा ही एक सर्वव्यापी पारमार्थिक सत्य है, तब साधक को अपने व्यक्तित्व के सभी स्तरों पर आत्मदृष्टि से रहने का प्रयत्न करना चाहिये । स्वयं को आत्मा जानकर, उसी बोध में स्थित होकर साधक को अपने जीवन के समस्त व्यवहार करने चाहिए । इसके लिये सतत अभ्यास की आवश्यकता होती है ।

'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' – अमानित्वादि गुणों का विकास जिसके निमित्त करने को कहा गया है, वह है तत्त्वज्ञान; और उस तत्त्वज्ञान के अर्थ का जो लक्ष्य है,

उसका दर्शन करना। संसारबन्धनों का उपराम अर्थात् मोक्ष ही वह लक्ष्य है। लक्ष्य का सतत स्मरण रहने से साधनाभ्यास में प्रवृत्ति और उत्साह बना रहता है, जो लक्ष्यप्राप्ति में साहाय्यकारी सिद्ध होता है। इस प्रकरण में इन बीस गुणों को ही 'ज्ञान' कहा गया है, क्योंकि ये समस्त गुण आत्मसाक्षात्कार के लिये अनुकूल हैं।

उपर्युक्त 'ज्ञान' के द्वारा जानने योग्य–'ज्ञेय' वस्तु क्या है ? इसके उत्तर में कहते हैं :

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१३॥

मैं उस ज्ञेय वस्तु को स्पष्ट कहूंगा जिसे जानकर मनुष्य अमृतत्व को प्राप्त करता है। वह ज्ञेय है – अनादि, परम ब्रह्म, जो न सत् और न असत् ही कहा जा सकता है ॥१३॥

पूर्व के पांच श्लोकों में 'ज्ञान' को बताने के पश्चात, अब भगवान् 'ज्ञेय वस्तु' को बताने का वचन देते हैं। परन्तु, प्रथम वे इसे जानने का 'फल' बताते हैं, जिसकी कुछ लोग आलोचना करते हैं। किन्तु, यह आलोचना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञान के फल की स्तुति करने से उसके साधन के अनुष्ठान में प्रवृत्ति, रुचि और उत्साह उत्पन्न होता है।

'जिसे जानकर, साधक अमृत्व को प्राप्त होता है' – जड़ पदार्थ का धर्म है मरण। इन जड़ उपाधियों के साथ तादात्म्य के कारण अमरणधर्मा आत्मा इनसे अवच्छिन्न हुआ व्यर्थ ही मिथ्या परिच्छिन्नता और मरण का अनुभव करता है। आत्मानात्मविवेक के द्वारा अपने आत्मस्वरूप को पहचान कर उसमें दृढ़ स्थिति प्राप्त करने से मरण का यह मिथ्या भय समाप्त हो जाता है और अमृतस्वरूप आत्मा के परमानन्द का अनुभव होता है। ऐसे श्रेष्ठतम लक्ष्य को पाने के लिए पूर्व वर्णित गुणों के द्वारा हमको अपने अन्तःकरण को साधन सम्पन्न बनाना चाहिये।

'अनादिमत्परं ब्रह्म'– किसी नित्य अधिष्ठान के सन्दर्भ में ही किसी वस्तु के अनादि अर्थात् प्रारम्भ की कल्पना और गणना की जा सकती है। जो परमात्मा काल का भी अधिष्ठान है, उसकी उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती है।

ब्रह्म को न सत् कहा जा सकता है और न असत्। सामान्य दृष्टि से जो वस्तु प्रमाणगोचर होती है, उसे हम 'सत्' कहते हैं। परन्तु जो चैतन्य द्रष्टा है, वह कभी भी इन्द्रिय, मन और बुद्धि का ज्ञेय नहीं हो सकता है, इसलिये कहा गया है

कि वह 'सत्' नहीं है। चैतन्य तत्व समस्त अनुभवों का प्रकाशक होते हुए स्वयं समस्त अनुभवों के अतीत है।

यदि वह 'सत्' नहीं है, तो हम उसे 'असत्' समझ लेंगे, इसलिए यहां उसका भी निषेध किया गया है। अत्यन्त अभावरूप वस्तु को 'असत्' कहते हैं, जैसे आकाश पुष्प, वन्ध्यापुत्र इत्यादि। ब्रह्म को 'असत्' नहीं कह सकते, क्योंकि वह सम्पूर्ण जगत् का कारण है। उसका ही अभाव होने पर जगत् की सिद्धि कैसे हो सकती है? इसलिये, उपनिषदों में उसे 'नेति', 'नेति' (यह नहीं) की भाषा में निर्देशित किया गया है।

शंकराचार्य जी कहते हैं, "जाति और गुण से रहित होने के कारण ब्रह्म को 'सत्' नहीं कहा जा सकता, और समस्त शरीरों में चैतन्य रूप से व्यक्त होने के कारण असत् भी नहीं कहा जा सकता है।"

'सत्' अर्थात् 'वस्तु है' यह वृत्ति तथा असत् अर्थात् "वस्तु नहीं है" यह वृत्ति भी बुद्धि में ही उठती है। जो आत्मचैतन्य इन दोनों वृत्तियों का प्रकाशक है, वह दोनों से ही भिन्न है। इस तथ्य की पुष्टि यहां पर की गयी है।

उपर्युक्त कथन से कोई व्यक्ति उसे शून्य न समझ ले, इसलिये समस्त प्राणियों की उपाधियों के द्वारा ब्रह्म के अस्तित्व का बोध कराते हुए भगवान् कहते हैं:

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१४॥

वह सब ओर हाथ-पैर वाला और सब ओर से नेत्र, शिर और मुखवाला तथा सब ओर से श्रोत्रवाला है; वह जगत् में सबको व्याप्त करके स्थित है ॥१४॥

'सर्वतः पाणिपादम्' – उत्तम अधिकारी तो आत्मा के निर्गुण स्वरूप को पहचान लेता है, परन्तु मध्यम अधिकारी को अज्ञात और अव्यक्त का बोध, ज्ञात और व्यक्त वस्तुओं के द्वारा कराने में सरलता होती है। यद्यपि प्राणियों के हाथ और पैर जड़ तत्वों के बने हैं, तथापि वे चेतन और कार्यक्षम प्रतीत हो रहे हैं। इन सबके पीछे इन्हें चेतनता प्रदान करने वाला आत्मतत्त्व सर्वत्र एक ही है। इसीलिये यहां कहां गया है कि ब्रह्म समस्त हाथ और पैरों को धारण करने वाला है।

इसी प्रकार, समस्त नेत्र, शिर और मुख भी इस चैतन्य के कारण ही स्व-व्यापार करने में समर्थ होते हैं। इसलिये आत्मा का निर्देश इस प्रकार करते हैं कि 'वह सब ओर नेत्र, शिर और मुख वाला है।' चैतन्य से धारण किये होने

पर ही प्राणियों में विषय ग्रहण तथा विचार करने की क्रियाएं होती रहती हैं। अत: चैतन्य ब्रह्म 'सब ओर से श्रोत वाला' कहा गया है।

यह सब को व्याप्त करके स्थित है – यहां जब आत्मा के उपाधियुक्त स्वरूप और प्रभाव को दर्शाया गया है, तो कोई यह मान सकता है कि जहां उपाधियां हैं, वहीं पर आत्मा का अस्तित्व है और अन्यत्र नहीं। इस प्रकार की विपरीत धारणा को दूर करने के लिये यहां पर अत्यन्त उचित ही कहा गया है कि वह परम सत्य सब को व्याप्त करके स्थित है। यह श्लोक वैदिक साहित्य से परिचित विद्यार्थियों को ऋग्वेद के प्रसिद्ध 'पुरुषसूक्तम्' का स्मरण कराता है।

भगवान् आगे कहते हैं :

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविर्वजितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।।१५।।

वह समस्त इन्द्रियों के गुणों (कार्यों) के द्वारा प्रकाशित होने वाला, परन्तु (वस्तुत:) समस्त इन्द्रियों से रहित है; आसक्ति रहित तथा गुण रहित होते हुए भी सबको धारण-पोषण करने वाला और गुणों का भोक्ता है ।।१५।।

अनिर्देश्य परम ब्रह्म का आत्मरूप से निर्देश करने की एक विधि यह है कि उसे विरोधाभास की भाषा में इंगित करे। एक वाक्य को सुनकर जब बुद्धि उसके विषय में कोई धारणा बना लेती है, तब दूसरा वाक्य उस धारणा का खण्डन कर देता है। इस प्रकार स्वाभाविक है कि वह बुद्धि कल्पना शून्य होकर अपने निर्विकल्प स्वरूप के अनुभव में स्थित हो जाती है। यह विरोधाभास की भापा आध्यात्मिक ग्रन्थों की विशेषता है। परन्तु शास्त्रों का सतही अध्ययन करने वाले लोग, शास्त्रोपदेश की विधि के मर्म को न समझ कर, अपने अविश्वास या नास्तिकता को न्यायोचित सिद्ध करने के लिए इस प्रकार के श्लोक उद्धृत करते हैं। यह श्लोक उपनिषद् से लिया गया है।

आत्मचैतन्य के सम्बन्ध से ही समस्त इन्द्रियां अपना-अपना व्यापार करती हैं। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उनसे अवच्छिन्न आत्मा ही कार्य करता है तथा वह इन इन्द्रियों से युक्त है। किन्तु विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि इन्द्रियां भौतिक पदार्थ हैं और नाशवान भी हैं, जबकि उनमें व्यक्त होकर उन्हें चेतनता प्रदान करने वाला आत्मा सनातन और अविकारी है। संक्षेप में, उपाधियों की दृष्टि से आत्मा उनका धारक प्रतीत होता है, किन्तु स्वस्वरूप से वह सर्वेन्द्रिय 'विवर्जित' है।

विद्युत् शक्ति न तो बल्ब का प्रकाश है और न हीटर की उष्णता; तथापि इन उपकरणों में व्यक्त होकर विद्युत् ही प्रकाश और उष्णता के रूप में प्रतीत होती है।

'वह असक्त किन्तु सबको धारण करने वाला है'–ब्रह्म को 'अनासक्त धारक' के रूप में समझ पाना प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिये सरल नहीं है। तथापि अपने देश के महान् आचार्यों द्वारा इसे दृष्टान्तों और उपमाओं के द्वारा समझाने का प्रयत्न किया गया है। कोई भी तरंग सम्पूर्ण समुद्र नहीं है; समस्त तरंगे सम्मिलित रूप में भी समुद्र नहीं हैं। हम यह नहीं कह सकते हैं कि समुद्र उन तरंगों में आसक्त है, क्योंकि वह तो उन सबका स्वरूप ही है। असक्त होते हुए भी समस्त तरंगों को धारण करने वाला समुद्र के अतिरिक्त और कोई नहीं होता है। कपास सभी वस्त्रों में है, किन्तु वस्त्र कपास नहीं है। तथापि, कपास ही वस्त्र को धारण करने वाला होता है। इसी प्रकार, विविधता की यह सृष्टि चैतन्य ब्रह्म नहीं है, परन्तु ब्रह्म ही 'सर्वभृत्' है।

'वह निर्गुण, किन्तु गुणों का भोक्ता है'–मनुष्य का मन सदैव सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के प्रभाव में कार्य करता है। इन तीनों गुणों के प्रभावों को आत्मा सदा प्रकाशित करता रहता है। प्रकाशक प्रकाश्य के धर्मों से मुक्त होने के कारण आत्मा गुणरहित है। किन्तु एक चेतन मन ही इन गुणों का अनुभव कर सकता है, इसलिये यहां कहा गया है कि आत्मा स्वयं निर्गुण होते हुए भी मन की उपाधियों के द्वारा गुणों का भोक्ता भी है।

इस प्रकार इस श्लोक में आत्मा का सोपाधिक (उपाधि सहित) और निरुपाधिक (उपाधि रहित) इन दोनों दृष्टिकोणों से निर्देश किया गया है।

इतना ही नहीं, वरन् एक व्यष्टि उपाधि में व्यक्त आत्मा ही सर्वत्र समस्त प्राणियों में स्थित है :

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चांतिके च तत् ॥१६॥

(वह ब्रह्म) भूत मात्र के अन्तर्बाह्य स्थित है; वह चर है और अचर भी। सूक्ष्म होने से वह अविज्ञेय है; वह सुदूर और अत्यन्त समीपस्थ भी है ॥१६॥

परमात्मा की सर्वव्यापकता यहां उपनिषदों की अननुकरणीय शैली में इंगित किया गया है।

'वह भूतमात्र के अन्तर्बाह्य है' – सभी व्यष्टि उपाधियों में व्यक्त चेतन तत्त्व सर्वव्यापी है। अन्तर्बाह्य से तात्पर्य यह है कि जहां शरीरादि उपाधिया हैं,

वहाँ तो वह विशेष रूप से व्यक्त हुआ विद्यमान रहता ही है, परन्तु जहां कोई उपाधि नहीं है वहां भी वह केवल सत्स्वरूप से स्थित रहता है। जिस प्रकार, जहाँ रेडियो है वहाँ ध्वनि तरंगों का अस्तित्व स्पष्ट ज्ञात होता है, परन्तु जहाँ रेडियो नहीं है, वहाँ उन तरंगों का अभाव नहीं कहा जा सकता है।

'वह चर है और अचर भी' – जो अपनी स्वेच्छा से विचरण करता है, वह चर प्राणी है, तथा गतिहीन वस्तु अचर वर्ग में आती है। इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार भी किया जाता है कि आत्मतत्त्व "अचर होते हुए भी चर है"; इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा सर्वव्यापी होने से स्वस्वरूप की दृष्टि से अचर है, परन्तु वही आत्मा गतिमान् उपाधियों से अवच्छिन्न-सा होकर चरवत् प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, किसी गतिमान वाहन में कोई व्यक्ति स्वयं अपने स्थान पर "बैठा हुआ" (अचर) ही मीलों लम्बी यात्रा कर लेता है!

इस प्रकार, हमारे व्यक्तित्व का सारभूत तत्त्व एक, सनातन व परिपूर्ण है जो अन्तर्बाह्य सर्वत्र व्याप्त है। उसके बिना कोई भी क्रिया संभव नहीं है, इसलिए वह सभी क्रियाओं में विद्यमान है। वह सत्स्वरूप से सर्वत्र ही स्थित है। तब, फिर क्या कारण है कि हम उसे इन्द्रियों द्वारा नहीं देख सकते हैं, या मन और बुद्धि से अनुभव नहीं कर पाते हैं? भगवान् कहते हैं कि, "वह अत्यन्त सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है।"

गुणवान् वस्तु स्थूल होती है। जिस वस्तु में अधिक गुण होते हैं वह उतनी ही अधिक स्थूल होती है और एकाधिक इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण की जा सकती है। जैसे, पृथ्वी का ज्ञान पांचो इन्द्रियों के द्वारा होता है। जबकि वायु का केवल श्रोत्र और स्पर्शेन्द्रिय से। अतः पृथ्वी स्थूलतम तत्त्व है और आकाश में केवल शब्द गुण होने से वह सूक्ष्मतम है।

कार्य की अपेक्षा कारण सदैव सूक्ष्म होता है। आकाश तत्त्व सृष्ट वस्तु होने से उसका भी कारण होना आवश्यक है। आकाश का भी कारण वह नित्य अधिष्ठान् ब्रह्म है, जिससे पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। स्वाभाविक ही है कि वह ब्रह्म आकाश से भी सूक्ष्म होने के कारण हमारे उपलब्ध प्रमाणों के द्वारा दृश्यरूप में नहीं जाना जा सकता है – वह 'अविज्ञेय' है।

'वह दूरस्थ और समीपस्थ है' -- एक साकार परिच्छिन्न वस्तु को किसी स्थान विशेष पर 'यहां' या 'वहां' स्थित बताया जा सकता है। उन वस्तुओं के द्रष्टा की स्थिति से उनकी दूरी नापी जा कर उन्हें दूरस्थ या समीपस्थ कहा जा सकता है। परन्तु जो सर्वव्यापी है वह एक ही समय 'यहां' होगा और 'वहां' भी होगा।

और इसलिए वह 'दूरस्थ' और 'समीपस्थ' भी है। इन दो शब्दों की व्याख्या इस प्रकार भी की जा सकती है कि परमात्मा सर्व नामरूपों की उपाधियों से मुक्त – दूरस्थ है; किन्तु वही परमात्मा इन नामरूपों में भी – समीपस्थ है। श्री शंकराचार्य अपने भाष्य में लिखते हैं कि यह आत्मा अज्ञानियों को अत्यन्त दूर स्थित हुआ भासता है, जबकि ज्ञानीजन तो उसे अत्यन्त समीप से आत्मरूप से ही अनुभव करते हैं।

संक्षेप में, विरोधाभास की भाषा की सुन्दरता से युक्त यह श्लोक उन पाठकों को सहसा जगा देता है, जो केवल बौद्धिक ज्ञान से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। यह श्लोक उन्हें मनन और ध्यान के द्वारा परमात्मा के सर्वव्यापक एवं सर्वतातीत स्वरूप का साक्षात् अनुभव करने के लिए प्रेरित करता है।

इसी 'ज्ञेय' के विषय में भगवान् आगे कहते हैं :

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१७॥

और वह अविभक्त है, तथापि वह भूतों में विभक्त के समान स्थित है। वह ज्ञेय ब्रह्म भूतमात्र का भर्ता, संहारकर्ता और उत्पत्ति कर्ता हैं ॥१७॥

यद्यपि विद्युत् सर्वत्र विद्यमान है, तथापि प्रकाश के रूप में वह केवल बल्ब में ही प्रकट होती है। उसी प्रकार आत्मा सर्वगत होते हुए भी जहां उपाधियां हैं वहीं पर विशेष रूप से प्रकट होता है। एक ही व्यापक आकाश घट और मठ की उपाधियों से घटाकाश और मठाकाश के रूप में प्रतीत होता है।

पूर्व के अध्यायों में भी अनेक स्थलों पर वर्णन किया जा चुका है कि किस प्रकार विश्वाधिष्ठान परमात्मा विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और संहार का कर्त्ता है। यहाँ मिट्टी, स्वर्ण, समुद्र और जाग्रत-अवस्था के मन के दृष्टान्त स्मरणीय हैं, जो क्रमशः घट, आभूषण, तरंगें और स्वप्न के उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारण होते हैं।

यह 'ज्ञेय' वस्तु है। प्रस्तुत प्रकरण के श्लोकों में उस 'ज्ञेय' वस्तु का निर्देशात्मक वर्णन किया गया है, जिसे आत्मरूप से जानने के लिये अमानित्वादि गुणों के पालन से अन्तःकरण को सुपात्र बनाने का उपदेश दिया गया था।

आत्मतत्त्व हमारे अन्तर्बाह्य सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी यदि अनुभव का विषय नहीं बनता हो, तो वह अन्धकारस्वरूप होगा। ऐसी शंका के प्राप्त होने पर कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि :

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।।१८।।

(वह ब्रह्म) ज्योतियों की भी ज्योति और (अज्ञान) अन्धकार से परे कहा जाता है। वह ज्ञान (चैतन्यस्वरूप) ज्ञेय और ज्ञान के द्वारा जानने के योग्य (ज्ञान-गम्य) है। वह सभी के हृदय में स्थित है ।।१८।।

ब्रह्म ही वह एक चैतन्यस्वरूप प्रकाशक है, जिसके द्वारा सभी बौद्धिक ज्ञान अन्तर्प्रज्ञा और अनुभव प्रकाशित होते हैं। उसके कारण ही हमें अपने विविध ज्ञानों तथा अनुभवों का बोध या भान होता है, इसलिए उसकी तुलना प्रकाश या ज्योति से की जाती है। केवल हमारे नेत्रों के समक्ष होने से ही बाह्य वस्तुओं का हमें दर्शन नहीं हो सकता ; वरन् किसी बाह्य प्रकाश से उनका प्रकाशित होना भी आवश्यक होता है। इस लौकिक अनुभव को दृष्टान्तस्वरूप मानें, तो यह भी स्वीकार करना होगा कि हमारी आन्तरिक भावनाओं और विचारों को भी प्रकाशित करने वाला कोई 'अन्तर्प्रकाश' होना चाहिए, अन्यथा इन वृत्तियों का हमें बोध ही नहीं हो सकता था। अन्तःकरण की वृत्तियों के इस प्रकाशक को ही स्वयं प्रकाश आत्मा, या आत्मज्योति कहा जाता है। इस चैतन्य को प्रकाश या ज्योति कहना आध्यात्मिक शास्त्र की परम्परा है।

वेदान्त अध्ययन के प्रारम्भिक काल में, शास्त्रीय भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण, जिज्ञासु साधकगण 'प्रकाश' शब्द से लौकिक प्रकाश ही समझते हैं। परन्तु यह धारणा यथार्थ नहीं है, क्योंकि लौकिक प्रकाश तो दृश्यवर्ग में आता है, जबकि आत्मा तो सर्वद्रष्टा है। अतः, दृश्यप्रकाश आत्मा नहीं हो सकता और न आत्मा इस प्रकाश के 'समान' हो सकता है। इसलिए, यह आवश्यक हो जाता है कि गुरु, इस आत्मप्रकाश या आत्मज्योति जैसे शब्दों का वास्तविक तात्पर्य स्पष्ट करें।

'ज्योतियों की ज्योति' – द्रष्टा को लक्षित करने के लिए सर्वप्रथम सम्पूर्ण दृश्यवर्ग का निषेध करना होगा, अर्थात् 'वे आत्मा नहीं हैं', यह सिद्ध करना होगा। प्रकाश के जो स्रोत – सूर्य, चन्द्रमा, तारागण, विद्युत् और अग्नि[1] हमें ज्ञात हैं, उनमें किसी में भी आत्मा को प्रकाशित करने की सामर्थ्य नहीं है। उसके समक्ष ये सब निष्प्रभ हो जाते हैं। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण उस आत्मा को "ज्योतियों

---

१. "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्..." (कठोपनिषद्)।

की ज्योति" कहते हैं, जो सभी लौकिक दृश्य ज्योतियों को भी प्रकाशित करती है ! स्वयं प्रकाश कहे जाने वाले इस सूर्य का हमें भान तक नहीं होता, यदि चैतन्य तत्त्व इसे प्रकाशित न कर रहा होता। संसार के सुख और दु:ख से हम केवल तभी प्रभावित होते हैं जब हमें उनका भान होता है। और यह भान केवल चैतन्य के प्रकाश से ही सम्भव है। इसलिये, इस चैतन्य को सम्पूर्ण दृश्यवर्ग का प्रकाशक कहा गया है।

'वह अन्धकार के परे है' – इतना अधिक स्पष्ट करने पर भी, लौकिक प्रकाश के ज्ञान का संस्कार शिष्य की बुद्धि में अत्यन्त दृढ़ होने के कारण वह फिर उसे प्रकाश की "सापेक्ष धारणा" के रूप में ही ग्रहण करता है। हम बाह्य प्रकाश को अन्धकार के विरोधी के रूप में ही जानते और समझते हैं। सूर्य के लिए प्रकाश शब्द का कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि सूर्य को अन्धकार ज्ञात ही नहीं है ! अत:, आत्मा के पारमार्थिक चैतन्यस्वरूप को दर्शाने के लिए यहाँ कहा गया है कि वह अन्धकार की कल्पना के भी परे है।

यह चैतन्य का प्रकाश ऐसा सूक्ष्म है कि वह प्रकाश और अन्धकार दोनों को ही प्रकाशित करता है। उसका किसी से कोई विरोध नहीं है। भगवान् के इस कथन का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि आत्मा वह प्रकाश है, जो हमारे अन्त:करण की ज्ञान (प्रकाश) और अज्ञान (अन्धकार) इन दोनों ही वृत्तियों का प्रकाशक है ; परन्तु वह स्वयं इन दोनों से ही असंस्पृष्ट रहता है।

इस श्लोक की दूसरी पंक्ति में तीन शब्दों – ज्ञान, ज्ञेय, और ज्ञानगम्य – के द्वारा इस आत्मा या ब्रह्म का ही निर्देश किया गया है। वह ब्रह्म 'ज्ञान' अर्थात् चैतन्यस्वरूप है ; ब्रह्म ही जानने योग्य 'ज्ञेय' वस्तु है, क्योंकि उसके ज्ञान से ही संसार निवृत्ति हो सकती है। यह ब्रह्म 'ज्ञानगम्य' है अर्थात् अमानित्वादि गुणों से सम्पन्न शुद्ध अन्त:करण के द्वारा अनुभव गम्य है।

'वह सबके हृदय में स्थित है' – यदि कोई ऐसा अनन्तस्वरूप चैतन्य तत्त्व है, जो सर्वावभासक है और जिसके बिना जीवन का कोई अस्तित्व ही नहीं है, तो निश्चित ही वह जानने योग्य है। उसे प्राप्त करना ही हमारे जीवन का लक्ष्य हो सकता है। उसका अन्वेषण कहाँ करें ? कौन-सी तीर्थयात्रा पर हमें जाना होगा ? क्या हम ऐसी साहसिक यात्रा के सक्षम हैं ? सामान्यत:, लोग ऐसे ही प्रश्न पूछते हैं, जिससे यह ज्ञात होता है कि वे आत्मा को अपने से भिन्न कोई वस्तु समझते हैं, जिसकी प्राप्ति किसी देशान्तर या कालान्तर में होने को उनकी धारणा होती है। ऐसी समस्त विपरीत धारणाओं की निवृत्ति के लिए यहां स्पष्ट और साहसिक घोषणा की गई है कि वह अनन्त परमात्मा सबके हृदय में ही स्थित है।

दार्शनिक दृष्टि से, 'हृदय' शब्द का अर्थ शुद्ध मन से होता है, जो समस्त आदर्श और पवित्र भावनाओं और विचारों का उदय स्थान माना जाता है। आन्तरिक शुद्धि के इस वातावरण में, जब बुद्धि उस पारमार्थिक आत्मतत्त्व का ध्यान करती है, जो सर्वातीत होते हुए सर्वव्यापक भी है, तब वह स्वयं ही आत्मस्वरूप बन जाती है। यही आत्मानुभूति है। इसीलिए, हृदय को आत्मा का निवास स्थान माना गया है।

स्वहृदय में स्थित आत्मा का अनुभव ही अनन्त ब्रह्म का अनुभव है, क्योंकि आत्मा ही ब्रह्म है।

इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं :

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१९॥

इस प्रकार, (मेरे द्वारा) क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय को संक्षेपतः कहा गया। इसे तत्त्व से जानकर (विज्ञाय) मेरा भक्त मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है ॥१९॥

अब तक, गीतोपदेश में जो कुछ विवेचन किया गया है, वह वस्तुतः वैदिक सिद्धान्त का ही प्रतिपादन है। महाभूतों से प्रारम्भ होकर धृति पर्यन्त क्षेत्र है। अमानित्वादि से तत्त्वज्ञानार्थ दर्शन तक ज्ञान का वर्णन है। और तत्पश्चात् के श्लोकों में ज्ञेय वस्तु का निर्देश किया गया है।

अब, प्रश्न यह है कि इस ज्ञान का उत्तम अधिकारी कौन है ? भगवान् कहते हैं, "जो मेरा भक्त है, वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।" परन्तु यह भक्ति केवल भावुकतापूर्ण प्रेम ही नहीं है। जिसने क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विवेक द्वारा यह स्वानुभव प्राप्त किया है कि एक वासुदेव ही भूतमात्र में क्षेत्रज्ञ के रूप में विराजमान हैं, वही साधक उत्तम भक्त है जो 'मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।"

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ही वर्णन, अगले श्लोकों में, प्रकृति और पुरुष के रूप में किया जा रहा है :

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥२०॥

प्रकृति और पुरुष इन दोनों को ही तुम अनादि जानो। और तुम यह भी जानो कि सभी विकार और गुण प्रकृति से ही उत्पन्न हुए हैं ॥२०॥

इसके पूर्व सातवें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी दो प्रकृतियों – अपरा और परा – का वर्णन करते हुए कहा था कि ये दो प्रकृतियां ही सृष्टि की योनि अर्थात् कारण हैं। इन दोनों का ही निर्देश यहां क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के रूप में किया गया है।

उक्त विचार को ही दूसरी शब्दावली में बताते हुये भगवान् कहते हैं कि प्रकृति (क्षेत्र) और पुरुष (क्षेत्रज्ञ) दोनों ही अनादि हैं। ये दोनों परमात्मा के ही दो रूप हैं। परमेश्वर नित्य है, इसलिए उसके इन दो रूपों का भी अनादि होना, उचित ही है। प्रकृति और पुरुष ही परस्पर सम्बन्ध के द्वारा इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय के कारण हैं। इस प्रकार, यद्यपि संसार के कारण ये दोनों हैं, तथापि इनका अधिष्ठान "ज्योतियों की ज्योतिस्वरूप" ब्रह्म ही है।

भगवान् आगे कहते हैं कि समस्त देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि ये 'विकार' और सुख, दुःख, मोहादिक ये गुण – जिनका वर्णन गीता में ही आगे किया जाने वाला है – प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और आत्मा स्वयं अविकारी रहते हुए इन विकारों को प्रकाशित करता है।

प्रकृति से उत्पन्न वे गुण और विकार क्या हैं? सुनो :

कार्यकारण कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२१॥

कार्य और कारण के उत्पन्न करने में हेतु प्रकृति कही जाती है और पुरुष सुख-दुःखों के भोक्तृत्व में हेतु कहा जाता है ॥२१॥[1]

'कार्य और कारण के कर्तृत्व में हेतु प्रकृति है'—यहाँ प्रयुक्त 'कार्य' शब्द से ये तेरह तत्त्व सूचित किए गये हैं – पंचमहाभूत, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार। समष्टि पंचतत्वों के जो शब्द स्पर्शादि पंच गुण हैं, वे ही व्यष्टि में पंच ज्ञानेन्द्रियों के रूप में स्थित हैं। इसका विवेचन हम पूर्व में भी कर चुके हैं।

पांचो इन्द्रियां भिन्न-भिन्न विषय ग्रहण करती हैं, जिनका एकत्रीकरण करना मन का कार्य है। तत्पश्चात् अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिये एक ऐसे तत्त्व की आवश्यकता होती है, जो ग्रहण किये गये विषय के स्वरूप को समझकर अपनी प्रतिक्रिया को निश्चित करे। और वह तत्व है बुद्धि। अब, इन सब क्रियाओं –

---

१. कार्यकरण, ऐसा भी पाठभेद है।

वि षय ग्रहण, उनके एकत्रीकरण और निर्णय – में एक अहं-भाव सतत बना रहता है, जैसे—"मैं देखता हूँ", "मैं निर्णय लेता हूं" इत्यादि। यह अहंभाव ही अहंकार कहलाता है, जो आतमा के इन इन्द्रियादि उपाधियों के साथ तादात्म्य के कारण उत्पन्न होता है। ये तेरह तत्त्व यहां कार्य शब्द से सूचित किए गये हैं।

यह सम्पूर्ण कार्य जगत् व्यक्त है, और इनका अव्यक्त रूप ही कारण कहलाता है। ये कार्य और कारण प्रकृति ही हैं।

'पुरुष सुख-दुःख का भोक्ता है' – जो चेतन तत्त्व इस कार्य-कारण रूप प्रकृति को प्रकाशित करता है, वह आत्मा या पुरुष है।

यहां आतमा का पुरुष के रूप में सुख-दुःख का भोक्ता कहा गया है वह उसका औपाधिक रूप है, वास्तविक नहीं। सुख और दुःख हमारे मन की प्रतिक्रियायें हैं। अनुकूल परिस्थिति में इष्ट की प्राप्ति होने पर सुख और अनिष्ट की प्राप्ति से दुःख होता हैं। प्रत्येक अनुभव उसके अन्तिम विश्लेषण में सुख या दुःख के रूप में ही निश्चित किया जाता है। चैतन्य ही इन सब अनुभवों को प्रकाशित करता है, जिसके बिना अनुभवधारा रूप यह जीवन ही सम्भव नहीं हो सकता है। इसलिए, यहां कहा गया है कि पुरुष[1] सुख-दुःखों के भोग का हेतु है। क्षेत्र की उपाधि में क्षेत्रज्ञ के रूप में कार्य कर रहा आतमा ही संसार का भोक्ता बनता है। जो व्यक्ति सूर्य की प्रखर धूप में खड़ा रहेगा उसे सूर्य का ताप सहन करना होगा, यदि वह व्यक्ति सघन छाया में चला जाता है, तो उसे शीतलता का आनन्दानुभव होगा।

इस श्लोक में पुरुष को सुखदुःखरूप संसार का भोक्ता कहा गया है। इस संसार का कारण क्या है? उत्तर में भगवान् कहते हैः

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२२॥

प्रकृति में स्थित पुरुष प्रकृति से उत्पन्न गुणों को भोगता है। इन गुणों का संग ही इस पुरुष (जीव) के शुभ और अशुभ योनियों में जन्म लेने का कारण है ॥२२॥

---

१. श्री शंकराचार्य लिखते हैं कि "पुरुष, जीव, क्षेत्रज्ञ, भोक्ता – ये सब पर्यायवाची शब्द हैं।" उनके भाष्य पर आनन्दगिरि अपनी टीका में लिखते हैं कि यहाँ पुरुष आदि शब्द परमात्मा के औपाधिक रूप को बताने वाले हैं, न कि निरुपाधिक स्वरूप को।

यद्यपि पूर्ण पुरुष परमात्मा का कोई संसार नहीं है, तथापि प्रकृति से उत्पन्न उपाधियों से अविच्छिन्न-सा हुआ वह भोक्ता भाव को प्राप्त होता है। यही प्रकृतिस्थ पुरुष है।

शीत-उष्ण, रागद्वेष, सुख दु:ख आदि गुण जड़ प्रकृति (क्षेत्र) के धर्म हैं। किन्तु उपाधियों के साथ 'अहंभाव' से तादात्म्य होने के कारण यह पुरुष उसे अपने ही धर्म मानकर व्यर्थ ही दु खों को भोगता है। इसके यह स्पष्ट होता है कि पुरुष का दु:ख प्रकृति के कारण नहीं, वरन् उसके साथ हुये तादात्म्य के कारण है।

प्रकृति के गुणों के साथ अत्यधिक आसक्ति हो जाने के कारण यह पुरुष असंख्य शुभ और अशुभ, उत्तम और अधम योनियों में जन्म लेता रहता है। ये असंख्य जन्म उसे उन वासनाओं के अनुसार प्राप्त होते हैं, जिन्हें वह जगत् में कार्य करते और फल भोगते हुए अर्जित करता रहता है।

इस प्रकार, पारमार्थिक दृष्टि से सच्चिदानन्द स्वरूप होते हुए भी अविद्या-वशात् यह पुरुष कर्ता, भोक्ता, सुखी, दु:खी, इहलोक परलोकगामी संसारी जीव बन जाता है! आत्म अज्ञान और प्रकृतिजनित गुणों से आसक्ति ही पुरुष के सांसारिक दु:ख का कारण है। अत: संसार की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिये जो ज्ञान मार्ग है, उसके दो अंग हैं – विवेक और वैराग्य। साधक को चाहिए कि वह विवेक द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करे और वैराग्य के द्वारा मिथ्या आसक्ति का त्याग करे।

अगले श्लोक में परमात्मा का ही साक्षात् निर्देश करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं :

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२३॥

परम पुरुष ही इस देह में उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा कहा जाता है ॥२३॥

इस भ्रमित दु:खी क्षेत्रज्ञ पुरुष से भिन्न, क्षेत्रोपाधि से असंस्पृष्ट शुद्ध परम पुरुष है। प्रत्येक प्रतिबिम्ब के अस्तित्व के लिये एक बिम्बभूत सत्य वस्तु की आवश्यकता होती है। प्रतिबिम्ब की स्थिति दर्पण या जल आदि की सतह की स्थिति पर निर्भर करती है, किन्तु बिम्बभूत सत्य वस्तु को उस सतह का स्पर्श तक नहीं होता है। जैसे, चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पात्र के जल पर निर्भर करता है, किन्तु चन्द्रमा अपने प्रकाशस्वरूप में ही स्थित रहता है।

चित्स्वरूप आत्मा क्षेत्र की उपाधि से क्षेत्रज्ञ बनता है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा अपने स्वरूप से निरुपाधिक अर्थात् सर्व उपाधि रहित है। इस श्लोक में, वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन और विश्लेषण करने की दृष्टि से, भगवान् श्रीकृष्ण उक्त दो प्रकार के पुरुषों – सोपाधिक और निरुपाधिक का निर्देश करते हैं। यहाँ इस बात का स्मरण रहे कि वस्तुतः पुरुष एक ही है।

यहाँ विभिन्न नामों के द्वारा एक ही परमात्मा को इङ्गित किया गया है। ये विभिन्न नाम जीव की मनःस्थिति अर्थात् अज्ञान आवरण की सघनता और विरलता की दृष्टि से दिए गये हैं। आत्मस्वरूप के विषय में पूर्ण अज्ञानी तथा रागद्वेषादि वृत्तियों से पूर्ण मन वाले व्यक्ति में आत्मा मानो केवल 'उपद्रष्टा' बनकर रहता है; अर्थात् उस पुरुष के अपराधपूर्ण कार्यों को भी साक्षीभाव से प्रकाशित मात्र रहता है। वैसे भी, आत्मा समस्त प्राणियों की वृत्तियों का 'उपद्रष्टा' मात्र है। परन्तु जब उस व्यक्ति का चित्त कुछ मात्रा में शुद्ध होता है और वह सत्कर्म में प्रवृत्त होता है, तब परमात्मा मानो 'अनुमन्ता' बनता है, अर्थात् उसके सत्कर्मों को अपनी अनुमति प्रदान करता है।

अन्तःकरण के और अधिक शुद्ध होने पर वह व्यक्ति जब अपने दिव्य स्वरूप के प्रति जागरूक हो जाता है तब ईश्वर उसके कर्मों को पूर्ण करने वाला 'भर्ता' बन जाता है। अर्पण की भावना से किये गये कर्मों में ईश्वर की कृपा से सफलता ही प्राप्त होती है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो, ईश्वर उस साधक के अल्प प्रयत्नों को भी पूर्णता प्रदान करता है।

जब वह साधक अपने अहंकार को भुलाकर पूर्णतया योगमुक्त हो जाता है, तब ऐसे व्यक्ति के हृदय में आत्मा ही 'भोक्ता' बनी प्रतीत होती है। इस श्लोक की समाप्ति इस कथन के साथ होती है कि आत्मा ही महेश्वर है। वही इस देह में परम पुरुष है।

प्रकृति और पुरुष के तत्व को जानने वाले साधक के विषय में कहते हैं कि :

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२४॥

इस प्रकार पुरुष और गुणों के सहित प्रकृति को जो मनुष्य जानता है, वह सब प्रकार से रहता हुआ (व्यवहार करता हुआ) भी पुनः नहीं जन्मता है ॥२४॥

अब तक किए गए विवेचन का सारांश यह है कि पुरुष स्वस्वरूप से नित्य-

मुक्त होते हुए भी प्रकृति के साथ तादात्म्य के कारण जीव बनकर संसार के दु:खों को भोगता है। इसी तादात्म्य के कारण उत्पन्न वासनाओं के अनुरूप विभिन्न योनियों में उसे जन्म लेना पड़ता है।

परन्तु, जो साधक साधन सम्पन्न होकर गुरु के उपदेश से प्रकृति, पुरुष उनके परस्पर सम्बन्ध तथा प्रकृति के विविध प्रकार के प्रभाव रखने वाले गुणों को तत्त्वत: जान लेता है, वही वास्तव में ज्ञानी पुरुष है, जो सदा के लिये संसार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

किसी वस्तु को पूर्णत: जानने के लिए हमें उससे विलग रहना चाहिए। यदि हम स्वयं ही किसी परिस्थिति में उलझे हुये हों, तो हम उसका वस्तुनिष्ठ अध्ययन नहीं कर सकते हैं। अत: प्रकृति के विकारों (देहादि) और गुणों (सुख दु:खादि) को जानने के लिए हमें उन सबका द्रष्टा बनकर स्थित होना चाहिये, तभी हम सर्वाधिष्ठान परमात्मा का साक्षात्कार कर सकते हैं। इस अनन्तस्वरूप ब्रह्म को अपने आत्मरूप से जानने का अर्थ ही अविद्या को नष्ट करना है। ऐसे पूर्ण ज्ञानी पुरुष का पुन: प्रकृति के साथ मिथ्या तादात्म्य होने के लिए कोई कारण ही नहीं रह जाता है। इसलिए यहां भगवान् कहते हैं कि, "सब प्रकार से रहते हुये भी उसका पुन: जन्म नहीं होता है।" इसका अभिप्राय यह है कि ज्ञानी पुरुष जगत् में कर्म करता हुआ भी सामान्य मनुष्यों के समान नई-नई वासनाओं को उत्पन्न करके उनके बन्धन में नहीं आता है ; क्योंकि उसका अहंकार सर्वथा नष्ट हो चुका होता है।

ब्रह्मवित् ब्रह्म ही बन जाता है और उसके समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं— यह सभी उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित सत्य है।

अब, आत्मदर्शन के लिए अनेक उपाय बताते हैं :

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२५॥

कोई पुरुष ध्यान के अभ्यास से आत्म को आत्मा (हृदय) में आत्मा (शुद्ध बुद्धि) के द्वारा देखते हैं : अन्य लोग सांख्य योग के द्वारा तथा कोई साधक कर्मयोग से (आत्मा को देखते हैं) ॥२५॥

सर्वोपाधिविनिर्मुक्त आत्मा का शुद्ध स्वरूप में अनुभव करना ही आध्यात्मिक साधना का अन्तिम लक्ष्य है, जिसके सम्पादन के लिए अनेक उपाय विकल्प यहाँ बताये गये हैं। मानव का व्यक्तित्व सुगठन उसी स्थिति से प्रारम्भ होना चाहिये

जहाँ वर्तमान काल में मनुष्य स्वयं को पाता है। क्रमबद्ध पाठों के बिना कोई भी शिक्षा सफल नहीं हो सकती है।

अत्यन्त अशुद्ध एवं चंचल मन के व्यक्ति के आत्मविकास के लिए भी अनुकूल साधन का होना आवश्यक है। पूर्णत्व के सिद्धान्त को केवल बौद्धिक स्तर पर समझने से ही आत्मिक उन्नति नहीं हो सकती है। ज्ञान के अनुरूप ही व्यक्ति का जीवन होने पर वास्तविक विकास संभव होता है। इसलिये, अपने वैचारिक-जीवन को नियन्त्रित करने तथा पुनर्शिक्षा के द्वारा उसे सही दिशा प्रदान करने में साधक को विवेक तथा उत्साह से पूर्ण सक्रिय साधना का अभ्यास करने की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति को आत्मोन्नति के इस मार्ग में कठिनाई का अनुभव होता है।

विभिन्न प्रकार एवं स्तर के मनुष्यों के विकास के लिए, प्राचीनकाल के महान् ऋषियों ने विभिन्न साधन मार्गों को खोज निकाला, जिन सबका साध्य एक ही है। प्रत्येक मार्ग के अनुयायी के लिए वही मार्ग सबसे उपयुक्त है। किसी एक मार्ग को अन्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता है। एक औषधालय में अनेक औषधियाँ रखी होती हैं; प्रत्येक औषधि किसी रोग विशेष के लिए होती है और उस रोग से पीड़ित रोगी के लिये स्वास्थ्यलाभ होने तक वही औषधि सर्वोत्तम होती है।

विभिन्न साधकों में प्रतीयमान भेद उनके मानसिक सन्तुलन और बौद्धिक समता के भेद के कारण होता है। शास्त्रीय भाषा में इसे अन्त:करण की अशुद्धि कहते हैं। वे सब साधन, जिनके द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त होती है, बहिरंग साधन या गौण साधन कहलाते हैं। चित्त के शुद्ध होने पर आत्मसाक्षात्कार का अन्तरंग या साक्षात् साधन ध्यान है।

कोई पुरुष ध्यान के द्वारा आत्मा को देखते हैं – ध्यान के विषय में शंकराचार्य जी लिखते हैं कि "शब्दादि विषयों से श्रोत्रादि इन्द्रियों को मन में उपरत करके मन को चैतन्यस्वरूप आत्मा में एकाग्र करके चिन्तन करना ध्यान कहलाता है।" इस चिन्तन में ध्येयविषयक वृत्तिप्रवाह तैलधारा के समान अखण्ड और अविरल बना रहता है। स्वाभाविक है कि यह मार्ग उन उत्तम साधकों के लिए हैं, जिनका हृदय और विवेक समान रूप से विकसित होता है।

आत्मा को 'देखने' का अर्थ नेत्रों से रूपवर्ण देखना नहीं है, अन्यथा यह तो वेदान्त के सिद्धान्त का ही खंडन हो जायेगा। आत्मा तो दृष्टा है, दृश्य नहीं। अत:, आत्मदर्शन से तात्पर्य स्वस्वरूपानुभूति से है। वह अनुभव करतलामलक के दर्शन[1] के समान स्पष्ट और सन्देह रहित होने के कारण यह कहने की प्रथा पड़

---

१. हथेली पर रखे आंवले को देखने के समान।

गयी कि "वे आत्मा को देखते हैं।"

"आत्मा के द्वारा आत्मा को देखते हैं" – शंकराचार्यजी इस भाग के भाष्य में कहते हैं "ध्यान के द्वारा आत्मा में अर्थात् ध्यान से सुसंस्कृत हुए अन्तःकरण के द्वारा देखते हैं।" शुद्धान्तःकरण में ही आत्मा का स्पष्ट अनुभव होता है।

किसी को इस बात पर आश्चर्य हो सकता है कि यहाँ बुद्धि और अन्तःकरण (मन) के लिए भी 'आत्मा' शब्द का ही प्रयोग क्यों किया गया है ? इसका कारण यह है कि जब साधक को अपने पारमार्थिक सत्यस्वरूप का अनुभव होता है, तब उस सत्य की दृष्टि से मन, बुद्धि आदि का कोई पृथक् अस्तित्व ही नहीं रह जाता है। सब आत्मस्वरूप ही बन जाते हैं। सभी तरंगें, फेन आदि समुद्र के अतिरिक्त कुछ नहीं है। स्वप्नद्रष्टा, स्वप्न जगत् और स्वप्न के अनुभव ये सब वस्तुतः जाग्रत-पुरुष का मन ही है। इसी दृष्टि से हमारे आध्यात्मिक ग्रन्थों में हमारे व्यक्तित्व के बाह्यतम पक्ष शरीरादि को भी आत्मा शब्द से निर्देशित किया गया है।

उपर्युक्त ध्यानयोग का मार्ग विवेक और वैराग्य से सुसम्पन्न उत्तम अधिकारियों के ही उपयुक्त है। अतः मध्यम प्रकार के साधकों के लिये उपायान्तर बताते हैं।

'सांख्य योग' – विवेक के होते हुये भी वैराग्य की कमी होने के कारण जिन साधकों का मन ध्यान में स्थिर नहीं हो पाता और उनका तादात्म्य मन में उठने वाली वृत्तियों के साथ हो जाता है, उनको सांख्य योग का अभ्यास करने को कहा गया है। "क्रमबद्ध युक्तियुक्त विचार का वह मार्ग जिसके द्वारा, हम किसी निश्चित सिद्धांत पर पहुँचते हैं, जो कभी प्रमाणान्तर या युक्ति से अन्यथा सिद्ध नहीं हो सकता अर्थात् अकाट्य रहता है, साँख्य योग कहलाता है।"

इस साधना के अभ्यास में साधक को इस ज्ञान को दृढ़ बनाये रखना चाहिये कि "मन में उठने वाली ये वृत्तियां सत्व, रज, और तमोगुण के कार्यरूप हैं तथा दृश्य हैं ; मैं इनका साक्षी इन से भिन्न और नित्य हूँ।" इस प्रकार, मन का ध्यान वृत्तियों से हटकर साक्षी में स्थिर हो जाने पर अन्य वृत्तियाँ स्वतः लीन हो जायेंगी और निर्विकल्प आत्मा का बोधमात्र रह जायेगा।

'कर्मयोग' – जिन पुरुषों का अन्तःकरण वासनाओं से प्रचुर होता है, वे अध्ययनरूप सांख्ययोग का पालन नहीं कर सकते हैं और उनके लिये ध्यानयोग का प्रश्न ही नहीं उठता है। ऐसे साधकों के लिये प्रथम वासना क्षय के उपाय के रूप में 'कर्मयोग' का उपदेश दिया जाता है जिसका गीता के तीसरे अध्याय में विशद् वर्णन किया गया है। अहंकार और स्वार्थ को त्यागकर ईश्वरार्पण की भावना से

कर्म करने से पूर्वसंचित वासनाओं का क्षय हो जाता है और नई वासनायें उत्पन्न नहीं होती हैं। इस प्रकार, चित्तके शुद्ध होने पर आत्मज्ञान की जिज्ञासा जागृत होने पर वह व्यक्ति शास्त्राध्ययन के (सांख्य योग) योग्य बन जाता है। तत्पश्चात् विवेक और वैराग्य के दृढ़ होने पर ध्यानयोग के द्वारा अध्यात्म साधना के सर्वोच्च शिखर 'ब्रह्मात्मैक्यबोध' को प्राप्त हो जाता है।

संक्षेप में, सत्त्वगुणप्रधान व्यक्ति के लिए ध्यानयोग उपयुक्त है। रजोगुण का आधिक्य और सत्वगुण की न्यूनता से युक्त पुरुष के लिये सांख्य योग है और सर्वथा रजोगुण प्रधान पुरुष के लिये कर्मयोग का साधन है।

तब फिर, तमोगुण प्रधान अर्थात् जिसमें विचारशक्ति का अभाव हो, ऐसे व्यक्ति के लिये कौन सा उपाय है? भगवान् बताते हैं कि :

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२६॥

परन्तु, अन्य लोग जो स्वयं इस प्रकार न जानते हुए, दूसरों से (आचार्यों से) सुनकर ही उपासना करते हैं, वे श्रुति परायण (अर्थात् श्रवण हो जिनके लिये परम साधन है) लोग भी मृत्यु को निःसन्देह तर जाते हैं ॥२६॥

उत्तम और मध्यम अधिकारियों के लिए उपयुक्त मार्गों को बताने के पश्चात् अब मन्द बुद्धि के साधकों के लिए गीताचार्य एक उपाय बताते हैं।

'अन्यों से श्रवण'– कुछ ऐसे भी लोग होते हैं, जो ध्यान, सांख्य और कर्मयोग इन तीनों में से किसी एक को भी करने में असमर्थ होते हैं। उनके विकास के लिये एकमात्र उपाय यह है कि उनको किसी आचार्य से पूजा या उपासना के विषय में श्रवण कर तदनुसार ईश्वर की आराधना करनी चाहिये।

'वे भी मृत्यु को तर जाते हैं'– जगत् में यह देखा जाता है कि जिनकी बुद्धि मन्द होती है, उनमें श्रद्धा का आधिक्य होता है। अतः, यदि ऐसे मन्दबुद्धि साधक श्रद्धापूर्वक उपदिष्ट प्रकार से उपासना करें, तो वे भी इस अनित्य मृत्युरूप संसार को पार करके नित्य तत्त्व का अनुभव कर सकते हैं। देह के अन्त को ही मृत्यु नहीं समझना चाहिए। यह शब्द उसके व्यापक अर्थ में यहां प्रयुक्त किया गया है। अनित्य, अनात्म उपाधियों के साथ तादात्म्य करने से हम भी उनके परिवर्तनों से प्रभावित होते रहते हैं। यह परिवर्तनों का दुःखपूर्ण अनुभव ही 'मृत्यु' कहलाता है। इनसे भिन्न नित्य अविकारी आत्मा को जानना ही मृत्यु को तर जाना है, अर्थात् सभी परिवर्तनों से अविचलित और अप्रभावित रहना है!"

श्री शंकराचार्य कहते हैं कि–"स्वयं विवेकरहित होते हुए भी केवल परोपदेश के श्रवण से ही यदि ये साधक मोक्ष को प्राप्त होते हैं, तो फिर प्रमाणपूर्वक विचार के प्रति स्वतन्त्र विवेकी साधकों के विषय में कहना ही क्या है कि वे मोक्ष को प्राप्त करते हैं।"

इन सब साधनों के द्वारा हमें कौन से साध्य का सम्पादन करना है ? इसपर कहते हैं :

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२७॥

हे भरत श्रेष्ठ ! यावन्मात्र जो कुछ भी स्थावर जंगम (चराचर) वस्तु उत्पन्न होती है, उस सबको तुम क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न हुई जानो ।।२७।।

क्षेत्र (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (पुरुष) इन दोनों में से स्वतन्त्र रूप से कोई एक ही तत्त्व इस चराचर जगत् का कारण नहीं है। इन दोनों के संयोग से जगत् उत्पन्न होता है; परन्तु इन दोनों का संयोग वास्तविक नहीं, वरन् अन्योन्य धर्म अध्यासरूप[1] है।

अध्यास की प्रक्रिया में विद्यमान अधिष्ठान पर भ्रान्ति से किसी अन्य वस्तु की ही कल्पना की जाती है, जैसे स्तम्भ में प्रेत का अध्यास। इस प्रकार के अध्यास में, भ्रान्त व्यक्ति स्तम्भ में वस्तुत: अविद्यमान प्रेत के रूप, गुण और क्रियाओं को देखता है। यह स्तम्भ पर प्रेत के धर्म का अध्यास है। इसी प्रकार, स्वयं अविद्यमान होते हुए भी जो प्रेत उस व्यक्ति को सद्रूप अर्थात् 'है' इस रूप में प्रतीत हो रहा होता है, उसकी सत्ता वस्तुत: स्तम्भ की ही होती है। यह है स्तम्भ के अस्तित्व के धर्म का प्रेत पर आरोप। गुणों के इस परस्पर अध्यास के कारण विचित्र बात यह होती है कि मोहित व्यक्ति को मिथ्या प्रेत तो दिखाई पड़ता है, परन्तु सत्य स्तम्भ नहीं ! मन की यह विचित्र युक्ति अध्यास कहलाती है। शुद्ध चैतन्य में क्षेत्र का सर्वथा अभाव है। क्षेत्र की अपनी न सत्ता है और न चेतनता। परन्तु, परस्पर विचित्र संयोग से इस चराचर जगत् की उत्पत्ति हुई प्रतीत होती है।

इस अध्यास के कार्य को हम अपने में ही अनुभव कर सकते हैं। विचार

---

१. दो वस्तुओं के विपरीत धर्मों के परस्पर आरोप को वेदान्त में अन्योन्यधर्म अध्यास कहते हैं।

करने पर विविधता पूर्ण सृष्टि निवृत्त हो जाती है और हमें यह ज्ञात होता है कि ब्रह्म ही वह परम सत्य अधिष्ठान है, जिस पर प्रकृति और पुरुष की क्रीड़ा हो रही है।

उदाहरणार्थ, कोई एक व्यक्ति सामान्यत: शान्त प्रकृति का है। परन्तु यदा-कदा उसके मन में प्रबल कामना का उदय होता है। उस कामना से तादात्म्य करने के फल स्वरूप वह व्यक्ति कामुक बनकर ऐसा निन्द्य कर्म करता है, जिसका उसे पश्चात्ताप होता है! इस उदाहरण में, कामना, कामुक व्यक्ति, पश्चात्ताप इन सब का अस्तित्व उस व्यक्ति में ही निहित होता है। यद्यपि वे उसमें हैं, किन्तु वस्तुत: वह उसमें नहीं होता! क्योंकि, उनके विना भी उस व्यक्ति का अस्तित्व बना रहता है। तथापि, उस कामना वृत्ति से तादात्म्य करके वह पश्चात्ताप के योग्य कर्मों का कर्ता बन जाता है। इसी प्रकार, आत्मा परिपूर्ण होने के कारण उसमें क्षेत्र या अनात्मा की संभावना रहती है। प्रकृति को व्यक्त कर उसके साथ तादात्म्य से वह जीवरूप पुरुष बन जाता है। यह पुरुष मिथ्या आसक्तियों के द्वारा अपने संसार को बनाये रखता है। इस स्थिति से स्वयं को मुक्त कर अपने पूर्ण स्वरूप का साक्षात्कार करने का यही उपाय है कि हम आत्मा और अनात्मा का प्रमाण पूर्वक विवेक करें और प्रकृति से विलग होकर उसके कार्यों के साक्षी बनकर रहें।

विवेक के द्वारा प्राप्त सम्यक् दर्शन को अगले श्लोक में बताते हैं:

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२८॥

जो पुरुष समस्त नश्वर भूतों में अनश्वर परमेश्वर को समभाव से स्थित देखता है, वही (वास्तव में) देखता है ॥२७॥

जिस अधिष्ठान पर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के परस्पर मिथ्या तादात्म्य की क्रीड़ा और परिणामत: दु:खपूर्ण संसार की प्रतीति होती है, वह एक परमेश्वर ही है, जो "भूतमात्र में समभाव से स्थित है", जैसे समस्त तरंगों में जल होता है।

'नश्वर भूतों में अनश्वर'—केवल सतही दृष्टि से निरीक्षण करने वाले पुरुष को जगत् में निरन्तर परिवर्तन होता दिखाई देगा। वस्तुएं स्वभावत: परिवर्तित होती रहती हैं और उनके परस्पर के सम्बन्ध भी। परिवर्तन होना यह वैषयिक और वैचारिक दोनों ही जगतों का स्थायी धर्म है। इस जगत् की तुलना से कहा गया है कि इन सब में वह परमेश्वर नित्य और अविकारी अधिष्ठान है, जिसके कारण ये सब परिवर्तन जाने जाते हैं।

जन्म, वृद्धि, व्याधि, क्षय और मृत्यु ये वे विकार हैं, जो प्रत्येक अनित्य वस्तु को प्राप्त होते हैं। जिसकी उत्पत्ति हुई हो, उसे ही आगे के विकारों से भी गुजरना पड़ेगा। यहाँ परमेश्वर को 'अविनाशी' कह कर उसे पूर्व के विकारों का भी अभाव सूचित किया गया है। यह अविनाशी चैतन्य ही नाश का प्रकाशक और जगत् का आधार है, जैसे रूपान्तरित होने वाले आभूषणों का आधार स्वर्ण है।

वह पुरुष जो इस सम और अविनाशी परमेश्वर को समस्त विषम और विनाशी भूतों में पहचानता है, वही पुरुष वास्तव में उसे "देखता है" जिसे देखना चाहिए। यहां 'देखने' से तात्पर्य आत्मानुभव से है।

भौतिक जगत् की वस्तुएं इन्द्रियगोचर होती हैं, जब कि भावनाओं और विचारों का ज्ञान क्रमशः मन और बुद्धि से होता है। इसी प्रकार आत्मबोध भी आध्यात्मिक ज्ञानचक्षु से होता है, चर्मचक्षु से नहीं। जैसे हमारे नेत्र विचारों को नहीं 'देख' सकते वैसे ही मन और बुद्धि आत्मा को नहीं 'देख' सकते। स्थूल के द्वारा सूक्ष्म का दर्शन नहीं हो सकता। सूक्ष्मतम आत्मा समस्त उपाधियों से अतीत है।

जो (इस समतत्त्व को) देखता है, वही (वास्तव में) देखता है-यह कथन वेदान्त की विशेष वाक्यशैली है, जो अत्यन्त प्रभावपूर्ण है। सभी लोग देखते हैं, परन्तु पारमार्थिक सत्य को नहीं। उनके इस विपरीत दर्शन से ही उनके प्रमाणों (ज्ञान के करणों) में दोष का अस्तित्व सिद्ध होता है। विभ्रम और वस्तु का अन्यथा दर्शन, मिथ्या कल्पनाएं और विक्षेप - ये सब वस्तु के यथार्थ स्वरूप को आच्छादित कर देते हैं। इसलिये, यहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण विशेष बल देकर कहते हैं कि जो पुरुष इस सम सत्य को देखता है वही वास्तव में देखता है। शेष लोग तो भ्रान्ति में ही पड़े रहते हैं।

अब यथोक्त सम्यक् दर्शन श्रेष्ठ फल को दर्शाकर उसकी स्तुति करते हैं :

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२९॥

निश्चय ही, वह पुरुष सर्वत्र सम भाव से स्थित परमेश्वर को समान देखता हुआ आत्मा (स्वयं) के द्वारा आत्मा (स्वयं) का नाश नहीं करता है, इससे वह परम गति को प्राप्त होता है ॥२९॥

वेदान्त हमें जगत् से पलायन नहीं सिखाता, बल्कि वह इस दृश्यमान जगत् का पुनर्मूल्यांकन करने का उपदेश देता है। सामान्यतः जगत् की ओर देखने की

हमारी दृष्टि हमारे प्रिय विचारों तथा भावनाओं से रंजित होती है । स्पष्ट है कि उस स्थिति में हम जगत् को यथार्थ रूप में नहीं देखते है । इस अज्ञान की दृष्टि का त्याग कर ज्ञान की दृष्टि से विश्व को देखने का अर्थ वर्तमान काल के सुस्त और उदास, दु:खी कुरूप जगत् में ही पूर्णता और आनन्द, दिव्यता और पवित्रता का दर्शन करना है । दुर्व्यवस्थित प्रमाणों के द्वारा परमार्थ सत्य का विपरीत दर्शन ही यह जगत् है, जो द्रष्टा जीव को ही पीड़ित करता रहता है ।

उपाधियों के साथ तादात्म्य करके जीव भाव को प्राप्त आत्मा जब देखता है, तब उसे नानाविध सृष्टि दिखाई देती है । भ्रान्तिजनित यह जगत् उसे कभी खिसियाते और नृत्य करते हुए ता कभी चीखने और हुंकारते हुए प्रतीत होता है । इन सब दु:खपूर्ण परिवर्तनों के मध्य ही पारमार्थिक सत्यस्वरूप को पहचानने से ही सभी विक्षेपों, अर्थहीन लक्ष्यों और परिश्रमों की समाप्ति हो सकती है, क्योंकि "वह परमेश्वर को सर्वत्र समान रूप से स्थित देखता है ।" ज्ञान के अपने इस अनुभव के कारण फिर ज्ञानी पुरुष को कोई दु:ख अथवा भय नहीं होता । मिथ्या प्रेत के अधिष्ठान स्तम्भ को पहचान लेने पर पूर्व का भय और दु:ख समाप्त हो जाता है ।

'वह अपने द्वारा अपना नाश नहीं करता है'– पूर्व[1] में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने स्पष्ट वर्णन किया है कि किस प्रकार हम अपने ही शत्रु या मित्र बन जाते हैं । जब हमारा निम्नस्तर का अहंकार-केन्द्रित व्यक्तित्व या मन हमारी उच्चतर ज्ञानवती बुद्धि के मार्गदर्शनानुसार कार्य करने के लिए उपलब्ध नहीं होता, तब वह मन हमारा शत्रु बन जाता है । यदि वाहन के ऊपर हमारा नियंत्रण न रहे, तो वह वाहन हमारी सेवा करने के स्थान पर हमारे नाश का ही कारण बन जाता है । जिस पुरुष ने सर्वत्ररमण कर रहे परमात्मा का दर्शन कर लिया है, उसका मन कभी भी अपनी दुष्ट छाया से परमात्मा के वैभव की आच्छादित नहीं कर सकता है ।

'इससे वह परम गति को प्राप्त होता है' -- आत्मअज्ञान तथा तज्जनित मिथ्याज्ञान के कारण हमारे शुद्ध आत्मस्वरूप पर आवरण पड़ा रहता है । इस अविद्या के कारण मनुष्य न केवल अपने स्वरूप को नहीं जानता, वरन् स्वरूप से सर्वथा भिन्न देहादि अनात्म उपाधियों को ही अपना स्वरूप मान लेता है । परिणामत: उसका व्यवहार अनुचित और जीवन का लक्ष्य अधिकाधिक विषयोप-भोग से अतिरिक्त और कुछ नहीं होता । इस लक्ष्य को पाने के लिये वह ऐसे हीन कर्म करता है, जो स्वयं के लिये और समाज के लिये भी दु:खकारक और

---

१. गीता अ. ६--५,६.

हानिकारक होते हैं। वह किसी भी स्थान पर परमात्मा की महानता और कीर्ति का दर्शन नहीं कर सकता। परन्तु, जब वह विवेक वैराग्यादि साधनों से सम्पन्न होकर आत्मबोध प्राप्त करता है, तब अज्ञानसहित मिथ्याज्ञान की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है, और वह "परम गति को प्राप्त होता है।"

सभी जीवों के गुण और कर्मों में भेद दिखाई देने के कारण यह मानना होगा कि आत्माएँ अनेक हैं, एक नहीं। इस मत का खण्डन करते हुए भगवान् कहते हैं :

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥३०॥

जो पुरुष समस्त कर्मों को सर्वशः प्रकृति द्वारा ही किये गये देखता है तथा आत्मा को अकर्ता देखता है, वही (वास्तव में) देखता है ॥३०॥

विभिन्न मोटर कम्पनियों के द्वारा निर्मित विभिन्न अश्वशक्ति की असंख्य कारों में से प्रत्येक वाहन का कार्यसम्पादन विशिष्ट होता है। इससे हम यह नहीं कह सकते कि इन कारों में प्रयुक्त पेट्रोल विभिन्न क्षमताओं का है। बल्ब अनेक हैं, परन्तु विद्युत् तो एक ही है। ये दृष्टान्त इस श्लोक में व्यक्त किये गये आत्मैकत्व के सिद्धान्त को भली भांति स्पष्ट करते हैं।

सब कर्म आत्मा की केवल उपस्थिति में प्रकृति से उत्पन्न उपाधियों के द्वारा ही किए जाते हैं। अब विभिन्न व्यक्तियों के कर्मों में जो भेद है, वह उनके विभिन्न शुभाशुभ संस्कारों और इच्छाओं के कारण है, आत्मा के कारण नहीं। केवल क्षेत्र या क्षेत्रज्ञ में कोई कर्म नहीं होते हैं।

'आत्मा अकर्ता है' – कर्म करने के लिये शरीरादि करणों की और मन में इच्छा की आवश्यकता होती है, परन्तु आत्मा सर्वव्यापी, निराकार और सर्व उपाधि रहित होने से उसमें कोई कर्म ही नहीं हो सकते, तो फिर वह कर्ता कैसे हो सकता है? आत्मा के अकर्तृत्व के विषय में अन्य कारण भी आगे प्रस्तुत किये जायेंगे।

जो प्रकृति की क्रियाओं में आत्मा को अकर्ता जानता है, वही पुरुष वास्तव में तत्त्व को देखता है। उपाधियों के अभाव में समस्त जीवों के गुणों और कर्मों की विलक्षणता का अभाव होकर केवल परमात्मा ही स्वस्वरूप में अवस्थित रह जाता है।

पुन, ज्ञानी पुरुष के सम्यक् दर्शन को दूसरे शब्दों में बताते हुए कहते हैं :

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।।३१।।

यह पुरुष जब भूतों के पृथक् भावों को एक (परमात्मा) में स्थित देखता है तथा उस (परमात्मा) से ही यह विस्तार हुआ जानता है, तब वह ब्रह्म को प्राप्त होता है ।।३१।।

किसी वस्तु या घटना के वैज्ञानिक अध्ययन की पूर्णता उसके बौद्धिक विश्लेषण तथा प्रायोगिक प्रत्यक्षीकरण से ही होती है ।

जब भौतिक विज्ञान में यह ज्ञात होता है कि परमाणु पदार्थ की इकाई है, तब इस ज्ञान के साथ यह भी समझना चाहिए कि ये परमाणु ही विभिन्न संख्या एवं प्रकारों में संयोजित होकर असंख्य रूप और गुणों वाली वस्तुओं के इस जगत् की रचना करते हैं । इसी प्रकार समस्त नाम और रूपों के पीछे एक आत्मतत्त्व ही सत्य है, यह जानना मात्र आंशिक ज्ञान है । ज्ञान की पूर्णता तो इसमें होगी कि जब हम यह भी जानेंगे कि इस एक आत्मा से विविधता की यह सृष्टि किस प्रकार प्रकट हुई है ।

जिस प्रकार, समुद्र को जानने वाला पुरुष असंख्य और विविध तरंगों का अस्तित्व एक समुद्र में ही देखता है, इसी प्रकार आत्मज्ञानी पुरुष भी 'भूतों के पृथक्-पृथक् भाव को एक परमात्मा में ही स्थित देखता है ।" समस्त तरंगें समुद्र का ही विस्तार होती हैं । ज्ञानी पुरुष का भी यही अनुभव होता है कि "एक आत्मा से ही इस सृष्टि का विस्तार हुआ है ।" स्वस्वरूपानुभूति के इन पवित्र क्षणों में ज्ञानी पुरुष स्वयं ब्रह्म बन कर यह अनुभव करता है कि एक ही आत्मतत्त्व अन्त-र्बाह्य सबको व्याप्त और आलिंगन किए हैं, सबका पोषण करते हुये स्थित है ; न केवल गहन-गम्भीर और असीम-अनन्त में वह स्थित है, वरन् सभी सतही नाम और रूपों में भी वह व्याप्त है ।

स्वयं आत्मस्वरूप बनकर ही आत्मा का अनुभव होता है । जिसने यह पूर्णत: जान लिया कि स्वहृदय में स्थित आत्मा ही सर्वत्र भूतमात्र में स्थित आत्मा (ब्रह्म) है तथा किस प्रकार अविद्या के आवरण के कारण विविध नामरूपों से सत्य का दीप्तिमान स्वरूप आवृत हो जाता है, वही पुरुष तत्त्वज्ञ और सम्यक्दर्शी कहा जाता है । उस अनुभव में वह स्वयं उपाधियों से परे ब्रह्म से तादात्म्य को प्राप्त होता है ।

"एक ही आत्मा के समस्त देहों में स्थित होने से उसे भी उपाधियों के दोष प्राप्त होते होंगे ।" ऐसी शंका के निवारण के लिए भगवान् कहते हैं :

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।।३२।।

हे कौन्तेय ! अनादि और निर्गुण होने से यह परमात्मा अव्यय है । शरीर में स्थिति हुआ भी, वस्तुतः, वह न (कर्म) करता है और न (फलों से) लिप्त होता है ।।३२।।

यद्यपि चैतन्य आत्मा के सान्निध्यमात्र से देहेन्द्रियादि उपाधियां स्वक्रियाओं में प्रवृत्त होती हैं, तथापि आत्मा सदा अकर्त्ता ही रहता है । शास्त्रों के इस प्रतिपादन को समझना वेदान्त के प्रारम्भिक विद्यार्थियों को कठिन प्रतीत होता है । इसलिए, उपनिषदों के ऋषियों ने विशेष परिश्रमपूर्वक हमें यह समझाने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार एकमेव अद्वितीय, परिपूर्ण सर्वव्यापी परमात्मा अकर्ता है । पहले भी[1] गीता में कहा जा चुका है कि "स्वभाव (प्रकृति) कार्य करता है ।" इसी अध्याय में कहा गया है कि आत्मा क्षेत्र के साथ तादात्म्य करके जीवरूप-क्षेत्रज्ञ बन जाता है, जो कर्मों का कर्ता और फलों का भोक्ता है ।

शरीरों में स्थित होने पर भी आत्मा के दोष-मुक्तत्व को सिद्ध करने के लिये यहां कुछ हेतु दिए गये हैं । जब एक न्यायाधीश श्रीगोपाल राव किसी हत्यारे अपराधी को मृत्युदण्ड सुनाते हैं, तब उसकी मृत्यु का पातक न्यायाधीश को प्रभावित नहीं कर सकता है । श्रीगोपाल राव न्यायालय में न्यायाधीश के पद पर आसीन होकर निर्णय देते हैं, न कि अपनी व्यक्तिगत क्षमता में ।

'अनादि' – जिस वस्तु का कारण होता है, उसी का प्रारम्भ भी हो सकता है । 'प्रारम्भ रहित' का अर्थ 'कारणरहित' होगा । परम सत्य वह है "जिससे संपूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है ।" अतः परमात्मा 'कारण रहित कारण' होने से अनादि कहा गया है । इसी कारण से वह अव्यय, अविनाशी भी है ।

'निर्गुण' – गुणवान् वस्तु ही विकारी होती है । हमने देखा कि जगत्कारण परमात्मा अविकारी है, अतः उसका निर्गुण होना भी आवश्यक है ।

'यह परमात्मा अव्यय है' – जगत्कारण, अनादि और निर्गुण होने से परमात्मा का अव्ययत्व सिद्ध हो जाता है ।

यह परमात्मा अपने सान्निध्य मात्र से जड़ उपाधियों को चेतनवत् व्यवहार करने में सक्षम करता है, परन्तु वह स्वयं किसी प्रकार की क्रिया नहीं करता है ।

---

१. गीता अ० ५–१४

उपर्युक्त सिद्धान्त वेदान्त के कुछ सूक्ष्म सिद्धान्तों में से एक है, और दुर्बल मति के विद्यार्थियों को प्राय: इसे समझने में कठिनाई अनुभव होती है। यद्यपि यह वेदान्त साहित्य का कठिन भाग माना गया है, तथापि प्रयत्नपूर्वक इस पर मनन करने से सन्देह और कठिनाई दूर हो सकती है।

उपाधियों के सभी प्रतिषिद्ध और आसुरी कर्मों में भी आत्मा के अकर्तृत्व और निर्गुणत्व को दर्शाने के लिये, भगवान् कुछ दृष्टान्त देते हैं :

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ।।३३।।

जिस प्रकार सर्वगत आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सर्वत्र देह में स्थित आत्मा लिप्त नहीं होता ।।३३।।

यहाँ प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध को दर्शाने के लिए आकाश का दृष्टान्त दिया गया है। "अवकाशात् आकाश:", अर्थात् "जो वस्तुओं को रहने के लिए स्थान प्रदान करे वह आकाश है।" पंच महाभूतों में यह सूक्ष्मतम है, और इस कारण से सर्वगत है। सूक्ष्म आकाश उसमें स्थित सभी स्थूल वस्तुओं को व्याप्त किये हुए हैं, किन्तु उनमें से कोई भी वस्तु उसे मर्यादित या अपने दोष से लिप्त नहीं कर सकती।

परमात्मा आकाश का भी कारण होने से उससे भी सूक्ष्मतर और उसे व्याप्त किए हुये है। "वह सबको व्यापता है, परन्तु उसे कोई व्याप नहीं सकता।" अत: वह परमात्मा देह में स्थित होकर भी उससे लिप्त नहीं होता है।

स्वप्नावस्था के हत्यारे के हाँथ जागृत पुरुष को रक्तरञ्जित नहीं कर सकते। प्रेत के रक्तरञ्जित वस्त्र स्तम्भ पर अपने चिन्ह नहीं छोड़ सकते। मृगमरीचिका से रेत गीली नहीं हो जाती। ये सब उदाहरण भ्रम और अध्यास के हैं। यह जगत् परम सत्य के अज्ञान से प्रक्षेपित होने के कारण किसी भी प्रकार से परमात्मा को दूषित नहीं कर सकता है।

तब, इस आत्मा का देह में क्या कार्य है ? सुनो :

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ।।३४।।

हे भारत ! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही क्षेत्री (क्षेत्रज्ञ) सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है ।।३३।।

आध्यात्मिक साहित्य में भगवान् पार्थसारथि का दिया हुआ यह दृष्टान्त ध्यानाकर्षित करने वाला है। यह दृष्टांत क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के सम्बन्ध को बोधगम्य बना देता है। जैसे सुदूर आकाश में स्थित एक ही सूर्य सदैव इस जगत् को प्रकाशित करता रहता है, वैसे ही एक आत्मा वस्तुओं, शरीर, मन और बुद्धि को केवल प्रकाशित करता है।

यद्यपि, लौकिक भाषा में "सूर्य जगत् को प्रकाशित करता है", इस प्रकार कहकर हम सूर्य पर प्रकाशित करने की क्रिया के कर्तृत्व का आरोप करते हैं तथापि विचार करने पर ज्ञात होगा कि इस प्रकार का हमारा आरोप सर्वथा निराधार है। कर्म वह है, जो किसी क्षण विशेष में प्रारम्भ होकर अन्य क्षण में समाप्त होता है; तथा सामान्यत: वह किसी दृढ़ इच्छा या मूक प्रयोजन की सिद्धि के लिए किया जाता है। इस दृष्टि से सूर्य जगत् को प्रकाशित नहीं करता है। प्रकाश तो उसका धर्म है और प्रत्येक वस्तु उसकी उपस्थिति में प्रकाशित होती है। इसी प्रकार, चैतन्य तो आत्मा का स्वरूप है और उसकी उपस्थिति में सब वस्तुएँ ज्ञात होती हैं।

जगत् के शुभ और अशुभ, सदाचारी और दुराचारी, सुरूप और कुरूप – इन सबको एक ही सूर्य प्रकाशित करता है, किन्तु उनमें से किसी के भी गुण या दोष से वह लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार, सच्चिदानन्द आत्मा उपाधियों में व्यक्त होने पर भी मन के पाप, बुद्धि के विकार और शरीर के अपराधों से असंस्पृष्ट ही रहता है।

इस अध्याय में विवेचित क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विषय का उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं :

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ।।३५।।

इस प्रकार, जो पुरुष ज्ञानचक्षु के द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को तथा प्रकृति के विकारों से मोक्ष को जानते हैं, वे परम ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ।।३५।।

आत्मा सर्वप्रकाशक होने से प्रकाश्य के धर्मों से लिप्त नहीं होता है। इस सिद्धान्त का वर्णन करने के पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण यहां कहते हैं कि मानव जीवन का परम लक्ष्य है, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के स्वरूप, कार्य और सम्बन्ध को जानकर अपने परमात्मस्वरूप का साक्षात्कार करना। जीवन का यह साध्य वही साधक सम्पादित कर सकता है जो इस अध्याय में निर्दिष्ट विवेक और हृदय के गुणों से साधन सम्पन्न होता है। केवल वही साधक अपने एकमेव अद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप

का साक्षात् अनुभव कर सकता है। आत्मानुभव का साधन अन्तर्प्रज्ञा कहलाता है, जिसे हिन्दू शास्त्रों में 'ज्ञानचक्षु' कहा गया है।

परमात्मस्वरूप में स्थित होकर जिन्होंने प्रकृति (क्षेत्र, अव्यक्त, अविद्या) के आत्यन्तिक अभाव को पहचान लिया है, वे ही पूर्ण ज्ञानी पुरुष हैं। केवल अविद्या-वशात् ही प्रकृति की प्रतीति होती है ; वास्तव में केवल ब्रह्म ही एक पारमार्थिक सत्य है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥

एक प्रकार, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद के रूप में ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रस्वरूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् का क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग नामक तेरहवाँ अध्याय समाप्त होता है।

गीता का यह एक अतिशय उज्ज्वल अध्याय है, जो हमें अपने नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मस्वरूप के ध्यान करने का साक्षात् साधन का उपदेश देता है, जिसके अभ्यास से हम अपरोक्षानुभूति प्राप्त कर सकते हैं। स्वप्न से जाग जाने का अर्थ स्वप्नावस्था के सब दु:खों का अन्त हो जाना है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं के मध्य यातायात की कोई निश्चित सीमा नहीं निर्धारित की गयी है ; अर्थात् अवस्थान्तर के लिए हमें कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता है। इसी प्रकार हमारा संसार-दु:ख प्रकृति के साथ हमारे अविद्याजनित मिथ्या तादात्म्य के कारण ही है। अत: क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विवेक के द्वारा प्राप्त आत्मबोध से संसार की निवृत्ति हो जाती है। यही एकमात्र ज्ञेय वस्तु है। सम्पूर्ण गीता में, परमात्मा का इससे अधिक स्पष्ट और साक्षात् निदर्शन हमें किसी अन्य अध्याय में नहीं मिलता है।

ॐ

चतुर्दश अध्याय

गुणत्रयविभागयोग

अब तक के विवेचन के द्वारा हमें यह बोध कराया गया है कि आत्मा जड़ अनात्म उपाधियों के द्वारा व्यक्त होकर जीव के रूप में इस जगत् के विविध प्रकार के अनुभवों को प्राप्त करता है। भौतिक विज्ञान के छात्रों को यह सुविदित है कि पदार्थ सर्वत्र एक समान ही हैं। खनिज (ठोस पदार्थ) द्रव और वायु ये सब अपने विशिष्ट गुणों से युक्त सर्वत्र एक समान ही होते हैं। अध्यात्म के सार्वकालिक उपदेष्टाओं ने इस तथ्य की घोषणा की है कि जड़ पदार्थ को चेतनता प्रदान करने वाला तत्त्व आत्मा है, जो सर्वत्र एक है। वह सर्वव्यापी और नित्य चैतन्यस्वरूप है। संक्षेप में, हमें यह बताया गया है कि एक ही परमसत्य जब प्रकृति–जो कि सर्वत्र समानरूप से एक है–के माध्यम से व्यक्त होता है, तब यह विविधता पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है। इस कथन में स्पष्ट विरोध है, जिसे बुद्धि स्वीकार नहीं कर सकती।

आत्मा को प्राप्त जीवभाव के सिद्धान्त और प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन तो पूर्व अध्याय में किया गया है, किन्तु जगत् में दृश्यमान असंख्य प्रकार की विविधता का कोई बिस्तृत स्पष्टीकरण उसमें नहीं दिया गया है। वनस्पति, पशु और मनुष्य जगत् के मध्य का भेद स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इन में से प्रत्येक जाति में भी विविधता देखी जाती है; कोई दो प्राणी शारीरिक और मानसिक दृष्टि से समान लक्षणों वाले नहीं दिखाई देते। यदि प्रकृति सर्वत्र समान है और पुरुष भी एक है, तो इस विषमताओं से पूर्ण इस विविधता का हमें कोई स्पष्टीयकरण नहीं मिलता है।

पूर्व अध्याय में जीवन के अनुभवों की विचित्रता का कारण शीघ्रता में मात्र इंगित किया गया था। "पुरुष प्रकृति में स्थित होकर प्रकृति जन्य गुणों का भोग करता है" यह कथन, निःसन्देह, इस विविधता का वास्तविक वैज्ञानिक आधार बताता है, किन्तु स्पष्टीकरण संक्षिप्त है।

यदि गंगाजल को विभिन्न आकारों एवं वर्णों की बोतलों में रखा जाये, तो

वह जल विभिन्न रंगों का प्रतीत होगा। परन्तु हम जानते हैं कि यह रंगों और आकार की विचित्रता उन बोतलों के कारण है, जल के कारण नहीं क्योंकि गंगाजल तो सभी में एक समान है। इसी प्रकार, एक ही परमात्मा विभिन्न उपाधियों में विभिन्न जीवों के रूप में प्रकट होता है। यद्यपि प्रकृति के तत्व समान हैं, तथापि भेद का कारण है "प्रकृति से उत्पन्न हुए गुण"।

यहाँ प्रयुक्त "गुण" शब्द पारिभाषिक है। 'गुण' से तात्पर्य रूपादिवत् द्रव्याश्रित धर्म से नहीं, वरन् उन 'भावों' से है, जिनके प्रभाव से मन कार्य करता है। प्रत्येक जीव का आन्तरिक व्यक्तित्व तीन गुणों अर्थात् भावों से प्रभावित होता है। ये तीन गुण हैं–सत्त्व, रज और तम।

विभिन्न अनुपातों में ये तीनों गुण मनुष्य की मानसिक और बौद्धिक क्षमता को प्रभावित करते हैं, जिसके फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति का अपना विशिष्ठ व्यक्तित्व निर्मित होता है। प्राणीमात्र में ये तीनों गुण एक साथ ही, किन्तु विभिन्न अनुपातों में, विद्यमान होते हैं। यही कारण है कि विभिन्न व्यक्तियों का पृथक्-पृथक् स्वभाव, आचार और व्यवहार देखने को मिलता है।

आत्मोन्नति का विज्ञान होने के कारण गीता के प्रवचनों में विषयवस्तु के निरूपण में सर्वत्र युक्तियुक्तता दिखाई देती है। हम देखते आ रहे हैं कि किस प्रकार प्रत्येक अध्याय में विचारक्रम का विकास हो रहा है। किसी एक अध्याय में इंगित किये गये विचारों का विवेचन एक-एक करके अगले अध्याय में पूर्णरूप से किया जाता है। इसी प्रकार, विद्यार्थी को तत्वज्ञान को समझने तथा आत्मसात् करने में सुविधा की दृष्टि से उचित अवसरों पर नवीन विचारों को भी प्रस्तुत किया जाता है। गीता के विषयप्रतिपादन के विकास के क्रम में यह उपयुक्त अवसर है, जब साधक को इन गुणों के लक्षणों और व्यवहारों को यथार्थ रूप से जानना चाहिए।

अपने ही अन्तःकरण में कार्य कर रहे इन तीन गुणों को पहचानने की कला हमें ज्ञात होनी चाहिये। सामान्यतः, रोगी में व्यक्त हुये लक्षणों को देखकर उसके रोग का निदान किया जाता है। चिकित्साशास्त्र में लक्षणात्मक उपचार की एक मान्यता प्राप्त विधि है। इस अध्याय में, गीताचार्य ने इन गुणों के कुछ लक्षणों का वर्णन किया है, जो उस गुण के आधिक्य के कारण किसी व्यक्ति में दिखाई देते हैं।

इस प्रकार, इस अध्याय का सावधानीपूर्वक अध्ययन करने से हमें वह क्षमता प्राप्त होती है, जिसके द्वारा हम अपनी उन प्रबल प्रवृत्तियों को पहचान पाते हैं, जो हमारे मानसिक जीवन को शासित करती हैं। जिन गुणों के वशीभूत होकर मनुष्य समय-समय पर विभिन्न प्रकार से व्यवहार करता है, उनके प्रति यदि वह सजग हो जाये, तो फिर वह अपनी दुष्प्रवृत्तियों, अनैतिक इच्छाओं और पाशविक

वासनाओं को त्याग कर आत्मसंयम, सदाचार और पूर्णशुद्धि का जीवन जीने में समर्थ हो सकता है।

यह अध्याय सूचनाओं की एक विस्तृत निर्देशिका है, जो हमें अपने सूक्ष्म शरीर की कार्यप्रणाली का बोध कराती है। इसके साथ ही हमें वह कुछ ऐसे निर्देश भी देती है, जिनके द्वारा हम उस समय स्वयं को पुनर्व्यवस्थित कर सकते हैं, जब हमारी "आन्तरिक यन्त्ररचना" अवरुद्ध होकर सुचारु रूप से कार्य करना बन्द कर देती है। यदि कोई व्यक्ति अपनी कार के यन्त्रों के कार्य और गुणदोषों से सर्वथा अनभिज्ञ हो, तो उसकी यात्रा सुखद नहीं हो सकती; क्योंकि यदि कभी इंजिन काम करना बन्द कर दे तो वह व्यक्ति उसे सुधार नहीं सकता। इसके विपरीत, कार की सम्पूर्ण जानकारी रखने वाला एक अनुभवी चालक ऐसी स्थिति में कार को रोक कर उसके यान्त्रिक दोष को दूर करके पुनः अपने गन्तव्य की ओर अग्रसर हो सकता है।

अनेक मेधावी और होनहार साधक होते हैं, जिन्हें अपनी "आन्तरिक यन्त्ररचना" का पूर्ण ज्ञान नहीं होता। इस कारण आत्मविकास के मार्ग पर यदि कभी कोई "यान्त्रिक दोष" उत्पन्न हो जाता है, तो वे उसे पहचान और सुधार नहीं पाते हैं। फलस्वरूप वे अपने ही काम और क्रोध के शिकार होकर अपने पतन का दुःख भोगते हैं। यह अध्याय हमें अपने ही मन से परिचय कराकर हमें अपने मार्ग पर प्रगति का आश्वासन देता है। समस्त साधकों के लिए यह अध्याय अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥१॥

श्री भगवान ने कहा –

समस्त ज्ञानों में उत्तम परम ज्ञान को मैं पुनः कहूंगा, जिसको जानकर सभी मुनिजन इस (लोक) से जाकर (इस जीवनोपरान्त) परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं ॥१॥

किसी भयंकर मनोवेग से विक्षुब्ध होने पर एक अत्यन्त बुद्धिमान पुरुष को भी बारम्बार सांत्वना की आवश्यकता होती है। जीवभाव को प्राप्त पुरुष अपने जीवन के दुखों की व्याकुलता के कारण उपदेश के पश्चात् भी अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को सरलता से नहीं ग्रहण कर पाता। इसलिये, जब तक

शिष्यों की विद्रोही बुद्धि इस तत्व को समझ नहीं लेती, तब तक आचार्यों को इन आध्यात्मिक सत्यों की बारंबार पुनरावृत्ति करना आवश्यक हो जाता है। अपने छोटे-से शिशु को भोजन करा रही माता इसका आदर्श उदाहरण है। जब तक वह शिशु पर्याप्त मात्रा में भोजन नहीं कर लेता, तब तक उसकी माँ उसे बहलाती-फुसलाती रहती है। इसी प्रकार, शिष्य को निश्चयात्मक ज्ञान हो जाने तक आचार्य को इस ज्ञान को बारंबार दोहराना पड़ता है।

इसलिये, इस अध्याय का प्रारम्भ भगवान् के इस कथन से होता है, "मैं तुम्हें पुन: परम ज्ञान कहूँगा।" ऐसा नहीं है कि पहले परम ज्ञान नहीं बताया गया था, किन्तु उसके और अधिक स्पष्टीकरण तथा यथार्थ ग्रहण के लिए उसकी पुनरावृत्ति अपरिहार्य है।

इस अध्याय की विषय वस्तु को भगवान् "परम उत्तम ज्ञान" कहते हैं, जिसका शब्दश: अर्थ नहीं लेना चाहिये। इस अध्याय का विषय प्रकृति के गुणों का मनुष्य के अन्त:करण पर पड़ने वाले प्रभाव का तथा उसके व्यवहार का अध्ययन है। इसे दर्शनशास्त्र की सर्वोच्च विषय वस्तु की संज्ञा नहीं दी जा सकती। तथापि इसके सम्यक् ज्ञान के बिना साधक अपने आन्तरिक दोषों को समझ कर उन्हें सुधार नहीं सकता और ऐसी स्थिति में वह परम पुरुषार्थ को भी प्राप्त नहीं कर सकता है। इसलिये इन त्रिगुणों के ज्ञान को ही यहां परम ज्ञान कहा गया है।

जिसको जानकर मुनिजन परम सिद्धि को प्राप्त हुए-यहां वचन दिया गया है कि त्रिगुणों के यथार्थ ज्ञान से साधक की तीर्थयात्रा सरल हो जायेगी। लक्ष्य के मार्ग का तथा सभी संभाव्य संकटों और कठिनाइयों का सम्पूर्ण ज्ञान पहले से प्राप्त होने पर उन संकटों के निवारण की तैयारी करने में यात्री को सहायता मिलती है। इस प्रकार अध्यात्म मार्ग में भी अपने मन की दुष्टप्रवृत्तियों का पूर्ण और पूर्व ज्ञान होने पर एक परिश्रमी साधक आन्तरिक समस्या के उत्पन्न होने पर उसका हल स्वयं ही कुशलतापूर्वक खोजने में समर्थ हो जाता है।

मुनि शब्द से हमें किसी जटाजूटधारी वृद्ध पुरुष की कल्पना नहीं करनी चाहिये, जो अरण्यवास करते हुए कन्दमूलों के आहार पर अपना जीवनयापन करता हो। मननशील पुरुष को मुनि कहते हैं। संक्षेप में समस्त मननशील साधकों को इस अध्याय के विषय का ज्ञान अपनी आध्यात्मिक साधना के साध्य को सम्पादित करने में सहायक होगा।

अनेक उपनिषदों के अनुसार यहाँ भी "परम सिद्धि" की प्राप्ति मरणोपरान्त कही गयी है। कुछ तत्त्व-चिन्तक पुरुष इसका वाच्यार्थ ही स्वीकार करके यह मत

प्रतिपादित करते हैं कि इसी जीवन में रहते हुए मोक्षसिद्धि नहीं हो सकती । देह त्याग के बाद ही मुक्ति संभव है । शास्त्रीय भाषा में इसे 'विदेहमुक्ति' कहते हैं। परन्तु, श्री शंकराचार्य अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से प्रामाणिक तर्कों के द्वारा इस मत का खण्डन करके 'जीवन्मुक्ति' के सिद्धान्त का मण्डन करते हैं । उनका मत है कि साधन सम्पन्न जिज्ञासु साधक को 'यहां' और 'अभी' इसी जीवन में मोक्ष प्राप्त हो सकता है । "इस जीवन के पश्चात्" का अर्थ देह के मरण से नहीं, वरन् "अविद्याजनित अहंकार केन्द्रित जीवन के नाश" से है । अर्थात् यहां अहंकार का नाश अभिप्रेत है, देह का नहीं ।

लौकिक जीवन में भी हम देखते हैं कि गृहस्थ बनने के लिये अविवाहित पुरुष का 'मरण' आवश्यक है और मां बनने के लिए कुमारी का । इन उदाहरणों में, व्यक्ति का मरण नहीं होता, किन्तु ब्रह्मचर्य और कौमार्य का ही अन्त होता है, जिससे कि उन्हें पतित्व और मातृत्व प्राप्त हो सके । इस प्रकार, व्यक्ति तो वही रहता है परन्तु उसकी सामाजिक स्थिति में परिवर्तन आ जाता है । युक्तियुक्त मनन और ययार्थ ज्ञान के द्वारा हमारे असत् जीवनमूल्यों का अन्त हो जाता है और इस प्रकार नवार्जित 'ज्ञान' के प्रकाश में हम श्रेष्ठतर, आनन्दमय जीवन जी सकते हैं । इस नवजीवन का साधन है, स्वस्वरूप का निदिध्यासन । साधनाकाल में, संभव है कि इन त्रिगुणों के विनाशकारी प्रभाववश बुद्धिमान और परिश्रमी साधक का भी मन विचलित होकर ध्यान की शान्ति को खो दे । इसलिये, इन्हें भलीभांति जानकर इनके कुप्रभाव को दूर रखने पर शतप्रतिशत सफलता निश्चित हो जाती है ।

अब, भगवान् इस ज्ञान के निश्चित फल को बताते हैं :

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।।२।।

इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरे स्वरूप (साधर्म्यम्) को प्राप्त पुरुष सृष्टि के आदि में जन्म नहीं लेते और प्रलयकाल में व्याकुल भी नहीं होते हैं ।।२।।

इस अध्याय में उपदिष्ट ज्ञान की महत्ता सैद्धान्तिक दृष्टि से उतनी अधिक नहीं है, जितनी कि साधना में उसके द्वारा होने वाले लाभ से है । इस अध्याय के गम्भीर अभिप्रायों को सम्यक् रूप से जानने वाला साधक पूर्णत्व की स्थिति को प्राप्त होता है । भगवान् कहते हैं, "वे मेरे स्वरूप को प्राप्त होते हैं ।"

गीता में, भगवान् श्रीकृष्ण 'मैं' शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक पूर्णत्व की दृष्टि से ही करते हैं । इस अध्याय का विषय उन गुणों की क्रीड़ा का अध्ययन करना है,

जो हमें उपाधियों और अहंभाव के साथ बांध देते हैं। यदि एक बार हम उनसे मुक्त होकर अपने मन पर होने वाले उनके प्रभाव को समाप्त कर दें, तो तत्क्षण ही जीव भाव से मुक्त होकर हम अपने पारमार्थिक स्वरूप का अनुभव कर सकते हैं।

स्वप्नद्रष्टा को स्वप्नावस्था में सत्य प्रतीत होने वाले दुःख जाग्रत अवस्था में असत् हो जाते हैं। नियम यह है कि एक अवस्था के सुखदुःखादि अनुभव अन्य अवस्था में प्रभावशील नहीं होते हैं। अतः, आत्म अज्ञान की अवस्था का उपाधि तादात्म्य तथा तज्जनित संसार का बन्धन जीव को ही सत्य प्रतीत होता है; आत्मज्ञानी पुरुष को नहीं। ज्ञानी पुरुष अपने उस सर्वत्र व्याप्त सत्यस्वरूप को पहचानता है, जिसकी न उत्पत्ति है और न प्रलय।

इसे यहां इस वाक्य से इंगित किया गया है, – "वे सृष्टि के आदि में जन्म नहीं लेते हैं" – सृष्टि मन का एक खेल है। जब हम मन से तादात्म्य नहीं करेंगे, तब हम उससे अविच्छिन्न भी नहीं होंगे, ओर इस प्रकार हमें सृष्टि का कोई अनुभव नहीं होगा। उदाहरणार्थ, जब कोई व्यक्ति क्रोधावेश में आ जाता है, तब वह एक क्रोधी व्यक्ति के रूप में व्यवहार करता है; परन्तु क्रोध के निवृत्त होने और मन के शान्त हो जाने पर वह वैसा व्यवहार नहीं कर सकता। मन की युक्ति यह है कि वह विचारों के द्वारा एक सृष्टि की कल्पना करता है, और फिर उसी के साथ तादात्म्य कर स्वयं को इस प्रकार बन्धन में अनुभव करता है मानो उससे मुक्ति पाना कदापि सम्भव ही न हो। जब तक हम मन में ही डूबे रहेंगे तब तक उसके क्षोभ से उद्वेलित भी होते रहेंगे। मन से अतीत अर्थात् मुक्त होने पर शुद्ध आत्मा में कोई सृष्टि ही नहीं है, तब हमें जन्म का अनुभव कैसे हो सकता है? और उस स्थिति में प्रलय से भय भी कैसा? वह पूर्ण मुक्ति की स्थिति है।

परन्तु अपने मन पर विजय पाने के लिये, साधक को मन की उन उक्तियों (योजनाओं) का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है, जिनके द्वारा यह प्रायः उसे छलता रहता है। शत्रु पर आक्रमण करने के पूर्व उसकी रणनीति का ज्ञान प्राप्त करना अपरिहार्य होता है। इस दृष्टि से, भगवान् का यह कथन समीचीन है कि इन तीन गुणों का सम्पूर्ण ज्ञान साधक को अपने मन पर विजय प्राप्त कराने में सहायक होगा और इस प्रकार वह अपनी समस्त प्रकार की अपूर्णताओं से मुक्ति प्राप्त कर सकेगा।

अब, भगवान् यह बताते हैं कि किस प्रकार जड़ और चेतन के संम्बन्ध में इस दुःखपूर्ण संसार की उत्पत्ति होती है:

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततोभवति भारत ।।३।।

हे भारत ! मेरी महद् ब्रह्मरूप प्रकृति, (भूतों की) योनि है, जिसमें मैं गर्भाधान करता हूँ ; इससे समस्त भूतों की उत्पत्ति होती हैं ।।३।।

'महद् ब्रह्म योनि' – यहाँ 'महद् ब्रह्म' को भूतमात्र की योनि अर्थात् कारण कहा गया है। परन्तु, यहां 'महद् ब्रह्म' यह शब्द सम्पूर्ण विश्वाधिष्ठान परमात्मा के लिए प्रयुक्त नहीं है। यह शब्द जगत् की अव्यक्त अवस्था अर्थात् जड़ प्रकृति को इंगित करता है। वह अपने स्थूल और सूक्ष्म कार्यरूप विकारों की अपेक्षा बड़ी, व्यापक होने से 'महत्' है तथा स्वविकारों का भरण-पोषण करने के कारण 'ब्रह्म' कहलाती है। इस प्रकार व्युत्पत्ति के आधार पर प्रकृति को यहां 'महद्ब्रह्म' कहा गया है। इसी महद्ब्रह्म के लिये पूर्व के अध्यायों में अपरा प्रकृति, क्षेत्र, प्रकृति इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया गया था।

'उसमें मैं गर्भाधान करता हूँ' – यह महद्ब्रह्मरूप प्रकृति स्वयं जड़ होने के कारण स्वतः स्वतन्त्ररूप से सृष्टि नहीं कर सकती है। इसमें शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा जब प्रतिबिम्बित होता है, तब यह चेतन युक्त होकर सृष्टिकार्य में प्रवृत्त होती है। परमात्मा का इसमें चैतन्यरूप से व्यक्त हो जाना ही गर्भाधान की क्रिया है। इसके फलस्वरूप सर्वप्रथम समष्टि मन को धारण करने वाले ईश्वर – जिसे इस अवस्था में वेदान्त के अनुसार "हिरण्यगर्भ" कहते हैं – व्यक्त होता है और तत्पश्चात् असंख्य जीव और नामरूपमय सृष्टि उत्पन्न होती है।

सृष्टि की इस प्रक्रिया को हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि किसी भी रचनात्मक कार्य का प्रादुर्भाव एवं विकास कर्ता के मन में उदित होने वाली वृत्ति के साथ होता है। जीवनी शक्ति से युक्त होकर वह वृत्ति शक्तिशाली बनकर स्वयं को व्यक्त करने के लिये अधीर हो उठती है। फलतः वह विचारों और भावनाओं के रूप में व्यक्त होकर अन्त में कर्मरूप में परिणत हो जाती है। एक चित्रकार अपने विचार को रंगों के माध्यम से व्यक्त करता है तो एक गायक संगीत के रूप में ; शिल्पकार उसे पाषाणों के द्वारा प्रकट करता है और साहित्यकार शब्दों के माध्यम से। परन्तु, इनमें से किसी भी कल्पना के मृत हो जाने पर वह अपने विचारों को कर्म के रूप में अभिव्यक्त नहीं कर सकता है। जैसे व्यष्टि की सृष्टि है, वैसे ही समष्टि सृष्टि को भी समझना चाहिए।

समष्टि वासनाओं, विचारों, भावनाओं एवं कर्मों के संघटित रूप को प्रकृति

कहते हैं, जो सत्वरजतमोगुणात्मिका होने से इन गुणों से नियन्त्रित होती है। इसी प्रकृति को यहां महद्ब्रह्म कहा गया है, जिसे वेदान्त में 'माया' शब्द से भी सूचित किया जाता है। माया के व्यष्टि रूप को ही अविद्या कहते हैं। जीव और ईश्वर में में भेद यह है कि जीव अविद्या के अधीन रहता है, जबकि ईश्वर माया को अपने वश में रखता है।

भगवान् आगे कहते हैं :

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

हे कौन्तेय! समस्त योनियों में जितनी मूर्तियाँ (शरीर) उत्पन्न होती हैं, उन सबकी योनि अर्थात् गर्भ है महद्ब्रह्म और मैं बीज की स्थापना करने वाला पिता हूँ ॥४॥

सृष्टि की ओर एक दृष्टिक्षेप करने से ही यह ज्ञान होता है कि यहां प्राणियों की निरन्तर उत्पत्ति हो रही है। मृत प्राणियों का स्थान असंख्य नवजात जीव लेते रहते हैं। मनुष्य, पशु, मृग, वनस्पति इन सभी योनियों में यही प्रक्रिया निरन्तर चल रही है। ये सभी प्राणी जड़ और चेतन के संयोग से ही बने हैं। इनमें विषमता या भेद जड़ उपाधियों के कारण है, जबकि सभी में चेतन तत्त्व एक ही है। यह जड़ प्रकृति ही महद्ब्रह्म शब्द से इंगित की गयी है।

भगवान् श्रीकृष्ण अपने सच्चिदानन्दस्वरूप के साथ तादात्म्य करके कहते हैं, "इस प्रकृति रूप योनि में बीज को स्थापना करने वाला पिता मैं हूँ।" उनका यह कथन लाक्षणिक है। जैसा कि पूर्व श्लोक की व्याख्या में हम देख चुके हैं, प्रकृति में परमात्मा का चैतन्य रूप से व्यक्त होना ही उनके द्वारा बीज स्थापन करना है, जिसके फलस्वरूप वह जड़ प्रकृति चेतन होकर कार्यक्षम होती है ; जैसे वाष्प शक्ति से युक्त होने पर ही इन्जन में गति आती है, अन्यथा वह एक आकार विशेष में लोहमात्र होता है! यही स्थिति चैतन्य के बिना शरीर, मन और बुद्धि उपाधियों की भी होती है। एक अविवाहित पुरुष में प्रजनन की क्षमता होने मात्र से ही वह किसी का पिता नहीं कहलाया जा सकता। इसके लिए विवाहोपरान्त उसे गर्भ में अपना बीज स्थापन करना होता है। इसी प्रकार, प्रकृति के बिना केवल पुरुष स्वयं को व्यक्त नहीं कर सकता। इसी सिद्धान्त को भगवान् यहां सारांश में बताते हैं कि वे सम्पूर्ण विश्व के सनातन पिता हैं, जो विश्व मञ्च पर जीवन-नाटक के मंचन की व्यवस्था करते हैं।

यद्यपि अन्य धर्म के अनुयायियों के द्वारा हमें यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया जाता है कि ईश्वर का जगत्पितृत्व 'केवल' ईसाई धर्म ने ही सर्वप्रथम पहचाना और मान्य किया, तथापि वस्तुस्थिति इस धारणा का खण्डन ही करती है, क्योंकि ईसा मसीह से हजारों वर्ष पूर्व गीता का उपदेश अर्जुन को दिया गया था। अधिक-से-अधिक हम इतना ही कह सकते हैं कि इस विचार को ईसा मसीह ने अपने से पूर्व विद्यमान धर्मों से लिया होगा। हिन्दुओं ने ईश्वर के जगत्पितृत्व पर अधिक बल नहीं दिया। यद्यपि यह कल्पना काव्यात्मक है, तथापि सैद्धान्तिक दृष्टि से अधिक युक्तिसंगत नहीं कही जा सकती। परन्तु, सामान्य जनता को यह कल्पना सरलता से बोधगम्य होने के कारण पश्चात् के धर्म संस्थापकों ने इसे पूर्वकालीन धर्मों से उदारतापूर्वक स्वीकार कर लिया।

इस अध्याय के मुख्य विषय का प्रारम्भ करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण बताते हैं कि प्रकृति के वे गुण कौन से हैं और वे किस प्रकार आत्मा को अनात्मा के साथ बांध देते हैं :

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

हे महाबाहो ! सत्त्व, रज और तम ये प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुण देही आत्मा को देह के साथ बांध देते हैं ॥५॥

'गुण' शब्द अध्यात्मशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली का होने के कारण उसका किसी अन्य भाषा में अनुवाद करना कठिन है। विशेषकर अंग्रेजी में उसका समानार्थी कोई शब्द नहीं है। इसका कारण यह है कि पाश्चात्य मनोविज्ञान अभी भी अपने शैशव अवस्था में ही है। जब उनके द्वारा मनोविज्ञान का सैद्धान्तिक और प्रायोगिक निरीक्षण तथा अध्ययन पूर्ण कर लिया जाएगा, केवल तभी, वे प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण में उदित होने वाले विचारों पर इन गुणों के पड़ने वाले प्रभाव को समझ पायेंगे।

आध्यात्मिक साहित्य में सत्त्व, रज, और तम, इन तीन गुणों को क्रमशः श्वेत, रक्त, और कृष्ण वर्ण के द्वारा सूचित किया जाता है।

संस्कृत में 'गुण' शब्द का अर्थ रज्जु अर्थात् रस्सी भी होता है। तात्पर्य यह हुआ कि प्रकृति के ये तीन गुण रज्जु के समान हैं, जो सच्चित्स्वरूप आत्मतत्त्व को असत् और जड़ अनात्मतत्त्व के साथ बांध देते है। सारांशतः, ये गुण वे तीन विभिन्न प्रकार के भाव हैं जिनके वशीभूत होकर हमारा मन, निरन्तर परिवर्तनशील परिस्थितियों में विविध प्रकार से अपनी प्रतिक्रियारूपी क्रीड़ा करता रहता है।

ये गुण प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं। वे आत्मा को देह के साथ 'मानो' बांध देते हैं, जिसके कारण वह जीव भाव को प्राप्त होकर जनम और मरण के अविरल चक्र और संसार के दु:खों में फँस जाता है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, प्रकृति के ये गुण द्रव्याश्रित धर्म नहीं है। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि ये विभिन्न प्रकार के भाव हैं, जिनके कारण भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का व्यवहार भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है।

आत्मा और अनात्मा का यह संबंध मिथ्या है, वास्तविक नहीं। देशकालादि के परिच्छेदों से मुक्त आत्मा को इन परिच्छेदों से युक्त, स्वप्न के समान प्रक्षेपित, जड़ उपाधियों के साथ कभी नहीं बांधा जा सकता। वह इनके दोषों से सदा असंस्पृष्ट ही रहता है, जैसे,-स्तंभ अपने में अध्यस्त प्रेत से और जाग्रत पुरुष स्वप्न द्रष्टा के अपराधों से वस्तुत: अलिप्त ही रहता है। इसी प्रकार. जब तक त्रिगुण जनित बन्धन बना रहता है, तब तक ऐसा प्रतीत होता है, मानो आत्मा इन अनात्म उपाधियों के संसर्गवशात् जीव भाव को प्राप्त हुआ है, परन्तु यथार्थत: वह नित्यमुक्त ही रहता है।

उपर्युक्त विवेचन से अब यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार इन गुणों के स्वरूप तथा उनसे उत्पन्न बन्धन की प्रक्रिया का स्पष्ट ज्ञान हमें मुक्ति का अधिकार पत्र प्रदान कर सकता है।

अब, भगवान् श्रीकृष्ण सर्वप्रथम सत्त्वगुण का लक्षण बताते हैं :

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥६॥

हे निष्पाप अर्जुन ! इन (तीनों) में, सत्त्वगुण निर्मल होने से प्रकाशक और अनामय (निरुपद्रव, निर्विकार या निरोग) है; (वह जीव को) सुख की आसक्ति से और ज्ञान की आसक्ति से बांध देता है ॥६॥

विज्ञान की सभी शाखाओं में इस तथ्य को स्वीकार किया गया है कि किसी वस्तु के लक्षणों का वर्णन किये बिना उसे परिभाषित नहीं किया जा सकता है। किसी रोग या किसी भावना के विषय में भी यही बात सत्य है। इसी प्रकार इन गुणों की भी अपने आप में कोई परिभाषा नहीं दी जा सकती है। आगे के श्लोकों में यह वर्णन किया गया है कि इन गुणों के लक्षण क्या हैं तथा जब कभी कोई गुण अधिक प्रबल हो जाता है, तब उससे प्रभावित व्यक्ति का व्यवहार किस प्रकार होता है। नि:सन्देह, यह लक्षणात्मक वर्णन हम साधकों के लिए अधिक

सहायक होगा, क्योंकि हम अपने मन में उठने वाले विचारों एवं भावनाओं का निरीक्षण और विश्लेषण कर यह निश्चित कर सकेंगे कि किसी क्षण विशेष में हम कौन से गुण के वश में हैं। इस प्रकार, उस प्रभाव के बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न भी हम कर सकेंगे।

'निर्मल होने से सत्वगुण प्रकाशमय है'–जिस प्रकार जल स्वत: शुद्ध होता है, परन्तु अन्य मिश्रणों से अशुद्ध बन जाता है। उसी प्रकार सत्त्वगुण भी स्वत: निर्मल होने से प्रकाशक अर्थात् आत्मचैतन्य को स्पष्ट प्रतिबिम्बित करने वाला है। उसमें न रजोगुण का विक्षेप है और न तमोगुण का घोर अज्ञान।

'अनामय'–इस शब्द का अर्थ है उपद्रव रहित अर्थात् दोष रहित। आत्म-स्वरूप का अज्ञान तथा उससे उत्पन्न अहंकार और स्वार्थ ही मूल दोष हैं, जिनसे अन्य अनर्थों की उत्पत्ति होती है। ये दोष रजोगुण और तमोगुण से ही उत्पन्न होते हैं। इसलिये यहां कहा गया है कि सत्त्वगुण स्वतः इन दोषों से रहित है। यद्यपि सत्त्वगुण निर्मल है तथापि वह भी बन्धनकारक होता है। उससे उत्पन्न होने वाले बंधनों का निर्देश यहां किया गया है।

'सत्वगुण सुख और ज्ञान की आसक्ति से जीव को बांधता है'– अपने आनन्द-स्वरूप को न जानकर जीव सदैव विषयों में ही सुख की खोज करता रहता है। यह अज्ञान तमोगुण का लक्षण है तथा विषयों में सुख की कल्पना और विक्षेप रजोगुण का लक्षण है। प्रयत्नों के फलस्वरूप जब कभी इष्ट विषय की प्राप्ति होती है, तब क्षणभर के लिये विक्षेपों की शांति हो जाती है। उस शान्त स्थिति में आत्मा का आनन्द अभिव्यक्त होता है। परन्तु, जीव यही समझता है कि वह सुख उसे विषय से प्राप्त हुआ है और वह मन की उस सुख वृत्ति के साथ तादात्म्य करके कहता है, "मैं सुखी हूं"। इस प्रकार, विषयभोग से उत्पन्न यह सुखवृत्ति क्षेत्र का धर्म होने पर भी उसे अपना धर्म समझ कर उसमें आसक्त होना ही सत्वगुण से उत्पन्न हुआ बन्धन है।

सत्वगुण प्रधान बुद्धि स्वभावत: स्थिर होती है। इसलिए उसमें चैतन्य का प्रकाश स्पष्टरूप से प्रतिबिम्बित होता है। इस प्रतिबिम्बित प्रकाश को ही हम बुद्धि का प्रकाश कहते हैं, जिसके द्वारा हमें विषयों का ज्ञान होता है। यही कारण है कि इस गुण के न्यूनाधिक्य के कारण ही सभी व्यक्तियों की बौद्धिक क्षमता एक समान नहीं होती।

इस प्रकार, बुद्धि के इस प्रकाश से प्रकाशित होकर विषय के ज्ञान की वृत्ति अन्त:करण में उदित होती है मनुष्य इसी वृत्ति के साथ तादात्म्य करके अभिमान पूर्वक कहता है, "मैं इस वस्तु का ज्ञाता हूं। यहां भी क्षेत्र के धर्म के साथ तादात्म्य

है और यही ज्ञान से आसक्ति का बन्धन है ।

इन दोनों का सरल अर्थ यह भी है कि जब मनुष्य को सूक्ष्मतर सुख या ज्ञान का अनुभव हो जाता है, तब उसका मन उसी में इतना अधिक आसक्त होकर रमता है कि उसका ध्यान सूक्ष्मतम वस्तु की ओर सहसा आकर्षित ही नहीं होता । यह सत्त्वगुण का बन्धन है । यह स्वर्ण की शृंखला है, परन्तु है तो शृंखला ही !

भगवान् कहते हैं कि सत्त्वगुण सुख संग और ज्ञान के साथ आसक्ति से बांध देता है । एक बार जब कोई व्यक्ति रचनात्मक चिन्तन तथा सदाचार और ज्ञान के अनुप्राणित जीवन के सात्विक आनन्द का अनुभव कर लेता है, तब उसमें वह इतना आसक्त हो जाता है कि फिर उसके लिये वह अपने सर्वस्व का भी त्याग करने के लिये तत्पर रहता है । विज्ञान को अपना जीवन समर्पित किये हुए प्रयोगशाला में कार्यरत एक सच्चा वैज्ञानिक; क्षुधा और व्याधि से दुर्बल अपनी चित्रशाला में चित्रांकन कर रहा चित्रकार; समाज द्वारा वहिष्कृत सार्वजनिक उद्यानों में रहकर अपनी कल्पनाओं भावों और शब्दों के ही आनन्द में निमग्न एक कवि; क्रूर उत्पीड़न को सहने वाले देशभक्त; दीर्घकाल तक देश निष्कासन का जीवन जीने वाले राजनीतिज्ञ; मृत्यु का आलिङ्गन करने वाले पर्वतारोही – ये सब उदाहरण ऐसे पुरुषों के हैं, जिन्हें सात्विक आनन्द का अनुभव होता है और जो उसी में आसक्त हो जाते हैं, जैसे स्थूल बुद्धि के लोग धन तथा अन्य भौतिक वस्तुओं के परिग्रह में आसक्त रहते हैं ।

रजोगुण का बन्धन निम्न प्रकार से होता है :

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥७॥

हे कौन्तेय ! रजोगुण को रागस्वरूप जानो , जिससे तृष्णा और आसक्ति उत्पन्न होती हैं । वह देही आत्मा को कर्मों की आसक्ति से बांधता है ॥७॥

अपने मन पर विजय प्राप्त करने के इच्छुक साधक को मन की उन समस्त सूक्ष्म प्रवृत्तियों एवं रुचियों का ज्ञान होना चाहिए, जिनके द्वारा वह बारम्बार उन्मत्त के समान विषयों की ओर भागता है । इस प्रकार, यह मन साधक के आन्तरिक व्यक्तित्व को नष्ट करने के षड्यन्त्र में ही लगा रहता है ।

'रजोगुण को रागस्वरूप जानो'–जब अन्तःकरण में रजोगुण के प्रभावों का घातक आक्रमण होता है तब वह मनुष्य के मन को असंख्य पीड़ादायक उद्वेगों से चूर-चूर कर देता है । मन के स्तर पर उठने वाले ये उद्वेग ही रजोगुण के मुख्य

लक्षण हैं । ये मनोवेग असंख्य प्रकार से व्यक्त होते हैं, जैसे– हठ, कामना, भावना इत्यादि । तथापि इन सब का समावेश केवल दो वृत्तियों में किया जा सकता है – तृष्णा और संग अर्थात् आसक्ति । यहां इन दोनों का ही समस्त उद्वेगों के मुख्य स्रोत के रूप में निर्देश किया गया है ।

'तृष्णा और संग'– विषयोपभोग की इच्छा के लिए संस्कृत में शब्द है 'तृष्णा' अर्थात् प्यास । एक प्यासे व्यक्ति के लिए उस समय जल से अधिक महत्व की और शान्तिप्रद वस्तु कोई प्रतीत ही नहीं होती है । वह तृष्णा के कारण छटपटाता है, और केवल किसी प्रकार किसी भी स्थान से जल प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता है । इसी प्रकार एक बार किसी विषय की कामना मन में उत्पन्न हो जाती है, तब उसकी सन्तुष्टि किये बिना मनुष्य को शान्ति अनुभव नहीं होती । यदि इष्ट वस्तु की प्राप्ति हो जाती है, तो उसके प्रति 'संग' हो जाता है । संग एक ऐसा दुष्ट मनोवेग है, जो मन के सुख और शान्ति को भंग कर देता है । संक्षेपत:, अप्राप्त वस्तु को पाने की कामना 'तृष्णा' कहलाती है, और प्राप्त वस्तु से आसक्ति को 'संग' कहते हैं ।

विषयों के प्रति मन में उत्पन्न होने वाली तृष्णा और संग ही वे ज्वालामुखी पर्वत हैं, जो निरन्तर अपना पिघला लावा उगल का जीवन के हंसते उपवन को झुलसाकर ध्वस्त कर देते हैं । इन आग्नेय पर्वतों से उगला गया तप्त लावा विविध प्रकार के वे मनोद्वेग, हैं, जो मनुष्य के कामुक जीवन में असंख्य वस्तुओं को अर्जित करने, उनपर अधिकार जमाने और उन्हें सुरक्षित रखने के लिये संघर्ष और कलह को जन्म देते हैं ।

'यह रजोगुण मनुष्य को कर्मासक्ति से बांधता है'– रजोगुण के वशीभूत पुरुष के मन में विभिन्न इच्छाएं उत्पन्न होती हैं, जिन्हें पूर्ण करने के लिए स्वाभाविक हैं कि वह दिनरात कर्म में ही व्यस्त और आसक्त हो जाता है । उसका सम्पूर्ण जीवन धन के आय और व्यय, वस्तुओं के अर्जन और रक्षण करने में ही व्यतीत होता है । इस प्रक्रिया में उसका शरीर तो वृद्ध होता जाता है परन्तु उसकी तृष्णा नवयौवन को प्राप्त होती जाती है ! अधिकाधिक भोग को प्राप्त करने की व्याकुलता और प्राप्त वस्तु के नष्ट होने के भय के कारण वह एक कर्म से दूसरे कर्म में प्रवृत्त रहता है । इस प्रकार अपने ही कर्मों से उत्पन्न हुए सुख-दु:ख रूप फलों को भोगने के लिए यह जीव देह से बंधा रहता है ।

यदि सत्वगुण के बन्धन में मनुष्य को यह अभिमान होता हैं कि "मैं सुखी हूँ" और "मैं जाननेवाला हूँ", तो रजोगुण में "मैं कर्ता हूँ" इस प्रकार कर्तृत्व का अभिमान होता है । इस तथ्य का हमें स्मरण रहे कि इन गुणों से उत्पन्न ये

बन्धन प्रातीतिक ही हैं, वास्तविक नहीं।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ।।८।।

और हे भारत! तमोगुण को अज्ञान से उत्पन्न जानो, जो समस्त देहधारियों (जीवों) को मोहित करने वाला है। वह प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा जीव को बांधता है ।।८।।

'तमोगुण अज्ञानजनित है'– तमोगुण के प्रभाव से सत्य और असत्य का विवेक करने की मनुष्य की बौद्धिक क्षमता आच्छादित हो जाती है और फिर वह किसी संभ्रमित या मूर्ख व्यक्ति के समान व्यवहार करने लगता है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह तमोगुण जीवन के सत्य और दिव्य लक्ष्य के प्रति अनेक मिथ्या धारणाओं एवं मिथ्या आग्रहों को जन्म देकर मनुष्य को निम्न स्तर का जीवन जीने को बाध्य करता है। इसके वशीभूत होकर मनुष्य प्रमाद (असावधानी) और आलस्य (कार्य को टालते रहने की प्रवृत्ति) का शिकार बन जाता है। जीवनादर्शों और दिव्य महात्वाकांक्षाओं के प्रति मानो वह सुप्त रहता है। तमोगुणी पुरुष में न लक्ष्य की स्थिरता होती है और न बुद्धि की प्रतिभा; उसमें न भावनाओं की कोमलता होती है और न कर्मों की कुशलता।

अब तक भगवान् श्रीकृष्ण ने क्रमवार सत्त्व, रज और तमोगुण के उन लक्षणों का वर्णन किया है, जो हमारे मानसिक जीवन में देखे जाते हैं। ये हमारे मन की शान्ति को भंग कर देने वाले होते हैं। इन तीनों गुणों के कारण विभिन्न व्यक्तियों में दिव्यता की अभिव्यक्ति में भी तारतम्य होता है और ये गुण नित्य, अनन्तस्वरूप आत्मा को मानो अनित्य और परिच्छिन्न बना देते हैं।

संक्षेपतः,

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ।।९।।

हे भारत! सत्वगुण सुख में आसक्त करता है और रजोगुण कर्म में, किन्तु तमोगुण ज्ञान को आवृत्त करके जीव को प्रमाद से युक्त कर देता है ।।९।।

प्रस्तुत श्लोक पूर्व के तीन श्लोकों का सारांश है। गीता गुरुशिष्य संवाद के रूप में होने से जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण सामान्य बुद्धि के अपने शिष्य अर्जुन

के कल्याण के इच्छुक होने के कारण विवेचित विषय का ही संक्षेप में निर्देश करते हैं, जिन्हें पहले हम विस्तार पूर्वक देख चुके हैं।

ये गुण उपर्युक्त कार्य कब करते हैं? इस पर कहते हैं :

रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत।
रजः सत्वं तमश्चैव तमः सत्वं रजस्तथा ॥१०॥

हे भारत ! कभी रज और तम को अभिभूत (दबा) करके सत्वगुण की वृद्धि होती है, कभी रज और सत्व को दबा कर तमोगुण की वृद्धि होती है, तो कभी तम और सत्व को अभिभूत कर रजोगुण की वृद्धि होती है ॥१०॥

पूर्वोक्त विवेचन के सन्दर्भ में एक बुद्धिमान् साधक की यह जिज्ञासा होगी कि क्या ये तीन गुण अपना कार्य भिन्न-भिन्न समय पर किसी क्रम विशेष में अथवा एक ही समय में सब कार्य करते हैं। यदि एक ही साथ तीनों कार्य करते हैं, तो क्या इनमें सामंजस्य होता है या विरोध? इस प्रकार के प्रश्न का पूर्वानुमान करके भगवान् श्रीकृष्ण अपने दिव्यगान के इस श्लोक में इसका उत्तर देते हैं। वे वर्णन करते हैं कि किस प्रकार ये गुण भिन्न-भिन्न समय पर कार्य करते हैं। प्रत्येक गुण उस क्षणविशेष तक प्रमुख और शक्तिशाली बन जाता है।

विचारपूर्वक अध्ययन करने से ज्ञात होगा कि समय-समय पर किसी एक गुण की अधिकता से प्रभावित होकर मनुष्य कार्य कर रहा होता है। उस दशा में अन्य दो गुणों का सर्वथा अभाव नहीं होता है, किन्तु उनका महत्व गौण हो जाता है। जब हम कहते हैं कि कोई पुरुष सत्वगुण के प्रभाव में है, तब उसका अर्थ यह होता है कि उस समय उसमें रजोगुण और तमोगुण इतने अधिक प्रबल नहीं होते कि वे अपने प्रभाव को व्यक्त कर सकें। यही बात अन्य गुणों के विषय में भी समझनी चाहिये।

वर्धमान गुण के लक्षण को हम किस प्रकार पहचान सकते हैं? भगवान् बताते हैं :

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

जब इस देह के द्वारों अर्थात् समस्त इन्द्रियों में ज्ञानरूप प्रकाश उत्पन्न होता है, तब सत्वगुण को प्रवृद्ध हुआ जानो ॥११॥

सर्वप्रथम, सत्वगुण की प्रवृद्धि होने पर उत्पन्न होने वाले लक्षणों का

बोध यहां कराया गया है। इसके अगले दो श्लोकों में क्रमशः रज और तम की विवृद्ध स्थिति का वर्णन किया गया है।

'जब इस देह के समस्त द्वारों में प्रकाश उत्पन्न होता है' – हमें बाह्य जगत् का ज्ञान पंच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा होता है। स्थूल शरीर में इन इन्द्रियों के निवास स्थानों को गोलक कहते हैं। इन इन्द्रियों के माध्यम से चैतन्य का प्रकाश, मानों, बाहर जाकर जगत् को विविध वस्तुओं को प्रकाशित करता है। इस प्रकार हम अपनी श्रोत्रनेत्रादि इन्द्रियों के द्वारा शब्दरूपादि विषयों को प्रकाशित करते हैं, अर्थात् उनका बोध प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार, शीर्ष भाग में स्थित सात गोलकों[1] में से मानों ज्ञानाग्नि (आत्मा) की सात ज्वालायें फूटकर बाहर निकलती हैं प्रत्येक ज्वाला एक ही वस्तु विशेष को प्रकाशित करती है। जब इस स्थिति में हमें वस्तुओं का यथार्थ बोध होता है तो सत्त्वगुण को प्रवृद्ध हुआ समझना चाहिये। यदि उस समय रज और तम बढ़ते हैं, तो हमारा यथार्थ विषय ग्रहण अवरुद्ध हो जाता है।

यदि रजोगुण से मन क्षुब्ध हो और तमोगुण से बुद्धि आच्छादित हो गई हो, तो हमें सामान्य लौकिक ज्ञान भी प्राप्त करना कठिन हो जाता है। अतः इन दो गुणों की मात्रा जितनी कम होगी, हमारी निरीक्षण, विश्लेषण और समझने की बौद्धिक क्षमता उतनी ही अधिक होगी।

यह पूर्व में भी बताया जा चुका है कि चैतन्यस्वरूप आत्मा बुद्धि के माध्यम पर प्रतिबिम्बित होकर बुद्धि के प्रकाश द्वारा जगत् की वस्तुओं तथा आन्तरिक मनोवृत्तियों को प्रकाशित करता है। वह सीधे ही उन्हें प्रकाशित नहीं करता। सूर्य का प्रकाश भी दीवारों पर परावर्तित होकर ही कमरे को प्रकाशित करता है।

यह सुविदित तथ्य है कि परावर्तन के माध्यम के स्वच्छ और स्थित होने पर प्रतिबिम्ब स्पष्ट होता है, अन्यथा नहीं। रजोगुणजन्य विक्षेपों से बुद्धि में अस्थिरता आती है तो तमोगुणजन्य आवरण से अशुद्धि। अतः इन दोनों का आधिक्य होने पर बुद्धि का प्रकाश मन्द पड़ना स्वाभाविक ही है। इसलिए, भगवान् का यह कथन शुद्ध वैज्ञानिक है कि वस्तुओं के यथार्थ ज्ञान होने के समय अन्तःकरण में सत्वगुण प्रवृद्ध होता है।

प्रवृद्ध रजोगुण का लक्षण निम्न प्रकार से है :

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

---

१. दो नेत्र, दो श्रोत्र, दो नासिका छिद्र और एक मुख।

हे भरत-श्रेष्ठ ! रजोगुण के प्रवृद्ध होने पर लोभ, प्रवृत्ति (सामान्य चेष्टा) कर्मों का आरम्भ, शम का अभाव तथा स्पृहा, ये सब उत्पन्न होते हैं।।१२।।

भगवान् श्रीकृष्ण यहां रजोगुण के मुख्य लक्षणों की गणना करते हैं। जिस क्रम में उनका उल्लेख किया गया है, उसमें हम यह देखते हैं कि उत्तरोत्तर लक्षण पूर्व के लक्षण से उत्पन्न होता है। परद्रव्य की इच्छा का नाम है 'लोभ' जो कभी सन्तुष्ट नहीं होता। लोभी पुरुष में आ जाती है 'प्रवृत्ति' अर्थात् फिर वह क्रियाशील हो जाता है, शान्त नहीं बैठ सकता। लोभाधिक्य होने पर उसके किए गए कर्म स्वार्थपूर्वक ही होते हैं, जिनका निर्देश यहां "कर्मों का आरम्भ" इस शब्द में किया गया है। स्वार्थ और लोभ के वशीभूत पुरुष को शम अर्थात् शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। श्री शंकराचार्य 'अशम' शब्द का अर्थ बताते हैं, "हर्ष रागादि प्रवृत्तिः।" इसका अर्थ यह हुआ, कि ऐसा पुरुष सदैव इष्टानिष्ट की प्राप्ति होने पर हर्ष विषाद को प्राप्त होता रहता है, ऐसी स्थिति में उसे शान्ति कैसे मिल सकती है ? वह अपने ही कर्मों के फलस्वरूप स्वयं को ऐसी परिस्थितियों में पाता है, जो उसे अधिकाधिक कटुतर क्रूरता, नीच अनैतिकता और हत्या जैसे अपराध करने में प्रवृत्त करती हैं ; उसकी आन्तरिक शान्ति को छिन्न-भिन्न कर देती हैं। रजोगुण से अभिभूत यह पुरुष 'स्पृहा' अर्थात् विषयभोग की लालसा के वश में भी आ जाता है। अप्राप्त वस्तुओं तथा लाभ को पाने की कभी न समाप्त होने वाली यह कामना ही स्पृहा कहलाती है।

संक्षेप में, रजोगुण के स्पर्शजन्य रोग के प्रभाव से हमारा मानसिक व्यक्तित्व अपनी ही उन चंचल प्रवृत्तियों से उत्पीड़ित होता रहता है, जो अन्तहीन योजनाओं, थका देने वाले कर्मों, व्यथित करने वाली इच्छाओं ; पीड़ादायक लालसाओं, उन्मत्त करने वाले लोभ और निर्दय व्याकुलताओं के रूप में व्यक्त होती हैं। जब ऐसा व्यक्ति समाज में कार्य करता है ; तब उसके दुःख उस तक ही सीमित नहीं रहते, वरन् स्पर्शजन्य रोग के समान, उसके आसपास के सहस्रों लोगों को भी व्यथित करते हैं।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ।।१३।।

हे कुरुनन्दन ! तमोगुण के प्रवृद्ध होने पर अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह ये सब उत्पन्न होते हैं ।।१३।।

यदि कोई साधक अपने में इस श्लोक में कथित लक्षणों को पाए, तो उसे समझना चाहिये कि वह तमोगुण से पीड़ित है। 'अप्रकाश' का अर्थ बुद्धि की उस स्थिति से है, जिसमें वह किसी भी निर्णय को लेने में स्वयं को असमर्थ पाती है। इस स्थिति को लौकिक भाषा में 'ऊँघना' कहते हैं, जिसके प्रभाव से मनुष्य की बुद्धि को सत्य और असत्य का विवेक करना सर्वथा असंभव हो जाता है, हम सब को प्रतिदिन इस स्थिति का अनुभव होता है, जब रात्रि के समय हम निद्रा से अभिभूत हो जाते हैं।

'अप्रवृत्ति:' – सब प्रकार के उत्तरदायित्वों से बचने या भागने की प्रवृत्ति, किसी भी कार्य को करने में स्वयं को अक्षम अनुभव करना तथा जगत् में किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न और उत्साह का न होना – ये सब 'अप्रवृत्ति' शब्द से सूचित किए गये हैं। तमोगुण के प्रबल होने पर समस्त महत्वाकांक्षाएँ क्षीण हो जाती हैं। मनुष्य की शक्ति सुप्त हो जाने पर मात्र भोजन और शयन, ये दो ही उसके जीवन के प्रमुख कार्य रह जाते हैं।

इन सबके परिणामस्वरूप वह अत्यन्त प्रमादशील हो जाता है। उसे अपने अन्तरतम का आह्वान भी सुनाई नहीं देता है। और वस्तुतः, वह रावण के समान अत्याचारी भी नहीं बन सकता है। क्योंकि दुष्ट बनने के लिए भी अत्यधिक उत्साह और अथक क्रियाशीलता की आवश्यकता होती है।

शुभ और अशुभ इन दोनों प्रकार के कार्यों को करने में असमर्थ होकर वह शनै: शनै: मोह के गर्त में गिरता जाता है। वह जगत् का त्रुटिपूर्ण मूल्यांकन करता है और जीवन में अपनी संभावनाओं का विपरीत अर्थ लगाता है, तथा अपने व्यावहारिक सम्बन्धों को निश्चित करने में भी सदैव त्रुटि करता है। इस प्रकार जो पुरुष न अपने को, न जगत् को और न अपने सम्बन्धों को ही समझ पाया है, उसका जीवन एक भ्रम है और उसका अस्तित्व ही एक भारी भूल हैं।

इस प्रकार, मन पर पड़ने वाले इन तीनों गुणों के प्रभावों का वर्णन करने के पश्चात्, गीताचार्य हमें यह बोध कराना चाहते हैं कि इन गुणों का प्रभाव केवल किसी एक देह विशेष में जीवित रहते हुए ही नहीं होता है। मन की ये प्रवृत्तियां जिन्हें हम इस जीवन में उत्पन्न कर विकसित करते हैं और उनका अनुसरण कर उन्हें शक्तिशाली बनाते हैं, जीव के मरण के पश्चात् उसकी गति और स्थिति को भी निर्धारित करती हैं।

वेदान्त दर्शन के अतिरिक्त तत्त्वज्ञान की किसी भी अन्य शाखा में 'मरणोपरांत जीवन' के विषय में सम्पूर्ण रूप से विचार नहीं किया गया है। इस विषय में अन्य सभी धर्म-मतों द्वारा दिए गए विभिन्न स्पष्टीकरण हैं, तथापि मरण के पश्चात् जीवन के अस्तित्व में किसी को भी अविश्वास नहीं है। अन्य मतों में जीव की

गति के विषय में धार्मिक पूर्वाग्रहों से ग्रस्त केवल हठवादी घोषणाएं हैं, किन्तु दर्शन-शास्त्र का रूप देने योग्य युक्तियुक्त विवेचन नहीं है।

इसके पूर्व भी गीता में पुनर्जन्म के विषय में विस्तृत विवेचन किया गया था। सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर से सर्वथा वियोग ही मृत्यु कहलाता है। इसलिए, मृत्यु स्थूल शरीर का प्रारब्ध है। वह सूक्ष्म शरीर के अभिमानी नित्य विद्यमान जीव का दु:खान्त नहीं है। एक देह विशेष में अपने प्रयोजन के सिद्ध हो जाने पर जीव उस देह को त्यागकर चला जाता है। वृत्तिरूप मन और बुद्धि ही सूक्ष्म शरीर कहलाती हैं। एक देह विशेष को धारण किए हुए जीवन में भी अन्त:करण के विचार ही व्यक्ति के कर्मों के स्वरूप का निर्धारण करते हैं। इसलिए, हिन्दू तत्त्व-चिन्तकों का यह निष्कर्ष युक्तिसंगत है कि मरण के पश्चात् भी, जीव वर्तमान जीवन के विचारों के संयुक्त परिणाम की दिशा में ही गमन करता है।

जब किसी व्यक्ति का स्थानान्तरण होता है, तब वह बैंक में जाकर अपनी उस धनराशि को प्राप्त कर सकता है, जो उस समय उसके नाम पर 'शेष जमा' होती है, और न कि भूतकाल में उसके द्वारा जमा की गयी 'कुल राशि'। इसी प्रकार, जीवन में किए गए शुभाशुभ विचारों और कर्मों के संयुक्त परिणाम के द्वारा ही मरण के समय हमारे विचारों के गुण और दिशा निर्धारित किए जाते हैं।

हम यह पहले ही देख चुके हैं कि हमारे विचारों के स्वरूप पर सत्त्व, रज और तमोगुण का प्रभाव पड़ता है। इसलिए मनुष्य के अपने जीवनकाल में जिस किसी गुण का प्राधान्य रहता है उसी के द्वारा देह त्याग के पश्चात की उस मनुष्य की गति होनी चाहिये यह सर्वथा युक्तिसंगत है। इस अध्याय के निम्न प्रकरण में इन्हीं संभावनाओं का वर्णन किया गया है।

भगवान् कहते हैं :

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥

जब यह जीव (देहभृत्) सत्त्वगुण की प्रवृद्धि में मृत्यु को प्राप्त होता है, तब उत्तम कर्म करने वालों के निर्मल अर्थात् स्वर्गादि लोकों को प्राप्त होता है ॥१४॥

मरणोपरान्त जीव के अस्तित्व तथा उसकी गति का विषय इन्द्रिय अगोचर हैं। अत: प्रस्तुत प्रकरण में प्रतिपादित सिद्धान्त के सत्यत्त्व की पुष्टि इसी देह में रहते हुए इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकती है; किन्तु मनुष्य के वर्तमान जीवन के

मानसिक व्यवहार का सूक्ष्म अध्ययन करने पर प्रस्तुत सिद्धांत की युक्तियुक्तता के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता है। कोई चिकित्सक अकस्मात् किसी दिन स्थापत्यशास्त्र (गृह निर्माण के विज्ञान) की किसी सूक्ष्म समस्या के विषय में चिन्तन नहीं प्रारम्भ करता और न ही कोई अभियन्ता रातों रात कर्करोग (कैंसर) के उपचार की प्रेरणा पाता है। किसी भी समय दोनों ही व्यक्ति अपनी शिक्षा दीक्षा के अनुरूप विषय का ही चिन्तन करते हैं।

इस प्रकार, वर्तमान देह में ही हम वैचारिक जीवन का सातत्य अनुभव करते हैं। यह सातत्य, वर्षों, महीनों, सप्ताहों, दिनों और प्रत्येक क्षण के विचारों में भी देखने को मिलता है। प्रत्येक क्षण का विचार पूर्व क्षण के विचार का विस्तार मात्र है। इस प्रकार, यदि हमें वैचारिक-जीवन में एक निरन्तरता और नियमबद्धता का स्पष्ट अनुभव होता है, जिसकी अखण्डता भूत, वर्तमान और भविष्य में बनी रहती है, तब मृत्यु के समय अकस्मात् इस श्रृङ्खला का टूटने का कोई कारण सिद्ध नहीं होता है। मृत्यु एक अनुभव विशेष मात्र है, जो उत्तरकाल के अनुभवों को प्रभावित कर सकता हैं। परन्तु यह कोई नवीन विशेष बात नहीं है, क्योंकि प्रत्येक अनुभव ही अपने पश्चात् के अनुभव को अपने गुणदोष से प्रभावित करता रहता है। अत: जीवन पर्यन्त के विचारों के संयुक्त परिणाम से ही देहत्याग के पश्चात् की जीव की गति निर्धारित होती है। यद्यपि इस भौतिक जगत् से उसका सम्बन्ध समाप्त हो जाता है, तथापि उसका वैचारिक जीवन बना रहता है।

भगवान् कहते हैं कि सत्वगुण प्रवृद्ध हो और उस समय जीव देहत्याग करे, तो वह उत्तमवित् लोगों के निर्मल लोकों को प्राप्त होता है। ये स्वर्ग से लेकर ब्रह्मलोक तक के लोक हैं। ब्रह्मलोक में रज और तम का प्रभाव नगण्य होने के कारण वह लोक परम सुखी है।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते।।१५।।

रजोगुण के प्रवृद्ध काल में मृत्यु को प्राप्त होकर कर्मशक्ति वाले (मनुष्य) लोक में वह जन्म लेता है तथा तमोगुण के प्रवृद्धकाल में (मरण होने पर) मूढ़योनि में जन्म लेता है।।१५।।

पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार ही मरणकाल में रजोगुण के आधिक्य के प्रभाव से जीव कर्मासक्त मनुष्य लोक में जन्म लेता है। उसके लिये कर्म करने और फल भोगने के लिए यही अत्यन्त उपयुक्त क्षेत्र है।

इसके विपरीत यदि तमोगुण के प्रवृद्ध हुए काल में जीव देह का त्याग करता है, तो उसके फलस्वरूप वह मूढ़योनि अर्थात् पशु-पक्षी या वनस्पति जीवन को प्राप्त होता है।

कुछ दार्शनिकों का यह मत है कि एक बार विकास के सोपान पर मनुष्यत्व को प्राप्त कर लेने के पश्चात् हमारा निम्न स्तर की योनियों में पतन नहीं होता है। निःसन्देह, यह सान्त्वना प्रदान करने वाला मत है; परन्तु अनुभूत उपलब्ध तथ्यों के विरुद्ध होने से ग्राह्य नहीं हो सकता। वास्तविकता यह है कि प्रगति के लिए सर्वोत्तम परिस्थिति और वातावरण को उपलब्ध कराने के पश्चात् भी सभी मनुष्य समान रूप से उनका उपयोग करके गौरवमयी सांस्कृतिक प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होते है। एक धनी पुरुष का सामान्य बुद्धि का पुत्र, जीवन के प्रारम्भ से ही अनुकूल स्थिति को प्राप्त करता है तथापि प्रायः यह देखा जाता है कि वह अपनी स्थिति का उचित उपयोग करने के स्थान पर प्रमाद और विलास का जीवन जीकर अपना सर्वनाश ही कर लेता है।

बुद्धि से सम्पन्न होने पर भी हम में से कितने लोग विवेकपूर्वक आचरण करते हैं? समाज के कुछ लोग तो पशुओं की ओर ईर्ष्या की दृष्टि से देखते हुए घोषणा भी करते हैं कि उनका जीवन श्रेष्ठतर और सुखी है! कहने का तात्पर्य यह हुआ कि कुछ अल्पसंख्यक द्विपादों की दृष्टि से चतुष्पादों का जीवन उच्चतर विकास का है!! यदि किसी व्यक्ति का यही विचार हो, तो उसके लिए पशुजीवन निन्दनीय न होकर वरणीय होता है, जिसकी वह कामना करता है। मद्यपान न करने वाला एक संयमी पुरुष मधुशाला को दुःखालय समझता है; किन्तु एक मद्यपायी को वही स्थान सुख और शान्ति का विश्रमालय प्रतीत होता है।

तामसिक प्रवृत्ति के लोगों के लिए पशुयोनि में जन्म लेना माने आनन्द प्राप्ति का अद्भुत् अवसर है, जहाँ वे अपनी रुचि और प्रवृत्ति को पूर्णतया व्यक्त कर सकते हैं। इस प्रकार दर्शनशास्त्र की दृष्टि से देखने पर हमें बिना किसी संदेह या संकोच के यह स्वीकार करना पड़ेगा कि तमोगुणी लोगों को पशुदेह में ही पूर्ण सन्तोष का अनुभव होगा। अतः यहाँ कहा गया है, "तमोगुण के प्रवृद्ध हुए काल में मरण होने पर जीव मूढ़योनि में जन्म लेता है।"

प्रस्तुत प्रकरण का सारांश यह है कि :

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ।।१६।।

शुभ कर्म का फल सात्विक और निर्मल कहा गया है ; रजोगुण का फल दुःख और तमोगुण का फल अज्ञान है ॥१६॥

इस श्लोक में संभाषणकुशल भगवान् श्रीकृष्ण पूर्व के श्लोकों में कथित विषय को ही साररूप से वर्णन करते हैं। प्रत्येक गुण के प्रवृद्ध होने पर जो फल प्राप्त होते हैं उनका निर्देश यहां एक ही स्थान पर किया गया है।

शुभ कर्मों का फल सात्विक और निर्मल कहा गया है। सावधानीपूर्वक अध्ययन करने पर हमें ज्ञात होगा कि अन्तःकरण का विचार ही समस्त कर्मों का जनक है। विचार बोये गये बीज हैं, तो कर्म हैं अर्जित की गयी उपज। घास-पात के बीजों से मात्र घास ही उत्पन्न होगी ; वैसे ही अशुभ संकल्पों से अशुभ कर्म ही होंगे। बाह्य जगत् में व्यक्त हुए ये अशुभ कर्म दुष्प्रवृत्तियों का संवर्धन करते हैं और इस प्रकार मन के विक्षेप शतगुणित हो जाते हैं।

यदि कोई पुरुष सेवा और भक्ति, स्नेह और दया, क्षमा और करुणा का शान्त, सन्तुष्ट, प्रसन्न और पवित्र जीवन जीता है, तो निश्चय ही ऐसा जीवन उसके सात्विक स्वभाव का परिचायक है। यह तथ्य जैसे सिद्धांततः सत्य है वैसे ही लौकिक अनुभव के द्वारा भी सिद्ध होता है। ऐसे आदर्श जीवन को जीने वाले पुरुष को अवश्य ही अन्तःकरण की शुद्धि प्राप्त होती है।

यहां यह प्रश्न सम्भव हो सकता है कि यदि वर्तमान जीवन में कोई व्यक्ति अत्यन्त अधःपतित है, तो किस प्रकार वह अपना उद्धार प्रारम्भ कर सकता है। यदि कर्म विचारों की अभिव्यक्ति हैं, और अन्तःकरण में स्थित विचारों का स्वरूप अशुभ है, तो ऐसे व्यक्ति के विचारों के आमूल परिवर्तन की अपेक्षा हम कैसे कर सकते हैं ? विश्व के सभी धर्मों में अपनी विधि और निषेध की भाषा में इस प्रश्न का उत्तर एकमत से यही दिया गया है कि सत्य के साधकों, भगवान के भक्तों और संस्कृत के समुपासकों को सदाचार और नैतिकता का आदर्श जीवन जीने का प्रयत्न करना चाहिए। वैचारिक परिवर्तन का यह प्रथम चरण है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मन को अनुशासित करना और विचारों के स्वरूप को परिवर्तित करना सरल कार्य नहीं है ; किन्तु कर्मों के प्रकार को परिवर्तित करना और अपने बाह्य आचरण और व्यवहार को संयमित करना अपेक्षाकृत सरल है। इसलिये, सदाचार और अनुशासित व्यवहार आत्मोत्थान की महान् योजना के प्रारम्भिक चरण माने गए हैं। सदाचार के पालन से शनैः-शनैः सद्विचारों का निर्माण भी प्रारम्भ हो जाता है।

यही कारण है कि सभी राष्ट्रों की संस्कृतियों में बालकों से कुछ नियमों के

पालन का आग्रह किया जाता है, जैसे – श्रेष्ठजनों का आदर, आज्ञाओं का पालन, असत्य का त्याग, शास्त्रों का स्वाध्याय, शिक्षा, स्वच्छता आदि । जब बालकों से इन नियमों का पालन करने को कहा जाता है, तब सम्भवतः उन्हें ये सब क्रूर नियम प्रतीत होते हैं जिनका पालन करते हुए उन्हें जीने के लिए बाध्य किया जाता है । तथापि, दीर्घकाल की अवधि में अनजाने ही ये नियम बालकों के विचारों को अनुशासित करते हैं ।

सदाचार से मन सात्विक और निर्मल बन जाता है । इससे प्राप्त होने वाले फल – मनःप्रसाद, न्यूनतम विक्षेप, चित्त की एकाग्रता, श्रद्धा, भक्ति, जिज्ञासा इत्यादि है । विकार और विक्षेप ये मन की अशुद्धियां हैं, जो अशुभ कर्मों से और अधिक प्रवृद्ध होती हैं । सत्कर्म अपने स्वभाव से ही मनोद्वेगों को नष्ट करके मन को शान्त और प्रसन्न करते हैं ।

रजोगुण का फल दुःख और तमोगुण का फल अज्ञान है ।

पूर्वोक्त विवेचन के प्रकाश में भगवान् के इस कथन को समझना कठिन नहीं है । सत्व , रज और तम इन तीन गुणों का लक्षण क्रमशः विवेक ,विक्षेप और आवरण है । अतः साधक का अधिक से अधिक प्रयत्न सत्वगुण में स्थिति की प्राप्ति के लिए होना चाहिये ; क्योंकि "सक्रिय शान्ति की स्थिति" ही सत्व है, जो मनुष्य आन्तरिक जीवन का रचनात्मक क्षण होता है ।

इन गुणों से क्या उत्पन्न होता है ? सुनो–

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।।१७।।

सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है । रजोगुण से लोभ तथा तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होता है ।।१७।।

मन और बुद्धि के रंगमञ्च पर प्रवेश करने पर ये तीन गुण जो भूमिका का निर्वाह करते हैं, उसका निर्देश इस श्लोक में किया गया है । इनका विस्तृत वर्णन पहले किया जा चुका है ।

'सत्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है'– स्वयं चैतन्यस्वरूप आत्मा में विषयों का अभाव होने से उसका किसी विषय को जानने का प्रश्न नहीं उठता । किन्तु चैतन्य से युक्त अन्तःकरण की बुद्धिवृत्ति विषयों को प्रकाशित करती है । यदि अन्तःकरण शुद्ध और शान्त हो, अर्थात् सात्विक हो तो उसकी ज्ञानक्षमता अधिक होती है । ऐसे

शुद्ध मन के द्वारा ही नित्य-शुद्ध-बुद्धमुक्त आत्मा का अपरोक्षानुभव हो सकता है।

रजोगुण से लोभ तथा तज्जनित अनेक प्रकार की स्वार्थमूलक प्रवृत्तियां और विक्षेप उत्पन्न होते हैं।

तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं। विषय को किसी प्रकार से भी नहीं जानना अज्ञान है, जब कि दो वस्तुओं या कर्मों में विवेक का अभाव होना मोह कहलाता है। धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, आत्मा-अनात्मा इत्यादि का विवेक न होना मोह है। किसी भी कर्म में सावधानी न रखना या वस्तु को अन्य प्रकार से समझना प्रमाद कहलाता है। इसके कारण बाह्य जगत् में सुख की कल्पना करके मनुष्य उसी में भटकता रहता है। सम्पूर्ण समुद्र में क्या एक पात्र भर मधुर जल मिल सकता है? वस्तुतः नहीं, परन्तु तमोगुण के वशीभूत पुरुष उसी के लिये प्रयत्न करता रहता है। और जब उसे दुःख भोगने पड़ते हैं, तो इसका दोष वह जगत् को ही देता है! यह सब तमोगुण का कार्य है।

आगे कहते हैं–

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

सत्वगुण में स्थित पुरुष उच्च (लोकों को) जाते हैं; राक्षस पुरुष मध्य (मनुष्य लोक) में रहते हैं और तमोगुण की अत्यन्त हीन प्रवृत्तियों में स्थित तामस लोग अधोगति को प्राप्त होते हैं ॥१८॥

विकास के सोपान के तीन पाद हैं। न्यूनतम विकास की अवस्था में वनस्पति और पशु जगत् हैं। बुद्धि और प्रतिभा से सम्पन्न मनुष्य मध्य में स्थित है। और वेदों से ज्ञात होता है कि स्वर्ग के देवतागण मनुष्य से उच्चतर अवस्था में रहते हैं। यहां विकास का अर्थ है– "अनुभवों का विशाल क्षेत्र और ज्ञान, विक्षेपों की न्यूनता और बुद्धि की प्रखरता का होना"। विकास को नापने का मापदण्ड प्राणियों के द्वारा अनुभव की गयी सुख, शान्ति और आनन्द की मात्रा है।

इस दृष्टि से पाषाण का विकास शून्य माना जायेगा। तत्पश्चात् विकास की श्रेष्ठतर अवस्थाओं का क्रम है– वनस्पति, पशु, मनुष्य और देवता। निःसन्देह प्रखर बुद्धि युक्त मनुष्य पशुओं से श्रेष्ठ प्राणी है किन्तु उसकी भी देश-काल की सीमायें होती हैं। इन सीमाओं के टूट जाने पर मनुष्य देवताओं की श्रेष्ठतर योनि प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ, दो मंजिलों की एक इमारत है। दूसरी मंजिल पर स्थित

कमरे में पहुंचने के लिए जो सोपान बना है, वह दो भागों में विभाजित है। प्रथम भाग में कुछ पायदानों को चढ़ने के पश्चात् मध्य में एक स्थान है, जहाँ से घूमकर सोपान के दूसरे भाग पर चढ़ना पड़ता है। जो लोग सबसे नीचे खड़े हैं, उन्हें विकास के निम्नस्तर पर स्थित मानें और जो मध्यस्थान में खड़े हैं वे उच्चतर स्थिति में हैं, जबकि सोपान के दूसरे भाग को चढ़ कर जो लोग वहां हैं, वे उच्चतम अवस्था में है। सबसे नीचे हैं वनस्पति और पशु; मध्य में है मनुष्य और उससे उच्चतर स्थिति में हैं देवतागण।

ध्यान रहे कि इन तीनों में से कोई भी उस आराम और सुखसुविधाओं से पूर्ण कमरे में नहीं पहुंचा है। मध्य में स्थित मनुष्य को उच्चतर या निम्नतर अवस्था में जाने की स्वतन्त्रता है। इस चित्र को यदि हम भली-भांति समझ लेते हैं तो हिन्दू दर्शनशास्त्र में वर्णित विकास के सिद्धांत को हमने किसी सीमा तक समझ लिया है यह माना जा सकता है। यहां विकास का माप दण्ड "प्रत्येक विकसित प्राणी के द्वारा अभिव्यक्त की गयी चैतन्य की मात्रा है।"

'सत्वस्थ पुरुष उच्च लोकों को प्राप्त होते हैं'– जो लोग विवेक, विचार, यथार्थ निर्णय और आत्मसंयम का शुद्ध जीवन जीते हैं, उनमें सत्वगुण की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। ऐसे शान्त, रचनात्मक और शक्तिशाली पुरुष की प्रगति उच्चतर लोक की ओर होती है।

कामना और विक्षेप, महत्वाकांक्षा और उपलब्धि से पूर्ण रजोगुणी स्वभाव के लोग बारम्बार मनुष्य लोक को तब तक प्राप्त होते रहते हैं, जब तक वे आवश्यक चित्तशुद्धि नहीं प्राप्त कर लेते हैं।

प्रमाद, मोह और अज्ञान जैसी हीन प्रवृत्तियों में रमने वाले जीव अपना अधःपात करा लेते हैं।

मरणोपरान्त भी जीव के अस्तित्व की अखण्डता का वर्णन करते समय भगवान् श्रीकृष्ण ने जीव की गति पर पड़ने वाले त्रिगुणों के प्रभाव को भी दर्शाया था। उपर्युक्त श्लोक उसी का सारांश है। परन्तु फिर संसार से मुक्ति कहां है? रज्जुस्वरूप ये तीनों गुण हमें देह और उसके दुःखों, मन और उसके विक्षेपों, बुद्धि और उसके स्पन्दनों तथा जगत् और उसके परिच्छेदों से बांध देते हैं। इस संसार बन्धन से मुक्त होकर अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का अनुभव हमें कब होगा?

अब तक त्रिगुणों के स्वरूप, लक्षण तथा मरणोपरान्त जीव की गति पर पड़ने वाले उनके प्रभाव का वर्णन किया गया है। परन्तु यह सब हमारे बन्धनों के कारणों का ही वर्णन है।

प्रकृति में स्थित पुरुष ही जीव कहलाता है। अनित्य जगत् का अनुभव, निराशाओं के दु:ख यही सब जीव का संसार है । त्रिगुणों से अतीत होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

अत्यधिक ज्वर से पीड़ित रोगी के मस्तक और पीठ में असहनीय पीड़ा होती है। यह पीड़ा रोग का लक्षण है। ज्वर के उतरने पर भी रोगी को कष्ट होता रहता है। उस रोग के लक्षणों से सर्वथा मुक्त होकर जब उस पुरुष को पूर्व की भाँति स्वास्थ्य और शक्ति प्राप्त हो जाती है, केवल तभी हम उसे पूर्ण स्वस्थ कह सकते हैं। उसी प्रकार, वास्तविक मोक्ष तीनों गुणों से अतीत होकर अपने आनन्दस्वरूप में स्थित हो जाना है।

अब, सम्यक् दर्शन से मोक्ष किस प्रकार होता है उसका वर्णन करते हैं :

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

जब द्रष्टा (साधक) पुरुष तीनों गुणों के अतिरिक्त किसी अन्य को कर्ता नहीं देखता, अर्थात् नहीं समझता है और तीनों गुणों से परे मेरे तत्त्व को जानता है, तब वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है ॥१९॥

अब तक किये गये वर्णन से तो आत्मा का ऐसा दुर्भाग्यपूर्ण चित्र सामने उभर कर आता है कि मानों वह कभी इन गुणों के बन्धनों से मुक्त ही नहीं हो सकता। गीता के अध्येता को इस स्थल पर निराशा का अनुभव हो सकता है। जब तक हम रेलगाड़ी में आसीन रहेंगे, तब तक रेल की गति हमारी गति होगी। परन्तु जैसे ही हम अपने गन्तव्य स्थान पर उतर जाते हैं, तब हम स्थिर हो जाते हैं, केवल रेल गतिमान रहती है। इसी प्रकार, देहादि उपाधियों को ही अपना स्वरूप समझ कर उनसे तादात्म्य करने पर उनके विकारों को हम अपने ही विकारें मानकर दु:ख, कष्ट और बन्धन का अनुभव करते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि आत्मा को अनुभव में आने वाला बन्धन अविद्याजनित (मिथ्या) है, वास्तविक नहीं। अत: उपाधियों में स्थित 'अहंभाव' को त्यागकर उसके साक्षीस्वरूप आत्मा में स्थिति प्राप्त करना ही तीनगुणों से मुक्ति है।

निदिध्यासन की साधना में इस तादात्म्य की निवृति और स्वस्वरूप में स्थिति प्राप्त करने का ही अभ्यास किया जाता है। जिस साधक में ध्यान की योग्यता है, वह आत्मा को देखेगा अर्थात् साक्षात् आत्मरूप से अनुभव करेगा। यह आत्मा समस्त दोषों के सर्वथा मुक्त है परन्तु यह देखना घटपटादि दृश्य वस्तु को

देखने के समान नहीं है; आत्मा इन्द्रिय, मन और बुद्धि का भी द्रष्टा है, उनका दृश्य नहीं। दर्शन से तात्पर्य ऐसे निश्चयात्मक ज्ञान से है, जिसको प्राप्त कर लेने के पश्चात् तत्व के विषय में संकल्प-विकल्प करने का कोई अवसर ही नहीं रह जाता।

'गुणों के अतिरिक्त किसी अन्य को कर्ता नहीं देखता' – आत्मानुभवी पुरुष न केवल अपने अनन्तस्वरूप को पहचानता है, वरन् यह भी जानता है कि अब तक जिस अहंकार को कर्तृत्व का अभिमान था वह इन गुणों के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है, अर्थात् अहंकार उन गुणों का ही कार्य है। ये गुण ही हमारे विचारों पर शासन करके उनकी दिशा को निर्धारित करते हैं। अत: कर्तृत्वभोक्तृत्वादि अभिमान जिसमें स्थित है, वह सूक्ष्म शरीर यहां गुण शब्द से सूचित किया गया है।

'और गुणों से परे तत्त्व को जो जानता है'–मन स्वयं जड़ होने के कारण न कुछ कार्य कर सकता है और न स्वयं अपनी वृत्तियों को देख सकता है। अतः जो चेतन तत्व उसे चेतनता प्रदान कर कार्यक्षम बनाता है, वह उस मन से भिन्न ही होगा। यदि किसी पात्र में रखा जल पिघले हुए रजत के समान चमक रहा हो, तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसने वह प्रभा सूर्य से प्राप्त की होगी। जल में अपनी स्वयं की कोई चमक नहीं होती। अब यदि उस जल में स्थित सूर्य का प्रतिबिम्ब छिन्नभिन्न होता है, तो उसका कारण पात्र में स्थित जल का स्वभाव होगा, न कि स्वयं सूर्य ही आकाश में नृत्य कर रहा होगा! मन की उपाधि में व्यक्त हुआ चैतन्य ही व्यष्टि जीव कहलाता है, जिसे उपाधि के परिच्छेदों का कष्ट अनुभव होता है।

जो पुरुष जीवभाव को त्यागकर उसके बिम्बभूत सच्चिदानन्द आत्मा को अपने स्वरूप से पहचान लेता है, वही पुरुष सभी परिच्छेदों के बन्धनों, दु:ख के अश्रुओं और निराशाओं के विश्वासों से सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

'वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है'–उपनिषद् की घोषणा के अनुसार आत्मवित् पुरुष स्वयं आत्मा ही बन जाता है। 'मेरे स्वरूप' से तात्पर्य आत्मस्वरूप से ही है। भगवान् श्रीकृष्ण को देवकी पुत्र या वृन्दावन के मुरली-मनोहर कृष्ण ही नहीं समझना चाहिये। यहां श्रीकृष्ण भूतमात्र की आत्मा के रूप में उपदेश दे रहे हैं और गीता के प्रत्येक अध्येता को यह समझना चाहिए कि उसकी आत्मा ही जीव को उपदेश दे रही है।

जाग्रत-पुरुष स्वप्न में ऐसी स्थिति को उत्पन्न करता है कि वहाँ स्वप्नद्रष्टा के रूप में वह वस्तुओं को प्राप्त कर या खोकर सुखी और दु:खी होता है। ये समस्त

सुख-दुःख स्वयं में ही निहित 'स्वप्नद्रष्टा' को होते हैं। जब वह स्वप्न से जागता है, तो स्वप्न जगत् और उसके बन्धन समाप्त हो जाते हैं और स्वयं 'स्वप्नद्रष्टा' ही 'जाग्रत-पुरुष' बन जाता है। कल्पना कीजिये कि स्वप्नावस्था में उस दुःखी स्वप्न द्रष्टा को उसकी जाग्रत अवस्था की चेतना आकर उपदेश देती है, तो वह यही श्लोक कहेगी कि : "जब स्वप्नद्रष्टा तुम स्वप्न देखने वाले मन के अतिरिक्त किसी को कर्ता नहीं देखोगे, और अपने में ही उस तत्त्व को जानोगे, जो इस मन से परे हैं, तब तुम मेरे स्वरूप को अर्थात् जाग्रत की चेतना को प्राप्त होगे।"

इसी प्रकार, यहां चैतन्यस्वरूप की दृष्टि से उपदेश देते हैं कि जो मनुष्य अपने जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति के व्यक्तित्व को त्यागकर उससे परे स्थित आत्मस्वरूप को पहचानता है, वही वास्तव में परम सत्य का जागृत पुरुष कहा जा सकता है। वह स्वयं आत्मस्वरूप (मद्भाव) बन जाता है।

इस ज्ञान के फल को और अधिक स्पष्ट करते हुए भगवान् कहते हैं :

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

यह देही पुरुष शरीर की उत्पत्ति के कारणरूप तीनों गुणों से अतीत होकर जन्म, मृत्यु, जरा और दुखों से विमुक्त हुआ अमृतत्व को प्राप्त होता है ॥२०॥

पाकशाला में कार्य कर रहे व्यक्ति को अग्नि की उष्णता और धुंए का कष्ट सहना पड़ता है, तो ग्रीष्म काल की धूप में खड़े व्यक्ति को सूर्य के ताप और चमक को सहन करना पड़ता है। यदि ये दोनों व्यक्ति अपने उन स्थानों से हटकर अन्य शीतल स्थान पर चले जायें, तो उनके कष्टों की निवृत्ति हो जायेगी। इसी प्रकार, हम अपनी उपाधियों में क्रीड़ा कर रहे तीन गुणों के साथ तादात्म्य करके सांसारिक जीवन के बन्धनों और दुःखों को भोग रहे हैं। इनसे अतीत हो जाने पर इनकी क्रूरता का अन्त हो जाता है, क्योंकि परिपूर्ण सच्चिदानन्द आत्मा में इन सबका कोई अस्तित्व नहीं है।

यहां सत्वादि गुणों को शरीर की उत्पत्ति का कारण बताया गया है। वेदान्त की भाषा में आत्मस्वरूप के अज्ञान को 'कारण शरीर' कहते हैं जिसका अनुभव हमें अपनी निद्रावस्था में होता है। तीनों गुण से भिन्न यह अज्ञान कोई वस्तु नहीं है। इस 'कारण अवस्था' से ये त्रिगुण, सूक्ष्म शरीरअ र्थात् अन्तःकरण की विभिन्न वृत्तियों और भावनाओं के रूप में व्यक्त होते हैं। विचाररूप में परिणत ये

गुण शुभ या अशुभ कर्मों के रूप में व्यक्त होने के लिए स्थूल शरीर का रूप ग्रहण करते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचारों और भावनाओं को प्रकट करने के लिए एक उपयुक्त माध्यम की आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ, चित्रकार को एक पट, तूलिका और रंगों की, तो संगीतज्ञ को वाद्यों की आवश्यकता होती है। चित्रकार को वाद्य और संगीतज्ञ के हाथ में तूलिका देने से दोनों को कोई लाभ नहीं होगा। इसी प्रकार, पशु की वृत्तियों वाले जीव को पशु का देह धारण करना मनुष्य शरीर की अपेक्षा अधिक उपयुक्त होगा। यह सब कार्य इन तीन गुणों का ही है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि त्रिगुणों से परे पहुँचा हुआ व्यक्ति सूक्ष्म और कारण शरीरों के दु:खों से भी मुक्त हो जाता है।

विकार और परिवर्तन जड़ पदार्थ के धर्म हैं। अत: भौतिक तत्त्वों से बने हुये सभी स्थूल शरीर विकारों को प्राप्त होते हैं, जिनका क्रम है– जन्म, वृद्धि, व्याधि, जरा (क्षय) और मृत्यु। इनमें से प्रत्येक विकार दु:खदायक होता है। जन्म में पीड़ा है; वृद्धि व्यथित करने वाली है, वृद्धावस्था विचलित करने वाली है, व्याधि अत्यन्त क्रूर है तो मृत्यु अति भयंकर !

परन्तु ये समस्त दु:ख देहाभिमानी अज्ञानी जीव को ही होते हैं, आत्म-स्वरूप में स्थित आत्मज्ञानी को नहीं, क्योंकि वह अपने उपाधियों से परे स्वरूप को पहचान लेता है। बाढ़, अकाल, युद्ध, महामारी, अन्त्येष्टि, विवाह, एवं अन्य सहस्रों घटनाओं को सूर्य प्रकाशित करता है, किन्तु 'सूर्य में' इनमें से एक भी घटना का अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार आत्मचैतन्य हमारी उपाधियों को तथा तत्संबंधित अनुभवों को प्रकाशित करता है, परन्तु उसका इन सबके साथ कोई संबंध नहीं होता। अत: आत्मवित् पुरुष इन सभी संघर्षों से मुक्त हो जाता है।

'और वह अमृतत्व को प्राप्त होता है'– आत्मज्ञान का फल केवल दु:ख-निवृत्ति ही नहीं वरन् परमानन्द प्राप्ति भी है। भगवान् के कथन में इसी तथ्य का निर्देश है। निद्रावस्था में रोगी व्यक्ति अपनी पीड़ा को भूल जाता है; निराश व्यक्ति अपनी निराशाओं से मुक्त हो जाता है; क्षुधा से व्याकुल पुरुष को क्षुधा का अनुभव नहीं होता; और दुखी को दु:ख का विस्मरण हो जाता है। परन्तु, इससे यह नहीं कहा जा सकता कि रोगोपशम हो गया, निराशा निवृत्त हो गयी, क्षुधा शांत हो गयी और दु:ख का शमन हो गया। निद्रा तो वर्तमान दु:ख के साथ होने वाली अस्थायी सन्धि मात्र है। जाग्रत अवस्था में आने पर पुन: ये सब दु:ख भी लौटकर आ जाते हैं। परन्तु आत्मानुभूति में दुखों की आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति होती है। इसलिये यहां कहा गया है कि अमृतत्त्व अर्थात् मोक्ष की इस

स्थिति को इसी जगत् में, इसी जीवन में और इसी देह में रहते हुए प्राप्त किया जा सकता है।

इस पृथ्वी पर ईश्वरीय पुरुष बनने का अनुभव वास्तव में विरला है। ऐसे मुक्त पुरुष के लक्षण क्या हैं, जिन्हें जानकर हम उसे समझ सकें और अपने में भी उस स्थिति को पाने का प्रयत्न कर सकें ? वह जगत् में किस प्रकार व्यवहार करेगा तथा जगत् के साथ उस ज्ञानी पुरुष का संबंध किस प्रकार का होगा ?

प्रश्न पूछने के लिए एक अवसर पाकर अर्जुन भगवान् से पूछता है :

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

अर्जुन ने कहा—

हे प्रभो ! इन तीनों गुणों से अतीत हुआ पुरुष किन लक्षणों से युक्त होता है ? वह किस प्रकार के आचरण वाला होता है ? और, वह किस उपाय से इन तीनों गुणों से अतीत होता है ॥२१॥

दर्शनशास्त्र के प्रारम्भिक अध्ययन के समय की अपरिहार्य कठिनाई और थकान को दूर करने तथा अध्ययन को और अधिक मनोरंजक बनाने के लिए गीता की रचना संवाद की शैली में की गयी है। यह स्पष्ट है कि पूर्ण ज्ञानी भगवान् श्रीकृष्ण और मोहित पुरुष अर्जुन के इस संवाद में, कवि व्यास जी को तात्विक विवेचन के समय भी मानव स्वभाव का विस्मरण नहीं हुआ है। ज्ञानियों की किसी भी सभा में अर्जुन के प्रश्न बालसुलभ कौतूहल अथवा केवल बुद्धिचातुर्य के समान प्रतीत होंगे। तथापि जिस धैर्य के साथ भगवान् श्रीकृष्ण मध्यम बुद्धि के शिष्य के प्रश्नों का उत्तर देते हैं उससे ज्ञात होता है कि एक ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी पुरुष का यह कर्तव्य है कि उसको संशयी अथवा नास्तिक लोगों के द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर भी विस्तारपूर्वक देने चाहिए।

यदि ज्ञानदान की ऐसी स्वस्थ परम्परा को प्राप्त करने का सौभाग्य हमें मिला है, तथापि किसी कारण से, इसे रहस्य बनाये रखने की एक दुष्टभावना हमारी गौरवमयी संस्कृति की एक स्वस्थ परम्परा को लूटे लिये जा रही है। तत्त्वज्ञान के सिद्धान्तों को विचार मन्थन के द्वारा जब प्रकाश में नहीं लाया जाता, तब वे नष्टप्राय होने लगते हैं। प्रत्येक जिज्ञासु शिष्य को यह स्वतंत्रता है कि सर्वप्रथम तत्त्वज्ञान के सिद्धांतों को भली-भाँति समझने के लिए वह प्रश्न पूछ सके।

उन्हें समझने पर ही उनके महत्त्व को पहचाना जा सकता है। जब तक इस प्रकार की समझ और पहचान नहीं होती तब तक हम उन सिद्धान्तों को अपने दैनिक जीवन में नहीं जी सकते। हिन्दू दर्शन एक "जीवनपद्धति" है, न कि जीवन की ओर देखने का केवल एक दृष्टिकोण। इसलिए आवश्यक है कि इस ज्ञान को हम अपने जीवन में जियें।

यहाँ अर्जुन ने तीन प्रश्न पूछे हैं (१) तीनों गुणों से अतीत हुए पुरुष के लक्षण क्या हैं जिनसे उसकी पहचान हो सकती है? (२) उसका आचरण किस प्रकार का होगा? और (३) किस प्रकार वह ज्ञानी पुरुष त्रिगुणों से अतीत होकर अपने आत्मवैभव को प्राप्त होता है?

इनके उत्तर में भगवान् श्रीकृष्ण सर्वप्रथम त्रिगुणातीत पुरुष के लक्षण बताते हैं:

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥

श्री भगवान् ने कहा :

हे पाण्डव! (ज्ञानी पुरुष) प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह के प्रवृत्त होने पर भी उनका द्वेष नहीं करता तथा निवृत्त होने पर उनकी आकांक्षा नहीं करता है ॥२२॥

जो उपाधियां या वस्तुएं तीन गुणों का कार्य हैं केवल उन पर ही त्रिगुणों का प्रभाव पड़ सकता है, उनसे परे आत्मतत्त्व पर नहीं। अतः आत्मज्ञान होने के पश्चात् भी वे उपाधियां पूर्ववत् व्यवहार करती रहती हैं और उनपर गुणों का प्रभाव भी पड़ सकता है। परन्तु ज्ञानी पुरुष उनसे किसी भी प्रकार से तादात्म्य नहीं करता। समस्त परिस्थितियों में सदैव समत्व भाव में स्थित रहना अनुभवी पुरुष का प्रमुख लक्षण है और यही पूर्णत्व का सार है।

प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह ये क्रमशः सत्व, रज और तमोगुण के कार्य हैं। यहां त्रिगुणों का निर्देश उनके कार्यों के द्वारा किया गया है। सामान्यतः अज्ञानी मनुष्य के मन में जब रजोगुण के कार्य विक्षेप अथवा तमोगुण के कार्य निद्रा, प्रमाद आदि प्रभावशाली होते हैं, तब वह उनका द्वेष करता है और सत्त्वगुण के कार्य ज्ञान, सुख और शान्ति के होने पर वह उनसे प्रीति रखता है। सत्वगुण निवृत्त हो जाय तो वह उसकी इच्छा करके उसके लिये लालायित रहता है। इन सबका

कारण त्रिगुणों के साथ अविद्यामूलक तादात्य है ।

ज्ञानी पुरुष की स्थिति अज्ञानी से सर्वथा भिन्न होती है । वह जानता है कि त्रिगुणों का साक्षी आत्मा उन गुणों तथा उनके कार्यों से सदैव असंग-असंस्पृष्ट रहता है । अत: वह रज और तम के प्रवृत्त होने पर न उनसे द्वेष करता है और न सत्त्वगुण के प्रवृत्त होने की कामना । उसकी सुख-शान्ति इन गुणों की प्रवृत्ति अवथा निवृत्ति पर निर्भर नहीं करती । किसी लखपति धनी व्यक्ति को संयोगवशात् पचीस पैसे मिलने या न मिलने से कोई अन्तर नहीं पड़ता है । ऐसा हो सकता है कि कभी वह नीचे झुककर उस पैसे के सिक्के को उठाले, किन्तु उसे वह, हर्षातिरेक नहीं होगा, जो एक दरिद्र व्यक्ति को समान परिस्थिति में होता होगा ।

इस प्रकार, समस्त उपाधियों के तादात्म्य को त्यागकर आत्मानुभूति में रमा पुरुष ही त्रिगुणातीत या मुक्त कहलाता है । संसार के दुःख उसे कदापि बिचलित नहीं कर सकते ।

अब, उस ज्ञानी पुरुष के आचरण का वर्णन करते हैं :

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ।।२३।।

जो उदासीन के समान आसीन होकर गुणों के द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता और "गुण ही व्यवहार करते हैं" ऐसा जानकर स्थित रहता है और उस स्थिति से विचलित नहीं होता ।।२३।।

भगवान् श्रीकृष्ण तीन श्लोकों में जगत् की वस्तुओं और व्यक्तियों के साथ ज्ञानी पुरुष जो सम्बन्ध रखता है, उसका विस्तृत वर्णन करते हैं । मनुष्य की संस्कृति एक मिथ्या मुखौटा हो सकती है । जब तक पर्याप्त रूप से प्रलोभित करने वाली परिस्थितियां हमारे समक्ष उपस्थित नहीं होती, तब तक हममें से बहुत से लोग ईश्वर के समान व्यवहार कर सकते हैं । मनुष्य के हाथ में जब तक सत्ता नहीं आती, तब तक हो सकता है कि वह क्रूर न हो ; वह जब तक दरिद्री है, तब तक शान्त जीवन व्यतीत करता हो और प्रलोभनों के अभाव में वह भ्रष्टाचार से ऊपर हो । इस प्रकार, अनेक ऐसे सद्गुण जिनसे अनेक व्यक्तियों को हम सम्पन्न समझते हैं, वे सब केवल कृत्रिम सौन्दर्य के ही होते हैं । उनका वास्तविक हीन स्वरूप उस मुखौटे से छिपा रहता है ।

सम्भावित दुष्ट पुरुष ऋण लिए सद्गुणों के कृत्रिम परिधानों को धारण

करके जगत् में विचरण करते रहते हैं। इसलिए, ज्ञानी पुरुष की वास्तविक परीक्षा या पहचान जंगलों या गिरिकन्दराओं में नहीं, वरन् बीच बाजार में हो सकती है, जहाँ वह जगत् की दुष्टताओं से पीड़ित किया जाता है। ईसा मसीह इतने महान् कभी नहीं थे जितने वे सूली पर चढ़ाये जाने के समय हुए! जगत् के द्वारा कुचले जाने पर ही हमारा वास्तविक स्वभाव प्रकट होता है। घर्षण से ही चन्दन की सुगन्ध प्रकट होती है; जिन उँगलियों से हम तुलसी दल को पीसते हैं वह उन्हीं पर अपनी सुगन्ध छोड़ जाता है।

ज्ञानी पुरुष उदासीन के समान आसीन हुआ गुणों के द्वारा विचलित नहीं होता है। जगत् के सभी शुभ, अशुभ और उपेक्ष्य अनुभवों में वह उदासीन के समान रहता है, क्योंकि वह जानता है कि यह सब मन का खेल मात्र है। चित्रपट गृह में दर्शाये जा रहे चलचित्र के सुखान्त अथवा दुःखान्त से हम विचलित नहीं होते, क्योंकि हम जानते हैं कि यह छायाचित्र का खेल हमारे मनोरञ्जन के लिये ही प्रस्तुत किया जा रहा है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि ज्ञानी पुरुष जगत् की घटनाओं से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध ही नहीं रखता है। व्यासजी अत्यन्त सावधानीपूर्वक शब्दों को चुनते हैं। वे कहते हैं कि ज्ञानी पुरुष ऐसा प्रतीत होता है, मानो वह उदासीन हो – "उदासीनवत् आसीनः"। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वह अपने जीवन में तथा बाह्य जगत् में होने वाली घटनाओं से विक्षुब्ध या उत्तेजित नहीं हो जाता।

वह भलीभांति जानता है कि उसके अन्तःकरण में होने वाले ये निरन्तर परिवर्तन केवल गुणों के ही हैं और फिर बाह्य जगत् का अनुभव भी मनःस्थिति के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। सम्यक्दर्शी पुरुष अपने आन्तरिक तथा बाह्य जगत् में होने वाले परिवर्तनों की प्रक्रिया को जानकर उनसे अविचलित रहता है।

इन गुणों की क्रीड़ा देखने के लिए स्वयं साक्षी बनकर रहना होता है। अपने आत्मस्वरूप में स्थित रहकर वह गुणों की अन्तर्बाह्य क्रीड़ा को देखते हुए उसका आनन्द उठाता है। गली में हो रहे लड़ाई-झगड़े को ऊपर छज्जे पर से देखने वाला व्यक्ति उस लड़ाई से प्रभावित नहीं होता है। उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी अपनी समत्व की स्थिति से गुणों के द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता है।

पूर्व श्लोक को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं:

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्य प्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।।२४।।

जो स्वस्थ (स्वरूप में स्थित), सुख-दु:ख में समान रहता है तथा मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण में समदृष्टि रखता है ; ऐसा धीर पुरुष प्रिय और अप्रिय को तथा निन्दा और आत्मस्तुति को तुल्य समझता है ।।२४।।

जीवन की निरन्तर परिवर्तनशील परिस्थितियों में ज्ञानी पुरुष के मन के समत्व और सन्तुलन का वर्णन इस श्लोक में किया गया है। त्रिगुणों की क्रूरताओं से परे आत्मा में ज्ञानी पुरुष स्थित रहता है, जहां सत्वगुण का रोमांचक सुख नहीं है, न रजोगुण का कोलाहल है और न ही तमोगुण की थकान है। वह सच्चिदानन्द स्वरूप है।

सामान्य मनुष्य को समता की यह स्थिति पूर्ण मृत्यु ही प्रतीत होगी। और, नि:सन्देह, यह वास्तविकता भी है ; यह परिच्छिन्न अहंकार की मृत्यु है, जो सांसारिक अनुभवों का भोक्ता है। उपाधियुक्त आत्मा ही जीवरूप में प्रतीत होता है, जो सदैव विक्षुब्ध मन की प्रचण्ड चंचल वृत्तियों पर समुद्री सतह पर बहते हुए काष्ठ खण्ड के समान व्यवहार करता है। प्रेम और घृणा, राग और द्वेष के तूफानों से सदैव विचलित हुआ यह दुखी जीव असंख्य विक्षेपों और दु:खों को भोगता रहता है।

इसलिये, तृष्णा और आसक्ति के इस दुर्व्यवस्थित क्षेत्र से स्वयं को विलग कर स्वस्वरूप में स्थित होना ही मुक्ति है। ज्ञानी पुरुष का जगत् के साथ क्या सम्बन्ध होता है ? यह प्रश्न ऐसा ही है, जैसे – जाग्रत पुरुष का अपने स्वप्नजगत् से क्या सम्बन्ध होता है ? त्रिगुणों के बन्धनों से मुक्त पुरुष जगत् की अनात्म वस्तुओं के साथ के अविद्याजनित 'अहं' और 'मम' भाव को सर्वथा त्याग देता है। उस वास्तविक दैवी जागृति की अवस्था में निम्न स्तर के अनुभव, इस जगत् के सुख और दु:ख, प्रिय और अप्रिय तथा निन्दा और स्तुति का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। समस्त अनुभवों में वह सम, असंग साक्षी बन कर रहता है।

'स्वस्थ:' - अपने सर्व उपाधिविवर्जित सच्चिानन्द स्वरूप में स्थित पुरुष स्वस्थ कहलाता है। अत: उपाधियों के द्वारा अनुभूत जगत् से वह अछूता रहता है।

'समदु:खसुख:' – इन्द्रियों के द्वारा बाह्य जगत् के सम्पर्क में आकर पूर्वकाल में अर्जित किए हुये समान अनुभवों की तुलना में उसका मूल्यांकन करना और तत्पश्चात् उसे सुख या दु:ख के रूप में अनुभव करना, यह हमारे व्यष्टि मन की युक्ति है। यदि बाह्य जगत् की वस्तुओं में ही सुख या दु:ख होता, तो सभी व्यक्तियों का अनुभव एक समान होता ; जैसे सूर्य के प्रकाश का सबका अनुभव एक समान है, क्योंकि प्रकाश सूर्य का धर्म है। परन्तु विषयों के सम्बन्ध में यह बात नहीं देखी जाती। कोई विषय किसी एक व्यक्ति को सुखदायक प्रतीत होता है तो अन्य

व्यक्ति को दु:खदायक। इससे सिद्ध होता है कि हमारे सुख-दु:ख अपने मन की कल्पना मात्र हैं, वस्तुस्थिति नहीं। ज्ञानी पुरुष मन और बुद्धि के उपनेत्रों से जगत् को नहीं देखता ; और, इसलिये, संसारी पुरुषों द्वारा कहे जाने वाले सुख और दु:ख में वह समान रहता है।

'समलोष्टाश्मकाञ्चन:' – वह लोष्ट (मिट्टी), अश्म (पाषाण) और काञ्चन (स्वर्ण) इन सबको समदृष्टि से देखता है। वस्तुओं का परिग्रह करने में संसारी लोगों की अत्यधिक रुचि होती है। लोग स्वर्ण, हीरे, मोती, आदि बहुमूल्य वस्तुओं को एकत्र करना चाहते हैं, किन्तु सामान्य मिट्टी, पाषाण आदि की उपेक्षा करते हैं। परन्तु जिसे परमार्थ वस्तु की उपलब्धि हो गई है, वह ज्ञानी पुरुष मिट्टी, पाषाण, स्वर्ण इन सबको एक समान ही देखता है, क्योंकि पारमार्थिक सत्य की दृष्टि से ये सब मिथ्या वस्तुएँ ही हैं। वस्तुत:, उनमें कोई भी मूल्यवान् नहीं है।

बाल्यावस्था में, छोटे बालक मयूरपंख, शुक्तिका, संगमर्मर के टुकड़े, टूटी चूड़ियां, पुरानी टिकटें आदि वस्तुओं का संग्रह करते हैं और उनके लिए वह एक बहुमूल्य कोष के समान होता है। परन्तु युवावस्था के प्राप्त होने पर उस कोष का कोई महत्व नहीं रह जाता। वे उसे अपने छोटे भाई को दे देते हैं तो वह उस धरोहर को पाकर अत्यन्त प्रसन्न हो जाता है। इसी प्रकार, जीवभाव में स्थित अज्ञानी पुरुष असंख्य वस्तुओं का संग्रह करना चाहता है, जो ज्ञानी की दृष्टि में बच्चों का एक खेल मात्र है।

'तुल्यप्रियाप्रिय:' – यदि हम अनेक व्यक्तियों के साथ के अपने सम्बन्धों पर विचार करें, तो यह ज्ञात होगा कि हमें अपने समस्वभाव का व्यक्ति प्रिय होता है और प्रतिकूल स्वभाव का व्यक्ति अप्रिय। यही बात वस्तुओं और परिस्थितियों के सम्बन्ध में भी सत्य है। यह प्रिय और अप्रिय का अनुभव मन के स्तर पर रहने वाले लोगों के लिए ही है, मन से परे आत्मस्वरूप में स्थित हुए ज्ञानी पुरुष के लिये नहीं। जगत् में सामान्य दृष्टि से कोई-कोई वस्तुओं और घटनाओं को ही प्रिय या अप्रिय समझा जाता है। ज्ञानी पुरुष के लिये वे सब तुल्य हैं, क्योंकि वह सामान्य जनों के मापदण्डों से जगत् की ओर नहीं देखता है।

'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुति:' – स्वप्नावस्था में स्वप्नद्रष्टा पुरुष की कोई निन्दा करते थे और कोई प्रशंसा। जब वह स्वप्न के जाग जाता है, तो क्या वह उस निन्दा और स्तुति को तुल्य नहीं समझेगा ? संसारी लोग अपनी-अपनी बुद्धि और ज्ञान के अनुसार कभी किसी की निन्दा करते हैं, तो कभी स्तुति। सर्वोच्च आत्मज्ञान में निष्ठा प्राप्त पुरुष को दोनों का ही कोई महत्व नहीं होता।

उपर्युक्त अनुभवों के चार सुन्दर उदाहरणों के द्वारा व्यासजी ने जीवन के

कुछ प्रमुख अनुभव दर्शाये हैं, जिनमें सामान्य मनुष्य सुख और दुःख का अनुभव करता है।

आगे कहते हैं–

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भ परित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।।२५।।

जो मान और अपमान में सम है; शत्रु और मित्र के पक्ष में भी सम है, ऐसा सर्वारम्भ परित्यागी पुरुष गुणातीत कहा जाता है ।।२५।।

पूर्वोक्त श्लोकों में चित्रित किये गये त्रिगुणातीत पुरुष के सामान्य चित्र को यहाँ और अधिक स्पष्ट किया गया है, जिससे हम उसका समीप से सूक्ष्म अवलोकन कर सकें।

मान और अपमान में सम रहना ज्ञानी पुरुष का एक लक्षण है। अपने दिव्य स्वरूप में दृढ़ निष्ठा प्राप्त किया हुआ पुरुष जीवन से भयभीत नहीं होता, क्योंकि उसका जगत् की ओर देखने का दृष्टिकोण अज्ञानियों से सर्वथा भिन्न होता है। जीवन का अहंकार केन्द्रित मूल्यांकन हमें मान और अपमान को क्रमशः उपादेय (स्वीकार्य) और हेय (त्याज्य) मानने को बाध्य करता है।

लौकिक जीवन में भी हम देखते हैं कि देश के लिए प्राणोत्सर्ग करने वाले पुरुष ऐसी स्थिति की कामना करते हैं जिसे अन्य लोग अपमानजनक समझते हैं। परन्तु समाज के मान और अपमान की ओर ध्यान दिए बिना ऐसे लोग पूर्ण उत्साह के साथ अपनी पीढ़ी से प्रेम और उसकी सेवा करते हैं। आपेक्षिक सिद्धान्त की खोज के दिन आर्कमिडिज को विवस्त्र स्थिति में सड़क पर 'यूरेका', 'यूरेका' चिल्लाते हुए दौड़ने में अपमान का अनुभव नहीं हुआ, परन्तु किसी अन्य दिन यह बात नहीं होती ! मान और अपमान ये बुद्धि के निर्णय हैं, जो स्थान-स्थान पर और समय-समय पर बदलते रहते हैं। जो पुरुष अहंकार के स्तर से ऊंचा उठ गया है, उसे दोनों ही समान हैं, कांटों के मुकुट का उतना ही स्वागत है, जितना गुलाब के फूलों के मुकुट का !!

'शत्रु और मित्र के पक्षों में सम'–जैसे हम अपने शरीर के किसी अंग को शत्रु और किसी अंग को मित्र नहीं मानते, वैसे ही आत्मैकत्व ज्ञान प्राप्त पुरुष भी किसी से मित्रता या शत्रुता नहीं रखता। तथापि अन्य लोग उससे अवश्य ही मित्र या शत्रु भाव रख सकते हैं, किन्तु वह दोनों के ही प्रति समान भाव से रहता है। आत्मानुभव की दृष्टि से ज्ञानी पुरुष जानता है "वे सब मैं ही हूं"।

'सर्वारम्भ परित्यागी'–आरंभ का अर्थ है कर्म। इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि त्रिगुणातीत पुरुष क्रियाशून्य हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि उसे अपने कर्मों में न कर्तृत्व का अभिमान होता है और न स्वार्थ का। आरम्भ शब्द में वे सब कर्म समाविष्ट हैं, जो अनेक वस्तुओं के अर्जन और संग्रह करने तथा उन पर अपना स्वामित्व स्थापित करने के लिए अहंकार और स्वार्थ से प्रेरित होते हैं। अज्ञानी जीव के लिए ये कर्म स्वाभाविक हैं। अहंकार रहित आत्मज्ञानी पुरुष ईश्वर से अनुप्राणित होकर ईश्वरीय पुरुष के रूप में इस जगत् में सब के कल्यार्थ कार्य करता है।

उपर्युक्त लक्षणों से पुरुष गुणातीत कहा जाता है। इन श्लोकों में अर्जुन के द्वितीय प्रश्न का उत्तर दिया गया है।

श्री शंकराचार्य अपने भाष्य में लिखते हैं कि मोक्ष प्राप्ति के इच्छुक साधक को इन गुणों को साधन के रूप में अपनाना चाहिए। एक बार ज्ञान में निष्ठा प्राप्त कर लेने पर ये गुण उसके स्वाभाविक लक्षण बन जायेंगे, जो स्वसंवेद्य होते हैं। गुणातीत पुरुष के ये मुख्य लक्षण हैं।

अर्जुन का तीसरा प्रश्न यह था, "किस प्रकार वह तीनों गुणों से अतीत होता है?" इसका उत्तर देते हुए भगवान कहते हैं–

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।२६।।

जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोग के द्वारा मेरी सेवा अर्थात् उपासना करता है, वह इन तीनों गुणों के अतीत होकर ब्रह्म बनने के लिए योग्य हो जाता है ।।२६।।

धर्म का व्यावहारिक शास्त्रीय ग्रंथ होने के कारण गीता में केवल सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया गया है। इसमें प्रत्येक सिद्धान्त के विवेचन के पश्चात् उस साधन का वर्णन किया गया है, जिसके अभ्यास से एक साधक सिद्धावस्था को प्राप्त हो सकता है।

'जो अव्यभिचारी भक्तियोग से मेरी सेवा करता है'–ईश्वर से परम प्रीति भक्ति कहलाती है। प्रिय वस्तु में हमारा मन सहजता से रमता है। हमारा सम्पूर्ण स्वभाव हमारे विचारों से पोषित होता है। यथा विचार तथा मन, यह नियम है। इसलिए एकाग्र चित्त से आत्मा के अनन्तस्वरूप का चिन्तन करने से परिच्छिन्न नश्वर अहंकार की समाप्ति और स्वस्वरूप में स्थिति हो जाती है।

यह सत्य है कि परमात्मा का अखण्ड चिन्तन एक समान निष्ठा एवं प्रखरता

के साथ संभव नहीं होता है। जिस स्थिति में आज हम अपने को पाते हैं, उसमें यह सामर्थ्य नहीं है कि हम मन को दीर्घकाल तक ध्यानाभ्यास में स्थिर कर सकें। साधकों की इस अक्षमता को जानते हुए भगवान् एक उपाय बताते हैं, जिसके द्वारा हम दीर्घकाल तक ईश्वर का स्मरण बनाए रख सकते हैं। और वह उपाय है–सेवा। तृतीय अध्याय में यह वर्णन किया जा चुका है कि ईश्वरार्पण की भावना से किए गए सेवा कर्म ईश्वर की पूजा (यज्ञ) बन जाते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि केवल मूर्तिपूजा, या भजन ही पर्याप्त नहीं है। गीताचार्य की अपने भक्तों से यह अपेक्षा है कि वे अपने धर्म को केवल पूजा के कमरे या मन्दिरों में ही सीमित न रखें। उन्हें चाहिए कि वे अपने दैनिक जीवन, कार्य क्षेत्र और लोगों के साथ व्यवहार में भी धर्म का अनुसरण करें।

अखण्ड ईश्वर स्मरण तथा सेवा–साधना मन के विक्षेपों को दूर करके उसे ध्यान की सूक्ष्मतर साधना के योग्य बना देती है। तमस और रजस की मात्रा घटती जाती है और उसी अनुपात में सत्व गुण प्रवृद्ध होता जाता है। ऐसा सत्व गुण प्रधान साधक ध्यान की साधना के योग्य बन जाता है। ऐसे साधक से आत्मानुभूति दूर नहीं रहती।

उत्तम अधिकारी ब्रह्मस्वरूप का अनुभव कर स्वयं ब्रह्म बन जाता है। जैसे स्वप्नदृष्टा जागने पर स्वयं ही जाग्रत पुरुष बनता है।

यह साधक स्वयं ब्रह्म कैसे बनता है ? सुनो–

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।।२७।।

क्योंकि मैं अमृत, अव्यय ब्रह्म, शाश्वत धर्म और ऐकान्तिक अर्थात् पारमार्थिक सुख की प्रतिष्ठा हूं ।।२७।।

भक्तियोग तथा उसके परम लक्ष्य का वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा था, "तत्पश्चात्, निःसन्देह, तुम मुझ में ही निवास करोगे।"[1] ईश्वर के प्रति अपने प्रेम से प्रेरणा पाकर भक्त अपने भिन्न व्यक्तित्व को विस्मृत कर अपने ध्येय परमात्मा के साथ लीन हो जाता है। पूर्व के श्लोक में भगवान् ने कहा था कि अव्यभिचारी भक्तियोग से उनकी सेवा करने वाला साधक अनात्म उपाधियों के साथ के अपने तादात्म्य से शनैः शनैः मुक्त हो जाता है। जिस मात्रा में अहंकार समाप्त होता है, उसी मात्रा में आत्मा की दिव्यता अभिव्यक्त होती है। जैसे-जैसे

---

१. गीता अ १२–८

निद्रा का आवेश बढ़ता जाता है वैसे-वैसे मनुष्य जाग्रत अवस्था से दूर होता हुआ निद्रा की शान्त स्थिति में लीन होता जाता है। अनुभव के एक स्तर को त्यागने का अर्थ ही दूसरे अनुभव में प्रवेश करना है।

'मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूं'-जो चैतन्य साधक के हृदय में आत्मभाव से स्थित है, वही सर्वत्र समान रूप से व्याप्त "अमृत, अव्यय, नित्य, आनन्दस्वरूप" तत्त्व ब्रह्म है। आत्मा की पहचान ही विश्वाधिष्ठान अनन्त ब्रह्म की अनुभूति है। घट उपाधि की दृष्टि से उससे अवच्छिन्न आकाश (घटाकाश) बाह्य सर्वव्यापी आकाश से भिन्न प्रतीत होता है, परन्तु उपाधि के अभाव में वह घटाकाश ही महाकाश बन जाता है। इसी प्रकार एक देह की उपाधि से चैतन्य तत्त्व को आत्मा कहते हैं, किन्तु वस्तुत: वही अनन्त ब्रह्म है। यह ब्रह्म अमृत और अव्यय, नित्य और आनन्द-स्वरूप है।

श्री शंकराचार्य अपने अत्यन्त युक्तियुक्त एवं विश्लेषणात्मक भाष्य में इस श्लोक की व्याख्या में चार पर्यायों की ओर संकेत करते हैं। ये अर्थ परस्पर भिन्न नहीं, वरन् प्रत्येक अर्थ इस श्लोक के दार्शनिक पक्ष को अधिकाधिक उजागर करता है। वे कहते हैं-"प्रतिष्ठा का अर्थ है 'जिसमें वस्तु की स्थिति होती है,'"[1] क्योंकि अमृत और अव्यय ब्रह्म की प्रतिष्ठा मैं हूं, अत: मैं प्रत्यगात्मा हूं। यह प्रत्यागात्मा ही परमात्मा अर्थात् भूत मात्र की आत्मा है, ऐसा सम्यक् ज्ञान से निश्चित किया गया है।"

"जिस शक्ति से ब्रह्म अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये प्रवृत होता है, वह शक्ति ब्रह्म ही है, जो मैं हूं। यहाँ शक्ति शब्द से शक्तिमान् ईश्वर लक्षित है।" इसका अभिप्राय यह है कि निर्गुण ब्रह्म ही माया शक्ति के द्वारा ईश्वर के रूप में भक्तों पर अनुग्रह करता है।

अथवा, "ब्रह्म शब्द से सगुण, सोपाधिक ब्रह्म कहा गया है, जिसकी प्रतिष्ठा निरुपाधिक ब्रह्म मैं ही हूं।" जैसा कि पहले कहा गया है, इन अर्थों में परस्पर भेद नहीं है। हमारी बुद्धि की सीमित क्षमता के द्वारा सोपाधिक ब्रह्म को ही समझा जा सकता है तथा वाणी के द्वारा प्रकृति से भिन्न रूप में उसका वर्णन किया जा सकता है।

प्रकृति और सोपाधिक ब्रह्म की प्रतिष्ठा निरुपाधिक चैतन्य ब्रह्म है, जो

१. प्रत्येक वस्तु की स्थिति अपने स्वस्वरूप में ही होती है। ब्रह्म भी अपने स्व-स्वरूप की महिमा में ही प्रतिष्ठित रहता है। वह स्वरूप यहाँ प्रत्यगात्मा कहा गया है।

इन दोनों को ही प्रकाशित करता है। अतः वस्तुतः "निर्विकल्प, अमृत, अव्यय, अनिर्वचनीय आनन्दस्वरूप ब्रह्म मैं हूं।" अब यह स्पष्ट हो जाता है कि साधन सपन्न उत्तम अधिकारी भगवान् श्रीकृष्ण के कथनानुसार "मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है", और "मैं ब्रह्म हूं", इसलिये वह साधक ब्रह्म ही बन जाता है।

अगले अध्याय में ब्रह्म के विषय में और अधिक विस्तृत निरूपण किया गया है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ।।

इस प्रकार, श्रीकृष्णार्जुन संवाद के रूप में ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र स्वरूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् का गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवां अध्याय समाप्त होता है।

ॐ

पञ्चदश अध्याय

पुरुषोत्तमयोग

वेदान्त का मूलभूत सिद्धान्त यह है कि ब्रह्म ही एकमेव अद्वितीय, पारमार्थिक सत्यवस्तु है जिस पर यह सम्पूर्ण नित्य परिवर्तनशील जगत् 'अध्यस्त' है, तथा हमारे समस्त साँसारिक दु:खों का कारण इस सत्य का अज्ञान और तज्जनित विक्षेप है। जैसा कि हमने देखा है सम्पूर्ण गीता में क्रमबद्ध और युक्तियुक्त पद्धति से इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इस अन्तिम षडाध्यायी का प्रतिपाद्य विषय भी यही है। त्रयोदश अध्याय में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का सुन्दर एवं बोधगम्य विवेचन किया गया था। वहाँ दर्शाया गया था कि क्षेत्र की उपाधि से विवर्जित आत्मा ही नित्य शुद्ध परमात्मा है।

प्रस्तुत अध्याय में गीताचार्य भगवान् श्रीकृष्ण आत्मस्वरूप के सभी आयामों का विवेचन करते हैं। ज्ञात वस्तु के द्वारा ही अज्ञात का बोध कराया जा सकता है। विषय, भावनाओं तथा विचारों का व्यक्त जगत् हमें ज्ञात है। "कारण के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता", और समस्त कार्य अपने उपादान कारण के द्वारा धारण किए जाते हैं, जैसे कपास के द्वारा सभी वस्त्र। युक्तिसंगत तथ्य के आधार पर भगवान् पार्थ सारथि हमारे मन को इस ज्ञात जगत् से ऊपर उठाकर अज्ञात ज्ञेय वस्तु में स्थिर करने का प्रयत्न करते हैं।

इस नित्य परिवर्तनशील नश्वर (क्षर) जगत् की दृष्टि या तुलना में आत्मा को नित्य और अक्षर कहा गया है। तत्पश्चात् भगवान् कहते हैं कि इन क्षर और अक्षर तत्वों से भिन्न निरुपाधिक ब्रह्म पुरुषोत्तम कहलाता है, जो सब का अधिष्ठान है।

इस अध्याय के अन्त में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि उन्होंने उसे "गुह्यतम शास्त्र" का उपदेश दिया है, और "जो पुरुष संमोह रहित होकर मुझ पुरुषोत्तम को जानता है वह सर्वज्ञ होकर पूर्ण हृदय से मेरी भक्ति करता है।" सारांश में यह कहा जा सकता है कि विश्व के आध्यात्मिक साहित्य में यह एक विरला और अनुपम अध्याय है, जिसमें पुरुषोत्तम ब्रह्म का इतना स्पष्ट निर्देश

किया गया है। गीता के अन्य अध्यायों में भी यह अतुलनीय है। भारत में, प्राचीन समय से भोजन के पूर्व प्रार्थना के रूप में इस अध्याय का पाठ करने की प्रथा है।

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।।१।।

श्री भगवान् ने कहा :

(ज्ञानी पुरुष इस संसार वृक्ष को) ऊर्ध्वमूल और अधःशाखा वाला अश्वत्थ और अव्यय कहते हैं; जिसके पर्ण छन्द अर्थात् वेद हैं, ऐसे (संसार वृक्ष) को जो जानता है, वह वेदवित् है ।।१।।

यह श्लोक हमें कठोपनिषद् में वर्णित अश्वत्थ वृक्ष का स्मरण कराता है। वहाँ संसार वृक्ष का केवल निर्देश किया गया है, किन्तु यहाँ महर्षि व्यास पूर्ण रूप से उसका चित्रण करते हैं। अनित्य संसार का नित्य परमात्मा के साथ जो संबंध है उसको भी इस वर्णन में दर्शाया गया है। यदि परमात्मा एकमेव अद्वितीय सत्य है, तो उससे यह परिच्छिन्न जड़ जगत् कैसे उत्पन्न हुआ? उत्पन्न होने के पश्चात् कौन इसका धारण-पोषण करता है? सृष्टिकर्ता अनन्त ईश्वर और सृष्ट सान्त जगत् के मध्य वस्तुतः क्या संबंध है? जीवन के विषय में गंभीरता से विचार करना प्रारंभ करते ही मन में इस प्रकार के प्रश्न उठने लगते हैं।

इस अध्याय में विवेचित अध्यात्म का सम्पूर्ण सिद्धान्त पीपल वृक्ष के सुन्दर रूपक के माध्यम से इस अध्याय के प्रथम तीन श्लोकों में वर्णित है।

वनस्पति शास्त्र में अश्वत्थ वृक्ष का नाम 'फाइकस रिलिजिओसा'' है जो लोक में पीपल वृक्ष के नाम से प्रसिद्ध है। यह ध्यान रहे कि अश्वत्थ वृक्ष से वटवृक्ष नहीं सूचित किया गया है। शंकराचार्य जी के अनुसार संसार को अश्वत्थ नाम व्युत्पत्ति के आधार पर दिया गया है। अश्वत्थ का अर्थ इस प्रकार है 'श्व' का अर्थ आगामी 'कल' है, 'त्थ' का अर्थ है 'स्थित रहने वाला', अतः अश्वत्थ का अर्थ है "वह जो कल अर्थात् अगले क्षण पूर्ववत् स्थित नहीं रहने वाला है"। तात्पर्य यह हुआ कि अश्वत्थ शब्द से इस सम्पूर्ण अनित्य और परिवर्तनशील दृश्यमान जगत् की ओर इंगित किया गया है।

इस श्लोक में कहा गया है कि इस अश्वत्थ का मूल ऊर्ध्व में अर्थात् ऊपर है। इसका यदि केवल वाच्यार्थ ही ग्रहण करें, तो ऐसा प्रतीत होगा कि किसी

अशिक्षित चित्रकार ने इस संसार वृक्ष को चित्रित किया है। यह चित्र आध्यात्मिक दृष्टि से असंगत, धार्मिक दृष्टि से हानिकर और सौन्दर्य की दृष्टि से कुरूप लग सकता है। परन्तु ऐसा विचार इस धर्मशास्त्रीय चित्र के महान् गौरव का अपमान है।

शंकराचार्यजी ने ही उपनिषद् के भाष्य में यह लिखा है कि संसार को वृक्ष कहने का कारण यह है कि "उसको काटा जा सकता है"-व्रश्चनात् वृक्षः। वैराग्य के द्वारा हम अपने उन समस्त दुःखों को समाप्त कर सकते हैं जो इस संसार में हमें अनुभव होते हैं। जो संसार-वृक्ष परमात्मा से अंकुरित होकर व्यक्त हुआ प्रतीत होता है, उसे हम अपना ध्यान परमात्मा में केन्द्रित करके काट सकते हैं।

इतिहास के विद्यार्थियों को अनेक राजवंशों की परम्पराओं का स्मरण रखना होता है। उसमें जो परम्परा दर्शायी जाती है, वह इस ऊर्ध्वमूल वृक्ष के समान ही होती है। एक मूल पुरुष से ही उस वंश का विस्तार होता है। इसी प्रकार, इस संसार वृक्ष का मूल 'ऊर्ध्व' कहा है, जो सच्चिदानन्द ब्रह्म है। वृक्ष को आधार तथा पोषण अपने मूल से ही प्राप्त होता है; इसी प्रकार "भोक्ता जीव" और "भोग्य जगत्" दोनों अपना आधार और पोषण शुद्ध अनन्तस्वरूप ब्रह्म से ही प्राप्त करते हैं।

तथापि अनेक लोगों की जिज्ञासा 'ऊर्ध्व' शब्द के उपयोग को जानने की होती है।'ऊर्ध्व' शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में किया गया है, जैसे लोक में हम "उच्च वर्ग", "उच्च अधिकारी", "उच्च आभूषण" आदि का प्रयोग करते हैं। उच्च शब्द से तात्पर्य रेखागणितीय उच्चता से नहीं है वरन् श्रेष्ठ, आदर्श अथवा मूल्य से है। भावनाओं की दृष्टि से भी स्वभावतः मनुष्य सूक्ष्म और दिव्य तत्त्व को उच्चस्थान प्रदान करता है और स्थूल व आसुरी तत्त्व को अधः स्थान। देशकाल और कारण के परे होने से भी परमात्मा को यहाँ 'ऊर्ध्व' कहा गया है। वह जड़ प्रकृति को चेतनता प्रदान करने वाला स्वयंप्रकाश स्वरूप तत्त्व है। स्वाभाविक है कि यहाँ रूपक की भाषा में यह दर्शाया गया है कि यह संसार वृक्ष ऊर्ध्वमूल वाला है।

इस परिवर्तनशील जगत् (अश्वस्थ) को 'अव्यय' अर्थात् अविनाशी माना गया है। परन्तु केवल आपेक्षिक दृष्टि से ही उसे अव्यय कहा गया है। किसी ग्राम में स्थित पीपल का वृक्ष अनेक पीढ़ियों को देखता है, जो उसकी छाया में खेलती और बड़ी होती हैं। इस प्रकार, एक मनुष्य की औसत आयु की अपेक्षा वह वृक्ष अव्यय या नित्य कहा जा सकता है। इसी प्रकार इन अनेक पीढ़ियों की तुलना में जो विकसित होती हैं, कल्पनाएं और योजनाएं बनाती हैं, प्रयत्न करके लक्ष्य प्राप्त कर नष्ट हो जाती हैं; यह जगत् अव्यय कहा जा सकता है।

छन्द अर्थात् वेद इस वृक्ष के पर्ण हैं। वेद का अर्थ है ज्ञान। ज्ञान की वृद्धि से मनुष्य के जीवन में अवश्य ही गति आ जाती है। आधुनिक जगत् की भौतिक उन्नति, विज्ञान की प्रगति, औद्योगिक क्षेत्र की उपलब्धि और अतिमानवीय स्फूर्ति की तुलना में प्राचीन पीढ़ी को जीवित भी नहीं कहा जा सकता। ज्ञान की वृद्धि से भावी लक्ष्य और अधिक स्पष्ट दिखायी देता है, जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य उसे पाने के लिये और अधिक प्रयत्नशील हो जाता है। वेद अर्थात् ज्ञान की तुलना वृक्ष के पर्णों के साथ करना अनुपयुक्त नहीं है। वृक्ष के पर्ण वे स्थान है, जहां से जल वाष्प बनकर उड़ जाता है, जिससे वृक्ष की जड़ों में एक दबाव उत्पन्न होता है इस दबाव के कारण जड़ों को पृथ्वी से अधिक जल और पोषक तत्त्व एकत्र करने में सुविधा होती है। अत: यदि वृक्ष के पत्तों को काट दिया जाये, तो वृक्ष का विकास तत्काल अवरुद्ध हो जायेगा। पत्तों की संख्या जितनी अधिक होगी वृक्ष का परिणाम और विकास भी उतना ही अधिक होगा। जहाँ ज्ञान की अधिकता होती है वहाँ व्यक्त जीवन की चमक भी अधिक दिखाई देती है।

जो पुरुष न केवल अश्वत्थ वृक्ष को ही जानता है, वरन् उसके पारमार्थिक सत्यस्वरूप ऊर्ध्वमूल को भी पहचानता है, वही पुरुष वास्तव में वेदवित् अर्थात् वेदार्थवित् है। उसका वेदाध्ययन का प्रयोजन सिद्ध हो गया है। वेदों का प्रयोजन सम्पूर्ण विश्व के आदि स्रोत एकमेव अद्वितीय परमात्मा का बोध कराना है। सत्य का पूर्णज्ञान न केवल शुद्धज्ञान (भौतिक विज्ञान) से और न केवल भक्ति से ही प्राप्त हो सकता है। यह गीता का निष्कर्ष है। जब हम इहलोक और परलोक, सान्त और अनन्त, सृष्ट और सृष्टिकर्ता इन सब को तत्त्वतः जानते हैं, तभी हमारा ज्ञान पूर्ण कहलाता है। ज्ञान की अन्य शाखाएँ कितनी ही दर्शनीय क्यों न हों, वे सम्पूर्ण सत्य के किसी पक्ष विशेष को ही दर्शाती हैं। वेदों के अनुसार पूर्ण ज्ञानी पुरुष वह है, जो इस नश्वर संसारवृक्ष तथा इसके अनश्वर ऊर्ध्वमूल (परमात्मा) को भी जानता है। भगवान् श्रीकृष्ण उसे यहाँ 'वेदवित्' कहते हैं।

संसार वृक्ष के अन्य अवयवों का रूपकीय वर्णन अगले श्लोक में किया गया है :

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

उस वृक्ष की शाखाएँ गुणों से प्रवृद्ध हुईं नीचे और ऊपर फैली हुई हैं; (पंच) विषय इसके अंकुर हैं; मनुष्य लोक में कर्मों का अनुसरण करने वाली इसकी अन्य जड़ें नीचे फैली हुई हैं ॥२॥

संसार वृक्ष का और विस्तृत चित्रांकन इस श्लोक में किया गया है। गूढ़ अभिप्राय वाले प्रतीकों का अर्थ शब्दश: नहीं लेना चाहिए। फिर वे प्रतीक साहित्य के हों अथवा कला के। वेदों की शैली ही लक्षणात्मक है। दर्शनशास्त्र के सूक्ष्म सिद्धान्तों को व्यक्त करने के लिए जगत् की किसी उपयुक्त वस्तु का वर्णन ऐसी काव्यात्मक शैली में करना, जिससे धर्म के गूढ सन्देश या अभिप्राय का बोध कराया जा सके, लक्षणात्मक शैली कही जाती है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस वृक्ष की शाखाएँ ऊपर और नीचे फैली हुई हैं। इनसे तात्पर्य देवता, मनुष्य, पशु इत्यादि योनियों से है। मनुष्य के व्यक्तिगत तथा जगत् के विकास की दिशा कभी उन्नति की ओर होती है, किन्तु प्रायः यह पशुजीवन के निम्न स्तर की ओर रहती है। अधः और ऊर्ध्व इन दो शब्दों से इन्हीं दो दिशाओं अथवा प्रवृत्तियों का निर्देश किया गया है।

'गुणों से प्रवृद्ध हुई' –जीवों की ऊर्ध्व या अधोगामी प्रवृत्तियों का धारण-पोषण प्रकृति के सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणों के द्वारा किया जाता है। इन गुणों का विस्तृत विवेचन पूर्व अध्याय में किया जा चुका है।

किसी भी वृक्ष की शाखाओं पर हम अंकुर या कोपलें देख सकते हैं जहां से अवसर पाकर नई-नई शाखाएं फूटकर निकलती हैं। प्रस्तुत रूपक में इन्द्रियों के शब्दस्पर्शादि विषयों को 'प्रवाल' अर्थात् अंकुर कहा गया है। यह सुविदित तथ्य है कि विषयों की उपस्थिति में हम अपने उच्च आदर्शों को विस्मृत कर विषयाभिमुख हो जाते हैं। तत्पश्चात् उन भोगों की पूर्ति के लिए उन्मत्त होकर नये-नये कर्म करते हैं। अत: विषयों को प्रवाल कहना समीचीन है।

इस श्लोक में भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं कि इस वृक्ष की गौण जड़ें नीचे फैली हुई हैं। परमात्मा तो इस संसार वृक्ष का अधिष्ठान होने से इसका मुख्य मूल है; किन्तु इसकी अन्य जड़ें भी हैं, जो इस वृक्ष का अस्तित्व बनाये रखती हैं। मनुष्य देह में यह जीव असंख्य प्रकार के कर्म और कर्मफल का भोग करता है, जिसके फलस्वरूप उसके मन में नये संस्कार या वासनाएं अंकित होती जाती हैं। ये वासनाएं ही अन्य जड़ें हैं, जो मनुष्य को अपनी अभिव्यक्ति के लिये कर्मों में प्रेरित करती रहती हैं। शुभ और अशुभ कर्मों का कारण भी ये वासनाएं ही हैं। जैसा कि लोक में हम देखते हैं, वृक्ष की ये अन्य जड़ें ऊपर से नीचे पृथ्वी में प्रवेश कर वृक्ष को दृढ़ता से स्थित कर देती हैं, वैसे ही ये संस्कार शुभाशुभ कर्म और

कर्मफल को उत्पन्न कर मनुष्य को इस लोक के राग और द्वेष, लाभ और हानि, आय और व्यय आदि प्रवृत्तियों के साथ बांध देते हैं।

अगले दो श्लोकों में इसका वर्णन किया गया है कि किस प्रकार हम इस संसारवृक्ष को काटकर इसके ऊर्ध्वमूल परमात्मा का अपने आत्मस्वरूप से अनुभव कर सकते हैं :

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलम्
असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा ।।३।।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।।४।।

इस (संसार वृक्ष) का स्वरूप जैसा कहा गया है वैसा यहां उपलब्ध नहीं होता है, क्योंकि इसका न आदि है और न अन्त और न प्रतिष्ठा ही है। इस अति दृढ़ मूल वाले अश्वत्थ वृक्ष को दृढ असङ्ग शस्त्र से काटकर..... ।।३।।

(तदुपरान्त) उस पद का अन्वेषण करना चाहिए जिसको प्राप्त हुए पुरुष पुनः संसार में नहीं लौटते हैं। "मैं उस आदि पुरुष की शरण हूँ, जिससे यह पुरातन प्रवृत्ति प्रसृत हुई है" ।।४।।

कहीं ऐसा न हो कि कोई विद्यार्थी इस रूपक के वास्तविक अभिप्राय को न समझ कर उसे कोई लौकिक वृक्ष ही समझ लें, गीताचार्य भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि "जैसा वर्णन किया गया है, वैसा वृक्ष यहाँ उपलब्ध नहीं होता है। पूर्व श्लोक में वर्णित अश्वत्थ वृक्ष इस व्यक्त हुए सम्पूर्ण जगत् का प्रतीक है। सूक्ष्म चैतन्य आत्मा विविध रूपों और विभिन्न स्तरों पर विविधतः व्यक्त होता है; जैसे– शरीर, मन और बुद्धि में क्रमशः विषय, भावनाओं और विचारों के प्रकाशक के रूप में और कारण शरीर में वह अज्ञान को प्रकाशित करता है। आत्मअज्ञान या वासनाओं को ही कारण शरीर कहते हैं। ये समस्त उपाधियां तथा उनके अनुभव अपनी सम्पूर्णता में अश्वत्थवृक्ष के द्वारा निर्देशित किये गये हैं। अतः यह कोई

परिच्छिन्न वृक्ष न होने के कारण कोई इसे एक दृष्टिक्षेप से देखकर समझ नहीं सकता है।

कोई भी पुरुष इस संसार वृक्ष का "आदि या अन्त या प्रतिष्ठा" नहीं देख सकता। यह वृक्ष परम सत्य के अज्ञान से उत्पन्न होता है। जब तक वासनाओं का प्रभाव बना रहता है तब तक इसका अस्तित्व भी रहता है, किन्तु आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान से यह समूल नष्ट हो जाता है। बहुसंख्यक लोगों द्वारा इन आध्यात्मिक आशयों को न देखा जाता है और न पहचाना या समझा ही जाता है।

इस संसारवृक्ष को काटने का एकमात्र शस्त्र है – असंग अर्थात् वैराग्य। भौतिक जगत् जड़ अचेतन है। इसके द्वारा जो अनुभव प्राप्त किया जाता है, वह चैतन्य के सम्बन्ध के कारण ही संभव होता है। जबतक कार के चक्रों का सम्बन्ध मशीन से बना रहता है तब तक उनमें गति रहती है। यदि प्रवाहित होने वाली शक्ति को रोक दिया जाये, तो वे चक्र स्वत: ही गतिशून्य स्थिति में आ जायेंगे। इसी प्रकार यदि हम अपना ध्यान शरीर, मन और बुद्धि से निवृत्त करें, तो तादात्म्य के अभाव में विषय, भावनाओं तथा विचारों का ग्रहण स्वत: अवरुद्ध हो जायेगा। तादात्म्य की निवृत्ति को ही 'वैराग्य' कहते हैं। यहां उसे असंग शस्त्र कहा गया है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं कि उसको इस असंगशस्त्र के द्वारा संसारवृक्ष को काटना चाहिये।

हमारी वर्तमान स्थिति की दृष्टि से उपर्युक्त अवस्था का अर्थ है – शून्य, जहां न कोई विषय हैं और न भावनाएँ हैं और न कोई विचार ही है। अत: हम ऐसे उपदेश को सहसा स्वीकार नहीं करेंगे। भगवान् हमारी मनोदशा को समझते हुए उसी क्रम में कहते हैं, "तत्पश्चात् उस पद का अन्वेषण करना चाहिये, जिसे प्राप्त हुए पुरुष पुन: लौटते नहीं हैं।"

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन का निष्कर्ष यह निकलता है कि निदिध्यासन के अभ्यास के शान्त क्षणों में[1] साधक को अपना ध्यान जगत् एवं उपाधियों से निवृत्त कर उस ऊर्ध्वमूल परमात्मा के चिन्तन में लगाना चाहिये, जहां से इस संसार की पुरातन प्रवृत्ति प्रसृत हुई है।

यदि इस उपदेश को केवल यहीं तक छोड़ दिया गया होता, तो अधिक से अधिक वह एक सुन्दर काव्यात्मक कल्पना ही बन कर रह जाता। आध्यात्मिक मूल्यों को अपने व्यावहारिक जीवन में जीने की कला सिखाने वाली निर्देशिका के रूप में, गीता को यह भी बताना आवश्यक था कि किस प्रकार एक साधक इस

---

१. देखिए गीता अ० ६–२५, और स्वामीजी की पुस्तक "ध्यान और जीवन।"

उपदेश का पालन कर सकता है। इनका एक व्यावहारिक उपाय है, प्रार्थना। जिसका निर्देश इस श्लोक के अन्त में इन शब्दों में किया है, "मैं उस आदि पुरुष की शरण हूँ, जहां से यह पुरातन प्रवृत्ति प्रसृत हुई है।"

यह श्लोक दर्शाता है कि जब हमारी बहिर्मुखी प्रवृत्ति बहुत कुछ मात्रा में क्षीण हो जाती है, तब हमें अपनी बुद्धि को सजगतापूर्वक संसार के आदिस्रोत सच्चिदानन्द परमातमा में भक्ति और समर्पण के भाव के साथ समाहित करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस आदि पुरुष का स्वरूप तथा उसके अनुभव के उपाय को बताना इस अध्याय का विषय है।

किन गुणों से सम्पन्न साधक उस पद को प्राप्त होते हैं ? सुनो :

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ।।५।।

जिनका मान और मोह निवृत्त हो गया है, जिन्होंने संगदोष को जीत लिया है, जो अध्यात्म में स्थित हैं, जिनकी कामनायें निवृत्त हो चुकी हैं और जो सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त हो गये हैं, ऐसे सम्मोह रहित ज्ञानीजन उस अव्यय पद को प्राप्त होते हैं ।।५।।

भारत में दर्शनशास्त्र आचार के लिए है, प्रचारमात्र के लिये नहीं। इस ज्ञान की पूर्णता साक्षात् अनुभव करने में है। यही कारण है कि हमारे धर्मशास्त्रों तथा अध्यात्म के प्रकरण ग्रन्थों में जीवन के लक्ष्य का तथा उसकी प्राप्ति के उपायों का अत्यन्त विस्तृत विवेचन मिलता है। किसी भी लक्ष्य को पाने के लिये कुछ आवश्यक योग्यताएँ होती हैं, जिनके बिना मनुष्य उस लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता है। अतः आत्मज्ञान भी कुछ विशिष्ट गुणों से सम्पन्न अधिकारी को ही पूर्णतः प्राप्त हो सकता है। उन गुणों का निर्देश इस श्लोक में किया गया है। उत्साही और साहसी साधकों को इन गुणों का सम्पादन करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण आश्वासन देते हैं कि साधन सम्पन्न साधकों को अव्यय पद की प्राप्ति अवश्य होगी। वही कृतकृत्यता है और वही परम पुरुषार्थ है।

'जो मान और मोह से रहित है' – मान का अर्थ है स्वयं को पूजनीय व्यक्ति मानना। अपने महत्व का त्रुटिपूर्ण मूल्यांकन मान अथवा गर्व कहलाता है। ऐसा

मानी व्यक्ति अपने ऊपर मान को बनाये रखने का अनावश्यक भार या उत्तरदायित्व ले लेता है। तत्पश्चात् उसके पास कभी समय ही नहीं होता कि वह वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर सके और अपने अवगुणों का त्याग कर सुसंस्कृत बन सके इसी प्रकार 'मोह' का अर्थ है अविवेक। बाह्य जगत् की वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं इत्यादि को यथार्थत: न समझ पाना मोह है। इसके कारण हम वास्तविक जीवन की तात्कालिक समस्याओं का सामना करने के स्थान पर अपने ही काल्पनिक जगत् में विचरण करते रहते हैं। अत: आत्मज्ञान के जिज्ञासुओं को इन अवगुणों का सर्वथा त्याग करना चाहिये।

'जिन्होंने सङ्ग दोष को जीत लिया है' – देह के साथ तादात्म्य कर केवल इन्द्रियों के विषयोपभोग में ही रमने का अर्थ, स्वयं को जीवन की श्रेष्ठतर सम्भावनाओं से वंचित रखकर अपनी ही प्रवंचना करना है। ऐसा मूढ़ व्यक्ति अत्यन्त विषयासक्त होता है। यह आसक्ति जितनी अधिक होगी उतनी ही अधिक अनियंत्रित उसकी विषयाभिमुख प्रवृत्ति भी होगी। वह विषयों का दास बनकर उनके परिवर्तनों और नाश की लय पर नृत्य करता हुआ अपनी शक्तियों का अपव्यय करता रहता है। फिर उसे आत्मानुभव की प्राप्ति कैसे हो सकती है? इसलिये जिन्होंने इस संग नामक दोष को जीत लिया है, वे ही पुरुष मोक्ष के अधिकारी होते हैं।

'अध्यात्मनित्या:'–मन का स्वभाव है किसी न किसी वस्तु में आसक्त रहना। अत: मन को बाह्य जगत् से विरत करने के लिए उसे श्रेष्ठ और दिव्य आत्मस्वरूप में स्थित करने का प्रयत्न करना चाहिये। मनुष्य का मन विधेयात्मक उपदेश का पालन कर सकता है, परन्तु शून्यावस्था में नहीं रह सकता। सरल शब्दों में, तात्पर्य यह है कि उसे "कुछ करने को" कहा जा सकता है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि "कुछ मत करो"। उदाहरणार्थ, यदि किसी व्यक्ति से कहा जाये कि प्रात:काल जागने के साथ उसे अण्डे का स्मरण 'नहीं' करना चाहिये, तो दूसरे दिन सर्वप्रथम उसे अण्डे का ही स्मरण होगा। परन्तु, इसके स्थान पर उसे भगवान् नारायण का स्मरण करने को कहा जाये, तो अण्डे का स्मरण होने के लिये अवसर ही नहीं रह जाता। इसी प्रकार विषयासक्ति को जीतने के लिए सतत आत्मानुसंधान करते रहना चाहिये।

'जिनकी कामनायें पूर्णत: निवृत्त हो चुकी हैं' – जब तक बाह्य जगत् के सम्बन्ध में यह धारणा बनी रहेगी कि "वह सत्य है" और "उसमें सुख है", तब तक कामनाओं का त्याग होना सम्भव ही नहीं है। अत: हमें विचारपूर्वक जगत् के मिथ्यात्व का निश्चय करना चाहिये और यह भी जानना चाहिये कि सुख तो आत्मा का स्वरूप है, विषयों का धर्म नहीं। ऐसे दृढ़ निश्चय से कामनायें निवृत्त हो सकती

हैं। इच्छाओं के अभाव में मन स्वत: शान्त हो जाता है।

'जो पुरुष सुख-दु:ख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त हो गये हैं' – मनुष्य कभी भी जगत् का वस्तुनिष्ठ दर्शन नहीं करता है। वह जगत् की वस्तुओं को प्रिय और अप्रिय इन दो भागों में विभाजित कर देता है। इस द्वन्द्व से उत्पन्न होती है प्रिय की ओर प्रवृत्ति और अप्रिय से निवृत्ति। तत्पश्चात्, यदि प्रिय की प्राप्ति हो तो सुख, अन्यथा दु:ख होता है। दुर्भाग्य से मनुष्य के राग और द्वेष भी सदैव परिवर्तित होते रहते हैं। इस कारण कल जिस वस्तु को वह सुख का सावन समझता था, आज उसी वस्तु को वह दु:खदायी समझता है। इस प्रकार, मन की तरंगों में जो व्यक्ति फँसा रहता है, वह इन द्वन्द्वों से कभी मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए साधक को अपने व्यक्तिगत राग और द्वेष को सर्वथा समाप्त कर देना चाहिये।

इस श्लोक के अन्त में भगवान् श्रीकृष्ण की यह निश्चयात्मक और आशावादी घोषणा है कि ऐसे सम्मोहरहित योग्य अधिकारी साधक अव्यय पद को प्राप्त होते हैं। इस घोषणा की शैली में एक आदेश की दृढ़ता है। उपाधियों से अविच्छिन्न आत्मा यह संसारी दुर्भाग्यशाली मनुष्य है और उपाधिविवर्जित मनुष्य ही सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा है। यही अपरोक्षानुभूति है।

उस अव्यय पद की ही विशेषता अगले श्लोक में वर्णित है।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

उसे न सूर्य प्रकाशित कर सकता है और न चन्द्रमा और न अग्नि। जिसे प्राप्त कर मनुष्य पुन: (संसार को) नहीं लौटते हैं, वह मेरा परम धाम है ॥६॥

आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य है "संसार में अपुनरावृत्ति"। इसे विशेष बल देकर पूर्व के श्लोकों में प्रतिपादित किया गया था और इस श्लोक में पुन: उसे दोहराया जा रहा है। धर्मशास्त्र के सभी ग्रन्थों में किसी विशेष सिद्धान्त पर बल देने के लिए पुनरुक्ति का ही प्रयोग किया जाता है। नि:सन्देह इस उपाय का सर्वत्र उपयोग नहीं किया जाता है। तर्क की परिसीमा में आने वाले प्रमेयों की सिद्धि केवल तर्कों के द्वारा ही की जा सकती है। परन्तु आत्मज्ञान का क्षेत्र इन्द्रिय अगोचर होने से प्रारम्भ में केवल आचार्य का ही वहां प्रवेश होता है, शिष्यों का नहीं। अत: अज्ञात अनन्तस्वरूप के अनुभव के सम्बन्ध में शिष्यों को विश्वास कराने का एकमात्र उपाय पुनरुक्ति ही है, जिसका उपयोग ऋषियों ने अपने उपदेशों में किया है।

सम्पूर्ण गीता में इस गौरवमयी पूर्णत्व की स्थिति को साधकों की परा गति के रूप में इंगित किया गया है । यद्यपि यह स्थिति मन और वाणी के परे हैं, तथापि उसे इंगित करने का यहां समुचित प्रयत्न किया गया है ।

सूर्य, चन्द्र और अग्नि उसे प्रकाशित नहीं कर सकते हैं । यहां प्रकाश के उन स्रोतों का उज्लेख किया गया है जिनके प्रकाश में हमारे चर्मचक्षु दृश्य वस्तु को देख पाते हैं । वस्तु को देखने का अर्थ उसे जानना है ; और किसी वस्तु को देखने के लिए वस्तु का नेत्रों के समक्ष होना तथा उसका प्रकाशित होना भी आवश्यक है । प्रकाश के माध्यम में ही नेत्र रूप और रंग को देख सकते हैं । इसी प्रकार, हम अन्य इन्द्रियों के द्वारा शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध को, तथा मन और बुद्धि के द्वारा क्रमशः भावनाओं और विचारों को भी जानते हैं । जिस 'प्रकाश' से हमें इन सबका भान होकर बोध होता है, वह चैतन्य का प्रकाश है ।

यह चैतन्य का प्रकाश भौतिक जगत् के प्रकाश के स्रोतों-सूर्य, चन्द्र और अग्नि-के द्वारा प्रकाशित नहीं किया जा सकता है । वस्तुत: ये सभी प्रकाश के स्रोत चैतन्य के 'दृश्य विषय'' हैं । यह नियम है कि दृश्य अपने द्रष्टा को प्रकाशित नहीं कर सकता तथा कभी भी और किसी भी स्थान पर द्रष्टा और दृश्य एक नहीं हो सकते । जिस चैतन्य के द्वारा हम अपने जीवन के सुखदु:खादि अनुभवों को जानते हैं वह चैतन्य ही सनातन आत्मा है और इसे ही भगवान् अपना 'परम धाम' कहते हैं । यही जीवन का परम लक्ष्य है ।

'वह मेरा परम धाम है'–यहां धाम शब्द से तात्पर्य स्वरूप से है, न कि किसी स्थान विशेष से । पूर्व श्लोक में वर्णित गुणों से सम्पन्न साधक ध्यानाभ्यास के द्वारा मन और बुद्धि के विक्षेपों से परे परमात्मा के धाम में पहुंचकर सत्य से साक्षात्कार का समय निश्चित कर अनन्तस्वरूप ब्रह्म से 'भेंट' कर सकता है ।

हम सब लोग उपयोगितावादी हैं । अत: हम पहले ही यह जानना चाहते हैं कि क्या सत्य का अनुभव इतने अधिक परिश्रम के योग्य है ? क्या उसे प्राप्त कर लेने के पश्चात् पुन: इस दु:खपूर्ण संसार में लौटने की आशंका या संभावना नहीं है ? यह भय निर्मूल है । भगवान् श्रीकृष्ण पुन: तीसरी बार हमें आश्वासन देते हैं, ''मेरा परम धाम वह है जहां पहुंचने पर साधक पुन: लौटता नहीं है ।''

यह सर्वविदित तथ्य है कि ज्ञान की किसी शाखाविशेष में प्रवीणता प्राप्त कर लेने के पश्चात् उस प्रवीण पुरुष द्वारा अपने ज्ञान में त्रुटि करना प्राय: असंभव हो जाता है । किसी महान् संगीतज्ञ का जानबूझ कर राग और ताल में त्रुटि करना उतना ही कठिन है, जितना कि एक नवशिक्षित गायक का सुस्वर में गायन । कोई

भाषाविद् पुरुष अपने संभाषण में व्याकरण की त्रुटियां नहीं कर सकता। यदि लौकिक जगत् के अपूर्ण ज्ञान के क्षेत्र में भी एक सुसंस्कृत, शिक्षित, और कलाकार पुरुष पुन: असभ्य और अशिक्षित पुरुष के स्तर तक नहीं गिरता है, तो एक पूर्ण ज्ञानी पुरुष का पुन: अज्ञानजनित भ्रान्तियों को लौटना कितना असंभव होगा !

विश्व के आध्यात्मिक साहित्य का यह एक अत्यन्त विरल श्लोक है, जिसमें इतनी सरल शैली में निरुपाधिक, शुद्ध परमात्मा का इतना स्पष्ट निर्देश किया गया है।

हिन्दू धर्म में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार, जीव एक देह का त्याग करने के पश्चात् अपने कर्मों के अनुसार पुन: नवीन देह धारण करता है। ये शरीर देवता, मनुष्य, पशु आदि के हो सकते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि एक देह को त्यागने पर जीव का मोक्ष न होकर वह पुन: संसार को ही प्राप्त होता है। परन्तु, इस श्लोक में तो कहा गया है, "जहां पहुंच कर जीव पुन: लौटता नहीं, वह मेरा परम धाम है।" अत: यहां इन दोनों सिद्धान्तों में विरोध प्रतीत होता है।

इस विरोध का परिहार करने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण अगले श्लोकों में जीव के स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं :

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।।७।।

इस जीवलोक में मेरा ही एक सनातन अंश जीव बना है। वह प्रकृति में स्थित हुआ (देहत्याग के समय) पांचों इन्द्रियों तथा मन को अपनी ओर खींच लेता है अर्थात् उन्हें एकत्रित कर लेता है ।।७।।

अनन्तवस्तु अवयव रहित होने के कारण अखण्ड और अविभाज्य है। तथापि उपाधियों के संबंध से उसमें खण्ड और विभाग होने का आभास निर्माण हो सकता है। जिस प्रकार सर्वगत आकाश का कोई आकार नहीं है, तथापि घट उपाधि से अवच्छिन्न होकर बना 'घटाकाश' बाह्य 'महाकाश' से भिन्न प्रतीत होता है। इसी प्रकार देहेन्द्रियादि उपाधियों से अवच्छिन्न (मर्यादित, सीमित) आत्मा जीव के रूप में आत्मा से भिन्न प्रतीत होता है। अथवा, जैसे आकाश में स्थित चन्द्रमा एक पात्र में स्थित जल में प्रतिबिम्बित होता है और वह प्रतिबिम्ब जल की स्थिति के अनुसार स्थिर या विच्छिन्न होता रहता है; किन्तु प्रतिबिम्ब के छिन्नभिन्न होने का प्रभाव आकाशस्थ चन्द्रमा पर नहीं पड़ता। इसी प्रकार,

मन-बुद्धि रूप सूक्ष्म शरीर में व्यक्त चैतन्य जीव कहलाता है। अन्तःकरण की वृत्तियों के अनुसार यह जीव स्वयं को सुखी-दुःखी, संसारी अनुभव करता है, किन्तु उसका शुद्ध चैतन्य स्वरूप सदा अविकारी ही रहता है, जो 'सनातन' कहा गया है।

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि आत्मा को प्राप्त हुआ जीवत्व अज्ञान के कारण है। अतः वह जीवत्व आभासिक है, वास्तविक नहीं; जैसे आकाश का एकदेशीयत्व और चन्द्रमा का प्रतिबिम्बत्व। अज्ञान का नाश हो जाने पर जीव स्वतः आत्मस्वरूप बन जाता है। तत्पश्चात् ज्ञान की उपस्थिति में अज्ञान पुनः नहीं लौटता, तब जीव का संसार में पुनरागमन होने का कारण ही नहीं रह जाता है। इसलिए, पूर्व श्लोक में कहा गया था कि भगवान् के परम धाम को प्राप्त हुये जीव पुनः संसार को नहीं लौटते हैं। इसका पुनर्जन्म के सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं है, क्योंकि जब तक अज्ञान बना रहता है, तब तक जीव का भी अस्तित्व बने रहने के कारण उसका पुनर्जन्म सिद्ध हो सकता है।

इस श्लोक की दूसरी पंक्ति का संबंध अगले श्लोक से है। इसमें देहत्याग के समय जीव का कार्य बताया गया है।

यह स्थूल शरीर जड़ है और इसमें चैतन्य को व्यक्त करने की सामर्थ्य नहीं है। ज्ञानेन्द्रियां और अन्तःकरण (मन और बुद्धि) सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं। यद्यपि यह सूक्ष्म शरीर भी जड़ है, किन्तु इसमें चैतन्य व्यक्त हो सकता है। यह चेतन सूक्ष्म शरीर ही जीव है, जो किसी देह को धारण कर उसे चेतनता प्रदान करता है। यह जीव प्रकृतिस्थ इन्द्रियां तथा मन अर्थात् अन्तःकरण को एकत्र कर लेता है। यहां प्रकृति का अर्थ है स्थूल शरीर में स्थित नेत्र, श्रोत्र आदि इन्द्रिय गोलक। यही कारण है कि मृत देह में ये गोलक तो रह जाते हैं, परन्तु उनमें विषय ग्रहण की कोई सामर्थ्य नहीं होती।

किस समय यह जीव इन इन्द्रियादि को अपने में समेट लेता है?—भगवान् कहते हैं:

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

जब (देहादि का) ईश्वर (जीव) (एक शरीर से) उत्क्रमण करता है, तब इन (इन्द्रियों और मन) को ग्रहण कर अन्य शरीर में इस प्रकार ले जाता है, जैसे गन्ध के आश्रय (फूलादि) से गन्ध को वायु ले जाता है ॥८॥

देहेन्द्रियादि का ईश्वर अर्थात् स्वामी है जीव। जब तक वह किसी एक देह में रहता है, तब तक सूक्ष्म शरीर (इन्द्रियाँ और अन्तःकरण) को धारण किये रहता है और असंख्य प्रकार के कर्म करता है। अपनी वासनाओं के अनुसार वह कर्म करता है और फिर कर्मों के नियमानुसार विविध फलों को भोगने के लिये उसे अन्यान्य शरीर ग्रहण करने पड़ते हैं। तब एक शरीर का त्याग करते समय वह सूक्ष्म शरीर को समेट लेता है और अन्य शरीर में जा कर पुनः उसके द्वारा पूर्ववत् व्यवहार करता है।

सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर से सदा के लिए वियोग स्थूल शरीर की मृत्यु है। मृत देह का आकार पूर्ववत दिखाई देता है, किन्तु विषय ग्रहण, अनुभव तथा विचार करने की क्षमता उसमें नहीं होती, क्योंकि ये समस्त कार्य सूक्ष्म शरीर के होते हैं। जीव की उपस्थिति से ही देह को एक व्यक्ति के रूप में स्थान प्राप्त होता है।

जिस प्रकार प्रवाहित हुआ वायु पुष्प, चन्दन, इत्र आदि सुगन्धित वस्तुओं की सुगन्ध को एक स्थान से अन्य स्थान पर बहाकर ले जाता है, उसी प्रकार जीव समस्त इन्द्रियादि को लेकर जाता है। वायु और सुगन्ध दृष्टिगोचर नहीं होते, उसी प्रकार देह को त्यागते हुये सूक्ष्म जीव को भी नेत्रों से नहीं देखा जा सकता है। जीव की समस्त वासनाएं भी उसी के साथ ही रहती हैं।

इस श्लोक में जीव को देहादि संघात का ईश्वर कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि उसी की उपस्थिति में विषय ग्रहण, विचार आदि का व्यवहार सुचारु रूप से चलता रहता है। वह इन उपाधियों का शासक और नियामक है। जिस प्रकार, किसी शासकीय अधिकारी का स्थानान्तर होने पर वह अपने घर की समस्त वस्तुओं को सन्दूकों में रखकर अपने नये स्थान पर पहुंचता है। तत्पश्चात्, वहां पुनः अपने सामान को खोल कर नये गृह को सजाता है। ठीक इसी प्रकार जीवात्मा भी एक स्थूल शरीर को त्यागते समय समस्त इन्द्रियादि को एकत्रित कर शरीर को त्याग देता है, और फिर नवीन शरीर को धारण कर पुनः सूक्ष्म शरीर के द्वारा समस्त व्यवहार करने लगता है। वेदान्त में शरीर को 'भोगायतन' कहते हैं। उपर्युक्त श्लोक वस्तुतः उपनिषदों के सिद्धान्तों का ही सारांश है।

वे इन्द्रियाँ कौन सी हैं? सुनो–

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

(यह जीव) श्रोत्र, चक्षु, स्पर्शेन्द्रिय, रसना और घ्राण (नाक) इन इन्द्रियों तथा मन को आश्रय करके अर्थात् इनके द्वारा विषयों का सेवन करता है ।।९।।

शुद्ध चैतन्य स्वरूप स्वत: किसी वस्तु को प्रकाशित नहीं करता है, क्योंकि उसमें विषयों का सर्वथा अभाव रहता है। परन्तु यही चैतन्य बुद्धि में परावर्तित होकर वस्तुओं को प्रकाशित करता है। यही बुद्धि का प्रकाश कहलाता है, जो इन्द्रियों के माध्यम से वस्तुओं को प्रकाशित करता है। मन सभी इन्द्रियों के साथ युक्त होता है, जिसके कारण बाह्य वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान संभव होता है। बुद्धि उपाधि से युक्त चैतन्य ही विषयों का भोक्ता जीव है।

यदि यह चैतन्य आत्मा सर्वत्र विद्यमान है और हमारा स्वरूप ही है, जिसके द्वारा हम सम्पूर्ण जगत् का अनुभव कर रहे हैं, तो क्या कारण है कि हम उसे पहचानते नहीं हैं ? इसका कारण अज्ञान है। भगवान् कहते हैं :

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।।१०।।

शरीर को त्यागते हुए, उसमें स्थित हुये अथवा (विषयों को) भोगते हुये, गुणों से समन्वित आत्मा को विमूढ़ लोग नहीं देखते हैं; (परन्तु) ज्ञानचक्षु वाले पुरुष उसे देखते हैं ।।१०।।

यह एक सर्वत्र अनुभव सत्य है कि सामान्य बुद्धि का पुरुष यद्यपि वस्तु को देखता है, तथापि उसे पूर्ण तथा यथार्थ रूप से समझ नहीं पाता है। वस्तु का वास्तविक ज्ञान केवल उस विषय के ज्ञानियों को ही उपलब्ध होता हैं।

प्रत्येक व्यक्ति किसी साहित्यिक रचना को पढ़ सकता है, परन्तु एक भाषाविद् पुरुष ही उस रचनाकार की दृष्टि को यथार्थत: समझ कर उसका पूर्ण आनन्द अनुभव कर सकता है।

एक जौहरी ही मणियों के गुणस्तर और वास्तविक मूल्य को आंक सकता है। अन्य लोग केवल देख ही सकते हैं।

सभी लोग संगीत सुन सकते हैं, किन्तु एक कुशल संगीतज्ञ ही किसी सर्वोत्कृष्ट गायन की शास्त्रीय सूक्ष्मता एवं सुन्दरता का आनन्द उठा सकता है।

इसी प्रकार, इसी चैतन्य आत्मा की उपस्थिति से ही हम विषय, भावनाओं और विचारों का अनुभव करते हैं, परन्तु केवल "आत्मज्ञानी" पुरुष ही इसे पहचानते हैं और स्वयं आत्मस्वरूप बनकर जीते हैं।

आत्मा तो नित्य विद्यमान है। उसका अभाव कभी नहीं होता। देहत्याग के समय सूक्ष्म शरीर को चेतनता प्रदान करने वाला आत्मा ही होता है। एक देहविशेष के जीवन काल में आत्मा ही समस्त अनुभवों को प्रकाशित करता है। सुखदु:खात्मक मानसिक अनुभवों तथा बुद्धि के निर्णयों का प्रकाशक भी आत्मा ही है। इसी प्रकार क्षण-क्षण परिवर्तनशील हमारे मन के सात्विक (शांति), राजसिक (विक्षेप) और तामसिक (मोहादि) भावों का ज्ञान भी चैतन्य के कारण ही संभव होता है फिर भी अविवेकी जन उसे पहचानते नहीं हैं।

सामान्य जन अपने अनुभवों तथा उनके विषयों के प्रति ही इतने अधिक आसक्त और व्यस्त हो जाते हैं कि उनका सम्पूर्ण ध्यान बाह्य विषयों और संरचनाओं की सुन्दरता में ही आकृष्ट रहता है। वे उस आत्मा की उपेक्षा करते हैं तथा उसे पहचान नहीं पाते, जिसकी उपस्थिति से ही कोई अनुभव संभव हो सकता है।

इनके सर्वथा विपरीत वे ज्ञानीजन हैं, जो नाम और रूपों के विस्तार से विरक्त होकर इस विस्तार के सार तत्त्व उस ब्रह्म को देखते हैं, जो उनके हृदय में आत्मरूप से स्थित सभी को प्रकाशित करता है। इस आत्मतत्त्व का दर्शन वे 'ज्ञानचक्षु' से करते हैं। ज्ञानचक्षु कोई अन्तरिन्द्रिय नहीं है। विवेक वैराग्यादि गुणों से सम्पन्न साधक जब वेदान्त प्रमाण के द्वारा आत्मविचार करता है, तब उस विचार से प्राप्त आत्मबोध ही 'ज्ञानचक्षु' है। श्री शंकराचार्य ने इस 'ज्ञानचक्षु' का और अधिक कलात्मक वर्णन अपने 'आत्मबोध' नामक ग्रन्थ में किया है।

आत्मदर्शन करने में अज्ञानी की विफलता और ज्ञानी की सफलता का कारण अगले श्लोक में वर्णन करते हैं :

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

योगीजन प्रयत्न करते हुये ही अपने हृदय में स्थित आत्मा को देखते हैं, जब कि अशुद्ध अन्त:करण वाले (अकृतात्मान:) और अविवेकी (अचेतस:) लोग यत्न करते हुये भी इसे नहीं देखते हैं ॥११॥

जो साधक चित्त को एकाग्र करने तथा बुद्धि को कामनादि की निवृत्ति के द्वारा शुद्ध करने में सफल हो जाते हैं, केवल वे ही लोग आत्मा के वैभव को जान पाते हैं और उसके अनन्तत्व का अनुभव भी करते हैं। परन्तु यह भी सत्य है कि कि जो केवल यन्त्रवत् अत्यधिक साधना ही करते रहते हैं, यह आवश्यक नहीं कि

उन्ह सफलता प्राप्त ही हो जाये। अनेक ऐसे साधक हैं, जिन्हें इस बात का दु:ख होता है कि वर्षों की उनकी नियमित साधना के होते हुये भी उनकी इच्छित प्रगति नहीं हुई है। इसका क्या कारण हो सकता है ?

इस विवादास्पद प्रश्न का अत्यन्त युक्तियुक्त उत्तर देते हुये भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं ' यद्यपि वे यत्न करते हैं, किन्तु अशुद्ध अन्त:करण वाले अविवेकी लोग आत्मा को नहीं देखते हैं।" ध्यान के फल की प्राप्ति के लिये दो आवश्यक गुण हैं–(क) 'चित्तशुद्धि'–अर्थात् अहंकार और स्वार्थ जनित विक्षेपों का अभाव; तथा, (ख) वेदान्त प्रमाण के द्वारा "आत्मानात्मविवेक", जिसके द्वारा अज्ञान आवरण नष्ट हो जाता है। इन दोनों के अभाव में आत्मज्ञान होना सर्वथा असंभव है। अत: साधकों को कर्मयोग और भक्तियोग के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त कर आत्मविचार करना चाहिये।

अब तक के विवेचन में आत्मा को इंगित करते हुये कहा गया था कि, (१) उसे भौतिक प्रकाश के स्रोतों–सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि–के द्वारा प्रकाशित नहीं किया जा सकता; (२) जिसे प्राप्त होने पर संसार में पुनरावृत्ति नहीं होती; और, (३) समस्त जीव मानो उसके अंश हैं।

इसके पश्चात्, अगले चार श्लोकों में परमात्मा के स्वरूप तथा उसकी व्यापकता का वर्णन किया गया है कि वह–(क) सर्वप्रकाशक चैतन्य का प्रकाश है, (ख) सर्वपोषक जीवन तत्त्व है, (ग) समस्त जीवित प्राणियों के शरीर में जीवन की उष्णता है और (घ) सभी के हृदय में वह आत्मरूप से स्थित है।

भगवान् कहते हैं :

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ।।१२।।

जो तेज सूर्य में स्थित होकर सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा में और अग्नि में है, उस तेज को तुम मेरा ही जानो ।।१२।।

आधुनिक विज्ञान के निष्कर्षों से परिचित हम लोग प्रस्तुत श्लोक के अर्थ को पढ़ कर विचलित होते हैं और उसे स्वीकार नहीं कर पाते हैं। परन्तु पूर्वाग्रहों को त्याग कर धैर्यपूर्वक यदि हम चिन्तन करें, तो हमें ज्ञात होगा कि हमारा भ्रम केवल अपनी बुद्धि की सीमितता के कारण ही है। हम सदैव भौतिक वस्तुओं का ही बौद्धिक अध्ययन करते हैं, इसलिए आध्यात्मिक विषयों को समझने में हमें कठिनाई होती है विज्ञान की प्रारम्भिक कक्षाओं में ही हमें यह बताया जाता है कि

पृथ्वी सूर्य से विलग हुआ एक भाग है, जो ग्रहों के परस्पर आकर्षणों के द्वारा इस स्थिति में धारण किया हुआ है। यह पृथ्वी शनैः शनैः शीतल होती हुई वर्तमान तापमान को पहुंची है। परन्तु, यदि हम विज्ञान के उस अध्यापक से पूछें कि सूर्य की उत्पत्ति कैसे हुई, तो वह न केवल विचलित हो जाता है, वरन् उसे कुछ क्रोध भी आ जाता है, जो क्षम्य है! जहाँ इन्द्रियगोचर तथ्यों को एकत्र करके सिद्ध किया जा सकता है, भौतिक विज्ञान की गति केवल उसी परिसीमा में हो सकती है।

परन्तु, दर्शनशास्त्र का प्रयोजन जगत् के आदिस्रोत के संबंध में मानव की बुद्धि की जिज्ञासा को शान्त करना है, हो सकता है कि उसके इस प्रयत्न के लिये आवश्यक वैज्ञानिक तथ्य प्रयोगशाला में उपलब्ध न हों केवल अपनी बुद्धि से ही विचार करने की एक निश्चित सीमा होती है, जहां पहुंचकर बुद्धि और उसके निरीक्षण, उसके अनुमान और निष्कर्ष, उसके तर्क और निश्चित किये गये मत, इन सबका थक कर शान्त हो जाना अवश्यंभावी होता है। और फिर भी उसकी जिज्ञासा पूर्णत: शान्त नहीं होती है, क्योंकि सत्यान्वेषक बुद्धि प्रश्न पूछती ही रहती है–क्यों? कैसे? क्या? परन्तु, वहाँ विज्ञान मौन रह जाता है। जहाँ विज्ञान का प्रयोजन पूर्ण हो जाता है, और जहां से आगे के पथ को वह प्रकाशित नहीं कर पाता है, वहां से परम सन्तोष की ओर दर्शनशास्त्र की तीर्थ यात्रा प्रारम्भ होती है।

यहां भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि सूर्य में स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है, वह वस्तुत: "मुझ चैतन्य स्वरूप" का ही प्रकाश है। इसी प्रकार, चन्द्रमा और अग्नि के माध्यम से व्यक्त होने वाला प्रकाश भी "मेरी" ही विविध प्रकार की अभिव्यक्ति है।

अभिव्यक्ति की विविधता विद्यमान उपाधियों की विभिन्नता के कारण होती है। एक ही विद्युत शक्ति बल्ब, पंखा आदि उपकरणों से विभिन्न रूप में व्यक्त होती है। इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र और अग्नि के प्रकाश का अन्तर इन तीनों उपाधियों के कारण है, न कि इनके द्वारा व्यक्त हो रहे चैतन्य में। परमात्मा स्वयं को विविध रूप में व्यक्त करता है, जिससे ऐसा अनुकूल वातावरण बन सके कि जगत् की स्थिति बनी रहे और वह स्वयं विविधता की अपनी क्रीड़ा कर सके!

आगे कहते हैं:

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके अपने ओज से भूतमात्र को धारण करता; और रसस्वरूप चन्द्रमा बनकर समस्त ओषधियों का अर्थात् वनस्पतियों का पोषण करता हूं ।।१३।।

निःसन्देह कृत्रिम उर्वरकों के आविष्कार के बहुत पूर्व से ही पृथ्वी का दीर्घ इतिहास रहा है। संभवतः अतीत के कुछ युगों में वर्तमान समय से भी अधिक जनसंख्या इस पृथ्वी पर रही होगी। इस पर भी, पृथ्वी ने जीवन को धारण कर रखा है। इस लोक के प्राणियों के धारण-पोषण करने की पृथ्वी की क्षमता, उष्णता, खनिज द्रव्य आदि सभी भगवान् के ओजस्वरूप हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जो चैतन्य सूर्य की उपाधि में प्रकाश तथा उष्णता के रूप में व्यक्त होता है, वही चैतन्य पृथ्वी में उसकी 'उर्वरा शक्ति" और "जीवन को धारण करने वाली गुप्त पौष्टिकता" के रूप में व्यक्त होता है।

'रसस्वरूप चन्द्रमा बनकर मैं ओषधियों का पोषण करता हूं'– वही एक चेतन तत्त्व चन्द्रमा के माध्यम से चन्द्रप्रकाश के रूप में व्यक्त होकर वनस्पतियों को पौष्टिक तत्त्वों से भर देता है। यदि इस कथन को पूर्व की पीढ़ी ने अस्वीकार किया होगा, तो आज की वैज्ञानिक शिक्षा को पाये हुए विद्यार्थी गण इस कथन को चुनौती देने का साहस नहीं करेंगे। आधुनिक कृषि विज्ञान यह सिद्ध करता है कि ग्रहमण्डलों का, और विशेष रूप से चन्द्रमा का, कृषि की अनुमानित उपज से एक अटूट संबंध है ! आधुनिक प्रयोगों से प्राप्त विवरणानुसार जहां टमाटर के बीजों को पूर्णिमा के दिन बोया गया और पुनः पूर्णिमा के दिन ही तोड़ा गया, तो वहां अनुसंधानकर्ताओं ने पाया कि टमाटर की उपज सामान्य की अपेक्षा अधिक हुई थी।

यह एक सुविदित और सर्वत्र स्वीकृत तथ्य है कि बीजों के लिए सुरक्षित रखे गये धान को न केवल सूर्य के ताप में सुखाया जाता है, वरन् उसे चन्द्रमा के प्रकाश में भी रखा जाता है। प्राकृतिक तथा आयुर्वेदिक चिकित्सक भी कुछ औषधियों को किसी मिश्रित अवधि तक चन्द्रमा के प्रकाश में रखते हैं, और उनका वह कथन है कि इससे उन औषधियों में रोगोपचार की क्षमता आ जाती है।

इस श्लोक में इन सभी तथ्यों को इंगित मात्र किया गया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण का कथन अवैज्ञानिक नहीं है।

भौतिक जगत् के सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि ये ऊर्जा के स्रोत वस्तुतः अनन्तस्वरूप परमात्मा ही हैं। सूर्य में यह प्रकाश है और चन्द्रमा में वह रसस्वरूप पोषक तत्त्व है। वही चैतन्य पृथ्वी में प्रवेश कर समस्त प्राणियों का धारण-पोषण करने वाला बन जाता है।

और :

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

मैं ही समस्त प्राणियों के देह में स्थित वैश्वानर अग्निरूप होकर प्राण और अपान से युक्त चार प्रकार के अन्न को पचाता हूं ॥१४॥

'वैश्वानर' - वही चैतन्यस्वरूप परमात्मा समस्त जीवित प्राणियों के शरीरों में जीवन की उष्णता के रूप में व्यक्त होता है। इस उष्णता के अभाव में देह मृत हो जाता है। अन्न से जीवन द्रव्य बनाने की प्रक्रिया से शरीर में उष्णता उत्पन्न होती है और शरीर के अन्तरवयव स्वतः अपना कार्य करते रहते हैं। जब तक जीवनी शक्ति शरीर में प्रवाहित होती रहती है, तब तक इन शारीरिक प्रक्रियाओं का व्यक्ति को न भान होता है और न उसे उनके लिये कोई सजग प्रयत्न ही करना पड़ता है।

'प्राणियों की देह में स्थित जठराग्नि भी जो अन्न को पचाती है' –परमात्मा की ही एक अभिव्यक्ति है, जिसे यहां 'वैश्वानर' कहा गया है।

'मैं चतुर्विध अन्न को पचाता हूं' – एक स्वस्थ प्राणी की पाचनशक्ति सभी प्रकार के अन्न को पचा सकती है। यहां अन्न का चतुर्विध वर्गीकरण उसके भक्षण के प्रकार पर आधारित है। प्रथम है –भक्ष्य, अर्थात् जिसे दांतों से चबांकर खाना पड़ता है, जैसे रोटी आदि; (२) भोज्य अथवा पेय- जिसे निगला जाता है, जैसे दूध आदि; (३) चोष्य–जिसे चूसना पड़ता है, जैसे-आम, गन्ना आदि; और (४) लेह्य – जिसे चाटना पड़ता है, जैसे-मधु, चटनी आदि। इस चतुर्विध अन्न में समस्त प्रकार के सामिष और निरामिष, पक्व और अपक्व आहारों का समावेश हो जाता है। मुख के द्वारा भक्षण किये गये समस्त प्रकार के अन्न का पाचन तथा शरीर के लिए आवश्यक उसके रूपान्तर का कार्य पाचन क्रिया के द्वारा ही संभव होता है, और इस पाचन क्रिया की यह क्षमता परमात्मा की ही एक अभिव्यक्ति है।

'प्राण और अपान से युक्त होकर' – समस्त प्राणियों के शरीरों में होने वाली 'ग्रहण' और 'विसर्जन' की क्रियाओं को क्रमशः प्राण और अपान कहा गया है। तथापि इनका और अधिक व्यापक अर्थ यहां स्वीकार किया जा सकता है। चैतन्य आत्मा न केवल वैश्वानर के रूप में ग्रहण किये गये अन्न को पचाता ही है, वरन्

यही चैतन्य प्राण के रूप में व्यक्त होकर भक्षण किये हुए अन्न को अन्न-नलिका द्वारा पेट तक पहुंचाता है। पाचन के पश्चात् यही आत्मा आंतों को मलविसर्जन की क्षमता प्रदान करता है। सारांशतः, परमात्मा ही हमें अन्न के भक्षण, उसके पाचन तथा अनावश्यक मल के विसर्जन के कार्यों में सहायता करता है।

और :

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

मैं ही समस्त प्राणियों के हृदय मे स्थित हूं। मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (उनका अभाव) होता है। समस्त वेदों के द्वारा में ही वेद्य (जानने योग्य) वस्तु हूं तथा वेदान्त का और वेदों का ज्ञाता भी मैं ही हूं ॥१५॥

यदि परमात्मा ही सर्वत्र विविध वस्तुओं, प्राणियों और क्षमताओं के रूप में व्यक्त हो रहा है, तो साधक को उसका अनुभव किस प्रकार हो सकता है? भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे चैतन्यरूप से समस्त प्राणियों के हृदय में निवास करते हैं। यहां हृदय शब्द से शारीरिक अंगरूप हृदय अभिप्रेत नहीं है। 'वह मन जो प्रेम, क्षमा, उदारता, करुणा जैसे सद्‌गुणों से सम्पन्न है, हृदय कहलाता है"। दर्शनशास्त्र में हृदय का अर्थ शान्त, प्रसन्न, सजग, और जागरूक मन है, जो सर्वोच्च आत्मतत्त्व का अनुभव करने में सक्षम होता है। हृदय को परमात्मा का निवास स्थान कहने का अभिप्राय यह है कि यद्यपि वह सर्वत्र ही विद्यमान है, तथापि उस चैतन्य का आत्मरूप से साक्षात् अनुभव अपने हृदय में ही संभव है।

'मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और उनका अपोहन होता है' – यह सर्वविदित तथ्य है कि जड़ वस्तुओं और मृत देह को किसी प्रकार का भी स्मरण, ज्ञान या विस्मरण नहीं होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि मन-बुद्धिरूप सूक्ष्म शरीर में जब चैतन्य व्यक्त होता है, तभी वह ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होता है, तथा वह चैतन्य समस्त वृत्तियों को प्रकाशित करता है। हम अपने जीवन में जो अनुभव प्राप्त करते हैं वे सभी हमारे मन में संस्कार के रूप में एकत्रित रहते हैं। जीवन में आवश्यकतानुसार हमें उनका स्मरण होता है, और इस प्रकार वे हमारे वर्तमान और भविष्य के कर्मों में सहायक होते हैं। हमारी समस्त वर्तमान शिक्षा और

विद्या पूर्वानुभवों की स्मृति ही है। यदि हमें अपनी स्मृतियों का भान ही न हो तो वे हमारे उपयोग के लिए उपलब्ध ही नहीं होंगी। वर्तमान की परिस्थितियों के साथ उचित प्रकार से प्रतिक्रिया करना और इस प्रकार नये नये अनुभवों को प्राप्त करना ही अपने ज्ञान को विस्तुत बनाने की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया चैतन्य के प्रकाश में ही संभव है।

नवीन ज्ञानार्जन की प्रक्रिया में पूर्व की मिथ्या धारणाओं को त्यागने की हमारी क्षमता सिद्ध हो जाती है। इसे ही इस श्लोक में 'अपोहनम्' कहा गया है। मिथ्या ज्ञान की विस्मृति अथवा उसको त्यागे बिना नवीन ज्ञानोपार्जन संभव नहीं हो सकता। ज्ञान, स्मृति एवं विस्मरण की इन आन्तरिक मानसिक क्रियाओं को चैतन्य ही प्रकाशित करता है।

'मैं ही समस्त वेदों के द्वारा जानने योग्य तत्व हूँ'–विश्व के सभी धर्म ग्रन्थों में परमात्मा की ही स्तुति एवं पूजा की गयी है। परमात्मा का साक्षात्कार ही जीवन का परम लक्ष्य है और उसकी प्राप्ति में ही कृतकृत्यता भी है। ससस्त प्राणियों के हृदय में रम रहा यह चैतन्य ही वह एकमेव अद्वितीय, परमार्थ सत्य है, जो सम्पूर्ण अनुभूयमान विश्व का एक मात्र अधिष्ठान है।

'मैं वेदान्तकृत् और वेदों का ज्ञाता भी हूँ' – चैतन्य ही सनातन सत्य है और शेष सब उस पर अध्यस्त है, वह चैतन्य ही सब का सारतत्त्व है, जिसमें वेद भी समाविष्ट हैं। वेदान्त का श्रवण करके जो साधक वेदनिर्दिष्ट आत्मस्वरूप का साक्षात् अनुभव करता है, वह किसी भी दशा में उस चैतन्य से भिन्न नहीं होता है। इसलिये भगवान् कहते हैं, "वेदवित् भी मैं ही हूँ"।

उपर्युक्त चार श्लोकों का सारांश यह है कि सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही सूर्य में प्रकाश, पृथ्वी में उर्वरा शक्ति, चन्द्रमा में अन्नपोषक प्रकाश, शरीर में वैश्वानर अग्नि, और पाणिमात्र के हृदय में आत्मरूप से विराजमान है।

यह ब्रह्म ही वेदों के द्वारा जानने योग्य सत्य वस्तु है, जो प्रकृति की विविध शक्तियों के रूप में व्यक्त होकर इस लोक में भूतमात्र का जीवन संभव बनाता है। इसे जानने का अर्थ ही अनन्त तत्त्व का अनुभव करना है।

अब तक के इन श्लोकों में भगवान् नारायण की विभूतियों का अर्थात् उपाधियों के माध्यम से प्रकट होने वाले उनके वैभव का वर्णन किया गया है। अब, अगले प्रकरण में भगवान् श्रीकृष्ण अपने निरुपाधिक, सर्वगत और नित्य स्वरूप को दर्शाते हैं। यह पारमार्थिक अनन्त तत्त्व हमारी बुद्धि की समस्त कल्पनाओं, जैसे

सान्त और अनन्त, क्षर और अक्षर, के परे स्थित है।

हमारे अनुभवों के आपेक्षिक जगत् को बताते हुए, भगवान् कहते हैं :

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।१६।।

इस लोक में क्षर (नश्वर) और अक्षर (अनश्वर) ये दो पुरुष हैं, समस्त भूत क्षर हैं और 'कूटस्थ' अक्षर कहलाता है ।।१६।।

इस अध्याय के अब तक किये गये विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि जिसे पूर्व के त्रयोदश अध्याय में क्षेत्र कहा गया था वह वस्तुत: परमात्मा से भिन्न वस्तु नहीं है।

जब वह परमात्मा सूर्य का प्रकाश और ताप, चन्द्रमा का शीतल प्रकाश, पृथ्वी की उर्वरा शक्ति, मनुष्य में ज्ञान, स्मृति और विस्मृति क्षमता आदि के रूप में व्यक्त होता है, वस्तुत: तब ये सब परमात्मस्वरूप ही सिद्ध होते हैं। परन्तु, इस प्रकार अभिव्यक्त होने में अन्तर केवल इतना होता है कि परमात्मा क्षेत्र के रूप में ऐसा प्रतीत होता है, मानो वह विकारी और विनाशी है। उदाहरणार्थ, स्वर्ण से बने सभी आभूषण स्वर्ण रूप ही होते हैं, परन्तु आभूषणों के रूप में वह स्वर्ण परिच्छिन्न और परिवर्तनशील प्रतीत होता है। इस प्रकार, सम्पूर्ण क्षेत्र को इस श्लोक में क्षर पुरुष कहा गया है।

क्षेत्र को जानने वाले क्षेत्रज्ञ आत्मा को यहां अक्षर पुरुष कहा गया है। उसका अक्षरत्व इस क्षर जगत् की अपेक्षा से ही है। जैसे कोई व्यक्ति अपनी पत्नी की दृष्टि से पति और पुत्र की दृष्टि से पिता कहलाता है। इसी प्रकार, शरीर, मन और बुद्धि की परिवर्तनशील क्षर उपाधियों की अपेक्षा से इन सब के ज्ञाता आत्मा को अक्षर पुरुष कहते हैं।

पुरुष शब्द का अर्थ है पूर्ण। केवल निरुपाधिक परमात्मा ही पूर्ण है। उपर्युक्त क्षर और अक्षर तत्त्व उसी पूर्ण पुरुष के ही दो व्यक्त रूप होने के कारण उन्हें भी पुरुष की संज्ञा दी गयी है।

इस अव्यय और अक्षर आत्मा को वेदान्त में कूटस्थ कहते हैं। कूट का अर्थ है निहाई, जिसके ऊपर स्वर्ण को रखकर एक स्वर्णकार नवीन आकार प्रदान करता है। इस प्रक्रिया में स्वर्ण तो परिवर्तित होता है, परन्तु निहाई अविकारी ही रहती है। इसी प्रकार, उपाधियों के समस्त विकारों में यह आत्मा अविकारी ही

रहता है, इसलिये उसे कूटस्थ कहते हैं।

पूर्ण पुरुष, इन क्षर और अक्षर पुरुषों से भिन्न तथा इनके दोषों से असंस्पृष्ट नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव का है। भगवान् कहते हैं :

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।।१७।।

परन्तु, उत्तम पुरुष अन्य ही है, जो परमात्मा कहलाता है और जो तीनों लोकों में प्रवेश करके सबका धारण करने वाला अव्यय ईश्वर है ।।१७।।

कोई एक व्यक्ति विभिन्न उपाधियों, व्यक्तियों, कार्यों और पदों की दृष्टि से विभिन्न नामों से संबोधित किया जाता है और यदि इन आपेक्षिक दृष्टिकोणों को दूर कर दिया जाय, तो वह व्यक्ति शून्य रूप नहीं हो जायेगा। वह मात्र एक निर्विशेष व्यक्ति रह जाता है। इसी प्रकार, जो परम तत्त्व नित्यपरिवर्तनशील जगत् के रूप में क्षर पुरुष कहलाता है और क्षर के ज्ञाता के रूप में अक्षर पुरुष, वह स्वयं इन दोनों से भिन्न ही है, जिसे यहां उत्तम पुरुष, परमात्मा और अव्यय ईश्वर कहा गया है।

क्षर से परे पहुंचने पर अक्षर ही नहीं, वरन् उत्तम पुरुष ही रह जाता है, क्योंकि क्षरत्व के अभाव, में अक्षरत्व का भी अभाव हो जाता है। तब रह जाता है, इन दोनों का परमार्थ अधिष्ठान परमात्मा। यह परमात्मा या अव्यय ईश्वर "तीनों लोकों में प्रवेश करके उनका धारण पोषण करता है।" संस्कृत में लोक शब्द का अर्थ है "वह वस्तु जो देखी या अनुभव की जाती है"। इस दृष्टि से, यहां 'लोक' शब्द का अर्थ स्वर्गादि लोक हो सकता हैं और हमारी परिचित अनुभवों की तीन अवस्थाएं–जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति भी हो सकती हैं। एक ही संवित् (चैतन्य) इन तीनों को प्रकाशित करता है।

यहां विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इन तीन पुरुषों को भिन्न-भिन्न नहीं समझना चाहिए। केवल उत्तम पुरुष ही पारमार्थिक सत्य है, जो दो विभिन्न उपाधियों की दृष्टि से क्षर और अक्षर के रूप में प्रतीत हो रहा है। उपाधियों के अभाव में वह केवल अपने नित्यशुद्ध, निरुपाधिक स्वरूप में रह जाता है। उदाहरणार्थ, एक ही सर्वगत आकाश घट और मठ इन दो उपाधियों से अवच्छिन्न होकर 'घटाकाश' और 'मठाकाश' के रूप में प्रतीत होता है। यहां स्पष्ट है कि अब कोई तीन आकाश – घटाकाश, मठाकाश और महाकाश – नहीं बन गये हैं। घट और मठ की उपाधियों से ध्यान दूर कर लें तो ज्ञात होगा कि वस्तुतः आकाश एक ही है।

इसी प्रकार, उत्तम पुरुष ही दृश्य और द्रष्टा के रूप में क्षर और अक्षर पुरुष कहलाता है। परन्तु उपाधियों से विवर्जित हुआ वह परमात्मा ही है।

अगले श्लोक में, भगवान श्रीकृष्ण 'पुरुषोत्तम' शब्द की व्युत्पत्ति दर्शाकर यह बताते हैं कि वे किस प्रकार परम ब्रह्म स्वरूप हैं :

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।।१८।।

क्योंकि मैं क्षर से अतीत हूं और अक्षर से भी उत्तम हूं, इसलिए लोक में और वेद में भी मैं पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूं ।।१८।।

जैसा कि पूर्व के दो श्लोकों के विवेचन में कहा गया है कि एक परमात्मा ही परिवर्तनशील जगत् के रूप में क्षर और उस जगत् के अपरिवर्तनशील ज्ञाता के रूप में अक्षर कहलाता है। यह सर्वविदित है कि एक अपरिवर्तनशील वस्तु के बिना अन्य परिवर्तनों का ज्ञान होना संभव नहीं होता है। अत: यदि शरीर, मन, बुद्धि और बाह्य जगत् के विकारों का हमें बोध होता है, तो उससे ही इस अक्षर का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है, जो स्वयं कूटस्थ रहकर अन्य विकारों को प्रकाशित करता है।

यह भी स्पष्ट हो जाता है कि केवल क्षर की दृष्टि से ही परमात्मा को 'अक्षर' का विशेषण प्राप्त हो जाता है, अन्यथा वह स्वयं निर्विशेष ही है। इसलिये यहां भगवान् कहते हैं, "क्षर और अक्षर से अतीत होने के कारण लोक में और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूं।" अर्थात् भगवान् पूर्ण होने से 'पुरुष' है तथा क्षर और अक्षर से अतीत होने से 'उत्तम' भी है, इसलिये वेदों में तथा लोक में भी कवियों और लेखकों ने उन्हें 'पुरुषोत्तम' नाम से संबोधित और निर्देशित किया है।

अब, परमात्मा के ज्ञान का फल बताते हुये कहते हैं :

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ।।१९।।

हे भारत ! इस प्रकार, जो, संमोहरहित, पुरुष मुझ पुरुषोत्तम को जानता है, वह सर्वज्ञ होकर सम्पूर्ण भाव से अर्थात् पूर्ण हृदय से मेरी ही भक्ति करता है ।।१९।।

जिस पुरुष ने अपने शरीर, मन और बुद्धि तथा उनके द्वारा अनुभव किये जाने वाले विषयों, भावनाओं एवं विचारों के साथ के मिथ्या तादात्म्य को सर्वथा त्याग दिया है, वही 'असंमूढ़' अर्थात् संमोह रहित पुरुष है ।

'इस प्रकार मुझे जानता है'–यहां जानने का अर्थ बौद्धिक स्तर का ज्ञान नहीं, वरन् आत्मा का साक्षात् अपरोक्ष अनुभव है । स्वयं को परमात्मस्वरूप से जानना ही वास्तविक बोध है ।

अनात्मा के तादात्म्य को त्यागकर, जिसने "मुझ परमात्मा" के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लिया है, वही परम भक्त है, जो "मुझे पूर्ण हृदय से भजता है" । प्रिय से तादात्म्य ही सर्वत्र प्रेम का मापदण्ड माना जाता है । अधिक प्रेम होने पर अधिक तादात्म्य होता है । इसलिये, अंकगणित की दृष्टि से भी पूर्ण तादात्म्य का अर्थ होगा पूर्ण प्रेम अर्थात् पराभक्ति ।

यह पुरुषोत्तम ही चैतन्य स्वरूप से तीनों काल में समस्त घटनाओं एवं प्राणियों की अन्तर्वृत्तियों को प्रकाशित करता है । इसलिये वह 'सर्वज्ञ' कहलाता है । जो भक्त इस पुरुषोत्तम के साथ पूर्ण तादात्म्य कर लेता है, वह भी 'सर्ववित्' कहलाता है ।

इस अध्याय की विषय वस्तु भगवत्तत्त्वज्ञान है । अब, भगवान् श्रीकृष्ण इस ज्ञान की प्रशंसा करते हैं, जो ज्ञान हमें शरीरजनित दुःखों, मनजनित विक्षेपों और बुद्धिजनित अशान्तियों के बन्धनों से सदा के लिये मुक्त कर देता है :

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ।।२०।।

हे निष्पाप भारत ! इस प्रकार यह गुह्यतम शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया, इसको जानकर मनुष्य बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाता है ।।२०।।

प्रस्तुत अध्याय के इस अन्तिम श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि उन्होंने अर्जुन को गुह्यतम ज्ञान का उपदेश दिया है । इस ज्ञान को गुह्य या रहस्य इस दृष्टि से नहीं कहा गया है कि इसका उपदेश किसी को नहीं देना चाहिये; अभिप्राय यह है कि परमात्मा इन्द्रिय अगोचर होने के कारण कोई भी व्यक्ति प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों के द्वारा उसे अपनी ही बुद्धि से नहीं जान सकता है । अतः वह उसके लिये रहस्य ही बना रहेगा । केवल एक शास्त्रज्ञ और आत्मानुभवी आचार्य के उपदेश से ही परमात्मज्ञान हो सकता है ।

'हे निष्पाप !'–वह कर्म, भावना या विचार, पाप कहलाता है, जिसको करने पर कालान्तर में हमारे मन में विक्षेप पश्चाताप तथा आत्मग्लानि उत्पन्न होती है। इन के होने पर अन्तःकरण में आत्मविचार करने के लिये आवश्यक सूक्ष्मता और सजगता नहीं रहती है। अतः इस सन्दर्भ में अर्जुन को 'निष्पाप' कहकर संबोधित करना यह दर्शाता है कि वह आत्मज्ञान के योग्य है।

अपने पुरुषोत्तम स्वरूप को जानने वाला पुरुष बुद्धिमान् बन जाता है। इसका अर्थ यह है कि इस ज्ञान के पश्चात् वह जीवन में वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को समझने में और कर्म से संबंधित निर्णय लेने में त्रुटि नहीं करता है। फलस्वरूप वह न अपने स्वयं के लिये भ्रम और दुःख उत्पन्न करता है और न ही समाज के अन्य व्यक्तियों के लिये।

परमात्मा के ज्ञान का फल है कृतकृत्यता मन में पूर्ण सन्तोष का वह भाव, जो जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर लेने पर उदय होता है, कृतकृत्यता कहलाता है। तत्पश्चात् उस व्यक्ति के लिये न कोई प्राप्तव्य शेष रहता है और न कोई कर्तव्य। यह श्लोक उत्तम अधिकारियों को आत्मज्ञान के इस श्रेष्ठ फल का आश्वासन देता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥

इस प्रकार, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद के रूप में ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रस्वरूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् का पुरुषोत्तमयोग नामक पंद्रहवां अध्याय समाप्त होता है।

ॐ

षोडश अध्याय

दैवासुरसंपद्विभागयोग

नीतिशास्त्र की प्रत्येक प्रणाली सद्गुणों और अवगुणों की एक सूची प्रस्तुत करती है। आश्चर्य यह है कि इन समस्त प्रणालियों में एक समानता देखी जाती है, यद्यपि इनके उपदेशक प्रणेताओं का जन्म विभिन्न देश और काल में हुआ था। देश, काल, जाति, धर्म और भाषा इन सबसे निरपेक्ष एक तत्पुरुष ही रहता है। नि:सन्देह, दो धर्मों अथवा सम्प्रदायों के मध्य कुछ अन्तर देखा जाता है, परन्तु इसका कारण केवल यह है कि विभिन्न धर्म संस्थापक और धर्मप्रचारक अपने अनुयायियों को किसी अवगुण विशेष को त्यागने और / अथवा किसी गुण विशेष के विकास करने पर विशेष वल देते थे। उनके इन विशिष्ट उपदेशों का कारण उस युग के और देश के बहुसंख्यक लोगों की जीवन पद्धति थी।

कोई तीन हजार वर्षों पूर्व जिन गुणों को सद्गुण माना जाता था, आज भी उन्हें वही मान्यता प्राप्त है और वर्तमान समय में भी उन गुणों से सम्पन्न पुरुषों को सत्पुरुष और आदर्श माना जाता है। यह भी एक अपूर्व और अद्भुत बात है कि आज के दुर्व्यवस्थित और उपद्रवों से पूर्ण युग में भी मनुष्य वैसे ही हैं, जैसे वे अतीत के सुखद काल में थे। इस अध्याय में सार्वकालिक मानवजाति का तीन विभागों में वर्गीकरण किया गया है : (क) दैवी पुरुष, (ख) आसुरीअर्थात् पापी पुरुष, और (ग) राक्षसी अर्थात् सुधार के सर्वथा अयोग्य अधम पुरुष। इस अध्याय में राक्षसी पुरुषों के सम्बन्ध में अधिक विचार नहीं किया गया है। इसका कारण यह हो सकता है कि सम्भवत: उनमें स्वत: ही आत्मविकास की कोई साधना करने की क्षमता और इच्छा नहीं होती है। जब निर्दयी विपत्तियाँ उन्हें विखण्डित कर पुन: सांचे में ढालकर नवीन रूप देती हैं, केवल तब ही वे आत्मोन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं।

इसके पूर्व, नवें अध्याय में इन तीन प्रकार के व्यक्तियों का निर्देश किया गया था। तत्पश्चात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का वर्णन करके यह कहा गया था कि सभी क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ आत्मा एक ही है।

इस विचार बिन्दु पर एक प्रतिभाशाली विद्यार्थी का प्रश्न यह हो सकता

है कि यदि क्षेत्रज्ञ एक ही है, तो सभी व्यक्तियों के अनुभवों में इतनी विभिन्नता और विविधता क्यों पायी जाती है? इसके उत्तर में प्रकृति के सत्त्व, रज और तम नामक तीन गुणों का विस्तृत विवेचन किया गया है। इन तीन गुणों के विभिन्न अनुपात और तारतम्य से क्षेत्र उपाधियों पर प्रभाव पड़ता है, जिसके कारण जगत् की वस्तुओं और व्यक्तियों के व्यवहारों में यह भिन्नता देखी जाती है। तदुपरान्त गीताचार्य भगवान् श्रीकृष्ण ने इस संसार का अश्वत्थ वृक्ष के रूपक की भाषा में वर्णन किया और कहा कि इसका ऊर्ध्वमूल परमात्मा, उत्तम पुरुष कहलाता है जो क्षर और अक्षर पुरुष दोनों से अतीत है। वह नित्यशुद्धबुद्धमुक्त सच्चिदानन्द-स्वरूप है।

इसलिए स्वाभाविक है कि गीता के विचारों के विकास के क्रम में, इस अध्याय का विषय मनुष्यों के विभिन्न प्रकार के स्वभावों का वर्णन करना है। जब एक ही आत्मा अनेक उपाधियों में व्यक्त होता है, तब मनुष्यों के कौन से विविध गुण प्रकट होते हैं, इसका विवेचन इस अध्याय में किया गया है। अध्ययन में शीघ्रता करने वाले विद्यार्थियों को प्रायः गीता के इस अध्याय की युक्तियुक्तता और उपयुक्तता के सम्बन्ध में शंका होती है। ऐसे भी कुछ साहसी आलोचक हैं, जो इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि अधिकाँश स्थानों पर "भगवद्गीता एक असंबद्ध कविता मात्र है।" यह आलोचना अत्यन्त अनुचित है। इस अध्याय की संगति का मूल नवें अध्याय में तथा पूर्व के तीन अध्यायों में प्रतिपादित विचारों में भी है।

हिन्दुओं की एक और तीव्र आलोचना इस प्रकार भी की जाती है कि अद्वैत सिद्धान्त के समर्थकों को सदाचार और नैतिक नियमों के प्रति कोई आदर नहीं है। भक्ति सम्प्रदायों तथा अन्य यहूदी धर्मों की अद्वैत वेदान्त के साथ तुलना करके वे अपनी प्रमाणशून्य श्रेष्ठता को स्थापित करने का साहसिक किन्तु हास्यास्पद प्रयत्न भी करते हैं। यह अध्याय उनकी इस आलोचना को असत्य सिद्ध करता है। गीता के अन्य अध्यायों से भी यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि किस प्रकार आत्मज्ञान की साधना में प्रवेश करने के भी पूर्व नैतिक मूल्यों के पालन पर वेदान्त निरन्तर बल देता है। इस अध्याय से यह भी स्पष्ट होगा कि ऋषियों ने सदाचारी और दुराचारी मनुष्यों के स्वभावों का कितना विस्तृत अध्ययन किया था।

मानवमात्र को साधु और असाधु के रूप में वर्ग विभाजन करने में गीता का प्रयोजन नहीं है और न ही सत्कर्मियों को स्वर्ग का आश्वासन और कुकर्मियों को नरक की अन्तहीन यातनाओं का शाप देने की उसकी उत्कण्ठा है। मनुष्य के व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन करने पर जो तथ्य सामने आये, उनको उसी रूप में यहाँ प्रस्तुत किया गया है। प्रयोजन यह है कि हम दैवी और आसुरी गुणों को समझ कर सद्गुणों का सम्पादन और अवगुणों का त्याग करें।

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

श्री भगवान् ने कहा–

अभय, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञानयोग में दृढ़ स्थिति, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप और आर्जव ॥१॥

इस प्रथम श्लोक को पढ़ने से हमें उन अमानित्वादि बीस गुणों (जीवनादर्शों) का स्मरण होता है, जिन्हें क्षेत्राध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने 'ज्ञान' की संज्ञा प्रदान की थी। इस श्लोक में उन आदर्श गुणों की प्रायः सम्पूर्ण सूची प्रस्तुत की गई है, जो आध्यात्मिक जीवन जीने वाले एक सुसंस्कृत पुरुष में देखे जाते हैं। अपने व्यावहारिक जीवन में उन बीस गुणों को जीना ही आध्यात्मिक जीवन कहलाता है। भगवान् श्रीकृष्ण इन दैवी गुणों की गणना करते समय प्रथम स्थान 'अभय' को देते हैं। भय अविद्या का लक्षण है। जहाँ विद्या है, वहाँ निर्भयता है। गुणों की इस सूची में 'अभय' को प्रथम स्थान देकर गीताचार्य यह इंगित करते हैं कि किसी साधक की नैतिक पूर्णता उसके आध्यात्मिक विकास के समान अनुपात में होती है।

'अन्तःकरण की शुद्धि'– अपने व्यक्तित्व के बाह्य स्तर पर साधक को कितना ही संयम क्यों न हो, फिर भी वह संयम उसे वह रचनात्मक या निश्चयात्मक शक्ति प्रदान नहीं कर सकता, जो कि नैतिक जीवन का सार है, मर्म है। गीता, सैद्धांतिक और व्यावहारिक इन दोनों ही दृष्टियों से एक शक्तिशाली धर्म का उपदेश देती है। निष्क्रिय सदाचार का पालन करने वाली आज्ञाकारी पीढ़ी से भगवान् श्रीकृष्ण सन्तुष्ट नहीं हैं। वे चाहते हैं कि समाज के सभी लोग न केवल अपने व्यक्तिगत जीवन में ही सर्वोच्च नैतिक मूल्यों को जियें, वरन् सामाजिक जीवन में भी धर्माचरण की ऐसी नवचेतना जाग्रत करें, जिससे मनुष्यों की सम्पूर्ण पीढ़ी ही सत्य और धर्म के प्रकाश से उज्ज्वल बन जाये। धर्म शब्द के अर्थ में उद्देश्यों की सत्यता और साधनों की शुद्धता अन्तर्निहित है।

'ज्ञानयोगव्यवस्थिति'--अत्यन्त देहासक्त और विषयासक्त पुरुष को उपर्युक्त अन्तःकरण की शुद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। आत्मा के दिव्य गान के साथ एकस्वर हुए मन में ही अपनी निम्नस्तर की वृत्तियों, बन्धक कारक आसक्तियों और निन्द्य उद्देश्यों को त्यागने की आवश्यक सामर्थ्य होती है। ये हीन वृत्तियां सदैव अन्तःकरण में उभरकर सामने आती रहती हैं। ज्ञानयोग में दृढ़ स्थिति ही मन को निम्नस्तर

के प्रलोभनों से निवृत्त करने का निश्चयात्मक उपाय है। यदि कोई बालक कांच की निर्मित नाजुक कलाकृति के साथ खेल रहा हो, तो उसके माता-पिता, उस बहुमूल्य वस्तु की सुरक्षा के लिए, प्रायः उस बालक को चॉकलेट आदि कोई वस्तु देते हैं और वह बालक उसे पाने के लिए उस कांच की मूल्यवान् वस्तु को त्याग देता है। इसी प्रकार, आत्मा के आनन्द को अनुभव करने वाला पुरुष इन्द्रियों के विषयों तथा तज्जनित क्षणिक सुखों में स्वभावत: आसक्त नहीं होता।

'दान, दम (इन्द्रिय संयम) और यज्ञ'-- ज्ञानयोग में दृढ़ स्थिति प्राप्त करने के ये तीन साधन हैं जिनके द्वारा एक साधक अन्त:करण की योग्यता प्राप्त कर सकता है। बहुलता के भाव से उत्पन्न हुई दान की बृत्ति ही वास्तविक दान है। जब हम अन्यों के साथ एकत्व का अनुभव करते हैं, तभी हम सब के साथ अपने सर्वस्व का विभाजन करने के लिए तत्पर होते हैं, अन्यथा नहीं। इस प्रकार, दान का उदय हमारी इस क्षमता से होता है, जिसके द्वारा हम अपनी परिग्रह और लोभ की वृत्तियों को संयमित करते हैं। जहां इनका संयमन एक पक्ष है, तो दूसरा पक्ष है यज्ञ की अर्थात् त्याग की भावना। यज्ञ भावना से प्रेरित होने पर ही हम अपने संग्रह का दान कर सकते हैं। दान शब्द से केवल धन या वस्तुओं का दान ही नहीं, वरन् दु:खितों के साथ सहानुभूति का भाव तथा ज्ञानदान भी इसमें सम्मिलित है।

यदि 'दान' साधक के वैराग्य को विकसित करता है, जिससे वह साधक अपनी सम्पत्ति का विनियोग दीनजनों की सहायता में करता है, तो हम कह सकते हैं कि हमारे व्यक्तिगत जीवन में इद्रियसंयम (दम), उसी यज्ञभावना का संप्रयोग है। इन्द्रियों को विषयों में विचरण करने का पूर्ण अधिकार देने का अर्थ अपनी सम्पूर्ण शक्ति का निष्फल ही अपव्यय करना है। साधक को चाहिए कि अपनी इस शक्ति का उपयोग वह अपने ध्यानाभ्यास में करे। मन को आत्मा में समाहित करने के लिए सूक्ष्म शक्ति की आवश्यकता होती है और उसे साधक इन्द्रिय-संयम के द्वारा अपने में ही निहित देख सकता है। दान और दम के बिना सत्य की तीर्थयात्रा मात्र स्वप्न ही है।

'यज्ञ' -- वैदिककाल में यज्ञ शब्द का अर्थ श्रद्धायुक्त होमहवन आदि का अनुष्ठान समझा जाता था। उस काल के साधकगण इन यज्ञों का परिश्रमपूर्वक अनुष्ठान करते थे। पौराणिक काल से वैदिक कर्मकाण्ड का स्थान मूर्तिपूजा, प्रार्थना जैसी भक्ति साधनाओं ने ले लिया जो उसी रूप में आज भी विद्यमान हैं। यज्ञ अर्थात् पूजा के अनुष्ठान से मन को एक आलम्बन प्राप्त होने से इन्द्रियों का संयमन करने में सरलता होती है। उसी प्रकार, चित्त की शुद्धता भी प्राप्त होने से दान की भावना भी जागृत होती है। इन गुणों के होने से आत्मानुभूति सहज सिद्ध हो जाती

है। इस प्रकार, इस श्लोक में यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्रत्येक उत्तरोत्तर गुण अपने पूर्व के गुण से किस प्रकार संबद्ध हैं।

'स्वाध्याय' -- इस शब्द का पारंपरिक अर्थ है, वेदों का नित्य पठन तथा यथासंभव उसका अध्ययन भी करना। वेदों के नित्य, नियमित अध्ययन से हमें अपने व्यावहारिक जीवन में दैवी गुणों को जीने की प्रेरणा मिलती है। परन्तु, 'स्वाध्याय' से मात्र वेदपठन या बौद्धिकस्तर पर उसके अर्थ को समझना पर्याप्त नहीं है। संस्कृत के इस शब्द का आशय है "स्वयं का अध्ययन" अर्थात् आत्म निरीक्षण। वेदप्रतिपादित सत्यों को समझकर उनका स्वानुभवकरण ही वास्तविक 'स्वाध्याय' है। स्वाध्याय और यज्ञ से हमें आत्मसंयम का जीवन जीने का साहस प्राप्त होगा, जो हमें अपने ध्यानाभ्यास में चित्त की स्थिरता प्रदान करेगा।

'तप' -- शारीरिक स्तर पर पालन किये जाने वाले व्रत, उपवास आदि तप कहलाते हैं। तपाचरण से बाह्य जगत् के भोगों में व्यर्थ ही नष्ट होने वाली हमारी शक्ति का संचय होता है जिसका सदुपयोग आत्मविकास के लिये किया जा सकता है।

'आर्जवम्' – इसका अर्थ है सरलता। बुद्धि के विचार, मन की भावनाओं और कर्मों में कुटिलता का साधक के व्यक्तित्व पर आत्मघातक परिणाम होता है। हमारे वास्तविक उद्देश्यों और प्रेरणाओं, निश्चय और आकांक्षाओं, विवेक और अनुभवों को असत्य सिद्ध करने वाले हमारे कर्मों का परिणाम अपने व्यक्तित्व की वक्रता होता है। जो व्यक्ति इस प्रकार का जीवन जीता है, उसका व्यक्तित्व दो भागों में विभाजित हो जाता है और शीघ्र ही वह अपनी कार्यकुशलता की आभा को खो देता है और व्यक्तिगत दृढ़ता की शक्ति की दृष्टि से भी दुर्बल हो जाता है।

इस प्रकार, इस अध्याय के प्रथम श्लोक में ही, "दैवीगुणों" का उल्लेख करते हुए, उनके परस्पर संबंध को भी दर्शाया गया है। हिन्दू धर्म में वर्णित नैतिक मूल्य और सदाचार के नियम किसी कल्पनाकुशल संत या उदास देवदूत की स्वैच्छिक घोषणाएं नहीं हैं। विवेक और अनुभव की दृढ़ चट्टानों की नींव पर उनका निर्माण हुआ है। निष्ठापूर्वक उनका पालन करने और सजगतापूर्वक उन्हें जीने पर, वे, हमारी प्रायः सुप्त दैवी क्षमताओं को व्यक्त करने में अपना योगदान देते हैं। हिन्दू धर्म के अनुसार ये दैवीगुण अपने आप में स्वर्ग प्रवेश का अधिकार प्रदान नहीं कर सकते, परन्तु मनुष्य के हृदय में स्थित दिव्य आत्मतत्त्व को पूर्णतया उजागर करने में वे पूर्णतैयारी के रूप में सहायक होते हैं।

और आगे कहते हैं :

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥

अहिंसा, सत्य, क्रोध का अभाव, त्याग, शान्ति, अपैशुनम् (किसी की निन्दा न करना), भूतमात्र के प्रति दया, अलोलुपता, मार्दव (कोमलता), लज्जा, अचंचलता ॥२॥

'अहिंसा'–प्राणियों को पीड़ा न पहुंचाना अहिंसा है । स्वार्थ या द्वेषवशात् किसी को पीड़ित करना हिंसा है । अहिंसा का पालन शरीर, वाणी और मन इन तीनों स्तरों पर होना चाहिए । कभी-कभी बाह्यदृष्टि से कोई व्यक्ति शरीर को पीड़ा पहुंचाते हुये दिखाई देता है, जैसे एक शल्यचिकित्सक रोगी की चिकित्सा करते हुये, किन्तु वह हिंसा नहीं मानी जाती । वैसे भी शारीरिक स्तर पर सम्पूर्ण अहिंसा संभव नहीं हो सकती है, किन्तु मन में कदापि हिंसा का भाव नहीं होना चाहिये । चिकित्सक के मन में इस हिंसा भाव के न होने से उसके द्वारा की गयी शल्यचिकित्सा को हिंसा नहीं कहा जाता ।

'सत्यम्'–सत्य का कुछ भाव आर्जव शब्द की व्याख्या में प्रकट किया जा चुका है । प्रमाणों से सिद्ध अर्थ को उसी रूप में प्रकट करना सत्य कहलाता है ।

'अक्रोध'–यहां इस शब्द का "क्रोध का सर्वथा अभाव" अर्थ अभिप्रेत नहीं है । साधना की स्थिति में कभी-कभी किसी घटना अथवा किसी के दुर्व्यवहार से मन में क्रोध आ जाता है, परन्तु तत्काल ही उसे पहचानकर उसका उपशमन करने की क्षमता को यहां 'अक्रोध' कहा गया है । साधक को यह प्रयत्न करना चाहिये कि वह अपने क्रोध को क्रियारूप में व्यक्त न होने दे । इसी प्रकार की अन्य वृत्तियों का भी उपशमन करने की सामर्थ्य साधक को सम्पादित करनी चाहिये ।

'त्याग'–यहां अहंकार और स्वार्थ का त्याग करने के लिये कहा गया है । पूर्व श्लोक के समान यहां उल्लिखित गुणों में भी परस्पर संबंध है । त्याग के अभाव में अक्रोध भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि जब कोई हमारे अहंकार या स्वार्थ को चोट या हानि पहुंचाता है, तभी हमें क्रोध आता है ।

'शान्ति'–उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न व्यक्ति के मन में विक्षेपों का कोई कारण ही नहीं रह जाता, इसलिए उसके मन की शान्ति बनी रहती है । बाह्य जगत् की अथवा उसके व्यक्तिगत जीवन की परिस्थितियां कितनी ही दुःखदायक या आक्रामक

क्यों न हों, उस व्यक्ति का मन:सन्तुलन कभी विचलित नहीं होता है।

'अपैशुनम्'–किसी व्यक्ति के दोषों को अन्य लोगों के समक्ष प्रकट करने को पैशुन कहते हैं। पैशुन का अभाव ही 'अपैशुन' है। वाणी की मधुरता या कर्कशता वक्ता के व्यक्तित्व पर निर्भर करती है। एक अयुक्त (अर्थात् अशुद्ध अन्त:करण वाले) पुरुष को अन्य लोगों की द्वेषयुक्त निन्दा करने में एक प्रकार का आसुरी आनन्द प्राप्त होता है। प्राय: यह कोमल और मांसल जिह्वा किसी विनाशकारी अस्त्र से भी अधिक विध्वंसकारी सिद्ध होती है। आत्मविकास के सर्वोच्च शिखर तक पहुंचने की आकांक्षा रखने वाले उद्यमी साधक को ऐसा आन्तरिक सामञ्जस्य सम्पादित करना चाहिये कि उसकी वाणी आत्मा की सुरभि का अनुकरण करे। स्वर की कोमलता, वचनों की स्पष्टता, निश्चय की सत्यता, प्रच्छन्न अर्थ से रहित विचारों को 'श्रोता के मन में स्पष्ट करने की क्षमता, निष्कपटता, भक्ति और प्रेम इन सब से परिपूर्ण संभाषण वक्ता के व्यक्तित्व के आत्मचरित्र का एक विशिष्ट और श्रेष्ठ गुण ही बन जाता है। इस प्रकार के मधुर संभाषण के गुण का स्वयं में विकास करने से अपने व्यक्तित्व के अन्य आयामों का भी स्वत: विकास हो जाता है, जो अन्त:करण को अनुशासित करने के लिये आवश्यक होता है।

'भूतमात्र के प्रति दया'–दु:ख और कष्ट से पीड़ित प्राणियों के प्रति कृपा का भाव दया कहलाता है। इसके अतिरिक्त, एक साधक को समाज में रहते हुये यह अपेक्षा नहीं करनी चाहिये कि समाज के सभी लोग उन्हीं आदर्शों या जीवन मूल्यों का अनुकरण करें, जिनके प्रति स्वयं उसकी श्रद्धा है। लोगों की दृष्टियों में भेद होता है और इसलिये उसे अपने आसपास के लोगों में अपूर्णता और दोष दिखाई दे सकते हैं। परन्तु, उसको इन समस्त दोषों के अन्तरंग में स्थित आत्मा के असीम सौन्दर्य को देखते रहना चाहिये। आत्मदर्शन की यह क्षमता ही सभी साधुओं और सन्तों के मन में स्थित प्राणिमात्र के प्रति दया का रहस्य है। सब के प्रति मन में प्रेम होने पर ही उनके प्रति असीम सहानुभूति और स्नेह का भाव हृदय में उठ सकता है। आत्मा की इस सुन्दरता को यदि अत्यन्त दु:खी और दुश्चरित्र व्यक्ति में भी हम नहीं देख सके, तो उनके प्रति हमारे हृदय में स्नेह और दया उत्पन्न नहीं हो सकती।

'अलोलुपता'–प्रलोभित और आकर्षित करने वाले विषयों की उपस्थिति में भी मन में विकार उत्पन्न नहीं होना अलोलुपता है।

'मार्दव (मृदुता) और लज्जा'–यहां लज्जा का अर्थ है, निषिद्ध और निन्द्य प्रकार के कर्म करने में लज्जा का अनुभव करना। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार

कहा जा सकता है कि निन्द्य कर्मों का त्याग करना तथा शुभ कर्मों में गर्व का न होना अर्थात् नम्रता, विनयशीलता का होना लज्जा शब्द का अभिप्रेत अर्थ है। वस्तुतः जो व्यक्ति उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न होता है, उसमें स्वाभाव की मृदुता और विनयशीलता स्वाभाविक रूप में आ जाती है, क्योंकि ये दोनों गुण मनुष्य की श्रेष्ठ संस्कृति के द्योतक हैं।

'अचापलम्'-मनुष्य के मन की चंचलता और स्वभाव की अस्थिरता उसकी शारीरिक चेष्टाओं में प्रकट होती है। सतत चंचलता, अकस्मात् कर्म का प्रारम्भ करना, अश्लील प्रकार की शारीरिक चेष्टाएं, व्यसनानन्द के अतिरेक से अंग प्रक्षेपण इत्यादि लक्षण केवल एक असंस्कृत व्यक्ति में देखे जाते हैं, जिसने न कभी स्वभाव की स्थिरता को और न कभी व्यक्तित्व को आदर्शपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया हो। ये लक्षण एक शिशु में भी देखे जाते हैं, और उस दशा में वे उसके सौन्दर्यवर्धक ही माने जाते हैं। परन्तु जैसे-जैसे व्यक्ति का विकास होता जाता है, उसका आत्मसंयम ही उसका सौन्दर्य समझा जाता है, जो उसकी शारीरिक चेष्टाओं के द्वारा स्पष्ट होता है।

श्री शंकराचार्य इसका अर्थ बताते हैं, "प्रयोजन के अभाव में हाथ, पैर, वाणी आदि इन्द्रियों का व्यापार न होना अचापलम् कहलाता है।" यह इस शब्द का व्यापक अर्थ है और इसका आशय यह भी है कि लक्ष्य प्राप्ति के लिए उपयोगी कार्य में तत्परता तथा समस्त शारीरिक शक्तियों की मितव्ययिता होनी चाहिये। अनावश्यक चेष्टाएं करना दुर्बल व्यक्तित्य का लक्षण है। ऐसे व्यक्ति कल्पनाओं में ही खोये रहते हैं और मानसिक तथा बौद्धिक स्तर पर अत्यन्त दुर्बल होते हैं। अतः 'अचापलम्' नामक गुण के सम्पादन से हम अपने व्यक्तित्व की अनेक प्रकार की सामान्य दुर्वलताओं का उपचार कर सकते हैं।

और :

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

हे भारत ! तेज, क्षमा, धैर्य, शौच (शुद्धि), अद्रोह और अतिमान (गर्व) का अभाव ये सब दैवी संपदा को प्राप्त पुरुष के लक्षण हैं ॥३॥

'तेज-'यह केवल मुखमण्डल की ही आभा नहीं है, जो पौष्टिक आहार और पर्याप्त विश्राम से प्राप्त होती है। तेज शब्द से ज्ञानी पुरुष के मात्र शारीरिक सौन्दर्य या तेज से ही अभिप्राय नहीं है। अध्यात्म की आभा कोई ऐसा प्रभामण्डल

नहीं है, जो ज्ञानी के मुख के चारो ओर अग्निवृत्त के समान जगमगाता हो। तत्त्वदर्शी ऋषि का तेज है, उसकी बुद्धि की प्रतिभा, नेत्रों में जगमगाता आनन्द सन्तप्त हृदयों को शीतलता प्रदान करने वाली शान्ति की सुरभि, कर्मों में उसका अविचल सन्तुलन, प्राणिमात्र के प्रति उसके हृदय में स्थित प्रेम का आनन्द और उसके अन्तरतम से प्रकाशित आनन्द का प्रकाश । यह तेज ही उस ऋषि के व्यक्तित्व का प्रबल आकर्षण होता है, जो प्रचुर शक्ति और उत्साह के साथ सब की सेवा करता है और उसी में स्वयं को धन्य समझता है ।

'क्षमा' – जिस सन्दर्भ में इस गुण का उल्लेख किया गया है, उससे इसका अर्थ गाम्भीर्य बढ़ जाता है । "सामान्य दुःख और कष्ट, अपमान और पीड़ा को धैर्य पूर्वक सहन करने की क्षमता" ही क्षमा का सम्पूर्ण अर्थ नहीं है । बाह्य जगत् के अत्यधिक शक्तिशाली विरोध तथा उत्तेजित करने वाली परिस्थितियों के होने पर भी उनका सामना करने का सूक्ष्म कोटि का साहस और अविचलित शान्ति का नाम क्षमा है ।

'धृति' – जब कोई व्यक्ति साहसपूर्वक जीना चाहता है, तब वह अपने जीवन में सदैव सुखद वातावरण, अनुकूल परिस्थितियाँ और अपने कार्य क्षेत्र में सफलता के सहायक सुअवसरों को ही प्राप्त करने की अपेक्षा नहीं कर सकता है । सामान्यतः, एक दुर्बल व्यक्तित्व के पुरुष को अचानक निराशा आ कर घेर लेती है और वह कार्य को अपूर्ण ही छोड़कर अपने कार्य क्षेत्र से निवृत्त हो जाता है । अनेक लोग तो ऐसे समय हतोत्साह होकर कार्य को त्याग देते हैं, जब विजयश्री उन्हें वरमाला पहनाने के लिये ही तत्पर हो रही होती है ! निश्चल भाव से कार्यरत रहने के लिये मनुष्य को एक अतिरिक्त शक्ति की आवश्यकता होती है, जिसके द्वारा वह अपनी क्लान्त और श्रान्त आस्था को पोषित कर दृढ़ बना सकता है । और एक युक्त पुरुष में निहित वह गुप्त शक्ति है 'धृति' अर्थात् धैर्य । श्रद्धा की शक्ति, लक्ष्य में आस्था, उद्देश्य की एकरूपता, आदर्श का स्पष्ट दर्शन और त्याग की साहसिक भावना-ये सब वे शक्ति स्रोत हैं, जहां से धृति की बूंदें रिसती हुई प्रवाहित होकर श्रम, अवसाद, एवं निराशा आदि का परिहार करती हैं ।

'शौचम् (शुद्धि)' – यह शब्द न केवल अन्तःकरण के विचारों एवं उद्देश्यों की शुद्धि को इंगित करता है, वरन् इसके द्वारा वातावरण की शुद्धि, अपने वस्त्रों की और वस्तुओं की स्वच्छता भी सूचित की गयी है । आन्तरिक शुद्धि पर ही अत्यधिक बल देने के फलस्वरूप हम अपने समाज में बाह्य शुद्धि की सर्वथा उपेक्षा की जाते हुये देखते हैं । वस्त्रों की तथा नगर की स्वच्छता हमारे राष्ट्र में दुर्लभ हो गयी है । यद्यपि हमारे धर्म में साधक के लिये शुद्धि और स्वच्छता इन दोनों

को ही अपरिहार्य बताया गया है, तथापि धर्मप्राण भक्तगण भी इनके प्रति उदासीन ही दिखाई देते हैं।

'अद्रोह' – अहिंसा का अर्थ है, किसी को भी पीडा न पहुंचाना; और अद्रोह का अर्थ है मन में कभी हिंसा का भाव भी न उठना। जैसे, कोई भी व्यक्ति कभी स्वप्न में भी स्वयं को पीड़ित करने का विचार नहीं करता है, वैसे ही आत्मैकत्व का बोध प्राप्त पुरुष के मन में किसी के प्रति भी द्रोह की भावना नहीं आती, क्योंकि अन्य को कष्ट देने का अर्थ स्वयं को ही पीड़ित करना है।

'न अतिमानिता' – इसका अर्थ है स्वयं की पूजनीयता के विषय में अतिशयोक्ति पूर्ण विचार न रखना। अतिमान के नहीं होने पर मनुष्य स्वयं को तत्काल ही सहस्रों अपरिहार्य उत्तेजनाओं से तथा अनावश्यक उत्तरदायित्वों से मुक्त कर सकता है। गर्वमुक्त पुरुष के लिये जीवन पक्षी के पंख के समान भारहीन होता है, जब कि एक अतिमानी पुरुष के लिये अपना जीवन प्राणदण्ड की शूली के समान बन जाता है, जिसे अत्यन्त कष्ट पूर्वक वहन करते हुये उसे चलना पड़ता है, जब कि वह शूली उसके कंधों के मांस को निर्दयतापूर्वक छील रही होती है।

उपर्युक्त छब्बीस गुण "दैवीसम्पदा" से सम्पन्न व्यक्ति के स्वभाव का पूर्ण चित्रण करते हैं। पूर्णत्व प्राप्ति के सभी इच्छुक साधकों के मार्गदर्शक के रूप में इन गुणों का यहां उल्लेख किया गया है। जिस मात्रा में, उपर्युक्त दैवी गुणों के अनुरूप हम अपने जीवन को पुनर्व्यवस्थित करने में सक्षम होते हैं और जीवन की ओर देखने के अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन ला सकते हैं, उसी मात्रा में हम अपनी शक्तियों के निष्प्रयोजक व्यय को अवरुद्ध कर उन्हें सुरक्षित रख सकते हैं। इन जीवन मूल्यों का सम्मान करते हुये उन्हें जीने का अर्थ ही सम्यक् जीवन पद्धति को अपनाना है।

अब, आसुरी सम्पदा का वर्णन करते हैं :

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥४॥

हे पार्थ ! दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोर वाणी (पारुष्य) और अज्ञान यह सब आसुरी सम्पदा है ॥४॥

केवल एक श्लोक की परिसीमा में ही जगत् के कुरूप व्यक्तित्व के पुरुषों की कुरूपता का इतना बोधगम्य वर्णन इसके पूर्व कभी नहीं किया गया था।

आसुरी प्रवृत्तियों के प्रकार अनेक हैं, परन्तु यहां केवल कुछ मुख्य दुर्गुणों का उल्लेख किया गया है, जिनके द्वारा हम उन समस्त आसुरी शक्तियों को समझ सकते हैं, जो कभी भी मनुष्य के हृदय में व्यक्त हो कर अपना विनाशकारी प्रभाव दिखा सकती हैं। इन सब को जानने का लाभ यह होगा कि हम अपने हृदय से अवांछित प्रवृत्तियों को दूर कर सकते हैं, और इस प्रकार हमें अपने विकास के लिये एक महत् शक्ति उपलब्ध हो सकती है।

'दम्भ' – श्री शंकराचार्य के अनुसार दम्भ का अर्थ है–"वास्तव में अधार्मिक होते हुये भी स्वयं को धार्मिक व्यक्ति के रूप में प्रकट करना।" दूसरे शब्दों में, स्वयं को वस्तुस्थिति से अन्यथा प्रकट करना दम्भ है। यह अत्यन्त निम्नस्तर का रूप है, जिसे पापी, दुराचारी लोग धारण करते हैं। उनकी यह सतही साधुता और शुद्धता, धार्मिकता और निष्कपटता वस्तुतः अपने घातक उद्देश्यों और दुष्ट संकल्पों को आवृत करने के आकर्षक आवरण हैं।

'दर्प' – धन, जन, यौवन, ज्ञान, सामाजिक प्रतिष्ठा इत्यादि का अत्यधिक गर्व (दर्प) मनुष्य को एक असह्य प्रकार की उच्चता प्रदान करता है। तत्पश्चात् वह मनुष्य जगत् की घटनाओं की ओर आत्मवंचक विपरीत ज्ञान के माध्यम से देखता है और अपने ही काल्पनिक आत्मसम्मान के जगत् में रहता है। फलतः, इस दर्प के कारण, वह आन्तरिक शान्ति से वंचित रह जाता है। ऐसा मनुष्य अपने ही समाज के लोगों के प्रेम से निष्कासित हो जाता है। दर्प युक्त पुरुष जगत् में एकाकी रह जाता है। केवल काल्पनिक आत्मसम्मान और अपनी महानता के स्वप्न ही उसके मित्र होते हैं। उसके वैभव को केवल वही स्वयं देख पाता है और अन्य कोई नहीं। ऐसा पुरुष स्वाभाविक ही अभिमानी बन जाता है।

'क्रोध'–दम्भ, दर्प और अभिमान से युक्त पुरुष जब यह पाता है कि लोगों की उसके विषय में जो धारणाएं हैं, वे उसकी अपनी धारणाओं से सर्वथा भिन्न हैं, तब उसका मन विद्रोह कर उठता है, जो प्रत्येक वस्तु की ओर क्रोध के रूप में प्रकट होता है। क्रोधावेश से अभिभूत ऐसे पुरुष के कर्मों और वाणी में लोगों को व्यग्र कर देने वाली कठोरता (पारुष्य) और धृष्टता का होना अनिवार्य है।

उपर्युक्त दम्भ, दर्प इत्यादि का एकमात्र कारण है–आत्म अज्ञान। वह न स्वयं को जानता है और न अपने आसपास के जगत् की संरचना को ही जानता है। परिणाम वह होता है कि वह यह समझ ही नहीं पाता कि उसको जगत् के साथ किस प्रकार का सुखद सम्बन्ध रखना चाहिये। सारांशतः, वह नितान्त अहंकार केन्द्रित हो जाता है और वह चाहता है कि बाह्य जगत् उसकी अपेक्षाओं

और इच्छाओं के अनुकूल और अनुरूप रहे। इतना ही नहीं, अपितु वह अपने कार्यक्षेत्र के कार्यकर्ताओं के लिये एक मूर्खतापूर्ण आचार संहिता प्रस्तुत करता है और अपेक्षा करता है कि वे ठीक उसी के अनुसार व्यवहार करें। स्वयं के तथा जगत् के विषय में यह जो अज्ञान है, यही वह गुप्त कारण है जिसके वशीभूत पुरुष समाज के विरुद्ध विद्रोह कर विक्षिप्त के समान व्यवहार करता है।

यह है आसुरी सम्पदा अर्थात् असुरों के गुण। इस श्लोक में चित्रित आसुरी सम्पदा की पार्श्वभूमि में, पूर्व वर्णित दैवी सम्पदा अधिक आकर्षक ढंग से उजागर होती है।

अब, इन दोनों प्रकार की सम्पादाओं के कार्यं अर्थात् फल बताते हैं।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥

हे पाण्डव ! दैवी संपदा मोक्ष के लिए और आसुरी सम्पदा बन्धन के लिये मानी गयी है, तुम शोक मत करो, क्योंकि तुम दैवी सम्पदा को प्राप्त हुये हो ॥५॥

दैवी और आसुरी गुणों की इतनी विस्तृत सूचियों को श्रवण कर कोई भी लगनशील साधक जानना चाहेगा कि वह किस सम्पदा से सम्पन्न है। प्रायः साधकगण अपने अवगुणों के प्रति अधिक जागरूक होते हैं और इस कारण उन्हें स्वयं में दैवी गुणों की सम्पन्नता में पूर्ण विश्वास नहीं हो पाता है। सम्भवतः, इसी प्रकार की निराशा के भाव अर्जुन के मुख पर देखकर भगवान् श्रीकृष्ण उसे तत्काल सान्त्वना देते हुये कहते हैं, "हे पाण्डव ! तुम शोक मत करो, तुम दैवी गुणों के साथ जन्मे हो।" यदि कोई विद्यार्थी रुचि और अध्यवसाय के साथ अध्ययन करते हुये गीता के इस अध्याय तक पहुंच जाता है, तो यही इस तथ्य का प्रमाण है कि वह "दैवी सम्पदा" से सम्पन्न है !

यहाँ, सदाचार की सुन्दरता और दुराचार की कुरूपता का वर्णन करने का प्रयोजन सत्पुरुषों को नित्य स्वर्ग का और असत्पुरुषों को नित्य नारकीय यातनाओं का भोग करने हेतु भेजने का नहीं है ! यहां, विषय वस्तु के विवेचन का वैज्ञानिक आधार है। नैतिक गुणों का पालन करना मनुष्य की क्षीण शक्तियों और क्लान्त प्रेरणाओं को पुनर्जीवित करने का बुद्धिमत्तापूर्ण साधन है। इन गुणों को अपने जीवन में जीने से, मनुष्य स्वनिर्मित संकल्पों के बन्धनों से मुक्त हो जाता है: "दैवी सम्पदा मोक्ष का साधन है।" इसके विपरीत, पापी पुरुषों के द्वारा अनुचरित दुष्प्रवृत्तियाँ मनुष्य को भ्रान्ति और दुःख के साथ बांध कर रखती हैं और उसे

अपने आन्तरिक व्यक्तित्व के विकास से वंचित रखती हैं : "आसुरी सम्पदा बन्धन का कारण है।"

"तुम शोक मत करो" – कभी-कभी साधकगण अत्यधिक भावुक बन कर निराश हो जाते हैं। तब उनकी प्रवृत्ति अपनी ही आलोचना करनें की ओर हो हो जाती है। परिणामस्वरूप वे विषाद और अवसाद को प्राप्त होते हैं, जो कि एक प्रकार का मानसिक रोग है। और ऐसा पुरुष कभी भी स्वयं में शक्तिवर्धक प्रसन्नता, आत्मविश्वास और दृढ़ संकल्प को नहीं पाता है जो कि आत्मनिरीक्षण तथा आत्मोपचार करने के लिए आवश्यक होते हैं। सदाचार का जीवन अपने आप में ही इस प्रकार के कुछ रोगों का उपचार कर देता है। हिन्दुओं की दृष्टि में, पापी पुरुष कोई मानसिक रूप से कुण्ठ रोगी नहीं है और न ही वह सर्वशक्तिमान् ईश्वर की विफलता का द्योतक है। वेदान्ती लोग असुर या राक्षस को ईश्वर के लिए नित्य चुनौती के रूप में नहीं देखते हैं।

दुर्बलता और अज्ञान से युक्त शुभ ही अशुभ कहलाता है और इन दोषों से मुक्त अशुभ ही शुभ बन जाता है। धूलि से आच्छादित दर्पण अपने समक्ष स्थित वस्तु को प्रतिबिम्बित नहीं कर पाता ; परन्तु इसका कारण दर्पण की अक्षमता न होकर उस पर धूलि का आच्छादन है, जो वस्तुत: उससे भिन्न है। दर्पण को स्वच्छ कर देने पर उसमें वस्तु का प्रतिबिम्ब स्पष्ट प्रकाशित होता है। इसी प्रकार, एक दुराचारी पुरुष के हृदय में भी सच्चित्स्वरूप आत्मा का प्रकाश विद्यमान होता है। परन्तु, दुर्भाग्य है कि वह प्रकाश उस पुरुष की अपनी ही मिथ्या धारणाओं एवं असत् मूल्यों के कारण आच्छादित रहता है।

अब, असुरों का विशेष अध्ययन करने की दृष्टि से, भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं :

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥

हे पार्थ ! इस लोक में दो प्रकार की भूतिसृष्टि है, दैवी और आसुरी। उनमें देवों का स्वभाव (दैवी सम्पदा) विस्तारपूर्वक कहा गया है ; अब असुरों के स्वभाव को विस्तरशः मुझसे सुनो ॥६॥

यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण यहां केवल दो प्रकार के – दैवी और आसुरी – लोगों का ही उल्लेख करते हैं, परन्तु वस्तुतः सृष्टि में एक और प्रकार के लोग भी हैं जो "सुधार के सर्वथा अयोग्य" होते हैं। ये हैं राक्षसी प्रवृत्ति के लोग जिनके विषय

में भगवान् सर्वथा मौन हैं। उनका यह मौन, संभवत: उनकी वक्तृता से भी अधिक बोधक है ! धर्म तथा आत्मविकास की साधनाओं का उपदेश प्रथम दो प्रकार के लोगों के लिए है, राक्षसों के लिए नहीं। क्योंकि उनका अभी पर्याप्त विकास नहीं हुआ है ; वे अभी भी प्राणियों को गढ़ने वाली प्रकृति के हाँथों में हैं और उन्हें अभी जीवन के सन्तप्त करने वाले अनुभवों की अग्नि में परिपक्व होने की आवश्यकता है। पर्याप्त विकास को प्राप्त होने पर ये राक्षसी लोग असुरों की श्रेणी में आ जाते हैं, जहां से आगे का पथ प्रदर्शन उन्हें धर्म के द्वारा किया जाता है। इस प्रकार, दैवी स्वभाव से उत्पन्न हो जाने पर उनके लिए आत्मविचार के द्वारा आत्मसाक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

इस अध्याय के चौथे श्लोक में आसुरी सम्पदा का संक्षिप्त रेखाचित्र ही चित्रित किया गया था जिसका संपूर्ण विस्तृत विवरण प्रस्तुत खण्ड में दिया गया है।

विश्व के प्राय: समस्त धर्मग्रन्थों में नैतिकता और सदाचार के सद्गुणों का तो स्तुतिगान गाया गया है परन्तु आसुरी पुरुष के अवगुणों का विस्तृत वर्णन उनमें क्वचित् ही मिलता है। हिन्दू धर्म के कुछ आलोचक जब हमारे धर्मशास्त्रों में ऐसे वर्णन को पाते हैं, तो टीका के योग्य विषय मिलने के कारण वे प्रसन्न हो जाते हैं। असुरों का वर्णन करना धर्मशास्त्रों एवं ऋषि मुनियों के लिए दूषणास्पद है, ऐसा उनका मत है। इस प्रकार की आलोचना विशेषत: उन्नीसवीं शताब्दि के आलोचकों के द्वारा अधिक की जाती थी ; परन्तु अब, बीसवीं शताब्दि में मनोविज्ञान के क्षेत्र में हुए अनुसन्धानों के परिणामों के कारण उन्हें मौन धारण करना पड़ा है। मनोविज्ञान के अनुसार, अपने अवगुणों का तीव्रता से भान होना और अपनी हीन प्रवृत्तियों के प्रति घृणा उत्पन्न होना ही उनके निराकरण का सरल उपाय है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में इस आधार पर सफल प्रयोग भी किए गये हैं।

अशुभ, शुभ का केवल विरोधी ही नहीं है। ऐसा नहीं है कि शुभ प्रकृति के एक प्रकार के गुण हैं, तो अशुभ प्रकृति के उससे भिन्न लक्षण हैं। मनुष्य की प्रवृत्तियां विशिष्ट प्रकार की होती हैं, और शुभ व अशुभ दोनों ही उसके हृदय की अभिव्यक्तियाँ हैं। "शुभ का त्रुटिपूर्ण अर्थ" ही अशुभ है। इसलिए, आसुरी गुणों की सूची में हमें कोई पूर्वकथित दैवी गुणों के विरोधी लक्षणों की नीरस गणना नहीं मिलेगी। असुरों के स्वभाव का अध्ययन करने पर ज्ञात होगा कि मूलत: उनके गुण सत्पुरुषों के गुणों के समान ही होते हैं, परन्तु उनका दुरुपयोग त्रुटिपूर्ण मूल्यांकन के कारण अति उत्साह में आकर विपरीत दिशा में किया जाता है। अज्ञान से विषाक्त सद्गुण ही अवगुण बन जाता है, और अवगुण का उपचार करने पर वह विषमुक्त होकर सद्गुणरूपी स्वास्थ्य को पुन: प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार, आसुरी स्वभाव का वर्णन करने वाले इस खण्ड के प्रथम श्लोक में ही, मानो, उनकी क्षमा याचना करते हुए तथा उनके प्रति हमारे हृदय में छिपी करुणा को उजागर करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं :

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ।।७।।

आसुरी स्वभाव के मनुष्य न प्रवृत्ति को जानते हैं और न निवृत्ति को ; उनमें न शुद्धि होती है, न सदाचार और न सत्य ही होता है ।।७।।

यहां प्रवृत्ति और निवृत्ति शब्द के अर्थ क्रमशः कर्तव्य कर्म और अकर्तव्य अर्थात् निषिद्ध कर्म हैं[1] ।

धार्मिक अनुष्ठानकर्त्ता कर्तव्य पालन और निःस्वार्थ समाज सेवा के द्वारा न केवल तात्कालिक लाभ को प्राप्त करता है अपितु अन्तःकरण की शुद्धि भी प्राप्त करता है, क्योंकि वह कभी अपने सर्वोच्च लक्ष्य को विस्मृत नहीं होने देता । निषिद्ध कर्मों से विरति ही निवृत्ति कहलाती है । अकर्तव्य का त्याग ही मनुष्य के लिए श्रेयष्कर होता है । असुर लोगों को कर्तव्य और अकर्तव्य का सर्वथा अज्ञान होता हैं । यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि आसुरी गुणों की सूची 'अज्ञान' से प्रारम्भ होती है । यदि कोई व्यक्ति अज्ञानवशात् किसी प्रकार का अपराध करता है, तो समाज के सहृदय पुरुषों के मन में उसके प्रति क्षमा का भाव सहज उदित होता है, भले ही न्यायालय में उसे क्षमा के योग्य कारण न माना जाये ।

बाह्य शुद्धि, बहुत कुछ मात्रा में मनुष्य के आन्तरिक व्यक्तित्व की परिचायक होती है । श्रेष्ठ शिक्षा और संस्कारी पुरुष में ही यह शुद्धि हमें देखने को मिलती है ।

अज्ञानी पुरुष में अन्तर्बाह्य शुद्धि का अभाव होता है । ऐसे अनुशासनविहीन पुरुष का व्यवहार (आचार) भी विनयपूर्ण नहीं हो सकता, क्योंकि बाह्य आचरण मनुष्य के स्वभाव की ही अभिव्यक्ति है । इसलिए भगवान् कहते हैं कि आसुरी लोगों में सदाचार का अभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है ।

अविवेक, अशौच तथा अनाचार से युक्त पुरुष अपने वचनों की सत्यता का

---

१. विभिन्न व्याख्याकारों ने प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दो शब्दों के विभिन्न अर्थ बताए हैं । किसी की व्याख्या के अनुसार इनका अर्थ क्रमशः "जगत् की उत्पत्ति" और उसकी "प्रलय" है ; दूसरा अर्थ है प्रवृत्ति माने इहलोक और परलोक की प्राप्ति के लिए कर्मानुष्ठान तथा निवृत्ति का अर्थ है संन्यास ।

पालन कभी नहीं कर सकता। यदि हम इन उल्लिखित गुणों का सावधानीपूर्वक अध्ययन करें, तो हमें स्पष्ट बोध होगा कि भगवान् के हृदय में इन दुराचारियों के प्रति कितनी करुणा है। सम्पूर्ण गीता में, इनके प्रति रञ्चमात्र भी प्रतिशोध या द्वेष का भाव प्रकट नहीं किया गया है। हम यह नहीं कह सकते कि आसुरी पुरुष जानबूझ कर असत्य का अनुकरण करता है। वास्तविकता यह है कि वह अपने स्वभाव से विवश निष्कपट व्यवहार करने में स्वयं को सर्वथा असमर्थ पाता है।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥

वे कहते हैं कि यह जगत् आश्रयरहित, असत्य और ईश्वर रहित है, यह (स्त्रीपुरुष के) परस्पर कामुक संबंध से ही उत्पन्न हुआ है, और (इसका कारण) क्या हो सकता है ? ॥८॥

आसुरी लोगों के वर्णन में हम ऐसे नितान्त संशयी और भौतिकवादी पुरुष को पहचान सकते हैं, जो जीवन की ओर केवल अपनी सीमित बुद्धि के दृष्टिकोण से ही देखता है। इसलिए, स्वाभाविक ही है कि वह जीवन का न कोई चरम लक्ष्य देख पाता है, और न ही इस अनित्य और परस्पर असंबद्ध प्रतीत होने वाली घटनाओं से पूर्ण जगत् का कोई नित्य अधिष्ठान स्वीकार कर पाता है। इन भौतिक वादियों की बुद्धि प्रखर होती है और वे स्वतन्त्र और मौलिक विचार करने में समर्थ होते हैं। इन लोगों को अल्प मार्गदर्शन की ही आवश्यकता होती है, जिससे कि वे अपनी सीमित बुद्धि के परे भी देख सकें। इस श्लोक में भौतिकवादी दृष्टिकोण का वर्णन किया गया है।

भौतिकवादी वैज्ञानिक पद्धति से जगत् का निरीक्षण और विश्लेषण करते हैं, फिर भी वे उस सत्य को नहीं पहचान पाते हैं, जो इस विश्व को धारण किये हुए है। वे परिवर्तनों को देखते हैं, और इस सतत परिवर्तन को ही वे जगत् समझ लेते हैं, जिसके लिये किसी नित्य, अविकारी अधिष्ठान का होना वे नहीं मानते हैं। परन्तु, वैज्ञानिक भी अब स्वीकार करते हैं कि किसी नित्य, अपरिवर्तशील अधिष्ठान के बिना न जगत् में परिवर्तन हो सकता है और न ही वह ज्ञात हो सकता है। परिवर्तन तो एक सापेक्ष घटना मात्र है। एक स्थिर और गतिशून्य परदे के बिना चलचित्र का प्रक्षेपण नहीं किया जा सकता; और नदी के स्थिर तल के बिना जल का अखण्ड प्रवाह नहीं बना रह सकता। उसी प्रकार अधिष्ठान के बिना आभास नहीं हो सकता। सम्पूर्ण जगत् का यह आश्रय ही सत्य कहलाता है; परन्तु आसुरी

स्वभाव के लोगों के अनुसार, "जगत् निराश्रय है, सत्यरहित है।"

'अनीश्वरम्' – जगत् का कोई अधिष्ठान नहीं है; तब कम-से-कम, क्या कोई सर्वज्ञ सर्वशासक है, जो जगत् की घटनाओं को नियन्त्रित करता है ? भोगवादी लोगों के अनुसार ऐसा कोई नियन्ता और निर्माता नहीं है। न सृष्टिकर्ता है और न पालनकर्ता ही है।

इनके मतानुसार यह सम्पूर्ण चराचर जगत् केवल महाभूतों के परस्पर सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ है और यह संबंध जिस किसी रूप में परिणत होता है, वह केवल 'संयोग' की बात है, और न कि उसके पार्श्व में कोई नियम है। प्राणियों की उत्पत्ति का एकमात्र कारण है, कामवासना। आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी इस पर बल देते हैं कि कामवासना ही अन्य समस्त वृत्तियों की जननी है, जिसके कारण समस्त घटनाएं घट रही हैं और जीवन की समस्त उपलब्धियाँ संभव होती हैं।

आसुरी लोगों के दृष्टिकोण को दर्शाने के पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण ऐसे लोगों के भाग्य के प्रति सहानुभूति अनुभव करते हुए उनके कर्मों को बताते हैं :

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥

इस दृष्टि का अवलम्बन करके नष्टस्वभाव के अल्प बुद्धि वाले, घोर कर्म करने वाले लोग जगत् के शत्रु (अहित चाहने वाले) के रूप में उसका नाश करने के लिए ही उत्पन्न होते हैं ॥९॥

पूर्व श्लोक में वर्णित दृष्टि का अवलम्बन करने वाले लोग किसी सत्य अधिष्ठान में श्रद्धा नहीं रखते हैं। यदि कामवासना को ही मूल कारण समझकर समाज में पाशविक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया जाये, तो उसका परिणाम सर्वत्र अशान्ति और कलह, विध्वंस और विनाश ही होगा।

'नष्टात्मानः' – केवल वही पुरुष सन्तुलित व्यक्तित्व का हो सकता है, जिसने स्वयं को सम्यक् प्रकार से समझ लिया है। जब कभी मनुष्य को स्वयं का ही विस्मरण हो जाता है, तब वह अपने जन्म, शिक्षा, संस्कृति और सामाजिक प्रतिष्ठा के सर्वथा विपरीत एक विक्षिप्त अथवा मदोन्मत्त पुरुष के समान निन्दनीय व्यवहार करता है। पशुवत व्यवहार करता हुआ वह अपने विकास की दिव्य प्रतिष्ठा का अपमान करता है।

'अल्पबुद्धयः' – जब कोई पुरुष जगत् के अधिष्ठान के रूप में श्रेष्ठ और दिव्य सत्य का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करता है, तब वह अत्यन्त आत्मकेन्द्रित

और स्वार्थी पुरुष बन जाता है। तत्पश्चात् उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य अधिकाधिक व्यक्तिगत लाभ अर्जित करना होता है। विषय वासनाओं की तृप्ति के द्वारा वह परम सन्तोष और आनन्द प्राप्त करने का सर्वसंभव प्रयत्न करता है, परन्तु अन्त में निराशा और विफलता ही उसके हाथ लगती है। करुणासागर भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें 'अल्पबुद्धि' कहकर उनके प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त करते हैं।

'उग्रकर्मी' -- यदि कोई व्यक्ति वास्तव में लोक तान्त्रिक और सहिष्णु विचारों का हो तो उसके मन में यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि यदि कोई नास्तिक भोगवादी पुरुष पारमार्थिक सत्य में विश्वास नहीं भी करता है, तो अन्य लोगों को उससे भिन्न सत्य श्रद्धा और विचार रखने की स्वतन्त्रता क्यों न हो ? ऐसे प्रश्न का पूर्वानुमान करके भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि आसुरी स्वभाव के श्रद्धाहीन पुरुष में यही विवेक नहीं रह पाता है और वह सभी स्तरों पर निरंकुश व्यवहार करने लगता है। अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर कभी-कभी ऐसे शक्तिशाली लोग अपने युग में घोर, विपत्तियों को उत्पन्न कर देते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से, आज का जगत् उसी संकटपूर्ण स्थिति से गुजर रहा है जिसके विषय में गीता ने पूर्वानुमान के साथ बहुत पहले ही घोषणा कर दी थी !

जो भौतिकवादी आसुरी लोग सत्य में श्रद्धा नहीं रखते हैं, वे अनजाने ही समाज के सामंजस्य में ऐसी विषमता और विकृति उत्पन्न करते हैं कि जिसके कारण सम्पूर्ण विश्व विनाशकारी युद्ध की रक्तपूर्ण दलदल में फँस जाता है।

आगे कहते है :

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

दम्भ, मान और मद से युक्त कभी न पूर्ण होने वाली कामनाओं का आश्रय लिये, मोहवश मिथ्या धारणाओं को ग्रहण करके ये अशुद्ध संकल्पों के लोग जगत् में कार्य करते हैं ॥१०॥

जिस गर्व के साथ एक नितान्त भौतिकवादी व्यक्ति अपनी उपलब्धियों के क्षेत्र में विचरण करता है, उसके आन्तरिक स्वभाव की भयंकर विद्रूपता को, व्यासजी द्वारा किये गये इस वर्णन से अधिक अच्छी प्रकार से व्यक्त नहीं किया जा सकता है। आसुरी पुरुष की मनःस्थिति तथा समाज में उसके कर्मों के स्तर का और अधिक स्पष्ट एवं सम्पूर्ण वर्णन पाने के लिये हमें विश्व की सभी भाषाओं के

विद्यमान साहित्य में खोजबीन करनी होगी, फिर भी इस सारगर्भित श्लोक के समतुल्य चित्रण पाने में हमें असफलता ही मिलेगी।

'काममाश्रित्य' -- इच्छाओं की प्रेरणा के बिना कर्म कदापि नहीं हो सकते हैं। इच्छाओं के अभाव में जीवन की उपलब्धियां असम्भव हैं। तथापि, कामनाओं का शिकार बने रहने का अर्थ है कर्मों का कोई भयंकर यन्त्र बनना, जो जगत् में अहंकार और अहंकार केन्द्रित मनोद्वेगों के विष का वमन करता रहता है। कामनाओं की तृप्ति के लिये ही जीवन धारण करना अविवेक का लक्षण है; क्योंकि, कामना का यह विशेष कौशल है कि जैसे-जैसे हम उसे तृप्त करते जाते हैं; वैसे-वैसे ही, वह द्विगुणित होती जाती है। उन्हें तृप्त करना कठिन है, वे 'दुष्पूर' हैं। ऐसी कामनाओं से युक्त पुरुष जब अपने विवेक और सामर्थ्य का उपयोग करता है, तब स्वाभाविक है कि वह अपने मन में तथा बाह्य जगत् में विक्षेप और दुर्व्यवस्था को उत्पन्न करता है।

कामना क्या है? विषयोपभोग के द्वारा शाश्वत सुख और सन्तोष को प्राप्त करने का जीव का प्रयत्न ही कामना है। जब वह इस प्रकार मोहित हो जाता है, तब वह दम्भ, मद और मान का भी शिकार बन जाता है। उनके द्वारा प्रताड़ित वह अपनी निरंकुश इच्छाओं को तृप्त करने के लिये सतत संघर्ष और परिश्रम करता रहता है।

'मोहात्' -- परिपूर्ण और तृप्त पुरुष के मन में कामना नहीं हो सकती।[1] जो पुरुष अपने अनन्त स्वरूप को न जानकर स्वयं को परिच्छिन्न जीव ही समझता है, केवल उसे ही विषयों की कामना हो सकती है। इसे ही मोह कहते हैं।

असुर लोगों के मन का चरित्र इस श्लोक की द्वितीय पंक्ति में पूर्ण होता है। उन्हें यहां 'अशुचिव्रताः' कहा गया है। इसका अभिप्राय वह है कि ऐसे आसुरी स्वभाव के लोग येन केन प्रकारेण अपने ही सुख और शान्ति के लिए प्रयत्न करने में अन्य लोगों का कुछ भी महत्व नहीं समझते हैं। जीवन के सभी आदर्श-मूल्यों को ताक में रखकर निर्लज्ज, असहिष्णु और क्रूर तक होकर वे अपने कार्य क्षेत्र में संघर्षरत रहते हैं। कामवासना से मदोन्मत्त और स्वार्थ से संवेदनाशून्य वह व्यक्ति जगत् में एक पागल के समान अपने चारों ओर रक्त और अम्ल फेंकता हुआ विपत्ति और विनाश का ही कार्य करता है!

एक व्यष्टि की दृष्टि से यह चित्र हमें एक ऐसे भोगवादी पुरुष को दर्शाता

---

१. "आप्तकामस्य का स्पृहा" अर्थात् "परिपूर्ण पुरुष को स्पृहा कहाँ?"
(माण्डूक्योपनिषद् कारिका)

है, जो अपने जीवन का निर्माण कामना से विक्षुब्ध हुए मन की चञ्चल तरंगों पर करता है। समष्टि की दृष्टि से देखने पर यही शब्द चित्र हमें भौतिकवादी जन-समुदायों और राष्ट्रों की स्थिति का दर्शन कराता है। जीवन की सुन्दरता उस तत्त्वज्ञान की सुन्दरता पर निर्भर करती है, जिस पर जीवन का निर्माण होता है यदि नींव ही असत् हो, तो उसके ऊपर निर्मित ताश के महल से अधिक सुदृढ नहीं हो सकता। यदि हम इस श्लोक को सूक्ष्मदृष्टि से देख सकें, तो ज्ञात होगा कि इसमें आज के जगत् में सर्वत्र अनुभव हो रहे आर्थिक विघटन, सामाजिक दोष, राजनीतिक उथलपुथल और अशान्ति का सम्पूर्ण विवेचन किया गया है।

उपर्युक्त वर्णन के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण अप्रत्यक्ष रूप से एक ऐसे भौतिकवादी पुरुष का चित्रण कर रहे हैं, जो अपने स्वभाव से ही नास्तिक विचारधारा का है तथा भोग के लिए ही कर्म करता रहता है। क्या आज के भौतिकवादी युग में हम अपने को यथोक्त वर्णन के अनुरूप ही सिद्ध नहीं कर रहे हैं !

भगवान् आगे कहते हैं :

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चताः॥११॥

मरणपर्यन्त रहने वाली अपरिमित चिन्ताओं से ग्रस्त और विषयोपभोग को ही परम लक्ष्य मानने वाले ये आसुरी लोग इस निश्चित मत के होते हैं कि "इतना ही (सत्य, आनन्द) है" ॥११॥

चिन्ता और व्याकुलता से ग्रस्त ये हतोत्साहित लोग अपने निरर्थक उद्यमों के जीवन को दुःख के गलियारे से खींचते हुए मृत्यु के मौन आंगन में ले आते हैं। सामान्य जीवन में, ये चिन्ताएं शान्ति और आनन्द के दुर्ग पर टूट पड़ती हैं और विशेष रूप से तब, जब शक्तिशाली कामनाओं ने मनुष्य को जीत कर अपने वश में कर लिया होता है। अपनी इष्ट वस्तुओं को प्राप्त करने (योग) के लिये परिश्रम और संघर्ष तथा प्राप्त की गयी वस्तुओं के रक्षण (क्षेम) की व्याकुलता, यही मनुष्य जीवन की चिन्ताएँ होती हैं। जीवन पर्यन्त की कालावधि केवल इन्हीं चिन्ताओं में अपव्यय करना, और अन्त में, यही पाना कि हम उसमें कितने दयनीय रूप से विफल हुए हैं, वास्तव में एक बड़ी त्रासदी है।

'कामोपभोगपरमा'–सत्कार्य के क्षेत्र में हो या दुष्कृत्य के क्षेत्र में, मनुष्य को निरन्तर कार्यरत रहने के लिये किसी दर्शन (जीवन विषयक दृष्टिकोण) की आवश्यकता होती है, जिसके बिना उसके प्रयत्न असंबद्ध, हीनस्तर के और निरर्थक होते हैं।

आसुरी स्वभाव के लोगों का जीवन-दर्शन निरपवाद रूप से सर्वत्र एक समान ही होता है। इस श्लोक में चार्वाक मत[1] (नास्तिक दर्शन) को इंगित किया गया है। इस मत के अनुसार 'काम' ही मनुष्य जीवन का परम पुरुषार्थ है, अन्य-धर्म या मोक्ष–कुछ नहीं।

"इतना ही है"–सामान्यत:, ये भौतिकवादी मूर्ख नहीं होते हैं, परन्तु वे अत्यन्त स्थूल बुद्धि और सतही दृष्टि से ही विचार करते हैं। वे यह अनुभव करते हैं कि केवल विषय भोग का जीवन दु:खपूर्ण होता है, और इसमें क्षुद्र लाभ के लिये मनुष्य को अत्यधिक मूल्य चुकाना पड़ता है। फिर भी, वे अपनी अनियन्त्रित कामवासना को ही तृप्त करने में रत और व्यस्त रहते हैं। उनसे यदि इस विषय में प्रश्न पूछा जाये, तो उनका उत्तर होगा कि यह संघर्ष ही जीवन है। वे सुख और शान्तिमय जीवन को जानते ही नहीं हैं। प्राय: वे निराशावादी होते हैं और नैतिक दृष्टि से जीवन विषयक गम्भीर विचार करने से कतराते हैं। फलत: उनमें आत्महत्या और नरहत्या की प्रवृत्तियां भी देखी जा सकती हैं। उनकी धारणा यह होती है कि चिन्ता और दुःख से ही जीवन की रचना हुई है। जीवन के सतही असामंजस्य और विषमताओं के पीछे जो सामंजस्य और लय है, उसे वे पहचान नहीं पाते। भविष्य में कोई आशाकिरण न देखकर उनका हृदय कटुता से भर जाता है और फिर उनका जीवन मात्र प्रतिशोधपूर्ण हो जाता है। निष्फल परिश्रम में वे अपनी शक्तियों का अपव्यय करते हैं और अन्त में थके, हारे और निराश होकर दयनीय मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

उपर्युक्त जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति को अगले श्लोक में बताते हुये भगवान् कहते हैं :

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ।।१२।।

सैकड़ों आशापाशों से बंधे हुए, काम और क्रोध के वश में ये लोग विषयभोगों की पूर्ति के लिये अन्याय पूर्वक धन का संग्रह करने ले लिये चेष्टा करते हैं।।१२।।

---

१. चार्वाक मत का सारांश इस प्रकार है :
यावज्जीवेत्सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत: ।।
बृहस्पति सूत्र में कहा गया है कि 'काम' ही परम पुरुषार्थ है,
"काम एक एव पुरुषार्थ:"।

आसुरी लोगों के स्वभाव को अधिक स्पष्ट करते हुये भगवान् श्रीकृष्ण इस श्लोक में उनके कार्य कलापों का वर्णन करते हैं। सैकड़ों आशापाशों से बन्धे हुये पुरुष की मानसिक और बौद्धिक क्षमताओं का ह्रास होता रहता है। फिर वह अशान्त पुरुष प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति और घटना के साथ अपने धैर्य को खोकर अपने विवेक और मानसिक सन्तुलन को भी खो देता है। उत्तेजना और सतत असन्तोष से ग्रस्त यह पुरुष 'काम और क्रोध" के वशीभूत हो जाता है। कामना के अतृप्त या अवरुद्ध होने पर क्रोध उत्पन्न होना निश्चित है। कामना पूर्ति के लिये वह संघर्ष करता है, परन्तु प्रतिस्पर्धा से पूर्ण इस जगत् में सदैव इष्ट प्राप्ति होना असंभव है और ऐसी परिस्थिति में उसकी कामना उन्मत्त और उद्वेगपूर्ण क्रोध में परिवर्तित हो जाती है।

'ईहन्ते' – अथक परिश्रम के द्वारा वे अपनी नित्य वर्धमान कामना को सन्तुष्ट करने में प्रयत्नशील होते हैं। भोग के लिये विषयों का परिग्रह आवश्यक होता है। वे शान्ति और सुख को खोजने के स्थान पर उस एक संज्ञाविहीन तृष्णा को तृप्त करने का प्रयत्न करते रहते हैं, जोकि एक दीर्घकालीन असाध्य रोग के समान होती है। अपनी मनःप्रवृत्तियों का निरीक्षण, अध्ययन एवं यथार्थ निर्णय पर पहुंचने के लिये आवश्यक मनःसन्तुलन का उनमें सर्वथा अभाव होता है। इच्छापूर्ति की विक्षिप्त भागदौड़ में वे जीवन के दिव्यतत्त्व से पराङ्मुख हो जाते हैं और सत्यासत्य के विवेक की भी उपेक्षा करते हैं। कामना प्रेरित होने पर वे अन्याय-पूर्वक अर्थ का संचय करने में व्यस्त हो जाते हैं।

यद्यपि आसुरी लोगों के इन लक्षणों को पांच हजार वर्षों पूर्व लिखा गया था, परन्तु आश्चर्य है कि इस खण्ड को पढ़ने पर ऐसा प्रतीत होता है, मानो यह आज के युग की कटु किन्तु सत्य आलोचना है ! इस प्रकार, यदि गीता के विद्यार्थी आज के गौरवशाली विज्ञान, भौतिक समृद्धि, लौकिक उपलब्धि और राजनीतिक मुक्ति के युग का परीक्षण करें, तो इस युग को 'आसुरी' श्रेणी में ही मान्यता प्राप्त होगी। औद्योगिक संस्थानों के व्यापक प्रसार के चीखते हुये भोपुओं की कर्णकटु ध्वनि और आधुनिक वैज्ञानिक अस्त्रों के भयानक धमाके के मध्य तथा हमारे द्वारा आविष्कृत स्वविनाश की प्राकृतिक शक्तियों के कोलाहल में, हम भले ही सुदूर काल के 'ज्ञानी' पुरुषों के द्वारा उद्घोषित सत्य की ओर ध्यान न दें, किन्तु गीता के निष्ठावान विद्यार्थी उन घोषणाओं की अकाट्य सत्यता को प्रत्यक्ष देखते हैं, और स्वभावतः अपने युग के प्रति उनका मन उदास हो जाता है।

उन पुरुषों के विचार इस प्रकार होते हैं :

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ।।१३।।

मैंने आज यह पाया है और इस मनोरथ को भी प्राप्त करूंगा, मेरे पास यह इतना धन है और इससे भी अधिक धन भविष्य में होगा ।।१३।।

यह श्लोक स्वतः स्पष्ट है । सामान्य लोग इसी प्रकार का जीवन जीते हैं । प्रतिस्पर्धा से पूर्ण इस जगत् में उस व्यक्ति को सफल समझा जाता है, जिसके पास अधिकतम धन हो । अतः मनुष्य को जितना अधिक धन प्राप्त होता है, उससे उसकी सन्तुष्टि नहीं होती । धनार्जन की इस धारणा में हास्यास्पद विरोधाभास यह है कि धन प्राप्ति से सन्तोष होने के स्थान पर अधिकाधिक धन की तृष्णा बढ़ती ही जाती है । आज तक किसी भी भौतिकवादी धनी व्यक्ति ने अपने धन को पर्याप्त नहीं माना है ।

इसके विपरीत स्थितप्रज्ञ पुरुष के लक्षण बताते हुये गीता में कहा गया है कि ज्ञानी पुरुष की परिपूर्णता ऐसी होती है कि जगत् के विषय उसके मन में किंचित् भी विकार उत्पन्न नहीं करते हैं, और वही पुरुष वास्तविक शान्ति प्राप्त करता है, न कि एक कामी पुरुष ।

इस श्लोक में आसुरी पुरुष का भौतिक वस्तुओं के संबंध में दृष्टिकोण बताया गया है, अब अगले श्लोक में उसके व्यक्तिविषयक दृष्टिकोण को बताते हैं ।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ।।१४।।

"यह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया है और दूसरे शत्रुओं को भी मैं मारूंगा ।" "मैं ईश्वर हूं और भोगी हूं," 'मैं सिद्ध पुरुष हूं," "मैं बलवान् और सुखी हूं" ।।१४।।

इस श्लोक का अनुवाद ही इसकी व्याख्या भी है । और बहुसंख्यक लोगों के जीवन की भी यही व्याख्या है ! सारांशतः, यह अभिमानी जीव की "सफलता का गीत" है, जिसे एक नितान्त आसुरी पुरुष अपने मन में सदैव गुनगुनाता रहता है । इस आसुरी लोरी के मादक प्रभाव में, मनुष्य के श्रेष्ठ और दिव्य संस्कार उन्माद की निद्रा में लीन हो जाते हैं ।

एक भौतिकवादी पुरुष की स्वयं के विषय में क्या धारणा होती है ? सुनो–

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशोमया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ।।१५।।

"मैं धनवान् और श्रेष्ठकुल में जन्मा हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है ? 'मैं यज्ञ करूँगा', 'मैं दान दूँगा', 'मैं मौज करूँगा' – इस प्रकार के अज्ञान से वे मोहित होते हैं ।।१५।।

अज्ञान और उससे उत्पन्न विपरीत ज्ञान से मोहित तथा गर्व और मद से उन्मत्त आसुरी पुरुष जगत् की ओर इसी भ्रामक दृष्टि से देखता है। ऐसी स्थिति में स्वयं का तथा जगत् के साथ अपने सम्बन्ध का त्रुटिपूर्ण मूल्यांकन करना स्वाभाविक ही है। उसे अपने धन, वैभव और कुल का इतना अभिमान होता है कि वह अपने समक्ष सभी को तुच्छ समझता है। स्वयं ही समाज से बहिष्कृत होकर, वह मिथ्या अभिमान के महल में रहता है और असंख्य प्रकार की मानसिक यातनाओं का कष्ट भी भोगता रहता है। उसकी महत्वाकांक्षा यह होती है कि यज्ञादि के द्वारा वह देवताओं पर भी शासन करे और दान के द्वारा सम्पूर्ण जगत् का क्रय कर ले। इस प्रकार, सम्मानित और पूजित होकर "मैं मौज करूँगा"। ये अज्ञान के गर्त में पड़े हुए आसुरी पुरुष के कुछ अत्यन्त विक्षिप्ततापूर्ण कथन हैं।

उपर्युक्त तीन श्लोकों का सारांश बताते हुये कहते हैं :

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ।।१६।।

अनेक प्रकार से भ्रमित चित्त वाले, मोह जाल में फंसे तथा विषयभोगों में आसक्त ये लोग घोर, अपवित्र नरक में गिरते हैं ।।१६।।

'अनेकचित्त विभ्रान्ताः' – आत्मकेन्द्रित और विषयासक्त पुरुष का मन सदैव अस्थिर रहता है। अनेक प्रकार की भ्रामक कल्पनाओं में वह अपने मन की एकाग्रता की क्षमता को को क्षीण कर लेता है।

'मोहजालसमावृताः' – यदि ऐसे आसुरी पुरुष का मन सारहीन स्वप्नों में बिखरा होता है, तो उसकी बुद्धि की स्थिति भी दयनीय ही होती है। विवेक और निर्णय की उसकी क्षमता मोह और असत् मूल्यों में फँस जाती है। आश्रयविहीन बुद्धि किस प्रकार उचित निर्णय और जीवन का सही मूल्यांकन कर सकती है ? ऐसे दोषपूर्ण मन और बुद्धि के द्वारा जगत् का अवलोकन करने पर सर्वत्र विषमता और विकृति के ही दर्शन होंगे, समता और संस्कृति के नहीं।

'विषयों में आसक्त' – जिस पुरुष की बुद्धि मोह से आच्छादित हो और मन विक्षेपों से अशान्त हो, तो उसकी इन्द्रियाँ भी असंयमित ही होंगी। यदि कार की

चालकशक्ति ही मदोन्मत्त हो, तो कार की गति भी संयमित नहीं हो सकती। इस लिए, ऐसे आसुरी स्वभाव के पुरुष विषयभोगों में अत्यधिक आसक्त हो जाते हैं।

'वे अपवित्र नरक में गिरते हैं' – शरीर से थके, मन से भ्रमित और बुद्धि से विचलित ये लोग यहीं पर स्वनिर्मित नरक में रहते हैं तथा अपने दुःख और कष्ट सभी को वितरित करते हैं। इस तथ्य को समझने के लिए हमें कोई महान् दार्शनिक होने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य में यह सामर्थ्य है कि वह समता के दर्शन से नरक को स्वर्ग में परिवर्तित कर सकता है और विषमता के दर्शन से स्वर्ग को नरक भी बना सकता है। अयुक्त व्यक्तित्व का पुरुष किसी भी स्थिति में शान्ति और पूर्णता का अनुभव नहीं करता है। यदि समस्त वातावरण और परिस्थितियां अनुकूल भी हों, तो वह अपनी आन्तरिक पीड़ा और दुःख के द्वारा उन्हें प्रतिकूल बना देता है।

यदि इन आसुरी गुणों से युक्त केवल एक व्यक्ति भी सुखद परिस्थितियों को दुखद बना सकता है, तो हम उस जगत् की दशा की भलीभांति कल्पना कर सकते हैं जहाँ बहुसंख्यक लोगों की कम-अधिक मात्रा में ये ही धारणायें होती हैं। स्वर्ग और नरक का होना हमारे अन्तःकरण की समता और विषमता पर निर्भर करता है।

आगे कहते हैं :

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ।।१७।।

अपने आप को ही श्रेष्ठ मानने वाले, स्तब्ध (गर्वयुक्त), धन और मान के मद से युक्त लोग शास्त्रविधि से रहित केवल नाममात्र के यज्ञों द्वारा दम्भपूर्वक यजन करते हैं ।।१७।।

यज्ञ शब्द से वेदोक्त कर्मकाण्ड ही समझने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु जैसा कि गीता के ही तीसरे अध्याय में कहा गया था "निःस्वार्थभाव से ईश्वर को अर्पण कर किये गए सभी सेवा कर्म 'यज्ञ' ही कहलाते हैं।" संक्षेप में कहा जा सकता है कि कर्म ही पूजा है।

जब कभी कोई व्यक्ति समाज सेवा या राष्ट्र के कार्यक्षेत्र में प्रवेश करता है, तब यह आवश्यक नहीं है कि वह सदैव शुद्ध यज्ञ भावना से ही कर्म करता हो। यद्यपि अनेक राजनीतिक नेता और समाज सेवक राष्ट्रोद्धार के लिए प्रयत्नशील दिखाई देते हैं, तथापि वस्तुस्थिति यह है कि राष्ट्र में शान्ति, समृद्धि और सम्पन्नता

का अभाव ही है। इसका क्या कारण हो सकता है ? इसका कारण स्पष्ट है। जब आसुरी प्रकृति का व्यक्ति अपने कार्यक्षेत्र में प्रवेश करता है, तब वह अपने सेवा भाव की घोषणा और प्रदर्शन भी करता है। परन्तु, वास्तव में, निःस्वार्थ सेवा कर पाना उसके मूल स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल होता है। समाज के ऐसे मित्र या सेवक नाममात्र के लिए सेवादिरूप यज्ञ करते हैं। अनजाने ही, उनके कर्म अभिमान से विषाक्त, कामुकता से रंजित, गर्व से विकृत और इनके मिथ्या दर्शनशास्त्र से प्रायः दूषित होते हैं। इस प्रकार उनके सभी कर्मों का एकमात्र परिणाम दुःख ही होता है।

ऐसे नीच लोग प्रतिदिन निम्नतर स्तर को प्राप्त होते जाते हैं :

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोध के वशीभूत हुए परनिन्दा करने वाले ये लोग अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ (परमात्मा) से द्वेष करने वाले होते हैं ॥१८॥

एक बार अहंकार के वशीभूत हो जाने पर मनुष्य का पशु ने निम्नतम स्तर तक निरन्तर पतन होता जाता है। कामना से उन्मत्त वह पुरुष सुसंस्कृत मानव की प्रतिष्ठा से पदच्युत हो जाता है और तत्पश्चात् एक प्रभावहीन पशु के समान संदिग्ध रूप में समाज में विचरण करता है ! ऐसा व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से मनुष्य होते हुए भी मानसिक दृष्टि से पशु ही होता है। इस श्लोक में इन्हीं आसुरी लोगों का वर्णन किया गया है।

यहाँ उल्लिखित अहंकारादि अवगुणों में से एक अवगुण भी भ्रष्टता के तल तक गिराने के लिये पर्याप्त है, परन्तु भगवान् कहते हैं कि आसुरी पुरुष इन सभी अवगुणों से युक्त होता है। इतना ही नहीं, अपितु वह इन्हें ही श्रेष्ठ गुण मानकर इनका अवलम्बन भी करता है। इनकी अभिव्यक्ति में ही वह सन्तोष का अनुभव करता है।

प्रायः नवयुवकों को यह उपदेश दिया जाता है कि उन्हें अपनी निम्नस्तर की हीन प्रवृत्तियों के प्रलोभनों का शिकार नहीं बनना चाहिये। कोई स्वच्छन्द प्रवृत्ति का युवक प्रश्न पूछ सकता है कि इसमें क्या हानि है ? गीताचार्य कहते हैं कि सभी सांस्कृतिक मूल्यों का अपमान करते हुए अहंकार स्वार्थ और कामुकता का जीवन जीने का परिणाम सम्पूर्ण नाश है।

उपर्युक्त आसुरी गुणों से युक्त लोग जीवन की पवित्रता की उपेक्षा करेंगे और बिना किसी पश्चाताप के उसे अपवित्र करने में भी संकोच नहीं करेंगे। ये परनिन्दा में प्रवृत्त होंगे और सबके शरीर में स्थित "मुझ परमात्मा का द्वेष करेंगे।" केवल शुद्धान्त:करण में ही परमात्मा अपने शुद्धस्वरूप से व्यक्त होता है, न कि विषय वासनाओं से आच्छादित अशुद्ध अन्त:करण में। सदाचार का पालन चित्त को शुद्ध करता है। परन्तु अनैतिकता और दुराचार, जीवन के सुमधुर संगीत को अपने विकृत स्वरों के द्वारा निरर्थक ध्वनि के रूप में परिवर्तित कर देते हैं। दुराचारी पुरुष स्वयं अशान्त होकर अपने आसपास भी अशान्ति का वातावरण निर्मित करता है।

अगले श्लोक में इन असुरों के पतन को बताते हैं :

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

ऐसे उन द्वेष करने वाले, क्रूरकर्मी और नराधमों को मैं संसार में बारम्बार (अजस्रम्) आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ अर्थात् उत्पन्न करता हूँ ॥१९॥

यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण कर्माध्यक्ष और कर्मफलदाता ईश्वर के रूप में यह वाक्य कह रहे हैं, "मैं उन्हें आसुरी योनियों में गिराता हूँ।" मनुष्य अपनी स्वेच्छा से शुभाशुभ कर्म करता है और उसे कर्म के नियमानुसार ईश्वर फल प्रदान करता है। अत: इस फलप्राप्ति में ईश्वर पर पक्षपात का आरोप नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, जब एक न्यायाधीश अपराधियों को कारावास या मृत्युदण्ड देता है, तो उसे पक्षपाती नहीं कहा जाता, क्योंकि वह तो केवल विधि नियमों के अनुसार ही अपना निर्णय देता है। इसी प्रकार, आसुरी स्वभाव के मनुष्य अपनी निम्न-स्तरीय वासनाओं से प्रेरित होकर जब दुष्कर्म करते हैं, तब उन्हें उनके स्वभाव के अनुकूल ही बारम्बार आसुरी योनियों में जन्म मिलता है। यहाँ इंगित किये गये पुनर्जन्म के सिद्धान्त का एकाधिक स्थलों पर विस्तृत विवेचन किया जा चुका है।

और :

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

हे कौन्तेय! वे मूढ़ पुरुष जन्मजन्मान्तर में आसुरी योनि को प्राप्त होते हैं और (इस प्रकार) मुझे प्राप्त न होकर अधम गति को प्राप्त होते हैं ॥२०॥

इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि जब तक मनुष्य अपनी आसुरी प्रवृत्तियों के वश में उनका दास बना रहता है तब तक वह उसी प्रकार के हीन जन्मों को प्राप्त होता रहता है। वह आत्मा के परमानन्द स्वरूप का अनुभव नहीं कर पाता है।

अब तक दैवी और आसुरी सम्पदाओं का स्पष्ट एवं विस्तृत विवेचन किया गयाहै। बहुसंख्यक लोगों की न्यूनाधिक मात्रा में असुरों की श्रेणी में ही गणना की जा सकती है। परन्तु एक आध्यात्मिक साधक को केवल ऐसे वर्णनों से सन्तोष नहीं होता। वह अपनी पतित अवस्था से स्वयं का उद्धार करना चाहता है। अत:, अब भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के माध्यम से मानवमात्र के आत्मविकास का पथ प्रदर्शन करते हैं। कोई भी व्यक्ति नित्य निरन्तर नाटकीय यातनाओं का ही भागीदार नहीं हो सकता है; शाश्वत नरक प्राप्ति का मत अयुक्तिक और अदार्शनिक है।

भगवान् कहते हैं :

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

काम, क्रोध और लोभ ये आत्मनाश के त्रिविध द्वार हैं, इसलिये इन तीनों को त्याग देना चाहिये ॥२१॥

स्वर्ग सुखरूप है, तो नरक दु:खरूप। अत: इसी जीवन में भी मनुष्य अपनी मन:स्थिति में स्वर्ग और नरक का अनुभव कर सकता है। शास्त्र प्रमाण से स्वर्ग और नरक के अस्तित्व का भी ज्ञान होता है। इस श्लोक में नरक के त्रिविध द्वार बताये गये हैं। इस सम्पूर्ण अध्याय का प्रयोजन मनुष्य का आसुरी अवस्था से उद्धार कर उसे नि:स्वार्थ सेवा तथा आत्मानन्द का अनुभव कराना है।

'काम, क्रोध और लोभ'-जहाँ 'काम' है वहीं 'क्रोध' का होना स्वाभाविक है। किसी विषय को सुख का साधन समझकर उसका निरन्तर चिन्तन करने से उस विषय की 'कामना' उत्पन्न होती है। यदि इस कामनापूर्ति में कोई बाधा आती है, तो उससे 'क्रोध' उत्पन्न होता है। यदि कामना तीव्र हो, तो क्रोध भी इतना उग्ररूप होता है कि वह जीवन की नौका को इतस्तत: प्रक्षेपित कर, छिन्न-भिन्न करके अन्त में उसे डुबो देता है।

यदि कामना पूर्ण हो जाती है, तो मनुष्य का 'लोभ' बढ़ता जाता है और इस प्रकार, उसकी शक्ति का ह्रास होता जाता है। असन्तुष्टि का वह भाव लोभ कहलाता है, जो हमारे वर्तमान सन्तुष्टि के भाव को विषाक्त करता है। लोभी

पुरुष को कभी शान्ति और सुख प्राप्त नहीं होता, क्योंकि असन्तोष ही लोभ का स्वभाव है।

काम, क्रोध और लोभ के इस क्रिया प्रतिक्रिया रूप संबंध को हम समझ लें, तो भगवान् का निष्कर्ष हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि "इसलिये इन तीनों को त्याग देना चाहिये।"

इन तीनों के त्याग की स्तुति करते हुए कहते हैं :

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

हे कौन्तेय ! नरक के इन तीनों द्वारों से विमुक्त पुरुष अपने कल्याण के साधन का आचरण करता है और इस प्रकार परा गति को प्राप्त होता है ॥२२॥

जो साधकगण काम, क्रोध और लोभ से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं, वे वास्तव में अभिनन्दन के पात्र हैं। भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें अश्वासन देते हैं कि इन अवगुणों के त्याग से उन्हें परम लक्ष्य की प्राप्ति होगी। किसी भी लक्ष्य को पाने के लिये मानसिक और बौद्धिक शक्तियों की आवश्यकता होती है, जो प्राय: इन कामादि अवगुणों के कारण व्यर्थ ही क्षीण होती हैं। इसलिये नरक के इन त्रिविध द्वारों को त्यागने का उपदेश यहाँ दिया गया है। यही मनुष्य के लिये श्रेयस्कर है।

'श्रेयस्' शब्द का अनुवाद नहीं किया जा सकता। संस्कृत के इस शब्द का आशय गंभीर और व्यापक है। श्रेयमार्ग के आचरण से न केवल साधक का ही कल्याण होता है, अपितु अपने आसपास के समाज के कल्याण में भी वह सहायक होता है।

इस प्रकार सही दिशा में उन्नति करता हुआ साधक "परम लक्ष्य को प्राप्त होता है"। सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विकास कोई एक दिन में ही घटने वाली आकस्मिक घटना नहीं है। जिस प्रकार, एक फूल की कली शनैः शनैः खिलती जाती है, उसी प्रकार, अनुशासन, अध्ययन एवं सन्मार्ग के आचरण से पूर्णत्व की प्राप्ति तक का विकास शनैः शनैः होता है। फूल के विकास की अपेक्षा आत्मविकास कहीं अधिक नाजुक है।

इस श्लोक में अवगुणों के त्याग से परा गति की प्राप्ति कही गयी है। परन्तु यहाँ पूछा जा सकता है कि त्याग के द्वारा योग (प्राप्ति) कैसे हो सकता है? कुभोजन के त्याग मात्र से पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति कैसे संभव है? भगवान्

कहते हैं कि जो पुरुष इन अवगुणों का त्याग करता है, वह, फिर, स्वाभाविक ही अपने आत्मकल्याण के मार्ग का भी अनुसरण करता है, जिसके फलस्वरूप उसे पूर्णत्व की प्राप्ति होती है।

आसुरी सम्पदा के त्याग तथा श्रेय साधन के आचरण का उपाय धर्म शास्त्रों में ही बताया गया है। इसलिये, शास्त्रों का अध्ययन करके तदनुसार आचरण ही मनुष्य के लिये श्रेयस्कर है, परन्तु :

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।।२३।।

जो पुरुष शास्त्रविधि को त्यागकर अपनी कामना से प्रेरित होकर ही कार्य करता है, वह न पूर्णत्व की सिद्धि प्राप्त करता है, न सुख और न परा गति ।।२३।।

गीताचार्य भगवान् श्रीकृष्ण का उपदेश यह है कि कामक्रोधादि आत्मघातक अवगुणों के त्याग से आन्तरिक शक्तियों का जो संचय किया जाता है, उसका आत्मोन्नति के लिये सदुपयोग करना चाहिये। ऐसा न करने पर मनुष्य का जो पतन होता है, उससे पुनः ऊपर उठना अति कठिन हो जाता है। रावणादि के समान असुरों का चरित्र इस तथ्य का विशिष्ट प्रमाण है। ये असुर तपश्चर्या के द्वारा असीम शक्तियां प्राप्त करते थे, परन्तु उनका दुरुपयोग करके वे आत्मनाश ही करते थे ! उनकी शक्तियाँ ऐसी अद्भुत और भयंकर थीं कि उन्होंने अपनी पीढ़ी को हिला दिया था और उसे चूर-चूर कर पृथ्वी की धूलि चटा दी थी। स्वयं को तथा जगत् को इस अनर्थ से सुरक्षित रखने के लिये लोगों को गम्भीर चेतावनी की आवश्यकता है। इन अन्तिम दो श्लोकों में यही चेतावनी दी गयी है।

जो पुरुष शास्त्रविधि की उपेक्षा करके अपनी स्वच्छन्द प्रकृति के अनुसार ही काम करता है, उसे वस्तुतः किसी प्रकार का भी लाभ नहीं होता। यहाँ शास्त्र शब्द से कठिन और विस्तृत कर्मकाण्ड को ही समझना आवश्यक नहीं है, जिसका अनुष्ठान और उपदेश रूढ़िवादी लोग विशेष बल देकर करते हैं। ब्रह्मविद्या का तथा तत्प्राप्ति के साधनों का उपदेश जिन ग्रन्थों में दिया गया है, उन्हें यहां शास्त्र कहा गया है। ऐसे ग्रन्थ मुख्यतः उपनिषद् हैं। वेदान्त के प्रतिपाद्य विषय तथा पारिभाषिक शब्दावली का वर्णन करने वाले ग्रन्थों को प्रकरण ग्रन्थ कहा जाता है। गीता में ब्रह्मविद्या तथा तत्प्राप्ति के साधन उपदिष्ट हैं, इसलिये गीता भी शास्त्र ही है।

'कामकारत:' – प्रस्तुत खण्ड में काम, क्रोध और लोभ के त्याग का उपदेश दिया गया है । हमने यह देखा कि क्रोध और लोभ का मूल कारण 'काम' ही है। इसलिये, भगवान् श्रीकृष्ण यहां केवल 'काम' का ही उल्लेख करते हुये कहते हैं कि 'काम' से प्रेरित मनुष्य को परम लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती है ।

वह न सिद्धि प्राप्त करता है, न सुख और न परा गति । गीता के उपदेश का पालन न करने से क्या हानि होगी ? इसका उत्तर यह है कि कामना से प्रेरित लोभ से प्रोत्साहित और क्रोध से विक्षिप्त पुरुष सदैव अशान्ति और क्रूर मनोद्वेगों से पूर्ण जीवन को ही प्राप्त करता है । ऐसा पुरुष न सुख प्राप्त करता है और न आत्मविकास ।

अत:, निष्कर्ष यह निकलता है कि :

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।।२४।।

इसलिये तुम्हारे लिये कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था (निर्णय) में शास्त्र ही प्रमाण है शास्त्रोक्त विधान को जान कर तुम्हें अपने कर्म करने चाहिये ।।२४।।

पूर्व के तीन श्लोकों में दी गयी युक्तियों का निष्कर्ष यह निकलता है कि साधक को शास्त्र प्रमाण के अनुसार अपनी जीवन पद्धति अपनानी चाहिये । कर्तव्य और अकर्तव्य का निश्चय शास्त्राध्ययन के द्वारा ही हो सकता है । सत्य की प्राप्ति के मार्ग को निश्चित करने में प्रत्येक साधक अपनी ही कल्पनाओं का आश्रय नहीं ले सकता है । शास्त्रों की घोषणा उन ऋषियों ने की है, जिन्होंने इस मार्ग द्वारा पूर्णत्व का साक्षात्कार किया था । अत: जब उन ऋषियों ने हमें उस मार्ग का मानचित्र दिया है, तो हमारे लिये यही उचित है कि विनयभाव से उसका अनुसरण कर स्वयं को कृतार्थ करें ।

'ज्ञात्वा' – इसलिये आत्मदेव की तीर्थ यात्रा प्रारम्भ करने के पूर्व हमें इन शास्त्रों का बुद्धिमत्तापूर्वक अध्ययन करना चाहिये । लक्ष्य, मार्ग, विघ्न और विघ्न के निराकरण के उपायों का जानना किसी भी यात्रा के लिये अत्यावश्यक और लाभदायक होता है ।

तुम्हें कर्म करना चाहिये' – अनेक लोग शास्त्र को 'जानते' हैं, परन्तु ऐसे अत्यन्त विरले लोग होते हैं, जिनमें शास्त्रोपदिष्ट जीवन जीने का साहस, दृढ़ संकल्प और आत्मानुभूति के लक्ष्य की प्राप्ति होने तक धैर्य बना रहता है । इसलिए,

भगवान् श्रीकृष्ण का यह उपदेश है कि काम, क्रोध और लोभ का त्याग कर मनुष्य को शास्त्रानुसार जीवन यापन करना चाहिये। यही कर्मयोग का जीवन है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥

इस प्रकार श्रीकृष्णार्जुनसंवाद के रूप में ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रस्वरूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् का दैवासुरसंपद्विभागयोग नामक सोलहवां अध्याय समाप्त होता है।

ॐ

सप्तदश अध्याय

श्रद्धात्रयविभागयोग

पूर्वअध्याय के अन्तिम दो श्लोकों में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया था कि जीवन में सन्देह के क्षणों में, बुद्धि के द्वारा उचित निर्णय पर पहुँचने के लिए धर्म शास्त्रों का प्रमाण सर्वोपरि है। परन्तु एक सामान्य पुरुष में शास्त्रीय विधिविधान को समझने की प्रवीणता नहीं होती है। इसी प्रकार, हमें सदैव ऐसा कोई उपदेष्टा भी उपलब्ध नहीं हो सकता है, जो हमारी जीवनयात्रा का मार्ग-दर्शक बन सके। भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेश से अर्जुन की आध्यात्मिक जीवन जीने की इच्छा अब और अधिक तीव्र और बलवती हो गई थी। मन ही मन वह इस जीवन को जीने की योजना बनाने लगता है। परन्तु, उसे वह कठिन प्रतीत होता है, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ने "शास्त्रों के ज्ञान" पर विशेष बल दिया था। तथापि उसके मन में आध्यात्मिक जीवन पद्धति के संबंध में असीम 'श्रद्धा' भी उत्पन्न हो गयी थी।

इस अध्याय का प्रारम्भ अर्जुन के इस संदेह से होता है कि क्या साधक के लिये यह पर्याप्त है कि वह श्रद्धापूर्वक सदाचार का पालन करता रहे? अथवा, क्या उसको शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करना और तत्पश्चात् ही उनके विधि-निषेध के अनुसार श्रद्धापूर्वक कर्माचरण करना आवश्यक है?

इसके पूर्व भी गीता में एकाधिक स्थलों पर[1] 'श्रद्धा' को लक्ष्यप्राप्ति के साधनों में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था। अर्जुन ने यह भी देखा कि श्रद्धा और ज्ञान इन दोनों को समान महत्व का स्थान प्राप्त है। इसलिये, उसे यह प्रश्न पूछने का पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है कि क्या शास्त्र के बिना भी केवल श्रद्धा से ही साधक को अपने साध्य की प्राप्ति नहीं हो सकती है?

श्रद्धा मनुष्य की बुद्धि की एक विशेष-क्षमता है। किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने के पूर्व उस लक्ष्य के अस्तित्व में तथा तत्प्राप्ति के साधन में विश्वास का नाम ही श्रद्धा है। उसी प्रकार साधक को अपनी क्षमता में भी

---

१. गीता अ- ४-३९.

विश्वास की आवश्यकता होती है। अतः, जिसके कारण शास्त्राध्ययन में हमारी प्रवृत्ति होती है और हम उसे समझकर आत्मसात् करते हैं, उसी को श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा ही मनुष्य को गन्तव्य का निश्चय, दिशा तथा उत्साह प्रदान करती है।

अर्जुन के प्रश्न का सीधे ही उत्तर न देकर, महान् दार्शनिक भगवान् श्रीकृष्ण इस अध्याय में श्रद्धा का सम्पूर्ण विवेचन करते हैं। मनुष्य के आचार, यज्ञादि कर्म, तप और दान में किस प्रकार श्रद्धा कार्य करती है, इसका वर्णन यहां किया गया है।

भगवान् अपने उत्तर में सर्वप्रथम यह विवेचन करते हैं कि गुणों के अनुसार श्रद्धा तीन प्रकार की होती है– सात्विक, राजसिक और तामसिक। इसके पूर्व चतुर्दश अध्याय में इन तीनों गुणों के लक्षण एवं कार्यों का विस्तृत विवेचन किया गया था। इस अध्याय का विषय इन तीन गुणों का मनुष्य के धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करना है। इस अध्याय के सूक्ष्म अध्ययन के द्वारा हम अपनी साधना को अवांछनीय एवं निम्नस्तरीय प्रवृत्तियों के दुष्प्रभाव से सुरक्षित रखकर निश्चित सफलता के राजमार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं।

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा त का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

अर्जुन ने कहा –

हे कृष्ण! जो लोग शास्त्रविधि को त्यागकर (केवल) श्रद्धा युक्त यज्ञ (पूजा) करते हैं, उनकी स्थिति (निष्ठा) कौन सी है? क्या वह सात्विक है अथवा राजसिक या तामसिक? ॥२॥

पूर्वाध्याय के अन्त में भगवान् श्रीकृष्ण ने शास्त्रों के प्रामाण्य एवं अध्ययन पर विशेष बल दिया था। उसी बिन्दु से विचार को आगे बढ़ाते हुए अर्जुन यहाँ प्रश्न पूछ रहा है। वह चाहता है कि भगवान् श्रीकृष्ण विस्तृतरूप से इसका विवेचन करें कि किस प्रकार हम प्रभावशाली और लाभदायक आध्यात्मिक जीवन को अपना सकते हैं। इसके साथ ही अध्यात्मविषयक भ्रान्त धारणाओं का भी वे निराकरण करें।

'शास्त्रविधि को त्यागकर'– प्राय: धर्मशास्त्रों से अनभिज्ञ होने के कारण

सामान्य जनों को शास्त्रीय विधिविधान उपलब्ध नहीं होते हैं। यदि शास्त्रों को उपलब्ध कराया भी जाये, तो बहुत कम लोग ऐसे होते हैं, जिनमें तत्प्रतिपादित ज्ञान को समझने की बौद्धिक क्षमता होती है। सांसारिक जीवन में कर्मों की उत्तेजनाओं तथा मानसिक चिन्ताओं और व्याकुलताओं के कारण शास्त्रनिर्दिष्ट मार्ग के अनुसार अपना जीवन सुनियोजित करने की पात्रता हम में नहीं होती। परन्तु, इन सबका अभाव होते हुए भी एक लगनशील साधक को श्रेष्ठतर जीवन पद्धति तथा धर्म के आदर्श में दृढ़ श्रद्धा और भक्ति हो सकती है। इसलिए अर्जुन के प्रश्न का औचित्य सिद्ध होता है।

यहां प्रयुक्त यज्ञ शब्द से वैदिक पद्धति के होम-हवन आदि ही समझना आवश्यक नहीं हैं। गीता सम्पूर्ण शास्त्र है और उसमें इन शब्दों की अपनी परिभाषाएं भी दी गयी है। यज्ञ शब्द की परिभाषा में वे समस्त कर्म समाविष्ट हैं, जिन्हें समाज के लोग अपनी लौकिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए नि:स्वार्थ भाव से करते हैं। अर्जुन की जिज्ञासा यह है कि जगत् के पारमार्थिक अधिष्ठान को जाने बिना भी यदि मनुष्य यज्ञभावबा से अपने कर्म करता है, तो क्या वह परम शान्ति को प्राप्त कर सकता है? उसकी स्थिति क्या कही जायेगी? अपने प्रश्न को और अधिक स्पष्ट करते हुए वह पूछता है कि ऐसे श्रद्धावान् साधक की निष्ठा कौन-सी श्रेणी में आयेगी –सात्विक, राजसिक या तामसिक?

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ।।२।।

श्री भगवान् ने कहा –

देहधारियों (मनुष्यों) की वह स्वाभाविक (ज्ञानरहित) श्रद्धा तीन प्रकार की - सात्विक, राजसिक और तामसिक – होती हैं, उसे तुम मुझसे सुनो ।।२।।

अपने मुख्य प्रवचन के पूर्व आमुख के रूप में, भगवान् कहते हैं कि श्रद्धा तीन प्रकार की होती हैं -- सात्विकी, राजसी और तामसी। श्रद्धा के अनुसार हमारी वासनाएं होती हैं और वे ही जीवनविषयक हमारे दृष्टिकोण को निश्चित करती हैं। हमारे समस्त विचार, भावनाएं और कर्म हमारे इस दृष्टिकोण के अनुरूप ही होते हैं। अत: स्वाभाविक ही है कि मनुष्य के शारीरिक कर्म, मानसिक व्यवहार और बौद्धिक संरचनाएं सब उसकी श्रद्धा से निश्चित होते हैं। इसलिए, प्रत्येक व्यक्ति अपनी श्रद्धा के अनुरूप होता है, यह नियम है। जो मनुष्य अपने देह के साथ

जितना अधिक तादात्म्य करेगा उतना ही अधिक स्थूल और दृढ़ उसका अभिमान या अहंकार होगा। यह सब सत्व, रज और तम इन गुणों के न्यूनाधिक्य पर निर्भर करता है।[१]

श्रद्धा को समझने के लिए इन तीन गुणों के सन्दर्भ का क्या औचित्य है ? इस पर कहते हैं :

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

हे भारत सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके सत्व (स्वभाव, संस्कार) के अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिए जो पुरुष जिस श्रद्धा वाला है वह स्वयं भी वही है अर्थात् जैसी जिसकी श्रद्धा वैसा ही उसका स्वरूप होता है ॥३॥

'सत्त्वानुरूप श्रद्धा' -- हम जगत् में यह देखते हैं कि प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व की पोषक श्रद्धा भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। जितनी अधिक भिन्नता इस श्रद्धा में देखी जाती है, उसके कारण को जानने की हमारी जिज्ञासा भी उतनी ही बढ़ती जाती है। भगवान् यहाँ करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की श्रद्धा उसके स्वभाव अर्थात् संस्कारों के अनुरूप होती है। निश्चितरूप से यह कह पाना कठिन है कि श्रद्धा हमरे स्वभाव को निर्धारित करती है अथवा हमारा स्वभाव श्रद्धा का निर्धारणकर्ता है। इन दोनों में अन्योन्याश्रय है।

तथापि, गीता में स्वभाव को ही श्रद्धा का निर्धारक घोषित किया गया है। यद्यपि, जीवन में अनेक अवसरों पर दुःखदायक अनुभवों अथवा अन्य प्रबल कारणों से मनुष्य की एक प्रकार की श्रद्धा खंडित होकर नवीन श्रद्धा जन्म लेती है और उस स्थिति में उसका स्वभाव उस श्रद्धा का अनुकरण भी करता है। परन्तु, सामान्य दृष्टि से, प्रत्येक व्यक्ति की श्रद्धा का गुण और वर्ण उसके स्वभाव के अनुरूप ही होता है। श्रद्धा का मूल या सारतत्त्व मनुष्य की उस गूढ़ शक्ति में निहित होता है, जिसके द्वारा वह अपने चयन किये हुए लक्ष्य की प्राप्ति का निश्चय दृढ़ बनाये रखता है।

मनुष्य की सामर्थ्य ही लक्ष्य प्राप्ति में उसके विश्वास को निश्चित करती है। तत्पश्चात् यह विश्वास उसकी सामर्थ्य को द्विगुणित कर उस मनुष्य की योजनाओं को कार्यान्वित करने में सहायक होता है। इस प्रकार क्षमता और श्रद्धा

१, इन त्रिगुणों के विस्तृत विवेचन के लिए गीता का चौदहवां अध्याय देखिए।

परस्पर पूरक और सहायक होते हैं मनुष्य के स्वभाव पर गुणों के प्रभाव का वर्णन पहले किया जा चुका है।[1] पूर्वकाल में अर्जित किसी गुणविशेष के आधिक्य का प्रभाव मनुष्य में उसकी बाल्यावस्था से ही दिखाई देता है। यहाँ प्रयुक्त 'सत्वानुरूपा' शब्द के द्वारा इसी तथ्य को इंगित किया गया है।

मनुष्य श्रद्धामय है–प्रत्येक भक्त श्रद्धापूर्वक जिस देवता की उपासना या आराधना करता है वह अपनी उस श्रद्धा के फलस्वरूप अपने उपास्य को प्राप्त होता है।[2]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य अपनी श्रद्धा के अनुरूप ही होता है। मनुष्य के कर्म और उसकी उपलब्धियों में श्रद्धा के महत्व को सभी विचारकों[3] ने स्वीकार किया है। गीता की ही भाषा में इस तथ्य को पूर्व के अध्याय में विस्तार से बताया गया है।[4]

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

सात्विक पुरुष देवताओं को पूजते हैं और राजस लोग यक्ष और राक्षसों को, तथा अन्य तामसी जन प्रेत और भूतगणों को पूजते हैं ॥४॥

प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में किसी न किसी आदर्श या पूजावेदी को अपनी सम्पूर्ण भक्ति अर्पित करता है। तत्पश्चात् अपने आदर्श के आह्वान के द्वारा अपनी इच्छा की पूर्ति चाहता है। शास्त्रीय भाषा में इसे पूजा कहते हैं। इस शब्द से केवल शास्त्रोक्त विधान की षोडशोपचार पूजाविधि ही नहीं समझनी चाहिए। उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी की आराधना करता है; फिर उसका आराध्य नाम, धन, यश, कीर्ति, देवता आदि कुछ भी हो सकता है। प्रत्येक मनुष्य आराध्य का उसकी श्रद्धा के अनुसार होता है, जिसका वर्णन यहाँ किया गया है।

सात्विक स्वभाव के लोग अपने श्रेष्ठ और दिव्य संस्कारों के कारण सहज ही देवताओं की अर्थात् दिव्य और उच्च आदर्शों की पूजा करते हैं।

रजोगुणप्रधान लोग अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी और क्रियाशील स्वभाव के होते

---

१. गीता, अ० १४
२. गीता, अ० ७ श्लोक २० से २३
३. प्लेटो, गोथे आदि।
४. गीता, अ० ९–२३

हैं। इसलिए, वे यक्ष, राक्षसों की ही पूजा करते हैं।[1] तात्पर्य यह है कि आराध्य का चयन भक्त के हृदय की मौन मांग के ऊपर निर्भर करता है। कोई भी व्यक्ति वस्त्रों का क्रय करने किसी पुस्तकालय में नहीं जायेगा। इसी प्रकार, रजोगुणी लोगों को कर्मशील आदर्श ही रुचिकर प्रतीत होते हैं।

तामसिक लोग अपनी निम्नस्तरीय विषयवासनाओं की पूर्ति के लिए भूतों और प्रेतात्माओं की आराधना करते हैं। जगत् में भी यही देखा जाता है कि असत् शिक्षा और अनैतिकता से युक्त लोग अपनी दुष्ट और अपकारक महत्त्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिये प्राय: नीच, प्रतिशोधपूर्ण और दुराचारी लोगों की (भूत,प्रेत) सहायता लेते हैं। ये नीच लोग यद्यपि शरीर से जीवित, किन्तु जीवन की मधुरता और सुन्दरता के प्रति मृत होते हैं।

इसी अभिप्राय को इसके पूर्व भी अनेक श्लोकों[2] में प्रकट किया जा चुका है। प्राय: लोगों में भूत-प्रेतों के विषय में जानने की अत्यधिक उत्सुकता रहती है। क्या प्रेतात्माओं का वास्तव में अस्तित्व होता है? यह सबकी जिज्ञासा होती है, परन्तु गीता के प्रस्तुत प्रकरण का अध्ययन करने के लिए इस विषय में विचार करना निरर्थक है। इतना ही जानना पर्याप्त है कि भूत व प्रेत के द्वारा कुछ विशेष प्रकार की शक्तियों की ओर इंगित किया गया है, जो इस भौतिक जगत् में भी उपलब्ध हो सकती हैं।

शुद्धान्त:करण के सात्विक, महत्त्वाकांक्षी राजसी और प्रमादशील तामसी जन क्रमश: "सहृदय मित्रों से सहायता", "धनवान् और समर्थ लोगों से सुरक्षा" और "अपराधियों से शक्ति" प्राप्त करने के लिये उपयुक्त देव, यक्ष और प्रेतात्माओं की पूजा करते हैं। मनुष्य के कार्यक्षेत्र से ही कुछ सीमा तक उसकी श्रद्धा को समझा जा सकता है।

समाज में सत्त्वनिष्ठ पुरुष विरले ही होते हैं। सामान्यत: राजसी और तामसी जनों की संख्या अधिक होती है और उनके पूजादि के प्रयत्न भी दोषपूर्ण होते हैं। कैसे? भगवान् बताते हैं:

---

१. यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि यक्षगण धनपति कुबेर के बन्धु माने गये हैं और राक्षसगण शक्ति और सामर्थ्य से सम्पन्न होते हैं। सभी महत्वाकांक्षी कर्मशील लोग सदैव धनवान लोगों के बन्धुओं तथा शक्ति से सम्पन्न लोगों की मित्रता की ही कामना करते हैं। आप कहीं भी अवलोकन करें, तो आपको उपर्युक्त कथन की सत्यता ज्ञात होगी?

२. गीता, अ० ७ श्लो० २० से २३। और गीता अ० ९ श्लो० २३ से २५।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ।।५।।

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ।।६।।

जो लोग शास्त्रविधि से रहित घोर तप करते हैं तथा दम्भ, अहंकार, काम और राग से भी युक्त होते हैं ।।५।।

और शरीरस्थ भूतसमुदाय को तथा मुझ अन्तर्यामी को भी कृश करने वाले अर्थात् कष्ट पहुँचाने वाले जो अविवेकी लोग हैं, उन्हें तुम आसुरी निश्चय वाले जानो ।।६।।

साधक का अत्युत्साह केवल शारीरिक थकान और मानसिक अवसाद को ही उत्पन्न कर सकता है । केवल धर्म के नाम पर अविवेकपूर्ण साधना करने से किसी प्रकार का आध्यात्मिक विकास नहीं हो सकता । बहुसंख्यक साधकगण अपनी क्षमताओं का दुरुपयोग करके व्यर्थ में कष्ट पाते हैं । इसलिए, भगवान् श्रीकृष्ण यहां ऐसे अविवेकी साधकों का चित्रण कर उनकी मूढ़ साधना का उपहास करते हैं ।

यह सत्य है कि शास्त्रों में स्थूलकाय अथवा देहासक्त व्यक्तियों के लिए कुछ अवधिपर्यन्त शारीरिक तपाचरण की साधना का उपदेश दिया गया है, परन्तु उससे यह निष्कर्ष निकालना त्रुटिपूर्ण होगा कि यह तप ही एकमात्र साधन है तथा केवल उसी के अनुष्ठान से आन्तरिक विकास भी हो सकता है । तपश्चर्या भी विवेकपूर्वक होनी चाहिये ; इसलिए धर्मशास्त्रों के विधानों के विरुद्ध उनका आचरण नहीं करना चाहिये ।

कुछ लोग केवल प्रदर्शन के लिए तप करते हैं । "दम्भ और अहंकार" से युक्त लोग वास्तविक तप के अधिकारी नहीं होते हैं । उसी प्रकार जिन लोगों के मन में विषयों की कामना और आसक्ति दृढ़ होती है, वे भी मानसिक रूप से तपश्चर्या के योग्य नहीं होते ।

यदि ऐसे लोग अपने तप के फलस्वरूप कुछ शक्ति प्राप्त भी कर लेते हैं, तो भी अन्तःकरण की अशुद्धि के कारण वे उन शक्तियों का दुरुपयोग ही करते हैं । पुराणों में वर्णित हिरण्यकश्यपादि के चरित्र इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं । इस प्रकार शास्त्रविधि की उपेक्षा करके तप करने वाले तपस्वी लोग आसुरी श्रेणी में ही गिने जाते हैं ।

ऐसे अविवेकी जन घोर तप के द्वारा न केवल अपने शरीर को पीड़ा पहुँचाते हैं, वरन् 'मुझ दिव्य अन्तर्यामी'' को भी कष्ट देते हैं। इसका आशय यह है कि ऐसे साधकों के हृदय में आत्मचैतन्य अपने पूर्ण वैभव एवं सौन्दर्य के साथ व्यक्त नहीं हो पाता। घोर कष्टदायक तप मूढ़ता का लक्षण है, जिसकी यहाँ निन्दा की गई है।[१] विवेकपूर्ण संयम तप कहलाता है, न कि निर्मम शारीरिक पीड़ा !

भगवान् आगे कहते हैं :

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ।।७।।

(अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार) सब का प्रिय भोजन भी तीन प्रकार का होता है, उसी प्रकार यज्ञ, तप और दान भी तीन प्रकार के होते हैं, उनके भेद को तुम मुझसे सुनो ।।७।।

इस श्लोक में, भगवान् श्रीकृष्ण आगे वर्णन किए जाने वाले विषय का नाम-निर्देश करते हैं। मनुष्य का स्वभाव उसके सभी कार्यकलापों में व्यक्त होता है। उसका प्रिय आहार, मित्रगण, मन की भावनाएं, जीवन विषयक दृष्टिकोण आदि उसके स्वभाव की श्रेणी को इंगित करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी गुण-विशेष के आधिक्य से प्रभावित रहता है।

मनुष्य के आन्तरिक स्वभाव तथा बाह्याचरण पर किस गुण की अधिकता से किस प्रकार का प्रभाव पड़ता है इसका विश्लेषण आगे के श्लोकों में किया गया है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि इन श्लोकों का प्रयोयन अन्य लोगों का वर्गीकरण करने के लिये नहीं है। हिन्दूधर्म आत्मविद्या का उपदेश देता है। अतः साधक का प्रयत्न अपने आत्मस्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिए होना चाहिये। आत्मा के सौन्दर्य को व्यक्त करने एवं आत्मिक बल को प्राप्त करने के लिए समस्त साधकों को चित्त शुद्धि के हेतु प्रयत्न करना होगा। चित्तशुद्धि का अर्थ है, रजोगुण के विक्षेप तथा तमोगुण के प्रमाद और मोह का त्यागकर सत्त्वगुण की रचनात्मक सजगता और आध्यात्मिक आभा में मन की दृढ़ स्थिति।

सर्व प्रथम, आहार को बताते हैं :

---

१. गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यों को चेतावनी दी थी कि ''शरीर को कष्ट देने वाले अनुचित और निरर्थक तप का आचरण नहीं करना चाहिए।''

आयु:सत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धना: ।
रस्या: स्निग्धा: स्थिरा हृद्या आहारा: सात्विकप्रिया: ।।८।।

आयु, सत्त्व (शुद्धि), बल आरोग्य, सुख, और प्रीति को प्रवृद्ध करने वाले एवं रसयुक्त, स्निग्ध (घी आदि की चिकनायी से युक्त) स्थिर तथा मन को प्रसन्न करने वाले आहार अर्थात् भोज्य पदार्थ सात्विक पुरुषों को प्रिय होते हैं ।।८।।

आध्यात्मिक प्रवृत्ति के सात्विक पुरुषों को स्वभावत: वही आहार रुचिकर होता है, जो आयुवर्धक हो, न कि केवल शरीर को स्थूल बनाने वाला आहार । आहार ऐसा हो, जो ध्यानाभ्यास के लिए आवश्यक ओज प्रदान करे तथा विषयों के प्रलोभनों से अविचलित रहने के लिए बल की वृद्धि करे । आरोग्यवर्धक आहार सात्विक पुरुष को प्रिय होता है । उसी प्रकार प्रीति और मन की प्रसन्नतावर्धक आहार सात्त्विक कहलाता है ।

भोज्य पदार्थों के गुणानुसार यहाँ उन्हें चार भागों में वर्गीकृत किया गया है । वे हैं – रस्या: – रसयुक्त, स्निग्ध–चिकनाई से युक्त, स्थिर और मन:प्रसाद के अनुकूल – हृद्या: । सात्विक पुरुषों को ऐसे समस्त पदार्थ स्वभावत: प्रिय होते हैं, जो उपर्युक्त गुणों से युक्त होते हैं, अर्थात् आयुबलादिविवर्धक होते हैं ।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भोक्ता पर भोजन का प्रभाव पड़ता है । सामान्यत:, मनुष्य जिस प्रकार का भोजन करता है, वैसा ही प्रभाव उसके मन पर पड़ता है । उसी प्रकार मनुष्य का स्वभाव उसके आहार की रुचि को नियन्त्रित करता है । यह देखा जाता है कि प्राणिमात्र को किसी विशेष परिस्थिति में किसी आहारविशेष की तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है । कुत्ते और बिल्ली रोगादि के कारण कभी-कभी घास खाने लगते हैं, गाय लवण को चाटती है, छोटे बालक मिट्टी खाते हैं और गर्भवती स्त्रियों को खटाई आदि खाने की तीव्र इच्छा होती है ।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिन: ।
आहारा राजसस्येष्टा दु:खशोकामयप्रदा: ।।९।।

कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, अति उष्ण, तीक्ष्ण (तीखे, मिर्च युक्त), रूखे, दाहकारक, दु:ख, शोक और रोग उत्पन्न कारक भोज्य पदार्थ राजस पुरुष को प्रिय होते हैं ।।९।।

क्रियाशील तथा कामक्रोधादि प्रवृत्ति वाले रजोगुणी लोगों को इस श्लोक में कथित कटु अम्ल आदि आहार अत्यन्त प्रिय होता है । ऐसे आहार से वह अपने

शरीर में शक्ति का अनुभव तो करता है, परन्तु अन्ततः इन सबका परिणाम दुःख रोग और चिन्ता ही होता है। इस प्रकार के आहार की रुचि उत्पन्न हो जाने पर उसे संयमित रखना दुष्कर हो जाता है।

प्रस्तुत प्रकरण से कोई अध्येता यह न समझ ले कि केवल आहार के परिवर्तन और संयम से ही विचारों का परिवर्तन संभव हो सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण का कथन यह है कि सात्त्विक या राजसिक विचारों के लोगों को उपर्युक्त प्रकार के पदार्थ रुचिकर लगते हैं। अर्थात् विचारों के परिवर्तन से आहार में परिवर्तन आता है।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

अर्धपक्व, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी, उच्छिष्ट तथा अपवित्र (अमेध्य) अन्न तामस जनों को प्रिय होता है ॥१०॥

'यातयाम' – कालगणना की प्राचीन पद्धति के अनुसार एक दिन को आठ यामों में विभाजित किया जाता है। प्रति याम तीन घण्टे का होता है। इसलिये तीन घण्टे पूर्व पकाया गया अन्न 'यातयाम' कहलाता है, जो भोजन के योग्य नहीं समझा जाता। वैसे इस शब्द का अर्थ बासी अन्न हो सकता है, परन्तु इसी श्लोक में 'पर्युषित' अर्थात् 'बासी' अन्न का स्वतन्त्र उल्लेख किया गया है; अतः यहाँ इसका दूसरा अर्थ 'अर्धपक्व' अन्न समझना चाहिए।

'गतरस' – अधिक समय बीत जाने पर अन्न का रस समाप्त हो जाता है, परन्तु तामसी लोगों को यही अन्न रुचिकर लगता है। दक्षिण भारत में चावल को पकाकर रातभर जल में भिगोकर रखते हैं और दूसरे दिन उसे खाते हैं। यद्यपि अनेक लोगों को वह अन्न रुचिकर लगता है, परन्तु वह बासी और रसहीन होने से तामस भोजन ही कहलाएगा। सम्भवतः उत्तर भारत में, बासी रोटी खायी जाती हो।

'पूति' – तमोगुणी लोगों को दुर्गन्ध युक्त आहार स्वादिष्ट लगता है, जबकि अन्य लोगों को वह दुर्गन्ध असह्य होती है।

'पर्युषित' (बासी) – रात भर का रखा हुआ अन्न पर्युषित कहलाता है। इसमें हम मादक द्रव्यों को भी समाविष्ट कर सकते हैं। तामसी लोगों को मद्यपानादि प्रिय होता है।

अत्यन्त अज्ञानी और निम्न संस्कृति के घृणित व्यक्तियों को अशुद्ध, अपवित्र तथा उच्छिष्ट (जूठा, त्यागा हुआ) भोजन प्रिय होता है।

अब, त्रिविध यज्ञों का वर्णन करते हैं :

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विकः ॥११॥

जो यज्ञ शास्त्रविधि से नियत किया हुआ तथा जिसे "यह मेरा कर्तव्य है" ऐसा मन का समाधान (निश्चय) कर फल की आकांक्षा नहीं रखने वाले लोगों के द्वारा किया जाता है, वह यज्ञ सात्विक है ॥११॥

प्रस्तुत खण्ड में यह दर्शाया गया है कि किस प्रकार मनुष्य के कर्मों में भी उसके स्वभाव की सुरूपता और कुरूपता स्पष्ट प्रकट होती है।

'अफलाकांक्षिभिः' – सात्विक पुरुषों के यज्ञ कर्म सदैव फलासक्ति से रहित और निःस्वार्थ भाव से किये जाते हैं। फल की प्राप्ति भविष्य में ही होती है, और इसलिये वर्तमान समय में उनकी चिन्ता करने में अपनी क्षमताओं को क्षीण करना अविवेक का ही लक्षण है।

'शास्त्रविधि से नियत किया हुआ' – वेदों में कर्मों का वर्गीकरण चार भागों में किया गया है। (१) काम्य कर्म–अर्थात् व्यक्तिगत लाभ के लिये कामना से प्रेरित हो कर किया गया कर्म, (२) निषिद्ध कर्म, (३) नित्य कर्म और (४) नैमित्तिक अर्थात् किसी निमित्त वशात् करने योग्य कर्म। इनमें से प्रथम दो प्रकार के कर्मों को त्यागना चाहिये तथा शेष कर्मों का पालन करना चाहिये। नित्य और नैमित्तिक कर्मों को ही सम्मिलित रूप में कर्तव्य कर्म कहते हैं। यह शास्त्रविधान है। तमोगुणी लोग शास्त्रविधि का सर्वथा उल्लंघन करते हैं, परन्तु सत्वगुणी लोग उसका सम्मान करते हैं।

"यह मेरा कर्तव्य है" – सदाचारी पुरुष अपने कर्मों को केवल कर्तव्य की भावना से ही करते हैं। अतः उन्हें फलों की कभी चिन्ता नहीं होती है। इस प्रकार व्यर्थ में वे अपनी शक्तियों का अपव्यय नहीं होने देते। वे अपनी स्वरूपभूत शांति में स्थित रहते हैं। सात्विक पुरुष को इसी बात की प्रसन्नता होती है कि वह समाज कल्याण के उपयोगी कर्म कर सकता है। ऐसे कर्म ही सात्विक कहलाते हैं।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! जो यज्ञ दम्भ के लिए तथा फल की आकांक्षा रख कर किया जाता है, उस यज्ञ को तुम राजस समझो ।।१२।।

कामना तो रजोगुण का लक्षण ही है । अतः, रजोगुणी लोग जो भी कर्म करते हैं, स्वभावतः कामना से प्रेरित ही होते हैं । फलासक्त पुरुष को सदैव यह चिन्ता लगी रहती है कि उसे इच्छित फल मिलेगा अथवा नहीं । इस प्रकार वह विचित्र कल्पनाएं करके भयभीत होता रहता है ।

अनेक रजोगुणी व्यक्ति अपने ज्ञान या धन का केवल प्रदर्शन करने के लिए यज्ञ कर्म करते हैं । उसके अनुष्ठान में उनका कोई अन्य विशेष प्रयोजन नहीं होता है । ऐसे दम्भपूर्वक किये कर्म सात्विक नहीं कहलाते, और न ही ऐसे कर्मों से मनः शान्ति एवं प्रसन्नता का पुरस्कार प्राप्त हो सकता है । ये राजस यज्ञ हैं ।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ।।१३।।

शास्त्रविधि से रहित, अन्नदान से रहित, बिना मन्त्रों, बिना दक्षिणा, और बिना श्रद्धा के किए हुए यज्ञको तामस यज्ञ कहते हैं ।।१३।।

इस श्लोक में कथित प्रकार से किया गया यज्ञ न यज्ञकर्ता के लिये सुखवर्धक सिद्ध होता है और न समाज के अन्य लोगों के लिये लाभदायक ।

'अन्नदान रहित' – धर्मशास्त्र की भाषा में, हमारे जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को 'अन्न' शब्द के द्वारा सूचित किया जाता है । आधुनिक काल की भाषा में "भोजन-वस्त्र-और गृह" के द्वारा उन्हें इंगित किया जाता है । मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने पास उपलब्ध वस्तुओं का दान उन लोगों को दें, जिन्हें उनकी आवश्यकता होती है । ऐसा दान प्रेम के बिना कभी संभव ही नहीं हो सकता। तमोगुणी पुरुष यज्ञ कर्म के अनुष्ठान में भी शास्त्रोक्त दान नहीं करता है ।

कर्मकाण्ड के अनुष्ठान में मन्त्रों का उच्चारण तथा शिक्षित पुरोहितों को दक्षिणा देना आवश्यक होता है, परन्तु तमोगुणी पुरुष इन सब नियमों की ओर ध्यान ही नहीं देता है । अतः उसके द्वारा अनुष्ठित यज्ञ तामस कहलाता है ।

अगले तीन श्लोकों में तप के वास्तविक स्वरूप को दर्शाकर, तत्पश्चात् गुण भेद से त्रिविध तपों का वर्णन किया गया है :

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।।१४।।

देव, द्विज (ब्राह्मण), गुरु और ज्ञानी जनों का पूजन, शौच, आर्जव (सरलता) ब्रह्मचर्य और अहिंसा, यह शरीर संबंधी तप कहा जाता है ॥१४॥

'देव, द्विज, गुरु और ज्ञानी जनों का पूजन' – अपने आराध्य के साथ तादात्म्य बनाये रखने की साधना 'पूजा' कहलाती है । इस पूजा के फलस्वरूप आराधक अपने आराध्य के गुणों से सम्पन्न हो जाता है। नैतिक विकास एवं सांस्कृतिक उन्नति का उपाय यह पूजन ही है। यह बहुत कुछ चुम्बकीकरण की 'स्पर्शविधि' के समान ही है।[1] जो पुरुष अपने व्यक्तित्व के प्रतिबन्धनों से मुक्त होना चाहता है, उसको अपने आराध्य आदर्श (देव) के प्रति श्रद्धा और भक्ति, आदर और सम्मान का भाव होना अत्यावश्यक है। उसी प्रकार, जिन सत्पुरुषों ने इस आदर्श को प्रस्तुत किया उन द्विजों (ब्राह्मणों) के प्रति तथा उपदेष्टा गुरु और इस आदर्श के अनुमोदक ज्ञानी जनों के प्रति भी वही भक्ति भाव होना चाहिए।

'द्विज' – इस शब्द का वाच्यार्थ है "वह व्यक्ति जो दो बार जन्मा हो।" यह शब्द ब्राह्मणों का सूचक है और ब्रह्मवित् पुरुष को ब्राह्मण कहते हैं। माता के गर्भ से जन्म लेने पर सभी मनुष्य एक समान ही होते हैं। यद्यपि सब में बौद्धिक क्षमता और सुन्दरता होती है, परन्तु उसके साथ ही अनेक नैतिक दोष भी होते हैं। हम एक गर्भ से तो मुक्त होते हैं परन्तु प्रकृति की जड़ उपाधियों के गर्भ में बन्धे ही रहते हैं! इन उपाधियों के तादात्म्य से स्वयं को मुक्त कर अपने आत्मस्वरूप के परमानन्द में निष्ठा प्राप्त करना ही "दूसरा जन्म" माना जाता है। इसलिये आत्मानुभावी पुरुष को द्विज कहा जाता है।

'शौच और सरलता' – शरीर की स्वच्छता के साथ-साथ आस-पास के वातावरण की स्वच्छता की ओर भी साधक को ध्यान देना चाहिये। यह बाह्य शुद्धि ही यहां शौच शब्द से इंगित की गयी है। उसी प्रकार साधक के बाह्य व्यवहार में सरलता होनी चाहिये। कुटिलता के कारण व्यक्तित्व के विभाजन की आशंका बनी रहती है। ऐसे विभाजित व्यक्तित्व के पुरुष के मन का सन्तुलन, सामर्थ्य और शान्ति नष्ट हो जाती है।

'ब्रह्मचर्य' – सदैव ब्रह्मस्वरूप में रमने के स्वभाव को ब्रह्मचर्य कहते हैं। यह रमण तब तक संभव नहीं हो सकता जब तक हमारा शरीर और मन विषयोपभोगों से विरत नहीं होता है। इसलिये, इन्द्रियों के मन के संयम को भी ब्रह्मचर्य की संज्ञा प्रदान की गयी है। जैसे, मेडिकल कॉलेज में प्रवेश प्राप्त कर लेने पर ही

---

१. इस विधि में लोहे के मुलायम टुकड़े को एक चुम्बक के साथ रगड़ते हैं, जिसके फलस्वरूप उस टुकड़े में भी चुम्बक के गुणधर्म आ जाते हैं।

विद्यार्थी को 'डॉक्टर' कहा जाने लगता है, क्योंकि उसका साध्य तब दूर नहीं रह जाता।

'अहिंसा' – किसी भी प्राणी को पीड़ा न पहुंचाने का नाम अहिंसा है। जीवन में, जाने या अनजाने किसी प्राणी को कदापि शारीरिक पीड़ा न पहुंचाना असम्भव है। परन्तु अपने मन में हिंसा का भाव कभी न आने देना चाहिये, और तब अपरिहार्य शारीरिक पीड़ा भी कल्याण कारक हो सकती है। उदाहरणार्थ, एक शल्य चिकित्सक के द्वारा रोगी को दिया गया शारीरिक कष्ट रोगी के लिये कल्याण कारक ही सिद्ध होता है। उस चिकित्सक की दृष्टि से यह अहिंसा ही है।

उपर्युक्त पूजनादि साधनाओं में शरीर की प्रधानता होने से उन्हें "शरीर तप" कहा गया है।

तप का अर्थ शरीर उत्पीड़न ही नहीं है। वस्तुतः, तप तो वह विवेकपूर्ण जीवन पद्धति है, जिसके द्वारा हम अपनी समस्त शक्तियों के अपव्यय को अवरुद्ध कर उनका संचय कर सकते हैं। नई शक्तियों को प्राप्त कर उनका संचय करना और तत्पश्चात् उनका रचनात्मक कार्यों में सदुपयोग करना–यह सम्पूर्ण योजना 'तप' शब्द के व्यापक अर्थ में समाविष्ट है। ऐसे विवेकपूर्ण तप को यहाँ वास्तविक 'शरीर तप' के रूप में प्रमाणित किया गया है।

अब, अगले श्लोक में वाङ्मय (वाणी संबंधी) तप को बताते हैं :

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

जो वाक्य (भाषण) उद्वेग उत्पन्न करने वाला नहीं है, जो प्रिय, हितकारक और सत्य है तथा वेदों का स्वाध्याय अभ्यास वाङ्मय (वाणी का) तप कहलाता है ॥१५॥

मनुष्य के पास स्वयं को अभिव्यक्त करने का एक सशक्त माध्यम है वाणी। इस वाणी के द्वारा वक्ता की बौद्धिक पात्रता, मानसिक शिष्टता एवं शारीरिक संयम प्रकट होते हैं। यदि वक्ता अपने व्यक्तित्व के इन सभी स्तरों पर सुगठित नहीं हो, तो उसकी वाणी में कोई शक्ति, कोई चमत्कृति नहीं होती। वाणी एक कर्मेन्द्रिय है, जिसके सतत क्रियाशील रहने से मनुष्य की

१. ब्रह्मणि चरितुं शीलम् ब्रह्मचर्यम् इति।

शक्ति का सर्वाधिक व्यय होता है। अतः वाणी के संयम के द्वारा बहुत बड़ी मात्रा में शक्ति का संचय किया जा सकता है, जिसका सदुपयोग हम अपनी साधना में कर सकते हैं।

इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि हम आत्मनाशक और परोत्तेजक मौन को धारण करें। वाक्शक्ति का उपयोग व्यक्तित्व के सुगठन के लिये करना चाहिये। इस शक्ति का सदुपयोग करने की एक कला है जो वक्ता के तथा अन्य लोगों के लिये भी हितकारी है। वाणी की इस हितकारी कला का वर्णन इस श्लोक में किया गया है। पूर्व श्लोक में इंगित किये गये विचार को यहां और अधिक स्पष्ट किया गया है कि तप कोई आत्मपीड़ा का साधन न होकर आत्मविकास एवं आत्म-साक्षात्कार की कल्याणकारी योजना है।

'अनुद्वेगकर'– वक्ता द्वारा प्रयुक्त किये गये शब्द ऐसे नहीं होने चाहिये, जो श्रोता के मन में उद्वेग या उत्तेजना उत्पन्न करें ; "वे शब्द न तो उत्तेजक हों और न अश्लील"। वक्ता द्वारा प्रयुक्त किये गये शब्दों की उपयुक्तता की परीक्षा श्रोताओं की प्रतिक्रिया से हो जाती है और वह प्रतिक्रिया उनके मुख के भावों से ही स्पष्ट हो जाती है। परन्तु प्रायः लोग अपनी आंखें बन्द करके ही बोलते हैं, और जब उनकी आंखें खुली रहती हैं तब भी वे अन्धवत् ही रहते हैं। अनेक दुर्भागी लोग अपने जीवन में विफल होते हैं और मित्र बन्धुओं को खो देते हैं, उसका कारण केवल उनकी वाणी की कटुता, शब्दों की कठोरता और उनके विवेकशून्य विचारों की दुर्गन्ध ही है !

'सत्य, प्रिय और हित' –सत्य भाषण श्रेष्ठ है। परन्तु सत्य बचन प्रिय हो और हितकारी भी हो। इन तीनों के होने पर ही वह वक्तृत्व "वाङ्मय तप" कह-लाता है, जो साधक के लिये कल्याणकारी सिद्ध होता है।

असत्य बोलने से हमारी शक्ति का अत्यधिक ह्रास और अपव्यय होता है। यदि हम सत्य बोलने की नीति अपनायें, तो शक्ति का यह अपव्यय रोका जा सकता है। जो वाक्य हमारे विचारों को उनके यथार्थ रूप में व्यक्त करते हैं, उन्हें "सत्य बचन" कहते हैं, और जिन शब्दों के द्वारा अपने विचारों को जानबूझकर विकृत रूप में प्रस्तुत किया जाता है वे 'असत्य' हैं। समाज में अनेक लोग सत्यवादिता के नाम पर अत्यन्त कटुभाषी हो जाते हैं। परन्तु वह वाङ्मय तप न होने के कारण एक साधक के लिए अनुपयुक्त है। गीता के अनुसार हमारे बचन सत्य हों तथा प्रिय भी हों। इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि जब कथनीय सत्य श्रोता को प्रिय न हों, तो वक्ता को विवेकपूर्वक मौन ही रहना चाहिये !

केवल सत्य और प्रिय बचन ही पर्याप्त नहीं है, अपितु वे हितकारक भी होने चाहिये। शब्दों का अपव्यय नहीं करना चाहिये। निरर्थक भाषण से वक्ता को केवल थकान ही होगी। मनुष्य को केवल तभी बोलना चाहिये, जब वह किसी श्रेष्ठ सत्य को मधुर वाणी में समझाना चाहता हो, जो कि श्रोता के हित में है। सत्य प्रिय और हितकारी वचनों का अभ्यास ही "वाङ्मय तप" कहलाता है।

स्वाध्याय-अभ्यास'– वाक्संयम का अर्थ शवागर्त के चेतनाहीन और निष्प्राण मौन को धारण करना कदापि नहीं है। आत्मोन्नति के रचनात्मक कार्य में वाक्-शक्ति का सदुपगोग करना ही भगवान् की दृष्टि में वाक्संयम अथवा वाङमय तप है। स्वाध्याय का अर्थ है, वेदों का पठन, उनके अध्ययन के द्वारा अर्थ ग्रहण और तत्पश्चात् उनका अनुशीलन करना। सत्य, प्रिय और हितकारक भाषण के द्वारा सुरक्षित रखी गई शक्ति का सदुपयोग उपर्युक्त स्वाध्याय में करना चाहिये।

साधना का विस्तृत बिवेचन करने में यह श्लोक स्वयं में सम्पूर्ण है। प्रथम पंक्ति में हमारी शक्ति के दैनिक निष्प्रयोजक अपव्यय को रोकने का उपाय बताया गया है और दूसरी पंक्ति में इस सुरक्षित शक्ति का सदुपयोग वर्णित है। इस प्रकार, तप के द्वारा साधक को श्रेष्ठतर आनन्द की प्राप्ति हो सकती है।

अब, मानस-तप को बताते हैं :

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भाव संशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ।।१६।।

मन की प्रसन्नता, सौम्यभाव, मौन आत्मसंयम और अन्तःकरण की शुद्धि यह सब मानस तप कहलाता है ।।१६।।

इस श्लोक में उल्लिखित जीवन के पांच आदर्श मूल्यों को जीवन में अपनाने पर, ये अपने संयुक्त रूप में 'मानस तप', कहलाते हैं। मनः प्रसाद अर्थात् मनः शान्ति की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब जगत् के साथ का हमारा संबंध ज्ञान, सहिष्णुता और प्रेम के स्वस्थ मूल्यों पर आधारित हो। एक असंयमित और कामुक पुरुष के लिये मनः प्रसाद दुर्लभ ही होता है। उसका मन इन्द्रियों के द्वारा सदैव विषयों में ही सुख की खोज में भ्रमण करता रहता है।

विषय भोग की इच्छाएं ही मन की इस अन्तहीन दौड़भाग का कारण है। बाह्य विषय ग्रहण तथा आन्तरिक इच्छाओं से मन को सुरक्षित रखे जाने पर ही मनुष्य को शान्ति प्राप्त हो सकती है। जिस साधक को ऐसा दिव्य और श्रेष्ठ

आदर्श प्राप्त हो गया है, जिसमें मन और बुद्धि अपनी चंचलता को विस्मृत कर समाहित हो जाती है, उसे ही वास्तविक मन:प्रसाद की उपलब्धि हो सकती है।

'सौम्यत्व'– प्राणिमात्र के प्रति प्रेम और कल्याण की भावना ही सौम्यता है। ऐसे सहृदय साधक के मन में कभी यह भाव नहीं उत्पन्न होता कि लोग उसको बलात् उत्पीड़ित कर रहे हैं, और न ही वह बाह्य परिस्थितियों से कभी विचलित ही होता है।

'मौन'– हम पहले ही देख चुके हैं कि "शब्दों का अनुच्चारण" मौन नहीं है। सामान्यत:, मौन शब्द से हम वाणी का मौन ही समझते हैं, परन्तु यहां भगवान् श्रीकृष्ण मौन का उल्लेख मानस तप के सन्दर्भ में करते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है। कारण यह है कि मन के शान्त रहने पर ही वाणी का मौन या संयम सम्भव हो सकता है। कामरागादि के कोलाहल से रहित मन की स्थिति को ही वास्तविक मौन कहा जाता है। मुनि के स्वभाव को भी मौन कहते हैं। अत: मौन का अर्थ हुआ– मननशीलता।

'आत्मसंयम' – उपर्युक्त मन:प्रसाद, सौम्यता और मौन की सिद्धि तब तक सफल नहीं होती, जब तक हम सावधानी और प्रयत्नपूर्वक आत्मसंयम नहीं कर पाते हैं। प्राय: हमारी पाशविक प्रवृत्तियाँ प्रबल होकर हमें अपने वश में कर लेती हैं। अत: बिवेक और सजगतापूर्वक उनको अपने वश में रखना आवश्यक हो जाता है।

'भावसंशुद्धि:' – इस शब्द से तात्पर्य हमारे उद्देश्यों की पवित्रता और शुद्धता से है। भावसंशुद्धि के बिना आत्मसंयम कर पाना कठिन होता है। जीवन में कोई श्रेष्ठ लक्ष्य न हो तो विषयों के प्रलोभनों के शिकार बन जाने की आशंका बनी रहती है। इसलिए साधक को अपना लक्ष्य निर्धारित करके उसकी प्राप्ति होने तक धैर्यपूर्वक अपने मार्ग पर आगे बढ़ते जाना चाहिये। इस कार्य में हमारा लक्ष्य तथा उद्देश्य ऐसा दिव्य हो, जो हमें स्फूर्ति और प्रेरणा प्रदान कर सके, अन्यथा हम अपनी ही क्षमताओं की जड़ें खोदकर अपने ही नाश में प्रवृत्त हो सकते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त तीन श्लोकों में तप के वास्तविक स्वरूप का वर्णन किया गया है। विभिन्न साधकों के द्वारा समान श्रद्धा के साथ इस तप का आचरण किया जाता है, परन्तु सब को विभिन्न फल प्राप्त होतै दिखाई देते हैं। यह कोई संयोग की ही बात नहीं है। तप करने वाले तपस्वी साधक तीन प्रकार के होते हैं – सात्विक, राजसिक और तामसिक। अतः इन गुणों के भेद के कारण उनके तपाचरण में भेद होता है। स्वाभाविक ही है कि उनके द्वारा प्राप्त किए गए फलों में भी भेद होगा।

अब अगले तीन श्लोकों में त्रिविध तप का वर्णन करते हैं :

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते ।।१७।।

फल की आकांक्षा न रखने वाले युक्त पुरुषों के द्वारा परम श्रद्धा से किये गये उस पूर्वोक्त त्रिविध तप को सात्विक कहते हैं ।।१७।।

जब, शारीर, वाङ्मय और मानस तपों का आचरण फलाशक्ति के बिना किया जाता है, तब वह तपाचरण सात्विक कहलाता है । वे योगयुक्त पुरुष सात्विक हैं, जो भविष्य में प्राप्त होने वाले फलों की कदापि चिन्ता नहीं करते हैं । वे जानते हैं कि प्रकृति में सामञ्जस्य और नियमबद्धता है । अतः, "वर्तमान काल की दशा से प्रभावित हुआ सम्पूर्ण भूतकाल का परिणामी फल ही भविष्य होता है" – इस तथ्य से वे भलीभांति परिचित होते हैं । वर्तमान की कर्मकुशलता पर ही भावी फल निर्भर करता है । इसलिए फल की चिन्ता करके वर्तमान के सुअवसरों को खोना मूढ़ता का ही लक्षण है । सात्विक पुरुष फलासक्ति का त्याग कर त्रिविध तप का आचरण करते हैं जिसका उन्हें सर्वाधिक फल प्राप्त होता है ।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ।।१८।।

जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिए अथवा केवल दम्भ (पाखण्ड) से ही किया जाता है, वह अनिश्चित और क्षणिक तप यहाँ राजस कहा गया है ।।१८।।

वस्तुतः तपाचरण का प्रयोजन अपनी शक्तियों का संचय करके उनके द्वारा आत्मविकास करना है । परन्तु जो लोग तप का अनुष्ठान केवल समाज से सत्कार, सम्मान और पूजा प्राप्त करने के लिए, अथवा अपने गुण प्रदर्शनमात्र के लिए करते हैं, उनका तप राजस कहलाता है । भगवान् श्रीकृष्ण ने इसके पूर्व ऐसे लोगों को 'मिथ्याचारी' भी कहा था ।

इस प्रकार के तप से क्या हानि होती है ? इसका उत्तर यह है कि ऐसा तप 'चलम्' अर्थात् अस्थिर होने से इसका फल भी अध्रुवम् अर्थात् अनिश्चित या क्षणिक ही होता है । किसी भी कर्म का फल कालान्तर में ही प्राप्त होता है । इसलिए कर्म का अनुष्ठान स्थिरता और सातत्य की अपेक्षा रखता है । परन्तु, सत्कार अथवा प्रदर्शन के हीन उद्देश्य से किये गये तप में ये दोनों ही गुण नहीं हो सकते । इस प्रकार जब तप ही क्षणिक हो, तो उसका फल चिरस्थायी कैसे

हो सकता है ? राजस तप 'चलम' और 'अध्रुवम्' होने से त्याज्य ही समझना चाहिये।

मूढ़ग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ।।१९।।

जो तप मूढ़तापूर्वक हठ से स्वयं को पीड़ित करते हुए अथवा अन्य लोगों के नाश के लिए किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है ।।१९।।

इस श्लोक का अर्थ स्वत: स्पष्ट है। एक तपस्वी साधक को तप के वास्तविक स्वरूप, उसके प्रयोजन तथा विधि का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए । इस ज्ञान के अभाव में साधक अपने व्यक्तित्व के सुगठन तथा आत्मसाक्षात्कार के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकता।

वेदोपदिष्ट तप का विपरीत अर्थ समझने पर मनुष्य उसके द्वारा केवल स्वयं को पीड़ित ही कर सकता है। ऐसे आत्मपीड़न से शुद्ध आत्मा का सौन्दर्य अभिव्यक्त नहीं हो सकता; वह तो हमारे पूर्णस्वरूप का केवल उपाहासास्पद व्यंगचित्र ही चित्रित कर सकता है। मूढ़ तामस तप का फल कुरूप व्यक्तित्व, विकृत भावनाएं और हीन आदर्श ही हो सकता है।

दान के भी तीन प्रकार होते हैं, जिन्हे अगले श्लोकों में बताया जा रहा है :

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ।।२०।।

"दान देना ही कर्त्तव्य है" –इस भाव से जो दान योग्य देश, काल को देखकर ऐसे (योग्य) पात्र (व्यक्ति) को दिया जाता है, जिससे प्रत्युपकार की अपेक्षा नहीं होती हैं, वह दान सात्विक माना गया है ।।२०।।

दान को कर्तव्य समझकर दिये जाने पर वह सात्विक दान कहलाता है। दान का ग्रहणकर्ता ऐसा व्यक्ति होना चाहिये जो प्रत्युपकार करने में असमर्थ हो। इसी प्रकार दान देते समय देश, काल और पात्र की योग्यता का भी विचार करना चाहिए। जिस देश काल में जिस वस्तु का अभाव हो, वही देशकाल उस वस्तु के द्वारा प्राणियों की सेवा करने के लिए योग्य समझा जाता है; जैसे अकालग्रस्त प्रान्त में अन्नदान। योग्य पात्र से तात्पर्य अनाथ, दु:खी, असमर्थ तथा श्रेष्ठ आचरणों वाले विद्वान् जनों से है।

कुछ विद्वानों का यह मत है कि दान देने में देश कालादि का विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार एक वृक्ष अपने फलों को सभी वर्गों के लोगों को देता है, उसी प्रकार मनुष्य को अपने पास उपलब्ध वस्तुओं का दान करना चाहिए।

अनेक लोगों को उपर्युक्त मत में विश्वास रखकर तदनुसार दान करने में कठिनाई अनुभव होगी। अतः गीता का यह कथन उचित ही है कि मनुष्य को इस बात का विचार करना चाहिए कि उसका दान समाज के योग्य पुरुषों को प्राप्त हो रहा है अथवा नहीं।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

और जो दान क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युपकार के उद्देश्य से अथवा फल की कामना रखकर दिया जाता है, वह दान राजस माना गया है ॥२१॥

क्लेशपूर्वक दान से तात्पर्य उस दान से है, जो हम अनेक प्रकार के चन्दे आदि के रूप में अनिच्छापूर्वक देते हैं। शेष अर्थ स्पष्ट है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

जो दान बिना सत्कार किये, अथवा तिरस्कारपूर्वक, अयोग्य देश काल में, कुपात्रों के लिये दिया जाता है, वह दान तामस माना गया है ॥२२॥

संक्षेपतः, सात्विक दान के जो सर्वथा विपरीत है वह दान तामस कहा जाता है। कुपात्र का अर्थ है मूर्ख, चोर, मद्यपानादि करने वाले लोग।

यज्ञ, दान, तप आदि को सुसंस्कृत और सम्पूर्ण करने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण उपदेश देते हुए कहते हैं :

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

'ॐ, तत् सत्' ऐसा यह ब्रह्म का त्रिविध निर्देश (नाम) कहा गया है ; उसी से आदिकाल में (पुरा) ब्राह्मण, वेद और यज्ञ निर्मित हुए हैं ॥२३॥

'ॐ, तत् सत्' – जिस शब्द के द्वारा किसी वस्तु को इंगित किया जाता है उसे 'निर्देश' कहते हैं। इस प्रकार, 'ॐ तत्सत्' ब्रह्म का त्रिविध निर्देश माना गया है ; अर्थात् इनमें से प्रत्येक शब्द ब्रह्म का ही संकेतक है। प्राय: कर्मकाण्ड के विधान में कर्म करते समय इस प्रकार के 'निर्देश' के स्मरण और उच्चारण का उपदेश दिया जाता है, जिसके फलस्वरूप कर्मानुष्ठान में रह गयी अपूर्णता या दोष की निवृति हो जाती है। प्रत्येक कर्म अपना फल देता है, परन्तु वह फल केवल कर्म पर ही निर्भर न होकर कर्त्ता के उद्देश्य की शुद्धता की भी अपेक्षा रखता है। कोई व्यक्ति कितने ही परिश्रमपूर्वक किसी प्रकार का धार्मिक अनुष्ठान क्यों न करे, यदि उसका उद्देश्य हीनस्तर का है तो वह अनुष्ठान उस कर्ता को श्रेष्ठ फल प्रदान करने में असमर्थ होता है। हम सबके कर्म एक समान प्रतीत हो सकते हैं, तथापि एक व्यक्ति को प्राप्त फल दूसरे से भिन्न होता है। इसका कारण कर्ता के उद्देश्य का गुणधर्म ही हो सकता है।

ईश्वर के स्मरण द्वारा हम अपने उद्देश्यों की आभा को और अधिक तेजस्वी बना सकते हैं। अनात्म उपाधियों से तादात्म्य को त्यागने से ही हम अपने परमात्म स्वरूप में स्थित हो सकते हैं। जिस मात्रा में हमारे कर्म नि:स्वार्थ होंगे उसी मात्रा में प्राप्त पुरस्कार भी शुद्ध होगा। अहंकार के नाश के लिए साधक को अपनी आध्यात्मिक प्रतिष्ठा का बोध होना आवश्यक है।

ॐ उस आत्मतत्त्व का प्रतीक है जो अजन्मा, अविनाशी, सर्व उपाधियों के अतीत और शरीरादि उपाधियों का अधिष्ठान है। 'तत्' शब्द परब्रह्म का सूचक है। उपनिषदों के प्रसिद्ध महावाक्य 'तत्त्वमसि' में, 'तत्' पद उस परम सत्य को इंगित करता है, जो सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय का स्थान है। अर्थात् जगत्कारण ब्रह्म 'तत्' शब्द के द्वारा लक्षित किया गया है। 'सत्' का अर्थ है त्रिकाल अबाधित सत्ता। यह सत्स्वरूप सर्वत्र व्याप्त है।

इस प्रकार, ॐ तत्सत् इन तीन शब्दों के द्वारा विश्वातीत, विश्वकारण और विश्व व्यापक परमात्मा का स्मरण करना ही उसके साथ तादात्म्य करना है। ईश्वर स्मरण से हमारे कर्म शुद्ध हो जाते हैं।

ॐ तत्सत् द्वारा निर्दिष्ट ब्रह्म से ही समस्त वर्ण, धर्म, वेद और यज्ञ उत्पन्न हुए हैं। अध्यस्त सृष्टि का कारण उसका अधिष्ठान ही होता है।

अब, आगामी श्लोकों में इन तीन शब्दों के प्रयोग के विधान को बताते हैं :

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ।।२४।।

इसलिए , ब्रह्मवादियों की शास्त्र प्रतिपादित यज्ञ, दान और तप की क्रियायें सदैव ओंकार के उच्चारण के साथ प्रारम्भ होती हैं ।।२४ ।

ब्रह्मवादियों से तात्पर्य सात्विक, जिज्ञासु साधकों से है । अपने सभी कर्मों में परमात्मा का स्मरण रखने से उन्हें श्रेष्ठता, शुद्धता और दिव्यता प्राप्त होती है । परमात्मा के स्मरण में ही अहंकार और उसके बन्धनों का विस्मरण है । अहंकार के अभाव में, साधक अपने तपाचरण में अधिक कुशल, यज्ञ कर्मों में निःस्वार्थ और दान में अधिक उदार बन जाता है ।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ।।२५।।

'तत्' शब्द का उच्चारण कर, फल की इच्छा नहीं रखते हुये, मुमुक्षुजन यज्ञ, तप, दान आदि विविध कर्म करते हैं ।।२५।।

जो पुरुष स्वयं को अपनी आसक्तियों, स्वार्थी इच्छाओं, अहंकार और उससे उत्पन्न होने वाले विक्षेपों के बन्धनों से मुक्त करना चाहता है, उसे मुमुक्षु कहते हैं । ऐसे मुमुक्षुओं को यह श्लोक एक उपाय बताता है, जिसके द्वारा समस्त साधक स्वयं को अपनी वासनाओं के बन्धन से मुक्त कर सकते हैं ।

मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे फलाशक्ति को त्यागकर और 'तत्' शब्द के द्वारा परमात्मा का स्मरण करके अपने कर्त्तव्यों का पालन करें । 'तत्' शब्द जगत्कारण ब्रह्म का वाचक है, जहाँ से सम्पूर्ण सृष्टि व्यक्त होती है । इस प्रकार, यह शब्द "भूतमात्र के आत्मैकत्व" का भी सूचक है । अपने कुटुम्ब के कल्याण के स्मरण रहने पर व्यक्तिगत लाभ का विस्मरण हो जाता है ; समाज के लिए कार्य करने में परिवार के लाभ का विस्मरण हो जाता है ; और राष्ट्रकल्याण की भावना का उदय होने पर अपने समाजमात्र के लाभ की कामना नहीं रह जाती तथा विश्व और मानवता के लिये कर्म करने में राष्ट्रीयता की सीमायें टूट जाती हैं । इसी प्रकार, आत्मैकत्व के भाव में चित्त को समाहित करके यज्ञदानादि कर्मों के आचरण से, अहंकार के अभाव में, अन्तःकरण की पूर्वार्जित वासनायें नष्ट हो जाती हैं और नई बासनाएं उत्पन्न नहीं होती । यही मुक्ति है ।

अब, 'सत्' शब्द का विनियोग बताते हैं :

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ।।२६।।

हे पार्थ ! सत्य भाव व साधुभाव में 'सत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है, और प्रशस्त (श्रेष्ठ, शुभ) कर्म में भी 'सत्' शब्द प्रयुक्त होता है ।।२६।।

सत्यता और साधुता तथा कर्म की प्रशस्तता को 'सत्' शब्द के द्वारा लक्षित किया जाता है । हम सब आपेक्षिक सत्यत्व वाले जगत् में रहते हैं। हमारे लिये यह स्वाभाविक है कि अपने शरीर, मन और बुद्धि के द्वारा अनुभूयमान इस जगत् को ही हम पारमार्थिक सत्य समझ लें । अतः 'सत्' शब्द के द्वारा हमें यह स्मरण कराया जाता है कि पारमार्थिक सत्य इस आपेक्षिक सत्य रूप जगत् का भी अधिष्ठान है ।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ।।२७।।

यज्ञ, तप और दान में दृढ़ स्थिति भी सत् कही जाती है, और उस (परमात्मा) के लिए किया गया कर्म भी सत् ही कहलाता है ।।२७।।

ॐ तत्सत् – से प्रारम्भ किए गए प्रकरण का तात्पर्य यह है कि यदि साधक के यज्ञ, दान और तप ये कर्म पूर्णतया शास्त्रविधि से सम्पादित नहीं भी हों अथवा शुद्ध सत्वगुण से सम्पन्न नहीं हों, तब भी परमात्मा के स्मरण तथा परम श्रद्धा के साथ यथाशक्ति उनका आचरण करने पर वे उसे श्रेष्ठ फल प्रदान कर सकते हैं ।

इसका सिद्धान्त यह है कि मनुष्य जगत् में अहंकार और स्वार्थ से प्रेरित होकर शुभाशुभ कर्म करता है । इन कर्मों के फलस्वरूप उसके अन्तःकरण में वासनाएँ होती जाती हैं, जो उसे कर्मों में प्रवृत करके उसके बन्धनों को दृढ़ करती जाती हैं । इन कर्म बन्धनों से मुक्ति पाने का उपाय कर्म ही है, परन्तु वे कर्म केवल कर्तव्य कर्म ही हों और उनका आचरण ईश्वरार्पण बुद्धि से किया जाना चाहिए । ईश्वर के स्मरण से अहंकार नहीं रह जाता और इस प्रकार वासनाओं की निवृत्ति हो जाती है । इसीलिए इस श्लोक में कहा गया है कि परमात्मा के लिए किया गया कर्म 'सत्' कहलाता है, क्योंकि वह मोक्ष का साधन है ।

यज्ञदानादि कर्म परम श्रद्धा के साथ युक्त होने पर ही पूर्ण होते हैं । तब स्वाभाविक ही :

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ।।२८।।

हे पार्थ ! जो यज्ञ, दान, तप और कर्म अश्रद्धापूर्वक किया जाता है, वह 'असत्' कहा जाता है ; वह न इस लोक में (इह) और न मरण के पश्चात् (उस लोक में) लाभदायक होता है ।।२८।।

इस श्लोक में, निषेध की भाषा में निश्चयात्मक रूप से भगवान् कहते हैं कि श्रद्धारहित कोई भी कर्म न इस लोक में और न मरण के पश्चात् ही लाभदायक होता है। कर्मों का फल कर्त्ता की श्रद्धा, उत्साह और निश्चय पर निर्भर करता है। मनुष्य की श्रद्धा ही उसके कर्मों को आभा प्रदान करती है। अतः कर्म का फल बहुत अधिक मात्रा में कर्त्ता की श्रद्धा पर निर्भर करता है।

यहां निश्चयात्मक रूप से कहा गया है कि श्रद्धारहित यज्ञ, दान, तप और अन्य कर्म 'असत्' होते हैं। असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिए ऐसे असत् कर्मों से कोई वास्तविक श्रेष्ठ फल प्राप्त नहीं किया जा सकता। भगवान् के इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि सब कर्मों में श्रद्धा की प्रमुखता है और उसके बिना कर्म निष्फल होते हैं।

श्रद्धा का यह नियम न केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही सत्य है, अपितु लौकिक फलों की प्राप्ति में भी उतना ही सत्य प्रमाणित होता है। कर्ता को स्वयं अपने में, कर्म में तथा प्राप्य लक्ष्य में श्रद्धा आवश्यक होती है, केवल तभी वह अपनी सम्पूर्ण क्षमता के साथ प्रयत्न कर सकता है, अन्यथा नहीं।

अतः भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि अश्रद्धा से किए गए यज्ञ, दान और तप 'असत्' होते हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ।।

इस प्रकार श्रीकृष्णार्जुनसंवाद के रूप में ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रस्वरूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् का श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सत्रहवां अध्याय समाप्त होता है।

ॐ

अष्टादश अध्याय

मोक्षसंन्यासयोग

गीता एक अद्भुत सौन्दर्यमयी कलाकृति है। यह अनुपम है और अनुपमेय भी। इस एकमेव अद्वितीय रचना के समकक्ष अन्य कोई रनचा नहीं है। इसके द्रवीभूत काव्य में ठोस और सारगर्भित दर्शन की विवेचना है। अपने छन्दों की तरलता से वह नैतिकता और आध्यात्मिकता के विरलतम रत्नों के मणियों को सुन्दरतम एवं दर्शनीय रूप में सबके समक्ष प्रस्तुत करती है। मन्द समीरण के समान प्रवाहित इसके प्रवचनों की सुस्थिर शैली है। इसकी वक्तृता की परमदयार्द्र वृष्टि विघटित व्यक्तित्व के जीवों को अपने चमत्कारी स्पर्श से सम्पूर्ण और सुगठित बना देती है। यह कोई विज्ञान का ग्रन्थ नहीं है, तथापि इसकी विषयवस्तु के विवेचन की शैली वैज्ञानिक है। दार्शनिक प्रवचनों में असंभव प्रतीत होने वाली कल्पना अथवा शून्यता इसमें नहीं देखी जाती, फिर भी समस्त दार्शनिक मत इसकी विशालता में संजोये हुये हैं।

जगत् का 'वर्णन' करना विज्ञान का कर्तव्य है; और दर्शन का प्रयोजन जीवन की 'व्याख्या' करना है। विज्ञान प्रकृति की आकृतियों एवं प्रक्रियाओं का बर्णन करता है; जब कि दर्शन उनका स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है। इस दृष्टि से, भगवद्गीता एक आकर्षक असम्भावना प्रतीत होती है। वह युगपत् विज्ञान है और दर्शन भी; और फिर भी, यह आश्चर्य है कि वह न तो वैज्ञानिक दर्शन है और न दार्शनिक विज्ञान। अपने अष्टादश अध्यायों में वह जीवन के तत्त्वज्ञान की व्याख्या करती है और इसके साथ ही वह जीवन के विज्ञान का विवेचन और उसका प्रत्यक्षीकरण भी प्रस्तुत करती है।

वस्तुतः, यह अन्तिम अध्याय, सम्पूर्ण भगवद्गीता का सारांश है। यदि द्वितीय अध्याय गीता का पूर्वानुमानित सारांश है, तो यह अठारवां अध्याय गीता का सिंहावलोकन करता है।[1] यह पहले ही सिद्ध किया जा चुका है कि सर्वत्र

---

१. गीता का यहाँ तक सावधानी पूर्वक अध्ययन करने वाले लगनशील विद्यार्थियों को चाहिए कि पूर्व के सत्रह अध्यायों में प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में प्रस्तुत की गयी 'प्रस्तावना' को वे एक बार पुनः पढ़ें। यह उनके लिये लाभदायक होगा।

एक ही सच्चित्स्वरूप परमात्मा प्रकृति में प्रकट होकर स्वयं ही इस नानाविधि सृष्टि का रूप धारण करता है। यह नाम रूपमय सृष्टि विविध वर्णी है; यहाँ वस्तुओं और व्यक्तियों के गुण, स्वभाव और व्यवहार में असंख्य छटाओं की विविधता देखी जाती है।

प्रकृति के तीन गुणों के आधार पर गीता में तीन प्रकार के सात्विक, राजसिक और तामसिक व्यक्तियों का वर्णन किया गया है। इस अध्याय में यह विशद विवेचन किया गया है कि किस प्रकार ये तीन गुण अपनी विविधताओं द्वारा विभिन्न व्यक्तियों के त्याग, बुद्धि, कर्म, धृति और सुख में अन्तर रचते हैं।

उसी प्रकार, गीता में अनेक स्थलों पर 'संन्यास' और 'त्याग' शब्दों का विभिन्न सन्दर्भों में प्रयोग किया गया है, जिनका आशय भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। इससे उत्पन्न होने वाले भ्रम की निवृत्ति के लिये इन दो शब्दों को पुनर्परिभाषित करना आवश्यक है, क्योंकि शास्त्रीय शब्दों की अस्पष्टता अथवा अनेकार्थता ग्रन्थ के यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति में बाधक बनती है।

इस अन्तिम अध्याय के प्रारम्भ में एक सीधा प्रश्न करके अर्जुन अपनी जिज्ञासा प्रकट करता है। वह 'संन्यास' और 'त्याग' के तात्विक स्वरूप को जानना चाहता है। भगवान् श्रीकृष्ण उसकी जिज्ञासा को पूर्ण करने के लिये उत्तर देना प्रारम्भ करते हैं। परन्तु, गीता के कुछ अध्येता अपना असन्तोष प्रकट करते हुये कहते हैं कि अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुये गीताचार्य भगवान् श्रीकृष्ण मुख्य विषय से हटकर अवान्तर विषयों का ही विवेचन करने लगते हैं। वस्तुतः, यह आलोचना समीचीन नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण सर्वप्रथम दोनों शब्दों की परिभाषा प्रस्तुत करते हैं और तत्पश्चात् यह बताते हैं कि किस प्रकार त्याग के द्वारा संन्यास की प्राप्ति हो सकती है। भाव यह है कि जब तक हम अपने मन से विषयासक्ति तथा जगत् के साथ के दोषपूर्ण संबंधों का 'त्याग' करना नहीं सीखते, तब तक सजगतापूर्वक विचार के द्वारा अहंकार का नाश रूपी 'संन्यास' प्राप्त नहीं किया जा सकता। संन्यास का मूल त्याग में ही है, त्याग के बिना संन्यास मात्र खोखला प्रदर्शन है। त्याग (वैराग्य) रहित संन्यास में कोई आनन्द नहीं है। त्याग रहित संन्यास राज्य रहित मुकुट के समान निर्थक है।

इस अध्याय में हमारी वासनाओं, प्रवृत्तियों, भावनाओं एवं कर्मों आदि का सूक्ष्म अध्ययन एवं विश्लेषण करके उनका वर्गीकरण किया गया है। जीवन की वास्तविकता को बताने वाले ये सब संकेतकं हैं, अतः इनका ज्ञान होने पर मनुष्य स्वयं का ही सूक्ष्म अध्ययन करने में समर्थ हो सकता है। एक कार में, उसके विभिन्न यन्त्रों की स्थिति को दर्शाने वाले अनेक संकेतक लगे होते हैं, जिनके द्वारा

कार चालक वाहन में ईन्धन, वायुदबाव, वेग आदि की स्थिति को जान सकता है। इसी प्रकार, इस अध्याय में वर्णित संकेतक हमारे आन्तरिक व्यक्तित्व की संरचना का स्पष्ट बोध कराते हैं। साधक को चाहिये कि वह समय समय पर इन सूचकों की सहायता से अपने व्यक्तित्व का अवलोकन करता रहे। यदि सभी संकेतक सात्विक स्थिति को इंगित कर रहे हैं, तो सर्वाधिक कुशलता का जीवन तथा आत्मविकास में उन्नति निश्चित समझनी चाहिये। यदि हमारे विचारों और कर्मों में रजोगुण की अधिकता दिखाई दे रही हो, तो हमें तत्काल सावधान हो जाने का उपदेश दिया जाता है। और यदि सभी संकेतक तामसिक स्थिति को दर्शा रहे हों, तो वाहन को तत्काल रोककर 'इंजन' में सुधार करने की आवश्यकता है! इस अन्तिम अध्याय का यही उपदेश है।

जीवन के प्रत्येक क्षण में निम्नस्तरीय राजसिक और तामसिक प्रवृत्तियों का परित्यार्ग 'त्याग' कहलाता है। इसके द्वारा हमें अपने ही ऊपर वह स्वामित्व प्राप्त होगा कि हम उस अहंकार को ही त्यागने में समर्थ हो सकेंगे, जो इन समस्त अनर्थों का मूल कारण है। अपने सच्चिदानन्दन स्वरूप आत्मा के साक्षात्कार में यह परिच्छिन्न अहंकार नष्ट हो जाता है। इसी में हमारे जीवन की पूर्णता है, जिसे यहाँ 'संन्यास' शब्द से इंगित किया गया है।

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥

अर्जुन ने कहा–

हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशिनिषूदन! मैं संन्यास और त्याग के तत्त्व को पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूं ॥१॥

यद्यपि अर्जुन की जिज्ञासा शैक्षणिक रुचि की है, तथापि भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण गम्भीरता के साथ उसका उत्तर देते हैं। जब शिष्य अपना सन्देह या जिज्ञासा प्रकट करता है, तब निश्चय ही वह स्वयं अपनी कठिनाई को नहीं जान पाता है। अतः गुरु का यह कर्तव्य हो जाता है कि शिष्य की कठिनाई को समझकर उसका समाधान करे। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण का यही प्रयत्न है।

यह सम्पूर्ण अध्याय 'त्याग' और 'संन्यास' के अर्थ के चारों ओर घूमता रहता है। त्याग के बिना संन्यास अनाकलनीय है, असम्भव है, और यदि कोई

ऐसा प्रयत्न करता है, तो उसका संन्यास केवल पाखंड ही कहा जायेगा। यह अध्याय हमारी उन वासनाओं, प्रवृत्तियों, उद्देश्यों आदि का वर्णन करता है, जो सर्वथा त्याज्य है। इनके ज्ञान से अवांछनीय गुणों का वास्तविक 'त्याग' संभव हो सकता है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर इस अध्याय का अध्ययन करना चाहिये, अन्यथा, निश्चय ही, यह हमें प्रभावित नहीं कर पायेगा।

'केशिनिषूदन' – केशि नामक एक असुर अश्व का रूप धारण करके बालकृष्ण की हत्या करने आया था, परन्तु भगवान् ने उसे ही दो भागों में विदीर्ण कर दिया था। अतः वे केशिनिषूदन के नाम से प्रसिद्ध हुए।

इन शब्दों के तत्त्वनिर्णय हेतु :

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

श्री भगवान् ने कहा–

(कुछ) कवि (पण्डित) जन काम्य कर्मों के त्याग को 'संन्यास' समझते हैं और विचारशील जन समस्त कर्मो के फलों के त्याग को 'त्याग' कहते हैं ॥२॥

काम्य कर्मों का त्याग 'संन्यास' कहलाता है और सब कर्मों का फलत्याग 'त्याग' कहा जाता है। शास्त्रीय सिद्धान्तों से अनभिज्ञ लोगों को इन दोनों में कोई अन्तर नहीं ज्ञात होता, क्योंकि कामना सदैव फलप्राप्ति की ही होती है। अतः, "कामना प्रेरित कर्मों का त्याग" और "कर्मफल की आसक्ति" का त्याग ये दोनों समान ही प्रतीत होते हैं। इसका कारण शास्त्रों से अनभिज्ञता अथवा उनका सतही अध्ययन ही हो सकता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोनों का अर्थ कामना का त्याग ही है, परन्तु त्याग और संन्यास में कुछ अन्तर है। फिर भी त्याग, संन्यास का अविभाज्य अंग है। मनुष्य वर्तमान में कर्म करता है और आशा करता है कि उसे इष्टफल भविष्य में प्राप्त होगा। वर्तमान के कर्म का परिणाम ही भावी फल है। इसलिये, निष्काम कर्म 'वर्तमान' में ही हो सकते हैं, जब कि फलभोग की चिन्ता से उत्पन्न होने वाली मन की व्याकुलता का संबंध 'भविष्य' काल से होता है। वर्तमान के कर्म की परिसमाप्ति भावी फल में होती है।

कामना और विक्षेप मन में अशान्ति उत्पन्न करते हैं। कामना जितनी

अधिक तीव्र होगी, उतनी ही अधिक मात्रा में हमारी आन्तरिक शक्तियों का ह्रास होगा। और ऐसा शक्तिहीन पुरुष किसी भी कर्म को कुशलता एवं उत्साह के साथ सम्पादित नहीं कर सकता। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि अहंकार या जीव ही इच्छा करता है। अतः, अहंकार की निवृत्ति का अर्थ है, व्यष्टि जीव की विरति और उस साधक की अपने सर्वोच्च स्वरूप में दृढ़ स्थिति।

कर्म वर्तमान में होते हैं और उनके फल भविष्य में प्राप्त होने की संभावना रहती है। जो व्यक्ति फल की चिन्ता करता है वह वर्तमान में कार्य करने की अपनी क्षमता खो देता है। स्वाभाविक ही है कि उस व्यक्ति को इष्ट फल मिलने की संभावना कम हो जाती है, क्योंकि कर्म का फल कर्ता के प्रयत्न तथा प्रकृति के नियमादि अन्य कई कारणों पर निर्भर करता है। अतः हमें फलासक्ति का 'त्याग' करने का उपदेश दिया जाता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि 'त्याग' साधन है और संन्यास साध्य है।

त्याग और संन्यास की साधना का सम्बन्ध हमारे कर्मों से है। भगवान् श्रीकृष्ण के महत्त्व पर बल देते हुये कभी नहीं थकते हैं। इन दोनों शब्दों में से कोई भी यह नहीं दर्शाता है कि हमको कर्म की उपेक्षा करनी चाहिये। इसके विपरीत, दोनों का आग्रह कर्म के पालन पर ही है। हमको कर्म करने ही चाहिये। तथापि, ये कर्म अहंकार और स्वार्थ या फलासक्ति से रहित होने चाहिये। फलासक्ति ही हमारी कार्य कुशलता में बाधक बनती है। फलासक्ति के अभाव में हमारे कर्म हमें अपना पूर्ण पुरस्कार प्रदान कर सकते हैं हम कह सकते हैं कि वेदों में प्रयुक्त इन दोनों शब्दों के अर्थोंकी अपेक्षा गीता में दी गई इनकी परिभाषाएं अधिक उदार एवं सहिष्णु हैं।

अज्ञानी पुरुष को कर्म करने चाहिये या नहीं ? इस पर कहते हैं :

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

कुछ मनीषी जन कहते हैं कि समस्त कर्म दोषयुक्त होने के कारण त्याज्य हैं; और अन्य जन कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याज्य नहीं हैं ॥३॥

पूर्व श्लोक में निश्चयात्मक रूप से कहा गया था कि 'त्याग' साधन है और संन्यास 'साध्य' है। सांख्य सिद्धान्त के समर्थकों का इस 'त्याग' के विषय में यह मत है कि समस्त कर्म दोषयुक्त होने के कारण त्याज्य हैं। उनके मतानुसार, सभी कर्म वासनाएं उत्पन्न करते हैं, जो आत्मा को आच्छादित कर देती हैं। अतः कर्मों का

सर्वथा त्याग करना चाहिये। परन्तु सांख्य दर्शन के कुछ व्याख्याकार कहते हैं कि केवल उन कर्मों का ही त्याग करना चाहिये, जो कामना और स्वार्थ से प्रेरित होते हैं न कि सभी कर्म त्याज्य हैं।

तत्त्वचिन्तक मनीषी जनों का यह उपदेश है कि साधकों को काम्य और निषिद्ध कर्मों का त्याग और कर्तव्य कर्मों का पालन करना चाहिये। सत्कर्मों के आचरण से ही मनुष्य का चरित्र निर्माण होता है। इन व्याख्याकारों के अनुसार यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याज्य नहीं हैं।

गीता के अध्येताओं को यह ज्ञात होना चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को केवल दोषयुक्त कर्मों को ही त्यागने का उपदेश देते हैं। उनका मनुष्य को आह्वान है कि उसको कर्म के द्वारा ही ईश्वर की भक्ति करनी चाहिये। यह आध्यात्मिक साधना है।

भगवान् का निर्णय यह है कि अज्ञानी जनों को कर्म करने चाहिये। उपर्युक्त विकल्पों के विषय में वे कहते हैं :

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४॥

हे भरतसत्तम! उस त्याग के विषय में तुम मेरे निर्णय को सुनो। हे पुरुष श्रेष्ठ! वह त्याग तीन प्रकार का कहा गया है ॥४॥

इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को वचन देते हैं कि वे त्याग के स्वरूप का सम्पूर्ण विवेचन करेंगे।

सामान्य मनुष्य के लिये किसी प्रकार का भी "त्याग करना" सरल कार्य नहीं होता; संचय और समृद्धि मन के मानों प्राण ही हैं। इसलिये, स्वाभाविक है कि अर्जुन के श्रेष्ठ गुणों को जागृत करने के लिये भगवान् उसे भरतसत्तम और पुरुषव्याघ्र कहकर सम्बोधित करते हैं।

अध्ययन की दृष्टि से त्याग का तीन भागों में वर्गीकरण किया गया है। सम्पूर्ण गीता में यह त्रिविध वर्गीकरण पाया जाता है, और वे तीन वर्ग हैं सात्विक, राजसिक और तामसिक।

भगवान् कहते हैं :

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याज्य नहीं है, किन्तु वह निःसन्देह कर्तव्य है; यज्ञ, दान और तप ये मनीषियों (साधकों) को पवित्र करने वाले हैं ।।५।।

पूर्व श्लोक में कथित द्वितीय मत को स्वीकार करते हुये भगवान् उस पर विशेष बल देते हैं । यज्ञ, दान और तपरूप कर्म करणीय हैं, त्याज्य नहीं । पूर्व अध्याय में हमने देखा था कि इन कर्मों का सम्यक् आचरण करने पर वे अन्तःकरण को शुद्धि प्रदान करते हैं, जो आत्मोन्नति और आत्म साक्षात्कार के लिये आवश्यक है । अविद्याजनित बन्धनों से मुक्ति पाने के इच्छुक साधकों को श्रद्धाभक्तिपूर्वक यज्ञ, दान और तप का आचरण करना चाहिये । इसके द्वारा वे आन्तरिक शान्ति और संतुलन को प्राप्त कर सकते हैं ।

आगे कहते हैं :

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ।।६।।

हे पार्थ ! इन कर्मों को भी, फल और आसक्ति को त्यागकर करना चाहिये, यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है ।।६।।

इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मों का भी पालन करना चाहिये । सम्पूर्ण गीता में 'संग' अर्थात् आसक्ति शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है, जिसका अपना एक विशेष अर्थ है । यह शब्द, कर्तृत्वाभिमानी जीव का अपने कर्मफल के साथ का सम्बन्ध बताने वाला है ।[१] उदाहरणार्थ, नव विवाहित दम्पत्ति को पुत्र की इच्छा होती है । यह सामान्य इच्छा है । परन्तु, यदि वे कहें, "हमें पुत्र 'ही' चाहिये, पुत्री नहीं", तो उनका यह आग्रह संग या आसक्ति है । ऐसा आग्रह रखना अविवेक का ही लक्षण है ।

आसक्ति से अभिभूत पुरुष अपने इष्टफल को प्राप्त करने में अविवेकपूर्ण या आत्म घातक चिन्ताओं से ग्रस्त हो जाता है । फल प्राप्ति के पूर्व ही उसके विषय में चिन्ता और व्याकुलता होने से मनुष्य की कार्य कुशलता समाप्तप्राय हो जाती है ।

इसलिये, भगवान् का उपदेश है कि यज्ञादिक कर्म भी फलासक्ति के बिना करने चाहिये । यह भगवान् श्रीकृष्ण का अपना मत है। इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि यह उनका सर्वथा मौलिक मत है । वेदों में भी निष्काम कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है ।

---

१. गणित की भाषा के अनुसार–
अहंकार + अहंकार केन्द्रित इच्छाएँ = संग या राग ।

कर्मयोग के जीवन को अपनाने से अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा मनुष्य अपने नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वरूप का साक्षात्कार कर सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को स्नेहपूर्वक 'पार्थ' कहकर सम्बोधित करते हैं, जो निकट का संबंध बताने वाला नाम है। भगवान् चाहते हैं कि अर्जुन इसी जीवन पद्धति का अवलम्बन करे।

यज्ञादि कर्मों की कर्तव्यता को दर्शाने के पश्चात्, भगवान् आगे कहते हैं :

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

नियत कर्म का त्याग उचित नहीं है; मोहवश उसका त्याग करना 'तामस त्याग' कहा गया है ॥७॥

नियत अर्थात् कर्तव्य कर्मों का त्याग अत्यन्त निम्नस्तर का तामस त्याग माना गया है। नित्य और नैमित्तक कर्मों के सम्मिलित रूप को ही नियत कर्म कहते हैं। जब तक मनुष्य अपने समाज के एक सदस्य के रूप में जीवन यापन करता है, तब तक उसे वह समाज, सुरक्षा तथा उन्नति का लाभ भी प्रदान करता है। अतः हिन्दू नीति के अनुसार, मनुष्य को अपने कर्तव्यों को त्यागने का कोई अधिकार नहीं है।

यदि कोई व्यक्ति अज्ञानवश अपने नैतिक कर्तव्यों का त्याग करता भी है, तब भी वह क्षम्य नहीं है। जैसे, संविधान के और भौतिक जगत् के प्राकृतिक नियमों के पालन के संबंध में "नियम का अज्ञान" क्षम्य नहीं माना जाता, वैसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र में भी यही नियम लागू होता है। अज्ञान और अविवेक के कारण यदि कोई व्यक्ति अपने कर्तव्य पालन के द्वारा समाज सेवा नहीं करता है, तो उसका यह त्याग मूढ़ अर्थात् तामसिक त्याग है।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

जो मनुष्य, कर्म को दुःख समझकर शारीरिक कष्ट के भय से त्याग देता है, वह पुरुष उस राजसिक त्याग को करके भी कदापि त्याग के फल को प्राप्त नहीं होता है ॥८॥

यदि कोई व्यक्ति अपने कर्तव्य कर्म को दुःखदायक समझकर कायाक्लेश के

भय से त्याग दे, तो उसका त्याग राजस कहा जायेगा। इसका अभिप्राय यह है कि यदि कर्तव्य कर्म दु:खदायक और थकाने वाले न हों, तो रजोगुणी पुरुष उन्हें करने में तत्पर रहेगा। परन्तु कर्मशील पुरुष होकर जो अपने व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं का त्याग नहीं कर सकता, उसे श्रेष्ठ और साहसी पुरुष कदापि नहीं कहा जा सकता। ऐसे कर्मो का कोई बिशेष पुरस्कर नहीं मिलता। भगवान् तो कहते हैं, "वह अपने त्याग का कोई फल प्राप्त नहीं करता है।"

वस्तुत: अपने कर्तव्यों का पालन ही महानतम 'त्याग' है, और विशेषत: तब वह और भी अधिक श्रेष्ठ बन जाता है, जब मनुष्य को अपनी शारीरिक सुख सुविधाओं का भी त्याग करना पड़ता है। स्बयं अर्जुन भी युद्ध करने में संकोच करके अपने कर्तव्य से विमुख हो रहा था। इस प्रकार, उसका त्याग राजस श्रेणी का ही कहा जा सकता था।

वास्तविक त्याग हमें सदैव आत्माभिव्यक्ति के विशालतर क्षेत्र में पहुंचाता है, जहां हम श्रेष्ठतर दिव्य आनन्द का अनुभव कर सकते हैं। 'त्याग' के द्वारा ही एक कली खिलकर फूल बन जाती है, और वह फूल अपनी कोमल पंखुड़ियों और मनमोहक सुगन्ध का त्याग कर ही फल के सम्पन्न पद को प्राप्त होता है।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः॥९॥

हे अर्जुन ! "कर्म करना कर्तव्य है" ऐसा समझकर जो नियत कर्म आसक्ति और फल को त्यागकर किया जाता है, वही सात्विक त्याग माना गया है ॥९॥

सात्विक पुरुष इस भावना से कर्म करते हैं कि नियत कर्मों का पालन करना कर्तव्य है और उनका त्याग करना अत्यन्त अपमान जनक एवं लज्जास्पद कार्य है। कर्तव्य के त्याग को वे अपनी मृत्यु ही मानते हैं। ऐसे अनुप्राणित पुरुषों का 'त्याग' सात्विक कहलाता है।

कर्मो में कुछ अपरिहार्य प्रतिबन्ध होते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का उपदेश केवल इतना ही है कि हमको इन प्रतिबन्धों के बिना अपने कर्म करते रहना चाहिये। अभिप्राय यह है कि कर्म फल से आसक्ति होने पर ही वह कर्म हमें बन्धन में बद्ध कर सकता है, अन्यथा नहीं। अत:, वास्तविक त्याग फलासक्ति का होना चाहिये, कर्मो का नहीं। इसीलिए, आसक्ति रहित कर्तव्यों के पालन को यहाँ सात्विक त्याग कहा गया है। भगवान् के उपदेशानुसार, अपने मन में स्थित स्वार्थ, कामना, आसक्ति आदि का त्याग ही यथार्थ त्याग है जिसके द्वारा हमें अपने परमा-

नन्द स्वरूप की प्राप्ति होती है। यह त्याग कुछ ऐसा ही है, जैसे हम अन्न को ग्रहण कर क्षुधा का त्याग करते हैं !

अहंकार और स्वार्थ का त्याग करके कर्तव्यों के पालन से मनुष्य अपनी वासनाओं का क्षय करता है और आन्तरिक शुद्धि को प्राप्त करता है। इस प्रकार, त्याग तो मनुष्य को और अधिक शक्तिशाली और कार्यकुशल बना देता है।

किस प्रकार यह सात्विक पुरुष आत्मानुभव को प्राप्त करता है ? सुनो—

न द्वेष्टयकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ।।१०।।

जो पुरुष अकुशल (अशुभ) कर्म से द्वेष नहीं करता और कुशल (शुभ) कर्म में आसक्त नहीं होता, वह सत्त्वगुण से सम्पन्न पुरुष संशयरहित, मेधावी (ज्ञानी) और त्यागी है ।।१०।।

पूर्व श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने यह कहा था कि सात्विक पुरुष अपने नियत कर्मों को, केवल कर्तव्य समझकर फलासक्ति को त्यागकर, करता है। प्रथम दृष्टि में, सामान्य पुरुष को त्याग का यह सिद्धान्त असंभव ही प्रतीत होगा। संभवतः अर्जुन के मुख पर कुछ इसी प्रकार के आश्चर्य के भाव को देखकर, भगवान् श्रीकृष्ण इस श्लोक में सात्विक पुरुष का और अधिक स्पष्ट चित्रण करते हैं।

सामान्य अज्ञानी जन अतिरेकी स्वभाव के होते हैं। वे जगत् को यथार्थ रूप में कभी नहीं देखते। जगत् की वस्तुओं को वे अपने राग द्वेष से रंजित दृष्टि से देखते हैं। तत्पश्चात्, वे अपनी प्रिय वस्तु को पाने के लिए प्रयत्न करते हैं और अप्रिय को त्यागने के लिए परिश्रम करते हैं। इसके लिये वे शुभाशुभ कर्मों की चिन्ता नहीं करते। प्रिय वस्तु को प्राप्त कराने वाले कर्म में उनकी आसक्ति हो जाती है और अन्य कर्म से द्वेष। इसके परिणामस्वरूप, इष्ट की प्राप्ति पर उन्हें 'हर्षातिरेक' होता है और अनिष्ट की प्राप्ति में वे "विषाद के गर्त' में गिर जाते हैं। ऐसे लोगों के अन्तःकरण में काम, क्रोध, ईर्ष्या आदि अवगुणों का स्थायी निवास होता है। यदा-कदा इनमें से कोई व्यक्ति धर्माचरण में प्रवृत्त भी होता है, तो अपने अतिरेकी स्वभाव के कारण धार्मिक कार्य में आसक्त हो जाता है और अन्य लोगों को पतित समझ कर उन्हें हेय दृष्टि से देखता है !

परन्तु, सत्त्वगुणी पुरुष उपर्युक्त समस्त अवगुणों से मुक्त होता है। इसका कारण उसकी विकसित विवेक शक्ति है। आत्मानात्मविवेक के द्वारा वह यह भली-

भांति जानता है कि शरीर, इन्द्रियां, मन और बुद्धि ये सब अनात्मा हैं तथा जन्म-मरण, क्षुधा-तृषा और शोक-मोह ये सब इनके ही धर्म हैं, न कि इन सब को प्रकाशित करने वाले साक्षी आत्मा के इस ज्ञान के कारण वह अनात्म उपाधियों से तादात्म्य नहीं करता। इसी को यहाँ इस प्रकार कहा गया है कि वह अशुभ से द्वेष और शुभ से राग नहीं करता है। ऐसा पुरुष ही वास्तव में सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत कहा जाता है। अन्य अविवेकी लोग तो शुष्क पर्ण के समान वायु की गति और दिशा के साथ इतस्ततः भटकते रहते हैं। विवेकी पुरुष अपने मन का साक्षी बनकर रहता है, जबकि अविवेकी लोग, 'त्याग' के अभाव में, अपने मन की वृत्तियों के साथ तादात्म्य करके दुःख भोगते रहते हैं।

किसी भी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझने तथा मिथ्या का त्याग करने के लिये अपने नित्य और पूर्ण स्वरूप का बोध आवश्यक है। वस्तुओं को समझने तथा युक्तियुक्त विचार करने की बुद्धि की इस क्षमता को मेधा शक्ति कहते हैं। केवल इतना ही नहीं, वरन् प्राप्त ज्ञान को धारण एवं आवश्यकतानुसार स्मरण करने की क्षमता भी मेधा ही है। इस शक्ति से सम्पन्न पुरुष मेधावी कहा जाता है। ऐसे मेधावी पुरुष के निम्नलिखित तत्त्वों का स्पष्टत ज्ञान होता है: (१) अपना कर्मक्षेत्र, (२) वे उपाधियां जिनके द्वारा वह जगत् से सम्पर्क करता है, (३) अपना शुद्ध आनन्द स्वरूप, और (४) जगत् से अपना संबंध। यह मेधावी पुरुष संशय रहित (छिन्न संशय) होता है, क्योंकि वस्तु के अपूर्ण ज्ञान से ही संशय उत्पन्न हो सकता है, अन्यथा नहीं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे सात्विक त्यागी पुरुष जगत् में विरले ही होते हैं। बहुसंख्यक लोग तो अपनी देहादि उपाधियों के साथ तादात्म्य स्थापित करके स्वयं को कर्म का कर्त्ता मानते हैं और तब उन्हें कर्मफल भोगने के लिए बाध्य होना ही पड़ता है।

जो अज्ञानी पुरुष कर्तृत्व के अभिमान तथा देहासक्ति को त्याग नहीं पाता है, उसको कम से कम कर्म फल त्याग करना चाहिये। भगवान् कहते हैं:

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

क्योंकि देहधारी पुरुष के द्वारा अशेष कर्मों का त्याग संभव नहीं है, इसलिये जो कर्म फल त्यागी है, वही पुरुष त्यागी कहा जाता है ॥११॥

कोई भी देहधारी जीवित प्राणी चाहे वह एक कोषीय जीव ही क्यों न हो समस्त

कर्मों का त्याग नहीं कर सकता। कर्म तो जीवन का प्रतीक या लक्षण है। कर्म ही जीवन रूपी पुष्प की सुगन्ध है जहां कर्म नहीं है, वहाँ जीवन समाप्त समझा जाता है। कुछ कर्म किये बिना रहना भी अपने आप में एक कर्म ही है। शारीरिक और मानसिक क्रियायें मरण पर्यन्त होती ही रहती हैं।

अतः हम देहधारियों को कर्म करने चाहिये या नहीं, ऐसा विकल्प ही संभव नहीं होता। परन्तु हमको कौन से कर्म और किस प्रकार उन्हें करना चाहिये, इस विषय में अवश्य ही विकल्प संभव है। गीता के उपदेशानुसार हमको अपने कर्तव्य कर्म ईश्वरार्पण की भावना से करने चाहिये।

अज्ञानी जन देहादि अनात्म उपाधियों को ही अपना स्वरूप समझकर उसमें आसक्त होते हैं तथा उनके कर्मों का कर्ता भी स्वयं को ही मानते हैं। अतः ऐसे लोग सात्विक त्याग नहीं कर पाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का ऐसे लोगों को यह उपदेश है कि उनको कम-से-कम कर्मफलों की आसक्ति त्याग कर कर्मों का आचरण परिश्रम, उत्साह एवं कुशलता के साथ करना चाहिये। कर्मफलत्यागी पुरुष ही वास्तव में त्यागी है, न कि कर्मों को त्यागने वाला व्यक्ति।

इस त्याग का क्या प्रयोजन है ? सुनो :

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

कर्मों के शुभ, अशुभ और मिश्र ये त्रिविध फल केवल अत्यागी जनों को मरण के पश्चात् भी प्राप्त होते हैं; परन्तु संन्यासी पुरुषों को कदापि नहीं ॥१२॥

सभी कर्मों का फल उनके गुण स्तर पर निर्भर करता है। इसके पूर्व त्रिविध त्याग का वर्णन किया गया था, और अब यहां उनके त्रिविध फलों का वर्णन किया जा रहा है।

मनुष्य की इच्छा का बाह्यजगत् में भी प्रक्षेपण होता है, उसे कर्म कहते हैं। और प्रत्येक कर्म, कर्त्ता की मनःस्थिति तथा उसके उद्देश्य के अनुसार, अपना संस्कार उस कर्त्ता के अन्तःकरण में अंकित करता है। मानव-मन का स्वभाव कर्मों को दोहराने का है। भावी विचार भूतकाल के विचार चिन्हों का ही अनुकरण करते हैं। इस प्रकार, कर्म से वासनायें उत्पन्न होती हैं, और फिर जगत् की घटनाओं के साथ इन वासनाओं के अनुसार, हमारी प्रतिक्रियायें होती हैं। दर्शनशास्त्र में कर्मफल से तात्पर्य केवल लौकिक फल से ही न होकर, हमारे अन्तःकरण में अंकित होने वाले कर्मों के संस्कारों से भी है।

ये कर्मफल यहाँ त्रिविध – बताये गये हैं : (१) इष्ट अर्थात् शुभ कल्याणकारी, (२) अनिष्ट अर्थात् अशुभ – अनर्थकारी, और (३) मिश्र अर्थात् शुभाशुभ का मिश्ररूप ।

काल के सतत् प्रवाह में वर्तमान काल निकट भविष्य को निर्धारित करता है । इसलिए स्पष्ट है कि विभिन्न संरचनाओं वाली हमारी वासनायें ही निकट भविष्य की घटनाओं के प्रति हमारी प्रतिक्रियाओं को निर्धारित करेंगी । यदि इसी सिद्धांत को हम अपने वर्तमान देह के मरण के क्षण तक आगे बढ़ायें, तो यह तथ्य स्पष्ट हो जायेगा कि मरणोपरांत का हमारा देह तथा जन्म देश आदि का निर्धारण उस समय की हमारी वासनाओं के अनुरूप ही होगा । यही सनातन धर्म में प्रतिपादित "पुनर्जन्म का सिद्धांत" है ।

शुभ कर्मों का फल उच्च-लोक का सुख है और अशुभ कर्मों का फल अशुभ अर्थात् निम्नस्तर का दु:खपूर्ण पशु जीवन है । शुभाशुभ के मिश्रण के फलस्वरूप मनुष्य देह की प्राप्ति होती है । इस देह में रहते हुए हम अपने बन्धनों को और अधिक दृढ़ भी कर सकते हैं और उन बन्धनों से पूर्ण मुक्ति भी प्राप्त कर सकते हैं । अत: लक्ष्य का निर्धारण हमें ही करना है । नि:सन्देह, सभी मनुष्यों के हृदय में 'सर्वोच्च' लक्ष्य प्राप्ति का आह्वाहन होता रहता है, परन्तु उसी हृदय में निवास कर रहे अवगुणरूपी पशु भी भौंकते, चीखते, पुकारते और गर्जना करते रहते हैं । वे हमें भ्रमित कर अपने लक्ष्य से दूर ले जाते हैं ।

यदि मनुष्य अपने श्रेष्ठ आदार्श से तादात्म्य करता है तो उसके अवगुण शनै: शनै: समाप्त हो जाते हैं । और यदि वह उपाधियों के साथ तथा विषयों में आसक्त होता है, तो उसके अवगुण निरन्तर प्रवृद्ध ही होते जाते हैं जो उसके दिव्य स्वरूप को आच्छादित करते हैं । संक्षेप में, 'उच्च' और 'नीच' के इस शक्ति परीक्षण में निर्णायक तत्त्व मनुष्य का अपना व्यक्तित्व ही होता है ।

इस श्लोक में कथित त्रिविध फलों से पूर्ण मुक्ति पाने के लिये साधक को अपने त्रिगुणातीत आत्मस्वरूप का बोध प्राप्त करना चाहिये । त्याग और संन्यास के सूक्ष्म भेद को यहाँ स्पष्ट किया गया है । त्याग का अर्थ है, त्रिगुणों से प्रभावित मन की वृत्तियों के साथ होने वाले तादात्म्य का प्रयत्नपूर्वक त्याग; तथा 'संन्यास' का अर्थ है उस अहंकार का ही त्याग जो शुभ-अशुभ कर्मों का कर्ता तथा इष्टानिष्टादि फलों का भोक्ता बनता है ।

सम्पूर्ण गीता में मनुष्य के व्यक्तित्व के पुनर्गठन के सिद्धान्त एवं साधनाओं का अत्यन्त सुन्दर और विस्तृत विवेचन किया गया है । उसका सारांश यह है कि (१) सर्वप्रथम अहंकार और स्वार्थ का त्याग कर ईश्वरार्पण की भावना से कर्तव्य

पालन करना, (२) इस प्रकार अन्तःकरण की शुद्धि प्राप्त होने पर वेदान्त प्रमाण के द्वारा आत्मस्वरूप का श्रवण एवं मनन करना, और (३) तत्पश्चात् आत्मा के निदिध्यासन द्वारा आत्मसाक्षात्कार करके उसी सत्स्वरूप में निष्ठा प्राप्त करना। आत्मानुभव में भवसागर सूख जाता है। शुद्ध आत्मा में कुछ बनने की क्रिया नहीं है। मन की वासनाओं से वह सदा असंस्पृष्ट रहता है।

अब, आगामी श्लोकों में कर्म के स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है :

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

हे महाबाहो ! समस्त कर्मों की सिद्धि के लिये ये पांच कारण सांख्य सिद्धान्त में कहे गये हैं, जिनको तुम मुझ से भलीभांति जानो ॥१३॥

त्रिविध त्याग के सन्दर्भ में भगवान् श्रीकृष्ण ने निरहंकार और निःसङ्ग भाव से कर्म करने वाले पुरुष को सात्विक त्यागी कहा था। अतः स्वाभाविक ही है कि अर्जुन के मन में कर्म के स्वरूप को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण प्रस्तुत खण्ड में, कर्म के स्थूलरूप तथा प्रेरणा, उद्देश्य आदि सूक्ष्म स्वरूप का भी वर्णन करते हैं।

किसी भी लौकिक अथवा आध्यात्मिक कर्म को सम्पादित करने के लिए पांच कारणों की अपेक्षा होती है। ये मानों "कर्म के अङ्ग" हैं, जिनके बिना कर्म की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि मनुष्य अपने कर्मों को अनुशासित और सुनियोजित कर आन्तिरिक सांस्कृतिक विकास को सम्पादित करना चाहता हो, तो उसे अत्यधिक साहस, प्रयोजन का सातत्य, आत्मविश्वास तथा बौद्धिक क्षमता की आवश्यकता होती है। इसलिये, भगवान् यहां अर्जुन को 'महाबाहो' के नाम से सम्बोधित कर उसकी शूरवीरता का आह्वान करते हैं।

कर्म-सम्पादन के लिये आवश्यक पांच कारणों का वर्णन सांख्य दर्शन में किया गया है। यहां 'साँख्य' शब्द से तात्पर्य वेदान्त से है कपिल मुनि जी के सांख्य दर्शन से नहीं, क्योंकि उसमें इनका वर्णन नहीं किया गया है। इस श्लोक में प्रयुक्त 'कृतान्त' शब्द सांख्य का विशेषण है। कृतान्त का अर्थ है "कर्मों का अन्त।" वेदान्त में उपदिष्ट आत्म ज्ञान के होने पर अहंकार का अन्त हो जाता है और उसी के साथ उसके कर्मों की समाप्ति हो जाती है। इसलिये, वेदान्त का विशेषण 'कृतान्त' कहा गया है।

अगले श्लोक में उन पांच कारणों को बताते हैं :

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ।।१४।।

अधिष्ठान (शरीर), कर्ता, विविध करण (इन्द्रियादि), विविध और पृथक्-पृथक् चेष्टाएं तथा पाँचवा हेतु दैव है ।।१४।।

भगवान् श्री कृष्ण अपने दिए हुए वचन को पूर्ण करते हुए इस श्लोक में कर्मसिद्धि के पांच कारणों का नामोल्लेख करते हैं। यहां प्रयुक्त शब्दों के अर्थ बताने में गीता के व्याख्याकारों में थोड़ा अन्तर मिलता हैं। तथापि यह अन्तर विशेष महत्व का नहीं है।

प्रत्येक कर्म स्थूल शरीर (अधिष्ठान) की सहायता से ही करना पड़ता है, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों का यही निवास स्थान है। यह शरीर स्वतः कुछ भी कर्म नहीं कर सकता। इस शरीर को धारण करने वाला जीव (कर्ता) ही विषयों की इच्छाएं करता है और फिर उनकी पूर्ति के लिये कर्म करता है। विषय ग्रहण के लिए उसे ज्ञानेन्द्रियों की आवश्यकता होती है, जिन्हें यहां 'करण' शब्द से इंगित किया गया है। इन 'करणों' के बिना 'कर्ता' जीव इस जगत् का न ज्ञान प्राप्त कर सकता है और न ही भोग।

श्री शंकराचार्य अपने भाष्य में "पृथक् चेष्टा" का अर्थ 'प्राणापानादि' बताते हैं। वेदान्त सिद्धान्त से परिचित विद्यार्थियों को इतना स्पष्टीकरण पर्याप्त है। परन्तु सामान्य लोगों को उसका अर्थ समझने में कठिनाई होती है। प्राणिक क्रियाओं के फलस्वरूप ही शरीर का स्वास्थ्य बना रहता है, जिससे कि मनुष्य कर्म करने में समर्थ होता है। अतः, इस श्लोक को समझने की दृष्टि से हम चेष्टा शब्द का अर्थ कर्मेन्द्रिय ले सकते हैं।

जैसा कि गीता में ही अनेक स्थानों पर कहा जा चुका है, हमारी इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता हैं जिनके अनुग्रह से श्रोत्र नेत्रादि इन्द्रियां स्वविषय ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। इन देवताओं को यहां 'दैव' शब्द से इंगित किया गया है।

सारांश में, कर्म सम्पादन के पांच कारण हैं (१) शरीर (२) कर्ता जीव,[१] (३) ज्ञानेन्द्रियां, (४) कर्मेन्द्रियां, तथा (५) दैव अर्थात् अधिष्ठातृ देवता।

भगवान् आगे कहते हैं :

---

१. श्री शंकराचार्य कर्ता शब्द का अर्थ "उपाधिलक्षणो भोक्ता" बताते है; अर्थात् उपाधियों से परिच्छिन्न आत्मा ही कर्ता भोक्ता जीव है।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

मनुष्य अपने शरीर, वाणी और मन से जो कोई न्याय्य (उचित) या विपरीत (अनुचित) कर्म करता है, उसके ये पांच कारण ही हैं ॥१५॥

न्याय्य और विपरीत कर्मों से तात्पर्य क्रमशः धर्म के अनुकूल और प्रतिकूल कर्मों से है। निरपवाद रूप से सब प्रकार के कर्मों की सिद्धि के लिए शरीरादि पांच कारणों की आवश्यकता होती है।

यहां विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि कर्मों के पञ्चविध कारणों का वर्णन केवल "बोनट के नीचे स्थित इंजन" का ही है, पेट्रोल का नहीं। पेट्रोल के बिना इंजन कार्य नहीं कर सकता और न ही केवल 'पेट्रोल' के द्वारा यात्रा सफल और सुखद हो सकती है। इंजन और पेट्रोल के सम्बन्ध से वाहन में गति आती है और तब स्वामी की इच्छा के अनुसार चालक उसे गन्तव्य तक पहुँचा सकता है। इस उदाहरण को समझ लेने पर भगवान् श्रीकृष्ण के कथन का अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा।

अकर्म चैतन्य स्वरूप आत्मा देहादि उपाधियों में से तादात्म्य करके जीव के रूप में अनेक प्रकार की इच्छाओं से प्रेरित होकर उचित-अनुचित कर्म करता है। इन समस्त कर्मों के लिये पूर्वोक्त पांच कारणों की आवश्यकता होती है।

पूर्व के दो श्लोकों का निष्कर्ष यह है कि मनुष्य का कर्तृत्वाभिमान मिथ्या है। भगवान् कहते हैं :

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

अब इस स्थिति में जो पुरुष असंस्कृत बुद्धि होने के कारण, केवल शुद्ध आत्मा को कर्ता समझता है, वह दुर्मति पुरुष (यथार्थ) नहीं देखता है ॥१६॥

पूर्व श्लोक में हमने देखा कि आत्मा की उपस्थिति में शरीरादि जड़ उपाधियां कार्य करती हैं, परन्तु आत्मा अकर्ता ही रहता है। आत्मा और अनात्मा के इस विवेक के अभाव में अज्ञानी जन स्वयं को कर्ता और भोक्ता रूप जीव ही समझते हैं। जीव दशा में राग-द्वेष, प्रवृत्ति-निवृत्ति, लाभ-हानि और सुख-दुःख अवश्यंभावी हैं। जिस क्षण कोई पुरुष आत्मा और अनात्मा के भेद को तथा अविद्या से उत्पन्न मिथ्या अहंकार को समझ लेता है, उसी क्षण इस मिथ्या जीव का अस्तित्व

दिवा स्वप्न के भूत के समान समाप्त हो जाता है।

'तत्रैवं सति'– सभी प्रकार के उचित और अनुचित कर्म शरीर, कर्ता, दशेन्द्रियां तथा दैव की सहायता से ही होते हैं। परन्तु इन्हें चेतनता प्रदान करने वाला आत्मा नित्य शुद्ध और अकर्ता ही रहता है। अज्ञानी जन इस आतमा को ही कर्ता समझ लेते हैं।

इस प्रकार के विपरीत ज्ञान के कारणों का निर्देश, यहां 'अकृतबुद्धि' और 'दुर्मति' इन दो शब्दों से किया गया है। 'अकृतबुद्धिः' का अर्थ है "वह पुरुष जिसने अपनी बुद्धि को शास्त्र, आचार्योपदेश तथा न्याय (तर्क) के द्वारा सुसंस्कृत नहीं किया है" तथा दुर्मति का अर्थ है "दुष्ट–रागद्वेषादि युक्त बुद्धि का पुरुष।" इस कथन का अभिप्राय यह हुआ कि जो पुरुष अपने चित्त को शुद्ध कर आत्मविचार करता है, वह अपने में ही यह साक्षात् अनुभव करता है, कि शरीरादि जड़ उपाधियां ही कार्य करके थकान का अनुभव करती हैं, अकर्ता आत्मा नहीं।[1]

विपरीत ज्ञान का वर्णन करने के पश्चात् अब यथार्थ ज्ञान का वर्णन करते हैं :

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।।१७।।

जिस पुरुष में अहंकार का भाव नहीं है और बुद्धि किसी (गुण दोष) से लिप्त नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकों को मारकर भी वास्तव में न मारता है और न (पाप से) बँधता है ।।१७।।

कर्म का नियम यह है कि जो कर्म का कर्ता होता है वही फल का भोक्ता भी होता है। हम यह देख चुके हैं कि केवल जड़ उपाधियां कर्म नहीं कर सकतीं और न केवल चैतन्य स्वरूप आत्मा ही कर्ता हो सकता है। दोनों के परस्पर सम्बन्ध

---

१ हर्षोन्मत्त एवं नृत्यनिमग्ना गोपियों के समूह द्वारा नृत्यवृत्त के मध्य घिरे भगवान् श्री कृष्ण (परम सत्यतत्व) उनसे सर्वथा असंस्पर्शित रहते हैं। अलौकिक सौन्दर्यमयी तथा दिव्य माधुर्यमयी ब्रजबालायें मुरलीधर की उन्मादकारिणी वंशीध्वनि पर आनन्दोन्मत्त होकर नृत्य करती हैं, जबकि वह अपने श्वास से जीवन-ध्वनि निसृत करते हैं। मध्य के उस परम-तत्त्व से परिचय ही हमें परिस्थितियों का स्वामी बनाता है। नृत्यरता ब्रजवनिताओं के क्रीड़ाचक्र में सम्मिलित होना ही थकानसे रिक्त श्रम श्लथ होना है, जो वृन्दावन की गोपियों के समस्त संताप और रोमाञ्च हैं, यही रासलीला है।

से कर्ताभिमानी जीव केवल अविद्या से ही उत्पन्न हो सकता है क्योंकि परस्पर विरोधी धर्मी जड़ अपाधि और चेतन आत्मा के मध्य कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं हो सकता । अतः स्पष्ट है कि आत्मा को न जानकर अनात्मा के सम्बन्ध से जीव भाव को प्राप्त होकर मनुष्य शुभाशुभ कर्मों का कर्ता बनता है और उसकी बुद्धि पाप पुण्यरूपी फलों से लिप्त भी होती है । अज्ञान दशा में यही बन्धन अपरिहार्य है ।

इस श्लोक में सम्यक् ज्ञान प्राप्त पुरुष का वर्णन किया गया है । आत्मज्ञानी पुरुष का अहंकार अर्थात् जीवभाव ही समाप्त हो जाता है । तब उसकी बुद्धि कौन से विषयों में आसक्त होगी अथवा गुण दोषों से दूषित होगी ? यह सर्वथा असम्भव है । इसी तथ्य को यहां इस प्रकार बताते हैं कि "वह पुरुष इन लोकों को मारकर भी, (वास्तव में), न मारता है न बंधता है ।"

उपर्युक्त कथन में कोई विरोध नहीं हैं, क्योंकि मारने की क्रिया शरीरादि लौकिक दृष्टि से कही गई है और "मारता नहीं है" यह आत्मदृष्टि से कहा गया है । जब भगवान् श्रीकृष्ण यह कहते हैं कि ज्ञानी पुरुष हत्या करके भी वास्तव में हत्या नहीं करता है, तब इसका अर्थ यह समझना चाहिये कि सभी ज्ञानी पुरुष हत्या जैसे हीन कर्मों में प्रवृत्त होते हैं ! इस वाक्य का अभिप्राय केवल इतना ही है कि कर्तृत्वाभिमान के अभाव में मनुष्य को किसी भी कर्म का बन्धन नहीं हो सकता । लोक में भी हम देखते हैं कि एक हत्यारे व्यक्ति को मृत्यु दण्ड दिया जाता है, और रणभूमि पर शत्रु की हत्या करने वाले वीर सैनिक को महावीर चक्र प्रदान किया जाता है ! हत्या का कर्म दोनों में समान होते हुए भी अहंकार और स्वार्थ के भाव और अभाव के कारण दोनों के फलों में अन्तर होता है । जिसका अहंकार पूर्णतया नष्ट हो जाता है, ऐसे ज्ञानी पुरुष को किसी भी प्रकार का बन्धन नहीं होता है ।

अब इसके पश्चात् गीताचार्य भगवान् श्रीकृष्ण, कर्म के प्रवर्तक या प्रेरक तत्त्वों का और कर्म संग्रह का वर्णन करते हैं :

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता ये त्रिविध कर्म प्रेरक हैं; और, करण, कर्म कर्ता ये त्रिविध कर्म संग्रह हैं ।

कर्म के स्वरूप का युक्तियुक्त विवेचन करते हुये, भगवान् श्री कृष्ण ने कर्म सम्पादन के पांच कारणों का वर्णन किया है तथा उनसे भिन्न अकर्ता आत्मा का भी निर्देश किया है । उसी विषय का विस्तार करते हुए, अब वे कर्म के त्रिविध प्रेरक तथा जिससे कर्म संभव होता है वह त्रिविध कर्म संग्रह बताते हैं ।

प्रत्येक कर्म का प्रेरक है, विषय ज्ञान । इस ज्ञान की सिद्धि के लिए जिन

तीन तत्त्वों की आवश्यकता होती है, वे हैं 'ज्ञाता', 'ज्ञेय' अर्थात् ज्ञान का विषय तथा 'ज्ञान' अर्थात् जानने की क्रिया से प्राप्त हुआ ज्ञान। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान इन तीनों को वेदान्त की शब्दावली में त्रिपुटी कहते हैं। इन तीनों के संबंध से ही कर्म के प्रवर्तक विषय का ज्ञान होता है।

कर्म की प्रेरणा तीन प्रकार से हो सकती है; (१) ज्ञाता के मन में उत्पन्न हुई 'इच्छा' के रूप में, या (२) ज्ञेय वस्तु के 'प्रलोभन' से, अथवा (३) पूर्वानुभूत भोग (ज्ञात सुख) की 'स्मृति' से। इन तीनों के अतिरिक्त कर्म का प्रेरक अन्य कोई कारण नहीं है।

अन्तःकरण में कर्म की प्रेरणा उत्पन्न होने के पश्चात् उसको पूर्ण करने के लिये कर्ता, करण और कर्म नामक त्रिपुटी की आवश्यकता होती है, जिसे यहाँ "त्रिविधः कर्मसंग्रहः" कहा गया है। कामना से प्रेरित जीव कर्म के क्षेत्र में कर्तृत्वा-भिमान ("मैं कर्ता हूं") के साथ प्रवेश करता है। यह जीव 'कर्ता' कहलाता है। यह कर्ता जीव जिस फल या लक्ष्य की कामना करता है, उसे यहां 'कर्म' शब्द से इंगित किया गया है। यहां 'कर्म' का तात्पर्य 'फल' से है।

'कर्ता' जीव को फल (कर्म) प्राप्त करने के लिए क्रिया करनी पड़ती है। क्रिया के ये साधन 'करण' कहे जाते हैं, जिनमें ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां तथा मन बुद्धि का भी समावेश है। इस प्रकार, कर्ता, कर्म और करण ये कर्म की त्रिपुटी अथवा कर्मसंग्रह कहे जाते हैं। इन तीनों में से किसी एक के भी अभाव में कर्म संभव नहीं हो सकता।

समस्त जगत् त्रिगुणात्मिका प्रकृति का कार्य है। इसलिये, ज्ञान, कर्म और कर्ता में भी त्रिगुणों के कारण त्रिविध भेद उत्पन्न होते हैं, जिनका, अब वर्णन किया जायेगा। भगवान् कहते हैं :

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

ज्ञान, कर्म और कर्ता भी गुणों के भेद से सांख्यशास्त्र (गुणसंख्याने) में त्रिविध ही कहे गये हैं; उनको भी तुम मुझ से यथावत् श्रवण करो ॥१९॥

आगामी श्लोकों में विवेच्य विषय को यहां केवल सूचित किया गया है। चतुर्दश अध्याय में प्रकृति के सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के लक्षण, व्यापार एवं प्रभाव का विस्तृत वर्णन किया गया था। इन तीन गुणों में से किसी एक के आधिक्य के कारण अथवा इनके विभिन्न अनुपात में संयोग से, या फिर इनके

प्राधान्य के क्रम-परिवर्तन के कारण ही विभिन्न व्यक्तियों के स्वभाव तथा कार्यों में इतना वैचित्र्य दिखाई देता है। इतना ही नहीं, अपितु किसी एक व्यक्ति के जीवन में भी समय-समय पर इन गुणों के कारण परिवर्तन होता रहता है।

यहां "गुणसंख्याने" शब्द से कपिल मुनि जी का सांख्यशास्त्र अभिप्रेत है। सांख्य दर्शन में त्रिगुणों के व्यापार का विशेष वर्णन किया गया है। यथावत् का अर्थ है यथान्याय और यथाशास्त्र, अर्थात् शास्त्र और युक्ति से युक्त। अर्जुन तो उपदेश का श्रवण कर ही रहा था, तथापि 'श्रुणु' कहने का अर्थ यह प्रतीत होता है कि भगवान् चाहते हैं कि अर्जुन आगे के विषय को विशेष ध्यान देकर सने। विवेच्य विषय विशेष महत्त्व का है।

सर्वप्रथम त्रिविध ज्ञान बताते हैं :

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

जिस ज्ञान से मनुष्य, विभक्त रूप में स्थित समस्त भूतों में एक अविभक्त और अविनाशी (अव्यय) स्वरूप को देखता है, उस ज्ञान को तुम सात्विक जानो ॥२०॥

प्रस्तुत प्रकरण में ज्ञान, कर्म और कर्ता का जो त्रिविध वर्गीकरण किया जा रहा है, उसका उद्देश्य अन्य लोगों के गुण दोष देखकर उनका वर्गीकरण करने का नहीं है। यह तो साधक के अपने आत्मनिरीक्षण के लिये है। आत्मविकास के इच्छुक साधक को यथासंभव सत्वगुण में निष्ठा प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। आत्मनिरीक्षण के द्वारा हम अपने अवगुणों को समझकर उनका तत्काल निराकरण कर सकते हैं।

सात्विक ज्ञान के द्वारा हम भूतमात्र में स्थित एक अव्यय सत्य को देख सकते हैं। यद्यपि उपाधियाँ असंख्य हैं, तथापि उनका सारभूत आत्मतत्त्व एक ही है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहां द्वैत्प्रपंच के अदर्शन को सात्विक ज्ञान नहीं कहा है, वरन् समस्त भेदों को देखते हुए भी उनके एक मूलस्वरूप को पहचानने को सात्विक ज्ञान कहा गया है। उदाहरणार्थ, तरंगों को नहीं देखना जल का ज्ञान नहीं कहा जा सकता, बल्कि विविध तरंगों को देखते हुए भी उनके एक जलस्वरूप को पहचानना ज्ञान है।

यद्यपि विभिन्न एवं विभक्त उपाधियों के कारण प्रतिदेह आत्मतत्व भिन्न प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में आत्मतत्व एक, अखण्ड और अविभाज्य है। कैसे ?

जैसे, विभिन्न घट उपाधियों के कारण सर्वगत आकाश विभक्त हुआ प्रतीत होता है, परन्तु स्वयं आकाश सदैव अखण्ड और अविभक्त ही रहता है। जिस ज्ञान के द्वारा हम उस एकमेव अद्वितीय परमात्मा के इस विलास को समझ पाते हैं, वही ज्ञान सात्विक है।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य समस्त भूतों में नाना भावों को पृथक्-पृथक् जानता है, उस ज्ञान को तुम राजस जानो ॥२१॥

जब हम इन्द्रिय, मन और बुद्धि के माध्यम से जगत् का अवलोकन करते हैं, तब, निःसन्देह, उसमें हमें असंख्य प्रकार के भेद दृष्टिगोचर होते हैं। परन्तु जो वस्तु जिस रूप में दिखाई देती है, उसके उसी रूप को सत्य समझ लेना अविवेक का लक्षण है। राजसी पुरुष का मन सदैव चंचल और अस्थिर रहने के कारण वह कभी शान्त मन से विचार नहीं कर पाता। और यही कारण है कि वह दृष्टिगोचर भेद, जैसे वनस्पति, पशु, मनुष्य आदि को परस्पर सर्वथा भिन्न और सत्य मान लेता है। ऐसे ज्ञान को राजस कहते हैं।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

और जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य एक कार्य (शरीर) में ही आसक्त हो जाता है, मानो वह (कार्य ही) पूर्ण वस्तु हो तथा जो (ज्ञान) हेतुरहित (अयुक्तिक), तत्त्वार्थ से रहित तथा संकुचित (अल्प) है, वह (ज्ञान) तामस है ॥२२॥

तमोगुण के आधिक्य से अभिभूत बुद्धि किसी एक परिच्छिन्न 'कार्य' में इस प्रकार आसक्त होती है मानो वह 'कार्य' ही सम्पूर्ण सत्य हो। वह कभी 'कारण' का विचार ही नहीं करती। तामसिक लोगों का यह ज्ञान अत्यन्त निम्नस्तरीय है। प्रायः ऐसे लोग कट्टरवादी तथा अपने धर्म, भक्ति, जीवन के दृष्टिकोण और मूल्यों के विषय में अत्यन्त हठवादी होते हैं। वे जगत् का तथा अन्य घटनाओं के कारण का कभी अन्वेषण नहीं करते हैं। श्री शंकराचार्य कहते हैं कि इनका ज्ञान निर्युक्तिक होता है अर्थात् किसी प्रामाणिक युक्ति पर आश्रित नहीं होता।

ऐसी भ्रमित कट्टरवादी और पूर्वाग्रहों से युक्त बुद्धि के द्वारा जगत् का अवलोकन करते हुये तामसी लोग जगत् को कभी यथार्थ रूप में नहीं देख पाते। इतना ही नहीं, वरन् वे अपनी कल्पनाओं को जगत् पर थोपकर उसे सर्वथा विपरीत

रूप में भी देखते हैं। वास्तव में, तमोगुणी लोग जगत् को मात्र अपने भोग का विषय ही मानते हैं। वे विश्व के अधिष्ठान परमात्मा की सर्वथा उपेक्षा करते हैं। मान और दम्भ के कारण उनका ज्ञान संकुचित होता है।

सारांशत:, द्वैतप्रपंच को देखते हुये उसके अद्वैत स्वरूप को पहचानना सात्विक ज्ञान है; नामरूपमय सृष्टि के भेदों को ही देखना और उन्हें सत्य मानना राजस ज्ञान है; और अपूर्ण को ही पूर्ण मानना तामस ज्ञान है।

हमें इस का विस्मरण नहीं होना चाहिये कि पूर्वोक्त तथा आगे भी कथनीय त्रिविध वर्गीकरणों का प्रयोजन अन्य लोगों के विश्लेषण के लिये न होकर, आत्म-निरीक्षण के लिये हैं। साधक को समय-समय पर स्वयं का मूल्यांकन करते रहना चाहिये।

अब, कर्म की त्रिविधता का वर्णन करते हैं:

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते ।।२३।।

जो कर्म (शास्त्रविधि से) नियत और संगरहित है, तथा फल को न चाहने वाले पुरुष के द्वारा बिना किसी राग द्वेष से किया गया हैं, वह (कर्म) सात्विक कहा जाता है ।।२३।।

त्रिविध कर्मों में सात्विक कर्म सर्वश्रेष्ठ है, जो कर्ता के मन में शान्ति तथा उसके कर्मक्षेत्र में सामञ्जस्य उत्पन्न करता है। प्राय: मनुष्य फल में आसक्त होकर अपने व्यक्तिगत राग और द्वेष से प्रेरित होकर कर्म करता है। परन्तु यहां कहा गया है कि नियत अर्थात् कर्तव्य कर्म को अनासक्त भाव से तथा राग द्वेष रहित होकर करने पर ही वह सात्विक कर्म कहलाता है। सात्विक पुरुष कर्म को इसलिये करता है, क्योंकि कर्म कर्तव्य है और वही ईश्वर की पूजा है। ऐसी भावना और प्रेरणा से युक्त होने पर मनुष्य अपनी ही सामान्य कार्यकुशलता एवं श्रेष्ठता से कहीं अधिक ऊंचा उठ जाता है। अर्पण की भावना से किये गये कर्मों में राग और द्वेष का प्रश्न ही नहीं उठता।

समस्त साधु सन्तों का सेवाकार्य इस तथ्य का प्रमाण है। अनेक अवसरों पर हम भी इसी भावना से कर्म करते हैं। ऐसा विशिष्ठ उदाहरण, उस अवसर का है जब हमारे पैर में कोई चोट लग ज़ाती है। उस समय हम झुक कर पैर को देखने लग जाते हैं और शरीर के समस्त अंग उसकी सेवा में जुट जाते हैं। इस सेवा कार्य में हम यह नहीं कह सकते कि हमें अपने पैर से अन्य अंगों की अपेक्षा अधिक प्रेम है। मनुष्य अपने सम्पूर्ण शरीर में निवास

करता है और उसके लिए शरीर के सभी अंग समान होते हैं।

इसी प्रकार, जो सात्विक पुरुष एकमेव अद्वितीय, सच्चित्स्वरूप सर्वव्यापी परमात्मा को आत्मरूप में पहचान लेता है, तो उस पुरुष के लिये कोढ़ी और राजकुमार, स्वस्थ और अस्वस्थ, दरिद्र और सम्पन्न ये सभी लोग अपने आध्यात्मिक शरीर के विभिन्न अंगों के समान ही प्रतीत होते हैं। ऐसा पुरुष अनुप्राणित आनन्द और कृतार्थता की भावना से जगत् की सेवा करता है।

इस प्रकार, सात्विक कर्मों की पूर्णता उनके करने में ही होती है। फलप्राप्ति का विचार भी उसमें उत्पन्न नहीं होता है।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

और जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त है तथा फल की कामना वाले, अहंकार युक्त पुरुष के द्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है ॥२४॥

राजसिक कर्म 'मैं कर्ता हूँ' की भावना से प्रेरित, अहंकार से युक्त स्वार्थ और परिश्रम से परिपूर्ण होते हैं। इनका कर्ता अत्यधिक तनाव और दबाव में रहता है।

इस श्लोक का अर्थ स्पष्ट है। राजनीतिक नेताओं, सामाजिक कार्यकर्ताओं, बड़े-बड़े उद्योगपतियों, अत्यधिक चिन्तित पालकों, कट्टर धर्म प्रचारकों, धर्मपरिवर्तन कराने वाली मिशनरियों तथा अन्धाधुन्ध धन कमाने वालों के प्रायः समस्त कर्म राजस श्रेणी में ही आते हैं। कभी-कभी तो वे तमोगुण के स्तर तक भी गिर जाते हैं।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य (पौरुषम्) का विचार न करके केवल मोहवश आरम्भ किया जाता है, वह कर्म तामस कहलाता है ॥२५॥

तमोगुणी पुरुष कर्म प्रारम्भ करने के पूर्व इस बात का विचार ही नहीं करता कि उस कर्म का परिणाम (अनुबन्ध) क्या होगा तथा उसके करने में कितनी शारीरिक, आर्थिक आदि शक्तियों का क्षय अर्थात् ह्रास होगा। उसे इस बात की भी कोई चिन्ता नहीं होती कि उसके कर्म के कारण कितनी हिंसा हो रही है

अथवा लोगों को कष्ट हो रहा है। ऐसे प्रमादी और उत्तरदायित्वहीन लोगों के कर्म मोहवश अर्थात् किसी भ्रान्त धारणा और हीन उद्देश्य से प्रेरित होते हैं। उदाहरणार्थ, मद्यपान, दु:साहसपूर्ण द्यूत, भ्रष्टाचार आदि ये सब तामस कर्म हैं। ऐसे कर्मों के कर्ता केवल क्षणभर के वैषयिक सुख की संवेदना ही चाहते हैं।

राजस कर्म के निराशा और दु:खरूप फल को प्राप्त होने में कुछ काल की आवश्यकता होती है, परन्तु तामस कर्म का द:खरूप फल तत्काल ही प्राप्त होता है। जब कि सात्विक कर्म का फल सदैव आनन्द ही होता है।

आगामी श्लोकों में, भगवान् श्रीकृष्ण तीन प्रकार के 'कर्ताओं' का वर्णन करते हैं :

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्विक उच्यते ।।२६।।

जो कर्ता संगरहित, अहंमन्यता से रहित, धैर्य और उत्साह से युक्त एवं कार्य की सिद्धि (सफलता) और असिद्धि (विफलता) में निर्विकार रहता हे, वह कर्ता सात्विक कहा जाता है ।।२६।।

अब तक भगवान् श्रीकृष्ण ने त्रिविध ज्ञान और कर्म का वर्णन किया था। कर्म का तीसरा अंग है, कर्ता जीव, जो कामना से प्रेरित होकर कर्म में प्रवृत्त होता है। प्रकृति के तीन गुण हम सब के मानसिक जीवन एवं बौद्धिक क्षमताओं को प्रभावित करते हैं। स्वाभाविक ही है, कि किसी एक गुण के आधिक्य या प्राधान्य से हमारे कर्तृत्व में भी समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है। अत: यहां कर्ता का भी तीन भागों में वर्गीकरण किया गया है। सर्वप्रथम, भगवान् श्रीकृष्ण सात्विक कर्ता का वर्णन करते हैं।

मुक्तसंग और अनहंवादी ये दो विशेषण सात्विक कर्ता के हैं। जो पुरुष कर्म के फल, जगत् की वस्तुओं तथा व्यक्तियों से आसक्ति रहित है, वह सात्बिक कर्ता है। वह जानता है कि स्वयं से भिन्न किसी भी वस्तु में वह सुख नहीं है, जो उसके जीवन को पूर्ण और कृतार्थ कर सकें। इसलिये वह किसी में आसक्ति नहीं रखता। अहंवादी का अर्थ है वह पुरुष, जो अपनी उपलब्धियों और सफलताओं का कर्ता स्वयं को ही मानकर सदैव गर्वयुक्त भाषण करता है। परन्तु सात्विक पुरुष में यह अहंमन्यता नहीं होती, क्यों कि उसका यह दृढ़ एवं निश्चयात्मक ज्ञान होता है कि कोई भी उपलब्धि एक अकेले पुरुष की कभी नहीं हो सकती। ईश्वर प्रदत्त क्षमताएं, प्राकृतिक नियम तथा अन्य जनों के सहयोग से ही सफलता सम्पादित की जा सकती है। इस ज्ञान के कारण उसे कभी यह गर्व नहीं होता कि उसने कोई अभूतपूर्व कार्य किया है। वह अपने अहंकार को ईश्वर के चरणों में समर्पित कर देता है।

ऐसे मुक्तसंग और अनहंवादी पुरुष में असीम धैर्य और कार्य के प्रति उत्साह होता है। धृति मनुष्य की वह क्षमता है, जिसके कारण कार्य में कितने ही विघ्न और कठिनाइयाँ आने पर भी, मनुष्य साहस के साथ उनका सामना करते हुए अपने लक्ष्य तक पहुंचता है। वह प्रयत्नशील पुरुष सफलता के मार्ग पर उत्साह के साथ आगे बढ़ता जाता है।

सात्विक कर्ता का विशेष गुण है, कार्य की सिद्धि-असिद्धि में हर्ष शोकादि विकारों से मुक्त रहना। इस सन्दर्भ में, मुझे जिस उदाहरण का स्मरण होता है, वह चिकित्सालय में कार्य करती हुई लगनशील परिचारिका का है। उसे सामान्यतः किसी रोगी से आसक्ति नहीं होती; उसे यह अभिमान नहीं होता कि वह स्वयं रोगी का उपचार कर रही है, क्यों कि वस्तुतः वह कार्य चिकित्सक का होता है। धैर्य और उत्साह के बिना वह अपने सेवा कार्य को सतत नहीं कर सकती। और उसी प्रकार, उसे उपचार की सफलता या विफलता के विषय में अनावश्यक चिन्ता नहीं होती। रोगी के स्वस्थ हो जाने अथवा उसकी मृत्यु हो जाने से वह परिचारिका अति हर्षित या अति दुःखी नहीं हो जाती। वह जानती है कि चिकित्सालय तो सफलता और विफलता तथा जन्म और मृत्यु का क्षेत्र है। वह तटस्थ भाव से अपने सेवा कार्य में रत रहती है।

उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न पुरुष सात्विक कर्ता कहा जाता है। ऐसा पुरुष अपने कार्य क्षेत्र में अपनी समस्त क्षमताओं का सम्पूर्ण सदुपयोग करता है, क्यों कि आसक्ति आदि के अभाव में उसकी शक्तियों का वृथा अपव्यय नहीं होता। स्वाभाविक ही है कि ऐसे सात्विक कर्ता को चिरस्थायी सफलता प्राप्त होती है और उसके कार्यों से जगत् का भी कल्याण होता है।

सात्विक कर्ता को यह विवेक होता है कि शरीर, मन और बुद्धि उपाधियाँ चैतन्यस्वरूप आत्मा के संम्बंध से ही अपना कार्य करने में सक्षम होकर जगत् की सेवा कर सकती हैं। चैतन्य के बिना वे घर के कोने में रखी छड़ी की तरह असहाय रहती हैं।

परमात्मा के पावन संकल्प की अभिव्यक्ति के लिये बुद्धि की क्षमता, हृदय का सौंदर्य और शरीर की सामर्थ्य आदि सभी माध्यम हैं। अतः, यदि इन उपाधियों में सामञ्जस्य न हो, तो आत्मा की अभिव्यक्ति अपने शुद्ध स्वरूप में नहीं हो सकती। सात्विक कर्ता को अपने आत्मस्वरूप का सदैव भान बना रहता है।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परकीर्तितः ॥२७॥

रागी, कर्मफल का इच्छुक, लोभी, हिंसक स्वभाव वाला, अशुद्ध और हर्षशोक से युक्त कर्ता राजस कहलाता है ।।२७।।

इस श्लोक में राजस कर्ता का सम्पूर्ण चित्रण किया गया है। उसके लिये प्रयुक्त विशषणों को भी विशेष क्रम दिया गया है, जो अध्ययन करने योग्य है।

इन्द्रियगोचर विषय को सत्य, सुन्दर एव सुख का साधन समझने से उसके प्रति 'राग' उत्पन्न होता है। यही राग अधिक तीव्र होने पर 'प्रेप्सा' अर्थात् इच्छा का रूप धारण करता है। इसे यहां 'कर्मफल प्रेप्सु' शब्द से दर्शाया गया है। कामना से अभिभूत पुरुष को इच्छित वस्तु प्राप्त हो जाने पर, उससे ही सन्तोष न होकर, उसका लोभ उत्पन्न होता है। वह पुरुष लुब्ध अर्थात् लोभी बन जाता है। संस्कृत की उक्ति है "लोभात् पापस्य कारणम्" अर्थात् "लोभ से पाप के कारणों का उद्भव होता है"; यह लोभी पुरुष अपने लाभ के लिये हिंसा करने में भी प्रवृत्त हो सकता है। उसे लोगों के कष्ट और पीड़ा की कोई चिन्ता नहीं होती। वह 'अशुचि' अर्थात् दुष्ट स्वभाव का बन जाता है। येन केन प्रकारेण वह अपने ही स्वार्थ की सिद्धि चाहता है। और अन्त में, जब इष्ट अनिष्ट फलों की प्राप्ति होती है, तब उसे हर्षातिरेक या शोकाकुलता होना स्वाभाविक और अवश्यंभावी है। यह है, राजस कर्ता का सम्पूर्ण चरित्र.

हम देखते हैं कि सामान्यत: नैतिक एवं धार्मिक आचरण करने वाला व्यक्ति भी जब कभी "काम के भूत" से अभिभूत हो जाता है, तब उसके सद्गुण लुप्तप्राय हो जाते हैं और तत्पश्चात् उसके कर्म प्रतिशोधपूर्ण तथा योजनाएं दुष्ट और हिंसक होती हैं। ऐसा राजस कर्ता जीवन में दु:ख ही भोगता रहता है।

अब, तामस कर्ता का वर्णन करते हैं :

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ।।२८।।

अयुक्त, प्राकृत, स्तब्ध, शठ, नैष्कृतिक, आलसी, विषादी, और दीर्घसूत्री कर्ता तामस कहा जाता है ।।२८।।

यहाँ "तामस ज्ञान" से प्रेरित होकर "तामस कर्म" करने वाले "तामस कर्ता" का विस्तृत वर्णन किया गया है।

'अयुक्त'– जिसका मन, बुद्धि के साथ युक्त न हो वह व्यक्ति अयुक्त कहलाता है। बुद्धि के मार्गदर्शन की उपेक्षा करके तामसिक कर्ता अपनी 'मनमानी' ही करता है, 'बुद्धिमानी' नहीं !

'प्राकृत'–अत्यन्त असभ्य एवं असंस्कृत बुद्धि का पुरुष प्राकृत कहा जाता है। सुसंस्कृत पुरुष वह है, जो अपने मन की निम्नस्तरीय प्रवृत्तियों को अपने वश में रखता है। किन्तु तामसी पुरुष 'अयुक्त' होने के कारण 'प्राकृत' स्वभाव का होता है। उसे अपने ऊपर किसी प्रकार का भी संयम नहीं होता। बुद्धि का दर्पण दर्शाने पर भी वह स्वीकार नहीं करता कि दर्पण में प्रतिबिम्बित असभ्यता आदि अवगुण उसके अपने ही हैं।

'स्तब्ध'–एक दण्ड के सामान वह कभी किसी के आगे नम्रभाव से नतमस्तक नहीं होता। वह ऐसा हठी और दुराग्रही होता है कि किसी के सदुपदेश का वह श्रवण भी नहीं करना चाहता, पालन करना तो दूर की बात है। किसी का भी उपदेश उसे सहन नहीं होता है।

'शठ'-अर्थात् मायावी। तामस कर्ता पर कभी विश्वास नहीं किया जा सकता, क्यों कि वह अपने वास्तविक उद्देश्यों को गुप्त रखकर लोगों की वंचना करने के लिये अन्य प्रकार के कार्य करता है। परवंचना के ऐसे कार्यों से समाज के लोगों को दु:ख और कष्ट भोगने पड़ते हैं।

'नैष्कृतिक:'– श्री शंकराचार्य इसका अर्थ बताते हुए कहते हैं, "तामसिक कर्ता परवृत्तिच्छेदनपर: अर्थात् दूसरे की आजीविका का नाश करने वाला होता है।" अन्य लोगों के साथ लड़ाई झगड़ा करने पर सदैव उतारू रहता है और शत्रुता और बदले की भावना रखता है।

'अलस:'–तामस कर्ता सहज ही किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता, कर्तव्य कर्म में भी नहीं। बिना परिश्रम किये फलोपभोग की उसकी कामना रहती है। ऐसा आलसी पुरुष विचार करने में भी असमर्थ होता है। लंका के तीन बन्धु–विभीषण, रावण और कुम्भकर्ण क्रमश: सात्विक, राजसिक और तामसिक कर्ताओं के प्रतीक हैं।

'विषादी'–सदा उदास रहता है। किसी भी वस्तु या व्यक्ति से वह सन्तुष्ट नहीं रहता। जीवन की चुनौतियों का सामना करने की उसमें न क्षमता होती है और न दृढ़ता। इसलिये, वह किसी ऐसे सुरक्षित स्थान पर निवास करना चाहता है, जहाँ जगत् की समस्याएं न हों और वह निर्विघ्न रूप से विषयोपभोग कर सके।

'दीर्घसूत्री'-वह पुरुष जो तत्काल करने योग्य कर्म को "कल करेंगे ऐसा कहते-कहते एक मास के पश्चात् भी नहीं करता है, दीर्घसूत्री' कहलाता है। वह शीघ्र निर्णय नहीं ले सकता और यदि निर्णय ले भी लेता है, तो उसे कार्यान्वित कर नहीं पाता।

इस प्रकार, तीन श्लोकों में भगवान् श्रीकृष्ण ने त्रिविध कर्ताओं के आन्तरिक स्वभाव का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है। यह सदैव ध्यान रहे कि उपर्युक्त चित्रण परपरीक्षण के लिये न होकर आत्मनिरीक्षण एवं आत्मसुधार के लिये है।

भगवान् आगे कहते हैं:

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं श्रृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ।।२९।।

हे धनंजय ! मेरे द्वारा अशेषतः और पृथकतः कहे जाने वाले, गुणों के कारण उत्पन्न हुये बुद्धि और धृति के त्रिविध भेद को सुनो ।।२९।।

कर्म संपादन के तीन संघटक तत्त्व हैं– ज्ञान, कर्म और कर्ता । पूर्व के नौ श्लोकों में इन तीनों के त्रिविध वर्गीकरण का वर्णन किया गया था । ज्ञान से प्रेरित होकर जब 'कर्ता' जगत् में 'कर्म' करता है तब, निःसन्देह, एक कार्य विशेष सम्पन्न होता है । परन्तु कार्य सम्पादन के लिए कार्य प्रयत्नों के सातत्य की जो आवश्यकता होती है, उसकी पूर्ति दो तत्त्वों के द्वारा होती हैं, और वे तत्त्व हैं– बुद्धि और धृति । ये दो तत्त्व मानों ईंधन और प्रेरक बल हैं ।

'बुद्धि' से तात्पर्य मनुष्य की उस क्षमता से है, जिसके द्वारा वह कर्म की कर्तव्यता तथा वाह्य घटनाओं आदि के अर्थ को समझता है । धृति का अर्थ है 'धारणाशक्ति ।' लक्ष्य प्राप्ति में अनेक विघ्न आते हैं, जिनको पार करके लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए 'धृति' की आवश्यकता होती है । इन दोनों– बुद्धि और 'धृति' के अभाव में तो मनुष्य केवल शुष्क पर्ण के समान इतस्ततः भटकता रहेगा ।

प्रथम, बुद्धि के त्रिविध भेद को बताते हैं :

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ।।३०।।

हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य भय और अभय तथा बन्ध और मोक्ष को तत्त्वतः जानती है, वह बुद्धि सात्विकी है ।।३०।।

वह बुद्धि सर्वोत्तम मानी जाती है, जो अपने कार्यक्षेत्र की वस्तुओं, व्यक्तियों एवं घटनाओं को यथार्थ रूप में तत्परता से समझ सकती है । बुद्धि के अनेक कार्य हैं, जैसे– निरीक्षण विश्लेषण, वर्गीकरण, संकल्पना, कामना, स्मरण करना इत्यादि; तथापि इन सब में जिस क्षमता की आवश्यकता होती है, वह है "विवेक की क्षमता ।" विवेक के बिना यथार्थ निरीक्षण, निर्णय आदि असंभव है । अतः बुद्धि का मुख्य कार्य है, विवेक।

'प्रवृत्ति और निवृत्ति'– इन दो शब्दों के पारिभाषिक अर्थ क्रमशः कर्ममार्ग

और संन्यास मार्ग हैं। एक साधक को इन दोनों के वास्तविक स्वरूप को समझकर स्वयं की अभिरुचि एवं क्षमता के अनुसार किसी एक मार्ग का यथायोग्य अनुरक्षण करना चाहिये। अन्यथा कोई साधक कर्म में ही आसक्त होकर रह जायेगा, तो अन्य साधक संन्यास के नाम पर संसार से केवल पलायन ही करेगा।

'कार्य और अकार्य'– सत्य और मिथ्या का विवेक करने वाली बुद्धि का प्रयोजन, कार्य और अकार्य अर्थात् कर्तव्य और अकर्तव्य का विवेक करना भी है। मनुष्य को यह जानना आवश्यक होता है कि कौन से कर्म कर्तव्य और उचित हैं तथा कौन से कर्म निषिद्ध और अनुचित हैं। इस विवेक के न होने पर मनुष्य कभी-कभी क्रोधावेश या मिथ्या अभिमान के कारण अपनी नौकरी से त्यागपत्र दे देता है, जिसका उसे कालान्तर में पश्चाताप होता है। अर्जुन ने भी मानसिक उन्माद की स्थिति में इस विवेक को खो दिया था, जिसका मुख्य कारण उसका मित्र बन्धु परिवार से अत्यधिक स्नेह ही था।

'भय और अभय'– मूढ़ लोग अत्यधिक विषयासक्ति के कारण अवैध, अनैतिक और अधार्मिक कार्य करने से भयभीत नहीं होते; परन्तु शास्त्रों का अध्ययन और आत्मानुसन्धान जैसे श्रेष्ठ कार्यों में प्रवृत्त होने में उन्हें भय प्रतीत होता है। संन्यास और वैराग्य जैसे शब्दों से भी उन्हें डर लगता है। अतः वह बुद्धि सात्विक है, जो भय और अभय के कारणों का सम्यक् प्रकार से विवेक कर सकती है।

'बन्ध और मोक्ष'– अपने सच्चिदानन्द स्वरूप के 'अज्ञान' से ही हम विषयों से सुख प्राप्ति की 'कामना' करके 'कर्म' में प्रवृत्त होते हैं। कर्मफल के उपभोग से वासनाएं उत्पन्न होती हैं, जो पुनः हमें कर्म में प्रवृत्त करती रहती हैं। ये अज्ञान-जनित वासनाएं ही हमारे बन्धन को दृढ़ करती हैं। अतः आत्मज्ञान के द्वारा अज्ञान के नाश से ही हमें मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। जो बुद्धि बन्धन के कारण और मोक्ष के साधन को तत्त्वतः जानती है, वही सात्विक बुद्धि है।

सारांशतः, प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्याकार्य, भयाभय और बन्ध-मोक्ष के स्वरूप को यथावत् पहचानने वाली बुद्धि सात्विक है।

सात्विक बुद्धि मरुस्थल में भी सुन्दर उपवन की रचना कर सकती है और विफलता की प्रत्येक आशंका से सफलता का सम्पादन कर सकती है। बुद्धि और धृति के बिना जीवन में प्राप्त होने वाले सुअवसर भी विपत्ति के कारण बन जाते हैं अथवा धूलि में मिल जाते है। सात्विक बुद्धि घोरतम त्रासदियों को श्रेष्ठतम सुख समृद्धियों में परिवर्तित कर सकती है।

राजसी बुद्धि क्या है? सुनो–

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ।।३१।।

हे पार्थ ! जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म और अधर्म को कर्तव्य तथा और अकर्तव्य को यथावत् नहीं जानता है, वह बुद्धि राजसी है ।।३१।।

जहाँ सात्विक बुद्धि प्रत्येक पदार्थ को यथार्थ रूप में जानती है, वहाँ राजसी बुद्धि का पदार्थ ज्ञान सन्देहात्मक, अस्पष्ट या कुछ विकृत रूप में होता है । इसका कारण है पूर्वाग्रह और दृढ़ राग और द्वेष ।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ।।३२।।

हे पार्थ ! तमस् (अज्ञान अन्धःकार) से आवृत जो बुद्धि अधर्म को ही धर्म मानती है और सभी पदार्थों को विपरीत रूप से जानती है, वह बुद्धि तामसी है ।।३२।।

सात्विक बुद्धि का पदार्थ ज्ञान यथार्थ होता है, तो राजसी बुद्धि का संदेहात्मक; किन्तु तामसी बुद्धि तो वस्तु को उसके मूल स्वरूप से सर्वथा विपरीत रूप में जानती है । धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मानना इस बुद्धि का कार्य है । वस्तुतः तामसी बुद्धि कोई बुद्धि ही नहीं कही जा सकती । वह तो ''विपरीत ज्ञानों की एक गठरी ही है । विपरीत निष्कर्षों पर पहुंचने की इसकी क्षमता अद्भुत है ! इसका कारण है, अज्ञानावरण का अन्धकार और अहंकार का अंधोन्माद् ।

अगले श्लोकों में त्रिविध धृति का वर्णन करते हैं :

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्विकी । ३३।।

हे पार्थ ! योग के द्वारा जिस अव्यभिचारिणी धृति (धारणा) से मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है, वह धृति सात्विकी है ।।३३।।

विचाराधीन खण्ड में तीन प्रकार की धृतियों का वर्णन किया गया है ।

मनुष्य की वह क्षमता धृति कहलाती है, जिसके द्वारा वह अपने इच्छित और निर्धारित लक्ष्य को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने देता । इसी धारणाशक्ति की सहायता से ही वह, लक्ष्य प्राप्ति के पथ पर पर्वताकार विघ्नों के आने पर भी अपने प्रयोजन का सातत्य बनाये रखता है । धृति हमारे लक्ष्य को चित्रित करती

है, उसे दृष्टि से ओझल नहीं होने देती, हमें प्रयत्नशील बनाती है तथा बाधाओं के उत्पन्न होने पर हममें वह ऐसी गुप्त शक्तियों को संगठित करती है, जिससे कि हम साहस, शौर्य और दृढ़ता के साथ उन बाधाओं का सामना कर सकें। 'धृति' शब्द के द्वारा उपर्युक्त समस्त आशयों को इंगित समझना चाहिये।

मनुष्य को जीवन में, चेतना, गौरव और अभूतपूर्व सफलता प्रदान करने में समर्थ यह धारणाशक्ति (धृति) उन विलासी लोगों में नहीं पायी जाती, जो सदैव विषयोपभोग में रमते हैं और जिनमें आत्मसंयम का सर्वथा अभाव होता है। विपरीत विचार तथा मिथ्या जीवन जीने वाले विघटित व्यक्तित्व के पुरुषों में धृति संभव नहीं है। त्रिगुणों के भेद से यहाँ धृति का तीन भागों–सात्विक, राजसिक और तामसिक में वर्गीकरण किया गया है। परन्तु सब में, ध्यान देने योग्य बात यह है कि धृति का अर्थ 'धारणा' ही है, जिसके द्वारा विभिन्न व्यक्ति अपनी 'बुद्धि' के द्वारा निश्चित किये गये लक्ष्य को दृढ़ता से धारण किये रहते हैं।

जिस धृति द्वारा एक साधक अपने मन, इन्द्रियों तथा उनकी क्रियाओं को योगाभ्यास तथा एक लक्ष्यानुसन्धान की सहायता से संयमित करता है, वह सात्विक धृति है।

कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ स्वभावत: विषयाभिमुखी होती हैं। केवल मन ही उनका संयमन कर सकता है। परन्तु संयमन के इस कार्य के लिए मन को आवश्यक शक्ति और उत्साह प्राप्त करने हेतु एक लक्ष्य का होना अनिवार्य हो जाता है। निम्नस्तरीय भोगों से निवृत्त होने के लिये लक्ष्य का उच्च और श्रेष्ठ होना भी आवश्यक है, अन्यथा इन्द्रियसंयम असम्भव है। इसलिये, भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ ध्यान योग की अपरिहार्यता पर विशेष बल देते हैं।

अखण्ड आत्मानुसन्धान की साधना से साधक को स्थिरता और संतुलन, शान्ति और सन्तोष प्राप्त होता है। इनकी सामर्थ्य से ही वह इन्द्रिय संयम में सफल हो सकता है। परन्तु इन समस्त उपलब्धियों का मूल है, धृति अर्तात् धारणा शक्ति या धैर्य। श्रेष्ठ लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होने वाली धृति सात्विकी कहलाती है।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ।।३४।।

हे पृथापुत्र अर्जुन! कर्मफल का इच्छुक पुरुष अति आसक्ति (प्रसंग) से जिस धृति के द्वारा धर्म, अर्थ और काम (इन तीन पुरुषार्थों) को धारण करता है, वह धृति राजसी है ।।३४।।

मनुष्य जीवन के चार पुरुषार्थ हैं अर्थात् प्रयत्नों के द्वारा प्राप्त करने योग्य लक्ष्य–धर्म (पुण्य), अर्थ, काम और मोक्ष। जिस सातत्य के साथ मनुष्य धर्म, अर्थ और काम को धारण करता है, वह राजसी धृति कहलाती है। यहाँ 'मोक्ष' का अनुल्लेख ध्यान देने योग्य है। राजसी पुरुष को संसार बन्धनों से सदैव के लिए मुक्त होने की इच्छा नहीं होती।

राजसी पुरुष का धर्माचरण भी पुण्यप्राप्ति के द्वारा स्वर्गादि लोकों के सुख भोग के लिये ही होता है। 'अर्थ' से तात्पर्य धन, सत्ता, अधिकार आदि से है, तथा 'काम' का अर्थ विषयोपभोग है। रजोगुणी पुरुष की यह दृढ़ धारणा होती है कि इन्द्रियों के विषय ही सुख के साधन हैं।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

हे पार्थ ! दुर्बुद्धि पुरुष जिस धारणा के द्वारा, स्वप्न, भय, शोक, विषाद् और मद को नहीं त्यागता है, वह धृति तामसी है ॥३५॥

इस श्लोक में वर्णित तामसी धृति को समझना कठिन नहीं है, क्योंकि हममें से अधिकांश लोगों की धृति इसी श्रेणी की है ! निद्राभयादि को धारण करने वाली धृति तामसी कही गयी है।

'स्वप्न' – यह शब्द उस मन की प्रक्षेपित कल्पनाओं को इंगित करता है, जो 'प्रायः' निद्रावस्था में डूबा रहता है। अनुभव की वह अवस्था स्वप्न है, जहाँ वास्तव में बस्तुओं का अभाव होते हुये भी मनःकल्पित मिथ्या विषयों का भोग होता है। तमोगुणी लोग बाह्य वस्तुओं पर अपने मन के द्वारा सुन्दरता एवं सुख का आरोप करके फिर उनकी प्राप्ति के लिये परिश्रम और संघर्षरत रहते हैं।

'भय' – ऐसे अविवेकी लोग व्यर्थ में ही अन्धकारमय भविष्य की कल्पना करके उससे भयभीत होते हैं। संभव है कि वह भयप्रद घटना कभी घटित ही न न हो, किन्तु उसका काल्पनिक भय ही मनुष्य के सन्तुलन, संयम एवं सन्तोष को नष्ट करने के लिए पर्याप्त होता है। हममें से कितने ही लोगों ने इस प्रकार के भय का अनुभव अपने जीवन में किया होगा। कुछ लोगों को भय होता है कि कल वे मरने वाले हैं, और प्रतिदिन वे पूर्व के समान ही स्वस्थ व्यक्ति के रूप में जागते हैं ! मानसिक दृष्टि से, ऐसे लोग भयोन्माद के रोगी होते हैं। और जिस दृढ़ता से वे इस भय ग्रन्थि को धारण किये रहते हैं, वह वास्तव में अपूर्व होती है।

'शोक, विषाद और मद' – मनुष्य की सामर्थ्य को क्षीण करने वाले ये तीन

कारण हैं। तामसी पुरुष इन्हें धारण करके एक प्रकार की आन्तरिक रिक्तता और थकान का अनुभव करता है। 'अतीत' में हुई अनिष्ट घटना का मनुष्य को 'शोक' होता है; 'भविष्य' को अन्धकारमय देखकर उसका मन 'बिषाद' से भर जाता है; और 'वर्तमान' काल में कामुकतापूर्ण अनैतिक जीवन का गर्व करने में ही मूढ़ पुरुष को 'मद' का अनुभव होता है।

उपर्युक्त स्वप्नादि पांच जीवनमूल्यों को धारण करने वाले पुरुष 'दुर्मेधा' हैं और ऐसे पुरुषों की धृति तामसी कही जाती है।

इसके पश्चात्, अब, कर्म के फल सुख का वर्णन करते हैं, जो भी त्रिविध है। भगवान् कहते हैं :

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

हे भरतश्रेष्ठ ! अब तुम त्रिविध सुख मुझसे सुनो, जिसमें (साधक पुरुष) अभ्यास से रमता है और दुःखों के अन्त को प्राप्त होता है (जहां उसके दुःखों का अन्त हो जाता है।) ॥३६॥

इस अध्याय में प्रतिपादित विचारों के विकास क्रम में सर्वप्रथम कार्य सम्पादन के तीन तत्वों – ज्ञान, कर्ता और कर्म का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् कर्म के प्रेरक, नियामक और मार्गनिर्देशक दो तत्वों, बुद्धि और धृति का विस्तृत विवेचन किया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने इन सब के त्रिविध भेदों को पृथक्-पृथक् रूप से दर्शाया है।

प्रत्येक 'कर्ता' अपने कर्मक्षेत्र में, अपने 'ज्ञान' से निर्देशित, 'बुद्धि' से शासित और 'धृति' से लक्ष्य को धारण करके कर्म करता है। इस प्रकार 'कार्य' की "शारीरिक एवं प्राणिक संरचना" का विश्लेषण एवं निरीक्षण पूर्ण होता है। अब, विचार्य विषय है कार्य का मनोविज्ञान। मनुष्य किस लिए कर्म करता है ? प्राणियों की प्रवृत्तियों का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि प्रत्येक प्राणी केवल सुख प्राप्ति के लिये ही कर्म में प्रवृत्त होता है। गर्भ से लेकर शवागर्त तक, प्राणियों के समस्त प्रयत्न सतत सुख प्राप्त करने के लिये ही होते हैं।

इस प्रकार, यद्यपि सब का एक लक्ष्य सुख ही है, तथापि ज्ञान, कर्ता, कर्म, बुद्धि और धृति में भेद होने से विभिन्न लोगों के द्वारा अपनाये गये सुख प्राप्ति के मार्ग भी भिन्न-भिन्न होते हैं। सात्विक, राजसिक और तामसिक लोग विविध कर्मों के द्वारा अपने-अपने सुख की खोज करते हैं।

कर्म के संघटकों में भेद होने के कारण उन विभिन्न प्रकार के कर्मों से प्राप्त सुखों में भी भेद होना अनिवार्य है। प्रस्तुत प्रकरण में सुख के तीन प्रकारों का वर्गीकरण किया गया है।

'अभ्यासात्–' इस अध्याय में वर्णित वर्गीकरण को समझकर एक सच्चे साधक को आत्मनिरीक्षण की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार, अपने दु:खों के कारणों को समझने से उनका परित्याग कर वह अपने जीवन को पुनर्व्यवस्थित कर सकता है। ऐसे अभ्यास से उसके दु:खों का सर्वथा अन्त हो जाना संभव है।

सात्विक सुख क्या है ? भगवान् कहते हैं :

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ।।३७।।

जो सुख प्रथम (प्रारम्भ में) विष के समान (भासता) है, परन्तु परिणाम में अमृत के समान है, वह आत्मबुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न सुख सात्विक कहा गया है ।।३७।।

'जो प्रथम विष के समान है'– यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि वास्तव में सात्विक सुख कभी भी विष के समान नहीं होता है, परन्तु मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति बहिर्मुखी होने के कारण उसे ज्ञान, वैराग्य, ध्यान आदि सात्विक सुख के साधनों का अभ्यास करने में कठिनाई अनुभव होती है। इसलिये ऐसे 'दुर्बल' व्यक्ति को यह सात्विक सुख प्रारम्भ में विष के समान दु:खदायी प्रतीत होता है, किन्तु यह वास्तविकता नहीं है। उदाहरणार्थ बालकों को खेल-कूद में आसक्ति होने के कारण पाठशाला का अध्ययन दु:खदायक प्रतीत होता है।

'परिणाम में अमृत के समान है'– परिणाम में अर्थात् जब ज्ञान, वैराग्य आदि साधनाभ्यास में परिपक्वता आने पर वास्तविक मन:शान्ति का अनुभव होता है तब वह अमृत के समान आनन्ददायक होता है। यह 'सुख' सात्विक कहा गया है।

'आत्म बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न'– प्राय: लोग प्रसाद का अर्थ कर्मकाण्डीय पूजा की सम्पन्नता होने पर वितरित किया जाने वाला "भोज्य प्रसाद" ही समझते हैं। परन्तु यहां प्रसाद का आशय व्यापक एवं गम्भीर है।

आत्मानुसन्धान के द्वारा आत्म स्वरूप में समाहित बुद्धि 'आत्म बुद्धि' कहलाती है। उस बुद्धि के प्रसाद का अर्थ है, प्रसन्नता, निर्मलता। बुद्धि के शान्त शुद्ध

एवं स्थिर होने पर, जो सुख की अनुभूति होती है, वही "आत्मबुद्धि प्रसादज" सात्विक सुख है। ऐसा सर्वश्रेष्ठ सुख केवल सुशिक्षित, सुसंस्कृत और सात्विक पुरुषों को ही प्राप्त होता है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।।३८।।

जो सुख विषयों और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न होता है, वह प्रथम तो अमृत के समान, परन्तु परिणाम में विष तुल्य होता है, वह सुख राजस कहा गया है ।।३८।।

इस श्लोक में दी गई परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजस सुख सात्विक सुख से ठीक विपरीत लक्षण वाला है।

इन्द्रियों का विषयों के साथ प्रत्यक्ष संयोग होने पर ही राजस सुख की प्राप्ति हो सकती है। दुर्भाग्य से इन दोनों का यह संयोग नित्य नहीं बना रह सकता, क्योंकि विषय अनित्य और परिवर्तनशील होते हैं। इसी प्रकार, विषयों से सम्पर्क करने वाली इन्द्रियां, मन और बुद्धि अनित्य ही हैं। अत: भोग्य विषय और भोक्ता इन्द्रियादि दोनों के ही अनित्य होने पर उनके मध्य नित्य संयोग रहना असम्भव है। उस स्थिति में, राजस सुख नित्य कैसे हो सकता है? कोई भी मनुष्य इस क्षणिक वैषयिक सुख का भी पूर्णत: और यथेष्ट भोग नहीं कर सकता, क्योंकि भोगकाल में भी उसे भय और चिन्ता लगी रहती है कि कहीं यह सुख शीघ्र ही न समाप्त हो जाय। केवल राजसी स्वभाव के लोग ही इस प्रकार के सुखों में रम सकते हैं, जो कि वास्तव में दुःख के कारण ही होते हैं। विवेकी पुरुष इसमें नहीं रमते।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्य प्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ।।३९।।

जो सुख प्रारम्भ में और परिणाम (अनुबन्ध) में भी आत्मा (मनुष्य) को मोहित करने वाला होता है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न सुख तामस कहा जाता है ।।३९।।

जो सुख मनुष्य को मोहित करने वाला होता है और जो उसकी संस्कृति को विकृति में परिवर्तित कर देता है, वह तामस सुख माना गया है। मोह का अर्थ

है आत्मा और अनात्मा के विवेक का अभाव।

तामस सुख के स्रोत हैं, निद्रा, आलस्य और प्रमाद। निद्रा का अर्थ सर्व-विदित निद्रावस्था तो है ही, किन्तु वेदान्तदर्शन के अनुसार स्वस्वरूप के अज्ञान की अवस्था भी निद्रा कहलाती है। इस आत्म अज्ञान के कारण ही मनुष्य विषय भोगों में सुख की खोज करता है और उनमें ही आसक्त हो जाता है।

'आलस्य'– क्रियाशीलता रजोगुण का धर्म है और उसके विपरीत 'आलस्य' तमोगुण का धर्म है। तामसी पुरुष की कर्म को टालने की प्रवृत्ति होती है और इस प्रकार आलस्य में ही वह अपने समय को व्यतीत कर देता है। यही उसका सुख है। ऐसा पुरुष विचार करने में भी आलसी होता है। इसलिये वह जीवन में यथार्थ निर्णय नहीं ले पाता।

'प्रमाद'-- यह सत्वगुण के लक्षण सजगता और विवेक के सर्वथा विपरीत लक्षण है। प्रमादशील मनुष्य अपने हृदय के उच्चगुणों के आह्वान की अवहेलना और उपेक्षा करके निम्न स्तर के भोगों में रमता है। फलत: वह दिन प्रतिदिन पशु के स्तर तक गिरता जाता है।

निद्रा, आलस्य और प्रमाद से प्राप्त होने वाला सुख प्रारम्भ एवं अन्त में मनुष्य को मोहित करने वाला होता है और ऐसा सुख तामस माना गया है।

प्रस्तुत प्रकरण का उपसंहार करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं:

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिविदेवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ।।४०

पृथ्वी पर अथवा स्वर्ग के देवताओं में ऐसा कोई प्राणी (सत्त्वं अर्थात् विद्यमान वस्तु) नहीं है जो प्रकृत से उत्पन्न इन तीन गुणों से मुक्त (रहित) हो ।।४०।।

उपर्युक्त श्लोक के साथ, सभी प्राणियों पर, और विशेष रूप से मनुष्य के व्यक्तित्व पर, पड़ने वाले तीन गुणों के प्रभाव का विवेचन समाप्त होता है। इस सम्पूर्ण प्रकरण में विभिन्न मनुष्यों के विभिन्न व्यक्तित्व और उनके व्यवहार की विविधता का भी मनोवैज्ञानिक स्पष्टीकरण दिया गया है। 'ज्ञान', 'कर्म', 'कर्ता', 'बुद्धि' और 'धृति' के विस्तृत विश्लेषण के द्वारा मनुष्यों का वर्णन किया गया है।

इस प्रकरण का एक मात्र प्रयोजन हमारा मार्ग दर्शन करना है। इसके अध्ययन के द्वारा हम अपनी स्थिति, अपने आन्तरिक तथा बाह्य व्यवहार को भली-भांति नहीं जान सकते हैं।

यदि हम अपने को राजस या तामस की श्रेणी में पाते हैं तो हम आत्म

विकास के साधकों को तत्काल सजग होकर सत्वगुण में निष्ठा प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। स्मरण रहे, और मैं पुन: दोहराता हूँ कि हमें यह स्मरण रहना चाहिये कि पूर्वोक्त समस्त वर्गीकरण 'परपरीक्षण' के लिये न होकर 'आत्म निरीक्षण' तथा 'आत्मानुशासन' के लिये हैं।

इन तीन गुणों के वर्णन का कारण यह है कि सम्पूर्ण विश्व-- पृथ्वी और स्वर्ग-- में कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जो प्रकृति के इन त्रिगुणों से रहित हो।" स्वयं प्रकृति ही त्रिगुणात्मिका है। इसलिए, उसे उत्पन्न हुए समस्त प्राणी भी उसके गुणों से युक्त हैं। कोई भी व्यक्ति त्रिगुणों की सीमा का उल्लंघन करके जगत् में कार्य नहीं कर सकता है।

परन्तु, कोई भी दो प्राणी बाह्य जगत् में समान रूप से व्यवहार नहीं करते हैं। इसका कारण है दोनों में इन तीन गुणों के अनुपात की भिन्नता। इस त्रिगुणात्मिका प्रकृति को ही वेदान्त में 'माया' कहते हैं, जो प्रत्येक जीव को विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करती है और जिसके वश में सभी जीव रहते हैं।

चाय के प्रत्येक प्याले में तीन संघटक तत्व होते हैं चाय का अर्क, दूध और चीनी, परन्तु प्रति प्याले में इन तीनों के मिश्रण का भिन्न-भिन्न अनुपात होने पर उन प्यालों की चाय के स्वाद में भी विविधता होगी। जो पुरुष त्रिगुणातीत आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है, केवल वही पुरुष सर्वाधिष्ठान एक परमात्मा को पहचान सकता है। वही पुरुष इस नामरूपमय सृष्टि को परमात्मा की लीला के रूप में देख सकता है। इसलिये, प्रतिदिन, प्रतिक्षण हम आत्म निरीक्षण करके अपनी स्थिति को पहचानने का प्रयत्न करें। राजसी व तामसी स्थिति से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में स्थित होने का हमको प्रयत्न करना चाहिये। शुद्ध सत्त्वगुण में निष्ठा प्राप्त होने पर ही हम सत्त्वातीत आत्मा का अनुभव प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं।

इन तीन गुणों के आधार पर ही भगवान् श्रीकृष्ण ने सभी मनुष्यों का सात्विक, राजसिक और तामसिक तीन विभागों में वर्गीकरण किया है। हिन्दू धर्म शास्त्रों में गुण प्राधान्य के आधार पर मनुष्यों का चतुर्विध विभाजन किया गया है जो चातुर्वर्ण्य के नाम से प्रसिद्ध है। यह वर्गीकरण मानवमात्र का होने के कारण उसकी प्रयोज्यता सार्वभौमिक है, न कि केवल भारतवर्ष तक ही सीमित है। यह चतुर्विध विभाजन केवल आनुवांशिक गुण अथवा जन्म के संयोग के आधार पर न होकर प्रत्येक व्यक्ति के अपने विशिष्ट गुणों के अनुसार है। निम्न तालिका से यह विभाजन स्पष्ट हो जायेगा–

क्रमांक	वर्ण	प्रधानता	अल्पता	न्यूनता
१.	ब्राह्मण	सत्त्वगुण	रजोगुण	तमोगुण
२.	क्षत्रिय	रजोगुण	सत्त्वगुण	तमोगुण
३.	वैश्य	रजोगुण	तमोगुण	सत्त्वगुण
४.	शूद्र	तमोगुण	रजोगुण	सत्त्वगुण

उपर्युक्त विभाजन सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक है। अर्वाचीन भाषा में इन चार वर्णों का नामकरण इस प्रकार किया जा सकता है–(१) रचनात्मक विचार करने वाले चिन्तक, (२) राजनीतिज्ञ, (३) व्यापारी वर्ग, और (४) श्रमिक वर्ग। इसमें एक बात स्पष्ट देखी जा सकती है कि किस प्रकार वेतन भोगी श्रमिक अपने नियोक्ता स्वामी (व्यापारी) से भयभीत होता है, व्यापारी वर्ग राजनीतिज्ञों से आशंकित रहता है और राजनीतिज्ञ लोग, साहसी और स्वतन्त्र विचार करने वाले चिन्तकों से भयकम्पित होते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन की "शिखर वार्ता" के सन्दर्भ में चातुर्वर्ण्य का वर्णन करने का अपना प्रयोजन है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को यह समझाना चाहते हैं कि वह क्षत्रिय वर्ण का है और, इसलिये, धर्मयुद्ध से पलायन करना उसे शोभा नहीं देता। उसका कर्तव्य धर्म पालन एवं धर्म रक्षण करना है। ब्राह्मणों के स्वभाव अर्थात् सत्वाधिक्य को प्राप्त किये बिना वह सफलता पूर्वक ध्यानाभ्यास नहीं कर सकता है। अतः, अर्जुन के लिये वासनाक्षय का एक मात्र साधन रह जाता है–क्षत्रिय धर्म का पाल करना।

अगले श्लोकों में वर्णाश्रम धर्म का विस्तृत विवेचन किया गया है। स्वभाव से प्राप्त धर्म तथा आश्रम अर्थात् जीवन की स्थिति (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) के अनुकूल कर्तव्यों का यहाँ वर्णन करते हैं :

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

हे परन्तप ! ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के कर्म, स्वभाव से उत्पन्न गुणों के अनुसार विभक्त किए गए हैं ॥४१॥

प्रकृति के तीन गुणों का विस्तुत वर्णन करने के पश्चात्, भगवान् श्रीकृष्ण उन गुणों के आधार पर ही मानव समाज का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में विवेकपूर्ण विभाजन करते हैं।

इन चारों वर्णों के लोगों में कर्तव्यों का विभाजन प्रत्येक वर्ग के लोगों के स्वभावानुसार किया गया है। स्वभाव का अर्थ प्रत्येक मनुष्य के अन्त:करण के विशिष्ट संस्कार है, जो किसी गुण विशेष के आधिक्य से प्रभावित हुए रहते हैं। कर्तव्यों के इस विभाजन में व्यक्ति के स्वभाव एवं व्यवहार को ध्यान में रखा जाता है। किसी व्यक्ति की श्रेष्ठता या हीनता का मापदण्ड उस व्यक्ति की शरीर रचना अथवा उसके केशों का वर्ण नहीं हो सकता; श्रेष्ठता का मापदण्ड केवल उसका स्वभाव और व्यवहार ही हो सकता है।

मनुष्यों के स्वभावों में विभिन्नता होने के कारण उनको सौंपे गये अधिकारों एवं कर्तव्यों में विभिन्नता होना स्वाभाविक ही है। अत: ब्राह्मणादि चारों वर्णों के कर्तव्य परस्पर भिन्न भिन्न हैं; तथापि सबका लक्ष्य समाज धारणा एवं सब की आध्यात्मिक प्रगति ही है। प्रत्येक वर्ण के लिये शास्त्रों में विधान किये हुए कर्तव्यों का पालन, यदि उस-उस वर्ण का व्यक्ति करता है, तो वह व्यक्ति क्रमश: तमस एवं रजस से ऊपर उठकर सत्वगुण में स्थित हो सकता है। तत्पश्चात् ही त्रिगुणातीत आत्मस्वरूप की अनुभूति में निष्ठा संभव होगी।

प्रत्येक व्यक्ति के ज्ञान, कर्म, कर्तत्व, बुद्धि एवं वृति के अध्ययन से ही उसका वर्ण निश्चित किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में, जब किसी पुरुष को सात्विक कहा जाता है, तो इसका अर्थ केवल इतना ही है कि सामान्यत: उसमें सात्विक गुण का आधिक्य रहता है। कभी-कभी सात्विक पुरुष में रजोगुण का अथवा तमोगुणी पुरुष में सत्वगुण का आधिक हो सकता है। कोई भी व्यक्ति केवल एक गुण से नहीं निर्मित है।

आज भारतवर्ष में समाज की जो स्थिति है, उसमें इस चातुर्वर्ण्य का वास्तविक स्वरूप बहुत कुछ लुप्त हो गया है। अब, केवल आनुवंशिक जन्मसिद्ध अधिकार और बाह्य शारीरिक भेद के आधार पर ही जातियाँ तथा अनेक उपजातियाँ उत्पन्न हो गयी हैं। एक सच्चा ब्राह्मण पुरुष वही है जो सत्वगुण प्रधान है, जिसमें इन्द्रियसंयम तथा मन:संयम है और जो आत्मस्वरूप का निदिध्यासन करने में समर्थ है। परन्तु आज का ब्राह्मण वर्ग मात्र जन्म के आधार पर अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शित करता है, और यह दुर्भाग्य है कि उसे कोई सम्मान प्राप्त नहीं होता, क्योंकि अपने आप को उस सम्मान के योग्य बनाने का कभी वह प्रयत्न ही नहीं करता है।

चार वर्णों के कर्मों में, सर्वप्रथम ब्राह्मण का कर्म बताते हुए भगवान् कहते हैं :

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।।४२।।

शम, दम, तप, शौच, क्षान्ति, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य-ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं ।।४२।।

इस श्लोक में सत्वगुण प्रधान ब्राह्मण के कर्तव्यों की सूची प्रस्तुत की गयी है । यद्यपि यहाँ 'कर्म' शब्द का प्रयोग किया गया है, परन्तु इस सूची में केवल आन्तरिक गुणों का ही उल्लेख मिलता है । इसका अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण का कर्तव्य इन गुणों को स्वयं में सम्पादित कर उनमें दृढ़ निष्ठा प्राप्त करना है । ये गुण उसके स्वाभाविक लक्षण बन जाने चाहिये ।

'शम' – इसका अर्थ है मनःसंयम । मन की विषयाभिमुखी प्रवृत्ति का संयमन शम कहलाता है ।

'दम' – विषयग्रहण करने वाली ज्ञानेन्द्रियों तथा प्रतिक्रिया व्यक्त करने वाली कर्मेन्द्रियों पर संयम होना दम है ।

'तप' – पूर्व अध्याय में शरीर, वाणी और मन के तप का वर्णन किया गया था । तप के आचरण से हमारी शक्तियों का अपव्यय अवरुद्ध हो जाता है । इस प्रकार संचित की गयी शक्ति का आत्मविकास की साधना में सदुपयोग किया जा सकता है ।

'शौच' – बाह्य वातावरण, अपने वस्त्र, शरीर तथा मन की शुद्धि को शौच कहते हैं । ब्राह्मण को स्वच्छता के प्रति सतत सजग रहना चाहिये ।

'क्षान्ति' – इसका अर्थ है क्षमा । किसी के अपराध अथवा दुर्व्यवहार करने पर भी उसे क्षमा करना ही क्षान्ति है । ऐसा व्यक्ति किसी से द्वेष नहीं करेगा और सब के साथ समान भाव से रहेगा ।

'आर्जवम्' – हृदय के सरल, निष्कपट भाव को आर्जव कहते हैं । इस ऋजुता के कारण पुरुष निर्भय बन जाता है । उच्च जीवन मूल्यों को जीने के विषय में वह निम्नस्तरीय जीवन के साथ कभी समझौता नहीं करता ।

उपर्युक्त शमादि छः गुणों द्वारा ब्राह्मण पुरुष का जगत् में आचरण एवं व्यवहार स्पष्ट किया गया है । दूसरी पंक्ति में उसके आध्यात्मिक जीवन का चित्रण किया गया है ।

'ज्ञान' – इस शब्द से यहाँ शास्त्रों का ज्ञान इंगित किया गया है । इसमें शास्त्र के सिद्धान्त, भौतिक जगत्, जगत् का अनुभव करने वाली उपाधियाँ तथा

उनके धर्म और कार्य, जीवन का लक्ष्य इत्यादि का सैद्धांतिक ज्ञान समाविष्ट है।

'विज्ञान' – उपनिषत्प्रतिपादित आत्मज्ञान का स्वानुभव विज्ञान' कहलाता है। 'ज्ञान' का उपदेश दिया जा सकता है, परन्तु 'विज्ञान' का नहीं। स्वसंवेद्य आत्मा का अनुभव अन्य व्यक्ति के द्वारा दिया जाना असंभव है। इसके लिये ब्राह्मण को स्वयं ही प्रयत्न करना होगा।

'आस्तिक्य' – वेदान्त प्रमाण में श्रद्धा हुए बिना उसमें उपदिष्ट लक्ष्य में आस्तिक्य भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। और इस आस्तिकता के बिना उपर्युक्त किसी भी कर्म को करने में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः इस श्रद्धा का होना अनिवार्य है। श्रद्धा से ज्ञान और तत्पश्चात्, ज्ञान से विज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। इस श्लोक में कथित गुणों को सम्पादित करना ही ब्राह्मण का कर्तव्य है।

भगवान् आगे कहते हैं:

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शौर्य, तेज, धृति, दाक्ष्य (दक्षता), युद्ध से पलायन न करना, दान और ईश्वर भाव (स्वामी भाव)–ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं ॥४३॥

क्षत्रिय पुरुष में रजोगुण की प्रधानता होती है। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण, किसी क्षत्रिय कुल में जन्मे व्यक्ति को ही क्षत्रिय नहीं कहते हैं। एक सच्चे क्षत्रिय पुरुष में जो गुण होते हैं, उनकी ही यहाँ गणना की गयी है। गीता में वर्णों का विभाजन मनुष्यों के आन्तरिक स्वभाव एवं बाह्य आचरण के आधार पर किया गया है।

शौर्य तेज से सम्पन्न व्यक्ति ही प्रजा का पालन एवं शासन करने में समर्थ होता है।

'धृति' – अपने लक्ष्य को दृढ़ता से धारण करना धृति है। मार्ग में कितने ही विघ्नों के आने पर भी अपने पथ से विचलित न होने के लिये धैर्य की आवश्यकता होती है, जिसे ही धृति कहते हैं।

'दाक्ष्य' – अर्थात् दक्षता। सैनिक प्रशिक्षण की भाषा में इसे 'सावधान' का आदेश कहा जाता है! दक्षता का अर्थ है प्राप्त परिस्थिति का 'तत्काल' और 'यथार्थ' मूल्यांकन करने की क्षमता। इसमें निर्णय के अनुसार तत्काल उसे कार्यान्वित करने की क्षमता का भी समावेश है। एक सच्चे क्षत्रिय की दक्षता अन्य लोगों के लिये ईर्ष्या का विषय बन जाती है।

'युद्ध से अपलायन' – उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न पुरुष जीवन संघर्षों में सहज ही अपनी पराजय स्वीकार नहीं कर लेता। यहाँ युद्ध शब्द का वाच्यार्थ ही नहीं लेना चाहिये। जीवन में जो भी कठिन परिस्थितियां उत्पन्न होती हैं, उन सबका साहस के साथ सामना करना यहाँ अभिप्रेत है। न्याय्य लक्ष्य के विरुद्ध खड़ी होने वाली परिस्थितियों से पलायन न करना क्षत्रिय का धर्म है।

'दान' – कोई भी शासन या राजा तभी लोकप्रिय बनता है, जब वह मुक्त हस्त से दान करता है। वर्तमान समय में भी सभी प्रजातान्त्रिक राष्ट्रों की सरकारें अपने बजट में कुछ धन की मात्रा सुरक्षित रखती हैं, जिस पर किसी प्रकार का विवाद या मतदान नहीं होता। क्षत्रिय पुरुष के कृपण होने पर उसे अपने कार्य में सफलता नहीं मिल सकती, क्योंकि उसकी सफलता उसके मित्रों एवं समर्थकों की संख्या पर निर्भर करती है। एक न्यायप्रिय क्षत्रिय को दयापूर्वक असहाय लोगों की मुक्तहस्त से सहायता करनी चाहिये।

ईश्वरभाव – अपनी सामर्थ्य पर दृढ़ विश्वास के बिना कोई भी पुरुष शासन नहीं कर सकता। प्रजा के नेता में इतना दृढ़ आत्मविश्वास होना चाहिए कि उसके विश्वास से अन्य दुर्बल हृदय के लोगों का भी आत्मविश्वास जागृत हो उठे। इस प्रकार का ईश्वरभाव एक क्षत्रिय का आवश्यक गुण है। उसकी शक्तिशाली उपस्थिति से ही आसपास के वातावरण में विद्युत शक्ति का-सा संचार हो जाना चाहिये। मात्र राजमुकुट या राजवस्त्रों से ही कोई पुरुष राजा नहीं बन सकता। राजमुकुट, राजवस्त्र एवं राजसिंहासन को अपने योग्य शासक का चयन कर सकने की एक अद्भुत कला प्राप्त है। ईश्वरभाव क्षत्रिय का सबसे प्रमुख लक्षण है।

उपर्युक्त आठ गुणों को क्षात्र कर्म कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि एक क्षत्रिय पुरुष को इन गुणों को सम्पादित करके इन्हें धारण करना चाहिये। लौकिक सत्ता के धारक नेता अध्यात्म के पथ प्रदर्शक नहीं बन सकते। परन्तु एक सच्चे शासक में यह सूक्ष्म क्षमता होनी चाहिए कि वह आध्यात्मिक जीवन मूल्यों को अपनी शासन प्रणाली में सम्मिलित कर सके और राष्ट्र के विविध कार्यक्षेत्रों में उन्हें व्यावहारिक रूप प्रदान कर सके।

अगले श्लोक में वैश्य और शूद्र के कर्म बताते हैं :

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।।४४।।

कृषि, गौपालन तथा वाणिज्य – ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं, और शूद्र का स्वाभाविक कर्म है परिचर्या अर्थात् सेवा करना ।।४४।।

प्रत्येक मनुष्य में गुणों की तारतम्यता किसी विशिष्ट अनुपात में होती है और इसलिए प्रत्येक मनुष्य का अपना विशिष्ट स्वभाव भी होता है । इसी कारण से एक मनुष्य जिस कार्य विशेष को कुशलतापूर्वक कर सकता है, उसी कार्य को अन्य व्यक्ति उसी कुशलता से नहीं कर पाता । रजोगुणी क्षत्रिय को सात्विक ब्राह्मण के समान ध्यानाभ्यास करना संभव नहीं होता । उसी प्रकार वैश्य और शूद्र भी क्षत्रिय के शूरवीरता पूर्ण कर्मों को नहीं कर पायेंगे । सामाजिक जीवन में सर्वोच्च प्रतिष्ठा के पद तक पहुँचने के लिए सभी मनुष्यों को "पूर्णत: एकरूप" अवसर प्राप्त नहीं हो सकते । तथापि, एक सामाजिक व्यवस्था सभी मनुष्यों को अपने-अपने स्वभाव के अनुसार विकसित होने के लिये "तुल्य अवसर" प्रदान कर सकती है । इस सिद्धांत या व्यवस्था को सफल बनाने हेतु विभिन्न व्यक्तित्व (वर्णों) के मनुष्यों के लिये भिन्न-भिन्न कर्तव्यों का विधान किया गया है ।

वैश्य वृत्ति का पुरुष कृषि, गौपालन तथा वाणिज्य के क्षेत्र में स्फूर्ति और प्रेरणा से कार्य करके अपने दोषों से मुक्त हो सकता है । दोषमुक्ति से तात्पर्य वासना-क्षय से है । वाणिज्यादि कर्मों में उसकी स्वाभाविक अभिरुचि होती है । उसी प्रकार अर्पण की भावना से सबकी सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है ।

प्रत्येक मनुष्य के आन्तरिक स्वभाव के अनुसार उसका वर्ण और कर्म निर्धारित किया जा सकता है । अपने स्वभाव के विपरीत कर्म में नियुक्त किये जाने पर मनुष्य न केवल उस कर्म क्षेत्र में दुर्व्यवस्था उत्पन्न करता है, वरन् अपनी स्वयं की भी हानि कर लेता है । उदाहरणार्थ, यदि किसी क्षत्रिय से कहा जाये कि वह सेवा-भावपूर्वक पंखा झलने का कार्य करे, तो वह संभवत: विनम्रता से उसे स्वीकार कर लेगा ; परन्तु तत्काल ही अपने स्वभाववश किसी दूसरे व्यक्ति को पंखा लाने की आज्ञा देगा ! इसी प्रकार, यदि किसी वैश्य को मंदिर का पुजारी बना दिया जाये, तो वह पवित्र स्थान, शीघ्र ही, किसी व्यापारिक केन्द्र से भी निम्न स्तर का बन जायेगा ; और यदि उसके हाथों में राजसत्ता सौंप दी जाये, तो वह अपने स्वभाव से विवश उस प्राप्त अधिकार द्वारा लाभदायक "व्यापार" करना प्रारम्भ कर देगा; जनता इसे ही भ्रष्टाचार कहती है !!

हम सबको आत्म-निरीक्षण के द्वारा अपना वर्ण और कर्म निर्धारित करना चाहिये । किसी भी उच्चवर्णीय पुरुष को निम्नवर्णीय मनुष्यों की ओर अनादर के भाव से देखने का अधिकार नहीं है । प्रत्येक व्यक्ति यथाशक्ति समाज की सेवा करता

है। ईश्वरार्पण की भावना से समाज की सेवा करते हुये प्रत्येक मनुष्य को आत्म-विकास तथा पूर्णत्व प्राप्ति के लिए साधनारत रहना चाहिये।

इसी विषय में भगवान् श्रीकृष्ण आगे कहते हैं :

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

अपने-अपने स्वाभाविक कर्म में अभिरत मनुष्य संसिद्धि को प्राप्त कर लेता है। स्वकर्म में रत मनुष्य किस प्रकार सिद्धि प्राप्त करता है, उसे तुम सुनो ॥४५॥

अपने स्वभाव एवं विकास की स्थिति को पहचान कर प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वाभाविक कर्म का निष्ठापूर्वक पालन करना चाहिये। इसी कर्तव्य पालन से प्रथम चित्तशुद्धि एवं तदुपरान्त परमात्मस्वरूप की अनुभूति की संसिद्धि प्राप्त हो सकती है।

केवल सतही दृष्टि से अवलोकन करने पर मनुष्यों का उपर्युक्त चतुर्विध वर्गीकरण स्पष्टतः बोधगम्य नहीं हो सकता। परन्तु जीवन में श्रेष्ठ उपलब्धियों को प्राप्त किए महान् पुरुषों के जीवन चरित्र इस वर्गीकरण की सत्यता का बारम्बार उद्घोष करते हैं। एक छोटे से बालक ने भेड़ पालन के कार्य को अस्वीकार कर दिया और पेरिस जा पहुँचा, जो कालान्तर में विश्व में नेपोलियन के नाम से प्रसिद्ध महानतम सेनापति बना। गोल्डस्मिथ या कीट्स व्यापारिक कार्य द्वारा आराम एवं सुखसुविधाओं का जीवन जीने की अपेक्षा किसी अटारी में रहते हुए काव्य रचना करना अधिक पसन्द करेगा। प्रत्येक मनुष्य अपने स्वभाव के अनुरूप कार्य-क्षेत्र में कर्म करते हुए ही सुख एवं पूर्णता का अनुभव करता है।

मानव के लौकिक व्यवहार, मानसिक स्वभाव एवं बौद्धिक अभिरुचि के आधार पर किया गया यह विवेकपूर्ण वर्गीकरण केवल भारत में ही नहीं, वरन् सर्वत्र प्रयोज्य (लागू करने योग्य) है। जीवन में इसकी प्रयोज्यता तथा मनुष्य के विकास के लिये इसकी उपादेयता सार्वभौमिक है।[1]

अब भगवान् श्रीकृष्ण सिद्धि प्राप्ति की साधना बताते हैं :

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

१. गेराल्ड हर्ड कहते हैं–"आर्य संस्कृति की चातुर्वर्ण्य समाज व्यवस्था जितनी भारत की है उतनी ही हमारी भी है।"

जिस (परमात्मा) से भूतमात्र की प्रवृत्ति अर्थात् उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, उस (परमात्मा) की स्वकर्म द्वारा पूजा करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है ।।४६।।

जब मनुष्य अपने स्वभाव (वर्ण) तथा स्वधर्म (आश्रम, जैसे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि) के अनुसार कर्म करता है ; तब उसकी पूर्वार्जित वासनाओं का क्षय होता जाता है। यह वासना निवृत्ति तथा इसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाली चित्त की शुद्धि और शान्ति तभी संभव होती है, जब मनुष्य अपने अहंकार को त्यागकर ईश्वरार्पण की भावना सें कर्म करना सीख लेता है।

लौकिक कर्तव्यों में यह नियम देखा जाता है कि जिस स्रोत से हमें कार्य करने की शक्ति और फल प्राप्ति होती है, उसके प्रीत्यर्थ कर्म करना हमारा कर्तव्य समझा जाता है। उदाहरणार्थ, सरकारी नौकरी करने वाले लोगों का कर्तव्य होता है कि अपने पद का कार्यभार सम्हालते हुए सरकार के लिए कार्य करें, क्योंकि सरकार ही उन्हें कार्य का अधिकार तथा वेतन प्रदान करती है। यदि कोई मनुष्य उस सरकार की शक्ति को विस्मृत कर अपने अधिकार का उपयोग स्वार्थसिद्धि में करता है, तो वह कर्म उसके लिगे बन्धन कारक बन जाता है। इसके विपरीत, अर्पण की भावना से कार्य करने पर बन्धन तो होते ही नहीं, अपितु उसकी पदोन्नति भी होती है । इसी प्रकार, हमको उस परमेश्वर का स्मरण करते हुये अपने कर्म करने चाहिये, जिससे हमें इन्द्रियाँ, मन आदि उपाधियों तथा उनकी क्षमताओं की भी प्राप्ति हुई है। हमारा कर्तव्य पालन ही ईश्वर का पूजन हो। इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण का यही उपदेश है कि सभी वर्णाश्रमों के मनुष्यों को अपने कर्तव्यों के पालन द्वारा जगत्कारण परमात्मा का पूजन करना चाहिये।

ईश्वरार्पण की भावना से कार्य करने में अहंकार सर्वथा लुप्त हो जाता है। अहंकार के अभाव में पूर्वार्जित वासनाओं का क्षय होता है और नवीन बन्धनकारक वासनायें उत्पन्न नहीं होतीं। इस प्रकार, कर्म के नियमानुसार लौकिक फल की प्राप्ति तो होती ही है, किन्तु उसके अतिरिक्त चित्त की शुद्धि भी प्राप्त होती है। जिसका अन्तःकरण शुद्ध होता है, वही पुरुष परमात्मस्वरूप की अनुभूति को प्राप्त हो सकता है। यही वास्तविक सिद्धि है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने कर्म के पालन में पूजन की भावना आ जाने पर हमारा कार्यक्षेत्र ही मन्दिर या तीर्थस्थान बन सकता है।

स्वकर्म पालन से ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है ; इसलिये :

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।।४७।।

सम्यक् अनुष्ठित परधर्म की अपेक्षा गुणरहित स्वधर्म श्रेष्ठ है। (क्योंकि) स्वभाव से नियत किये कर्म को करते हुए मनुष्य पाप को नहीं प्राप्त करता ।।४७।।

इस श्लोक की प्रथम पंक्ति का विस्तृत बिवेचन तृतीय अध्याय[1] में किया जा चुका है। स्वधर्म से तात्पर्य स्वयं के वर्ण एवं आश्रम के कर्तव्य कर्मों से है। वर्ण शब्द का भी स्पष्टीकरण किया जा चुका है। यह देखा जाता है कि मनुष्य के मन में रागद्वेष होने के कारण उसे अपना कर्म गुणहीन और अन्य पुरुष का कर्मश्रेष्ठ प्रतीत हो सकता है। उसके मन में ऐसी भावना का उदय होने पर वह स्वधर्म को त्यागकर परधर्म के आचरण में प्रवृत्त होता है। परन्तु, स्वभाव के प्रतिकूल होने के कारण वह उस नवीन कार्य में तो विफल होता ही है, साथ ही उसके मन में रागद्वेषों का अर्थात् वासनाओं का बन्धन और अधिक दृढ़ हो जाता है। इसलिये, भगवान् कहते हैं, "सम्यक् अनुष्ठित परधर्म से गुणरहित होने पर भी स्वधर्म का पालन ही श्रेष्ठतर है।"

स्वभाव नियत कर्माचरण से किल्विष अर्थात् पाप नहीं लगता। इसका अर्थ है स्वधर्म पालन से नवीन बन्धनकारक वासनाएँ उत्पन्न नहीं होतीं।

गीता का यह अन्तिम अध्याय भगवान् श्रीकृष्ण के सुन्दर प्रवचन का उपसंहार है। अत:, स्वाभाविक है कि यह सम्पूर्ण गीता का सारांश है। पूर्व अध्यायों में, "अर्जुन के रोग"[2] के उपचार के लिये, जिन मुख्य सिद्धान्तों का विवेचन किया गया था. उनकी यहाँ पुनरावृत्ति की गई है।

स्वधर्म पालन के उपदेश में दी गई युक्ति यह है कि स्वकर्माचरण पापोत्पत्ति का कारण नहीं बनता, यद्यपि हो सकता है कि उसमें कुछ दोष भी हो। इसे इस प्रकार समझना चाहिये कि (१) विषैले सर्प का विष स्वयं सर्प का नाश नहीं करता ; (२) मदिरा में रहने वाले जीवित जीवाणु स्वयं मदोन्मत्त नहीं हो जाते ; और (३) मलेरिया के मच्छर स्वयं मलेरिया ज्वर से पीड़ित नहीं होते। उसी प्रकार, किसी भी मनुष्य का स्वभाव उसके लिये दोषयुक्त या हानिकारक नहीं होता ! यदि सर्प के विष को मदिरा में मिला दिया जाये, तो वे जीवाणु नष्ट हो जायेंगे। ठीक इसी प्रकार, यदि ब्राह्मण के कर्म में क्षत्रिय पुरुष प्रवृत्त होता है, तो वह आत्मनाश ही कर लेगा। अर्जुन क्षत्रिय था ; शुद्ध सत्त्वगुण के अभाव में यदि वह वनों में जाकर ध्यानाभ्यास करता तो वह उसमें कदापि सफल नहीं होता।

---

१. गीता ३ – ३५

२. देखिये गीता की सामान्य प्रस्तावना।

सारांशत:, अपने स्वभाव के प्रतिकूल कार्यक्षेत्र में प्रवृत्त होने से कोई लाभ नहीं होता है। इस जगत् में प्रत्येक वस्तु का निश्चित स्थान है। प्रत्येक प्राणी या मनुष्य का अपना महत्त्व है और कोई भी व्यक्ति तिरस्करणीय नहीं है; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति किसी ऐसे कार्य विशेष को कर सकता है, जिसे दूसरा व्यक्ति नहीं कर सकता। परमेश्वर की सृष्टि में बहुतायत अथवा निरर्थकता कहीं नहीं है। एक तृण की पत्ती भी, किसी काल या स्थान में, व्यर्थ ही उत्पन्न नहीं हुई है।'

क्या हमारा कर्म दोषयुक्त होने पर भी उसका पालन करना चाहिये ! भगवान् उत्तर में कहते हैं :

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।।४८।।

हे कौन्तेय ! दोषयुक्त होने पर भी सहज कर्म को नहीं त्यागना चाहिये; क्योंकि सभी कर्म दोष से आवृत्त होते हैं, जैसे धुएं से अग्नि ।।४८।।

स्वभाव (वर्ण) और स्वधर्म (आश्रम) का इतना वर्णन करने के पश्चात् भगवान् श्री कृष्ण विचाराधीन सिद्धान्त के एक अत्यन्त सूक्ष्म पक्ष का विवेचन करते हैं। उनका उपदेश सामान्य है, जिसकी उपदेयता सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक है। भगवान् का यह उपदेश है कि सहज कर्म के सदोष होने पर भी उसका त्याग नहीं करना चाहिये।

शीघ्रता में केवल सतही दृष्टि से इस श्लोक का अध्ययन करने पर कोई भी पाठक इसे आध्यात्मिकता नहीं मानेगा। परन्तु ध्यानपूर्वक अध्ययन करने पर, 'सहज' शब्द से इस श्लोक की गुत्थी सुलझ जाती है। 'सहज' शब्द का अर्थ है "जन्म के साथ।" प्रत्येक व्यक्ति का जन्म अपनी पूर्वार्जित वासनाओं के साथ ही होता है। अत: "सहज कर्म" से तात्पर्य उन वासनाओं से है जिनके साथ मनुष्य का जन्म होता है। भगवान् श्री कृष्ण का यह कथन है कि उन कर्मों को नहीं त्यागना चाहिये, जो मनुष्य की सहज अर्थात् स्वाभाविक वासनाओं से प्रेरित होते हैं। परन्तु उन्होंने यह नहीं कहा कि जिस दूषित वातावरण में मनुष्य का जन्म होता है उस वातावरण के दोषयुक्त कर्मों को उसे करना चाहिये।

दो प्रकार की शक्तियां हमारे कर्मों को प्रेरित और नियमित, सीमित और निश्चित करती हैं-(१) आन्तरिक मानसिक स्वभाव के दबाव से उत्पन्न होने वाली प्रवृत्तियाँ, तथा (२) बाह्य वातावरण और विषयों से उत्पन्न होने वाले नये-नये प्रलोभन। मनुष्य को अपनी स्वाभाविक वासनाओं के सदोष होने पर भी उनका अनु-

सरण करना चाहिये। परन्तु उसी समय, उसमें बाह्य प्रलोभनों का त्याग करने का साहस और क्षमता होनी चाहिये।

जिन संस्कारों के साथ हमारा जन्म हुआ है, उनके अनुसार हमको कर्म करने चाहिये। परन्तु स्मरण रहे कि ये कर्म निरंहकार और निःस्वार्थ भाव से ही किये जाने चाहिये। बाह्य जगत् के प्रलोभन हमारे प्रलोभन को दूषित नहीं कर सकें, इसकी हमें सावधानी रखनी चाहिये। इस तथ्य पर भगवान् श्री कृष्ण विशेष बल देते हैं। गीता के अनुसार, मनुष्य परिस्थितियों का स्वामी है, दास नहीं। जिस मात्रा में मनुष्य अपने स्वामित्व को दृढ़तापूर्वक व्यक्त कर पायेगा, उसी मात्रा में उसका विकास सम्भव होगा।

क्या सभी कर्म दोष से आवृत्त नहीं हैं? भगवान् श्रीकृष्ण का युक्तिवाद यह है कि जब सभी कर्म दोषयुक्त हैं, तो स्वकर्म का त्याग कर परधर्म का आचरण क्यों करना चाहिये? यह सर्वथा अनुपयुक्त है। दूसरी बात यह है कि अहंकारपूर्वक कर्म करने पर ही वे बन्धन कारक होते हैं, अन्यथा नहीं। अतः साधक को निरंहकार भाव से सहज कर्म का पालन करना चाहिये। इस तथ्य को यहां 'आरम्भ' शब्द से इंगित किया गया है। इसके पूर्व,[1] हम 'आरम्भ' शब्द का वास्तविक अर्थ देख चुके हैं कि "कर्तृत्वाभिमान रहितकर्म।" कर्तृत्व का अभिमान ही वासनाओं को उत्पन्न करके कर्म को दोषयुक्त बना देता है।

अज्ञान अवस्था में यह दोष अपरिहार्य है, जैसे अग्नि के साथ धूम्र। परन्तु यदि चूल्हे को बाहर खुले वातावरण में रखा जाये, तो धुंआ नष्ट होता जाता है और अग्नि प्रज्वलित हो उठती है। इसी प्रकार, ईश्वर का स्मरण करके निरहंकार भाव से जगत् में कर्म करने पर अहंकार के अभाव में वासनाओं का आवरण नष्ट होकर स्वयं का शुद्ध चैतन्य स्वरूप स्पष्ट अनुभव होता है।

सहज कर्म के पालन का फल क्या है? सुनो:

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

सर्वत्र आसक्ति रहित बुद्धि वाला वह पुरुष जो स्पृहारहित तथा जितात्मा है, संन्यास के द्वारा परम नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त होता है ॥४९॥

हमको यह स्मरण रखना चाहिये कि सम्पूर्ण गीतोपदेश उस अर्जुन के लिए दिया गया था, जो युद्धभूमि पर कर्तव्य की विशालता को देखकर संभ्रमित हो गया था। वह युद्ध से पलायन कर, जंगलों में स्वकल्पित धारणा के अनुसार 'संन्यास'

१. गीता अ. १२ श्लो- १६.

का जीवन जीना चाहता था। भगवान् श्री कृष्ण ने गीता में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि साँसारिक जीवन तथा उसके कर्तव्यों से दूर भागना 'संन्यास' नहीं है। इस श्लोक में भगवान् श्री कृष्ण नैष्कर्म्य सिद्धि की परिभाषा देते हैं, जिसका साधन संन्यास है। संन्यास का अर्थ है शरीर, मन और बुद्धि उपाधियों के साथ हुये अपने तादात्म्य का त्याग करना। अपने शुद्ध आत्मस्वरूप में निष्ठा प्राप्त करना ही नैष्कर्म्य सिद्धि है।

जब हम अपने आत्मस्वरूप को विस्मृत कर देते हैं, तब कर्तृत्व भोक्तृत्व अभिमानी जीव की उत्पत्ति होती है। तत्पश्चात् हमारा समस्त व्यवहार जीव के रूप में ही होता है। लौकिक जगत् में भी, मद्यपान से उन्मत्त पुरुष में इस प्रकार की आत्मविस्मृति देखी जाती है। वह अपने व्यक्तित्व एवं पद को विस्मृत कर किसी अन्य रूप में ही व्यवहार करने लगता है। इस मादक उन्मत्तता में वह अपनी शिक्षा-दीक्षा, सभ्यता और संस्कृति को अपमानित करता हुआ निन्दनीय व्यवहार करता है। जब तक उस मादक पेय का प्रभाव बना रहता है, तब तक वह इसी प्रकार निन्द्य व्यवहार करता रहता है।

'आत्म' अज्ञान के कारण अभिमानी जीव की उत्पत्ति होती है। आत्मज्ञान से इस अज्ञान का नाश हो जाने पर जीव को अपने परिपूर्ण सच्चिदानन्द स्वरूप का अनुभव होता है। उस पूर्ण के पूर्ण अनुभव में अपूर्णता का भान कहां ? और अपूर्णता न हो, तो 'कामना' की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती। कामना के अभाव में विचारों का संचलन ही अवरुद्ध हो जाता है, और इस प्रकार सुख प्राप्ति के लिये 'कर्म' करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। यह स्थिति परम नैष्कर्म्य सिद्धि कही जाती है।

वेदान्त दर्शन में वर्णित नैष्कर्म्य सिद्धि परमानन्द के अनुभव की वह स्थिति है, जिसमें "अज्ञान– काम, विचार और कर्म" का सर्वथा अभाव है। वेदान्तरूपी आध्यात्मिक-मनोविज्ञान में हम कह सकते हैं कि अज्ञान कर्म का प्रपितामह है ! अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वस्वरूप में संस्थिति ही नैष्कर्म्य सिद्धि है। इसे ही निर्विकल्प अथवा निष्कामत्व की स्थिति भी कहते हैं।

इस श्लोक में, गीताचार्य भगवान् श्रीकृष्ण यह स्पष्ट घोषणा करते हैं कि नैष्कर्म्य की परम सिद्धि को प्राप्त होने का साधन ज्ञानलक्षण संन्यास है। जीवन संघर्षों से तुच्छ प्रकार के अशोभनीय पलायन के द्वारा इस पूर्णत्व की स्थिति को प्राप्त नहीं किया जा सकता। स्वधर्म के पालन द्वारा हमको चित्तशुद्धि प्राप्ति करनी चाहिये और तदुपरान्त ही संन्यास अर्थात् आत्मबोध के द्वारा स्वस्वरूप में दृढ़ स्थिति प्राप्त की जा सकती है। क्षत्रिय होने के नाते अर्जुन का युद्ध से विरत होना उपयुक्त नहीं था। अतः भगवान् श्रीकृष्ण उसे उसके स्वधर्म में प्रवृत्त करते हैं।

'सर्वत्र असक्त बुद्धिः' – यह सुविदित तथ्य है कि विषयों में आसक्त पुरुष को कदापि मन:शान्ति नहीं प्राप्त होती। आसक्ति के कारण मन क्षुब्ध रहता है और दुर्बल शरीर मन की इच्छा के अनुसार काम करते हुये थक जाता है। "मुण्डन किया हुआ मस्तक"[1] अर्थात् वह बुद्धि जो समस्त प्रकार की आसक्तियों से मुक्त है, वही उस परमात्मा को प्रकट कर सकती है, जो समस्त उपाधियों को चेतना प्रदान करता है। यह वास्तविक "नैष्कर्म्य सिद्धि" है और एक साधन सम्पन्न उत्तम अधिकारी ही इसे प्राप्त कर सकता है।

अर्जुन की संन्यास की इच्छा बन्धु-मित्र-परिवार के प्रति आसक्ति के कारण उत्पन्न हुई थी, अनासक्ति से नहीं। इसलिए, वह इच्छा मिथ्या ही थी।

'जितात्मा और विगतस्पृहः' – जिस पुरुष के मन में विषयभोग की किंचिन्मात्र भी लालसा नहीं रह गयी है (विगतस्पृह), केवल वही पुरुष जितात्मा अर्थात् पूर्ण आत्मसंयमी बन सकता है।

मन और बुद्धि में ही क्रमशः कर्तृत्व और भोक्तृत्व के अभिमान निवास करते हैं। इन दोनों अभिमानों का संयुक्त रूप ही 'जीव' कहलाता है। संसार में इस जीव का अस्तित्व बना रहने का कारण विषयों में उसकी स्पृहा है। सम्यक् विवेक द्वारा यह जानकर कि विषयों में सुख नहीं होता, यह स्पृहा नष्ट की जा सकती है। उसी प्रकार, आत्मा और अनात्मा के विवेक के द्वारा आत्मबोध होने पर जीवभाव का भी अन्त हो जाता है। गीता इस बात को बारम्बार दोहराते हुए नहीं थकती कि आध्यात्मिक उन्नति के लिए आत्मसंयम एवं स्पृहा समाप्ति अपरिहार्य गुण हैं। यहां विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि नैष्कर्म्य सिद्धि कोई अप्राप्त और नवीन स्थिति की प्राप्ति नहीं है, वरन् अज्ञान जनित आसक्तियों के त्याग से अपने स्वरूप की पहचान मात्र है। यह स्वतः सिद्ध साध्य की सिद्धि है।

भगवान् श्रीकृष्ण आगे कहते हैं।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

---

१. संन्यास दीक्षा में मुण्डन करना आसक्ति त्याग का संकेतक है। उपनयन संस्कार में ब्रह्मचारी बालक का भी मुण्डन किया जाता है, परन्तु उसमें शिखा रखने का विधान है। इसका अभिप्राय यह है कि साधनावस्था में साधक को शास्त्र, गुरु और ईश्वर के प्रति अनुराग आवश्यक है।

सिद्धि को प्राप्त पुरुष किस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त होता है, तथा ज्ञान की परा निष्ठा को भी तुम मुझसे संक्षेप में जानो ।।५०।।

पूर्व श्लोक में नैष्कर्म्य सिद्धि के लक्ष्य को इंगित किया गया है । अब उस साधना के विवेचन का प्रकरण प्रारम्भ होता है, जिसके अभ्यास से परमात्मस्वरूप में दृढ़ निष्ठा प्राप्त हो सकती है । इस श्लोक में आगे के कथनीय विषय की प्रस्तावना की गयी है । "सिद्धि को प्राप्त पुरुष" से तात्पर्य उस साधक से है, जिसने स्वधर्माचरण से अन्त:करण की शुद्धि प्राप्त कर ली है । ऐसा ही साधक ब्रह्मप्राप्ति का अधिकारी होता है । आगे के कुछ श्लोक हमें स्थितप्रज्ञ पुरुष के लक्षणों का स्मरण कराते हैं, जिनका वर्णन गीता के द्वितीय अध्याय में किया गया था ।

ध्यानाभ्यास का विस्तृत विवेचन षष्ठाध्याय में किया जा चुका है । अत: यहाँ उसका केवल 'संक्षेप' में ही वर्णन किया जायेगा ।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं :

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ।।५१ ।।

विशुद्ध बुद्धि से युक्त ; धृति से आत्मसंयम कर, शब्दादि विषयों को त्याग कर और राग-द्वेष का परित्याग कर···· ।।५१।।

'विशुद्ध बुद्धि से युक्त' – अर्थात् जिसका अन्त:करण शुद्ध है । विषयार्जन और विषयोपभोग की वासनाओं से मुक्त अन्त:करण ही शुद्ध कहलाता है । विशुद्ध बुद्धि से तात्पर्य "सात्विकी बुद्धि" से भी है ।

ध्यानाभ्यास के समय साधक का आन्तरिक सामंजस्य और शान्ति दो कारणों से नष्ट हो सकती है । (१) इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण से, अथवा (२) मन द्वारा पूर्वानुभूत भोगों के स्मरण अर्थात् भोगस्मृति से । साधक को सात्विकी धृति से मन को संयमित करना चाहिये, अर्थात् ध्यान के समय विषयभोगों का 'स्मरण' नहीं करना चाहिए । इसी प्रकार, शब्द-स्पर्शरूप-रसगन्ध इन विषयों को त्यागने का अर्थ यह है कि यदि इन्द्रिय द्वारा कोई विषय ग्रहण किया भी जाता है, तो उसका चिन्तन प्रारम्भ नहीं करना चाहिये । यह तभी संभव होगा, जब साधक अपने व्यक्तिगत रागद्वेषों से मुक्त होगा । इन सबको सम्पादित करने के लिए मन के चारों ओर ज्ञान की प्राचीर (दीवार) निर्मित करनी चाहिये । ज्ञान से ही मन को अपने वश में किया जा सकता है । मन:संयम और इन्द्रियसंयम को क्रमश: शम व दम भी कहते हैं ।

ध्यानाभ्यास के साधक के विषय में, और आगे कहते हैं :

विविक्तसेवी लध्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

विविक्त सेवी, लध्वाशी (मिताहारी) जिसने अपने शरीर, वाणी और मन को संयत किया है, ध्यानयोग के अभ्यास में सदैव तत्पर तथा वैराग्य पर समाश्रित ॥५२॥

'विविक्तसेवी' – पूर्व श्लोक में वर्णित गुणों से युक्त साधक को एकान्त में जाना चाहिये। एकान्तवासीस्वभाव के साधक को विविक्तसेवी कहते हैं। एकान्त के लिये किसी वन-उपवन में ही जाने की आवश्यकता नहीं है। इससे तात्पर्य ऐसे स्थान से है, जहाँ बाह्य विक्षेपों की संख्या न्यूनतम हो। कोई व्यक्ति अपने घर में भी ऐसे समय का चयन कर सकता है, जब वहाँ विक्षेपों के कारण नहीं होते हैं।

'लध्वाशी' – इस शब्द का अर्थ है मिताहारी। अत्यधिक भोजन करने से शरीर स्थूल और बुद्धि मन्द हो जाती है। समस्त साधकों के लिये परिमितता तो एक नियम ही है।[1]

'यतवाक्कायमानसः' – वाणी और शरीर से तात्पर्य कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों से है। इन दोनों के वश में होने पर मन का संयम भी सरल हो जाता है। विषय-ग्रहण, तत्पश्चात् होने वाली प्रतिक्रियाएं तथा मन को संयत करने का अर्थ इन सब कर्मों में अहंकार भाव का त्याग करना है।

'ध्यानयोगपरः' – मन वृत्तिरूपी है। अतः मन कभी निरालम्ब नहीं रह सकता। उसकी विषयाभिमुखी प्रवृत्ति को अवरुद्ध करने का एकमात्र उपाय यह है कि उसे चिन्तन के लिए कोई श्रेष्ठ ध्येय उपलब्ध कराया जाये। जिस मात्रा में वह उस ध्येय में समाहित होता जाएगा, उसी मात्रा में उसकी बहिर्मुखी प्रवृत्ति भी शान्त होती जाएगी। विषयों से निवृत्त करके मन को परमात्मा के स्वरूप में स्थित या समाहित करने का प्रयत्न ही ध्यानयोग कहा जाता है। साधक को इसकी साधना में सदैव तत्पर रहना चाहिए, क्योंकि मन के उपशमन का यही सर्वश्रेष्ठ साधन है।

'वैराग्य से युक्त' – वैराग्य राग का विरोधी नहीं है। राग का विरोधी तो द्वेष है। राग और द्वेष इन दोनों से ही मुक्त होना वैराग्य है। जब मनुष्य यह समझ लेता है कि विषयों में सुख नहीं है, तब उसका मन स्वतः ही विषयों से विरत हो जाता है। वैराग्यशाली पुरुष विषयों से दूर नहीं भागता, वरन् वे विषय ही ऐसे पुरुष से निराश होकर भाग जाते हैं!

१. देखिए गीता अ० ६ श्लोक १७

जैसे-जैसे मनुष्य का विकास होता जाता है, वैसे-वैसे उसकी अभिरुचियों में भी परिवर्तन आता है। और उन परिवर्तनों के साथ अपनी पूर्व रुचियों की वस्तुओं में उसे कोई आकर्षण नहीं रह जाता। उदाहरणार्थ, जब तक कोई मनुष्य भोगी और विलासी प्रवृत्ति का होता है, उसका मित्र परिवार भी समान गुणों वाला रहता है। परन्तु जब वह राजनीति और सामाजिक कार्य में रुचि लेने लगता है, तब उसका घर राजनीतिज्ञ और सामाजिक कार्यकर्ताओं से भरा रहने लगता है। कुछ समय पश्चात् विचारों में और अधिक पक्वता आने पर वह पुरुष आध्यात्मिक स्वभाव का बन जाता है। उस स्थिति में, सत्तावार्ता में रमने वाले राजनीतिज्ञ और ईर्ष्या तथा प्रतिस्पर्धा के भावों से पूर्ण सामाजिक कार्यकर्ता भी वहाँ से निवृत्त हो जाते हैं। अब उनका स्थान तत्त्वचिन्तक और आध्यात्मिक पुरुष ले लेते हैं। इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार मन के विकसित होने पर निम्न स्तर की वस्तुएं स्वत: निवृत्त हो जाती हैं। यह वास्तविक वैराग्य है। इस वैराग्य में किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता है।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्मम: शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।५३।।

अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह को त्याग कर ममत्वभाव से रहित और शान्त पुरुष ब्रह्म प्राप्ति के योग्य बन जाता है ।।५३।।

पूर्व श्लोक में उपादेय (ग्रहण करने योग्य) गुणों का उल्लेख किया गया था। इस श्लोक में हेय, अर्थात् त्याज्य दुर्गुणों की सूची प्रस्तुत की गयी है। ध्यान की सफलता के लिए इन दुर्गुणों का परित्याग आवश्यक है।

'अहंकार' – देहेन्द्रियादि अनातम उपाधियों को ही अपना स्वरूप समझ कर उनके कर्मो में कर्तृत्वाभिमान अहंकार कहलाता है।

'बल' – कामना और आसक्ति से अभिभूत पुरुष का बल यहां अभिप्रेत है, स्वधर्मानुष्ठान की सामर्थ्य नहीं।

'दर्प' – अर्थात् गर्व। यह गर्व ही मनुष्य को धर्म मार्ग से भ्रष्ट कर देता है। धर्म के अतिक्रमण का यह कारण है।

'काम और क्रोध' – विषय भोग की इच्छा 'काम' है तथा प्रतिबन्धित काम ही क्रोध का रूप धारण करता है।

'परिग्रहम्' – विषयासक्त पुरुष की प्रवृत्ति अधिकाधिक धन और भोग्य

वस्तुओं का संग्रह करने में होती है। उचित या अनुचित साधनों के द्वारा आवश्यकता से अधिक केवल भोग के लिये वस्तुएं एकत्रित करना परिग्रह कहलाता है।

वस्तुतः, ये समस्त अवगुण परस्पर सर्वथा भिन्न नहीं है। एक अहंकार ही इन विभिन्न वृत्तियों में अभिव्यक्त होता है। अहंकार के साथ ही ममत्व भाव भी जुड़ा रहता है। भगवान् श्रीकृष्ण का यह उपदेश है कि साधक को अहंकार और ममत्व का परित्याग कर देना चाहिये। इनके परित्याग से साधक का अन्तःकरण शान्त और शुद्ध बन जाता है। यह शान्ति शवागर्त की अथवा मरुस्थल की उदास शान्ति नहीं, वरन् ज्ञान द्वारा अपने स्वरूप की पहचान होने से प्राप्त हुई शान्ति है।

इस प्रकार, यहां वर्णित ध्यान के अनुकूल गुणों से सम्पन्न साधक उत्तम अधिकारी कहलाता है। ऐसा साधक ही "ब्रह्मप्राप्ति के योग्य होता है"। इस श्लोक में यह नहीं कहा गया है कि ऐसा साधक ब्रह्म ही बन जाता है, वरन् वह ब्रह्मज्ञान का अधिकारी बन जाता है। आत्म साक्षात्कार की यह पूर्व तैयारी है।

इस प्रकार क्रम से :

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

ब्रह्मभूत (जो साधक ब्रह्म बन गया है), प्रसन्न मन वाला पुरुष न इच्छा करता है और न शोक, समस्त भूतों के प्रति सम होकर वह मेरी परा भक्ति को प्राप्त करता है॥५४॥

अहंकार और उसकी विभिन्न अभिव्यक्तियों के परित्याग से साधक का मन शान्त हो जाता है। प्रायः मन के असंयमित होने तथा जीवन के त्रुटिपूर्ण मूल्यांकन के कारण ही अन्तःकरण में विक्षेप और संभ्रम उत्पन्न होते हैं। उनकी निवृत्ति से मन आपेक्षिक शान्ति को प्राप्त करता है। प्रयत्न पूर्वक प्राप्त की गयी शान्ति स्वरूपानुभव से स्वाभाविक बन जाती है।

कृत्रिम शान्ति को स्वाभाविक शान्ति में परिवर्तित करने के लिये शारीरिक प्रयत्नों की आवश्यकता नहीं होती। इसके लिए तो मन की सतत सजगता की ही अपेक्षा होती है। प्रायः यह देखा जाता है कि कर्तृत्व के अभिमान का त्याग करने पर भी, साधक में यदि वैराग्य की कुछ न्यूनता हो, तो उसके मन में भोक्तृत्व का अभिमान उत्पन्न हो जाता है। इसी भोक्तृत्वाभिमान के कारण अनेक साधकगण पुनः भोगों में आसक्त हो जाते हैं। इसीलिये, साधक को अत्यधिक सजग रहना

चाहिये। कर्तृत्व और भोक्तृत्व इन दोनों का नाश होना अनिवार्य है।

इस श्लोक में प्रयुक्त 'ब्रह्मभूत' शब्द उस साधक को दर्शाता है, जिसने अध्यात्म शास्त्र का श्रवण और मनन करके अपने ब्रह्मस्वरूप को पहचान लिया है। इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि उसने ब्रह्मस्वरूप में दृढ़ निष्ठा प्राप्त कर ली है। तथापि, इस ज्ञान के कारण मन के विक्षेपों की संख्या घटती जाती है। उपाधि-तादात्म्य से ही विक्षेप उत्पन्न होते हैं, परन्तु विवेकी पुरुष का प्रयत्न उस तादात्म्य की निवृत्ति के लिये ही होता है। जिस मात्रा में वह अपने दिव्य स्वरूप का भान बनाये रखने में समर्थ होता है, उसी मात्रा में उसका अन्त:करण प्रसन्न, अर्थात् शान्त, शुद्ध और स्थिर रहता है।

उपर्युक्त गुणों को सम्पादित कर लेने पर साधक की विषयभोग की इच्छा समाप्त प्राय हो जाती है। वह भोग की आकांक्षा नहीं करता (न कांक्षति)। इच्छा के न होने पर शोक का भी अभाव हो जाता है (न शोचति)। इष्ट फल के प्राप्त न होने अथवा उसके नष्ट हो जाने पर दु:ख अवश्यंभावी है। परन्तु विवेकी साधक इन दोनों के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। इच्छा, शोक आदि अहंकार के धर्म है, शुद्ध आत्मा के नहीं।

जिस विवेकी साधक का सुख बाह्यविषयनिरपेक्ष हो जाता है, वह अपने उस आत्मस्वरूप का दर्शन करता है, जो भूतमात्र की आत्मा है। अत: वह समस्त भूतों के प्रति सम हो जाता है।[१]

उक्त गुणों से युक्त साधक "मेरी परा भक्ति को प्राप्त कर लेता है।" इसके पूर्व, एक सम्पूर्ण अध्याय[२] में भक्तियोग का विस्तृत विवेचन किया गया था। भक्ति प्रेमस्वरूप है। प्रेम का मापदण्ड है, प्रियतम के साथ तादात्म्य के साथ पूर्णत: एक रूप हो जाना। इस पूर्ण तादात्म्य के लिए साधक का उपाधियों के साथ तादात्म्य तथा विषय संग सर्वथा समाप्त हो जाना चाहिये। प्रस्तुत प्रकरण के तीन श्लोकों में उल्लिखित गुणों से युक्त पुरुष ही परमात्मा की परा भक्ति का अधिकारी होता है।

साधना के अन्तिम सोपान को अगले श्लोक में बताया गया है :

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

---

१. गीता अ. ५-श्लोक १८, १९, २०.

२. गीता अ. १२.

(उस परा) भक्ति के द्वारा मुझे वह तत्त्वत: जानता है कि मैं कितना (व्यापक) हूं तथा मैं क्या हूं। (इस प्रकार) तत्त्वत: जानने के पश्चात् तत्काल ही वह मुझ में प्रवेश कर जाता है, अर्थात् मत्स्वरूप बन जाता है ॥५५॥

परमात्मा से परम प्रेम अर्थात् पूर्ण तादात्म्य ही परा भक्ति है। इस परा भक्ति से ही साधक भक्त परमात्मा को तत्त्वत: समझ सकता है। शास्त्र के श्रवण, अध्ययन आदि से प्राप्त किया गया ज्ञान प्राय: परोक्ष होता है। जब वह ज्ञान, बिज्ञान अर्थात् स्वानुभव बन जाता है, केवल तभी परमात्मा का यथार्थ बोध होता है।

'यावान् (मैं कितना हूं)'–इसका अर्थ यह है कि परा भक्ति के द्वारा एक भक्त भगवान् के उपाधिकृत विस्तार को समझ लेता है। भगवान् की विभूतियों का वर्णन दसवें अध्याय में किया जा चुका है।

'यश्च अस्मि (मैं क्या हूं)' – एक परम भक्त यह भी जान लेता है कि भगवान् का वास्तविक स्वरूप समस्त उपाधियों से वर्जित, निर्गुण, निर्विशेष है। सारांशत:, भगवान् को तत्त्वत: जानने का अर्थ उनके सर्वव्यापक एवं सर्वातीत इन दोनों ही स्वरूपों को जानना है।

हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि सम्पूर्ण गीता में भगवान् श्रीकृष्ण अपने लिये जो 'मैं' शब्द का प्रयोग करते हैं, वह अपने परमात्म स्वरूप की दृष्टि से ही कहते हैं, वसुदेव पुत्र के रूप में नहीं। अत: जब वे कहते हैं "वह (साधक) मुझ में प्रवेश करता है", तब उसका अर्थ किसी गृह प्रवेश के समान न हो कर साधक की आत्मानुभूति से है। भक्त का आत्मस्वरूप भगवान् के परमात्मस्वरूप से भिन्न नहीं है। यहाँ कथित प्रवेश ऐसा ही है, जैसे स्वप्न द्रष्टा जाग्रत पुरुष में प्रवेश करता है। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि एक साधन संपन्न उत्तम अधिकारी निदिध्यासन के द्वारा परमात्मा का अनुभव आत्मरूप से ही करता है, उससे भिन्न रहकर नहीं।

जगत् के प्राणियों की सेवा के बिना ईश्वर की सेवा पूर्ण नहीं होती। भगवान् कहते हैं :

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रय: ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

जो पुरुष मदाश्रित होकर सदैव समस्त कर्मों को करता है, वह मेरे प्रसाद (अनुग्रह) से शाश्वत, अव्यय पद को प्राप्त कर लेता है ॥५६॥

गीता का तत्त्वज्ञान अत्यन्त जीवन्त और शक्तिशाली है। सरल और सामान्य प्रतीत होने वाला, भगवान् का यह दिव्य गान मानो शक्ति के किसी विस्फोटक पदार्थ का भंडार है जिसे सम्यक् ज्ञान द्वारा विस्फोटित किया जा सकता है। इसके उपदेशानुसार जीवन जीने की उष्णता पाकर वह भण्डार फूट पड़ता है। उसके विस्फोट से एक साधक के श्रेष्ठ एवं दिव्य व्यक्तित्व की संभावनाओं पर जमी हुई अज्ञान की वे समस्त पर्तें ध्वस्त हो जाती हैं।

गीता के अनुसार, केवल निष्क्रिय समर्पण अथवा कर्मकाण्ड का अनुष्ठान ही भक्ति नहीं है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व के अभिमान का परित्याग कर परमात्मा से तादात्म्य स्थापित करना भक्ति है। भगवान् श्रीकृष्ण इस बात पर भी विशेष बल देते हैं कि साधक को अपने ज्ञान एवं अनुभव को व्यावहारिक जीवन में भी जीने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए।

भगवान् श्रीकृष्ण के मतानुसार धर्म की पूर्णता विषयों से केवल विरति और निजानुभूति में ही नहीं है। उनका यह निश्चित मत है कि ज्ञानी पुरुष को आत्मानुभव के पश्चात् पुन: व्यावहारिक जगत् में आ कर कर्म करने चाहिये। परन्तु ये कर्म निजानुभव की शान्ति और आनन्द से सुरभित हों, जिससे कि यह मन्द और म्लान जगत् तेजोमय और कान्तिमय बन जाये। इसलिये, परम भक्त बनने के लिये एक और आवश्यक गुण का वर्णन इस श्लोक में किया गया है।

नि:स्वार्थ समाज सेवा के अधिकार पत्र के बिना, गीताचार्य भगवान् श्रीकृष्ण न तो किसी भक्त का स्वागत करना चाहते हैं और न किसी को अपना दर्शन देना चाहते हैं। उनकी यह स्पष्ट घोषणा है, "जो पुरुष मदाश्रित होकर समस्त कर्म करता है, वह मेरे प्रसाद से अव्यय पद को प्राप्त कर लेता है।"

ईश्वरार्पण की भावना से ही कर्तृत्वाभिमान को त्यागा जा सकता है। इस भावना से कर्तव्य पालन करने वाले साधक को ईश्वर का प्रसाद, अर्थात् अनुग्रह (कृपा) प्राप्त होता है।

अपनी कृपा से भिन्न ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं है, ईश्वर ही स्वयं अपनी कृपा है और उसकी कृपा ही वह स्वयं है। अत:, कृपा प्राप्ति का अभिप्राय यह है कि जिस मात्रा में साधक का अन्त:करण शान्त, शुद्ध, स्थिर और सुगठित होगा, उसी मात्रा में उसे परमात्मानुभूति स्पष्ट होगी। परमात्मा नित्य (शाश्वत) और अविकारी (अव्यय) है। इसलिये, भगवान् कहते हैं कि उत्तम साधक उनकी कृपा से शाश्वत, अव्यय पद को प्राप्त होता है।

प्रस्तुत प्रकरण में, भगवान् श्रीकृष्ण ने ज्ञान, भक्ति एवं कर्म मार्गों को इंगित किया है। इन सब का लक्ष्य एक ही है–साधक का साध्य के साथ एकत्व

का अनुभव।[1] सम्पूर्ण साधना गीतोपदेश का सार है। कर्म, भक्ति और ज्ञान की संयुक्त रूप में साधना करने से हमारे व्यक्तित्व के शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक इन तीनों पक्षों में सामन्जस्य आ जाता है। कर्मयोग, भक्तियोग एवं ज्ञानयोग का क्रमशः शरीर, मन और बुद्धि के स्तर पर पालन करने के लिये गीता में उपदेश दिया गया है। इस प्रकार, द्रष्टा-मन्ता-ज्ञाता रूप जीव को अपने आत्मस्वरूप में पूर्ण स्थिति सिद्ध कराने में गीतोपदेश का प्रमुख योगदान है। हिन्दुओं की औपनिषदिक संस्कृति के पुनरुत्थान में गीता का महत्वपूर्ण स्थान है।

इस प्रकार, ब्रह्मप्राप्ति की साधना का क्रमबद्धविवेचन करने के पश्चात्, उपदेश देते हैं कि :

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।।५७।।

मन से समस्त कर्मों का मुझमें संन्यास करके मत्परायण होकर बुद्धियोग का आश्रय लेकर तुम सतत मच्चित्त बनो ।।५७।।

मन से अर्थात् ज्ञानपूर्वक "समस्त कर्मों का संन्यास मुझमें करो।" इस वाक्य का अर्थ है कर्मों में कर्तृत्वाभिमान और फलासक्ति का त्याग करके केवल ईश्वरार्पण की भावना से कर्म करो। इस सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन इसके पूर्व किया जा चुका है।[2]

'मत्परः भव'-- जिस पुरुष के लिये 'मैं' अर्थात् परमात्मा ही परम लक्ष्य है, वह पुरुष 'मत्परः' कहा जाता है। ईश्वर को ही जीवन का लक्ष्य समझे बिना हममें ईश्वरार्पण की भावना नहीं आ सकती। इसलिये, भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को ईश्वर परायण होने का उपदेश देते हैं।

'बुद्धियोग'--कर्मयोग में अर्पण बुद्धि अर्थात् भावना का महत्व होने से उसे ही भगवान् श्रीकृष्ण ने 'बुद्धियोग' की संज्ञा प्रदान की है। इसका भी विवेचन किया जा चुका है।[3]

'मच्चित:भव'-- "जिसका मन मुझ परमात्मा में स्थित है वह मच्चित्त है।" "मुझमें कर्मों का संन्यास करके" तथा 'मत्पर बनो", इन दो वाक्यों से क्रमशः कर्म एवं ज्ञान योग इंगित किया गया है, और 'अब' 'मच्चित्त' शब्द से भक्ति को सूचित कर रहे हैं।

---

१. गीता. अ. १८. श्लो. ५१ से ५६
२. गीता अ. ३ श्लोक ३० यह श्लोक अत्यन्त महत्वपूर्णहै।
३. गीता अ. २ श्लो. ४९

मानसिक जीवन का यह नियम है कि "जैसा हम चिन्तन करते हैं, वैसे ही हम बनते हैं।" इस नियमानुसार जो भक्त सतत कृष्ण तत्त्व का चिन्तन करता है वह स्वयं श्रीकृष्ण परमात्मा स्वरूप बन जाता है। यही अव्यय आत्मस्वरूप है।

यदि कोई मनुष्य भगवान् के इस उपदेश को अस्वीकार करता है, तो उसकी क्या गति होगी ? सुनो:

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथचेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

मच्चित्त होकर तुम मेरी कृपा से समस्त कठिनाइयों (सर्वदुर्गाणि) को पार कर जाओगे; और यदि अहंकारवश (इस उपदेश को) नहीं सुनोगे, तो तुम नष्ट हो जाओगे ॥५८॥

सारांशतः, साधक को सतत ईश्वर का स्मरण करते हुये अपने कर्तव्य कर्म करने चाहिये। सतत अभ्यास करने पर शरीर और मन भी ऐसी अनुप्राणित बुद्धि का साथ देने लगते हैं, जो ईश्वर के अखण्ड स्मरण में रमती है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, "मच्चित्त होकर तुम मेरी कृपा से समस्त कठिनाइयों को पार कर जाओगे।" हमारे जीवन में आने वाले अधिकांश बिघ्न या प्रतिबन्ध केवल काल्पनिक होते हैं। मिथ्या भय और वृथा चिन्ता संभ्रमित मन के लक्षण हैं। "मन के परमात्मस्वरूप में समाहित होंने से प्राप्त होने वाले फल को ही 'कृपा' कहते हैं।" यहां कथित कृपा का अर्थ यह नहीं है कि करुणासागर भगवान् भक्त विशेष पर ही अपनी कृपा की वर्षा करते हैं, और अन्य जनों पर नहीं। भगवान् तो स्वयं कृपास्वरूप ही हैं। उनकी कृपा सर्वव्यापी है। आवश्यकता केवल हमारे अन्तःकरण को शुद्ध करने की तथा विवेक को जाग्रत करने की है। शुद्धता और विवेक के होने पर परमात्मा शुद्ध स्वरूप में प्रकट हो जाता है, जो साधक के हृदय में पहले से ही विद्यमान था। सूर्य का प्रकाश किसी से पक्षपात नहीं करता। परन्तु जो व्यक्ति अपने घर के द्वार और वातायन सदैव बन्द रखता है, वह सूर्य प्रकाश से वंचित रह जाता है। इसमें सूर्य को दोष नहीं दिया जा सकता।

इस श्लोक की द्वितीय पंक्ति में भगवान् श्रीकृष्ण चेतावनी देते हैं कि अहंकारवश उनके उपदेश का पालन न करने पर मनुष्य अपना नाश ही कर लेगा। प्राकृतिक नियम अपरिवर्तनीय होते हैं; उनके न नेत्र हैं न श्रोत। वे अपना काम लयबद्ध करते रहते हैं। जो मनुष्य इन नियमों को पहचान कर उनका पूर्ण पालन करता है, वही सुखी रहता है।

"यदि अहंकारवश तुम नहीं सुनोगे, तो तुम नष्ट हो जाओगे" यह किसी क्रूर सत्ताधारी की मानव जाति को भयभीत करके उससे आज्ञापालन करवाने के लिये दी गई धमकी नहीं है।[१] अन्य धर्मों में दी गई नरक की धमकी के साथ इसकी तुलना नहीं करना चाहिये । यह वस्तु स्थिति का कथन मात्र है। यदि न्यूटन भी अपने घर की छत से कूद पड़ता तो गुरुत्वाकर्षण की शक्ति निश्चित रूप से उस पर भी अपना प्रभाव दिखाती ही ! प्रकृति के नियमों में एक निश्चितता है। बन्धन और मोक्ष, इन दो विकल्पों में से मनुष्य किसी का भी चयन करने में स्वतन्त्र है। मोक्षमार्ग का यहां वर्णन किया जा चुका है। प्रस्तुत कथन में भगवान् की केवल निर्मम स्पष्टवक्तृता तथा साधक के कल्याण की भावना ही स्पष्ट होती है। अपने इस स्पष्ट कथन से वे किसी बात को बनाना या बिगाड़ना नहीं चाहिये ।

"अन्त:प्रेरणा की सौम्य एवं मधुर वाणी से" हमें सदैव जीवन की सत्य पद्धति का मार्ग दर्शन मिलता रहता है। परन्तु मनुष्य का अहंकार और स्वार्थ उस "मधुर वाणी" की उपेक्षा करके विषयोपभोग के निम्नस्तरीय जीवन का ही अनुकरण करता है। फलत: वह अपने ही अनियन्त्रित मनोवेगों तथा अशुद्ध विचारों द्वारा दण्डित किया जाता है। अत: यह चेतावनी दी गई है कि "तुम नष्ट हो जाओगे। यहां नाश का यह अर्थ है कि ऐसा अहंकारी पुरुष जीवन के परम पुरुषार्थ को नहीं प्राप्त कर सकता है।

अपने कथन को और अधिक स्पष्ट करते हुये भगवान् कहते हैं :

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।।५९।।

और अहंकारवश तुम जो यह सोच रहे हो' "मैं युद्ध नहीं करूंगा", यह तुम्हारा निश्चय मिथ्या है, (क्योंकि) प्रकृति (तुम्हारा स्वभाव) ही तुम्हें (बलात् कर्म में) प्रवृत्त करेगी ।।५९।।

सत्य के सामान्य कथन की ओर मनुष्य विशेष ध्यान नहीं देता है। इस

---

१. यहां कथित सिद्धान्त के अभिप्राय को न समझकर, अनेक लोग कहते हैं कि "धर्म के नियम" क्रूर हैं। परन्तु विचार करने पर यह मिथ्या धारणा दूर हो सकती है। यदि वैज्ञानिक अन्वेषणों के द्वारा प्राकृतिक शक्तियों का उपयोग मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये किया जाना संभव हुआ है, तो वह केवल प्रकृति के नियमों के पालन से ही हुआ है, न कि उनकी अवहेलना करके।

कारण सत्य के उस ज्ञान को वह आत्मसात् नहीं कर पाता। परन्तु यदि उसी सामान्य कथन को मनुष्य को अपने जीवन से सम्बन्धित अनुभवों में प्रयुक्त कर दर्शाया जाये, तो वह उस ज्ञान को अर्जित कर आत्मसात् कर लेता है। वह ज्ञान उसका अपना नित्य अनुभव बन जाता है। इसलिये, भगवान् श्रीकृष्ण पूर्वोक्त दार्शनिक सिद्धान्त को अर्जुन की तात्कालिक समस्या के सन्दर्भ में उसे समझाना चाहते हैं।

यदि अपने अभिमान के कारण अर्जुन यह सोचता है कि वह युद्ध नहीं करेगा, तो उसका यह निश्चय व्यर्थ है! उसका क्षत्रिय स्वभाव व्यक्त होने के लिये सदैव अवसर की प्रतीक्षा करता रहेगा, और उपयुक्त अवसर पाकर वह अर्जुन को कर्म करने को बाध्य किये बिना नहीं रहेगा। प्रकृति तुम्हें प्रवृत्त करेगी।" जिसने लवण भक्षण किया है, उसे शीघ्र ही प्यास लगेगी। युद्ध के निवृत्त होने में अर्जुन जो मिथ्या तर्क प्रस्तुत करता है, वह वस्तुत: प्राप्त परिस्थितियों के साथ उसके द्वारा किये गये समझौते को ही दर्शाता है।

यदि अर्जुन तत्कालीन अस्थायी वैराग्य अथवा पलायन की भावना के कारण युद्ध से विरत हो जाता है, तो भी प्राकृतिक नियमानुसार, कालान्तर में उसका ही उसे कर्म करने के लिये बाध्य करेगा। और उस समय संभव है कि उसे अपने स्वभाव को व्यक्त करने के लिये उपयुक्त क्षेत्र ही न मिले, जिससे वह अपनी वासनाओं का क्षय कर सके।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

हे कौन्तेय! तुम अपने स्वाभाविक कर्मों से बन्धे हो, (अत:) मोहवशात् जिस कर्म को तुम करना नहीं चाहते हो, वही तुम विवश होकर करोगे ॥६०॥

भगवान् श्रीकृष्ण का, सारांश में, कथन यह है: "मैं तुम्हें इसलिये युद्ध में प्रवृत्त नहीं कर रहा हूं कि मुझे तुम से सहानुभूति नहीं है, वरन् इसलिये कि इसके अतिरिक्त तुम्हारे लिये अन्य कोई मार्ग ही नहीं रहा है। तुम्हारे लिये कोई विकल्प ही नहीं है। यद्यपि तुम दुराग्रह कर रहे हो कि तुम युद्ध नहीं करोगे, किन्तु यह तुम्हारा केवल मोह और भ्रम ही है। तुम्हें युद्ध करना ही पड़ेगा, क्योंकि तुम्हारा स्वभाव अपना प्रभाव अवश्य दिखायेगा।

इस प्रकरण भगवान् श्रीकृष्ण ने बारम्बार कहा है, "तुम मेरा सतत स्मरण करो।" इसका अर्थ क्या है? किस प्रकार हम ईश्वर का स्मरण करें?

क्या इसका अर्थ ईश्वर का ध्यान करना है ? हमारा परमेश्वर के साथ क्या संबंध होना चाहिये ? क्या उन्हें हम कोई ऐतिहासिक पुरुष मानें, अथवा सदैव हमारे हृदय में वास करने वाले आत्मतत्त्व के रूप में उन्हें जानें ?

एक लगनशील विद्यार्थी के मन में उठने वाले इन प्रश्नों के उत्तर अगले श्लोक में दिये गये हैं :

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

हे अर्जुन (मानों किसी) यन्त्र पर आरूढ़ समस्त भूतों को ईश्वर अपनी माया से घुमाता हुआ (भ्रामयन्) भूतमात्र के हृदय में स्थित रहता है ॥६१॥

भगवान् श्रीकृष्ण का उपदेश सुस्पष्ट एवं सर्वथा सन्देह रहित है । गीताचार्य कहते हैं, "मेरा स्मरण ईश्वर अर्थात् सम्पूर्ण विश्व के शासक के रूप में करो। ईश्वर ही नियामक और नियन्ता है । उसकी 'उपस्थिति' में ही जगत् की समस्त घटनाएं घट सकती हैं, अन्यथा नहीं । जैसे कि वाष्प इंजन का 'ईश्वर' वाष्प है, जिसके बिना इंज़न में गति नहीं आ सकती ।

ईश्वर का स्मरण केवल सगुण-साकार अर्थात् शक्ति के मानवीय रूप में ही नहीं करना चाहिये, जैसे कैलाशपति, शिवजी, या वैकुण्ठवासी विष्णु या स्वर्ग में स्थित पिता के रूप में। ईश्वर तो भूतमात्र के हृदय में निवास कर रहा अंतरयामी है । इसकी पहचान हृदय में ही हो सकती है । जिस प्रकार विशाल महानगरी में किसी व्यक्ति के मिलने के लिये उसके निवास-स्थान का पता बताया जाता है, उसी प्रकार, यहां, भगवान् श्रीकृष्ण अपना "स्थानीय पता" बता रहे हैं !

हृदय शब्द से तात्पर्य शारीरिक अंग रूप हृदय से नहीं है । दर्शनशास्त्र में 'हृदय' का अर्थ लाक्षणिक है, शाब्दिक नहीं । प्रेम, करुणा, धृति, उत्साह, स्नेह, कोमलता, क्षमा, उदारता जैसे दैवी गुणों से सम्पन्न मन ही हृदय कहलाता है। परमेश्वर ही चेतनता और शक्ति का स्रोत है, जो अपनी शक्ति को प्राणीमात्र को प्रदान करता है । समस्त प्राणी ईश्वर के ही चारों ओर इस प्रकार घूमते रहते हैं, जैसे कठपुतलियां किसी के हाथों में बन्धी खेल करती हैं । कठपुतलियों की अपनी कोई सामर्थ्य, शक्ति अथवा भावना नहीं होती, वे जो कुछ खेल करती दखाई देती हैं, वह सब 'अदृश्य हाथ' की शक्ति है जो उन कठपुतलियों को धारण किये रहता है ।

पारमार्थिक दृष्टि से, ईश्वर का अर्थ चैतन्यस्वरूप ब्रह्म है। इस चैतन्य के

सम्बन्ध से ही शरीर, मन आदि जड़ उपाधियाँ कार्य करने में सक्षम होती हैं। अन्यथा, जड़ पदार्थ में स्वयं न कर्म करने की शक्ति है और न वस्तुओं को जानने की। इस दृष्टि से इस श्लोक का अर्थ यह होगा कि चैतन्यस्वरूप आत्मा की उपस्थिति में प्राणीमात्र अपने-अपने स्वभाव के अनुसार यत्र-तत्र भ्रमण करते रहते हैं। इसी तथ्य को यहाँ इस प्रकार कहा गया है कि ईश्वर अपनी माया से भूतमात्र को घुमाता है।

इसी श्लोक का दूसरा अर्थ निम्न प्रकार से होगा। समष्टि माया में व्यक्त चैतन्यस्वरूप परमात्मा ही ईश्वर कहलाता है, जो सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान् है।[1] वह ईश्वर अपनी माया से समस्त जीवों को घुमाता है; इसका अर्थ यह हुआ कि वह ईश्वर समस्त जीवों को उनके कर्मानुसार फल प्रदान करता है। ईश्वर के बिना व्यष्टि जीवों का अस्तित्व संभव ही नहीं है। समस्त जीवों को कर्म एवं ज्ञान की शक्तियां ईश्वर से ही प्राप्त होती हैं। इस प्रकार, वेदान्त के सिद्धांत को समझकर इस श्लोक के अध्ययन से यहाँ प्रयुक्त रूपक का अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रासादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

हे भारत ! तुम सम्पूर्ण भाव से उसी (ईश्वर) की शरण में जाओ। उसके प्रसाद से तुम परम शान्ति और शाश्वत स्थान को प्राप्त करोगे ॥६२॥

ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मन्त्र का भावार्थ यह है कि "यह सम्पूर्ण जगत् ईश्वर से व्याप्त है। इसलिये, नामरूपों के भेद से दृष्टि हटाकर अनन्त परमात्मा का आनन्दानुभव करो; किसी के धन का लोभ मत करो।" गीता दर्शन का सारतत्त्व भी यही है। "अहंकार का त्याग करके अपने कर्तव्य करो" यह तो मानो गीता का मूलमन्त्र ही है। आत्मा और अनात्मा के मिथ्या सम्बन्ध से ही कर्तृत्वाभिमानी जीव की उत्पत्ति होती है। यह जीव ही संसार के दुःखों को भोगता रहता है। अतः, इसे अपनी मुक्ति के लिए अहंकार का परित्याग करना चाहिये। यहाँ प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि अहंकार का त्याग कैसे करें? इसके उत्तर में ईश्वरार्पण की भावना का वर्णन किया गया है। पूर्वश्लोक में ही ईश्वर के स्वरूप को दर्शाया गया है। इसलिये, अब, भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं, "तुम उसी हृदयस्थ ईश्वर की शरण में जाओ।"

---

1. समष्टिकारण शरीराभिमानी परमात्मा ईश्वर इति ॥

शरण में जाने का अर्थ है अभिमान एवं फलासक्ति का त्याग करके, कर्माध्यक्ष–कर्मफलदाता ईश्वर का सतत स्मरण करते हुये कर्म करना। इसके फलस्वरूप चित्त की शुद्धि प्राप्त होगी, जो आत्मज्ञान में सहायक होगी। आत्मज्ञान की दृष्टि से 'शरण' का अर्थ होगा – समस्त अनात्म उपाधियों के तादात्म्य को त्यागकर आत्मस्वरूप ईश्वर के साथ एकत्व का अनुभव करना। यह शरणागति अपने संपूर्ण व्यक्तित्व के साथ ही हो सकती है (सर्वभावेन), अधूरे हृदय से नहीं। राधा, हनुमान और प्रह्लाद जैसे भक्त इसके उदाहरण हैं।

चित्त की शुद्धि और आत्मानुभूति ही ईश्वर की कृपा अथवा प्रसाद है। जिस मात्रा में, अनात्मा के साथ हमारा तादात्म्य निवृत्त होगा, उसी मात्रा में हमें ईश्वर का यह प्रसाद प्राप्त होगा।

'भारत' – भरतवंश में जन्म लेने के कारण अर्जुन का नाम भारत था। शब्द व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ है "वह पुरुष जो भा अर्थात् प्रकाश (ज्ञान) में रत हैं।" आध्यात्मिक ज्ञान के प्रकाश में रमने वाले ऋषियों के कारण ही यह देश 'भारत' कहा गया है।

प्रकरण का उपसंहार करते हुये भगवान् कहते हैं :

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

इस प्रकार समस्त गोपनीयों से अधिक गुह्य ज्ञान मैंने तुमसे कहा है ; इस पर पूर्ण विचार (विमृश्य) करने के पश्चात् तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा तुम करो ॥६३॥

प्रस्तुत श्लोक कुरुक्षेत्र की रणभूमि पर दिये गये गीता-प्रवचन का अन्तिम श्लोक माना जा सकता है। संस्कृत में 'इति' शब्द के साथ किसी कथन अथवा उद्धरण की समाप्ति की जाती है। इस दृष्टि से, भगवान् श्रीकृष्ण अपने उपदेश को यहीं पर सम्पूर्ण करते हैं।

'गुह्यात् गुह्य तरम्' – गुह्य या रहस्य उसे कहते हैं, जो अधिकांश लोगों को अज्ञात होता है, किन्तु कुछ विरले लोग उसे जानते हैं। यद्यपि वह अज्ञात होता है, तथापि अज्ञेय नहीं। उसका ज्ञान आप्त पुरुषों (जानकर लोगों) से प्राप्त किया जा सकता है। गीता में आत्मज्ञान का उपदेश दिया गया है। आत्मा द्रष्टा है ; इसलिये वह कभी इन्द्रिय, मन और बुद्धि द्वारा दृश्यरूप में नहीं जाना जा सकता है। इसलिये, कोई व्यक्ति कितना ही बुद्धिमान क्यों न हो, वह स्वयं अपनी बुद्धि के

द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप का आभास तक नहीं पा सकता। इसके लिये गुरु के उपदेश की नितान्त आवश्यकता होती है। सर्वथा इन्द्रिय अगोचर होने के कारण ही यह आत्मज्ञान समस्त लौकिक रहस्यों से भी अधिक गूढ़ है।

गुह्य शब्द का अर्थ यह नहीं होता कि इस ज्ञान का उपदेश किसी को देना ही नहीं चाहिये। परन्तु भारत के पतन काल में कतिपय लोगों ने इसे अपनी वैयक्तिक संपत्ति समझकर 'गुह्य' शब्द की आड़ में अन्य लोगों को इस ज्ञान से वंचित रखा। परन्तु यदि हम अपने धर्मशास्त्रों का समुचित अध्ययन करें, तो यह ज्ञात होगा कि उदार हृदय के ऋषियों ने किसी भी स्थान पर ऐसे रूढ़िवादी लोगों के मत का अनुमोदन नहीं किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जिस पुरुष में सूक्ष्म ज्ञान को ग्रहण करने की मानसिक और बौद्धिक क्षमता नहीं होती, वह इसका अधिकारी नहीं होता। अनधिकारी व्यक्ति को सर्वोच्च ज्ञान देने से वह उसे विपरीत समझकर तथा दोषपूर्ण जीवन जीकर स्वयं की ही हानि कर सकता है।

'इस पर पूर्ण विचार करके' – केवल श्रवण या पठन से ही मनुष्य को "पूर्ण ज्ञान" प्राप्त नहीं हो सकता। ज्ञान सन्देह रहित तथा विपर्यय (मिथ्या धारणाओं) से रहित होना चाहिए। इसलिये, आचार्य से प्राप्त किये गये ज्ञान पर युक्तियुक्त मनन और चिन्तन करने की आवश्यकता होती है। प्रत्येक साधक को स्वयं ही मनन करके प्राप्त ज्ञान की सत्यता का निश्चय करना होता है। भगवान् श्रीकृष्ण नहीं चाहते कि अर्जुन उनके उपदेश को विचार किए बिना ही स्वीकार कर ले। इसलिये, यहाँ वे कहते हैं, "इस पर पूर्ण विचार करके, जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा तुम करो।"

'यथेच्छसि तथा कुरु' – भगवान् श्रीकृष्ण, कर्मयोग की जीवनपद्धति को स्वीकार करने के विषय में अन्तिम निर्णय अर्जुन पर ही छोड़ देते हैं। प्रत्येक पुरुष को स्वेच्छा से ही ईश्वर प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये। इसमें किसी को बाध्य नहीं किया जा सकता; क्योंकि सभी नवीन जन्मों में सहजता या स्वतः प्रवृत्ति अमूल्य गुण माना जाता है। जीवन के समस्त सिद्धान्तों, तथ्यों एवं उपायों को अर्जुन के समक्ष प्रस्तुत करने के पश्चात्, भगवान् श्रीकृष्ण उसे विचारपूर्वक निर्णय लेने के लिये आमन्त्रित करते हैं। अध्यात्म के आचार्यों को चाहिये कि वे किसी प्रकार भी अपने शिष्यों को बाध्य न करें। भारतवर्ष में इस प्रकार बाध्य करके कभी धर्म प्रचार नहीं किया गया है।

भगवान् श्रीकृष्ण आगे कहते हैं।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥६४॥

पुन: एक बार तुम मुझसे समस्त गुह्यों में गुह्यतम परम वचन (उपदेश) को सुनो। तुम मुझे अतिशय प्रिय हो, इसलिए मैं तुम्हें तुम्हारे हित की बात कहूंगा ।।६४।।

सम्भवत:, जब भगवान् ने यह देखा कि अर्जुन अभी भी कुछ निश्चित निर्णय नहीं ले पा रहा है, तब स्नेहवश वे पुन: अपने उपदेश के मुख्य सिद्धान्त को दोहराने का वचन देते हैं। इस पुनरुक्ति का प्रमुख कारण केवल मित्रप्रेम और अर्जुन के हित की कामना ही है।

वह गुह्यतम उपदेश क्या है ?

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।।६५।।

तुम मच्चित्त, मद्भक्त और मेरे पूजक (मद्याजी) बनो और मुझे नमस्कार करो ; (इस प्रकार) तुम मुझे ही प्राप्त होगे ; यह मैं तुम्हें सत्य वचन देता हूँ, (क्योंकि) तुम मेरे प्रिय हो ।।६५।।

भगवत्प्राप्ति के लिये आवश्यक चार गुणों को बताकर, भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को आश्वासन देते हैं, "तुम मुझे प्राप्त होगे।" जब कभी तत्त्वज्ञान के सिद्धांत को संक्षेप में ही कहा जाता है, तब वह इतना सरल प्रतीत होता है कि सामान्य विद्यार्थी-गण उसे गम्भीरता से समझने का प्रयत्न नहीं करते अथवा उसकी सर्वथा उपेक्षा कर देते हैं। इस प्रकार की त्रुटि का परिहार करने के लिए ही भगवान् श्रीकृष्ण पुन: विशेष बल देकर कहते हैं, "मैं तुम्हें सत्य वचन देता हूँ।"

बारम्बार उपदेश देने का कारण यह है कि 'तुम मेरे प्रिय हो।" आध्यात्मिक उपदेश देने में प्रेम की भावना ही समीचीन उद्देश्य है। शिष्य के प्रति प्रेम न होने पर, गुरु के उपदेश में न प्रेरणा होती है और न आनन्द। एक व्यावसायिक अध्यापक तो केवल वेतनभोगी होता है। ऐसा अध्यापक अपने विद्यार्थी वर्ग को न प्रेरणा दे सकता है और न स्वयं अपने हृदय में कृतार्थता का आनन्द अनुभव कर सकता है, जो कि अध्यापन का वास्तविक पुरस्कार है।

किंचित् परिवर्तन के साथ यह श्लोक इसके पूर्व भी एक अध्याय में आ चुका है।[1] यहाँ भगवान् स्पष्ट घोषणा करते हैं कि वे विशुद्ध सत्य का ही प्रतिपादन कर रहे हैं।

'मन्मना भव' – मन का कार्य संकल्प करना है। अत: इसका अर्थ है 'तुम

१. देखिए गीता अ० ९ श्लोक ३४ की व्याख्या।

अपने मन के द्वारा मेरी प्राप्ति का ही संकल्प करो ।"

'मद्भक्तः' – ईश्वर की प्राप्ति का संकल्प केवल संकल्प की अवस्था में ही नहीं रह जाना चाहिये । इस संकल्प को निश्चयात्मक भक्ति में परिवर्तित करने की आवश्यकता होती है अत: "तुम मेरे भक्त बनो ।"

'मद्याजी' – भक्ति प्रेमस्वरूप है । और जहाँ प्रेम होता है वहाँ पूजा का होना स्वाभाविक है । ईश्वर जगत् का कारण होने से सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है । इसलिए ईश्वर की पूजा का अर्थ है–जगत् की नि:स्वार्थ भाव से सेवा करना । भगवान् श्रीकृष्ण यही उपदेश देते हुये कहते हैं, "तुम मद्याजी अर्थात् मेरे पूजक बनो ।"

'मां नमस्कुरु' – गर्व और अभिमान से युक्त पुरुष किसी को विनम्र भाव से प्रणाम नहीं कर सकता है । "मुझे नमस्कार करो"–इस उपदेश का अभिप्राय कर्तृत्वादि अहंकार का त्याग करने से है ।

परमात्मा के गुणों को सम्पादित करने के लिये साधक में नम्रता, श्रद्धा, भक्ति जैसे गुणों की प्रचुरता होनी चाहिये । जल के समान ही ज्ञान का प्रवाह ऊंची सतह से नीची सतह की ओर बढ़ता है । इस श्लोक में वर्णित भक्ति से सम्पन्न कोई भी साधक भगवत्प्राप्ति का अधिकारी बन सकता है ।

"तुम मुझे प्राप्त होगे"–यह भगवान् श्रीकृष्ण का सत्य आश्वासन है ।

श्री शंकराचार्य कहते हैं, "कर्मयोग की साधना का परम रहस्य ईश्वरार्पण बुद्धि है । उस साधना के विषय का उपसंहार करने के पश्चात्, अब कर्मयोग के फलभूत आत्मदर्शन का वर्णन करना शेष है, जो समस्त उपनिषदों का सार है. अत: भगवान् कहते हैं" :

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।६६।।

सब धर्मों का परित्याग करके तुम एक मेरी ही शरण में आओ. मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा, तुम शोक मत करो ।।६६।।

भगवद्गीता के समस्त श्लोकों में यह श्लोक सर्वश्रेष्ठ होते हुये भी अत्यधिक विवादास्पद बन गया है । इस श्लोक की व्याख्या करने में सभी अनुवादकों. भाष्यकारों समीक्षकों और टीकाकारों ने अपनी सम्पूर्ण क्षमता एवं मौलिकता की पूँजी लगा दी है । व्यापक आशय के इस महान् श्लोक के माध्यम से प्रत्येक दार्शनिक ने अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है । श्री रामानुजाचार्य के

अनुसार सम्पूर्ण गीता का यह 'चरम श्लोक' है।

'धर्म' शब्द हिन्दू संस्कृति का हृदय है। विभिन्न सन्दर्भों में इस शब्द का प्रयोग किन्हीं विशेष अभिप्रायों से किया जाता है। यही कारण है कि भारतवर्ष के निवासियों ने इस पवित्र भूमि की आध्यात्मिक सम्पदा का आनन्द उपभोग किया और यहाँ के धर्म को "सनातन धर्म" की संज्ञा प्रदान की।

हिन्दू धर्म शास्त्रों में प्रयुक्त धर्म शब्द की सरल और संक्षिप्त परिभाषा है—"अस्तित्व का नियम"। किसी वस्तु का "वह गुण" जिसके कारण वस्तु का वस्तुत्व सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं, "वह गुण" उस वस्तु का धर्म कहलाता है। उष्णता के कारण अग्नि का अग्नित्व सिद्ध होता है, उष्णता के अभाव में नहीं, इसलिये, अग्नि का धर्म उष्णता है। शीतल अग्नि से अभी हमारा परिचय होना शेष है ! मधुरता चीनी का धर्म है, कटु चीनी मिथ्या है !

जगत् की प्रत्येक वस्तु के दो धर्म होते हैं–(१) मुख्य धर्म (स्वाभाविक), और (२) गौण धर्म (कृत्रिम या नैमित्तिक) गौण धर्मों के परिवर्तन अथवा अभाव में भी पदार्थ यथावत् बना रह सकता है, परन्तु अपने मुख्य (स्वाभाविक) धर्म का परित्याग करके क्षण मात्र भी वह नहीं रह सकता। अग्नि की ज्वाला का वर्ण या आकार अग्नि का गौण धर्म है, जबकि उष्णता इसका मुख्य धर्म है। किसी पदार्थ का मुख्य गुण ही उसका धर्म होता है।

इस दृष्टि से, मनुष्य का निश्चित रूप से क्या धर्म है ? उसकी त्वचा का वर्ण, असंख्य और विविध प्रकार की भावनाएं और विचार, उसका स्वभाव (संस्कार), उसके शरीर, मन और बुद्धि की अवस्थाएं और क्षमताएं–ये सब मनुष्य के "गौण धर्म" ही हैं; जब कि उसका वास्तविक धर्म चैतन्य स्वरूप आत्मतत्त्व है। यही आत्मा समस्त उपाधियों को सत्ता और चेतनता प्रदान करता है। इस आत्मा के बिना मनुष्य का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता। इसलिये, मनुष्य का वास्तविक धर्म सच्चिदानन्दन स्वरूप आत्मा है।

यद्यपि नैतिकता, सदाचार, जीवन के समस्त कर्तव्य, श्रद्धा, दान, विश्व कल्याण की इच्छा--इन सब को सूचित करने के लिये भी धर्म शब्द का प्रयोग किया जाता है; तथापि मुख्य धर्म की उपर्युक्त परिभाषा को समझ लेने पर इन दोनों का भेद स्पष्ट हो जाता है। सदाचार आदि को भी धर्म कहने का अभिप्राय यह है कि उनका पालन हमें अपने शुद्ध धर्म का बोध कराने में सहायक होता है। उसी प्रकार, सदाचार के माध्यम से ही मनुष्य का शुद्ध स्वरूप अभिव्यक्त होता है। इसलिए, हमारे धर्म शास्त्रों में ऐसे सभी शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक कर्मों को धर्म की संज्ञा दी गयी है, जो आत्मसाक्षात्कार में सहायक होते हैं।

इसमें सन्देह नहीं है कि गीता के कतिपय श्लोकों में, भगवान् श्रीकृष्ण ने साधकों को किसी निश्चित जीवन पद्धति का अवलम्बन करने का आदेश दिया है और यह भी आश्वासन दिया है कि वे स्वयं उनका उद्धार करेंगे। उद्धार का अर्थ भगवत्स्वरूप की प्राप्ति है। परन्तु इस श्लोक के समान कहीं भी उन्होंने इतने सीधे और स्पष्ट रूप में, अपने भक्त के मोक्ष के उत्तरदायित्व को स्वीकार करने की अपनी तत्परता व्यक्त नहीं की है।

ध्यानयोग के साधकों को तीन गुणों को सम्पादित करना चाहिए। वे हैं: (१) ज्ञानपूर्वक ध्यान के द्वारा सब धर्मों का त्याग, (२) मेरी (ईश्वर की) ही शरण में आना, और, (३) चिन्ता व शोक का परित्याग करना। इस साधना का पुरस्कार मोक्ष है–"मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूंगा।" यह आश्वासन मानवमात्र के लिये दिया गया है। गीता एक सार्वभौमिक धर्मशास्त्र है; यह मनुष्य की बाइबिल है, मानवता का कुरान और हिन्दुओं का शक्तिशाली धर्मग्रन्थ है।

सर्वधर्मान् परित्यज्य (सब धर्मों का परित्याग करके)–हम देख चुके हैं कि "अस्तित्व का नियम" धर्म है, और कोई भी वस्तु अपने धर्म का त्याग करके बनी नहीं रह सकती। और फिर भी, यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को समस्त धर्मों का परित्याग करने का उपदेश दे रहे हैं। क्या इसका अर्थ यह हुआ कि धर्म की हमारी परिभाषा त्रुटिपूर्ण है? अथवा, क्या इस श्लोक में ही परस्पर विरोधी कथन है? इस पर विचार करने की आवश्यकता है।

आत्मस्वरूप के अज्ञान के कारण मनुष्य अपने शरीर, मन और बुद्धि से तादात्म्य करके एक परिच्छिन्न, मर्त्य जीव का जीवन जीता है। इन उपाधियों से तादात्म्य के फलस्वरूप उत्पन्न द्रष्टा, मन्ता, ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता रूप जीव ही संसार के दुःखों को भोगता है। वह शरीरादि उपाधियों के जन्ममरणादि धर्मों को अपने ही धर्म समझता है। परन्तु, वस्तुतः, ये हमारे शुद्ध स्वरूप के धर्म नहीं हैं। वे गौण धर्म होने के कारण उनका परित्याग करने का यहाँ उपदेश दिया गया है। इनके परित्याग का अर्थ अहंकार का नाश ही है।

इसलिये, समस्त धर्मों का त्याग करने का अर्थ यह हुआ कि "शरीर, मन और बुद्धि की जड़ उपाधियों के साथ हमने जो आत्मभाव से तादात्म्य किया है अर्थात् उन्हें ही अपना स्वरूप समझा है, उस मिथ्या तादात्म्य का त्याग करना।" आत्मनिरीक्षण और आत्मशोधन ही भगवान् श्रीकृष्ण के कथन के गूढ़ अभिप्राय हैं।

'मामेकं शरणं ब्रज (मेरी ही शरण में आओ)'–मन की बहिर्मुखी प्रवृत्ति की विरति तब तक संभव नहीं होती है, जब तक कि हम उसकी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को विकसित होने लिये कोई श्रेष्ठ आलम्बन प्रदान नहीं करते हैं। अपने एकमेव

अद्वितीय, सच्चिदानन्दन आत्मा के ध्यान के द्वारा हम अनात्म उपाधियों से अपना तादात्म्य त्याग सकते हैं।

साधना के केवल निषेधात्मक पक्ष को ही बताने से भारतीय दार्शनिकों को सन्तोष नहीं होता है; निषेधात्मक आदेशों की अपेक्षा विधेयात्मक उपदेशों में वे अधिक विश्वास रखते हैं। भारतीय दर्शन की स्वभावगत विशेषता है, उसकी व्यावहारिकता। और इस श्लोक में हमें यही विशेषता देखने को मिलती है। भगवान् श्रीकृष्ण स्पष्ट घोषणा करते हैं, 'तुम मेरी शरण में आओ, मैं तुम्हें मोक्ष प्रदान करूंगा।"

'मा शुचः (तुम शोक मत करो)'–उपर्युक्त दो गुणों को सम्पादित कर लेने पर साधक को ध्यानाभ्यास में एक अलौकिक शान्ति का अनुभव होता है। परन्तु यह शान्ति भी स्वरूपभूत शान्ति नहीं है। तथापि ऐसे शान्त मन का उपयोग आत्मस्वरूप में दृढ़ स्थिति पाने के लिए करना चाहिये। परन्तु दुर्भाग्य से, आत्मसाक्षात्कार की व्याकुलता या उत्कण्ठा ही इस शान्ति को भंग कर देती है। चिन्ता का स्पर्श पाकर एक स्वाप्निक सेतु के समान यह शान्ति लुप्त हो जाती है। बाह्य विषयों तथा शरीरादि उपाधियों से मन के ध्यान को निवृत्त करके उसे आत्मस्वरूप में समाहित कर लेने पर साधक को "साक्षात्कार की उत्कण्ठा" का भी त्याग कर देना चाहिये।[1] ऐसी उत्कण्ठा भी चरम उपलब्धि में बाधक बन सकती है।

'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि' (मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूंगा)–जो हमारे मन में विक्षेप उत्पन्न करके हमारी शक्तियों को विखेर देता है, वह 'पाप' कहलाता है। हमारे कर्म ही हमारी शक्ति का ह्रास कर सकते हैं, क्योंकि मन और बुद्धि की सहायता के बिना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता है। संक्षेप में, कर्म मनुष्य के अन्तःकरण में वासनाओं को अंकित करते जाते हैं, जिन से प्रेरित हो कर मनुष्य बारम्बार कर्म में प्रवृत्त होता है।

शुभ वासनाएं शुभ विचारों को जन्म देती हैं, तो अशुभ वासनाओं से अशुभ विचार ही उत्पन्न होते हैं। वृत्ति रूप मन है, अतः जब तक शुभ या अशुभ वृत्तियों का प्रवाह बना रहता है, तब तक मन का भी अस्तित्व यथावत् रहता है। इसलिये वासनाक्षय का अर्थ ही वृत्ति शून्यता है, और यही मनोनाश भी है। मन और बुद्धि के अतीत हो जाने का अर्थ ही शुद्ध चैतन्य स्वरूप कृष्णतत्व का साक्षात्कार करना है।

---

१. गीता अध्याय ६. श्लोक २५. "आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्", अर्थात् "आत्मा में मन के समाहित हो जाने पर कुछ भी चिन्तन नहीं करना चाहियें।"

जिस मात्रा में एक साधक अनात्मा से तादात्म्य का त्याग करने और आत्मानुसन्धान करने में सफल होता है, उसी मात्रा में वह इस आत्मदर्शन को प्राप्त करता है। इस नवप्राप्त अनुभव में, वह अपनी सूक्ष्मतर वासनाओं के प्रति अधिकाधिक जागरुक होता जाता है। वासनाओं का यह भान अत्यन्त पीड़ा दायक होता है। अतः, भगवान् श्रीकृष्ण यहां आश्वासन देते हैं, "तुम शोक मत करो। मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूंगा।" मन को विचलित करने वाली, कर्मों की प्रेरक, इच्छा और विक्षेपों को उत्पन्न करने वाली ये वासनाएं ही 'पाप' हैं।

यह श्लोक महत्वपूर्ण है। कारण यह है कि यहाँ स्वयं सर्वशक्तिमान् भगवान् ही ऐसे साधक की सहायता करने की तत्परता दिखाते हैं, जो उत्साह के साथ सर्वसंभव प्रयत्नों के द्वारा अपना योगदान देने को उत्सुक है। साधनाकाल में, यदि साधक अपने मन में दुर्दम्य आशावाद का स्वस्थ वातावरण बनाये रख पाता है, तो अध्यात्म मार्ग में उसकी प्रगति निश्चित होती है। इसके विपरीत, जिस साधक का मन नैराश्य और रुदन, विषाद और अवसाद से भरा रहता है वह कभी पूर्ण हृदय से आवश्यक प्रयत्न कर ही नही सकता है; और, स्वाभाविक ही है कि उसकें आत्मविकास का लक्ष्य कहीं दूर-दूर तक भी दृष्टिगोचर नहीं होता है। गूढ़ अभिप्रायों एवं व्यापक आशयों से पूर्ण यह एक श्लोक ही अपने आप में इस दार्शनिक काव्य गीता का उपसंहार है।

इस अध्याय में सम्पूर्ण गीतशास्त्र के तत्वज्ञान का उपसंहार किया गया है। शास्वसिद्धान्त पर विशेष बल देने के प्रयोजन से, इस श्लोक में पुनः संक्षेप में उसका वर्णन करने के पश्चात्, अब शास्त्रसम्प्रदाय की विधि का वर्णन करते हैं।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ।।६७।।

यह ज्ञान ऐसे पुरुष से नहीं कहना चाहिए, जो अतपस्क (तपरहित) है, और न उसे जो अभक्त है; उसे भी नहीं जो अशुश्रुषु (सेवा में अतत्पर) है और उस पुरुष से भी नहीं कहना चाहिये, जो मुझ (ईश्वर) से असूया करता है, अर्थात् मुझ में दोष देखता है ।।६७।।

प्रायः अध्यात्मक शास्त्र के समस्त ग्रन्थों के अन्तिम भाग में शास्त्रसंप्रदान की विधि अर्थात् ज्ञान के अधिकारी का वर्णन किया जाता है। इसी महान पर-म्परा का अनुसरण करते हुये, इस श्लोक में, भगवान् श्रीकृष्ण बताते हैं कि यह ज्ञान किसे 'नहीं' देना चाहिये। इसी के द्वारा यहां इसका भी बोध कराया गया है

कि ज्ञान के योग्य अधिकारी में कौन से गुण होने चाहिये। इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि इन गुणों के उल्लेख से गीता की ज्ञान निधि के चारों ओर प्राचीरें खड़ी की गई हैं। कोई यह न समझे कि कतिपय लोगों की स्वार्थसिद्धि के लिये और उन्हें इस ज्ञाननिधि के व्यापार का एकाधिकार प्रदान करने के लिये इस सम्प्रदाय विधि का निर्माण किया गया है।

यहाँ उल्लिखित गुणों के अध्ययन से ज्ञात होगा कि साधक के आन्तरिक व्यक्तित्व के सुगठन के लिये इन गुणों का होना आवश्यक है। साधन सम्पन्न साधक ही इस ज्ञान का ग्रहण, धारण एवं स्मरण करने में समर्थ होता है। वही इस ज्ञानानन्द का अनुभव एवं अर्जन करके उसे अपने जीवन में प्रकट कर सकता है।

यह ज्ञान ऐसे पुरुष को नहीं देना चाहिये जो– (१) तपरहित है–शरीर, वाणी और मन का संयम ही तप है जिसके द्वारा हम अपनी समस्त शक्तियों का संचय कर सकते हैं। संयमरूपी तप से रहित पुरुष में इस ज्ञान को ग्रहण करने की मानसिक और बौद्धिक क्षमता ही नहीं होती है। इसलिये, "तप रहित व्यक्ति से ज्ञान नहीं कहना चाहिये", क्योंकि इससे उस व्यक्ति को कोई लाभ नहीं होगा। इस कथन में रंचमात्र भी पूर्वाग्रह और दुराग्रह नहीं है। यह कथन इसी प्रकार का है कि, "कृपया चट्टानों पर बीजारोपण मत करो।" कारण यह है कि कृषक को इससे कोई फसल प्राप्त नहीं होगी।

(२) 'जो अभक्त है'– तपयुक्त हो किन्तु भक्त न हो, तो उस पुरुष से भी यह ज्ञान नहीं कहना चाहिये। जो साधक अपने लक्ष्य के साथ तादात्म्य नहीं कर सकते, उससे प्रेम नहीं कर सकते, वे इस ज्ञान के अधिकारी नहीं हैं। प्रेम के बिना अभाव में त्याग और उत्साह संभव नहीं है। प्रेमालिंगन में अपने आदर्श को बाँध लेना ही भक्ति है।

(३) 'जो अशुश्रुषु (सेवा में अतत्पर) है'– यदि कोई पुरुष तपस्वी और भक्त है, परन्तु गुरुसेवा और जनसेवा करने में संकोच करता है, तो वह भी योग्य विद्यार्थी नहीं कहा जा सकता। भगवान् श्रीकृष्ण ने सम्पूर्ण गीता में निःस्वार्थ सेवा पर विशेष बल दिया है, क्योंकि चित्तशुद्धि का वही सर्व श्रेष्ठ साधन है। स्वार्थी लोग कभी भी इस ज्ञान को ग्रहण नहीं कर पाते हैं और न उसके आनन्द का ही अनुभव कर सकते हैं।

(४) 'जो मुझसे असूया अर्थात् मुझमें दोष देखता है'– गुणों में दोष देखना असूया है, जो लोग ईश्वर, गुरु और शास्त्रप्रमाण में भी दोष देखते हैं, वे किस प्रकार आत्म ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं? "मुझसे असूया का अर्थ "परमात्मा से असूया" है। उसी प्रकार, तत्त्वज्ञान का अनादर करने वाले लोग भी अभ्य-

सूयक ही कहलाते हैं। बल प्रयोग के द्वारा कराये गये धर्म परिवर्तन से उस मत के अनुयायियों का संख्याबल तो बढ़ाया जा सकता है, परन्तु ऐसे प्रयोग से आत्म विकास नहीं कराया जा सकता। किसी के भी ऊपर धर्म को नहीं थोपना चाहिये। यदि तत्वज्ञान के प्रति मन में तिरष्कार का भाव है, तो बुद्धि से उसे समझने पर भी हम उसे अपने जीवन में क्रियान्वित नहीं रह सकते हैं। इसलिये, असूया युक्त पुरुष इस ज्ञान का अधिकारी नहीं है।

इस प्रकार के श्लोकों का प्रयोजन साधकों को साधन मार्ग दर्शाना होता है। गीता के अध्ययन से तत्काल ही किसी लाभ की अपेक्षा नहीं करनी चाहिये। रातोरात व्यक्तित्व का सुगठन नहीं किया जा सकता है। गीता इस प्रकार के चमत्कार का आश्वासन नहीं देती है।

इस श्लोक का अभिप्राय यह हुआ कि तप, भक्ति, सेवाभाव और आदर से युक्त पुरुष ही आत्मज्ञान का उत्तम अधिकारी है। यदि हम शास्त्र के अध्ययन से अधिक लाभान्वित नहीं होते हैं, तो, निश्चय ही हममें किसी आवश्यक गुण का अभाव होना चाहिये। उस स्थिति में आत्मनिरीक्षण के द्वारा हम आत्मशोधन करें। जैसे, दर्पण पर जमी धूल को स्वच्छ कर देने से प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई देता है, उसी प्रकार अन्तःकरण के शुद्ध और स्थिर होने पर आत्मानुभव स्पष्ट होता है।

अब, संप्रदाय के प्रवर्तक एवं प्रचारक को प्राप्त होने वाले फल को बताते हैं:

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

जो पुरुष मुझसे परम प्रेम (परा भक्ति) करके इस परम गुह्य ज्ञान का उपदेश मेरे भक्तों को देता है, वह निःसन्देह मुझे ही प्राप्त होता है ॥६८॥

भगवान् श्रीकृष्ण इस विचाराधीन श्लोक में ज्ञान प्रदाता आचार्य की स्तुति करते हैं। जो आचार्य गीतोपदिष्ट ज्ञान की यथार्थ व्याख्या करके श्रोतृ वर्गको "श्रीकृष्ण की जीवन पद्धति" में प्रवृत्त कर सकता है, वही श्रेष्ठ उपदेष्टा है। 'आन्तरिक हो या बाह्य, अवगुण का नाश करो।" यही भगवान् श्रीकृष्ण का प्रमुख सिद्धान्त है। ऐसे शक्तिशाली सिद्धान्त पर निर्मित संस्कृति का प्रचार करने के लिये केवल पाण्डित्य ही पर्याप्त नहीं है, वरन् उस आचार्य में "श्रीकृष्ण की क्षमता" भी आवश्यक है। इसलिये वे श्रेष्ठ आचार्य को गौरवान्वित करते हैं। जिन साधकों में सम्पूर्ण और शक्तिशाली जीवन जीने की आध्यात्मिक पिपासा है, उन्हें भगवद्गीता विशेष आकर्षक एवं अर्थवान् प्रतीत होती है। अतः यहां कहते हैं, "इस परम गुह्य ज्ञान का उपदेश ऐसे भक्तों को देना चाहिये।" भक्ति का अर्थ है आदर्श के साथ तादात्म्य। जो भक्तगण गीतोपदिष्ट जीवन पद्धति के साथ तादात्म्य

स्थापित करके तदनुसार अपना जीवन निर्मित कर सकते हैं, वे इस ज्ञान के अधिकारी हैं।

यदि शिष्य साधन भक्ति से युक्त होना चाहिए तो गुरु को परम भक्त अर्थात् पराभक्ति से युक्त होना आवश्यक है। ऐसा ब्रह्मनिष्ठ आचार्य जो योग्य शिष्यों को यथार्थ ज्ञान प्रदान करता है, "वह, निःसन्देह, मुझे प्राप्त होता है।"

एक सुशिक्षित पुरुष अपनी कृतज्ञता की भावना के कारण स्वयं को ज्ञान की देवी का ऋणी अनुभव करता है। वस्तुतः, हमारी संस्कृति में इसे ऋषि ऋण कहा गया है। इस ऋण से मुक्त होने के लिए हमें ऋषियों के उपदेश का अध्ययन तदनुसार आचरण एवं ग्रहण किये ज्ञान का अध्यापन करना चाहिये। यह हमारा कर्तव्य है।

दर्शन ही प्रत्येक संस्कृति का अधिष्ठान होता है। हिन्दू संस्कृति का पुनरुत्थान एवं गौरवमय पुनर्प्रतिष्ठान तभी संभव होगा, जब उपनिषदों से प्रतिपादित तत्त्वज्ञान के द्वारा वह पोषित की जायेगी। हमारी संस्कृति के जनक, महान् ऋषिगण इस रहस्य को जानते थे। इसलिए उन्होंने अपने शिष्यों से इस ज्ञान का प्रचार करने के लिये सदैव आग्रह किया है। केवल इसी माध्यम से सामान्य जनों के हृदय को ज्ञानालोक से आलोकित किया जा सकता है। संस्कृति की उन्नति का भी यही प्रमुख साधन है।

यदि कोई विद्यार्थी इस ज्ञान और संस्कृति का अल्पांश भी समझता है, परन्तु उसका प्रसार करने का प्रयत्न नहीं करता है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसमें न बुद्धि की गतिशीलता है और न प्रेरणा की तरलता। परन्तु जो पुरुष गीता के सिद्धान्तों का उपदेश देने में समर्थ है, उसका यहाँ अभिनन्दन करते हैं और उसे अर्वोच्च पुरस्कार का वचन देते हैं कि 'वह, निःसन्देह, मुझे प्राप्त होगा।"

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

न तो उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रिय कार्य करने वाला मनुष्यों में कोई है और न उससे बढ़कर मेरा प्रिय इस पृथ्वी पर दूसरा कोई होगा ॥६९॥

यह भी आचार्य की स्तुति है। यहां भगवान् बताते हैं कि किस प्रकार ऐसा श्रेष्ठ आचार्य भगवत्स्वरूप को प्राप्त होता है। गीताचार्य भगवान् श्रीकृष्ण विशेष बल देकर कहते हैं, "उसके तुल्य इस जगत में मेरा अतिशय प्रिय कार्य करने वाला और कोई नहीं है।" केवल [illegible] ही नहीं, अपितु भविष्य में भी, "उससे अधिक

मेरा प्रिय इस पृथ्वी पर कोई नहीं होगा।"

सम्पूर्ण गीता, में अनेक स्थानों पर इस मनोवैज्ञानिक सत्य को दोहराया गया है कि ध्येयवस्तु से भिन्न समस्त वृत्तियों का परित्याग करके यदि कोई साधक अपने मन को ध्येयवस्तु में एकाग्र या समाहित कर लेता है, तो वह स्वयं ध्येय स्वरूप बनकर अनन्त आत्मा का अनुभव कर सकता है। जो साधक गीता के अध्ययन और चिन्तन-मनन में ही अपने समय का सदुपयोग करता है तथा उसी का प्रचार-प्रसार करता है, तो उसके मन में उस ज्ञान के प्रति अत्यधिक आदर और सम्मान जागृत होता है। फलत:, वह उसके सारतत्व से तादात्म्य करके परम शान्ति का अनुभव करता है, जा परमात्मा का स्वरूप ही है। इसलिये, भगवान् श्रीकृष्ण कहते है, "ऐसे पुरुष से बढ़कर मेरा कोई प्रिय नहीं है ; क्योंकि वह ईश्वर के स्वरूप के ज्ञान का प्रचार करता है। इससे अधिक मेरा अतिशय प्रिय कार्य कोई नहीं है।"

इस सन्दर्भ में, यह ध्यान रहे कि गीताज्ञान के प्रचार के लिये हमें स्वयं उसमें पूर्ण प्रवीणता प्राप्त करने की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। जो कुछ ज्ञान हम ग्रहण कर पाते हैं, उसका तत्काल ही प्रेमपूर्वक प्रचार ऐसे लोगों में करना चाहिये, जो इस विषय से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। प्रचार के साथ ही, हमें इस ज्ञान के अनुसार ही जीवन यापन करना चाहिये – "ऐसा पुरुष मुझे अतिशय प्रिय है।" यह भगवान् श्रीकृष्ण का आश्वासन है।

न केवल उपदेशक, वरन् इस ज्ञान का निष्ठावान् जिज्ञासु विद्यार्थी भी अभिनन्दन का पात्र है। भगवान् कहते हैं :

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ।।७०।।

जो पुरुष, हम दोनों के इस धर्ममय संवाद का पठन करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊँगा – ऐसा मेरा मत है ।।७०।।

गीता के समस्त उपदेष्टाओं को गौरवान्वित करने के पश्चात, अब भगवान् श्रीकृष्ण उन विद्यार्थियों की भी प्रशंसा करते हैं, जो इस पवित्र भगवद्गीता का पठन करते हैं। अनन्तस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण और परिच्छिन्न जीवरूप अर्जुन के इस संवादरूप जीवन के तत्त्वज्ञान का अपना एक प्रबल आकर्षण है। जो लोग केवल इसका सतही पठन ही करते हैं, वे भी शनैः शनैः इसकी पावन गहराइयों में खिंचे चले जाते हैं। ऐसा पाठक अनजाने ही आत्मदेव की तीर्थयात्रा पर चल पड़ता है, और फिर स्वाभाविक ही है कि ज्ञानयज्ञ के द्वारा वह आत्मविकास प्राप्त करता हैं।

कर्मकाण्ड की यज्ञविधि में, एक यज्ञकुण्ड में अग्नि प्रज्वलित करके उसमें अग्निदेवता का आह्वान किया जाता है। तत्पश्चात् यजमान उसमें द्रव्यरूप आहुतियां अर्पण करता है। इसी साम्य से, गीता में इस मौलिक शब्द 'ज्ञानयज्ञ' का प्रयोग किया गया है। अध्यात्मशास्त्रों के अध्ययन तथा उनके तात्पर्यार्थ पर चिन्तन मनन करने से साधकों के मन में 'ज्ञानाग्नि' प्रज्वलित होती है। इस ज्ञानाग्नि में एक विवेकी साधक अपने अज्ञान, मिथ्या धारणाएं एवं दुष्प्रवृत्तियों की आहुतियां प्रदान करता है। रूपक की भाषा में प्रयुक्त इस शब्द 'ज्ञानयज्ञ' का यही आशय है। इसलिये, जो साधकगण श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा प्रज्वलित ज्ञानाग्नि में अपने अहंकार, स्वार्थ एवं अन्य वासनाओं की आहुतियाँ देकर शुद्ध हो जाते हैं, वे पुरुष निश्चय ही, ईश्वर के महान् पूजक और भक्त है। वे सर्वथा अभिनन्दन के पात्र हैं।

अब, इस ज्ञान के श्रोता की भी प्रशंसा करते हुये उसे प्राप्त होने वाले फल को बताते हैं :

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

तथा जो श्रद्धावान् और अनसुयु (दोषदृष्टि रहित) पुरुष इसका श्रवणमात्र भी करेगा, वह भी (पापों से) मुक्त होकर पुण्यकर्मियों के शुभ (श्रेष्ठ) लोकों को प्राप्त कर लेगा ॥७१॥

गीता का विषय दूर से दर्शन करके केवल प्रशंसा करने योग्य नहीं है। गीतोपदिष्ट ज्ञान से पूर्णतया लाभान्वित होने के लिये साधक का व्यक्तित्व सभी स्तरों पर सुगठित होना आवश्यक है। इसलिए, भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ दो गुणों का विशेष रूप से उल्लेख करते हैं जिनसे सम्पन्न श्रोता को श्रवण का सर्वाधिक आनन्द प्राप्त होगा।

'श्रद्धावान्' – श्रद्धा का अर्थ अन्धविश्वास नहीं है। बुद्धि की वह क्षमता श्रद्धा है, जिसके द्वारा मनुष्य – (१) शास्त्रीय शब्दों के सूक्ष्म आशय को समझ पाता है, (२) समझकर उनको धारण कर सकता है; (३) उन्हें पूर्णतया आत्मसात् करने में भी समर्थ होता है; और, (४) इस प्रकार, प्राप्त ज्ञान के अनुसार अपने जीवन को निर्मित कर सकता है। स्वाभाविक है कि श्रद्धावान् पुरुष गुरु के उपदेश से सर्वाधिक लाभान्वित होता है। अज्ञात वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिये उचित प्रमाण की आवश्यकता होती है और उस प्रमाण के सत्यत्व के विषय में

विश्वास की भी। उस विश्वास के बिना ज्ञान की ओर प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती है। प्रमाण में यह विश्वास श्रद्धा कहलाता है।

'अनसुयु' – जैसा कि अनेक स्थानों पर कहा जा चुका है, अनुसूयु का अर्थ है – "वह पुरुष जो गुणों में दोष नहीं देखता है।" इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि हिन्दू धर्म में दर्शनशास्त्र के अध्येताओं को समीक्षा या समालोचना करने की स्वतन्त्रता प्रदान नहीं की गयी है। इसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि शास्त्र के श्रवण या अध्ययन के पूर्व ही हमें उसके विषय में पूर्वाग्रह नहीं बना लेना चाहिये। पूर्वाग्रहों से दूषित बुद्धि सत्य का यथार्थ ज्ञान कदापि प्राप्त नहीं कर सकती।

उक्त दोनों गुणों से सम्पन्न श्रोता को सर्वाधिक लाभ होगा। "वह पापों से मुक्त होकर पुण्यकर्मी लोगों के श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त करता है।" इसका अर्थ यह है कि ऐसा श्रोता पुरुष अपनी वासनाओं से मुक्त हो कर आन्तरिक शांति और आनन्द का अनुभव करता है। आनन्द का साम्राज्य हमारे हृदय में ही स्थित है। उसकी प्राप्ति के लिये सुदूर स्थित कहीं स्वर्ग में जाने की आवश्यकता नहीं है। "अभी और यहीं"–आनन्द की प्राप्ति होती है–यह वेदान्त का सत्य वचन है।

आचार्य का यह कर्तव्य है कि वह यह देखें कि शिष्य ने यथावत् ज्ञान ग्रहण किया है अथवा नहीं। यदि उपदिष्ट साधन मार्ग शिष्य की उन्नति के लिये अनुकूल या पर्याप्त नहीं है, तो आचार्य को ऐसे शिष्य की सहायता करनी चाहिये जिससे कि वह शिष्य अपना सन्तुलन प्राप्त कर सके।

इसलिये, भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से पूछते हैं :

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥७२॥

हे पार्थ ! क्या इसे (मेरे उपदेश को) तुमने एकाग्रचित्त होकर श्रवण किया ? और हे धनञ्जय ! क्या तुम्हारा अज्ञान जनित संमोह पूर्णतया नष्ट हुआ ? ॥७२॥

गीताचार्य भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ अर्जुन से प्रश्न पूछ कर यह जानना चाहते हैं कि उनके उपदेश से वह कितना लाभान्वित हुआ है। यद्यपि उन्हें अपने उपदेश की अमोघता के प्रति कोई सन्देह नहीं था, तथापि वे किसी सफल चिकित्सक के समान, भवरोग से पीड़ित अर्जुन के ही प्रसन्न मुख से स्वास्थ्य लाभ की वार्ता सुनना चाहते हैं।

क्या तुमने मेरे उपदेश को एकाग्रचित्त होकर सुना ?–यह प्रश्न ही सूक्ष्म रूप से दर्शाता है कि यदि तुमने एकाग्रचित्त से वस्तुओं, व्यक्तियों और परिस्थितियों

की कारण परम्परा का श्रवण किया होगा, तो इस ज्ञान को पूर्णतया समझा भी होगा। वेदान्त का अध्ययन हमारी दृष्टि को व्यापक और विशाल बनाता है। इस ज्ञान के प्रकाश में हम 'पूर्व परिचित जगत्" को ही "नवीन दृष्टिकोण" से पहचानने लगते हैं। इस नवीन दृष्टि में जगत् की पूर्वपरिचित समस्त कुरूपताएं लुप्त हो जाती हैं।

क्या तुम्हारा अज्ञानजनित संमोह नष्ट हो गया?–स्वस्वरूप के अज्ञान के कारण हमारे मन में अनेक मिथ्या धारणाएं दृढ़ हो जाती हैं। इन्हीं के कारण जगत् की ओर देखने का हमारा दृष्टिकोण विकृत हो जाता है और उस स्थिति में हमारे निर्णय भी त्रुटिपूर्ण सिद्ध होते हैं। अर्जुन इसी अज्ञानजनित संभ्रम से पीड़ित था, जिसका विस्तृत वर्णन गीता के प्रारम्भिक अध्यायों में किया गया है।[1]

शरीर के रक्षार्थ किसी विषाक्त या दूषित अंग का छेदन करना कोई अपराध नहीं है, वरन् वह शरीर के लिये जीवन प्रदायक वरदान है। सांस्कृतिक अधःपतन के उस काल में कौरवों ने धर्म और संस्कृति के विरुद्ध शस्त्र उठाये थे। उस समय धर्म की रक्षा के लिये वीर अर्जुन का आह्वान किया गया था। परन्तु अज्ञानजनित संमोह के वशीभूत अर्जुन सम्पूर्ण स्थिति का ही त्रुटिपूर्ण मूल्यांकन करके युद्ध से विरत होने लगा। इस भ्रम का कारण सत्य का अज्ञान था। यथार्थ ज्ञान से यह अज्ञान अपने सम्पूर्ण विकारों (विपरीत धारणाओं) के साथ तत्काल समाप्त हो जाता है। इसलिए, भगवान् श्रीकृष्ण के प्रश्न का औचित्य सिद्ध होता है।

सत्य का ज्ञान मनुष्य की कर्म कुशलता के रूप में व्यक्त होता है और उसकी पूर्णता समाज की सेवा में ही है। यदि अर्जुन ने भगवान् के उपदेश को समझ लिया है, तो वह चुनौती का सामना करने में कदापि संकोच नहीं करेगा। यही भगवान् के मन का अकथित अभिप्राय प्रतीत होता है।

भगवान् के प्रश्न का उत्तर देते हुए :

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

---

१. देखिये गीता अ. [illegible] श्लोक ३६ से ४६. और अ. २. श्लोक ४-५.

अर्जुन ने कहा–

हे अच्युत ! आपके कृपाप्रसाद से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे स्मृति (ज्ञान) प्राप्त हो गयी है, अब मैं संशयरहित हो गया हूं और मैं आपके वचन (आज्ञा) का पालन करूंगा ।।७३।।

अर्जुन स्वीकार करता है कि उसका मोह नष्ट हो गया है । "मुझे स्मृति प्राप्त हो गयी है"–इस वाक्य से यह दर्शाया गया है कि उसके मोह की निवृत्ति भगवान् के उपदेश को केवल अन्धश्रद्धा से ग्रहण कर लेने में नहीं हुई है, वरन् पूर्ण विचार करके प्राप्त किये ज्ञान से हुई है । उसके अन्तर का वीरत्व जागृत हो गया है और उसकी सम्मोहावस्था समाप्त हो गयी है ।

जब हम गीता दर्शन के वास्तविक अभिप्राय को पूर्णतया समझ लेते हैं, केवल तभी हम में ज्ञान की जागृति होती है और हम अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान पाते हैं । पूर्णत्व तो हमारा आत्मस्वरूप ही है । उसे किसी देशान्तर या कालान्तर में किसी बाह्य शक्ति के हस्तक्षेप की सहायता से प्राप्त नहीं करना है । केवल अज्ञान के कारण हम स्वयं को जीव समझ कर दु:ख और कष्ट भोग रहे हैं । जीव दशा के कष्टों को भोगते समय भी वस्तुत: हम पूर्ण स्वरूप ही होते है । अत: आवश्यकता केवल सम्यक् आत्मज्ञान की ही है, आत्मा तो नित्योपलब्ध स्वरूप ही है । मनुष्य का देवत्व जागृत होने से उसके अन्तर का पशुत्व समाप्त हो जाता है ।

अपूर्ण ज्ञान की स्थिति में ही मन में शोक, मोह, भय, निराशा, दुर्बलता आदि अनेक सन्देह उत्पन्न होते हैं । अब, अर्जुन को पूर्ण ज्ञान होने के कारण वह सन्देह रहित (गतसन्देह:) भी हो गया है । आत्मज्ञान की दृष्टि से, युद्धभूमि का पुनर्निरीक्षण एवं पुनर्मूल्यांकन करने पर उसे, अब, अपने कर्तव्य को निश्चित करने में कोई कठिनाई नहीं होती है । वह अपने निर्णय की स्पष्ट घोषणा करता है, 'मैं आपके आदेश का पालन करूंगा ।" आत्मस्वरूप श्रीकृष्ण ही 'विशुद्ध बुद्धि' के रूप में व्यक्त होते हैं । अत: समस्त साधकों को अपने अहंकार का त्याग करके अपनी 'विशुद्ध बुद्धि' के निर्णयों का सदैव पालन करना चाहिये । यही आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ है, और समापन भी ।

यहाँ, गीताशास्त्र की परिसमाप्ति होती है । अब, गीताचार्य और गीता की स्तुति करते हुये तथा महाभारत की कथा का संबंध बताते हुये

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ।।७४।।

संजय ने कहा–

इस प्रकार मैंने भगवान् वासुदेव और महात्मा अर्जुन के इस अद्भुत और रोमान्चक संवाद का श्रवण किया ॥७४॥

गीतोपदेश का प्रारम्भ होने के पूर्व,[1] अर्जुन ने कहा था, "मैं युद्ध नहीं करूंगा"। और, उपदेश की समाप्ति पर उसने, पूर्व श्लोक में, यह घोषणा की, "मैं आपके वचन का पालन करूंगा।" इस प्रकार रोग का उपचार पूर्ण हुआ और उसके साथ ही गीताशास्त्र की परिसमाप्ति होती है। इस सन्दर्भ में, ईसा मसीह के कथन का स्मरण होता है। प्राणदण्ड की शूली को ढोते हुये वे जा रहे थे; लोगों की व्यंगोक्तियों से क्षणभर वे "अर्जुन की स्थिति" में पहुंच गये। परन्तु, तत्काल मोह से मुक्त होकर उन्होंने घोषणा की "हे प्रभु! आपकी इच्छा पूर्ण होगी।" अर्जुन के और ईसा मसीह के वाक्यों में कितनी साम्यता है।

मैंने भगवान् वासुदेव और महात्मा अर्जुन का संवाद सुना–अध्यात्म की सांकेतिक भाषा के अनुसार वासुदेव का अर्थ है, सर्वव्यापी चैतन्य स्वरूप आत्मा तथा पार्थ का अर्थ है, जड़ उपाधियों से तादात्म्य किया जीव। जब यह जीव इस मिथ्या तादात्म्य का परित्याग कर देता है, तब वह अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करता है। आत्मानात्म के विवेक की कला ही गीताशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है।

'अद्भुत' – श्रीकृष्णार्जुन के संवाद रूप में श्रवण किये तत्वज्ञान को, संजय, 'अद्भुत' और 'विस्मयकारी' विशेषण देता है। सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा ग्राह्य होने के कारण कोई भी दर्शनशास्त्र आश्चर्यमय ही होता है। परन्तु गीता के तत्व-ज्ञान की अद्भुतता भी कुछ अपूर्व ही है। जो अर्जुन पूर्णतया विघटित और विखण्डित हो चुका था, वही अर्जुन इस ज्ञान को प्राप्त कर सुगठित, पूर्ण और शक्तिशाली बन गया। यह एक उदाहरण ही गीता की कल्याणकारी शक्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसी कारण से गीता को एक अनन्य और अलौकिक आभा प्राप्त हुई है।

गीता में यह स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य अपनी परिस्थितियों का स्वामी है, दास नहीं। उसमें स्वामित्व की यह क्षमता पहले से ही विद्यमान है। जब यह सत्य, उद्घाटित किया जाता है, तब संजय के लिये यह स्वाभाविक है कि वह आनन्दविभोर होकर इसे 'अद्भुत' कह उठे।

---

1. गीता अ. २. श्लोक ६.

'महात्मा अर्जुन' – संजय इस श्लोक में अर्जुन को गौरवान्वित करता है, पार्थसारथि भगवान् श्रीकृष्ण को नहीं। भाव यह है कि यदि कोई छोटा बालक कठिन काम करके दिखाता है, तो वह स्तुति और अभिनन्दन का पात्र होता है। परन्तु वही कार्य कोई नवयुवक करके दिखाये, तो उसमें कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं होती है। इसी प्रकार, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान भगवान् श्रीकृष्ण के लिये गीता का उपदेश देना बच्चों का खेल है, जब कि मोह और भ्रम में फँसे अर्जुन का उस स्थिति से बाहर निकल कर आना, वास्तव में एक उपलब्धि है। उसका यह साहस और वीरत्व प्रशंसनीय है।

संजय की सहानुभूति सदैव पाण्डवों के साथ ही थी। परन्तु वह धृतराष्ट्र का नमक खा रहा था, इसलिये अपने स्वामी के साथ निष्ठावान रहना उसका कर्तव्य था। उस समय की राजनीति के अनुसार केवल धृतराष्ट्र ही इस युद्ध को रोक सकता था। और, इसलिये, संजय यथासंभव सूक्ष्म संकेत करता है कि अर्जुन पुनः अपनी वीरतापूर्ण स्थिति में आ गया है, जिसका परिणाम होगा–धृतराष्ट्र के एक सौ पुत्रों का विनाश, वृद्धावस्था में पुत्रवियोग की पीड़ा और असम्मान का कलंकित जीवन। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि लड़खड़ाते धृतराष्ट्र की 'अन्धता' केवल नेत्रों की ही नहीं, वरन् मन और बुद्धि की भी थी, क्योंकि संजय के अनुनय विनय के नैतिक संकेतों का उस अन्ध राजा के बधिर कानों पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है।

महर्षि वेदव्यास के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करते हुये संजय कहता है:

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ।।७५।।

व्यास जी की कृपा से मैंने इस परम गुह्य योग को साक्षात् कहते हुये स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान् से सुना है ।।७५।।

महाभारत युद्ध के प्रारम्भ होने से पूर्व, महर्षि व्यासजी ने धृतराष्ट्र को दिव्य दृष्टि का वरदान देने की अपनी इच्छा प्रकट की थी। परन्तु धृतराष्ट्र में उस वरदान को स्वीकार करने का साहस नहीं था। अतः धृतराष्ट्र के अनुरोधानुसार युद्ध का सम्पूर्ण वृतान्त जानने के लिये संजय को दिव्यदृष्टि प्रदान की गयी। इस प्रकार, संजय सम्पूर्प युद्धभूमि को देख सकने तथा वहां के संवादों को सुनने में भी

समर्थ हुआ था। वैभवशाली राज प्रासाद में बैठकर वही अन्ध धृतराष्ट्र को युद्ध का वृत्तान्त सुनाता था। श्रीकृष्णार्जुन के संवाद के द्वारा परम गुह्य ज्ञान के श्रवण का सुअवसर पाकर संजय कृतार्थ हो गया था। स्वाभाविक है कि वह सिद्ध कपि महर्षि व्यास जी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है और वह मन ही मन महाभारत के रचयिता, अतुलनीय सिद्ध कवि वेदव्यासजी को प्रणाम करता है।

'साक्षात् योगेश्वर श्रीकृष्ण से सुना'–ऐसी बात नहीं है कि संजय ने इसके पूर्व कभी औपनिषदिक ज्ञान को सुना ही नहीं था, जिससे कि वह इस अवसर पर विस्मय-विमुग्ध हो जाय। उसके आनन्द का यह कारण था कि उसे इस ज्ञान का श्रवण करने का ऐसा अवसर मिला, जब साक्षात् योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही इस ज्ञान का उपदेश अपने मुखारविन्द से दे रहे थे।

यहां, पुन:, संजय का प्रयत्न धृतराष्ट्र को यह सूचित करना है कि गीताचार्य श्रीकृष्ण कोई देवकी-पुत्र गोपबाल ही नहीं थे, वरन् वे सर्वशक्तिमान् परमात्मा ही थे। स्वयं उन्होंने ही अर्जुन को मोहनिद्रा से जगाया था और वे अपने भक्त के रथ सारथी के रूप में कार्य भी कर रहे थे। वह अन्ध राजा को स्मरण कराता है कि यद्यपि धृतराष्ट्र पुत्रों की सेना पाण्डवों की सेना से अधिक विशाल और शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित थी, तथापि उनका विनाश अवश्यंभावी था, क्योंकि उन्हें अपने शत्रुपक्ष में स्वयं अनन्त परमात्मा का ही सामना करना था।

संजय आगे कहता है :

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

हे राजन् भगवान् केशव और अर्जुन के इस अद्भुत और पुण्य (पवित्र) संवाद को स्मरण करके मैं बारम्बार हर्षित होता हूं ॥७६॥

ईश्वरीय काव्य गीता को श्रवण करके संजय इस श्लोक में अपनी स्पष्ट प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहता है कि भगवान् केशव और मानव अर्जुन सम्पूर्ण एवं अपूर्ण, 'उच्च' एवं निम्न के मध्य यह संवाद 'अद्भुत' और "पुण्य-पवित्र" है। संजय द्वारा श्रवण किया गया गीता का ज्ञान इतना गंभीर और आकर्षक रूप से बोधगम्य था कि वह उसे पुन: पुन: स्मरण करके अपने हृदय में बारम्बार हर्षित हो रहा था।

गीता "जीवन जीने की कला" को बताने वाली सूचनाओं की निर्देशिका है

अत:, यहां भी महर्षि व्यासजी अप्रत्यक्ष रूप से हमें साधन-मार्ग का संकेत करते हैं। 'संस्मृत्य' (स्मरण करके) शब्द के द्वारा वे यह दर्शाते हैं कि साधक को श्रवण करने के पश्चात्, बारम्बार मनन, अर्थात् प्राप्त ज्ञान पर चिन्तन करना चाहिये। सम्यक् ज्ञान का फल हर्ष होगा।

गर्भ से शवामर्त तक की निरर्थक जीवन यात्रा में, जब मनुष्य कोई निश्चित दिव्य लक्ष्य देख लेता है, तब वह प्रसन्न हो जाता है। गीता का अध्ययन न केवल हमारे दैनिक जीवन को ही अर्थवन्त बना देता है, बरन् सम्पूर्ण जगत को एक निश्चयात्मक आशा और आनन्द का सन्देश भी देता है। गीता हमें जीवन की अंधेरी गलियों से उठाकर, अपने आन्तरिक साम्राज्य के राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित कर देती है। वह मनुष्य को अपनी परिस्थियों का सम्राट बना देती है। अज्ञान दशा में मनुष्य के जीवन का अर्थ केवल वस्तुओं और प्राणियों के आविर्भाव और तिरोभाव रूपी मृत्यु का विक्षिप्त नृत्य ही होता है; परन्तु गीता-ज्ञान से शिक्षित पुरुष उसी दिन प्रतिदिन के सामान्य जीवन में एक 'लय' को पहचानता है, सुन्दरता का अवलोकन करता है और मधुर संगीत का श्रवण करता है।

विश्वरूप दर्शन का स्मरण करते हुये संजय कहता है :

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

हे राजन्! श्री हरि के अति अद्भुत रूप को भी पुन: पुन: स्मरण करके मुझे महान् विस्मय होता है और मैं बारम्बार हर्षित हो रहा हूं ॥७७॥

भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपना विश्वरूप दर्शाया था जिसका यहां संजय स्मरण कर रहा है।[1] सहृदय व्यक्ति के लिये यह विश्वरूप इतना ही प्रभावकारी है, जितना की गीता का ज्ञान एक बुद्धिमान् व्यक्ति के लिये अविस्मरणीय है। वेदों में वर्णित "विराट् पुरुष" का दर्शन चौंका देने वाला है और गीता में, नि:सन्देह, वह अति प्रभावशाली है। परन्तु कोई आवश्यक नहीं है कि यह महर्षि व्यासजी की केवल काव्यात्मक कल्पना ही हो; दूसरे भी अनेक लोग हैं, जिनके अनुभव भी प्राय: इसी के समान ही हैं।[2]

यदि गीता का तत्त्वज्ञान, मानव जीवन के गौरवशाली प्रयोजन को उद्घाटित करते हुए मनुष्य के बौद्धिक पक्ष को अनुप्राणित और हर्षित करता है, तो

१. देखिये गीता अ. ११, श्लो. ५ से ४७
२. देखिये "Studies in the History and Method of Science" Edited by Charles Singer (१९३७)

प्रत्येक नाम-रूप, अनुभव और परिस्थिति में मन्दस्मित वृन्दावनविहारी भगवान् श्री कृष्ण का दर्शन प्रेमरस से मदोन्मत्त भक्तों के हृदयों को जीवन प्रदायक हर्ष से आह्लादित कर देता है।

मेरा ऐसा विचार है कि यदि संजय को स्वतन्त्रता दी जाती, तो उसने श्रीमद्भगवद्गीता पर एक संपूर्ण 'संजय गीता' की रचना कर दी होती ! जब ज्ञान के मौन से बुद्धि हर्षित होती है, और प्रेम के आलिंगन में हृदय उन्मत्त होता है, तब मनुष्य अनुप्राणित कृतकृत्यता के भाव में आप्लावित हो जाता है।

कृतकृत्यता के सन्तोष का वर्णन करने में भाषा एक दुर्बल माध्यम है; इसलिये, अपनी मन की प्रबलतम भावना का और अधिक विस्तार किये बिना, संजय अपने दृढ़ विश्वास को, गीता के इस अन्तिम एक श्लोक में, सारांशतः घोषित करता है :

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीविजयो भूतिध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।।७८।।

जहां योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहां धनुर्धारी अर्जुन है वहीं पर श्री, विजय, विभूति और ध्रुव नीति है, ऐसा मेरा मत है ।।७८।।

सात सौ एक श्लोकों वाली श्रीमद्भगवद्गीता का यह अन्तिम श्लोक है। अधिकांश व्याख्याकारों ने इस श्लोक पर पर्याप्त विचार नहीं किया है और इस की उपयुक्त व्याख्या भी नहीं की है। प्रथम दृष्टि में इस का शाब्दिक अर्थ किसी भी बुद्धिमान पुरुष को प्रायः निष्प्राण और शुष्क प्रतीत होगा। आखिर इस श्लोक में संजय केवल अपने विश्वास और व्यक्तिगत मत को ही तो प्रदर्शित कर रहा है, जिसे गीता के पाठक स्वीकार करें ही, ऐसी कोई आवश्यकता नहीं है। संजय का कथन यह है कि "जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण और धनुर्धारी अर्जुन हैं, वहाँ समृद्धि (श्री), विजय, विस्तार और अचल नीति है, यह मेरा मत है।"

यदि संजय का उद्देश्य अपने व्यक्तिगत मत को हम पर थोपने का होता, और इस श्लोक में किसी विशेष सत्य का प्रतिपादन नहीं किया होता, तो 'सार्वभौमिक शास्त्र' के रूप में गीता को प्राप्त मान्यता समाप्त हो गयी होती।

पूर्ण सिद्ध महर्षि व्यास इस प्रकार की त्रुटि कभी नहीं कर सकते थे. इस श्लोक का गम्भीर आशय है, जिसमें अकाट्य सत्य का प्रतिपादन किया गया है।

'योगेश्वर श्रीकृष्ण' – सम्पूर्ण गीता में, श्रीकृष्ण चैतन्य स्वरूप आत्मा के

ही प्रतीक हैं। यह आत्मतत्व ही वह अधिष्ठान है, जिस पर विश्व की घटनाओं का खेल हो रहा है। गीता में उपदिष्ट विविध प्रकार की योग विधियों में से किसी भी विधि से अपने हृदय में स्थित उस आत्मतत्व का साक्षात्कार किया जा सकता है।

'धनुर्धारी पार्थ' – इस ग्रन्थ में, पृथापुत्र अर्जुन "एक भ्रमित, परिच्छिन्न, असंख्य दोषों से युक्त जीव" का प्रतीक है। जब वह अपने प्रयत्न और उपलब्धि के साधनों (धनुष बाण) का परित्याग करके शक्तिहीन आलस्य और प्रमाद में बैठ जाता है, तो निःसन्देह, वह किसी प्रकार की सफलता या समृद्धि की आशा नहीं कर सकता है। परन्तु जब वह "धनुष् धारण करके अपने कार्य में तत्पर" हो जाता है, तब हम उसमें "धनुर्धारी पार्थ" के दर्शन करते हैं, जो सभी चुनौतियों का सामना करने के लिये तत्पर है।

इस प्रकार, योगेश्वर श्रीकृष्ण और धनुर्धारी अर्जुन के इस चित्र से आदर्श जीवन पद्धति का रूपक पूर्ण हो जाता है। आध्यात्मिक ज्ञान और शक्ति से सम्पन्न कोई भी पुरुष जब अपने कार्यक्षेत्र में प्रयत्नशील हो जाता है, तो कोई भी शक्ति उसे सफलता से वंचित नहीं रख सकती। संक्षेप में, गीता का यह मत है कि आध्यात्मिकता को अपने व्यावहारिक जीवन में जिया जा "सकता है," और अध्यात्म का वास्तविक ज्ञान जीवन संघर्ष में रत मनुष्य के लिए अमूल्य सम्पदा है।

आज समाज में सर्वत्र एक दुर्व्यवस्था और अशांति फैली हुई दृष्टिगोचर हो रही है। वैज्ञानिक उपलब्धियों और प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त कर लेने पर भी, आज का मानव, जीवन की आक्रामक घटनाओं के समक्ष दीन-हीन और असहाय हो गया है। इसका एकमात्र कारण यह है कि उसके हृदय का योगेश्वर उपेक्षित रहा है। मनुष्य की उन्नति का मार्ग है, लौकिक सामर्थ्य और आध्यात्मिक ज्ञान का सुखद मिलन। यही गीता में उपदिष्ट मार्ग है। मनुष्य के सुखद जीवन के विषय में श्री वेद व्यास जी की यही कल्पना है। केवल भौतिक उन्नति से जीवन में गति और सम्पत्ति तो आ सकती है, परन्तु मन में शान्ति नहीं। "आन्तरिक शान्ति रहित समृद्धि एक निर्मम और घोर अनर्थ है!"

परन्तु यह श्लोक दूसरे अतिरेक को भी स्वीकार नहीं करता है। कुरुक्षेत्र के समरांगण में युद्ध के लिए तत्पर धनुर्धारी अर्जुन के बिना योगेश्वर श्रीकृष्ण कुछ नहीं कर सकते थे। केवल आध्यात्मिकता की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति से हमारा भौतिक जीवन गतिशील और शक्तिशाली नहीं हो सकता। सम्पूर्ण गीता में व्याप्त "सामञ्जस्य के इस सिद्धांत" को मैंने यथाशक्ति एवं यथासंभव सर्वत्र स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। मनुष्य के चिरस्थायी सुख का यही एक मार्ग है।

संजय इसी मत की पुष्टि करते हुए कहता है कि जिस समाज या राष्ट्र के लोग संगठित होकर कार्य करने, विपत्तियों को सहने अलक्ष्य प्राप्त करने के लिये तत्पर हैं (धनुर्धर अर्जुन), और इसी के साथ ये लोग अपने हृदय में स्थित आत्म-तत्त्व के प्रति जागरूक हैं (योगेश्वर श्रीकृष्ण), तो ऐसे राष्ट्र में समृद्धि, विजय, भूति (विस्तार) और दृढ़ नीति होना स्वाभाविक और निश्चित है।

समृद्धि, विजय विस्तार और दृढ़ नीति का उल्लिखित क्रम भी तर्कशुद्ध है। विश्व इतिहास के समस्त विद्यार्थियों को इसकी युक्तयुक्तता स्पष्ट दिखाई देती है। अर्वाचीन काल और राजनीति के सन्दर्भ में, हम यह जानते हैं कि किसी एक विवेकपूर्ण दृढ़ राजनीति के अभाव में कोई भी सरकार राष्ट्र को प्रगति के मार्ग पर आगे नहीं बढ़ा सकती। दृढ़ नीति के द्वारा ही राष्ट्र की प्रसुप्त क्षमताओं का 'विस्तार' सम्भव होता है, और केवल तभी परस्पर सहयोग और बन्धुत्व की भावना से किसी प्रकार की उपलब्धि प्राप्त की जा सकती है। दृढ़ नीति और क्षमताओं के 'विस्तार' के साथ 'विजय' कोई दूर नहीं रह जाती। और इन तीनों की उप-स्थिति में राष्ट्र का 'समृद्धशाली' होना निश्चित ही है। आधुनिक राजनीति के सिद्धान्तों में भी इससे अधिक स्वस्थ सिद्धान्त हमें देखने को नहीं मिलता है।

अत यह स्पष्ट हो जाता है कि यह केवल संजय का ही व्यक्तिगत मत नहीं है, वरन् सभी आत्मसंयमी तत्वचिन्तकों का ही यह दृढ़ निश्चय है।

गीता के अनेक व्याख्याकार, हमारा ध्यान गीता के प्रारंभिक श्लोक के प्रथम शब्द 'धर्म' तथा इस अन्तिम श्लोक के अन्तिम शब्द 'मम' की ओर आकर्षित करते हैं। इन दो शब्दों के मध्य सात सौ श्लोकों के सनातन सौन्दर्य की यह माला धारण की गयी है। अत: इन व्याख्याकारों का यह मत है कि गीता का प्रतिपाद्य विषय है "मम धर्म" अर्थात् मेरा धर्म। "मम धर्म" से तात्पर्य मनष्य के तात्त्विक स्वरूप और उसके लौकिक कर्तव्यों से है। जब इन दोनों का गरिमामय समन्वय किसी एक पुरुष में हो जाता है, तब उसका जीवन आदर्श बन जाता है। इसलिए, गीता के अध्येताओं को चाहिये कि उनका जीवन आत्मज्ञान, प्रेमपूर्ण जनसेवा एवं त्याग के समन्वय से युक्त हो। यही आदर्श जीवन है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥

इस प्रकार, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद के रूप में ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रस्वरूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् का मोक्षसंन्यासयोग नामक अठारहवाँ अध्याय समाप्त होता है।

इस अन्तिम अध्याय का शीर्षक "मोक्षसंन्यासयोग" है। यह नाम हमें वेदान्त के अस्पर्शयोग का स्मरण कराता है, जिसकी परिभाषा भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में दी है।[1] जीवन के असत् मूल्यों का परित्याग करने का अर्थ ही अपने स्वतः सिद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप का साक्षात्कार करना है। हममें स्थित पशु का त्याग (संन्यास) करना ही, हममें स्थित दिव्यतत्त्व का मोक्ष है।

॥ ॐ तत्सत् ॥

"मेरे सद्गुरु स्वामी तपोवनजी महराज को समर्पित"।

ॐ

---

१. गीता अ० ६ श्लोक २३ "दुःखसंयोगवियोगयोग।"

स

चिन्मय प्रकाशन

संस्कृत भाषा में लिखे शास्त्रों का ज्ञान सहस्रों वर्षों से केवल भारत के पुजारी वर्ग को ही उपलब्ध था। वर्तमान काल में स्वामी चिन्मयानन्द ही एकमात्र ऐसी शक्ति हैं जिन्होंने उस ज्ञान को साधारण भारतीय जनता के घर-घर पहुँचा दिया है।

श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषद् और वेदान्त पर तीस से अधिक ग्रन्थों की रचना करने वाले स्वामी जी भारत भर में और विदेशों में भी निरन्तर विचरण करते हुए उस ज्ञान की तर्कसंगत व्याख्या जनसाधारण की भाषा में करते हैं।

स्वामी चिन्मयानन्द जी अपने किसी व्यक्तिगत मत का या अपनी किसी विशेष विधि का प्रतिपादन नहीं करते हैं। वे तो सभी धर्मों के मूल में विद्यमान वेदांत दर्शन की शिक्षा देते हैं। धर्म विषयक नाना संशयों में पड़े व्यक्तियों का वे मार्ग-दर्शन करते हैं। कर्मकांड के खोखलेपन की, रूढ़िवादी परम्पराओं की और नाना प्रकार के अंधविश्वासों की निन्दा करते हैं। वे किसी शास्त्र या सन्त को केवल लोकमत के आधार पर स्वीकार नहीं करते।

स्वामी चिन्मयानन्दजी को हरवर्ड, येल, स्टेनफोर्ड, वर्कले, यू सी एल ए, न्यू-यार्क विश्वविद्यालय, कोलम्बिया, एम आई टी, बोस्टन कालेज तथा यूरोप के अन्य कई विश्वविद्यालय में व्याख्यानों के लिए आमन्त्रित किया गया है। यूरोप, एशिया तथा पूर्व के अनेक विद्यालयों में उनके भाषण हुए हैं और श्रोताओं ने उनकी प्रशंसा मुक्त कण्ठ से की है।

स्वामी चिन्मयानन्दजी के व्याख्यानों में वैचारिक गंभीरता और सरसता समान रूप से रहती है। भारत में हजारों व्यक्ति उनके प्रवचन नित्य सुनते हैं। उनके प्रवचन युक्तिसंगत होने के कारण श्रोताओं के मन-बुद्धि पर अमिट प्रभाव छोड़ जाते हैं।

चिन्मय साहित्य पढ़िये

भारत के धर्मशास्त्र, अपने गम्भीर विचार, युक्तियुक्तता, और स्पष्टता के

लिए जगत् विख्यात हैं। स्वामीजी ने उनकी व्याख्या अंग्रेजी में इस उद्देश्य से की कि संसार के अधिकाँश लोग उनसे लाभान्वित हो सकें। उनकी उपयोगिता को देखकर भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में उनकी मांग होने लगी। अत: उन भाषाओं में अनुवाद करना आवश्यक हो गया। हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है। उसमें यह मूल्यवान् साहित्य उपलब्ध होना अनिवार्य समझकर उसके प्रकाशन की व्यवस्था की गयी।

हजारों साधक बिना समुचित मार्ग-दर्शन प्राप्त किये भटकते रहते हैं। बहुत अधिक श्रम करने पर भी उन्हें तत्त्व की उपलब्धि नहीं होती है। स्वामीजी के ये ग्रन्थ उन्हें साधिकार मार्ग-दर्शन करते हैं, उन्हें एक सीधे रास्ते पर लाते हैं और सहारा देते हुए तत्त्वज्ञान की ऊँचाई पर पहुँचा देते हैं।

इन ग्रन्थों के अध्ययन करने की क्रमिक योजना है जो लगभग तीन वर्ष में पूरी होती है। उसमें एक-एक पुस्तक को थोड़ा-थोड़ा पढ़ने की अनुमति दी जाती है और पिछले अध्ययन के आधार पर आगे आनेवाले उच्च ज्ञान की नीव तैयार होती है।

उपनिषद्

भारतीय दर्शन का मूल स्रोत उपनिषदों में विद्यमान है। उनमें ईश्वर-दर्शन प्राप्त गुरु और अधिकारी शिष्यों के बीच जीवन के गंभीर विषयों पर वार्तालाप के रूप में चिन्तन किया गया है। उपनिषदों में वैदिक ज्ञान अपनी पूर्णता पर पहुँच गया है। ये उपनिषद् संख्या में बहुत हैं। लगभग तीन हजार वर्ष तक भारतीय दर्शन, धर्म और जीवन पर ये उपनिषद् छाये रहे। मैक्स मूलर के शब्दों में ये उपनिषद् मानवीय ज्ञान की पूर्णता के प्रतीक हैं। उनका अध्ययन व्याख्या की सहायता से बड़ी सावधानी से करना चाहिये जिससे उन्हें सही अर्थों में समझ कर उनसे लाभ उठाया जा सके।

मुण्डकोपनिषद्

यह उपनिषद् मूल में ही बहुत अधिक स्पष्ट है। इसमें अधिक[illegible] लक्षण, जीवन, जगत् और परम तत्त्व की व्याख्या विस्तार से की गई है। इसके अध्ययन से बाह्य जगत् की मिथ्या आसक्ति मिट जाती है। ध्यान के लि[illegible] दिये गये व्यावहारिक निर्देश बहुत स्पष्ट और उपयोगी हैं।

प्रश्नोपनिषद्

छः योग्य शिष्य एक सिद्ध गुरु के सामने जीवन और परम तत्त्व के सम्बन्ध में गंभीर प्रश्न उपस्थित करते हैं। उनके उत्तर क्रमबद्ध रूप में बड़े सुन्दर ढंग से दिये गये हैं। जिज्ञासुओं का मन अन्तर्मुखी, स्वच्छ और व्यवस्थित है। वे सत्य की व्याख्या सुनकर दिव्य आनन्द से प्रदीप्त हो उठते हैं।

अन्य पुस्तकें

जीवन ज्योति

यह 'किंडिल लाइफ' का अनुवाद है। यह वेदान्त के विद्यार्थियों की प्रारम्भिक पुस्तक है। 'चिन्मय अध्ययन क्रम' में इसे प्रथम स्थान प्राप्त है। इसमें धर्म और दर्शन के विषय में प्रारम्भिक ज्ञान दिया गया है, जो उपनिषद् और वेदांत ग्रन्थों के समझने के लिये बहुत उपयोगी है।

आत्म-बोध

यह ग्रन्थ भगवान् शंकराचार्य द्वारा लिखा गया है। यह श्लोकबद्ध रचना है। प्रत्येक श्लोक में वाह्य जगत् से एक दृष्टान्त दिया गया है। इसमें नैतिक गुण, पंचभूत, तीन शरीर, पंचकोश, आत्मा और ब्रह्म का बड़ा सुन्दर दिग्दर्शन किया गया है। स्वामी जी की व्याख्या के साथ इसका अध्ययन कर वेदान्त का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। साधक इसकी सहायता से आत्म-स्वरूप का बोध पाकर आनन्द परिपूर्ण हो जाता है।

भज-गोविन्दम्

यह भगवान् शंकराचार्य की लोक प्रसिद्ध रचना है। इसे मोह मुद्गर भी कहते हैं। इसके अध्ययन से जीवन विषयक बहुत सी भ्रांतियां नष्ट होती हैं। उसका अध्ययन कर कोई भी संसार में अधिक बुद्धिमानीपूर्वक जीवन जीना सीख सकता है। मनुष्य के दुखों का कारण और उनके निवारण का उपाय बहुत सुन्दर ढंग से बताया गया है।

नारद भक्ति सूत्र

अपने हृदय में विराजमान अपने परम प्रभु से पराभक्ति प्राप्त करने का साधन स्पष्ट और सरल ढंग से बताया गया [illegible] भक्ति के

दर्शन पर लिखा गया यह ग्रन्थ देवर्षि नारद प्रणीत कहा जाता है। वे स्वयं भक्ति में भली भांति आरूढ़ हैं और उसके मर्म को समझने वाले हैं। भक्ति मार्ग पर अग्रसर होने वाले साधकों को इससे अपूर्व लाभ हो सकता है। स्वामी चिन्मयानंद जी ने इस ग्रन्थ के प्रत्येक सूत्र पर भाष्य लिखकर अत्यधिक सरल बना दिया है। भक्ति मार्ग भी तर्कसंगत और वैज्ञानिक है। उसके रहस्य को समझकर उसे जीवन में उतारना सहज स्वाभाविक हो जाता है।

पुरुष सूक्त

यह ऋक् वेद से ली गई विश्वरूप परमात्मा की प्रार्थना है। इसके अध्ययन से बुद्धि में विश्वरूप भगवान् अवतरित होता है और उसमें समस्त सृष्टि और प्राणी एक सूत्र में पिरोये अनुभव होते हैं। इससे व्यक्ति और समष्टि का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है और साधक की भावना में विकास होता है। बहुत से साधक इसका नित्य पाठ करते हैं। इस पर स्वामी चिन्मयानन्द जी की व्याख्या वैदिक संस्कृति की दुरुहता को सरल कर देती है।

मानव निर्माण कला

स्वामी चिन्मयानन्द जी ने बालकों और युवकों के लिये भी जीवन को उदात्त बनाने वाला साहित्य तैयार किया है। उन्होंने गीता के आधार पर कुछ प्रवचन रेडियो पर प्रसारित किये थे। एक प्रवचन पांच मिनट का समय लेता है। इस प्रकार एक सौ आठ प्रवचन इस ग्रन्थ में संग्रहीत हैं। मातायें इसका एक प्रवचन अपने बालकों को नित्य सुनाकर उनमें शुभ संस्कार अंकुरित कर सकती हैं।

बालगीता

जैसा नाम से ही ज्ञात होता है, यह पुस्तक बालकों के लिये है। गीता के तात्पर्य को इसमें स्वामी जी ने अत्यन्त सरल भाषा में समझाया है। इसमें गीता के सभी अठारह अध्यायों का सार आ गया है। इसका अध्ययन करने वाले बालक निश्चय ही जीवन के उच्च मार्ग पर अग्रसर होंगे और अद्भुत सफलता प्राप्त करेंगे। जिन प्रौढ़ व्यक्तियों ने अभी तक गीता का अध्ययन नहीं किया और उसे कठिन ग्रन्थ समझते रहे, उन्हें भी इस पुस्तक से बहुत लाभ हो सकता है। इसके अभ्ययन से एक ऐसी पुष्ठभूमि तैयार हो जायगी जिससे वे मूल गीता और उस पर स्वामी जी की व्याख्या सरलता [illegible] सकेंगे

श्रीमद्भगवद्गीता

इसमें गीता के संस्कृत श्लोक, हिन्दी में सरल अनुवाद और स्वामी चिन्मयानन्द जी की व्याख्या सविस्तार दी हुई है। जिन व्यक्तियों ने गीता ज्ञान यज्ञ में स्वामी जी के प्रवचन सुने हैं वे निश्चय ही सम्पूर्ण गीता पर स्वामी जी के विचार जानना चाहते हैं। यह ग्रन्थ उनके लिए उपयोगी होगा।

जिन व्यक्तियों ने गीता पर अनेक भाष्य पहले ही पढ़े हैं, वे भी स्वामी जी का यह भाष्य अवश्य पढ़ें। इसके द्वारा उन्हें गीता को वास्तविक अर्थ में समझने में सहायता मिलेगी और अपने जीवन को भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेश के अनुसार बनाने की प्रेरणा भी प्राप्त होगी। वर्तमान परिस्थितियों में गीता हमारे जीवन का आधार कैसे हो सकता है, यह तथ्य इसके अध्ययन से स्पष्ट समझ में आ जायगा।

ब्रह्मचारी विवेक चैतन्य की व्याख्यायें

उपदेश सार

वेदान्त एक गहन गम्भीर विषय है जिसका सरलतासे निरूपण करना कठिन कार्य है; परन्तु भगवान् रमण महर्षि ने इस गम्भीर विषय को अपने उपदेश सार नामक ग्रन्थ में अत्यन्त सरल, सुन्दर एवं आकर्षक रूप में प्रस्तुत किया है। इसके छोटे-छोटे श्लोक बड़े मधुर और गेय हैं। उनका शब्दानुवाद और भावानुवाद देने के बाद ब्रह्मचारी विवेक चैतन्य ने अपनी सरल व्याख्या प्रस्तुत की है। इस पुस्तक के माध्यम से एक ओर पाठक को महर्षि रमण की ज्ञान गरिमा और उनकी महानता का परिचय मिलता है और दूसरी ओर कर्म, भक्ति, योग और वेदान्त का संक्षिप्त किन्तु तात्विक ज्ञान भी प्राप्त होता है।

दृग्दृश्य विवेक

इकतीस श्लोकों की यह एक छोटी-सी पुस्तक भगवान् शंकराचार्य की लिखी हुई कही जाती है। इसमें द्रष्टा और दृश्य का विवेक कराया गया है। इसके फलस्वरूप साधक वि[illegible]र करते हुए बाह्य विषयों से [illegible] इस [illegible] शरीर, इंद्रियां, मन, बुद्धि आदि को अनात्म रूप में देख[illegible] द्रष्टा स्वरूप अपनी वास्तविक आत्मा का दर्शन प्राप्त [illegible] दर्श[illegible] इस ग्रन्थ में आत्मबोध प्राप्त [illegible]रने की एक प्रामाणिक [illegible]

गया है। आत्म ज्ञान का फल बताते हुये पुस्तक के अन्त में कहा गया है कि देहाभिमान का नाश तथा परमात्मा का अज्ञान होने पर जहां कहीं मन जाता है वही समाधि है और वह स्थिति प्राप्त कर हृदय ग्रन्थि का नाश हो जाता है, सर्व संशयों का निरसन हो जाता है और समस्त कर्म क्षय हो जाते हैं। यही जीवन की पूर्णावस्था है। इस ग्रन्थ पर ब्रह्मचारी विवेक चैतन्य का सरल व्याख्या है।

भारतीय संस्कृति

यह पुस्तक ब्रह्मचारी विवेक चैतन्य के तीन प्रवचनों का संग्रह है। हिन्दू होने के नाते यदि आप अपनी संस्कृति का संक्षिप्त परिचय जानना चाहते हैं तो इससे आप को अनुपम सहायता मिलेगी। समाज में फैली रूढ़ियों और अन्ध विश्वासों को देखकर बहुत लोग अपनी संस्कृति का वही रूप मान लेते हैं और उससे घृणा करने लगते हैं। उन्हें इस भ्रान्त धारणा से बच कर सही अर्थ में अपनी संस्कृति का प्रतिपालक बनना चाहिये। अपनी संस्कृति की रक्षा करना और उसके अनुसार अपने जीवन को बनाना श्रेयस्कर है।

अध्ययन नहीं।
से बहुत लाभ हो स
जायगी जिससे वे

के

। इस

का वर्णन

अध्ययन नहीं।
से बहुत लाभ हो स
जायगी जिससे वे

सूत्रके
इस प्रकार
वर्णों